महात्मा श्री अंजनी नन्दन शरण जी
(संवत १९४१ — २०२७)

समर्पण

श्रीसीतारामजी के दुलारे **श्रीहनुमानजी** जिनकी कृपा से श्रीरामदरबार
तक पहुचानेवाली **'विनय-पत्रिका'** की रचना की प्रेरणा हुई,
श्रीमद्गोस्वामि तुलसीदासजी महाराज जिनके द्वारा रची
जाकर यह **'विनय-पत्रिका'** प्रकाशित होकर लोगो को
श्रीरामसम्मुख कर रही है, भोसलाघाटके **श्रीजानकी-**
वल्लभलालजी जिनकी आज्ञासे **'विनय-पीयूष'** तिलक
लिखा गया, **श्रीकनकभवनविहारिणीविहारीजी**
जिनकी आज्ञासे यह तिलक पूरा किया गया तथा
श्रीसद्गुरुदेव **भगवान् श्रीरूपकलाजी**
जिनकी आज्ञा इसे स्वयं
छपाने की हुई—

उन आप सब करुणावरुणालय प्रभुओं के ही कर-कमलों में
यह "विनय-पीयूष" सादर, सप्रेम,
सविनय समर्पित है ।
"विनय-पीयूष" दीनकी प्रभो आप ही बाँचो ।

प्रस्तुत संस्करण

विनय पीयूष का नवीनतम संस्करण प्रकाशित करते हुए हमें विशेष हर्ष हो रहा है। विद्वानों के मध्य निरंतर बढ़ती हुई इसकी लोकप्रियता से जहाँ हमें संतोष है वहीं इस बात का हमें खेद भी है कि पूज्य महात्मा अंजनीनंदनशरण जी आज हमारे बीच नहीं हैं। किन्तु उनकी यह अमर कृति मानस पीयूष के समान ही हिन्दी की विभूति है। हम आशा करते हैं कि सभी साहित्य मर्मज्ञ, विद्वत्जन एवं अन्य तुलसी साहित्य प्रेमी इस अनूठी टीका का लाभ उठाते रहेंगे।

महात्मा अंजनीनंदनशरण जी ने विनय पत्रिका के इस संसार के सबसे वृहत्तम तिलक में, स्वर्गीय पं० राम कुमार जी प्रसिद्ध रामायणी (काशी), वैकुण्ठवासी वेदान्त शिरोमणि श्री रामानुजाचार्य जी (श्री वृन्दावन), वेदान्त भूषण पं० श्री राम कुमार दास जी (अयोध्या) तथा आचार्य स्वामी पं० श्री सीतारामशरण जी (अयोध्या) आदि की अप्रकाशित टिप्पणियों तथा श्री शिवप्रकाश जी, श्री बैजनाथ जी, लाला श्री भगवानदीन, श्री वियोगीहरि आदि प्राचीन और अर्वाचीन प्रसिद्ध टीकाकारों के विशद भावान्तरों का भी विवेचन और संग्रह है।

हम इनके द्वारा रचित कवितावली की टीका भी शीघ्र ही, प्रकाशित करने जा रहे हैं, आशा है विद्वत्जन उससे भी लाभ उठाने की कृपा करेंगे।

प्रकाशक

कुछ सम्मतियाँ

('अवध सन्देश' वर्ष ७ अङ्क ७ पृष्ठ २५ से उद्धृत)

स्वामी श्रीसीतारामशरणजी, श्रीलक्ष्मणकोटाधीश, श्रीअयोध्याजी।

महात्मा श्रीअञ्जनीनन्दनशरणजी द्वारा सम्पादित श्री 'विनय-पीयूष' के अनेक स्थलोका मैने अवलोकन किया। विद्वान् टीकाकारने 'विनय-पत्रिका' पर जो विवेचन प्रस्तुत किया है वह नितान्त गम्भीर है। गोस्वामीजीके समस्त ग्रन्थोमे 'विनय-पत्रिका' की प्रतिपादन शैली अत्यन्त वैदूष्यपूर्ण है, 'विनय-पत्रिका'के पूर्वार्धमे 'दण्डक'के नामसे प्रसिद्ध बृहत् पदोमे समस्त भारतीय दर्शन शास्त्रोका समीचीन संग्रह है। पीयूषकारने उन जटिल पदोकी व्याख्यामे कुछ ऐसे भी विवेचन प्रस्तुत किये हैं जो अभी तक किसी भी टीकामे उपलब्ध नही है।

जिस प्रकार श्रीरामचरितमानसकी समस्त टीकाओमे 'मानस-पीयूष' टीकाको सर्वोच्च स्थान मिला, उसी प्रकार विनयकी समस्त टीकाओमे 'विनय-पीयूष'का प्रस्थान होगा—ऐसी आशा है।

महात्मा श्रीअञ्जनीनन्दनशरणजी टीकाकार होते हुए एक महान् साधक-सन्त है। श्रीअवधके सिद्ध सन्तोकी सेवामे रहकर समस्त तुलसीसाहित्यका सम्यक् अनुशीलन किया है। अत: प्रस्तुत टीकामे उन सभी सिद्ध सन्तोका प्रसाद प्रतीत होता है। आशा है कि 'विनय-पीयूष' के रसास्वादनसे पाठकोको परमानन्द प्राप्त होगा।

प्रोफेसर रामकुमार वर्मा एम० ए०, पी-एच० डी०

अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, विश्वविद्यालय प्रयाग।

भू० पू० हिन्दी प्रोफेसर, मास्को (सोवियत् संघ)।

महात्मा अञ्जनीनन्दनशरणजीकी 'विनय-पीयूष'की तीन हिलोरे मैंने देखी। उन्हे पढा और उनसे प्रभावित हुआ। महात्माजी हिन्दी साहित्यके मर्मज्ञ हैं। 'रामचरित-मानस'पर आपने मानस-पीयूष नामक एक अति वृहत् टीका लिखी है जिसका महत्व आचार्य रामचन्द्र शुक्लने भी माना था और जो अपने विषयकी विद्वत्तापूर्ण टीका है। 'मानस-पीयूष'के ही समान 'विनय-पत्रिका'का भी महात्माजी एक वृहत् भाष्य लिख रहे हैं जिसकी तीन हिलोरें प्रकाशित हो चुकी हैं। यह 'विनय-पीयूष' जहाँ भक्त रसिकोंको आनन्द प्रदान करनेवाली है वहीं दूसरी ओर विद्यार्थियों अनुसंधित्सुओं तथा विद्वानोंके लिये एक विद्वत्तापूर्ण टीका है। विषय-विवेचनकी शैली रोचक तथा सुस्पष्ट है। मेरी कामना है कि महात्माजी चिरायु हो जिससे तुलसीके अन्य विविध ग्रंथोका भी वह ऐसा ही विद्वत्तापूर्ण भाष्य लिख सके।

डा० गोपीनाथ तिवारी, एम० ए०, पी-एच० डी०, डीन,

छात्र कल्याण, गोरखपुर विश्वविद्यालय।

मान्यवर महात्माजी,

'विनय-पीयूष'के दो भाग देखे। हिन्दी जगत्, काव्य मर्मज्ञो एव तुलसी अनुरागियोके लिये यह एक अनुपम देन है। आपकी मानस टीका "मानस-पीयूष" आज तककी टीकाओमे सर्वाङ्गीण एवं सर्वमुखी है। गीता प्रेस द्वारा उसका नवीन संस्करण प्रकाशित होने जा रहा है। उसकी माँग अत्यधिक है, मुझे बताया गया है। विनय-पत्रिका मानसकी अपेक्षा अधिक काव्यात्मक, शास्त्रीय, दार्शनिक एवं क्लिष्ट है। आपने 'विनय-पीयूष' द्वारा उसे सरल बोधगम्य एव रुचिकर बना दिया है। अधिकतर जानने-योग्य कोई भी बात नही छूटने पाई है। मेरा पूर्ण विश्वास है कि इसके लिये तुलसीदासकी आत्मा आपको आशीर्वाद देगी और जनता देगी बधाई। कितना परिश्रम किया है आपने!

तुलसी-काव्यमे शब्द-स्थापन बड़ा महत्वपूर्ण है। प्रत्येक शब्द अपने स्थानपर अडिग खडा होकर अपनी महत्ता और विशेषता प्रकट करता है। आपने प्रत्येक शब्दकी पकड़ बड़ी तत्परता और बुद्धिमत्तासे की है। एक व्यक्तिके लिये ऐसे भारी-भरकम ग्रंथ-खडोका प्रकाशन कितना श्रम एवं व्यय साध्य है, यह भुक्त भोगी जानते हैं। इतनेपर भी आप इस यत्नमे लग गए हैं। प्रभु राम आपकी इस महती साधनाको सफल करेंगे। प्रत्येक हिन्दीसेवी और तुलसीप्रेमीसे मेरी प्रार्थना होगी कि वह आपकी यत्न साधनामे हाथ बँटाये। आपके प्रेषित विज्ञापनोको मैं उचित स्थानो तक पहुँचाऊँगा। पुनः हार्दिक आभार प्रकट करता हूँ।

६३ राग जयति श्री

मन इतनोइ[1] है या तनु को परम फलु[2] ।
सब[3] अंग सुभग[4] विंदुमाधव छवि तजि सुभाउ[5] अवलोकु एक पलु[6] १
तरुन अरुन अंभोज चरन मृदु नखदुति हृदय-तिमिर-हारी ।
कुलिस केतु जव जलज रेख वर अंकुस मन-गज-बसकारी ॥२॥
जटित[7] कनक मनि नूपुर मेखल कटितट रटति मधुर बानी ।
त्रिवली[8] उदर गंभीर नाभिसर जहँ उपजे बिरंचि ज्ञानी ॥३॥
उर मनिमाल[9] पदिक अति सोभित विप्रचरन चित कहुँ[10] करषै ।
स्याम तामरस दाम बरन बपु पीत बसन सोभा बरषै ॥४॥
कर कंकन[11] केयूर मनोहर देति मोद मुद्रिका[12] न्यारी ।
गदा कंज दर चारु चक्रधर नागसुंड सम भुज चारी ॥५॥
कंबु ग्रीव छबिसींव चिबुक द्विज अधर अरुन उन्नत नासा ।
नवराजीव नयन ससि आनन सेवक सुखद बिसद हासा ॥६॥
रुचिर कपोल श्रवन कुंडल सिर मुकुट सुतिलक भाल भ्राजै ।
ललित भृकुटि सुंदर चितवनि कच[13] निरखि मधुप अवली लाजै॥७॥

---

१ इतनोइ है—रा०, भा०, वे०, ज०, १५ । इतनोई है—ह०, ७४ । इतनोई—५१, आ० । २ फलु, ६ पलु—रा०, भ०, दीन, वि० । फल, पल—मु०, भा०, वे० । ३ सव अंग—रा०, ह०, ५१, ज०, आ० । नखसिख—भा०, वे०, ७४ । ४ रुचिर—प्र०, १५ । सुभग—प्रायः औरोमे । ५ सुभाउ—रा०, ५१, ज०, ७४, भ०, दीन । सुभाव—भा०, वे०, वि०, १५ । ७ कनक जटित—७४, आ० । जटित कनक—रा०, भा०, वे० । रा० मे 'जटित[2] कनक[1]' है । ८ त्रिवलि—रा०, ५१, ह०, मु० । त्रिवली—भा०, वे०, ७४, आ० । ९ मनि-माल—वे० प्र०, १५ । वर माल—मु० । वनमाल—रा०, भा०, आ० । १० कहुँ—रा० । कहँ—भा०, वे०, ७४, ह० । ११ कंकन—रा०, वे०, सू० शु०, वि०, भ० । कंचन—दीन, श्री० श० । श्री० श० का मत है कि कंकन कहकर बाहुके भूषण 'केयूर' पर जाना और फिर लौटकर 'मुद्रिका' पर आना ठीक नही जान पडता । १२ मुद्रिका—रा०, ह०, १५, प्र० । मुद्रिक—भा०, वे०, ५१, ७४, आ० । १३ वर—प्र०, १५, ज० । कच—प्रायः औरो मे ।

रूप-सील-गुनखानि वाम[१४] दिसि सिंधुसुता रत पद सेवा।
जाकी कृपाकटाच्छ चहत सिव विधि मुनि मनुज दनुज देवा ॥८॥
तुलसिदास भवत्रास मिटै तव जब मति[१५] यहि सरूप अटकै।
नाहि त[१६] दीन मलीन हीन-सुख कोटि जनम[१७] भ्रमि-भ्रमि भटकै ।९।

शब्दार्थ :—इतनोइ=इतना ही। या=इस। तजि सुभाउ (स्वभाव =अपना स्वभाव छोड़कर अर्थात् एकाग्रचित होकर। ☞ मनका स्वभाव 'चंचलता' है। यह स्थिर नहीं रहता। इसकी वायु और बंदरसे उपमा दी जाती है। यथा—'चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद् दृढम्। तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम्।' (गीता ६।३४), 'बम मन न समीर' (१६७)। पल—यह समयका एक बहुत प्राचीन विभाग है जो २/५ मिनट या २४ सेकण्डके बराबर होता है। घडी या दंडका साठवाँ भाग। जन साधारण पल और निमेषको पर्य्याय शब्द समझते हैं, अर्थात् वह समय जितनेमें पलक एक बार गिरे। बोलचाल मुहावरेमें 'एक पल' क्षणभर वा अल्पकालके अर्थमें आता है। केतु=ध्वज चिह्न। जव (यव)= 'जौ' के आकारकी एक प्रकारकी रेखा जो श्रीरामचंद्रजीके दाहिने पैरके अँगूठेमें है। यह रेखा बहुत ही मांगलिक और सिद्धिकी देनेवाली मानी जाती है। रेख=रेखा, चिह्न। अंकुस (अंकुश)= एक प्रकारका एक छोटा शस्त्र वा टेढ़ा मोटे लोहेका काँटा जिसे हाथीके मस्तकमे गोदकर महावत उसे चलाता, हाँकता एवं वशमें रखता है। इसी प्रकारका एक चिह्न वा रेखा श्रीरामचन्द्रजीके दक्षिणपदमें है। मेखल=किंकिणी।—पद ६१ शब्दार्थमें देखिये। बानी=शब्द, स्वर, ध्वनि। रटति=बारंबार शब्द कर रही है=बज रही है। त्रिवली=सुडौल, गठे एवं हृष्टपुष्ट मनुष्योंके पेटपर तीन बल या रेखाएँ जो पड़ती हैं, उन्हें 'त्रिवली' कहते हैं। इन बलोंकी गणना सौंदर्य्यमे होती है। उदर=पेट। नाभिसर=नाभिकुंड।

१४ दछ—रा०, भा०, वे०, ज०। दच्छ - ७४। दक्ष—५१, ह०, १५। वाम—भ०। १५ मति—रा०, ५१, ७४, ग्रा०। चित—भा०, वे०, प्र०, १५। मन—ह०। १६ त—रा०, ५१, ग्रा०। तो—इ०, ज०। तौ—भा०, वे०, ह०। १७ जतन—रा०।

—पेटके बीचमेंका वह गड्ढा जहाँ गर्भावस्थामें जरायुनाल जुड़ा रहता है; उसे तुन्दी, तोंदी, ढोंढी आदि भी कहते हैं। विप्रचरण = भृगुचरण = भृगुलता चिह्न। पद ६२ (६ क, ख) देखिए। करषना (कर्षणसे) = खींचना; अपनी ओर हठात् घसीट लेना। यथा—'सुरतरु सुमनमाल सुर बरपहिं। मनहुँ बलाक अवलि मनु करषहिं। १।३४७।२।' मुद्रिक, मुद्रिका = अँगूठी। न्यारी = विलक्षण। = और ही; भिन्न; निराली। नागसुंड = हाथीकी सूँड़। सुंड (शुण्ड) = हाथीकी नाक जो बहुत लंबी होती है और नीचेकी ओर प्रायः जमीन तक लटकती रहती है। यह इतनी दृढ़ होती है कि हाथी इससे भारी-भारी वृक्षतक उखाड़ कर फेंक सकता है और चीजें उठा सकता है। लंबी, सुडौल, पुष्ट और बलिष्ठ होनेमें इसकी उपमा दी जाती है। उन्नत = ऊँची। विशद = स्वच्छ, मनोहर। अटकै = उलझै, रुकै। अटकना = ठहरना, फँसना, प्रीति करना, प्रेममें फँसना। नाहिं त = नहीं तो।

पद्यार्थ—(अब पुनः मनको उपदेश देते हैं—) हे मन! इस (मनुष्य) शरीर (धारण करने) का सर्वोत्तम फल (बस) इतना ही है कि एक पलभर ही अपना चंचल स्वभाव छोड़कर (नखसे शिखा तक) सब सुन्दर अंगोंवाले भगवान् विन्दुमाधवजीकी छबि देख ले। १। (अब नखसे शिखा पर्यन्त सब अंगोंकी छबिका दर्शन कराते हैं, अर्थात् नखशिख वर्णन करते हैं। देख तो) नवीन पूर्ण खिले हुए लालकमल (समान) कोमल चरण हैं। नखोंका प्रकाश हृदयके (मोहरूपी) अंधकारका हरनेवाला है। (तलवोंमें) वज्र, ध्वजा, यव और कमलकी सुन्दर रेखाएँ हैं। श्रेष्ठ अंकुश चिह्न मनरूपी (मतवाले) हाथीको वशमें करनेवाला है। २। मणिजटित सोनेकी पैंजनी (दोनों चरणोंमें है) और मणिजटित सोनेकी करधनी कटिप्रदेशमें रसीली मधुर ध्वनि कर रही है ‡। पेटपर तीन बल (रेखाएँ) हैं। नाभिकुण्ड बड़ा गहरा है, जहाँ ज्ञानी सृष्टि-

‡ मेखला रत्नजटित स्वर्णकी भी कही गई है और केवल मणिकी भी। दोनो अर्थ हो सकते हैं। यथा 'कनक-रतन-मनि-जटित रटति कटि किंकिनि, कलित पीतपटतनिया। गी० १।३४।', 'रतन जटित मनि मेखला कटि प्रदेसं। ६१ (६)।'

रचयिता श्रीब्रह्माजी पैदा हुए थे। ३। वक्षःस्थलपर मणियोंकी माला और पदिक अत्यन्त शोभायमान है। विप्रचरण (चिह्न) चित्तको खींचे ही लेता है। श्याम कमलकी मालाके समान श्यामवर्ण शरीरपर पीताम्बर शोभाकी वर्षा कर रहा है। अर्थात शोभा फैला रहा है* ।४। हाथोंके कंकण और बाजूबंद मनको हरनेवाले हैं। (हाथकी) अँगूठी निराला (विलक्षण) आनंद दे रही है। सुन्दर गदा, कमल, शङ्ख और चक्रको धारण करनेवाली हाथीकी सूँड़के समान (बलिष्ठ और सुडौल) चार भुजाएँ हैं। ५। ग्रीवा शङ्ख समान है। ठोढ़ी और दाँत छविकी सीमा हैं। लाल-लाल होंठ हैं। ऊँची उठी हुई नासिका है।—सभी छविकी सीमा हैं। नवीन लाल कमल समान नेत्र हैं। (शरद) चन्द्रसमान मुख है। स्वच्छ हास सेवकको सुख देनेवाला है। ६। सुन्दर गाल हैं। कानोंमें कुण्डल, सिरपर मुकुट और ललाटपर सुन्दर तिलक सुशोभित हैं। (बाँकी और कर्णपर्यंत लम्बी) सुन्दर भौंहें हैं। (कृपाकटाक्षयुत) सुन्दर चितवन है। बालोंको देखकर भौंरोंकी पंक्ति लजा जाती है। ७। जिनके कृपाकटाक्षकी चाह श्रीशिवजी, ब्रह्माजी, मुनि, मनुष्य, दैत्य और देवता करते हैं, वे रूप, शील और गुणोंकी खानि श्रीलक्ष्मी-जी चरणसेवामें अनुरागपूर्वक लगी हुईं बायीं ओर (सुशोभित) हैं। ८। तुलसीदासजी कहते हैं कि भवभय तभी मिट सकता है जब बुद्धि इस स्वरूपमें अटक जाय, (अर्थात् अनुरक्त हो जाय); नहीं तो दीन, मलिन और सुखरहित होकर करोड़ों जन्मोंतक भ्रम-भ्रमकर (अर्थात् अनेक योनियोंमें बराबर चक्कर खाता हुआ) भटका करेगा। ९।

नोट—१ जैसे भगवान् कपिलदेवने मातासे प्रथम भगवान्‌की मूर्त्तिका ध्यान बताया और फिर कहा कि जब इस प्रकार भगवान्‌के समस्त अवयवोंमें चित्त स्थिर हो जाय, तब मुनिको चाहिए कि उनके एक-एक अंगमें मनको लगावे।—'तस्मिँल्लब्धपदं चित्तं सर्वावयवसंस्थितम्। विलक्ष्यैकत्र संयुञ्ज्यादङ्गे भगवतो मुनिः। भा० ३। २८।२०'; वैसे ही जान पड़ता है कि यहाँ गोस्वामीजीने पहले पद ६२

* शोभा जल नहीं है जो बरसाया जाय। बरसना कहनेमें यहाँ 'रूढ़ी लक्षणा' है।

में 'नखसिख रुचिर बिंदुमाधव छबि' का दर्शन करनेको कहकर, अब इस पदमें 'सब अंग सुभग बिंदुमाधव छबि' को देखनेको कहते हैं।

पद ६२ में नेत्रोंका अघाकर छबि देखना परम फल और बड़प्पन बताया और इस पदमें मनको संबोधित कर, इस शरीरके मिलनेका परम फल उसे बताते हुए, चंचलता छोड़कर अंग-अंगका दर्शन करनेका उपदेश देते हैं।

टिप्पणी—१ 'मन इतनोइ है या तनु ' इति। (क) 'इतनोइ है' अर्थात् इसके आगे और कोई फल नहीं है जिसकी चाह जीव करे। 'या तनु को' अर्थात् मनुष्य तन धारण करनेका, मनुष्य योनिमें जन्म पानेका। (ख) 'तजि सुभाउ अवलोकु' इति। दर्शन कैसे करना चाहिए,—यह यहाँ बताते हैं। दर्शनके समय यदि मन चंचल रहा, किसी और चिन्तामें रहा, तो वह दर्शन दर्शन नहीं है। जैसे दर्शन करने गए मंदिरमें और चित्त लगा है जूतेमें, तो वह दर्शन जूतेका है न कि भगवान्का। ऐसे दर्शनका फल कुछ-नहीं-के बराबर है। अतः कहते हैं कि 'तजि सुभाउ अवलोकु'। मनका चंचल स्वभाव है। (ग) 'एक पलु' का भाव कि स्थिर चित्तसे दर्शन एक पलमात्रका भी काफी (पर्याप्त) है, इतने से ही जीव कृतार्थ हो सकता है। कारण कि भगवान्का दर्शन अमोघ है, व्यर्थ नहीं जाता। यथा 'जदपि सखा तव इच्छा नाहीं। मोर दरस अमोघ जग माहीं॥ अस कहि राम तिलक तेहि सारा। ५। ४९।' वे दर्शन करनेवालेको अवश्य उसका फल देते हैं, वह चाहे या न चाहे। ब्रह्माजीने भी यही बात श्रीरामजीसे कही है, यथा 'अमोघं दर्शनं राम अमोघस्तव संस्तवः। वाल्मी० ६।११७।३०।'

जीवोंकी भिन्न-भिन्न प्रकृतिके अनुसार दर्शनका फल भी भिन्न भिन्न होता है। श्रीशवरीजीसे भगवान्ने कहा है कि 'मम दरसन फल परम अनूपा। जीव पाव निज सहज सरूपा।३।३६।६।' और श्रीभरद्वाजजी श्रीभरतजीसे कहते है कि सब साधनोंका फल श्रीसीताराम-लक्ष्मणदर्शन मिला और उनके दर्शनका फल 'तुम्हारा दर्शन' प्राप्त हुआ। यथा 'सब साधन कर सुफल सुहावा। लषन राम सिय दरसनु पावा॥ तेहि फल कर फल दरस तुम्हारा।२।२१०।'

अतएव भाव यह है कि एक पलभर भी प्रेमपूर्वक दर्शन कर लेनेसे जितने भी साधन भगवत्प्राप्तिके हैं, उन सबोंका फल प्राप्त हो

जायगा। मनुष्यतनका चरम फल दर्शन है, यथा 'रामचरन-वारिज जब देखौं। तब निज जन्म सफल करि लेखौं।७।११०।१४।'

नोट—२ दीनजी लिखते हैं कि "उपासना संप्रदायमें 'रूपदर्शन' का बड़ा माहात्म्य है। पंचकर्मेन्द्रियोंमें आँख ही प्रधान और प्रबल है। इसे रूपदर्शनमें अटकाना बड़ा काम है। जहाँ नेत्र लग जाते हैं, मन भी वहीं लग जाता है। इसीसे साहित्यमें 'नख-शिख' वर्णन जरूरी समझा गया है।"

३ सू० शुक्लजी लिखते हैं—"मनकी चंचलता स्वाभाविक नहीं है। स्वाभाविक होती तो योगकी सिद्धि किसीको न होती। यह कभी किसी दशामें स्थिर न होता। परन्तु ऐसा है नहीं—योगसिद्ध भी हैं और मनका स्थिर होना भी प्रत्यक्ष देखा जाता है। इसलिये अभ्यास एवं वैराग्यके द्वारा यह स्थिर हो सकता है। इसीसे तुलसीदासजी सुन्दर मनोरम मूर्त्ति बिन्दुमाधवजीमें स्थिर होनेको कहते हैं कि क्षणमात्र स्थिर हो जा तो फिर अभ्यासद्वारा निर्विकल्प समाधि तक स्थिरता हो सकती है।"

टिप्पणी—२ 'तरुन अरुन' ' इति। (क) 'अंभोज चरन मृदु'—कमल समान चरण मृदु अर्थात कोमल हैं। कोमल ऐसे हैं कि लक्ष्मीजी अपने ललित कोमल करकमलोंसे उनका लालन करते हुए डरती रहती हैं कि दुख न जायँ। इसी प्रकार श्रीरामजीके चरणकमलोंके संबंधमें कहा है—'कोसलेन्द्रपदकंजमंजुलौ कोमलावजमहेशवन्दितौ। जानकीकरसरोजलालितौ चिन्तकस्य मनभृंगसंगिनौ। ७ मं० श्लो० २।'

२ (ख) 'नखदुति हृदय-तिमिर-हारी' इति। अर्थात इनके ध्यानसे, इनके स्मरणसे, इनके दर्शनसे हृदयका मोहान्धकार दूर हो जाता है। यथा 'श्रीगुरुपदनख मनिगन जोती। सुमिरत दिव्य दृष्टि हिय होती॥ दलन मोह तम सोसु प्रकासू। बडे भाग उर आवहि जासू। १।१।५-६।' (यह श्रीगुरुपदनखद्युतिकी महिमा है और गुरु भगवान्का स्वरूप है)। अंधकारका हरनेवाला कहनेसे नखके प्रकाशको सूर्यका प्रकाश जनाया और अज्ञान हरकर ज्ञानका उदय करनेवाला सूचित किया। भगवान् कपिलदेवने भी मातासे नखज्योतिका यह माहात्म्य कहा है। यथा 'उत्तुङ्गरक्तविलसन्नखचक्रवालज्योत्स्नाभिराहतमहद्धृदयान्धकारम्। भा० ३।२८।२१।'

अर्थात् जिन्होंने अपने ऊँचे अरुणवर्ण और परम शोभायमान नखचन्द्रोंकी कान्तिसे ध्यान करनेवालोंके हृदयके अज्ञानरूप घोर अन्धकारको दूर कर दिया है।

२ (ग) 'कुलिस केतु जव जलज रेख वर अंकुस···' इति। 'वर' शब्दसे इन रेखाओं (चरणचिह्नों) की सुन्दरता, मनोहरता और प्रभाव आदिकी श्रेष्ठता कही गई। पूर्व पद ५१ (६ ख, ग) में इन चिह्नोंका वर्णन आ चुका है। वहाँके 'चिन्ह कुलिसादि सोभाति भारी' के सब भाव यहाँ 'रेख वर' शब्दसे सूचित कर-दिये-गये-है। पद ५१ (६) देखिए।

'अंकुस गज-मन बसकारी' में 'सम अभेद रूपक' है। मनको मतवाला हाथी कहा। हाथी अंकुशसे वशमें हो जाता है, इसी तरह भगवान्के चरणकी 'अंकुश' रेखाके ध्यानसे मन वशमें हो जाता है। यथा 'मन ही मतंग मतवारो हाथ आवै नाहि याही ते अंकुस लै धार्यो हिय ध्याइए।' (प्रियादासकृत भक्तिरस बोधिनी भक्तमाल टीका)।

'रेख' का अर्थ 'चिह्न' है, यथा 'कंज कुलिस ध्वज अंकुस रेख चरन सुभ चारि। गी० ७।२१।', 'प्रभुपदरेख बीच बिच सीता। धरति चरन मग चलति सभीता। २।१२३।५।' यदि 'रेख' का अर्थ 'ऊर्ध्वरेखा' चिह्न भी मान लें, तो यहाँ छः चिह्न हो जाते हैं। गी० ७।१७ में श्रीरामपदकमलमें इस चिह्नका उल्लेख कविने किया है और इसकी शोभाका वर्णन इस प्रकार किया है—'सकल सुचिन्ह सुजन सुखदायक ऊरधरेख बिसेष बिराजति। मनहु भानुमंडलहि सँवारत धर्यो सूत विधिसुत बिचित्र मति॥' 'यव' चिह्न मंगल, सिद्धि और विद्याका दाता है। अंगुष्ठमें यह चिह्न है। ऊर्ध्वरेखा अंगुष्ठमूलसे एँड़ी तक है, जो भवसागरके लिये सेतु समान है।

टिप्पणी—३ 'जटित कनक मनि नूपुर मेखल कटि··' इति। (क) पद ५१ (६) में 'किंकिनी रटनि कटितट रसालं', ५१ (५) में 'मधुर तर मुखर कुर्वति गानं', पद ६१ (६) में 'मुखर कलहंसरत' और ६२ (५) में जो 'हेम जलज कल कलिन मध्य जनु मधुकर मुखर सुहाई' कहा है, वे ही सब भाव यहाँ 'रटति मधुर बानी' से सूचित कर दिये है। ५१ (६ ख), ६२ (५) देखिए।

३ (ख) 'गँभीर नाभि सर जहँ उपजे विरंचि ज्ञानी' इति। 'नाभि' को सर कहा, क्योंकि कमल सरमें होता है और भगवान्‌की नाभिसे तेजोमय कमलकी उत्पत्ति हुई, जिससे ब्रह्माकी उत्पत्ति हुई। ब्रह्माजी हजारों दिव्य वर्षोंतक भी कमलनालकी थाह न पा सके, तब भला सरकी थाह कौन पा सकता है? मिलान कीजिये— 'नाभि गँभीर जान जिहि देखा। १।१९९।५।' 'विरंचि' नाम देकर सृष्टिरचयिता जनाया। सृष्टिरचनासंबंधसे ही यहाँ 'ज्ञानी' विशेषण दिया। तात्पर्य कि उनको यह ज्ञान है कि पूर्वकल्पमें सृष्टि कैसी थी, किस जीवके कर्म पूर्व क्या थे, इत्यादि। क्योंकि "संपूर्ण प्रजा अपने पूर्वकृत शुभाशुभ कर्मोंसे प्रभावित रहती है। प्रलयकालमें सबका संहार हो जानेपर भी वह उन कर्मोंके संस्कारसे मुक्त नहीं हो पाती। जिन्होंने पूर्व कल्पमें जैसे कर्म किये थे, वे पुनः वारंवार जन्म लेकर वैसे ही कर्मोंमें प्रवृत्त होते हैं। जिस प्रकार भिन्न-भिन्न ऋतुओंके वारंवार आनेपर उनके विभिन्न प्रकारके चिह्न पहलेके समान ही प्रकट होते हैं, उसी प्रकार सृष्टिके आरम्भमें सारे पदार्थ पूर्व कल्पके अनुसार ही दृष्टिगोचर होते हैं। सृष्टिके इच्छुक ब्रह्माजी कल्पके आदिमें वारंवार ऐसी ही सृष्टि किया करते हैं। वे सृष्टिकी शक्तिसे युक्त रहते हैं।"—(प० पु० सृष्टिखण्ड पुलस्त्यवाक्य)। अत. 'ज्ञानी' कहा।

भा० ३।२८।२५ के 'नाभिह्रदं भुवनकोशगुहोदरस्थं, यत्रात्मयोनिधिषणाखिललोकपद्मम्।' (अर्थात् संपूर्ण लोकोंके आश्रयस्थान भगवान्‌के उदर देशमें स्थित उनके नाभिसरोवरका ध्यान करे जिससे श्रीब्रह्माजीका आश्रयरूप सर्वलोकमय कमल उत्पन्न हुआ था)—इससे मिलान कीजिए।

टिप्पणी—४ (क) 'उर मनिमाल पदिक अति सोभित...' इति। वहुतसी पोथियोंमें 'वनमाल' पाठ है और कुछ पोथियोंमें 'मनिमाल' पाठ है। पदिक और मणिमालका प्रायः संग है। पद ६२ मे भी मणिमालमें ही पदिक दिखाया गया है; यथा 'गजमनिमाल वीच भ्राजत कहि जात न पदिक निकाई।' मानस और गीतावलीमें भी 'उर मनिहार पदिक की सोभा। विप्रचरन देखत मन लोभा। १।१९९।६।', 'रुचिर उर-उपवीत राजत पदिक गजमनिहारु। मनहुँ सुरधनु नखतगन विच तिमिरभंजनहारु। गी० ७।८।'—इन

उदाहरणोंवाले पदोंमें नीचेसे ध्यानका वर्णन उठाया गया है, जैसे प्रस्तुत पदमें। अतएव मेरी समझमें 'मनिमाल' पाठ समीचीन है। मानसके मनुशतरूपाप्रकरणमें ब्रह्म श्रीसीतारामजीका दर्शन जो वर्णित है उसमें ध्यान ऊपरसे उठाया गया है, उसमें विप्रचरण नहीं है। उसमें वनमाल, पदिक, हार और भूषण मणिजाल सब हैं। यथा 'उर श्रीवत्स रुचिर वनमाला। पदिक हार भूषन मनिजाला॥ १।१४७।६।' अन्यत्र प्रायः वनमालके साथ पदिकका वर्णन नहीं है और इस उद्धरणमें भी पदिक हारके साथ उसी चरणमें है। पद ६१ में वनमाल है, किन्तु पदिक नहीं है; यथा 'उरसि वनमाल सुबिसाल नवमंजरी भ्राज श्रीवत्सलांछनमुदारं।'

यहाँ 'मणिमाल' से गजमुक्ताकी माला अभिप्रेत है; यथा 'उर अति रुचिर नागमनिमाला।', 'रुचिर उर···पदिक गजमनिहारु। गी० ७।८।' पद ६२ में जो कहा था कि 'जनु उडगनमंडल पर नवग्रह रची अथाई।' वह सब भाव 'अति-सोभित' कहकर जना दिये हैं। ६२ (७) देखिये।

४ (ख) 'विप्र चरन चित कहुँ करषै' इति। भाव कि भृगुचरणको देखकर मन लुभा जाता है, यथा 'बिप्रचरन देखत मन लोभा। १।१९९।६।'; क्योंकि उसके देखते ही भगवान्‌की क्षमा, सौशील्य, कोमल स्वभाव और सर्वस्वामित्व आदि गुणोंका स्मरण हो आता है, जिससे चित्तको बड़ा आह्लाद होता है और वह सोचने लगता है कि बस ऐसे सुस्वामीकी ही सेवामें लग जाना उचित है। उनको छोड़कर अब कहाँ जायगा। विशेष 'उर बिसाल भृगुचरन चारु अति सूचत कोमलताई।' ६२ (६ क, ख) में देखिए।

४ (ग) 'स्याम तामरस दाम बरन बपु' इति। ऐसी उपमा पूर्व 'सिंगार सर तामरस दाम दुति देह। ४४ (३)।' और 'श्याम नव तामरस दाम दुति वपुष छबि कोटि मदनार्क अघटित प्रकासं। ६० (२)।' में आ चुकी है। मानसभरमें केवल दो बार 'दाम' की उपमा आई है, यथा 'श्याम तामरस दाम शरीरं। ३।११।४।', 'स्याम सरोज दाम सम सुंदर। प्रभु भुज करि-कर सम दसकंधर। ५।१०।३।', श्रीभगवानसहायजीने 'दाम' का अर्थ 'गुच्छा' किया है। विशेष ४४ (३ क) नोट १, २, ३ देखिए।

४ (घ) 'पीत बसन सोभा बरषै' इति। श्याम तनपर पीताम्बर-की शोभाकी उपमायें पूर्व 'नव नील नीरद सुंदरं, पटपीत मानहु तड़ित रुचि। ४५ (२)।', 'पीतपट तड़ित इव जलदनीलं। ६१ (२)।' तथा 'निर्मल पीत दुकूल अनूपम ''बहु मनिजुत गिरिनील सिखरपर कनक बसन रुचिराई। ६२ (११)।' में कह आये हैं, वही सब शोभा सूचित करनेके लिये यहाँ केवल 'सोभा बरषै' कहा गया। ४५ (२ ख, ग), ६१ (२ क), ६२ (११) में देखिए।

टिप्पणी—५ (क) 'देति मोद मुद्रिका न्यारी' इति। मानसमें श्रीरामजीकी मुद्रिकाके सम्बन्धमें कहा है कि 'कर मुद्रिका चोरि चितु लेई। १।३२७।५।' जब विलक्षण आनंद होता है तब चित्त चुरा जाता ही है। अतः यहाँ 'देति मोद' कहकर चित्तका चुरा जाना भी जना दिया।

५ (ख) 'नाग सुंड सम भुज चारी' इति। हाथीकी शुण्डसम कहकर सुन्दर, सुडौल, अति बलिष्ठ और लंबी जनाया। यथा 'करि-कर सरिस सुभग भुजदंडा। १।१४७।८।', 'काम-कलभ-कर भुज बलसींवा। १।२३३।७।', 'केहरि-कंध काम-करि-कर बर बिपुल बाहु बल भारी। गी० १।५४।' भुजायें अमित बलसींव हैं। 'चारी' कहकर जनाया कि एक-एक आयुध एक-एक हाथमें है। यहाँ 'धर्मलुप्तोपमा अलंकार' है। गदा आदि आयुधोंकी व्याख्या ६१ (३ ख, नोट ५) में देखिए।

टिप्पणी—६ (क) 'उन्नत नासा' कहकर जनाया कि शुकतुण्ड (तोतेकी चोंच) के समान सुघड़ उभरी हुई ऊँची है। यथा 'चारु चिबुक, सुकतुंड बिनिंदक सुभग सुउन्नत नासा। गी० ७।१७।'

६ (ख) 'ससि आनन सेवक सुखद बिसद हासा।' इति। पूर्व बताया जा चुका है कि 'हास' का रंग उज्ज्वल है। इसीसे उसे 'बिसद' कहा। दाँत, लाल-लाल होंठ और मधुर हासकी उत्प्रेक्षा कविने इस प्रकार की है—'अधर अरुनतर, दसनपाँति बर, मधुर मनोहर हासा। मनहुँ सोन सरसिज महँ कुलिसन्ह तड़ित सहित कृत बासा। गी० ७।१२।' विशेष 'इंदुकर कुंदमिव मधुर हासा। ६१ (४)।', 'बदन राकेस कर-निकर हासं।' ६० (२ घ) मे देखिए।

यहाँ मुखको शशिकी उपमा दी है—'ससि आनन।' शशिमें किरणें होती हैं, वैसे ही मुखमें मधुर हास है। किरण भी उज्ज्वल होती है। मिलान कीजिए—'दसन-बसन लाल, बिसद हास रसाल,

मानो हिमकर-कर राखे राजीव मनाई। गी० ७।११।', 'रुचिर चिबुक रद जोति अनूपम, अरुन अधर सित हास निहारु। मानो ससिकर बस्यो चहत कमल महँ प्रगटत डुरत न बनत विचारु। गी० ७।१०।', 'हृदय अनुग्रह इंदु प्रकासा। सूचत किरन मनोहर हासा। १।१९८।७' 'सेवक सुखद' दीपदेहली न्यायसे 'आनन' और 'हास' दोनों के साथ है। मुख शरद्-चन्द्रके समान तापहारक और आह्लादकारक होनेसे 'सुखद' है, शशि समान कहकर प्रियदर्शन सूचित किया। हास जीकी जलनको मिटाकर सुखद होता है। यथा 'जियकी जरनि हरत हँसि हेरत। २।२३६।८।'

टिप्पणी— ७ कपोल, कुंडल, तिलक, चितवन और कच आदिकी शोभाके उदाहरण पूर्व पदोंमें आ चुके हैं। मिलान कीजिए—'भृकुटि मनोजचापछवि हारी। तिलक ललाट पटल दुतिकारी। १।१४७।४।', 'अरुन नयन विसाल ललित भृकुटि भाल तिलक चारुतर कपोल चिबुक नासिका सुहाई। बिथुरे कुटिल कच मानहुँ मधु लालच अलि-नलिन-युगल ऊपर रहे लोभाई। गी० ७।११।', 'मधुप अवली लाजै', में 'पंचम प्रतीप अलंकार' है।

टिप्पणी—८ 'रूप सील गुन खानि''' इति। (क) श्रीलक्ष्मीजी जब समुद्रसे निकली, तब उनके रूप, औदार्य, अवस्था और वर्णके प्रभावसे देवता और दैत्य आदि सभी मोहित हो गए थे। —'रूपौदार्यवयोवर्णमहिमाक्षिप्तचेतसः। भा० ८।८।६।' जब उन्होंने भगवान् विष्णुको वररूपसे वरण कर लिया तब (शुकदेवजी कहते हैं कि) उनकी दृष्टि पड़नेसे देवता, प्रजापति और प्रजा शील आदि गुण पाकर परमानन्दित हुए—'श्रिया विलोकिता देवाः सप्रजापतयः प्रजाः। शीलादिगुणसम्पन्ना लेभिरे निर्वृतिं पराम्। श्लो० २८।'—जिनके कृपावलोकनसे दूसरे शीलादिगुणसम्पन्न हो जाते हैं, वे शीलादि गुणोंकी खानि हुआ ही चाहें। मानसमें भी कहा है 'रमा रूप गुन खानि। ७।११।'

८ (ख) 'सिंधुसुता रत-पदसेवा' इति। समुद्रसे प्रकट होनेसे 'सिंधुसुता' कहा। लक्ष्मीजी सदा भगवान्‌की चरणसेवामें लगी रहती हैं, यह 'रत पदसेवा' से जनाया। लक्ष्मीका स्वभाव चंचल है। 'रत पद' कहकर जनाया कि अपना स्वभाव छोड़कर चरणसेवामें तत्पर रहती हैं तथा चरणसेवामें लग जानेसे उनकी चंचलता मिट गई।

यथा 'जद्यपि परम चपल श्री संतत थिर न रहति कतहूँ। हरिपद पंकज पाइ अचल भई करम बचन मनहूँ। ८६।'

श्रीमद्भागवतमें भी जहाँ भगवान्‌के जानुओंका ध्यान कहा है, वहाँ भगवान् कपिलदेवजी कहते हैं कि विश्वविधाताकी माता सुर-वन्दिता कमललोचना लक्ष्मीजी इन जानुओंको अपनी जङ्घापर रखकर अपने कान्तिमान पाणिपल्लवोंसे इनकी सेवा करती हैं—'जानुद्वयं जलजलोचनया जनन्या लक्ष्म्याखिलस्य सुरवन्दितया विधातुः। ऊर्वोर्निधाय करपल्लवरोचिषा यत्संलालितं हृदि विभोरभवस्य कुर्यात्। भा० ३।२८।२३।' भा० १।१६।३२ में भी कहा है कि जिनकी कृपाकटाक्ष ब्रह्मादि चाहते हैं, वे लक्ष्मीजी अपने निवासस्थान कमलवनको छोड़कर अति प्रेमपूर्वक भगवान्‌के चरणलावण्यका सेवन करती हैं। 'सा श्रीः स्ववासमरविन्दवनं विहाय यत्पादसौभगमलं भजतेऽनुरक्ता ॥' 'अनुरक्ता' का भाव ही यहाँ के 'रत' शब्दमें है। आगे पद २१८ में भी कहा है—'लच्छि लालित ललित करतल छवि अनूपम धरन।'

८ (ग) 'जाकी कृपा कटाच्छ चहत सिव''' इति। यथा 'जासु कृपाकटाच्छ सुर चाहत चितव न सोइ। रामपदारबिंद रति करति सुभावहि खोइ। ७।२४।' जिससे लक्ष्मीजी विमुख होती हैं, उसके शील आदि सभी गुण तुरन्त अवगुणरूप हो जाते हैं—'सद्यो वैगुण्यमायान्ति शीलाद्याः सकला गुणाः। पराङ्मुखी जगद्धात्री यस्य त्वं विष्णुवल्लभे। वि० पु० १।६।१३२।'; अतएव शिव, विधि आदि सभी कृपाकटाक्ष चाहते हैं। ब्रह्मा, रुद्र, ऋषिगण आदिने उनकी स्तुति की है। श्रीमद्भागवतमें कहा है कि श्रीलक्ष्मीजीका कृपाकटाक्ष प्राप्त करनेके लिये ब्रह्मादि देवताओंने भगवत्परायण होकर बहुत दिनों तक तपस्या की थी। —'ब्रह्मादयो बहुतिथं यदपाङ्गमोक्षकामास्तपः समचरन्भगवत्प्रपन्नाः। १।१६।३२।' श्लोकके 'ब्रह्मादयो' में ब्रह्मा, शिव, मुनि सभी आ जाते हैं। श्लोकका उत्तरार्ध ऊपर '(ख)' में आ चुका है। 'सिंधुसुता रत पद सेवा' 'देवा' इस श्लोककी ही छाया है।

टिप्पणी—६ (क) 'भव त्रास मिटै तब जब मति यहि सरूप अटकै' इति। अन्तःकरण 'मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार' इन चारका नाम है। इस पदमें मन, बुद्धि और चित्त तीनोंको उपदेश किया है। —'मन इतनोइ है''', 'बिप्रचरन चित कहुँ करषै' और 'मति यहि सरूप अटकै'। रहा अहंकार, सो सात्विक अहंकार

(भगवत्सम्बन्धी) तो भक्तिमें आवश्यक ही है। मन, बुद्धि और चित्त लय हो जाते हैं। इसे (अहंकारको) बनाये रखनेमें ही भगवद्दर्शन आदिका सुख होगा। इसीसे ऋषि माँगते हैं—'अस अभिमान जाइ जनि भोरे। मैं सेवक रघुपति पति मोरे ॥ ३।११।२१।"

'यहि सरूप' से जनाया कि शक्तिसहित ध्यान करना चाहिए। 'अटकै'—अटकनेका भाव कविवर हरिश्चन्द्रके निम्न उद्धरणसे स्पष्ट हो जाता है जो वियोगीहरिजीने उद्धृत किया है।—'मोहि मोहि मोहनमई री मन मेरो भयो हरिचंद भेद न परत कुछ जान है। प्रान भए कान्हमय कान्ह भए प्रानमय हिय में न जानि परै कान्ह हैं कि प्रान है।'

६ (ख) 'नाहिं त दीन मलीन···' इति। भाव कि भगवान्से विमुख होनेसे श्रीलक्ष्मीजी विमुखीपर कुपित होकर उसे त्याग देती है, जिससे उसकी यह (दीन मलीन) दशा हो जायगी। कृपादृष्टिके पात्रको शारीरिक आरोग्य, ऐश्वर्य, शत्रुपक्षका नाश और सुख सौभाग्य आदि सुलभ हो जाते हैं।—'शरीरारोग्यमैश्वर्यमरिपक्षक्षयः सुखम्। देवि त्वद्दृष्टिदृष्टानां पुरुषाणां न दुर्लभम् ॥ वि० पु० १।६।१२५।' विमुखको इसके विपरीत फल मिलते है। भा० ८।८।२६ में कहा है कि असुरोंकी उपेक्षा करनेसे वे सब लोलुप, सत्ताहीन, निरुपाय और निर्लज्ज हो गए। —'निःसत्त्वा लोलुपा राजन्निरुद्योगा गतत्रपाः···।'

श्रीसीतारामचन्द्रार्पणमस्तु।

६४ (२५) रागु वसंत

बंदौं रघुपति करुनानिधान । जातें छुटै[1] भव भेद-ज्ञान ।१।
रघुबंस कुमुद सुखप्रद निसेस । सेवित पद पंकज अज महेस ।२।
निज भक्त हृदय पाथोज भृंग । लावन्य बपुष अगनित अनंग ।३।
([2]अति) प्रबल मोह तम मारतंड । अज्ञान गहन पावक प्रचंड ।४।
अभिमान सिंधु कुंभज उदार । सुररंजन भंजन भूमि-भार ।५।
रागादि सर्पगन पन्नगारि । कंदर्प नाग मृगपति मुरारि ।६।

१ छुटै—६६, रा०। छूटै—५१, आ०। छूटहि-भा०, ह०, १५। छूटइ-७४।
२— यह ६६ मे नही है। प्रायः और सबोमे है।

भव जलधि पोत चरनारविंद । जानकीरमन[3] आनंदकंद ।७।
हनुमंत प्रेम वापी मराल । निष्काम[4] कामधुक-गो दयाल ।८।
त्रैलोक तिलक गुनगहन राम । कह[5] तुलसिदास विश्रामधाम ।९।

शब्दार्थ—भेद-ज्ञान = भेद-बुद्धि । टि० १ (ग) देखिए । भव भेद-ज्ञान = संसारमें डालनेवाली भेदबुद्धि । भव और भेदबुद्धि । कुमुद = कुईं । ५२ (७ घ) देखिए । निसेस = निशा + ईश = रात्रिके स्वामी चन्द्रमा । निज = सच्चे, अनन्य, खास । मारतंड (मार्तण्ड) = सूर्य । पन्नगारि = पन्नग (सर्प) + अरि (शत्रु) = गरुड़ । मृगपति = सिंह । वापी = बावड़ी (बावली) ; जलाशय । गुणगहन = गुणोंका वन । = गुणग्रहण, गुणके ग्राहक । तिलक = शिरोमणि ; श्रेष्ठ ।

पद्यार्थ—मैं करुणासिंधु श्रीरघुनाथजीकी वन्दना करता हूँ, जिससे (एवं जिनकी वन्दना करनेसे) संसार (में डालनेवाली) भेदबुद्धि छूट जाती है ।१। (जो) रघुवंशरूपी कुमुदके लिये सुख देनेवाले (अर्थात् उसे प्रफुल्लित करनेवाले) चन्द्रमा हैं, (जिनके) चरणकमल ब्रह्माजी और महादेवजीसे सेवित हैं ।२। जो अपने अनन्य भक्तोंके हृदयकमलके भौंरे हैं, (जिनके) शरीरमें असंख्यों कामदेवोंका लावण्य (सौन्दर्य्य, छवि, मलाहत) है ।३। (जो) अत्यन्त प्रबल मोहरूपी अंधकारके (नाश करनेके) लिये सूर्य (समान), अज्ञानरूपी वनके (भस्म करनेके) लिये भयंकर अग्निरूप ।४। अभिमानरूपी समुद्रको (सोखनेके लिये) श्रेष्ठ अगस्त्यरूप, देवताओंको प्रसन्न करने आनन्द देनेवाले और पृथिवीके भारके (अर्थात् रावणादि राक्षस जो पृथिवीके भार थे उनके) नाशक हैं ।५। जो रागादि सर्पसमूहके लिये गरुड़रूप, कामरूपी हाथीके लिये सिंहरूप, आश्रितोंके रक्षक एवं मुर दैत्यके शत्रु हैं ।६। (जिनके) चरणारविन्द भवसागरके लिये 'पोत' (बेड़ा, नाव, जहाज) रूप हैं । जो श्रीजानकीजीके पति और आनंद (रूपी जलकी वर्षा करनेवाले) मेघ एवं आनन्दके मूल हैं ।७। श्रीहनुमान्‌जीके प्रेमरूपी

३ रमन—६६, रा०, ह०, प्र०, १५, ७४ । रवन—भा०, वे०, ज० । ४ निष्काम—६६, ५१, छु०, वै०, दीन, ७४ । निःकाम—रा०, भा०, वे०, प्र०, ह०, मु० । ५ कह—६६, रा०, ह०, ५१, ज०, ७४ । कहै—भा०, वे०, प्र०, १५ ।

बावलीके राजहंस हैं और निष्काम भक्तोंके लिये कामधेनु गौके समान दयाल हैं ।८। तुलसीदासजी कहते हैं कि श्रीरामजी त्रैलोक्य शिरोमणि, गुणोंके वन अर्थात् समस्तगुणसंपन्न और विश्रामधाम हैं ।६

नोट—१ इस पदभरमें परंपरित और समअभेद रूपक अलंकारोंकी भरमार है। इसमें आये हुये प्रायः सभी शब्दों और रूपकोंके भाव पूर्व आ चुके हैं।

टिप्पणी—१ 'बंदौं रघुपति करुनानिधान…' इति। (क) 'करुनानिधान'—यह बड़ा भारी गुण है, यथा 'करुनामय मृदु राम सुभाऊ। २।४०।३।', 'करुनामय रघुनाथ गोसांई। बेगि पाइअहि पीर पराई। २।८५।२।' श्रीरघुनाथजी ऐसे करुणानिधान हैं कि कोई एक बार प्रणाममात्र करता है तो वे संकोचमें पड़ जाते हैं कि इसको क्या दें दूँ। यथा 'ज्यों सब भाँति कुदेव कुठाकुर सेये वपु बचन हिये हूँ। त्यों न राम सुकृतज्ञ जे सकुचत सकृत प्रनाम किये हूँ।१७०।' इसका कारण यह है कि वे भक्तोंपर कृपा करनेके लिये सदा आतुर रहते हैं।—'भृत्यानुग्रहकातरम्। भा० ३।२८।१७।' अतएव 'करुनानिधान' संबोधित करते हुये 'बंदौं' कहा। प्रणाममात्रसे प्रभु अपना लेते हैं, यथा 'सकृत प्रनाम किहें अपनाये ।२।२६।६।३।'

जीवमात्रपर आपकी करुणा है, इसलिये तथा करुणावश ही रघुकुलमें आकर अवतार लेनेसे 'रघुपति' नाम दिया। रघुपति=जीवमात्रके तथा रघुकुलके स्वामी।

१ (ख) 'जातें छुटै भव…' इति। यह करुणानिधानकी वंदना करनेका हेतु बताया। इससे जनाया कि भव आदिका छूटना उनकी करुणाके अधीन है, कृपासाध्य है। अपने पुरुषार्थसे नहीं छूट सकता। यह पद १८६ में कविने स्वयं ही कहा है। यथा 'संतत सोइ प्रिय मोहि सदा जाते भवनिधि परिये। कहो अब नाथ कौन बल तें संसार सोक हरिये॥ जब कब निज करुना सुभाव ते द्रवहु तो निस्तरिये।'

प्रार्थीको करुणाका ही आसरा है, इसीसे वह बीच-बीचमें इस गुणका स्मरण कराता गया है। 'कस न करहु करुना हरे…। १०६।', 'जब कब निज करुना सुभाव ते द्रवहु…।१८६।', 'अब तजि रोष करहु करुना हरि…।२४३।', 'करुनानिधान बरदान तुलसी चहत…।२६२।',

'त्यों मेरे मन लालसा करिये करुनाकर पावन प्रेम पीनको ।२६६।' पूर्व भी इस गुणका स्मरण किया है; यथा 'सरल प्रकृति आपु जानिए करुनानिधानकी ।४१।', 'दीन उद्धरन रघुवर्य करुनाभवन ।५६।' इत्यादि । आदि, मध्य और अन्तमें इसीकी प्रार्थना है ।

१ (ग) 'भेद ज्ञान' इति । यह अपना है, यह पराया है; यह मेरा है, यह तेरा है, मैं तैं, मेरा-तेरा इत्यादि बुद्धि भेदबुद्धि है । जीव-जीवमें वैषम्य देखना, सबमें एकमात्र निज प्रभुको रमण करते हुए न देखना, किसीको शत्रु किसीको मित्र मानना, अपने सहित सबको भगवत्-विभूति न देखना, समस्त जगत् तथा आत्माओंको भगवान्का शरीर न मानकर वैमनस्य रखना, इत्यादि बुद्धि ही भेद-ज्ञान वा भेदबुद्धि है । यथा 'गई न निज-पर-बुद्धि सुद्ध होइ रहे न राम लय लाएँ ।२०१।', 'मति मोरि विभेद करी हरिये ।। जेहि ते विपरीत क्रिया करिये । दुख सो सुख मानि सुखी चरिये । ६।११०।'—विशेष पद ७ 'हरहु भेदमति', तथा 'विगत अति स्व-पर-मति ।' ५७ (४ झ) की टिप्पणियाँ देखिए ।

टिप्पणी—२ 'रघुवंस कुमुद…' इति । (क) कुमुद चन्द्रमासे प्रफुल्लित रहता है, इसीसे चन्द्रमाका नाम कुमुदबंधु भी है, यथा 'कुमुद-बंधुकर निंदक हासा ।१।२४३।५।' वैसे ही रघुवंश रघुपतिको देखकर सुख पाता है, प्रफुल्लित है । 'प्रनतजन कुमुद इंदुकर जालिका ।४८ (५)।' 'वृष्णिकुलकुमुद राकेस ।' ५२ (७ घ) में भी यह उपमा आ चुकी है ।

२ (ख) 'सेवित पद पंकज अज महेश'—भाव कि उत्पत्ति और संहारको जो समर्थ हैं, उनको वह ऐश्वर्य, वह शक्ति, वह सामर्थ्य आपकी चरणसेवासे ही प्राप्त हुआ है; यथा 'हरि हरहि हरता विधिहि विधिता श्रियहि श्रियता जेहि दई । सो जानकीपति…।१३५।', 'जाके चरन विरंचि सेइ सिधि पाई संकरहूँ ।८६।', 'चरन कमल वंदित अज संकर ।७।३४।', 'संकर जेहि सेव ।१०७।'

टिप्पणी—३ 'निज भक्त हृदय पाथोज भृंग' इति । 'निज' से सच्चे, अनन्यगतिक, खास भक्त सूचित किये । जैसे कि मनु-शतरूपा-जी, सुतीक्ष्णजी, हनुमान्जी, विभीषणजी और भुशुण्डीजी इत्यादि । यथा 'प्रभु सर्वज्ञ दास निज जानी । गति अनन्य तापस नृप रानी ।

१।१४५।५।', 'सहित अनुज मोहि राम गोसाईं। मिलिहहिं निज सेवक की नाईं ॥'''देखि दसा निज जन मन भाए ।३।१०।५-१६।' (सुतीक्ष्णजी), 'जाना मन क्रम बचन यह कृपासिंधु कर दास। ५।१३।' (हनुमान्‌जी), 'निज जन जानि ताहि अपनावा ।५।५०।२।' (विभीषणजी), 'मन वच क्रम मोहि निज जन जाना ।७।११३।' (भुशुण्डीजी)।—ये सब भक्त श्रीरामरूपानन्य हैं, दूसरा रूप एक क्षण भी नहीं सह सकते। ऐसे भक्तोंके हृदयकमलके आप लोभी मधुकर हैं। वहाँ रहकर उनको अपने अमितकामछबिका दर्शन कराते रहते हैं—यह सूचित करनेके लिये 'हृदय पाथोज भृंग' कहकर 'लावन्य वपुष अगनित अनंग' कहा। विशेष 'मदनरिपु कंज-हृदि चंचरीकं।' ४६ (२ ग), 'सर्व हृदि कंज मकरंद मधुकर रुचिर रूप'''' ५३ (१ च), 'कोटि कंदर्प छबि' ५० (१ ख), 'बनचरध्वज कोटि-लावन्यरासी।' ५४(६), 'बहु मयन सोभानिधानं।' ४६ (३ ख), ४४ (३ घ), ४५ (२ क) में लिखा जा चुका है।

टिप्पणी—४ (क) 'अति प्रबल मोह तम मारतंड' इति। मोहका अभ्यास अगणित जन्म-जन्मान्तरोंसे होता चला आया है, जिससे वह बढ़ता और गाढ़ होता जाता है, किसी प्रकार किसी साधनसे मिटता नहीं। यथा 'मोह जनित मल लाग बिबिध बिधि कोटिहु जतन न जाई। जनम जनम अभ्यास निरत चित अधिक अधिक लपटाई ।८२।'; अतएव इसे 'अति प्रबल' कहा। ऐसा भारी मोह भी श्रीरामजीकी कृपासे सहज ही छूट जाता है—यह दिखानेके लिये 'तम' (अंधकार) और सूर्यकी उपमायें दीं। यथा 'तुलसिदास प्रभु मोहशृंखला छूटिहि तुम्हरेहि छोरे ।११४।' पूर्व भी ऐसा ही रूपक आया है। यथा 'मोहनिसि निविड़ जमनांधकारं'''कल्की दिवाकर। ५२ (८)।' मोह = विपरीत ज्ञान, धर्ममूढ़त्व।

४ (ख) 'अज्ञान गहन पावक प्रचंड' इति। 'मोह' से 'अज्ञान' को पृथक् कहकर मोह और अज्ञानमें भेद जनाया। जिससे आत्माको जाना जाय, उसका नाम ज्ञान है। ज्ञान सत्व गुणसे उत्पन्न होता है। तमोगुणसे प्रमाद, मोह और अज्ञान उत्पन्न होते हैं।—'प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च। गीता १४।१७।' वस्तुके यथार्थ बोधका नाम ज्ञान है और उससे भिन्न विपरीत ज्ञानका नाम अज्ञान है।

तमोगुणसे प्रमाद होता है जिससे अकर्त्तव्यमें प्रवृत्ति होती है, जिससे विपरीत ज्ञानरूप मोह होता है। इससे तमोगुणकी और भी वृद्धि और फिर अज्ञान अर्थात् ज्ञानका अभाव होता है।

पुनः, शरीर आदिमें आत्माभिमानरूप और उससे होनेवाले ममता आदिका स्थानरूप 'मोह' है। इस लोकके तथा परलोकके तत्त्वको और कर्त्तव्य अकर्त्तव्यको विवेकपूर्वक न जानने-का नाम 'अज्ञान' है।—'अपहरन संमोह अज्ञान गुन संनिपातं' ५३ (६ ख), तथा ५५ (४ ख) देखिए। 'अज्ञानं तमसः फलम्। गीता १४।१६।' की व्याख्या शांकरभाष्यमें इस प्रकार है—'तामसस्य कर्मण' अधर्मस्य पूर्ववत्' अर्थात् तामसरूप अधर्मका—पापकर्मका फल अज्ञान बतलाया है।

[कारण-मायावश पूर्वरूपको भूलकर देहाभिमानी होना मोह है। परमार्थमें पीठ देकर स्वार्थमें मन देना अज्ञान है। वै०)]

अज्ञानोद्भव अंधकारको कैसे मिटाते हैं यह गीता १०।११ में इस प्रकार बताया है—'नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता॥' अर्थात् उनके आत्मभावमें स्थित (उनकी मनोवृत्तिमें प्रकटरूपसे विराजमान) मैं, अपने कल्याणमय गुणोंको प्रकट करके अपने विषयके ज्ञानरूप प्रकाशमय दीपकके द्वारा, उनका जो पूर्व अभ्यस्त ज्ञानविरोधी प्राचीन कर्मरूप अज्ञानसे उत्पन्न मुझसे अतिरिक्त लौकिक विषयोंकी प्रीतिरूप अंधकार है, उसका नाश कर देता हूँ।

४ (ग) 'एक ही पद्यमें एक ही व्यक्तिको कमलशत्रु कुमुदबंधु चन्द्रमा कहकर पुनः उन्हींको कमलबंधु कुमुदशत्रु मार्तण्ड कहनेसे आपाततः वदतोव्याघातरूप दोषका आभास पाया जाना शंकाका कारण हो सकता है। परन्तु शंकाभासका निवारण श्रौतज्ञानसे सहजमें ही हो जाता है। क्योंकि वेदमें ब्रह्मको सूर्य-चन्द्रमा आदि सबका शरीरी, अन्तर्यामी एवं नियामक कहा है।—'य आदित्ये तिष्ठन् आदित्यादन्तरो यमादित्यो न वेद यस्यादित्यः शरीरं य आदि-त्यमन्तरो यमयति स त आत्मान्तर्याम्यमृतः।१२। यश्चन्द्रतारके तिष्ठन् चन्द्रतारकादन्तरो यश्चन्द्रतारकन्न वेद यस्य चन्द्रतारकः शरीरं यश्चन्द्रतारकमन्तरो यमयति स त आत्मान्तर्याम्यमृतः।१३।' (शुक्ल-यजुर्वेदीयेमाध्यन्दिन शाखीयं शतपथ ब्राह्मणे १४।६।७।१२, १३)। (वेदान्तभूषणजी)

५ (क) 'अभिमान-सिंधु कुंभज उदार' इति। सिंधु-कुंभजकी उपमा तथा भाव पूर्व 'अज्ञान पाथोधि घटसंभवं।१२।', 'लवनांबुनिधि कुंभसंभवं।४०।', 'अनय-अंभोधि कुंभज।४४।' तथा 'त्रास पाथोधि इव कुंभजातं।५३।' में आ चुके हैं। १२ (५) के पद्यार्थकी पाद-टिप्पणी तथा ५० (३ ग) में अगस्त्यजीके समुद्रशोषणकी कथा देखिए।

अभिमान समस्त शूलों और शोकोंका देनेवाला है, मोह और भवका मूल है; यथा 'संसृतिमूल सूलप्रद नाना। सकल-सोकदायक अभिमाना।७।७४।६।' अभिमान भयंकर है, इसे समुद्र कहनेका भाव 'कुनप अभिमान सागर भयंकर घोर बिपुल अवगाह दुस्तर अपारं' ५८ (३ क-ख) में देखिए। प्रवृत्तिमार्गकी दृढ़ता इसीसे है, यही रागद्वेषादिका पालन-पोषण करता है। इसकी करालता 'अभिमान-महिषेस वहु कालिका। ४८ (५)।' में कह आये हैं। भगवान् इसे सहज हीमें सोख लेते हैं। वे जनमें इस दोषको देखते ही उसे उखाड़-फेंकनेका उपाय कर देते हैं। यथा 'सुनहु राम कर सहज सुभाऊ। जन अभिमान न राखहिं काऊ।७।७४।५।' देवर्षि नारदमें अभिमानका अंकुर उपजतेही 'करुनानिधि मन दीख बिचारी। उर अंकुरेउ गर्वतरु भारी।' अतः प्रतिज्ञा की कि 'बेगि सो मैं डारिहौं उखारी। पन हमार सेवक हितकारी।१।१२६।५।'

५ (ख) यहाँ सूक्ष्म वस्तुओं—मोह, अज्ञान, अभिमानका और आगे रागादि तथा काम—का नाश कहा गया है। अतः यहाँ 'सुररंजन भंजन भूमिभार' का भावार्थ भी उसीके अनुसार लगाना होगा। 'सुर' से दैवीसंपदा और 'भूमिभार' से आसुरसंपदाका अर्थ होगा। यथा 'सद्गुन सुरगन अंब अदिति सी।१।३१।४।', 'सुगुन ज्ञान बिराग भगति सुसाधननिकी पाँति। भजे बिकल बिलोकि कलि अघ अवगुननि को थाति।२२१।', 'नियम यम सकल सुर लोग लोकेस लंकेस वस नाथ अत्यंत भीता।५८ (६)।' ज्ञान, वैराग्य, शम, दम, यम, नियम, दया, दान, सत्य और क्षमा आदि दैवी संपत् है और मोह, अज्ञान, अभिमान, काम और क्रोध आदि आसुर संपदा है। (गीता १३।१-४)।

टिप्पणी—६ (क) 'रागादि सर्पगन पन्नगारि' इति। पद ५१ (१) में 'रागादि तम तरनि' कहा। पद ५८ (३) में रागादिको

देहाभिमानरूपी सागरका घड़ियाल कहा और यहाँ रागादिको सर्पगण कहा। पहलेमें बताया कि भगवान् भक्तके रागादिको अनायास मिटा देते हैं जैसे सूर्य अंधकारको। दूसरेमें रागादि की भयंकरता दिखाई कि ये जीवको सीधा निगल जाते हैं। और यहाँ सर्पगण कहकर जनाया कि राग और उससे उत्पन्न एवं उसके साथी द्वेष मद मत्सर आदि प्रत्येक सर्प हैं। एक साँपके डसनेसे तो बचने हीका नहीं तब इतने अगणित सर्पोंके विषसे कैसे जीवित रह सकता है। सर्प तो एक ही देहका नाश करता है, पर रागादि तो अनेकों जन्म तक पीछा नहीं छोड़ते। प्रभु भक्तके रागादिको ऐसे नहीं रहने देते, जैसे गरुड़ सर्पोंको भक्षण करके उनका नाम-निशान भी नहीं रहने देते।

६ (ख) 'कंदर्प-नाग मृगपति मुरारि' इति। पूर्व भी कहा है, यथा 'मार-करि-मत्त मृगराज ।४९ (५) ।' काम मतवाला हाथीके समान है। भाव पूर्व आ चुका है।

[पं० श्रीकान्तशरणजी लिखते हैं कि 'मुरारि' पद श्रीकृष्णके लिये विशेष रूपमें व्यवहृत होता है।···अतः जैसे उन्होंने कुवलयापीड़ हाथीका संहार किया, वैसे मतवाले कामका संहार भी हृदयस्थ श्रीरामजी करते हैं। यह भाव लेनेके लिये कंदर्परूपी नागके लिये श्रीरामजी सिंह और श्रीकृष्णके समान हैं—ऐसा अर्थ करना होगा।]

'मुरारि' नाम तथा मुर दैत्यकी कथा पद ५२ (३ ख), ५३ (५ छ) में देखिए। हमने अपना मत ५२ (३ ख) में प्रकट कर दिया है। 'मुरारी' संबोधन श्रीरामजीके लिये बहुत बार आ चुका है,—५२ (३), ५३ (५), ५७ (१), ५६ (२) और यहाँ। आगे पद १०६ में भी 'कस न करहु करुना हरे दुखहरन मुरारी' आया है।

टिप्पणी—७ (क) 'भवजलधि पोत···' इति। यथा 'यत्पादप्लवमेकमेव हि भवांभोधेस्तितीर्षावतां। बालकांड मंगल० श्लो० ६।', 'तत् त्वं हरेर्भगवतो भजनीयमङ्घ्रिं, कृत्वोडुपं व्यसनमुत्तर दुस्तरार्णम्। भा० ४।२२।४०।'—श्रीसनत्कुमारजी पृथुजीसे कहते हैं कि भगवान् हरिके पूजनीय चरणोंकी नौका बनाकर तुम अनायास ही इस दुस्तर संसार सागरसे पार हो जाओ। आगे पद १३६ (६) में भी कहा है—'भजु राम जन सुखदायकं। भवसिंधु दुस्तर जलरथं···'।

भाव कि श्रीजानकीपति रघुनाथजीके चरणोंकी शरण लेनेसे, उनका भजन करनेसे ही भवसे छुटकारा मिल सकेगा; अन्य कोई उपाय नहीं है।

७ (ख) 'जानकीरमन आनंदकंद' इति। 'जानकीरमन' शब्द विनयमें प्रायः तीन जगह आया है। यथा 'जानकीरमन सुखभवन, भुअनैक प्रभु, स्मर भजु नमु परमकारुनीकं।४६ (ग)', 'भवजलधि पोत चरनारविंद०।' (यहां), 'गज पिंगला अजामिलसे खल गने धों कवन। तुलसिदास प्रभु केहि न दीन्हि गति जानकीरवन।२१२।' इन उद्धरणों तथा उनके पूरे पदोंसे अनुमान होता है कि इस शब्दका प्रयोग केवल वहीं हुआ है, जहाँ यह दिखाया है कि प्रभु आनन्दकंद, आनंदभवन होते हुए भी बडे करुणामय हैं, वे थोड़े हीमें भवपार कर देते हैं। और भाव ४६ (२ घ-ङ) में दिये जा चुके हैं।

[पं० श्रीकान्तशरणजी लिखते हैं कि "भव तरनेके लिये एकमात्र श्रीरामजीके चरण ही उपाय हैं, इस बातको श्रीजानकीजीने लंकामें जाकर उस लीलाके द्वारा और जीवोंको दिखाया है कि जैसे हम रावणके द्वारा समुद्र पार लाई गईं और वहाँ भी अशोकवाटिकामें कैद रहीं; वैसे जीव भी मोहवश इस भवसागरमें पड़कर प्रवृत्तिरूपी लंकाकी देहासक्तिरूपी अशोकवाटिकामें कैद है। यह यदि हमारी तरह एकमात्र श्रीरामजीके चरणका ही अवलंब रक्खे तो श्रीरामजी सम्यक् प्रकारसे इसका भवसागरसे उद्धार करते हैं और फिर इसके प्रति आनंदकी वर्षा करते हैं।"]

'आनंदकंद' इति। ब्रह्मके आनंदके निरतिशयत्वकी मीमांसा तै० २।८ में इस प्रकार है—'साधुस्वभाववाला नवयुवक, वेद पढ़ा हुआ, अत्यन्त आशावान (कभी निराश न होनेवाला) तथा अत्यन्त दृढ़ और बलिष्ठ हो एवं उसीकी यह धन-धान्यसे पूर्ण संपूर्ण पृथिवी भी हो। (उसका जो आनंद है) वह एक मनुष्य-आनंद है। ऐसे जो सौ मनुष्य आनंद हैं, वही मनुष्य-गन्धर्वोंका एक आनंद है। मनुष्य-गन्धर्वोंके जो सौ आनंद हैं वही देव-गन्धर्वोंका एक आनंद है। देव गन्धर्वोंके जो सौ आनंद हैं वही नित्यलोकमें रहनेवाले पितृगणका एक आनंद है। इन पितृगणोंके जो सौ आनंद है, वही आजानज देवताओंका एक आनंद है। आजानज देवताओंके जो सौ आनंद हैं वही कर्मदेव देवताओंका एक आनंद है। कर्मदेव

देवताओंके जो सौ आनंद हैं वही देवताओंका एक आनंद है। देवताओंके जो सौ आनंद हैं वही इन्द्रका एक आनंद है। इन्द्रके जो सौ आनंद हैं वही वृहस्पतिका एक आनंद है। वृहस्पतिके जो सौ आनंद हैं वही प्रजापतिका एक आनंद है। प्रजापतिके जो सौ आनंद हैं वही ब्रह्माका एक आनंद है।' (२।८।१-४)

वृहदारण्यक ४।३।३३ में महर्षि याज्ञवल्क्यने भी इतना ही कहकर 'एव परम आनंद एष' तथा यही परम आनंद है—ऐसा कहा है। इससे आगे गणनाकी निवृत्ति हो जाती है।

इस प्रकार उत्तरोत्तर सौगुणी वृद्धिको प्राप्त हुए आनंदको कहते-कहते परब्रह्मके आनंदके कथन समय परब्रह्मके आनंद तक नहीं पहुँचकर वेदवाणी निवृत्त हो जाती है--'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह। तै० २।६।१।' श्रीयामुनाचार्यजीने यही बात आलवन्दार-स्तोत्रमें इस प्रकार कही है—'उपर्य्युपर्यब्जभुवोऽपि पुरुषान् प्रकल्प ते ये शतमित्यनुक्रमात्। गिरस्त्वदेकैकगुणावधीप्सया सदा स्थिता नोद्यमतोऽतिशेरते।१६।'

वृ० ४।३।३२ 'एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति' श्रुति कहती है कि इस आनंदके लेशसे ही अन्य प्राणी जीवित रहते हैं। मानसमें इसीको 'जो आनंदसिंधु सुखरासी। सीकर तें त्रैलोक सुपासी। १।१९७।५।' कहा है। यही सब भाव 'आनंदकंद' से जनाया अर्थात् इस आनंदके एक सीकरमात्रसे सारे ब्रह्माण्डोंका आनंद है। सबके मूल ये ही हैं।

[श्रीवैजनाथजी लिखते हैं कि श्रीरघुनाथजी श्रीजानकीजी सहित अवतीर्ण होकर ही तो सबकी रक्षा करके सबपर आनन्दकी वर्षा करते हैं। यथा मन्त्रार्थे "जानक्या सह देवेशो रघुनाथो जगद्गुरुः। रक्षकः सर्वसिद्धान्तवेदान्तेषु प्रगीयते।"—यह ठीक ही है क्योंकि यदि श्रीजानकीजी न होतीं तो रामायणकी यह कथा ही न होती। गोस्वामीजीने मानसके 'आए ब्याहि रामु घर जब तें। बसइ अनंद अवध सब तब तें॥' इस अर्धालीसे भी यही बात सूचित की है। श्रीजानकीजी परम शक्ति हैं, आह्लादिनी शक्ति हैं, तब भला बिना उनके आनंद कहाँ?—यह बात वियोगीजीने भी लिखी है।]

टिप्पणी—८ (क) 'हनुमंत प्रेम बापी मराल' इति। गोस्वामीजीने हंसका निवास प्रायः मानससरमें ही जहाँ तहाँ लिखा है। यथा 'जहँ

तहँ काक उलूक बक मानस सकृत मराल। २।२८१।', 'को समर्थ सर्वज्ञ सकल प्रभु सिव-सनेह-मानस मरालु।१५४।' इसीसे 'वापी' का अर्थ 'जलाशय' भी लिखा गया है।

अथवा, अन्यत्र स्नेहको मानस और यहाँ हनुमत-प्रेमको 'वापी' कहकर जनाया कि मानसको छोड़ इनके विलक्षण प्रेमके कारण 'वावली' में आकर रह गए। मानसरोवर विल्कुल खुला होता है, वावली बंद सी रहती है और जमीनके भीतर वहुत नीचे होती है। वावलीमें जलके पास घर भी वने होते हैं। मिलान कीजिए—'हनुमंत हृदि विमल कृत परम मंदिर सदा।५१ (६)।', 'जासु हृदय आगार वसहि राम सर चापधर।१।१७।'—हृदयको घर वनाया और प्रेमको वापिका वनाकर वहीं रहने लगे; कारण कि उनके ऋणी हैं, ऋण चुका सकते नहीं, अतः उनके ही अधीन हो गए।—'कपिसेवा वस भये कनोड़े कह्यो पवनसुत आउ। दीवे को न कछू रिनियाँ हौं धनिक तू पत्र लिखाउ।१०० (७)।'

८ (ख) 'निष्काम कामधुक गो दयाल' इति। वावू शिवप्रकाशजीका मत है कि कामधेनु सवको एक समान देती है, इसीसे भगवान्‌को 'कामधुक धेनु गो दयाल' कहा। भाव कि भगवान् जीवको निषिद्ध वस्तु माँगनेपर भी नहीं देते, क्योंकि दयालु हैं, भक्तोंपर सदा दया रखते हैं।

निष्काम भक्त वे हैं जो प्रेमके लिये ही प्रेम करते हैं, जिन्हें किसी प्रकारकी कामना नहीं है, 'जाहि न चाहिय कबहुँ कछु प्रभु सों सहज सनेह', 'सकल कामनाहीन जे रामभगति रस लीन', जिनकी प्रभुमें अकारण और अनन्य भक्ति है, प्रभुमें जिनके मनकी अविच्छिन्न गति है। ऐसे भक्त तो प्रभुके देनेपर भी किसी प्रकारकी मुक्ति नहीं ग्रहण करते। वे तो प्रभुका एकमात्र कैंकर्य चाहते हैं।—'··दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः। भा० ३।२६।१३।'—ऐसे भक्त श्रीहनुमान्‌जी, श्रीसुतीक्ष्णजी, श्रीराँका-वाँकाजी, श्रीभुशुण्डीजी, श्रीप्रह्लादजी और श्रीअम्बरीपजी आदि हैं।

८ (ग) प्रश्न होता है कि 'जव भक्त कुछ चाहते ही नहीं तव उनके 'लिये कामधुक गो' होकर क्या करते है?' उत्तर यह है कि हाँ, निष्काम होनेपर भी कामना होती है। पर वह कामना (अपने लिये तो) एकमात्र प्रभुकी अनपायिनी भक्ति ही की होती है और

भगवान् वह उन्हें देते हैं। श्रीहनुमान्‌जीने श्रीरामराज्याभिषेक हो जानेपर कमलनयन श्रीरामजीसे यह वर माँगा कि 'शत्रुसूदन! जबतक आपकी यह कथा संसारमें प्रचलित रहे, तबतक मैं अवश्य जीवित रहूँ'। भगवान्‌ने 'तथास्तु' कहकर उनकी यह प्रार्थना स्वीकार कर ली।—'ततः प्रतिष्ठितो राज्ये रामो नृपतिसत्तमः। वरं मया याचितोऽसौ रामो राजीवलोचनः ।१६। यावद् राम कथेयं ते भवेल्लोकेषु शत्रुहन्। तावज्जीवेयमित्येवं तथास्त्विति च सोऽब्रवीत् ।१७।' (म० भा० वन० १४८। यह स्वयं श्रीहनुमान्‌जीने भीमसेनजीसे कहा है)।

वाल्मी० ७।१०८ में श्रीहनुमान्‌जीने कहा है कि संसारमें जबतक आपकी पावन कथाका प्रचार रहेगा, तबतक आपके आदेशका पालन करता हुआ मैं इस पृथ्वीपर रहूँगा।—'यावत तव कथा लोके विचरिष्यति पावनी ।३५। तावत् स्थास्यामि मेदिन्यां तवाज्ञामनुपालयन् ।···३६।'; इसीसे वे किम्पुरुषवर्षमे किन्नरश्रेष्ठ आर्ष्टिषेण सहित गन्धर्वोंद्वारा गाई जाती हुई अपने प्रभु भगवान् रामकी कथाओंको सुनते रहते हैं।—'आर्ष्टिषेणेन सह गन्धर्वैरनुगीयमानां परमकल्याणीं भर्तृभगवत्कथां समुपशृणोति । भा० ५।१९।२।' उनको बराबर श्रीरघुनाथचरित सुननेको मिलता रहे; इसीसे गन्धमादन पर्वतपर गंधर्व और अप्सरायें वीरवर रघुनाथजीके चरित्रोंको गाकर आजभी श्रीहनुमान्‌जीको आनंदित किया करती है।—'तदिहाप्सरसस्तात गन्धर्वाश्च सदानघ। तस्य वीरस्य चरितं गायन्तो रमयन्ति माम्। श्लो० २०। वनपर्व।' श्रीसुतीक्ष्ण और श्रीभुशुण्डीजीका प्रेम मानसमें सबने पढ़ा ही है। श्रीअम्बरीषजीपर जब दुर्वासाजीने क्रोधकर कृत्यानलको उत्पन्नकर राजाको खानेको कहा, तब भी उन्होंने भगवान्‌से रक्षाकी प्रार्थना न की। जब दुर्वासाजी चक्रसे रक्षाके लिये राजाके पास आए, तब उन्होंने चक्रसे प्रार्थना करते हुए यही कहा है कि "भक्त निष्काम कभू कामना न चाहत हैं, चाहत हौं बिप्र दूरि करो दुःख चाख्यो है।" (भक्तमाल भक्तिरसबोधिनी टीका)। ऐसे भक्तोंपर संकट आ पड़नेपर भगवान् बिना उनके कहे ही उनका संकट दूर करते हैं।

निष्काम, अनन्य, सतत प्रभुका चिन्तन ही जिनका प्रयोजन है—ऐसे भक्त अपने लिये योग-क्षेम-संबंधी चेष्टा नहीं करते, जीने और

मरनेमें भी अपनी वासना नहीं रखते, केवल भगवान् ही उनके अव-लंबन रह जाते हैं। अतः उनका योगक्षेम भगवान् ही चलाते हैं। यथा 'अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते। तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्। गीता ६।२२।'—यह भाव दरसानेके लिये 'कामधुक गो' कहा। 'गौ' में यह भी भाव है कि भक्तके पास स्वयं पहुँचकर उसका योगक्षेम किया करते हैं, भक्त अपने 'योग-क्षेमके लिये उनके पास नहीं जाता। देखिए, श्रीहनुमान्‌जी अपने संबंधमें कहते हैं—'सीताप्रसादाच्च सदा मामिहस्थमरिंदम। उपतिष्ठन्ति दिव्या हि भोगा भीम यथेप्सिताः। म० भा० वन० १४८।१८।' (अर्थात्) शत्रुओंका दमन करनेवाले भीमसेन! श्रीसीताजीकी कृपासे यहाँ रहते हुए ही मुझे इच्छानुसार सदा दिव्य भोग प्राप्त हो जाते हैं।

यद्यपि उनको अपने लिये कामना नहीं होती, तथापि दूसरोंके कष्ट दूर करनेकी कामना अवश्य होती है; क्योंकि 'पर-उपकार वचन मन काया' सन्तका सहज स्वभाव है। प्रभु उनकी वह कामना पूर्ण करते हैं। 'विश्वोपकार हित व्यग्रचित सर्वदा (त्यक्त मद मन्यु कृत पुन्यरासी)। यत्र तिष्ठंति तत्रैव अज सर्व हरि सहित अज गच्छ छीराब्धिबासी।५७।'—इस पदमें जो कहा है कि 'विश्वोपकारहित व्यग्रचित' संत जहाँ होते हैं वहीं भगवान् त्रिदेव-सहित उपस्थित रहते हैं, वह भाव यहाँ 'कामधुक गो' से जनाया है।

☞ऐसे निरपेक्ष भक्तोंको भगवान् अपनी परमकल्याणरूपिणी निरपेक्ष भक्ति ही देते हैं, क्योंकि यही वे चाहते हैं। यथा 'न किंचित्साधवो धीरा भक्ता ह्येकान्तिनो मम। वाञ्छन्त्यपि मया दत्तं कैवल्यमपुनर्भवम्।३४। नैरपेक्ष्यं परं प्राहुर्निःश्रेयसमनल्पकम्। तस्मान्निराशिषो भक्तिर्निरपेक्षस्य मे भवेत्।३५।' (भा० ११।२०)।

☞स्मरण रहे कि सकाम पुरुषोंको भगवान् उनके इच्छित पदार्थ देते हैं। इसके विपरीत अपने निष्काम भक्तोंको वे अपना चरणकमल प्रदान करते हैं; जो सम्पूर्ण कामनाओंको दूर करनेवाला है। श्रीहरि अपना भजन करनेवालेका सब प्रकार कल्याण करते हैं। यथा 'सत्यं दिशत्यर्थितमर्थितो नृणां, नैवार्थदो यत्पुनरर्थिता यतः। स्वयं विधत्ते भजतामनिच्छतामिच्छापिधानं निजपादपल्लवम्। भा० ५।१९।२७।'''हरिर्यद्भजतां शं तनोति।२८।'

टिप्पणी—६ 'त्रैलोक तिलक गुन गहन राम···' इति। (क) तिलक मस्तकपर लगाया जाता है। 'त्रैलोक तिलक' से जनाया कि तीनों लोकोंमें शिरोमणि हैं। तीनों लोकोंमें आपकी साहबी होनेसे भी 'त्रैलोक तिलक' कह सकते हैं। पर यहाँ 'गुनगहन' के साथ 'त्रैलोकतिलक' कहनेसे यह भी सूचित किया है कि आप अपने गुणोंसे 'त्रैलोकतिलक' हैं। यथा 'विदित तिलोक तिहूँ काल न दयाल दूजो, आरत प्रनतपाल को है प्रभु बिनु। लाले पाले पोसे तोपे आलसी अभागी अघी, नाथ पै अनाथनि सों भये न उरिन।२५३।' श्रीदशरथजी महाराजकी राजसभामें उपस्थित सामन्तराजाओं और राज्यके प्रजा-प्रतिनिधियों आदिने एकमत होकर श्रीचक्रवर्ती महाराजसे कहा है कि श्रीरामजी अपने इन गुणोंसे ऐसे सुशोभित हैं, जैसे किरणोंके द्वारा प्रदीप्त सूर्य।—'गुणैर्विरोचते रामो दीप्तः सूर्य इवांशुभिः। वाल्मी० २।२।४७।' वे 'सर्वलोकप्रियः। वाल्मी० १।१।१५।' हैं—यह भी 'त्रैलोकतिलक' होना सूचित करता है)।

गहन = वन। गुणोंका वन कहकर जनाया कि गुणोंका कोई पार नहीं पा सकता। वीरकविने 'गहन' का अर्थ 'अथाह' और शिवप्रकाशजीने 'गंभीर' किया है। 'गुण गहन' का 'गुणोंको ग्रहण करनेवाले' अर्थ भी हो सकता है। श्रीरामजी जीवोंके गुणको ही लेते हैं, अवगुणोंपर कभी भूलकर भी दृष्टि नहीं डालते। - 'अपराधिहु पर कोह न काऊ।२।२६०।५।' इसीसे तो आपका 'मुग्ध' नाम है।—५६ (६ क) में 'मुग्ध' की व्याख्या देखिए।

६ (ख) 'कह तुलसिदास बिश्राम धाम।' इति। भाव कि जीव विविध वासनाओं आदिके कारण अनेक योनियोंमें भ्रमण करता, चक्कर खाता भटकता चला आ रहा है, उसको कहीं विश्राम नहीं मिलता। यदि वह श्रीरघुनाथजीकी शरणमें आ जाय तो विश्राम पा जाता है, जन्म-मरणसे छूट जाता है। उनके नाम, रूप, लीला, गुण, धाम सभी विश्रामप्रद हैं। ४६ (६) में नामको 'सज्जनं कामधुकधेनु विश्रामप्रद' और ५२ (२) मे नाम और चरित दोनोंको विश्रामप्रद कह आए है। विशेष ४६ (नोट ३) मे देखिए। विश्राम न मिलनेका कारण ४६ (६ ग) में देखिए।

श्रीसीतारामचन्द्रार्पणमस्तु।

६५ (३२) राग भैरव

राम राम रमु[1] राम राम रटु[2] राम राम जपु[3] जीहा।
रामनाम-नव-नेह-मेह को मन हठि होहि पपीहा। १
सब साधन-फल कूप-सरित-सर-सागर-सलिल निरासा।
रामनाम-रति स्वाति-सुधा सुभ सीकर पेम[4]-पियासा। २
गरज[5] तरज पाषान परुष[6] पवि प्रीति परिख[7] जिअँ जानें[8]।
अधिक अधिक अनुराग उमग उर पर परमिति पहिचानें[8]। ३
रामनाम-गति[9] रामनाम-मति[10] रामनाम-अनुरागी।
* ह्वै गये, हैं, जे होहिंगे, तेइ[11] तिभुअन[12] गनिअत बड़भागी। ४
एकअंग-मग अगम गवन करि[13] बिलमु न छन[14] छन छाहें।
तुलसी हित अपनो अपनी दिसि निरुपधि नेम निबाहें। ५।

शब्दार्थ—रमु = अनुरक्त हो जा, लग जा; यथा 'जेहि कर मनु रम जाहि सन तेहि तेही सन काम।१ ८०।' रमना = रमण करना;

१-२-३ रमु, रटु, जपु—यह पाठ ६६, रा०, ५१, ७४; सू० शु०, पो०, आ० (—वि०) मे है। २ जपु, ३ रटु—ह०, ज०, वै०। १ रटु २ रटु ३ जपु—वि०। भा० और बे० मे 'राम राम रमु राम राम रमु रटु जीहा' पाठ है। ४ पेम—६६, रा०। प्रेम—औरोमें। ५ गरज तरज—६६, रा०। गरजि तरजि—प्राय: औरोमे। ६ परुष—६६, रा०, ह०, भ०, ज०। बरषि—भा०, वे०, प्र०, ७४, आ० (—भ०)। ७ परिख—६६। परिखि—रा०। परखि—प्राय: औरोमे। ८ जाने, पहिचाने—६६, रा०, ५१। जानी, पहिचानी—प्र०, ह०, ज०, १५। जानै, पहिचानै—भा०, वे०, आ०, श्री० श०। ९ रति—भा०। मति—वे०। १० गति—भा०, वे०। ९ गति, १० मति—प्राय: और सबोमे। * ७४ मे 'होइगे हैं होइहै जे आगे ते त्रिभुवन वडभागी' है। ११ तेइ—६६, रा०, ५१, भ०। ते—ह०; मु०, १५, ज०, प्र०। आगे तेइ—दीन। १२ तिभुअन—६६, रा०, भ०। त्रिभुवन—आ० (—भ०)। ११-१२ त्रिभुवन तिन्ह—भा०, वे०। त्रिभुवन तेइ—वै०, वि०। १३ करि—६६, रा०, वै०, मु०, दीन। करु—भा०, वे०। कर—भ०, वि०। १४ बिलमु—६६, दीन, ७४, वि०। बिलंबु—रा०, ५१, ह०, भा०, बे०। १४ छन छन—६६, रा०, भ०। छिन छिन—भा०, वे०, आ०।

सुखप्राप्तिके लिये कहीं रहना या ठहरना।=लग जाना, मग्न रहना। रटु=उच्च स्वरसे बारंबार उच्चारण कर। जपु=लगातार धीरे-धीरे देरतक उच्चारण करना 'जपना' कहलाता है। जीहा=जिह्वा; यथा—'साँचेहु मैं लबार भुज बीहा। जौं न उपारिउँ तव दस जीहा।६।३३।७।' नव=नित्य नया। मेह=मेघ। निराशा=निः आशा=आशारहित=अप्राप्त वस्तुके पानेकी इच्छा न रखनेका भाव। स्वाती—यह पन्द्रहवाँ नक्षत्र है, जो फलित ज्योतिषके अनुसार शुभ माना गया है। चातक इसी नक्षत्रमें बरसनेवाला पानी पीता है, सो भी एक बूँद। इस नक्षत्रमें वर्षा होनेसे सीपमें मोती, बाँसमें वंसलोचन, कदलीमें कपूर, गजमें मुक्ता और सर्पमें मणि उत्पन्न होता है। यथा 'जेहि चाहत नर नारि सब अति आरत एहि भाँति। जिमि चातक चातकि त्रिपित बृष्टि सरदरितु स्वाति। २।५२।', 'जौं बरषै बर बारि बिचारू। होहिं कबित मुकुतामनि चारू।१।११।६।', 'भेद मुकताके जेते, स्वातिहीमें होत तेते, रतनहूँ को कहूँ भूलिहू न होत भ्रम।' (रसकुसुमाकर)। पियासा=प्यासा।=किसी पदार्थके प्राप्तिकी प्रबल इच्छा। सुधा=जल। सीकर=जलका कण; पानीकी बूँद।=जलकी एक छींट मात्र। पेम=प्रेम। गरज=बादलोंके आपसमें लड़ने, टकरानेसे जो बहुत गम्भीर और तुमुल शब्द होता है। तरज (तर्जन)=ताड़ना, डाँट-डपट। परुष=कठोर। परिख (इस शब्दका प्रयोग प्रान्तिक है। सं० परीक्षा)=परीक्षा करके, जाँचकर, पहचानकर। परमिति=पर (=परे; सबसे आगे बढ़ा हुआ)। मिति (=सीमा)=चरम सीमा; पराकाष्ठा। उमग=उभाड़। उमड़ता है; यथा—'आनंद उमग मन जोबन उमंग तन रूपके उमंग-उमगत अंग अंग है।' पहिचानें=पहचाननेसे; पहचाननेके कारण। गति=सहारा, अवलंब, शरण। यथा 'तुम्हहिं छाँड़ि गति दूसरि नाहीं। राम बसहु तिन्ह के मन माहीं।२।१३०।५।' अंग=साधन जिसके द्वारा कोई कार्य किया जाय।=ओर; पक्ष। यहाँ 'एक अंग मग' से 'एकांगी मार्ग' अर्थका ग्रहण होगा। एक अंग=एक ओरका; एकतरफा। यथा 'चंदकी चाह चकोर मरै अरु दीपक-चाह जरै जो पतंगी। ये सब चाहैं, इन्हैं नहिं कोऊ, सो जानिए प्रीति की रीति एकंगी।' (श० सा०)। तिभुअन=त्रिभुवन; तीनों लोक। गनिअत=गिने, माने वा समझे जाते हैं।=गिनता समझता

है। यथा 'राम प्रीति की रीति आप नीके जनियत है।...रावरे आदरे लोक वेदहू आदरियत, जोगहू तें ज्ञानहूँ तें गरू गनियत है। १८३।' बिलमु (विलंब)=ठहर; रुक; विश्राम कर। निरुपधि= जिसमे किसी प्रकारकी उपाधि (बाधा, छल, कपट, विघ्न) न हो।= निर्विघ्न; निष्कपट। छाहें = छायामे। निबाहें = निबाहनेमें।

पद्यार्थ—हे जिह्वे! (तू) राम राम (इस शब्द) में रम रह, राम रामकी रट लगा दे और राम रामका जप किया कर। और, हे मन! तू रामनामके नित्यनवीन स्नेहरूपी मेघका हठपूर्वक पपीहा बन जा। १। (जप, तप, योग, यज्ञ, ज्ञान, दान आदि) समस्त साधन-फलरूपी कुँआँ-नदी-तालाब और समुद्रके जलकी आशा न रखकर (अर्थात् उनकी तरफसे एकदम मुँह मोड़कर) रामनामानुरागरूपी स्वातिजलके सुन्दर बूँदके प्रेमका प्यासा रह।२। 'गरज (गर्जन), तर्जन (डाँट-डपट), पत्थर (ओले) और कठोर वज्रसे प्रेमकी परीक्षा करता है' (यह) जीमें जानकर (चातकके) हृदयमें उत्तरोत्तर अधिकसे अधिक अनुराग उमड़ता जाता है, (क्योंकि) वह प्रेमकी पराकाष्ठाको पहिचानता है।* ३। जो श्रीरामनामगतिक (अर्थात् एकमात्र रामनामकी ही शरण ग्रहण करनेवाले), श्रीरामनाममतिक (अर्थात् एकमात्र रामनाममें ही जिनकी बुद्धि लगी है) और श्रीरामनामानुरागी (भूतकालमें) हो गये हैं, (वर्तमानकालमें) हैं और (भविष्यमें) होंगे, वे ही तीनों लोकोंमें बड़भागी गिने जाते हैं। ४। (यह) एकांगी मार्ग बड़ा कठिन है। इसपर चलकर

---

* अर्थान्तर—१ 'प्रीतिकी परीक्षा करके मेघने अपने मनमे जान लिया कि (हमारे ऐसा करनेपर भी) पपीहा अधिक अधिक अनुराग कर उमँगता है, हृदयमे ऐसी दशा पपीहाकी विचारकर प्रेमके पराकाष्ठाकी सीमा पहिचान लिया।'— (डु०)। इसी अर्थको प्रायः सभी टीकाकारोंने कुछ घटा-बढ़ाकर अपनाया है।

☞ स्मरण रहे कि प्रायः सभी टीकाकारोने 'परखि जिय जानै' 'पहिचानै' पाठ रखा है। इससे भी अर्थमे भेद हो जाता है।

श्री पं० रामकुमारजीने 'पर परमिति पहिचानै' को पपीहामे लगाया है और दास भी उनसे सहमत है। पूर्वार्धमे मेघकी करनी और उत्तरार्धमे चातकका कर्त्तव्य दिखाया है।

मेघोकी मघाकी-सी झडी मेघोका तरजना है।

क्षण-क्षणमें छायामें ठहरकर देर न कर। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं कि अपना भला तो अपनी ओरसे (श्रीरामनाममें) निष्कपट नेमके निवाहनेसे ही होगा।५।

नोट—१ पद ६४ में श्रीरामजीकी अनेकविशेषणयुक्त वन्दना करके और उनको एकमात्र विश्रामस्थान बताकर अब जिह्वा और मनको उनके नामजपमें लगनेका उपदेश देते हैं। यहाँसे लेकर लगातार छः पदोंमें श्रीरामनामकी महिमा गाई गई है। इस पदमें जिह्वाको 'राम राम' में रमने, 'राम राम' रटने और 'राम राम' जपनेको कहते हैं और मनको पपीहाकी टेक ग्रहणकर रामनाममें सहज एकांगी प्रेम करनेका उपदेश किया गया है।

टिप्पणी—१ (क) 'राम राम रमु···' इति। इस प्रथम चरणमें 'जिह्वा' को उपदेश किया जा रहा है। जिह्वासे ही कहा जा रहा है कि तू रामनाममें रम, उसीको रट और उसीको जप। 'रमु' का भाव जिह्वाके संबंधसे यही है कि तू उसमें लग जा, उसीमें अनुराग कर, उसीके स्वादमें अनुरक्त रह, इसीमें मग्न रह। उत्तम-उत्तम भोज्य, पेय आदि पदार्थोंके रसास्वादनमें जो लगी है, उसे छोड़, रामनाम का स्वाद ले।

[दो तीन टीकाकारोंने 'रमु, जपु, रटु' यह क्रम रखकर निम्न भाव लिखे हैं—

(१) "जब पूर्वरूपकी सुधि रहे तब 'राम राम रमु', अर्थात् शुद्ध आत्मरूपसे राम रामकी स्मरण क्रीड़ाविलासमें आनन्दित रह। जब जीव (बद्धात्म) बुद्धि रहे तब रामराम जपु; अर्थात् शुद्ध मन लगाकर रामराम (को) मनमें स्थित रख। जब देहबुद्धि हो तब माला लेकर जिह्वासे रट।" (वै०)।

(२) श्रीरामनामाराधनमें जापककी क्रमशः अवस्थायें बदला करती हैं; यथा "चातकानां चकोराणां मयूराणां तथा शुभम्। लक्षणं दोषनिर्मुक्तं धार्यं श्रीनामतत्परैः।" (सुदर्शन संहिता); अर्थात् मोरकी-सी वाणीसे कीर्तन करे, चकोरकी तरह प्रेमपूर्वक ध्यान लगावे और पपीहेके समान एकरस नियमका निर्वाह करे। यह भी भाव है कि प्रथम चातकके समान नवधाभक्तिपूर्वक नामका वैखरी वाणीसे रटन करना चाहिए। जब श्रीरामनामद्वारा पापोंका नाश होगा तब चकोरके समान पवित्र प्रेम रामजीमें होनेसे फिर

मध्यमा वाणीसे प्रेमलक्षणाभक्तिपूर्वक जप होने लगेगा।··· शुद्धप्रेमपूर्वक जप होनेसे पश्यन्ती वाणीके द्वारा मोरके अनुरागकी तरह अनुरागपूर्वक जपमें पराभक्तिकी दशासे रामराम जपमें निमग्नतारूपी रमण होने लगता है। इस प्रकार तीन-अवस्थाओंके उपलक्षसे 'रमु, जपु और रटु' कहा गया है। (श्री० श०)।

(३) राम राम शब्दमें मन लगा। अर्थात् जो मन विषयोंका स्मरण किया करता है, वह रामनामके प्रभाव और स्मरणमें लगे। उच्च स्वरसे रट अर्थात् अन्य विषय संबंधी व्यर्थ वार्ता त्यागकर श्रीराम सम्बंधी वार्तामें लगकर वाणीको सफल कर। 'राम राम जपु' अर्थात् अनेक कामनाएँ कर-करके जो शाबर आदि अनेक मंत्र जपता है, उन्हें छोड़कर मंत्रराज रामनामको ही जप। (ढु०)। भाव कि उसमें मनको लगा देनेसे विषयोंका स्मरण न होगा, उच्च स्वरसे रटनेसे विषयवार्ताओंसे बचेगा। इसीको जप; क्योंकि जिह्वाजपसे अर्थार्थी, आर्त्त, जिज्ञासु और ज्ञानी सभीके मनोरथ सिद्ध होते आए हैं। यथा 'नाम जीह जपि जागहिं जोगी।···' इत्यादि।]

टिप्पणी—१ (ख) वेदान्तभूषणजी लिखते हैं—"प्रथम जप नियमित होता है। यद्यपि वह अहर्निश होता है तो भी उसमें एक विधि होती ही है—'तुम पुनि राम राम दिन राती। सादर जपहु अनंगआराती।१।१०८।', 'पुलक गात हिय सिय रघुबीरू। जीह नाम जप लोचन नीरू।२।३२६।१।', 'राम राम रघुपति जपत स्रवत नयन जलजात।७।१।' ('सादर, पुलकांग, इष्टध्यान, प्रेमाश्रु' सहित जप होना चाहिए)।—इस तरह जपकी पूर्णावस्था आ जानेपर नियम-विशेषकी स्मृति न रहकर वह जप-क्रिया रटनिमें बदल जाती है,—'रटत रटत रसना लटी'। और रटनकी परिपक्व (किंवा चरम) अवस्था रम जाना, तन्मय होना है। अतः कहा कि 'हे जिह्वे! राम-राममें रम जाओ; परन्तु रमण होगा रटनकी चरम अवस्थामें और उस रटन-क्रियाकी सिद्धि निरन्तर रामरामके जपसे ही होना संभव एवं शक्य है।"

१ (ग) यदि 'जीहा' को संबोधन न मानकर केवल 'मन' को संबोधन मानें, तो ऐसा अर्थ हो सकता है कि "तू राम राममें रम अर्थात् अजपाजाप कर, मनसे स्मरण कर जीभ न हिले, चाहे

जिह्वासे जप कर और चाहे जिह्वासे रट। हर हालतमें तात्पर्य इतना ही है कि जैसे भी हो श्रीरामनाममें निरन्तर लगा रह।"—परन्तु प्रायः सभी टीकाकारोंने पूर्वार्धमें 'जीहा' को संबोधन ही माना है—ऐसी दशामें तो 'रमु, रटु, जपु' क्रम ठीक ही है और यह प्राचीनतम पोथीका पाठ भी है।

१ (घ) 'राम नाम नव नेह मेह''पपीहा' इति। मन स्वभावसे ही चंचल है। ६३ (१) देखिए। इसीसे 'हठ' करके लगनेको कहते हैं। मनका स्वभाव बड़ा हठी है, वह हठपूर्वक विषयोंमे लगा रहता है। यथा 'मेरो मन हरि हठ न तजै। निसि दिन नाथ देउँ सिख बहु बिधि करत सुभाउ निजै।''८९।'

चंचल स्वभाव होनेके कारण मनको वशमें करना बहुत कठिन है—'असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्। गीता ६।३५।'; किन्तु अभ्याससे अर्थात् किसी चित्तभूमिमें एक समान वृत्तिकी बारंबार आवृत्ति करनेसे और दृष्ट तथा अदृष्ट प्रिय भोगोंमें बारंबार दोषदर्शनके अभ्यास द्वारा उत्पन्न हुए अनिच्छारूप वैराग्यसे चित्तके विक्षेपरूप प्रचार (चंचलता) को रोका जा सकता है।—यह जानकर उसे उधरका हठ छोड़कर श्रीरामनामप्रेमस्वातिबूँदके लिये पपीहा बननेका हठ सिखाते हैं। सारांश कि चातककी तरह एकटक रामनाममें लग, मनको अन्यत्र न जाने दे।

'कृष्ण गीतावली' में जैसे गोपियोंने चार निर्मोहियों (मेघ, जल, मणि और कलगान) के उदाहरण देकर फिर कहा है 'श्याम-घन, गुन-बारि, छबि मनि, मुरलि तानतरंग। लग्यो मन बहु भाँति तुलसी होइ क्यों रस भंग।५४।', वैसे ही यहाँ 'रामनाम नवनेह मेघ' के लिये मनको चातक बननेके लिये कहते हैं कि ऐसा लग जा कि फिर रसभंग न हो सके। श्रीरामनामके वर्णोंकी छबि ('एक छत्र एक मुकुटमनि···'), रामनामका शब्द जो कानोंमें सुन पड़ता है वह अनाहत से भी अधिक सुन्दर है और वह 'कहत सुनत सुमिरत सुठि नीके' है, रामनामके गुण तो अपार हैं, इत्यादिमें मन लगाकर नामका स्मरण जप रटन करनेसे प्रेम बढ़ता ही जायगा। इति भावः।

वेदान्तभूषणजी लिखते हैं—"जप और रटन क्रियामें प्रायः रूपका ध्यान एवं नामार्थचिन्तवनकी प्रधानता रहती है।—

'तज्जपस्तदर्थभावनम्' (योगदर्शन समाधिपाद सूत्र २८) । सविधि जप, रटन आदिसे जब जिह्वाका रमण रामनाममें हो जाय, तो मनसे रूपका ध्यान आवश्यक न रहकर मनको रामनामनेहमें ही नव मेघमें पपीहावत् रहनेकी कामना की गई है । श्रीगोस्वामीजीके मतसे रूपसे नाम अधिक है—'मोरें मत बड़ नाम दुहूँ तें ।१।२३।२।' इसीसे मनः चातकके लिये रामरूपको मेघ न कहकर नामहीको नव-मेह कहा है ।"

टिप्पणी—२ 'सब साधन फल कूप सरित सर सागर सलिल···' इति । (क) सब साधन फल से निराश होनेका भाव यह है कि इनका कुछ भी आशा-भरोसा न रख; क्योंकि सब साधन देखने-सुननमें ही बड़े मधुर हैं, करनेमें दुःसाध्य हैं और फिर कष्ट उठाकर करनेपर भी फल ईश्वराधीन ही है । कलिकालमें अन्य सब साधन लँगड़े-लूले बेकार हो गए हैं—यह बात आगे दिखावेंगे । यथा 'जोग मख विवेक बिरति वेदविहित करम । करिवे कहुँ कटु कठोर सुनत मधुर नरम ।। तुलसी सुनि जानि बूझि भूलहि जनि भरम । १३१।', 'कलिकाल अपर उपाय ते अपाय भए, जैसे तम नासिवेको चित्रके तरनि ।। करम कलाप परिताप पाप साने सब, ज्यों सुफूल फूले रूख फोकट फरनि । दंभ लोभ लालच उपासना बिनासि नीके सुगतिसाधन भई उदर भरनि ।। जोग न समाधि, निरुपाधि न बिराग, ज्ञान बचन-बिसेष, कहूँ न करनि । १८४।', 'एहि कलिकाल सकल साधन तरु है श्रम फलनि फरो सो । तप तीरथ उपवास दान मख जेहि जो रुचै करो सो ।। पायेहि पै जानिवो करम फलु भरि-भरि वेद परोसो । आगम बिधि जप जाग करत नर सरत न काज खरो सो । सुख सपनेहु न जोग सिधि साधत रोगु बियोगु धरो सो । काम कोह मद लोभ मोह मिलि ज्ञान बिराग हरो सो ।१७३।'—अतः कहते हैं कि इन सबोंकी आशा त्यागकर एकमात्र श्रीराम-नाममें प्रेम कर ।

२ (ख) यहाँ साधनोंपर कूप-सरित-सर-सागरका, साधनफलपर कूपादिके जलका और रामनाम-रतिपर स्वाति-जल-सीकर-प्रेमका आरोप किया गया, इसीसे मनपर पपीहाका आरोप किया गया । कूप सरित

सर सागर कहकर छोटे-बड़े सभी साधन सूचित किये, कुछ साधनों-के नाम उपर्युक्त उदाहरणोंमे आ गए हैं। पद ४६ (७ घ) में भी देखिए।

यहाँ कूपादि साधन है और कूपादिके जल साधनोंके फल हैं। चातक कूपादिके जलोंसे निराश, निष्काम वा विमुख रहकर उन सबोंको त्यागकर एकमात्र स्वाती नक्षत्रके मेघमे प्रेम करता है और उसके एक बूँदका ही प्यासा बना रहता है। वैसे ही समस्त साधनों और उनके फल स्वर्गादिके सुखोंसे निष्काम होकर रामनामनिष्ठ होनेको कहते है।—इससे अनन्यताका उपदेश दिया।

टिप्पणी—३ (क) 'गरज तरज···' इति। यहाँ मेघकी कठोर करनी और चातककी उत्तरोत्तर अनुरागकी वृद्धि दिखाकर उपदेश देते हैं कि इसी प्रकार कितनी ही विपत्ति तुझपर क्यों न पड़े, तेरा सर्वस्व ही नष्ट क्यों न हो जाय, तो भी तेरी निष्ठामे, तेरी रीढ़ि, तेरी सहज अविरल अमल प्रीति, प्रतीति और चतुरता इत्यादिमें बट्टा या दाग न लगे, प्रियतममे भूलकर भी दोषदृष्टि न आने पावे, सांसारिक सुख-सर्वस्वके नाशमे प्रियतमकी ओरसे प्रेमपरीक्षा ही समझे, भूलकर भी दूसरे साधनोंपर मन या दृष्टि न जाने पावे, तुझे अपने प्रेमकी पीर बनी रहे, 'पिउ पिउ' की रटन न घटे।

३ (ख) प्रेमीके संबंधमें 'गरज तरज···' क्या हैं ? कुसंगियोंके कटु, मार्मिक व्यंग एवं कूट वचन, सम्बन्धी गुरुजनोंकी डॉट-फटकार एवं कुपित वचनोंद्वारा अपमान, शरीरमें रोग एवं धन-धान्य-संपत्तिका नाश और स्त्री-पुत्रादिकी मृत्यु आदि जितनेभी उच्चाटनके साधन हैं, वे ही मेघकी गरज, तरज, पाषाण और पवि हैं। माता, पिता, स्त्री, पुत्र आदिके मरनेपर लोग कहते ही है कि वज्रपात हुआ, ऐसी घटनाओंसे धीरोंको भी क्लेश हो जाता है।—इतनेपर भी स्वामीमे प्रीतिकी वृद्धि ही होना उपासनाकी निष्ठा सिद्ध करता है।

वैजनाथजीके मतानुसार कुसंगादि गर्जन, विक्षेप तर्जन, रुजादि पत्थर और हितहानि वज्र हैं

३ (ग) 'गरज तरज···' कथनका भाव यह है कि हे मन ! रामनामजपमें तेरी भी यही वृत्ति होनी चाहिए। चाहे कितने ही कायिक और मानसिक कष्ट, दुःख और आपत्तियाँ क्यों न उपस्थित हों, तू रामनामकी निष्ठासे विचलित न हो, ज्यों-ज्यों विघ्न पड़ें त्यों-

त्यों उसमे और भी अधिक उत्साह और अनुराग हो। ये सब विघ्न प्रियतमकी ओरसे तेरी परीक्षायें हैं।

३ (घ)—पपीहाकी अनन्यता ग्रहण करनेका उपदेश इस पदमें है। पपीहाकी टेक कैसी है यह समझने और उस टेकको धारण करनेके इच्छुकोंको दोहावलीकी 'चातक चौंतीसी' स्मरण रखना चाहिये, कंठ कर लेना चाहिए। आवश्यक अंश यहाँ उद्धृत किया जाता है।—

एक भरोसो एक बल एक आस बिश्वास।
एक राम-घनस्याम हित चातक तुलसीदास ॥२७७॥
जौं घन बरषै समय सिर जौं भरि जनम उदास।
तुलसी या चित चातकहि तऊ तिहारी आस ॥२७८॥
चातक तुलसी के मते स्वातिहु पियै न पानि।
प्रेम तृषा बाढति भली घटे घटेगी कानि ॥२७९॥
रटत रटत रसना लटी तृषा सूखि गे अंग।
तुलसी चातक-प्रेम-को नित नूतन रुचि रंग ॥२८०॥
चढ़त न चातक-चित कबहुँ प्रिय पयोद के दोष।
तुलसी प्रेम पयोधि का ताते नाप न जोष ॥२८१॥
बरषि परुष पाहन पयद पंख करौ टुक टूक।
तुलसी परी न चाहिये चतुर चातकहि चूक ॥२८२॥
उपल बरषि गरजत तरजि डारत कुलिस कठोर।
चितव कि चातक मेघ तजि कबहुँ दूसरी ओर ॥२८३॥
पबि पाहन दामिनि गरज झरि झकोर खरि खीझि।
रोष न प्रीतम दोष लखि तुलसी रागहि रीझि ॥२८४॥
तीन लोक तिहुँ काल जस चातक ही के माथ।
तुलसी जासु न दीनता सुनी दूसरे नाथ ॥२८८॥
जीव चराचर जहँ लगे है सबको हित मेह।
तुलसी चातक मन बस्यो घन सो सहज सनेह ॥२९४॥
डोलत बिपुल बिहंग बन, पियत पोखरनि बारि।
सुजस धवल चातक नवल! तुही भुवन दसचारि ॥२९५॥
बध्यो बधिक पर्‍यो पुन्य जल उलटि उठाई चोंच।
तुलसी चातक प्रेम पट मरतहुँ लगी न खोंच ॥३०२॥

जियत न नाई नारि चातक घन तजि दूसरहि ।
सुरसरिहू को वारि मरत न मॉगेउ अरध जल ॥३०५॥
तुलसी के मत चातकहि केवल प्रेम पिआस ।
पियत स्वाति जल जान जग जॉचत बारह मास ॥३०८॥
अन जल सींचे रूख की छाया तें वरु घाम ।
तुलसी चातक बहुत हैं यह प्रवीन को काम ॥३११॥
एक अंग जो सनेहता निसि दिन चातक नेह ।
तुलसी जासो हित लगे वहि अहार वहि देह ॥३१२॥

टिप्पणी—४ 'रामनाम गति···' इति । (क) यहाँ उत्तम बड़भागी उपासकोंके लक्षण और आचरण बताकर मनको उत्साहित करते हैं । 'राम नाम गति' से अन्य साधन का अभाव, 'रामनाम मति' से अन्य साधनोंके फलोंसे विमुख और 'रामनाम अनुरागी' से सांसारिक सभो पदार्थोंसे वैराग्य जनाया ।—'सब कै ममता ताग बटोरी । मम पद मनहि बाँध बरि डोरी ।५।४८।५।'

(१) 'रामनाम गति—रामनाम ही जिनकी गति है । अर्थात् एकमात्र श्रीरामनामका ही आशाभरोसा और एकमात्र इसीसे अपना कल्याण होगा यह विश्वास रखनेवाले, दूसरा अवलंब न लेनेवाले । ऐसा होनेसे अन्य साधनोंका अभाव हुआ । यथा 'विश्वास एक राम नाम को । मानत नहि परतीति अनत ऐसोइ सुभाव मन बाम को ।१५५।', 'भरोसो जाहि दूसरो सो करो ।··· संकर साखि जो राखि कहउँ कछु तौ जरि जीह गरो । अपनो भलो रामनामहि ते तुलसिहि समुझि परो ।२२६।', 'रामनाम ही सों जोग छेम।नेम प्रेम पन, सुधा सो भरोसो एहु दूसरो जहरु ।२५०।'; 'रामनाम को प्रताप जानियत नीके आपु मोको गति दूसरी न विधि निरमई ।२५२।', 'राम ही के नाम तें जो होइ सोइ नीको लागै, ऐसोई सुभाव कछु तुलसीके मन को । क० ७।७७।', 'रामके नाम तें होउ सो होउ···। क० ७।६१।', 'और ठौर न और गति नाम बिहाय ।२२० (१) ।'

(२) 'रामनाम मति' इति । अर्थात् जिनकी बुद्धि श्रीरामनाममें ही स्थिर रहती है, श्रीरामनामके सिवा अन्य किसी साधनका विचार स्वप्नमे भी कभी जिनकी बुद्धिमें नहीं आने पाता, जिनकी बुद्धि रामनामको ही सर्वस्व जानती-मानती है । यथा 'अपनो भलो राम नामहि ते तुलसिहि समुझि परो । २२६।' (समझना-विचारना काम

बुद्धिका है), 'नाना पथ निर्वानके नाना बिधान बहु भाँति। तुलसी तू मेरे कहे जपु रामनाम दिन राति।१९२।' (इसमें बुद्धिका निर्णय है)। 'मति रामनाम ही सों रति रामनाम ही सों गति रामनाम ही की विपति हरनि। रामनाम सों प्रतीति प्रीति राखे कबहुँक तुलसी ढरेंगे राम आपनी ढरनि।१८५।' (यह भी बुद्धिका ही निर्णय है)।

(३) 'रामनाम अनुरागी' इति। 'अनुराग' का अर्थ है 'उसमें रँग जाना'। गोपियोंका अनुराग ऐसा ही था,—'जित देखूँ तित श्याममई है।' इसी प्रकार जो श्रीरामनामरंगमें रँग गये हैं, दूसरा रंग उन्हें सूझता ही नहीं, वे ही 'रामनामानुरागी' हैं। श्रीकबीरजीके शिष्य पद्मनाभजी ऐसे ही अनुरागी थे। श्रीनाभाजी लिखते हैं—"कबीर कृपा तें परम तत्त्व पद्मनाभ परचौ लह्यो॥ नाम महानिधि मंत्र, नाम ही सेवा पूजा। जप तप तीरथ नाम, नाम बिनु और न दूजा॥ नाम प्रीति नाम बैर, नाम कहि नामी बोलै। नाम अजामिल साखि, नाम बंधन तें खोलै॥ नाम अधिक रघुनाथ तें, राम निकट हनुमत कह्यो। कबीर कृपा तें परमतत्त्व पद्मनाभ परचौ लह्यौ। छप्पय ६८।" 'रामनाम सुमिरन भजन, नामहि पूजा प्रेम। तप तीरथ दानादि सब, नाम योग, सुख, छेम।' (भक्तमाल श्रीरूपकलाजीके भक्ति सुधास्वाद तिलकसे उद्धृत)।

श्रीभगवानसहायजी लिखते हैं कि देह, गेह, स्त्री, पुत्र, धन और धाम आदिमें जितनी प्रीति है, उन सबको भूलकर नाममें एकाकार वृत्ति जिनकी हो गई वे ही रामनामानुरागी हैं।

४ (ख) 'तेइ तिभुवन गनियत बड़भागी' इति। त्रिलोकी उन्हींको बड़भागी मानता है, अर्थात् सन्तसमाज तथा वेदपुराणादि सद्ग्रन्थोंमें उन्हींकी प्रशंसा है। यथा 'तुलसी भगत सुपच भलो भजै रैनि दिन राम। ऊँचो कुल केहि कामको जहाँ न हरिको नाम। ३८। अति अनन्य जो हरिको दासा। रटै नाम निसि दिन प्रति स्वासा॥ तुलसी तेहि समान नहि कोई। हम नीके देखा सब लोई।४०। जदपि साधु सब ही बिधि हीना। तद्यपि समताके न कुलीना। यह दिन रैनि नाम उच्चरै। वह नित मान अगिनिमें जरै।४१। दास रता एक नाम सो उभय लोक सुख त्यागि। ४२।' (वैराग्य संदीपिनी) "धन्यास्ते कृतिनः पिबन्ति सततं श्रीरामनामामृतम्। कि० मं० श्लो० २।",

'तेन तप्तं तेन दत्तमेवाखिलं तेन सर्वं कृत
नामामृतं पानकृतमनिशमनवद्यमवलोक्य क

भाव यह है कि जैसे चातक अपने
जाता है, यथा 'पेम नेमके निबाहे च
वैसे ही श्रीरामनामानन्य अनुरागी न
अतिशय धन्य माने जाते हैं। चातकका
तो श्रीरामनाम ब्रह्ममें है; अतएव ये उससे

टिप्पणी—४ 'एक अंग मग अगम
का अर्थ कुछ शब्दार्थमें दिया गया
रसखानजीने इस प्रकार लिखा है—'इक
रस सदा समान। गनै प्रियहि सर्वस्व जो,
निष्कारण प्रेम, बदलेमें कुछ पानेकी इच्छ
एकांगी है। (दीनजी)। दूसरी ओरसे प्रेम
प्रेम करे या न करे, हम अपनी ओरसे
इत्यादि 'एकांगी प्रेम' है। श्रीमद्गोस्वा
निसि दिन चातक नेह। तुलसी जासों
देह। दो० ३१३।'—इस दोहेमें स्वयं '
कर दी है।

हिरन, पतिंगा, मछली, चकोर, क
अपने प्रियतम राग (नाद), अग्नि, जल
एकांगी प्रेम है। इनके प्रियतम इनक
करते; फिर भी ये अपनी ओरसे प्रेम-नेम
हैं। यथा 'नाद निठुर, समचर सिखी, स
सरोग, दिनकर बड़े, पयद पेमपथ कूर
ताको सुख-दायक सोइ।३१३।', 'दे
सराहिए।' 'जल बिनु थलु कहाँ मीच बि
व्याख्या इन पदोंमें देखिए)।

४ (ख) 'मग अगम' इति। भाव कि

है। मछली तो प्रियतम जलके छूटते ही तड़प-तड़पकर प्राण दे देती है। पतिंगा दीपकपर प्राण निछावर कर देता है। कमलका स्नेही सूर्य जल न रहनेपर कमलको झुलस डालता है, यथा 'भानु कमल-कुल पोपनिहारा। विनु जल जारि करइ सोइ छारा।'—ऐसे ही और सब प्रेमास्पदोंमें समझ लीजिए।

गोपियोंका भ्रमर-गीत प्रसिद्ध है। उन्होंने (श्रीमद्भागवतमें) भ्रमरको संबोधित कर कुछ ऐसा ही कहा है; परन्तु गोस्वामीजीने श्रीकृष्ण गीतावलीमे गोपियोंसे 'एकांगी प्रेममे सुख कहाँ' इस संबंध में बहुत कुछ कहलाया है जो मानों 'एक अंग मग अगम' की व्याख्या ही है। अतः हम उसे यहाँ उद्धृत करते हैं—

"ऐसो हौ हूँ जानति भृंग। नाहिनै काहू लह्यो सुख प्रीति करि इक अंग॥ कौन भीर जो नीरदहि जेहि लागि रटत बिहंग। मीन जल बिनु तलफि तनु तजै, सलिल सहज असंग॥ पीर कछू न मनिहिं जाके विरह विकल भुअंग। व्याध विसिष बिलोक नहिं कलगान लुबुध कुरंग॥ ५४॥",

"ऊधो! प्रीति करि निरमोहियन सों को न भयो दुखदीन। सुनत समुझत कहत हम सब भईं अति अप्रवीन॥ अहि कुरंग पतंग पंकज चारु चातक मीन। बैठि इनकी पाँति अब सुख चहत मन मति-हीन॥ निठुरता अरु नेहकी गति कठिन परति कही न। दास तुलसी सोच नित निज प्रेम जानि मलीन ।५५।"

इसी प्रकार श्रीरामनामके एकांगी प्रेमका मार्ग भी बडा अगम्य है। चातक-प्रेमकी परीक्षामें 'गरज, तरज, पाषाण और पवि' की व्याख्यामें नाम-प्रेममार्गीको विचलित करनेवाली कुछ कठिनाइयाँ ऊपर लिखी गईं, कुछ आगे 'छन छन छाहें' मे लिखी जायँगी।

[वैजनाथजीके मतानुसार मार्गकी दुर्गमता इस प्रकार है—'कुसंग वन, मान-मद पर्वत, द्वेष व्याघ्र, मत्सर सिंह, अन्य कर्म ठग वटमार अश्रद्धा घाम और आलस भुलभुली (जलती रेत) है।']

५ (ग) 'गवनु करि बिलमु न...' इति। मार्ग कठिन भी क्यों न हो, पर यदि यात्री धीरे-धीरे चलता ही जाय, तो वह अवश्य शीघ्र कट जाय। हाँ, यदि तीक्ष्ण घामकी तपन मिटानेके लिये क्षण-क्षण मार्गमें वृक्षोंकी छायामे रुकता गया तो रास्ता कटना और मंजिल पर पहुँचना दुर्लभ है।—इसी तरह प्रथम तो 'श्रीरामनाममे चातकवत्

अनन्य एकांगी प्रेम करना'–रूपी मार्ग ही दुर्गम है। फिर भी कोई साहस करके चले और कुछ दैहिक-दैविक-भौतिक तापरूपी तीक्ष्ण घाम आ उपस्थित हुए तब यदि उनको मिटाने अथवा लोकऐषणा-सुखकी प्राप्तिके लिए जबतब रामनामको छोड़ अन्य देवादिकी उपासना, अनेक मंत्र-तंत्र-यंत्र प्रयोग अनुष्ठान आदि लोक-परलोक-संबंधी साधनों—(जिनके बड़े-बडे अत्यन्त प्रलोभनीय फल कर्मकांडमें कहे गये हैं, उन साधनोंरूपी हरेभरे वृक्षों) के क्षणिक सुख (रूपी छाया) में पड़ गये, तो कहींके न रह गये।

अतएव कहते हैं कि इस मार्गपर आरूढ़ हो जानेपर फिर सुत-वित-लोक एषणाओंके सुखमें न भूलकर रुक जाना। नामजापकको त्रिताप न भी व्यापे, तो भी ऋद्धि-सिद्धि लोकमान्यता आदि सुख-रूपी विघ्न होते हैं, जो क्षण-भंगुर हैं। इनमें पड़ जाना भी छायामें ठहरना है।

[इन्द्रियोंके विषयोंसे प्राप्त होनेवाले मायिक सुख तरुछाया है।]

५ (घ) 'तुलसी हित अपनो...' इति। इसमें 'एक अंग' का भाव खोल दिया है कि स्वामीकी कठोरता पर, उनकी करनीपर दृष्टि न डाले, उनमें दोषदृष्टि न आने पावे। वे तो जगत्‌के पालक और भक्तके विशेष रक्षक हैं, तब वे भला हमारा बुरा कब चाहेंगे? हमें कष्ट क्यों देंगे?—यह बुद्धि बनी रहे, हताश न हो। कभी न कभी हमारी सुध अवश्य लेंगे। वे महादानी हैं, हमे अवश्य अपना प्रेम प्रदान करेंगे।

'हित अपनो' का भाव कि एकांगी प्रेम करनेमें ही हमारा भला है। हित यह है कि स्वामी इस एकांगी प्रेमसे कनोडे हो जायँगे। किन्तु इसमें एक शर्त लगी है—'निरुपधि नेम निबाह' की। 'निरुपधि' शुद्ध संस्कृत शब्द है। अर्थ है 'निष्कपट'। प्रेममें छल-कपट क्या है? स्वार्थ-साधन यहाँ तक कि अर्थ, धर्म, काम और मोक्षकी चाह भी कपट है। यथा 'सहज सनेह स्वामि सेवकाई। स्वारथ छल फल चारि विहाई। २।३०१।३।' श्रीप्रह्लादजीने भी कहा है कि स्वामीसे कामनापूर्तिकी इच्छा रखनेवाला तो सेवक नहीं, व्यापारी है—'यस्त आशिष आशास्ते न स भृत्यः स वै वणिक्। भा० ७।१०।४।'

५ (ङ) श्रीमद्गोस्वामीजीने जो यहाँ जिह्वा और मनको चातक-वृत्ति तथा रामनाम गति-मति-रतिका और एकांगी प्रेमका उपदेश

किया है, वह उनके ग्रन्थोंमें उनके द्वारा आचरित भी देख पड़ता है। यथा—'जनु कहाइ नाम लेत हौं किये पन चातक ज्यो प्यास सुपेम पान की।...तुलसिदास न बिसारिऔ मन क्रम वचन जाके सपनेहुँ गति न आन की। ४२।', "तुलसी तिलोक तिहुँ काल तोसे दीन को। रामनाम ही की गति जैसे जल मीनको।६८ (५)।', 'नाम अवलंब अंबु दीन मीन राउ सो। प्रभु सों बनाइ कहौं जीह जरि जाउ सो।१८२।', 'रामनाम तुलसीको जीवन अधार रे।६७।', 'तिहुँ काल तिहुँ लोकमें एक टेक रावरी तुलसीसे मन मलीनको। २५४ (३)।'

उनके समकालीन नाभाजीने भी उनके संबंधमें कहा है—'राम-चरण-रस-मत्त रटत अहनिशि व्रतधारी।' (भक्तमाल)।

जो पदके अन्तमें कहा है—'तुलसी हित अपनो अपनी दिसि निरुपधि नेम निबाहें', वह भी सत्य कर दिखाया है। श्रीलक्ष्मणजीने स्वयं दरबारमें कहा है कि 'कलिकालहुँ नाथ नाम सो प्रतीति प्रीति एक किंकरकी निवही है। २७६।' सारी सभाने समर्थन किया और तुलसीदासजीका 'हित' भी हुआ—'मुदित माथ नावत वनी तुलसी अनाथकी परी रघुनाथ सही है। २७६।', 'मोको सुभदायक भरोसो रामनामको। १७६।'

कवितावलीके उत्तरकांडके १७८ वें कवित्तमें प्रायः ये सब अंग आ जाते हैं। यथा 'रामनाम मातु पितु, स्वामि समरत्थ हितु, आस रामनामकी भरोसो रामनामको। प्रेम रामनाम ही सों, नेम रामनाम ही को, जानौं न मरम पद दाहिनो न बाम को॥ स्वारथ सकल पर-मारथको रामनाम, रामनामहीन 'तुलसी' न काहू कामको। रामकी सपथ, सरवस मेरे रामनाम, कामधेनु कामतरु मोसे छीन छामको॥'

श्रीसीतारामचन्द्रार्पणमस्तु।

६६ (३३) राग भैरव—(रा०)

राम जपु राम जपु राम जपु बावरे।
घोर भव नीरनिधि नाम निज नाव रे॥१॥

एकहि[1] साधन सब रिधि सिधि साधि रे।
ग्रसे कलि रोग जोग संजम समाधि रे ॥२॥
भलो जो है पोच जो है दाहिनो जो वामु रे।
राम नाम ही सों अंत सबही को[2] कामु रे ॥३॥
जग नभ वाटिका रही है फलि फूलि रे।
धूआँ के[3] से धौरहर देखि तूं न भूलि रे ॥४॥
राम नाम छाड़ि जो भरोसो करै और रे।
तुलसी परोसो त्यागि माँगै कूर कौर[4] रे ॥५॥

शब्दार्थ—बावरे = अरे बावले (दीवाने, पागल, मूर्ख)। नीर-निधि = जल-निधि = सागर। निज = निजकी; अपनी। निश्चित, सच्ची, यथार्थ, खास, एकमात्र। एकहिं = एकही से। रिद्धि (ऋद्धि) समृद्धि; बढ़ती। = बहुत अधिक सम्पन्नता (ऐश्वर्य वा अमीरी)। सिद्धि = अणिमा आदि अष्ट सिद्धियाँ। रिधि सिधि = ऐश्वर्य और सफलता (कृतकार्यता, मनोरथकी पूर्णता)। साधि = साध ले; सिद्ध, प्राप्त वा एकत्र कर ले। यथा 'वैदिक विधान अनेक लौकिक आचरन सुनि जानिकै। बलिदान पूजा मूल कामनि साधि राखी आनिकै।' ग्रसना = चेतरह पकड़-जकड़ लेना कि छूटने न पावे; निगल जाना; खा लेना। संयम = इन्द्रियनिग्रह; मन और इन्द्रियोंको वशमें रखने-की क्रिया। समाधि = योगका चरम फल जो योगके आठ अंगोंमेंसे अन्तिम अंग है और जिसकी प्राप्ति सबके अंतमें होती है। इस अवस्थामें मनुष्य सब प्रकारके क्लेशोंसे मुक्त हो जाता है, चित्तकी सब वृत्तियाँ नष्ट हो जाती हैं। इस अवस्थामें लोग प्रायः पद्मासन लगाकर और आँखें बन्द करके बैठते है। 'रे'—यह सम्बोधन शब्द

---

१ एकहि—ह०, ७४, रा०, ज०, दीन। एकही—वै०, वि०, पो०, ५१। एकइ—भा०, वे०। एकहिं-६६। २ सो—६६, रा०। सो—ज०। को—प्रायः और सबोंमे। ३ के से—६६, रा०, ह०, मु०, दीन। कैसौ—भा०। कैसे—बे०, डु०, वि०। कैसो—वै०, प्र०, ७४। ४ कोर—६६। कौरु०-रा०। कौर—प्राय' औरोंमे। 'और' की जोड़मे 'कौर' पाठ उत्तम है।

है। इससे आदरका अभाव सूचित होता है और इसका प्रयोग उसी-के प्रति होता है जिसके प्रति 'तू' सर्वनामका व्यवहार होता है। पोच = बुरा, नीच। निकम्मा। दाहिनो = अनुकूल; हितकी ओर प्रवृत्त। वाम = प्रतिकूल; विरुद्ध; अहितमें तत्पर। यथा 'जे बिनु काज दाहिनेहु बाएँ।' अंत = मरते समय। नभ-बाटिका = आकाशकी फुलवारी। असंभव बातोंके उदाहरणोंमेंसे यह भी एक है। धौरहर = भवनका वह भाग जो खंभेकी तरह ऊँचा गया हो और जिसपर चढ़नेके लिए भीतर-भीतर सीढ़ियाँ हों। = धरहरा, बुर्ज वा मीनार। = महल (वै०)। धूआँ (सं० धूम) = सुलगती या जलती हुई चीज़ोंसे निकलकर हवामें मिलनेवाली भाप। धूआँके धौरहर = थोड़े ही कालमें मिटने या नष्ट होनेवाली वस्तु या आयोजन। = क्षणभंगुर वस्तु। यथा 'कबिरा हरिकी भक्ति बिन धिक जीवन संसार। धूआँको सो धौरहर जात न लागै वार।' (कबीरजी)। न भूलि = भूल न जाना। भूलना = धोखेमें आकर उसमे अनुरक्त हो जाना; लुभा जाना। देखि = देख! खबरदार! सावधान हो जा। छाड़ि = छोड़कर। परोसो (परोसा) = एक मनुष्यके खाने भरका भोजन जो थाली या पत्तलपर लगाकर किसीको दिया जाता है। = खानेके लिए सामने रक्खा हुआ भोजन। कौर = ग्रास, उतना भोजन जितना एक बार मुँहमें डाला जा सके। कौर माँगना = टुकड़े माँगना; टुकड़ेके लिए मुहताज होना। कूर = कुमार्गी, मंदबुद्धि। सों—(कारण और उपादान कारकका चिह्न) = से।

पद्यार्थ—अरे बावले! राम (नाम) जप, राम (नाम) जप, रामनाम जप। भयंकर भवसागर (पार करनेके लिए राम) नाम एकमात्र सच्ची एवं अपनी खास नाव है।१। अरे! (इस रामनाम-जपरूपी) एक ही साधनसे सब ऋद्धि-सिद्धि साध ले। अरे (बावले)! (अन्य सब साधन पुरुषार्थहीन हैं, असमर्थ हैं, क्योंकि) कलिकाल-रूपी रोगने योग, संयम और समाधिको ग्रस लिया है (अर्थात् इनके द्वारा ऋद्धि-सिद्धिकी प्राप्ति कलिकालमें कठिन हो गई है)। २। अरे! जो भले हैं, जो बुरे हैं, जो अनुकूल हैं एवं जो प्रतिकूल हैं (अर्थात् चाहे भले हों या बुरे, अनुकूल हों या प्रतिकूल) अंतकाल-में रामनाम ही से सबको काम (पड़ता है और पड़ेगा)।३। जगत् आकाश-वाटिकाके समान है जो फल-फूल रही है। यह धूएँ के धर-

हरोंके समान है। अरे ! देख, तू (इनमें) भूल न जाना। ४। अरे ! जो रामनामको छोड़कर अन्य (साधनों) का भरोसा करता है, तुलसीदासजी कहते हैं कि वह मन्दबुद्धि है, सामने रक्खा हुआ भोजन छोड़कर वह कौर-कौर माँगता फिरता है।५।

टिप्पणी—१ 'राम जपु राम जपु...' इति। (क) तीन बार 'राम जपु' कहनेका भाव वैजनाथजीके मतानुसार यह है कि "जबतक देहबुद्धि रहे तबतक माला लेकर जप। जीवबुद्धि होनेपर श्वास द्वारा जप और आत्मबुद्धि होनेपर अन्तःकरणसे जप। इस प्रकार सदा रामराम जप।" दासकी समझमें तीन बार कहनेमें ताकीदकी विप्सा है। तीन बार कहकर सदा और बारंबार जप करनेका आदेश किया। पुनः तीन बार कहकर जनाया कि मन, वचन, और कर्म तीनोंसे यही कर।

१ (ख) 'बावरे !'—किसका संबोधन है, यह यहाँ नहीं खोला। आगे पद ८१ में 'मन' को बावला कहा है; यथा 'सुनहु नाथ मन जरत त्रिबिध ज्वर करत फिरत बौराई।' क्या बावलापन है, यह भी वहाँ बताया है। कभी योगरत, कभी भोगरत, कभी वियोगवश, कभी मोहवश सबसे द्रोह, इत्यादि बावलापन है जो पद ८१ में बताया है।

पुनः भाव कि पिछले पदमें मनको 'रामनाम नवनेह मेह' के लिये हठपूर्वक चातक बननेका उपदेश किया है, उसी (मन) को यहाँ भी उपदेश देते हैं, इसीसे दुबारा नाम नहीं दिया गया। उपदेश करते है, पर वह सुनता नहीं, अन्य साधनों तथा विषयोंमें लग रहा है, अतः बावला कहा।

१ (ग) 'घोर भव नीरनिधि' इति। 'भव' को सागर वा सरिताकी उपमा और भी अनेक पदोंमें दी गई है। यथा 'भवजलधि पोत चरनारविंद। ६४।', 'सेतु भवसागरको हेतु सुखसारको।६६।', 'जो कछु कहिय करिय भवसागर तरिय बच्छपद जैसे।११८।', 'साधन फल श्रुतिसार नाम तव भवसरिता कहँ बेरो। १४३।', 'घोर भव आपगा पापजल पूर दुःप्रेच्छ दुस्तर अपारं'। ५६।'

'घोर भव आपगा' का कुछ विस्तृत रूपक कवि पद ५९(८) में दे चुके हैं, वही रूपक भवजलधिके लिये ले सकते हैं। भवसागर पापजलसे पूर्ण है, षड्वर्ग उसके मगर, इन्द्रियाँ नाक, शुभाशुभ कर्म भँवर समूह और दुःख अत्यन्त तीक्ष्ण तरंगें वा धारा हैं। यथा

'घोर भव आपगा पापजलपूर दुःप्रेच्छ दुस्तर अपारं। मकर षड्वर्ग गो नक्र चक्राकुलं शुभ-अशुभ दुःख अति तीव्र धारं। ५९(८)।' 'घोर' विशेषणसे उसका दुष्प्रेक्ष्य, दुस्तर और अपार होना भी जना दिया। विशेष व्याख्या ५९ (८ क) में देखिए।

१ (घ) 'नाम निज नाव रे' इति। भगवान्के चरण भवसागर के लिये 'पोत' है,—'भवजलधि पोत चरनारविंद'। और रामनाम 'घोर भव नीरनिधि' के लिये 'निज नाव' है। यहाँ 'घोर' और 'निज' विशेषण देकर श्रीरामनामका विशेष महत्व दिखाया। चरण तो दुर्लभ हैं किन्तु रामनाम सुलभ है—'भाय कुभाय अनख आलसहू। नाम जपत मंगल दिसि दसहू। १।२८।१।', 'दंभहू कलि नाम कुंभज सोच सागर सोसु। १५९।'—केवल जिह्वामात्रसे उच्चारण करना है। फिर चरण तो अपने अधिकारमें नहीं और 'अपनी' नाव तो अपने अधिकारमें है।

'निज' के अर्थ हैं—'अपनी' और 'सच्ची, यथार्थ, खास, निश्चित'। 'अपनी' का भाव कि जो सदा अपने अधिकार में है, जब चाहें उसपर चढ़कर पार हो जायँ। नामको 'निज' नाव कहनेसे सिद्ध हुआ कि अन्य भवतरणोपाय 'पराई' और 'अनिश्चित' नावें हैं। तप, व्रत, तीर्थ, योग, यज्ञ आदि कर्मकांड, ज्ञान, वैराग्य, भक्ति, विज्ञान आदि अनेक अन्य साधन भी है; यथा 'कर्म उपासन ज्ञान वेदमत सो सब भाँति खरो।२०६' ये सब 'पराई' नावें हैं। एक तो इनमें सबका अधिकार नहीं, दूसरे इनमें परिश्रम है, तीसरे इनमें द्रव्य, नीरोग स्वस्थ शरीर आदि अपेक्षित है, चौथे फिर भी भवतरण अनिश्चित है। यथा 'व्रततीरथ तप सुनि सहमत पचि मरै करै तन छाम को। करमजाल कलिकाल कठिन आधीन सुसाधित दाम को। ज्ञान बिराग जोग जप तप भय लोभ मोह कोह काम को।१५५।', 'करतहुँ सुकृत न पाप सिराही। १२८।', 'जोग जाग जप बिराग तप सुतीरथ अटत। बाँधिवे को भव गयंद रेनु की रजु बटत।१२९।', 'एहि कलिकाल सकल साधन तरु है श्रम फलनि फरो सो। तप तीरथ उपवास दान मख जेहि जो रुचै करो सो। पाएहि पै जानिबो करमफलु भरि-भरि वेद परोसो।। सुख सपनेहु न जोग सिधि साधत रोग बियोग धरो सो। काम कोह मद लोभ मोह मिलि ज्ञान बिराग हरो सो।१७३।'

श्रीरामनामको 'निज नाव' कहकर जनाया कि—(१) इसमें अन्त्यज, अन्धे, लूले, लँगड़े, दीन, हीन, मलिन, कुलहीन, दरिद्र आदि सबका अधिकार है। यथा 'नीचेहुको, ऊँचेहूको, रंकहूको, रावहूको सुलभ सुखद आपनो सो घरु है।२५५।' (२) इसमें परिश्रम नहीं, इसके लिये कहीं जाना नहीं पड़ता, यहाँ तक कि दीक्षाकी भी अपेक्षा नहीं, यथा 'आकृष्टिःकृति चेतसां सुमहतामुच्चाटनं चांहसाम्। आचाण्डालममूकलोक सुलभो वश्यश्च मोक्षश्रियः॥ नो दीक्षां न च दक्षिणां न च पुरश्चर्यामनागीक्षते। मन्त्रोऽयं रसना स्पृगेव फलति श्रीरामनामात्मकः।' (रामगीत गोविंद)। आरामसे बैठे, चलते-फिरते, पवित्र वा अपवित्र सभी अवस्थाओंमें केवल जपता. रटता या स्मरण करता रहे—बस इतना ही चाहिए और भवतरण निश्चित है। यथा 'भव मग अगम अनंत है बिनु श्रमहि सिरातो। महिमा उलटे नामकी मुनि कियो किरातो।१५१।', 'गति न लहै रामनाम सों विधि सो सिरिजा को।·· नाम लेत कलिकालहूँ हरिपुरहिं न गा को।१५२।', 'जानि नाम अजान लीन्हें नरक जमपुर मने।१६०।', 'क्रूर कुटिल कुलहीन दीन अति मलिन जवन। सुमिरत नाम राम पठये सब अपने भवन।२१२।'

[बैजनाथजी लिखते हैं कि "दूसरेकी नाव अपनी इच्छासे नहीं मिलती, परिश्रमसे मिलती है। उसमें महसूल लगता है और परतन्त्र रहना पड़ता है। कर्म-ज्ञान यागादि साधन पराई नावें हैं जिनमें परिश्रम (रूपी) महसूल लगता है और जो स्वतन्त्र नहीं हैं।"]

'निज' का दूसरा अर्थ 'यथार्थ वा सच्ची है। इसके अनुसार भाव यह है कि एकमात्र यही भवतरणका निश्चित साधन है, अन्य कोई नहीं। इस भावका भी पोषण उपर्युक्त उदाहरणोंसे होता है।

टिप्पणी—२ (क) 'एकहि साधन सब रिधि-सिधि-साधि रे' इति। भवतरण परलोक वा परमार्थ है, ऋद्धि-सिद्धिप्राप्ति लोक वा स्वार्थ है। रामनामसे लोक-परलोक, स्वार्थ-परमार्थ, समृद्धि और सफलता तथा सिद्धियाँ सभी प्राप्त हो जाती है। यथा 'कामतरु रामनाम जोइ जोइ माँगिहै। तुलसीदास स्वारथ परमारथ न खाँगिहै।७०।', 'स्वारथ साधक परमारथ दायकु नामु रामनाम सारिखो न औरु हितु है।२५४ (३)।', 'सकल कामना देत नाम तेरो कामतरु।२६२ (५)।', 'साधक नाम जपहिं लय लाएँ। होहिं सिद्ध अनिमादिक पाएँ।

१।२२। ४ ।', 'लोक सकल कल्यान, नीक परलोक। बरवै ५१ ।'—अतएव कहते हैं कि अनेक कामनाओंके लिए अनेक साधनोंमें क्यों पचे मरते हो, एकमात्र श्रीरामनाममे लगो, जिससे सभी कामनाएँ पूरी होती हैं। ☞ अन्य साधनोंको क्यों छुड़ाते हैं, इसका कारण उत्तरार्ध में बताते हैं—'ग्रसे कलि···।'

२ (ख) 'ग्रसे कलि रोग जोग संजम समाधि रे' इति। योगके अष्टाङ्गोंमेंसे संयम (यम) प्रथम अंग है और समाधि अन्तिम। आदि और अन्तके अंगोंका नाम देकर बीचके भी अंग जना दिये; अर्थात् संयमसे लेकर समाधितक सभी योगाङ्गोंको कलिरूपी रोगने ग्रस लिया। 'ग्रसे'—शब्दसे जनाया कि कलिरूपी रोग जो लगा है वह असाध्य है। उसने योगके सभी अंगोंको मरणप्रायके समान कर दिया है, अथवा सबको खा ही डाला है; कलिमें ये रह ही नहीं गए और यदि कहीं देख भी पड़ें तो उन्हें कलिरोगग्रस्त पाओगे। 'कलि रोग' से दंभ, कामादि मानस रोग एवं कलिकालजनित मल विषय भोग आदि समझने चाहिए। भाव कि यदि कहीं योग देखनेमें आवेगा, तो वह सुगति साधनार्थ नहीं होगा, वरंच 'उदर भरण' और लोक रंजनार्थ ही होगा। ['चित्त शुद्ध नहीं रहता, सदा व्यग्र रहता है और आयु अल्प होती है'—यही कलि रोग है। (डु०, भ० स०)] पुनः 'ग्रसे, कलि रोग' का भाव कि ये निर्विघ्न निबह नहीं पाते, यथा 'जोग न समाधि निरुपाधि। १८४(३)।', 'सुख सपनेहु न जोग-सिधि साधत, रोग वियोग धरो सो।१७३।३।'

यहाँ प्रथम समष्टि रूपसे पहले 'योग' को कहा, फिर व्यष्टिरूपसे उसके 'यम' से 'समाधि' तक प्रत्येक अंगको भी कलिकालका ग्रसना कहा। किसी किसीने 'योगाभ्यास, यम और समाधि' अर्थ किया है और किसीने 'योगके यम और समाधि अंग' अर्थ किया है।

टिप्पणी—३ (क) 'भलो जो है···' इति। 'भलो' अर्थात् कुलीन, उच्च वर्ण या आश्रमका, विद्वान्, सद्गुणसम्पन्न आदि। 'पोच' अर्थात् क्रूर, कुटिल, मलिन, अनपढ़ा, अकुलीन, नीच वर्णका, अधम आदि। 'दाहिनो' अर्थात् जो सीधी राहपर चल रहे हैं। वाम अर्थात् जो उल्टे मार्गपर चल रहे हैं, वाममार्गी हैं, हरिविमुख हैं।

३ (ख) 'रामनाम ही सों अंत···' इति। भाव कि कोई भी हो प्राणान्त समय रामनाम ही काम आता है। यदि रामनामका

उच्चारण हो गया, तो वेड़ा पार है, नहीं तो फिर भवमें पड़ना होता है। यथा 'जाकर नाम मरत मुख आवा। अधमउ मुकुत होइ श्रुति गावा। ३।३१।६।, कहीं-कहीं तो मरते समय प्राणीको लोग अर्धजल अर्थात् पवित्र नदीके तटपर आधा शरीर जलमें और आधा वाहर रखकर उससे 'हरि वोल, हरि वोल' इस तरह जवरदस्ती भगवन्नाम उच्चारण कराते हैं जिसमें वह मुक्त हो जाय। वानरराज वालिने भी श्रीरामजीसे कहा है कि मुनि लोग जन्म-जन्म इसका अभ्यास करते हैं जिससे मरते समय किसी प्रकार श्रीराम नामका स्मरण होते हुए शरीर छूटे।—'जन्म जन्म मुनि जतन कराहीं। अंत राम कहि आवत नाहीं।४।१०।३।'

ऋषि-मुनि आदि 'भलो' और 'दाहिनो' में हैं। अजामिल, गणिका, गज (पशु), यवन आदि 'पोच' और 'वाम' में हैं। सवको अन्तमें रामनामसे ही काम है—इस कथनका भाव यह है कि जव अन्तमें रामनाम ही सहायक हो सकता है, तव तू अभीसे जन्मभर क्यों अभ्यास नहीं कर लेता ?

[जन्मभर सत्-असत् चाहे जो करे, परन्तु मरणकालमें परिपूर्ण सहायक रामनाम ही देख पड़ता है। अन्य ऋषि और शास्त्र भी यही उपदेश करते हैं। काशीमे शिवजी प्राणियोंको मरते समय इसीका उपदेश करके उन्हें मुक्ति देते हैं। मरनेपर शवके साथ लोग 'रामनाम सत्य है' यह कहते चलते हैं। अतएव यह निश्चित है कि जीवोंको सुलभ मुक्तिदायक रामनामके समान कर्म, ज्ञान और योगादि कोई भी साधन नहीं है। (वै०)]

नारद महापुराण एवं वृहन्नारदीय पुराणमें भी कहा है कि कलियुगमें रामनाम ही एकमात्र आश्रय है, दूसरा नहीं। यथा 'हरेर्नामैव नामैव नामैव मम जीवनम्। कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा, (पूर्वभाग ४१।११५)।

४ 'जग नभ-वाटिका''धूआंके-से धौरहर'' ' इति। (क) टीकाकारों के भाव—

(१) वैजनाथजी—"देह संवंधी लोकके यावत् पदार्थ हैं वे आकाशवाटिकाके समान हैं जो हरित नवीन पल्लवसहित फूल-फल रही है। वाटिकामें वृक्ष होते हैं। जगरूपी नभ-वाटिकामें स्त्री, पुत्र, वंधु, सखा, परिवार, सम्वंधी, धरणी, धन, धाम आदि वृक्ष हैं। इनको

सत्य मानकर इनमें अपनपौ स्थापित कर स्नेह-ममत्व करना हरित दलोंकी सघनता है। इनकी चाहमें हर्ष होना फूलना है—सुन्दर स्त्रीके साथ विवाह हो, उससे पुत्र हों, व्यापारादिमें लाभ हो, ऐसी लालसाएँ उठती हैं और उनमें प्रसन्नता होती है। चाहकी पूर्ति होना फलना है। ये सब लोकपदार्थ फूलती-फलती-आकाशवाटिकाके समान हैं। इनकी सचाई कैसी है यह 'धुआँ के से धौरहर' से बताया।

जैसे गीला ईंधन जलानेसे उसमेंसे धुआँ निकलकर आकाशको जाता है। उस धुएँमें अनेक भाँतिके मन्दिरोंके आकार चौमजला पंच-मंजला आदि बनते और बिगड़ते चले जाते हैं, जो सब झूठे हैं। इसी प्रकार स्त्री, पुत्र, धन, धाम आदि लोकके समस्त पदार्थ हैं, ये सब धुआँके धौरहर हैं, देखनेमें सुन्दर लगते हैं, इनको होते और जाते देर नहीं लगती। अतः इनमें "ममत्व न कर।"

(२) दीनजी—भाव यह है कि जैसे नभ-वाटिकाका यथार्थमें अस्तित्व नहीं है, चाहे क्षण मात्रके लिये उसके अस्तित्वका भ्रम भले ही हो जाय, वैसे ही इस संसारका यथार्थमें अस्तित्व नहीं है, केवल भ्रमात्मक है। धुएँके धौरहरको देखकर जैसे उसमें मीनारका भ्रम होता है, परन्तु यथार्थमें वहाँ मीनार नहीं रहता, वैसे ही तू इन भ्रमात्मक सांसारिक विषयोंमें मत पड़।

(३) वियोगी हरिजी—यह संसार क्या है मानों फूली-फली आकाश-वाटिका का एक दृश्य है। सारांश, जैसे आकाशमें रंग-विरंगे बादल फूलोंके बागकी तरह जान पड़ते हैं, वास्तवमें है वहाँ कुछ भी नहीं. उसी प्रकार इस संसारके सारे सुख केवल भ्रम मात्र है, विचार करनेपर उनकी 'अस्ति' तक नहीं रह जाती। धुएँके धौरहरोंकी तरह इन मिथ्या पुत्र, कलत्रादिके सुखोंको देखकर तू इन भूल-भुलैयोंमें मत पड़। भाव यह कि सारा संसार धोखेकी टट्टी है जो इसमें फँसा वह गिरा। इसकी अनित्यतापर कबीरदासजी कहते हैं—'पानी केरा बुदबुदा, इस मानुषकी जाति। देखत ही छिप जायगा, ज्यों तारा परभात ॥ ऐसा यह संसार है, जैसा सेमर फूल। दिन दसके व्यवहारमें झूठे रंग न भूल ॥ सेमर सुमना सेइया, दुइ ढेंढ़ीकी आस। ढेंढ़ी फूटि चटाक दे, सुवना चला विरास ॥'

(४) पं० श्रीकान्तशरणजी—"आकाशपुष्प असंभव बातके विषयमें कहा जाता है। यथा 'फूलहिं नभ बरु बहु बिधि फूला। जीव न लह सुख हरि प्रतिकूला।' वैसे ही जगत्को आकाश-वाटिकाके समान कहकर, इसे सर्वथा एवं तीनों कालोंमें मिथ्या कहा है। आकाशमें रातके समय चमकते हुए तारागण फुलवाड़ीके फूलोंके समान भ्रमसे देख पड़ते हैं, परन्तु आकाश तो शून्य है। वैसे ही अविद्यात्मक दृष्टिसे कल्पित नानात्व जगत् आकाशके समान शून्य है। अविद्यारूपी रात्रिमें यह पुष्पित फुलवाड़ीके समान देख पड़ता है। इसके व्यष्टिरूप चर और अचरके नाना रूप नाना प्रकारके तारागणोंके समान है। तारागणोंकी स्थिति भगवान्की सत्तामें है, वैसे ही चराचर जगत्की स्थिति भी भगवान्की ही सत्तामें है, सब जगत् भगवान्का शरीर है। अतएव भगवान्की ही प्रेरणासे इसकी सब व्यवस्था होती है। इस तरहके ज्ञानरूपी दिनमें यह कल्पित नानात्व जगत् नहीं रह जाता।......

जब यह ज्ञान होता है कि चराचर जीवके सभी व्यापार प्रत्येक जीव के कर्मानुसार (परस्परके व्यवहार) आकाशवत् व्यापक ब्रह्मकी सत्ता एवं प्रेरणासे होते हैं। तब जड़ यंत्रके समान नियाम्यरूप जगत् सुख और दुःख देनेवाला नहीं सिद्ध होता। किन्तु यह जगत् भगवान्का ज्ञानपूर्वक विलास ही सिद्ध होता है—'तुलसिदास चिद्विलास जग बूझत बूझत बूझै। २२४।' यही चराचर जगत्की अविद्यात्मक नानात्व सत्ताका मिथ्यात्व है।

'धुआँ के से धौरहर'—भाव कि भ्रमात्मक नानात्वजगत्की समृद्धि-शोभा क्षणिक है तथा वह भी झूठी है। धुआँके धौरहरोंमें दृष्टि देनेसे आँखोंको पीड़ा होती है, वैसे ही जगत्की समृद्धि-शोभापर दृष्टि देने (आसक्त होनेसे) ज्ञान-विरागरूपी नेत्रोंको पीड़ा पहुँचती है।'

(५) डु०, भ० स०—हम, हमारा, स्त्री-पुत्र आदि जो है वे आकाशवाटिकाके समान फूल फल रहे हैं। जगत्के संबंध फूल हैं और वासनायें फल समान हैं। उनमें मत भूल। भाव कि जब ममताका मूल देहही नश्वर है तब शरीरके संबंधी किस गिनतीमें हैं।

४ (ख) वै० शि० श्रीरामानुजाचार्यजी लिखते हैं—'संसारसे वैराग्य होनेके लिये जगत्को आकाशवाटिका और धुआँके धौरहरकी

उपमा दी गयी है। वास्तवमें जगत् गगन-कुसुमवत् मिथ्या भ्रममात्र नहीं है; क्योंकि 'विधि प्रपंच अस अचल अनादी'—यह मानसकार स्वयं लिख रहे हैं। (७।२८।२।६)। और शास्त्रीय सिद्धान्त भी यही है कि जगत् स्वरूपसे नित्य है, स्वभावसे अनित्य है, सततपरिणामशील है। प्रवाहतः अनित्य है—गगनवाटिका निर्मूल है, जगत् सन्मूल है। यथा श्रुतिः 'सन्मूलाः सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः सदायतनाः सत्प्रतिष्ठाः' (इस प्रकार यह सारी प्रजा सन्मूलक है तथा सत् ही इसका आश्रय है और सत् ही प्रतिष्ठा है। छां. ६।८।४) इत्यादि सामवेदीय छान्दोग्योपनिषदोक्त प्रकार सच्छब्दवाच्य परब्रह्म ही जगत्का मूल कारण है। अपरञ्च 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते। येन जातानि जीवन्ति। यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति। तद्विजिज्ञासस्व। तद् ब्रह्म। तै० ३।१।' (अर्थात् जिससे निश्चय ही ये सब भूत उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होनेपर जिसके आश्रयसे ये जीवित रहते हैं और अन्तमें विनाशोन्मुख होकर जिसमें ये लीन होते हैं उसे विशेषरूपसे जाननेकी इच्छा कर; वही ब्रह्म है।)—इत्यादि प्रमाणानुसार कारणगुणपूर्वक कार्य होता है। कारण ब्रह्म सत्य है, तो उसका कार्य जगत् गगनकुसुमोपमान मिथ्या कैसे हो सकता है? यदि द्रष्टाके दृष्टिदोषसे भ्रममात्र मिथ्या कहेंगे, तो 'उमा राम बिषइक अस मोहा। नभ तम धूम धूरि जिमि सोहा।१।११७।४।' कहनेवाले ही कह रहे हैं 'जग पेखन तुम्ह देखनिहारे।' जब जगत् दृश्य है, इसके द्रष्टा निर्दोष परम शुद्ध परात्पर ब्रह्म श्रीरामजी हैं, तब दृष्टिदोषसे प्रतीत भ्रममात्र कहना श्रुतिस्मृतिसिद्धान्त तथा स्वोक्तिविरोध क्यों न होगा?

श्रीआनन्दभाष्यमें श्रीरामानंद स्वामीजी लिखते हैं—'यथार्थं सर्वं विज्ञानं इति वेदविदाम्मतम्।' और श्रीनिम्बार्काचार्यजी 'वेदान्त कामधेनु' में लिखते हैं—'सर्वं हि विज्ञानमयं यथार्थकं श्रुतिस्मृतिभ्यां निखिलस्य वस्तुनः। ब्रह्मात्मकत्वादिति वेदविन्मतं निरूपतापि श्रुतिसूत्रसाधिताः।' अर्थात् संसारकी सारी वस्तुओंको ब्रह्मात्मक होनेसे श्रुति, स्मृति तथा वेदान्तसूत्रों द्वारा यह साधित एवं निरूपित है कि सब कुछ विज्ञानमय एवं यथार्थ है।

अतः निश्चित है कि गोस्वामीजी वैराग्य उत्पन्न होनेके लिये ही ऐसा लिख रहे हैं। (वे० शि०)।

प० पु० उ० में श्रीविष्णु और लक्ष्मीजीके स्वरूप और गुण आदि का वर्णन करते हुए शिवजीने कहा है—"जहाँ वेदान्त-वाक्योंद्वारा प्रपञ्चका मिथ्यात्व बताया गया है और यह कहा गया है कि यह सारा दृश्यमान जगत् अनित्य है, वहाँ भी ब्रह्माण्डके प्राकृतरूपको ही नश्वर बताया गया है। प्रकृतिसे उत्पन्न होनेवाले रूपोंकी ही अनित्यताका प्रतिपादन किया गया है। यथा 'यत्र मिथ्याप्रपंचत्वं वाक्यैर्वेदान्तगोचरैः। दृश्यमानमिदं सर्वं अनित्यमिति चोच्यते। अत्राऽति प्राकृतं रूपमण्डस्यैव विनाशनम्।.. लोकैश्चतुर्भिर्दशभिः सागरैर्द्वीपसंयुतैः। भूतैश्चतुर्विधैश्चापि भूधरैश्च महोच्छ्रयैः। परिपूर्णमिदं रम्यं अण्डं प्रकृतिसम्भवम्।' (२५५।४१-४५ आनंदा० सं०। वेंकटेश्वर सं० में २२७ वाँ अध्याय है)।"

४ (ग) बाटिका देखनेमें सुन्दर लगती है, चाहे वह आकाशमें धूएँ, बादल आदिके संघट्टसे बनी हुई ही क्यों न हो। वैसे ही जगत् हरा-भरा फूला-फला देखनेमें सुन्दर है; पर जैसे गगन-बाटिका साररहित, क्षणभंगुर, देखनेमात्रकी है, वैसे ही जगत् साररहित, सतत-परिवर्तनशील, देखने मात्रमे ही रमणीय है। यथा 'देखत ही कमनीय, कछू नाहिंन पुनि किये बिचार। ज्यों कदलीतरु मध्य निहारत कबहुँ न निकसै सार। १८८ (२)।'

धुएँके धौरहर जैसे क्षणमें बनते और क्षणमें बिगड़ते हैं, वैसे ही हमारा जगत् जन्म-जन्मके कर्मोंसे बनता और बिगड़ता रहता है। वास्तवमें शत्रु, मित्र, उदासीन, धन, धाम, स्त्री, पुत्र, भाई-बंधु इत्यादि जो भी ये सब हैं, वे सब धुएँके धौरहरोंके समान हैं। ये कोई भी निश्चय ही हमारे नहीं हैं, हमने झूठे ही इनको अपना मान रक्खा है। ये तो कर्मफल चुकाने आते है और चुकाकर चले जाते हैं।

अतएव गोस्वामीजी सावधान करते हैं कि देख, तू कहीं इनमें भूल न जाना।

श्रीसूरदासजीने भी कहा है—"बौरे मन रहन अटल करि माना। धन दारा सुत बंधु कुटुंब कुल निरखि निरखि बौराना ॥ जीवन जन्म सपनों सों समुझि देखि अल्प मन माही। बादर-छाहँ धूम-धौरहर जैसे थिर न रहाही॥" 'थिर न रहाहीं' का ही भाव 'नभ-बाटिका' और 'धुएँके धौरहर' से जनाया गया है।

टिप्पणी—५ 'रामनाम छाड़ि...माँगै कूर कौर रे' इति। ऊपर कह आये कि 'एकहि साधन सब रिधि सिधि साधि रे।' अर्थात् रामनामसे समस्त कामनाएँ सिद्ध होती हैं, दूसरे किसी साधनकी अपेक्षा नहीं है।—यही सामनेका परोसा हुआ भोजन है। यदि इस सुलभ साधनको छोड़कर अन्य साधनका आश्रय ले, तो कोई ऐसा साधन नहीं है जो समस्त कामनाओंको पूरा कर सके। भा० २।३ में श्रीशुकदेवजीने बताया है कि भिन्न-भिन्न कामनाओंके लिये भिन्न-भिन्न देवताओंकी उपासना करनी पड़ती है। जैसे—ब्रह्मतेजके लिये ब्रह्माजीकी, इन्द्रियपटुताकी कामनाके लिये इन्द्रकी, सन्तानके लिये प्रजापतिकी इत्यादि। (श्लोक २ से ९ तक देखिये)। गोस्वामीजी भी कहते हैं—'को करि कोटिक कामना पूजै बहु देव। तुलसिदास तेहि सेइऔ संकर जेहि सेव। १०७।' गीतामें भी कहा है—'कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः।७।२०।' (अर्थात् उन-उन भोग-कामनाओंसे हरे गये ज्ञानवाले अन्य देवताओंकी शरण ग्रहण करते हैं)।

एक-एक कामनाके लिये एक-एक देवताकी उपासना करना, यही द्वार-द्वारपर रोटीका टुकड़ा माँगना है। परिश्रम पड़ा बहुत और मिला कुछ नहीं, अथवा मिला भी तो टुकड़ा मात्र।

'मांगै' से सूचित हुआ कि माँगता फिरता है टुकड़ा ही (एक कामना मात्र), पर उसका भी मिलना निश्चित नहीं।

भा० २।३ में भिन्न-भिन्न कामनाओंके लिये भिन्न-भिन्न देवताओंकी उपासनाका उल्लेख करके फिर श्रीशुकदेवजी ने यह उपदेश किया है कि 'कामनाहीन हो अथवा समस्त कामनाओंवाला हो या मोक्षकामी हो, बुद्धिमान् पुरुषको चाहिए कि तीव्र भक्तियोगसे परम पुरुष भगवान्का ही भजन करे।—'अकामः सर्वकामो वा मोक्षकाम उदारधीः। तीव्रेण भक्तियोगेन यजेत पुरुषं परम्। श्लो० १०।' वैसे ही गोस्वामीजी यहाँ उपदेश कर रहे हैं कि श्रीरामनामसे ही अपनी सब कामना प्राप्त कर, यही बुद्धिमानी है। ऐसा न करके सर्वत्र फिरा तो तू क्रूर ही गिना जायगा। 'रामनाम' जपना भक्ति वा भजन है।

श्रीसीतारामचन्द्रार्पणमस्तु।

६७ (२६) राग भैरव-(रा०)

राम राम[1] जपि जीय[2] सदा सानुराग रे ।
कलि न विराग जाग[3] जोग तप त्याग रे ॥१॥
*राम[4] सुमिरन सब विधि ही को राज रे ।
राम को बिसारिबो निषेध सिरताज रे ॥२॥
राम नाम महामनि फनि जग जाल रे ।
मनि लियें[5] फनि जियें[6] व्याकुल बिहाल रे ॥३॥
रामनाम कामतरु देत फल चारि रे ।
कहत पुरान वेद पंडित पुरारि रे ॥४॥
राम नाम पेम[7] परमारथ को सारु[8] रे ।
राम नाम तुलसी को जीवन अधार रे ॥५॥

शब्दार्थ—जपि = जप । जीय = जीव ; प्राणियोंका चेतन तत्व । =मन । सानुराग=अनुराग सहित । प्रेमपूर्वक । याग (सं०)= यज्ञ । त्याग=वैराग्यके कारण सांसारिक विषयों और पदार्थों आदि-को छोड़नेकी क्रिया । विधि = शास्त्रमे करनेकी आज्ञा जिस कर्मके लिये हो वह कर्म । निषेध = अकर्तव्य कर्म=शास्त्रमे जिस कर्मके करनेकी आज्ञा न हो । राज = राजा ; श्रेष्ठ । सिरताज=शिरोमणि ; अर्थात् सबसे भारी या बढ़कर । महामणि = वह मणि जिससे सर्पका विष उतर जाता है ; जहर मुहरा । फणि=सर्प । जगजाल = जगत्-का प्रपंच वा पसारा ; मायाका रचा जाल वा फैलाव । यथा 'जोग

१ राम जपि—६६, रा० । नाम जपु—प्राय औरोमे । ☞ ६५ वें पदसे बराबर 'राम राम रमु ···', 'राम जपु···' यह क्रम चला आ रहा है । अतएव यहा भी 'राम राम जपि···' शुद्ध है, इसमे सदेह नही । २ जीय—६६, रा० । जिअ—ह०, ५१ । जीव—भा०, वे०, ७४ । ३ जोग जाग—औरोमे । * यह अन्तरा ६६ मे नही है । ४ राम—रा०, ५१, भा०, ७४, आ० । राम नाम-ह०, वे०, प्र०, डु०, ज० । ५ लियें—६६, रा० । लिये—प्राय. औरोमे । ६ जिये—रा०, ह०, ५१ । जियें—भा०, वे० । ७ पेम—६६, रा० । प्रेम—प्रायः औरोमे । ८ सारु—६६ । सार—रा०, ह०, ७४ ।

बियोग भोग भल मंदा। हित अनहित मध्यम भ्रम फंदा॥ जनम मरन जहँ लगि जगजालू। संपति बिपति करमु अरु कालू। २।९२।' परमारथ (परमार्थ)=परम पुरुषार्थ ; भगवद्भक्ति ; परलोकसाधन। =भगवत्-पद-प्रेम ; यथा 'सखा परम परमारथ एहू। मन क्रम बचन रामपद-नेहू। २।९३।६।' अधार (आधार)= आश्रय, अवलंब, पालन करनेवाला।

पद्यार्थ—अरे मन! सदा प्रेमपूर्वक राम राम जपा कर। अरे! कलियुगमें वैराग्य, यज्ञ, योग, तप और त्याग (कोई भी) नहीं है अर्थात् इनका साधना, निर्विघ्न निबहना एवं सफल होना असंभव-सा है)। १। 'राम' का स्मरण सब विधियोंका राजा है और 'राम' को भुला देना निषेधोंका सिरताज है (अर्थात् इससे बढ़कर बुरा अकर्तव्य कर्म कोई दूसरा नही है)। २। अरे! रामनाम महामणि है। जगत्प्रपंच सर्प है। अरे! मणिके ले लेनेसे सर्प व्याकुल और विह्वल (बुरी दशाको प्राप्त) होकर जीते हैं। ३। अरे (मन)! रामनामरूपी कल्पवृक्ष चारों फलों (अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष) को देता है। अरे! पुराण, वेद, पडित लोग और त्रिपुरके नाशक महादेवजी ऐसा कहते हैं।४। अरे! रामनाम प्रेम और (वा, रामनामका प्रेम) परमार्थका सार है। अरे! मुझ तुलसीदासको (तो) रामनाम प्राणोंका आधार है।५।

नोट—१ पद ६५ में मनको श्रीरामनाममें चातकवत् अनन्य एकाङ्गी स्नेह करने और जिह्वाको रामनाममें ही रमने, उसीको जपने और रटने तथा क्षणिक सुखोंमें न भूलनेका उपदेश किया। पद ६६ में जपका लाभ बताया कि 'भवतरणका सहज सुलभ साधन यही है, इससे संपूर्ण कामनाएँ सिद्ध हो जायँगी। कलिमें अष्टाङ्ग योग नहीं काम देता।' अब यहाँ पद ६७ में बताते हैं कि योगके अंग ही नही, किंतु वैराग्य, यज्ञ, तप, त्याग भी कलिमें नहीं रह गये। पद ६६ में जो कहा था कि 'राम नाम छाडि जो भरोसो करै और रे। तुलसी परोसो त्यागि माँगै कूर कौर रे।' उसीकी व्याख्या यहाँ है।

बैजनाथजीका मत है कि 'पहले सिखावन देकर मनको स्वाधीन कर अब फिर उपदेश देते है।' पं० सूर्यदीन शुक्लका मत है कि "पद ६५ में पराभक्तिका स्वरूप वर्णित है कि धीरे-धीरे नियम बढ़ाते ऐसी दशा हो जावे कि संसारी व्यवहार दुःखमय प्रतीत हों. क्षणमात्र भी

उनका संग दुःख ही समझ पड़े । पद ६६ में नाममहिमा है, मंत्रयोगसे बढ़कर सुखसाध्य दूसरा उपाय नहीं है । पद ६७ में भी नाम हीकी महिमा है ।"

पं० श्रीकान्तशरण लिखते हैं कि 'ऊपर पदमें श्रीरामनामका अनन्य भरोसा निश्चित किया । यहाँ उसीको दृढ़ करते हुये कहते हैं ।'

टिप्पणी—१ 'राम राम जपि जीय···' इति । (क) 'जीय' व 'जिय' का अर्थ प्रायः सभीने 'जीव' किया है । हमने 'मन' अर्थ कई प्रमाणोंसे किया है । प्रमाण—'जौं पै जिय न होति कुटिलाई । तौं कत लीन्ह संग कटकाई ।२।१८९।४।', 'जौं जिय होति न कपट कुचाली । केहि सोहाति रथ बाजि गजाली ।२।२२८।७।', 'अस जिय जानि सुनहु सिख भाई । करहु मातु पितु पद सेवकाई ।२।७१।१।', 'देखि दसा रघुपति जिय जाना ।२।६८।२।', इत्यादि । 'जीय' का प्रयोग 'जीव' अर्थमें भी होता है ।

१ (ख) 'सानुराग' का भाव कि नाम-जपके समय मन इधर-उधर न जाय, नामकीर्तन समय शरीर पुलकित हो, हृदयमें श्रीरामजी वा श्रीरामनामका ध्यान हो, नेत्रोंसे प्रेमाश्रु बहते हों । यथा 'पुलक गात हिय सिय रघुबीरू । जीह नाम जप लोचन नीरू ।२।३२६।१।', 'जपहि नाम रघुनाथ को चरचा दूसरी न चालु ।' 'सजल नयन गद्गद गिरा गहबर मन पुलक सरीर । गावत गुनगन राम के केहि की न मिटी भव भीर ।१६३।' दोहावलीमें भी कहा है कि राम-स्मरण करते यदि हृदय द्रवित नहीं होता, नेत्र जल नहीं गिराते, तन पुलकित नहीं होता, तो ऐसा हृदय फट जाय, नेत्र फूट जायँ, तन जल जाय । भाव कि राम स्मरणमें इस प्रकार अनुराग होना चाहिए ।

१ (ग) 'सदा' का भाव कि जो क्षणमें चढ़े और क्षणमें उतर जाय, वह अनुराग नहीं कहा जाता । आठो पहर उसीका नशा रहे, कभी कम न होने पावे । पुनः, सदा जपनेका भाव कि जब न जपेगा, तभी कलि आ दबोचेगा । इसीलिये यत्र-तत्र 'सदा' पर जोर दिया गया है । यथा 'सदा राम जपु राम जपु मूढ़ मन ··।४६ ', 'येन श्रीरामनामामृतं पानकृतमनिशमनवद्यमवलोक्य कालं ।४६ (८) ।', 'संभु सिखवन रसनहूँ नित रामनामहिं घोसु । दंभहू कलि नामु-कुंभजु सोचसागर सोसु । १५६ ।', 'राम कहत चलु राम कहत चलु राम

कहत चलु भाई रे। नाहि त भव बेगारि परिबेहु पुनि छूटत अति कठिनाई रे। १८६।', 'तुलसी तू मेरे कहे जपु राम नाम दिन राति १६२।', इत्यादि।

१ (घ) 'कलि न बिराग जाग···' इति। भाव कि कलिमें ये साधन निर्विघ्न नहीं निबह पाते। इनके पीछे काम, क्रोध, लोभ, मोह लगकर इनको नष्ट कर देते हैं। यथा 'करमजाल कलिकाल कठिन आधीन सुसाधित दाम को। ज्ञान बिराग जोग जप तप भय लोभ मोह कोह कामको। १५५ (२-३)।' पद १७३ में इसकी व्याख्या है। विशेष 'ग्रसे कलि रोग जोग···।६६।२' में देखिए।

[वैजनाथजीका मत है कि "वैराग्यमें स्वर्गपर्यन्त समस्त लोकसुखका त्याग करना होता है, लोभ उसे नहीं होने देता। काम योग में बाधक होता है।" और श्रीकान्तशरणजीका मत है कि "कलि कामके द्वारा वैराग्यको, क्रोधके द्वारा योगको, लोभके द्वारा यज्ञ और दानको तथा मोहके द्वारा तपस्याको नहीं होने देता। यथा 'साँचो कहौं कलिकाल कराल मैं, ढारो-बिगारो तिहारो कहा है। कामको कोहको लोहको मोहको, मोहि सों आनि प्रपंच रचा है। क० ७।१०१।'"]—मेरी समझमें कामादि सब सभी साधनोंमें बाधक हो सकते हैं।

प० पु० उ० १८६।६१ श्रीमद्भागवतमाहात्म्यमें नारदजीने भी यही कहा है कि 'यह भयंकर कलिकाल है। इसके कारण सदाचार, योगमार्ग और तप आदि लुप्त हो गए हैं।'—'..युगोऽयं दारुणः कलिः। तेन लुप्तः सदाचारो योगमार्गस्तपांसि च। भा० मा० १।५७।' जब ये रहे ही नहीं, तब गति कैसे होगी, यह आगे बताते हैं। (प० पु० वेंकटेश्वर सं० में अध्याय १६३ है)।

टिप्पणी—२ (क) 'राम सुमिरन सब बिधि ही को राज रे' इति। 'राज' (राजा) कहकर सबमें श्रेष्ठ और स्वामी तुल्य जनाया। अन्य सब विधियाँ प्रजातुल्य हैं। रामस्मरण करनेसे समस्त कर्त्तव्य कर्मोंका कर लेना हो जाता है। यथा 'तेन सर्वं कृतं कर्मजालं येन श्रीरामनामामृतं पानकृतं।४६(८)।' राजाको साध लिया तो प्रजा सधी हुई ही है। पुनः, राजा कहनेका भाव कि यज्ञ, योग, तप और त्याग आदिसे भी जिस फलकी प्राप्ति नहीं होती, वह फल भगवन्नामकीर्तनसे और अच्छे रूपमें उपलब्ध हो जाता है। यथा 'यत्फलं नास्ति तपसा

न योगेन समाधिना। तत्फलं लभते सम्यक्कलौ केशवकीर्तनात्।' (प० पु० उत्तर १८६।७५)। पुनः 'विधियोंका राजा' रामनाम इससे भी है कि किसी भी विधि कर्ममें अन्तमें उसकी पूर्तिके लिये हरि स्मरण करना होता है। यथा 'मन्त्रतस्तन्त्रतश्छिद्रं देशकालार्हवस्तुतः। सर्वं करोति निश्छिद्रं नामसङ्कीर्तनं तव। भा० ८।२३।१६।' अर्थात् मंत्र, तंत्र, देश, काल, पात्र और दक्षिणा आदिमें जो न्यूनता रह जाती है, वह आपके नामकीर्तनसे पूर्ण हो जाती है। इतना ही नहीं किन्तु शुचिताके संकल्पमें भी भगवान्‌का स्मरण करनेकी विधि है। पवित्रता भगवत् स्मरणसे ही निश्चित की गई है। यथा 'अपवित्रः पवित्रो वा सर्वावस्थां गतोऽपि वा। यः स्मरेत् पुण्डरीकाक्षं स वाह्याभ्यन्तरः शुचिः। प० पु० पा० ८०।१५।'

'राम' सुमिरन ''निषेध सिरताज रे'—यही भाव प० पु० उ० के 'स्मर्तव्यः सततं विष्णुर्विस्मर्तव्यो न जातुचित्। सर्वे विधिनिषेधाः स्युरेतस्यैव हि किङ्कराः।७२।१००।' इस श्लोकमें है। भगवान् शंकर कहते हैं—'सदा भगवान् विष्णुका स्मरण करना चाहिए; उन्हें कभी भी भूलना न चाहिए। क्योंकि सभी विधि और निषेध इन्हींके किंकर हैं, इन्हींकी आज्ञाका पालन करते हैं। नारदजी भी कहते हैं 'क्षणार्द्धमपि व्यर्थं न नेयम्' आधा क्षण भी व्यर्थ न बितावे। (भक्तिसूत्र ७७)।

इसी पुराणमें श्रीशंकरजीका यह भी वाक्य है—'जपतः सर्वमन्त्रांश्च सर्ववेदांश्च पार्वति। तस्मात् कोटिगुणं पुण्यं रामनाम्नैव लभ्यते। प० पु० उ० २८१।२८।' अर्थात् जो सम्पूर्ण मन्त्रों और समस्त वेदोंका जप करता है, उसकी अपेक्षा कोटिगुणा पुण्य केवल रामनामसे उपलब्ध होता है।—सर्ववेदों और सर्वमन्त्रोंमें संपूर्ण कर्तव्य कर्म (विधि) आ जाते हैं। उन सबोंसे अधिक फलदातृत्वसे रामनामको विधियोंका राजा कहना सर्वथा ठीक ही है।

२ (ख) 'राम को बिसारिबो निषेध सिरताज रे' इति। चोरी, हिंसा, मद्यपान, परनिन्दा आदि जो 'निषेध' कर्म शास्त्रोंने निश्चित किये हैं, वे यदि कर भी लिये जायँ तो कुछ विशेष हानि नहीं, श्रीराम-स्मरणसे वे सब पाप धुल सकते हैं। पर यदि 'रामविस्मरण' किया गया तो इससे अधिक हानि कोई नहीं; क्योंकि पापोंको सर्वथा धो डालनेवाला ही जब भुला दिया गया, तब भवसागरमें डूबना ही

होगा। इससे बड़ी हानि कौन होगी? अतः 'राम विस्मरण' को अकर्त्तव्योंका सिरताज कहा गया। मिलान कीजिए—'लाभ राम सुमिरन बड़ो, बड़ी बिसारे हानि। दो० २१।', 'हानि कि जग एहि सम किछु भाई। भजिअ न रामहि नर तन पाई।७।११२।६।', 'राम नाम लेत होत सुलभ सकल धरम।१३१।', 'सा हानिस्तन्महच्छिद्रं स मोहः स च विभ्रमः। यन्मुहूर्तं क्षणं वापि वासुदेवं न कीर्तयेत्।' (जो क्षण हरिकीर्तन बिना बीत गया, उसे महान् हानि, अज्ञान और मोह जानना चाहिए)।

टिप्पणी—३ 'रामनाम महामनि फनि ...' इति। (क) मणिवाले सर्पके लिये मणि प्राण समान प्रिय होती है। वह उसे बाहर निकाल कर रख देता है और उसके प्रकाशमें विचरता है। इस मणिकी रक्षा वह प्राणके समान करता है; क्योंकि मणिके न रह जाने पर वह छटपटाकर मर जाता है और कदाचित् जीवित रह गया तो दुःखी और दीन रहकर जीता है, यथा 'जियै मीन बरु वारि विहीना। मनि बिनु फनिकु जियै दुख दीना।२।३३।१।' सोते समय वह चारों ओरसे पिंडीसी बाँधकर मणिको हृदयमें छिपाये इस तरह बैठता है कि बीचमें फन रहे। यथा 'फनिकन्ह जनु सिरमनि उर गोई।१।३५८।४।'

३ (ख) सर्पमें मणि होता है और विष भी। मणिमें सर्पके विषका गुण नहीं आता, प्रत्युत सर्पग्रस्त प्राणीमें जो विष व्याप जाता है, उसको वह दूर कर देता है। यथा 'अहि अघ अवगुन नहि मनि गहई। हरइ गरल दुख दारिद दहई।२।१८४।८।' मणि सर्पके विषका मारक है।

३ (ग) यहाँ जगत्‌का प्रपंच सर्प है। इस जगजालरूपी सर्पमें रामनामरूपी महामणि है। महामणिमें प्रकाश होता है और रामनाम स्वतः प्रकाशमान् है, ज्योतिर्मय है। यथा 'स्वभूर्ज्योतिर्मयोऽनन्तरूपी स्वेनैव भासते। रा० पू० ता० २।१।'; 'सहज प्रकासरूप भगवाना। १।११६।६।' इसीके प्रकाश वा सत्तासे जगजाल प्रकाशित एवं सत्तावाला है। यथा 'बिषय करन सुर जीव समेता। सकल एक तें एक सचेता॥ सब कर परम प्रकासक जोई। राम अनादि अवधपति

सोई ॥ जगत प्रकास्य प्रकासक रामू ।१।११७।५-७।' 'यत्सत्त्वादमृषैव भाति सकलं । १। मं० श्लो० ६।'*

जगत् प्रपंचरूपी सर्पमें शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गंध विषय ही विष है, यथा 'तुलसिदास हरि नाम सुधा तजि सठ हठि पियत विषय-विष माँगी । सूकर श्वान शृगाल सरिस जन जनमत जगत जननि दुख लागी । १४० ।' विषय-विष सर्प-विषसे अमितगुण अधिक कठिन है । सर्पविष तो एक ही बार मारता है, एक ही तनमें प्रवेश करता है. किन्तु विषयविष तो अनेक तनोंमें प्रवेश करता है, बारं-वार जन्म-मरणके चक्करमें डालता है । यथा 'विषय बारि मन मीन भिन्न नहीं होत कबहुँ पल एक । ताते सहिय बिपति अति दारुन जन-मत जोनि अनेक । १०२ (३) ।'

मणि सर्पके विषको दूर करता है; पर जगजालरूपी सर्पका विषयरूपी विष प्राकृत साधनोंसे नहीं उतर सकता । उसके लिये श्रीरामनाम-महामणि ही औषध है । यथा 'मंत्र महामनि विषय व्याल के ।१।२७।६।'

महामणि कहकर यह भी जनाया कि चढ़े हुए विषय-विषको यह उतार देता है और फिर कभी चढ़ने नहीं देता ।

[बैजनाथजी – 'राम' शब्दके अर्थ हैं—'जो सबमें रमा है' एवं 'जो अपने रूपमें सबको रमाता है । दोनों अर्थोंसे जगत्के चैतन्य-कर्ता प्रकाशक जगमें सारांश रघुनाथजी ही हैं ।...जगज्जालरूपी सर्पके मायाका प्रभाव विषयादि विष है, व्यापक भगवद्रूपमणि है । जगत् प्रकाशक रामनाम महामणि जिन्होंने नहीं ग्रहण कर लिया, अर्थात् जो संसारको सच्चा माने हैं उनको जगत्‌रूप सर्पने डस लिया ।']

३ (घ) 'मनि लियें फनि जियै ···' इति । इन्द्रियोंके विषयभूत होनेसे जो स्त्री, पुत्र, माता, पिता, परिवार, बंधुवर्ग, मित्र, धन, धाम

---

* नाम विना रूपके और रूप विना नामके नही हो सकते । दोनो अन्योन्याश्रय सम्बन्धसे जकडे हुये है । जो गुण वा धर्म नामीमे है, वे सब नाममे भी हैं । यथा 'समुझत सरिस नाम अरु नामी ।१।२१।१।', 'न भिन्नो नाम नामिनोः ।' अतः श्रीरामसे अभिन्न होनेसे श्रीरामनामरूपी महामणि भी जगत्के प्रकाशक हैं ।

आदिमें सुदृढ़ स्नेह बंधनसे बँधा हुआ है, वह अपने गृहासक्त, विषया-सक्त चित्तको इस जगजालसे क्योंकर मुक्त कर सकता है?—उसका उपाय बताते हैं कि जगत्प्रपंचका जो प्रकाशक है, जिसकी सत्तासे उसने हमें मोहमें डाल रक्खा है, उसीको हम इसमेंसे दृढ़तापूर्वक ग्रहण कर लें तो यह निर्जीव-सा होकर रह जायगा।—श्रीरामनाम महामणिको लेना यही है कि उसे सदा सानुराग जपें।

नोट—२ टीकाकारोंके भाव—(क) पं० श्रीकान्तशरणका मत है कि "श्रीरामनामके अर्थानुसंधानपूर्वक जपसे श्रीरामजीके स्वरूप-का साक्षात्कार होता है, यही मणिका लेना है।"

(ख) वैजनाथजी लिखते हैं कि "रामनामके प्रभावसे ज्ञान, वैराग्य, विवेक, समता और सन्तोष आदि आ जाते हैं, जिससे भग-वत्रूप सार और संसार असार दिखाई पड़ता है। जगजालरूप संसारका मरना यह है कि वह एक दिन अवश्य छूटेगा। यदि जीवित रहा तो व्याकुल बेहाल रहेगा। भाव यह कि नामजापक संसारव्यव-हारमें भी रहते हैं, तब भी वह देहाभिमानरहित रहते हैं, संसारको असार माने रहते हैं।"

(ग) दीनजी—'सांसारिक विषय निर्जीव हो जाते हैं।'

(घ) वि० ह०—'रामनामस्मरणसे सांसारिक दुःख आपसे आप मृतप्राय हो जायँगे। अर्थात् सांसारिक विकार तनिक न व्यापेंगे।'

(ङ) श्री० श०—'रामनामसे श्रीरामजीका साक्षात्कार हो जानेपर रागद्वेष संसारमें नहीं रह जाते, जीवन्मुक्त दशा आ जाती है, तब प्रारब्धावशेष पर्यन्त शरीरका जगत्से संबंध रहता भी है, पर वह जगत् निश्चेष्ट सर्पकी तरह इसका कुछ अनिष्ट नहीं कर सकता।'

(च) भ० स०—'व्याकुल और बेहाल' का भाव कि जगजाल शक्तिहीन असमर्थ हो जाता है, किञ्चित् भी पुरुषार्थ नहीं रह जाता, वह कुछ कर नहीं सकता। साँपके मरने और जीवित रहनेका आशय यह है कि—जगमें दो मार्ग हैं, एक निवृत्ति, दूसरा प्रवृत्ति। श्रीहनुमान्जी आदि निवृत्ति मार्गमें है, उनको जगजाल मुर्दाके समान है। श्रीजनकमहाराज आदि प्रवृत्ति मार्ग में हैं, उनको रामनाममणि ले लेनेसे वह सर्प जीवित तो है किन्तु कुछ अनिष्ट नही कर सकता अर्थात् वे जगत्के व्यवहार करते तो हैं, पर उनको व्यवहार बंधन नहीं कर सकते।

टिप्पणी—४ (क) 'रामनाम कामतरु देत फल चारि रे।' इति। 'चारि' कहकर जनाया कि प्राकृत कल्पतरु चारों फल नहीं देता, केवल अर्थ, धर्म और काम तीन ही देता है और रामनाम मोक्ष भी देता है, यह विशेषता है। 'देत' से जनाया कि जो सकाम जप करते हैं, श्रीरामनाम उनकी चारों प्रकारकी कामनायें पूर्ण करते हैं। जो निष्काम हैं, वे तो देनेपर भी नहीं लेते। वे तो श्रीरामनामामृतकुण्डमें ही सदा अपने मनको मछलीकी तरह डाले रहते हैं। यथा 'सकल कामनाहीन जे रामभगति रस लीन। नाम सुप्रेम पियूष ह्रद तिन्हहु किये मन मीन।१।२२।' वे तो जन्म-जन्म रामनामानुराग ही चाहते हैं; यथा 'नाम भरोस, नाम बल, नाम सनेहु। जनम-जनम रघुनंदन तुलसिहि देहु। बरवै ६८।'

४ (ख) 'कहत पुरान वेद पंडित पुरारि रे' इति। पुराण जैसे कि श्रीमद्भागवत, पद्म, स्कन्द, विष्णु, महाभारत और वराह आदि। वेद अर्थात् चारों वेद। 'पंडित' से ब्रह्मा, शेष, शारदा आदिका ग्रहण होगा। पुरारि महादेवजी।—ऐसा ही पद २५५ (३) में भी कहा है—'वेदहू पुरानहू पुरारिहू पुकारि कह्यो, नाम प्रेम चारि फलहू को फरु है।'—इसमें इसे चार फलोंका फल भी बताया है। भाव कि नाम साधन भी है और साध्य भी।

[महात्मा भगवानसहाय लिखते हैं—"यहाँ प्रमाण देना चाहिए था, सो क्यों न दिया ?"

उत्तर—गोस्वामीजी और सूरदासजी आदि महात्माओंने जीवोंपर अत्यन्त कृपा करके वेद शास्त्रोंके रहस्यको सुलभ करके वर्णन कर दिया है, उनकी व्याख्यामें श्रुति स्मृतिका उद्धरण देना आवश्यक नहीं समझा। इसीसे हमे प्रमाण देनेकी आवश्यकता नहीं, जिसे देखना हो श्रीरामचरित मानस आदिके तिलकोंमें देख ले। पर यह स्मरण रक्खे कि इन महात्माओंने वेद शास्त्रोंका सार सिद्धान्त ही भाषामें लिख दिया है। इन महाभागवतोंकी वाणी भगवत-रसिकोंके विचार से तो वेद समान है, उसे अवश्य मानना चाहिए, प्रमाणकी किंचित् भी अपेक्षा नहीं। जो विमुख हैं, वे तो वेदको भी प्रमाण नहीं मानते, भाषाको तो पूछता ही कौन है।']

'मानस-पीयूष' नामवन्दना आदि प्रकरणोंमें बहुत प्रमाण दिये गये हैं। 'श्रीसीताराम-नामप्रताप प्रकाश' तो नामपरक ग्रंथ ही है।

कुछ प्रमाण पूर्व आ भी चुके हैं। वैजनाथजीने प्रमाण बहुतसे दिये हैं।

टिप्पणी—५ (क) 'रामनाम पेम परमारथ को सारु रे' इति। इसके दो प्रकारसे अर्थ किये जाते हैं—(१) रामनाम प्रेम और परमार्थका सार है। (२) 'रामनाम प्रेम' परमार्थका सार है। मानसमें श्रीरामजीको परमार्थरूप कहा है। यथा 'राम ब्रह्म परमारथ रूपा। २।६३।७', 'मनहु प्रेम परमारथ दोऊ। मिलत धरें तन कह सब कोऊ।२।१११।२।' (इसमें गुप्त तापसको प्रेम और श्रीरामजीको परमार्थ कहा है)। और इस पदमें श्रीरामनामको परमार्थका सार कहा। इस प्रकार श्रीरामनामकी विशेषता दिखाई।

श्रीवैजनाथजी आदिमें 'परमारथ' का अर्थ मुक्ति किया है। वियोगीजीने 'प्रेम परमारथ' का अर्थ भक्ति और मुक्ति किया है। वियोगीजीके अर्थका भाव यह ज्ञान पड़ता है कि भक्तिका सारांश, भक्तिमें मुख्य, नाम ही है, यथा 'वरषा रितु रघुपति भगति तुलसी सालि सुदास। राम नाम वर वरन जुग सावन भादव मास।१।१९।'; इसीसे तो 'सकल कामनाहीन जे रामभगति रस लीन। नाम सुपेम पियूष ह्रद तिन्हहु किये मन मीन।१।२२।'

वैजनाथजी रामनामप्रेमको मुक्तिका सार कहते हैं क्योंकि "कर्म, ज्ञान, वैराग्य और योग आदि जितने-भी साधन मुक्तिप्राप्तिके लिये किये जाते हैं, वे 'रामनामके प्रेम सहित' (अर्थात् रामनामप्रेमसे) सिद्ध होते हैं।"

वैराग्य, योग, यज्ञ, तप और त्यागका लोप ऊपर कह आये। काम, क्रोध, लोभ, तृष्णा आदिके कारण ये सब सारहीन हैं। भगवत कथा, तीर्थाटन, ध्यान आदि भी परमार्थकी वस्तुयें हैं, सो ये भी सारहीन हो गए। "ब्राह्मणलोग धनके लोभसे घर-घर जाकर प्रत्येक मनुष्यको भागवतकी कथा सुनाने लगे हैं, इससे कथाका सार चला गया। लोगोंकी दृष्टिमें उसका कुछ भी महत्त्व न रह गया। तीर्थोंमें बड़े भयंकर कर्म करनेवाले नास्तिक और दम्भी मनुष्य भी रहने लगे, इसलिये तीर्थोंका भी सार चला गया।' ' "। (प०पु० उत्तर १८९)।

प्रेम अर्थात् प्रेमाभक्तिका सारांश रामनाम है। प्रेमाभक्तिमें रंगे हुए भक्त रामनाममें ही डूबे रहते हैं। परमार्थका अर्थ पुरुषार्थ है। परमार्थका सार 'परमपुरुषार्थ' है। कोई-कोई मोक्षको ही परमपुरुषार्थ

मानते हैं। परन्तु प्रेमीभक्त मोक्षकी चाह नहीं करते, वे तो नित्य भगवत् कैंकर्यको ही चाहते हैं। रामनामसे भगवत्कैङ्कर्यकी सिद्धि भी होती है, यह जनाया। मोक्ष तो उसके आभासमात्रसे प्राप्त हो जाता है।

सूर्यदीन शुक्लजी—"शब्द ब्रह्म की उपासना शास्त्रों में विशेष रूप-से पाई जाती है। जिस शब्द ब्रह्म के भेद करके ५० वर्ण शिवजीने प्रकट किये, उन्हींको ब्रह्म रूपसे विचारना चाहिए। जो शब्द ब्रह्म बाहर भीतर सर्वत्र सोऽहं रूपसे प्रत्यक्ष हो रहा है, जिसको अजपा जाप कहते हैं; वही शब्द ध्यान द्वारा घण्टानादके समान बाहर भीतर ॐ रूपसे उपासकोंको सुनाई देता है, तथा वही शब्द भौंराके शब्दसा 'ह्रीं' रूपसे सुनाई देता है। और, वही शब्द ब्रह्म उपासकके प्रेमसे 'राम' शब्दसे बाहर-भीतर शब्दित होता है। जब नाममें प्रेम उत्पन्न होता है, तो सारे व्यवहार नाममय प्रतीत होने लगते हैं और इसका अनुभव प्रत्यक्षरूपसे भक्तजन करते हैं और उसीमें परमानन्दित हो मग्न रहते हैं; इसलिये नामकी उपासना परमार्थका सार है।"

५ (ख) 'राम नाम तुलसी को जीवन अधार रे' इति। [यदि कहो कि सबका तो यह सिद्धान्त नहीं देख पड़ता, तो उस पर कहते हैं कि जिसकी श्रीरामनाममें निष्ठा नहीं उसको न हो पर तुलसीदाससे जीवोंको तो यह इस लोकमें तो जीवनरूप और परलोकमें आधार है। अर्थात् इस लोक में हम सरीखे साधनहीनोंको तो इसी के सहारे सब कुछ मिलता है और परलोकमें कल्याण करनेका अवलंब है। (भ० स०)।—इन्होंने 'जीवन और आधार' अर्थ किया है। आगे भी कहा है—'रोटी-लूगा नीके राखै आगेहू को वेद भाषै, भलो होइहै तेरो, ताते आनंद लहत हौं।७६।']

'जीवन अधार' अर्थात् जीवनका आधार कहनेका भाव कि इसी से मैं जीवित हूँ, यह मेरे प्राणोंका आधार है। जैसे मछलीका जीवन जल। जो भाव पद ६५ में 'रामनाम गति…' के कहे गए हैं, वही 'जीवन अधार' के हैं। वहाँ लिखा जा चुका है। भाव कि एकमात्र उसीका मुझे अवलंब है।

श्रीसीतारामचन्द्रार्पणमस्तु।

६८ (३०) राग भैरव (रा०)

राम राम राम जीय[1] जौं लौं[2] तू न जपि है।
तो [3]लौं जहाँ[4] जैहै तहाँ तिहुँ-ताप तपिहै ॥१॥
सुरसरि तीर बिनु नीर दुख पाइहै।
सुरतरु तर[5] तोहिं दारिदु[6] सताइहै ॥२॥
*जागत बागत सपने न सुख सोइहै।
जनमि[7] जनमि जुग जुग जग रोइहै ॥३॥
*छूटिबे की जतन बिसेषि बाँध्यो[8] जाहिगो।
ह्वैहै विष भोजन जौं सुधा सानि खाहिगो ॥४॥
तुलसी तिलोक[9] तिहुँ[10] काल तोसे दीन को।
रामनाम ही की गति जैसे जल मीन को ॥५॥

शब्दार्थ—जीय-६७ (१ क) मे देखिए। जौं लौं = जब तक। तो (तौ) लौं = तब तक। दारिद = दरिद्रता, निर्धनता। सताइहै = सतावेगा, तंग करेगा, पीछे पड़ेगा। बागत = चलते-फिरते। जतन (यत्न) = उपाय, तदबीर। बिसेषि = अधिक। जाहिगो = जायगा। ह्वैहै = होगा। जौं = जो, यदि। सानि = गूँधकर; मिलाकर।

१ जीय—६६, १५, भ०। जीउ—भा०, वे०, ह०। जीव—७४, ज०, दीन। जीह—५१, आ०। जीअ—रा०। २ लों—रा०, भा०। ३—तो लो—६६, रा०। तौ लो-भ०। तौ लौं—भा०, वे०, ह०। ४ जहाँ जैहै तहाँ—६६, रा०, ह०, भ०, ७४। तू कहूँ जाय—भा०, वे०, मु०, डु०, दीन। तू कहूँ ही जाय—वै०, वि०। ५ तर—६६, रा०, ज०, भ०। तरे—भा०, ७४। तरै—ह०। *६६, रा०, ह०, ७४, आ० मे यही क्रम है। भा०, वे०, ज०, १५ मे अन्तरा ४ प्रथम है तब अन्तरा ३। ६ दारिदु—६६, रा०, मु०। दुख दारिद—आ० (—मु०)। ७ जनम जनम—भा०, वे०, ज०, आ०। जनमि जनमि—६६, रा०, दीन। ८ बाँध्यो जाहिगो ··खाहिगो—६६, रा०, भ०। बाँधो जाइगो—भा०, वे०, ह०। ९ विलोक—५१। १०—तिहुँ—६६, रा०, ज०, भ०, ७४। तिहूँ—भा०, वे०, ह०, ५१, १५।

पद्यार्थ—हे मन ! हे जीव ! जबतक तू राम राम राम (अर्थात् बराबर निरन्तर राम राम) न जपेगा, तबतक तू जहाँ (कहीं भी) जायगा वहाँ तीनों तापोंसे तपेगा अर्थात् जलता रहेगा । १ । गंगातट-पर भी बिना जलके दुःख पायेगा और कल्पवृक्षके तले (भी) तुझे दारिद्रय सतावेगा (अर्थात् गंगा और कल्पवृक्ष भी तेरा कुछ भी उपकार न कर सकेंगे) । २ । जागते, चलते-फिरते, स्वप्नमें (भी) तू सुखसे न सोवेगा (अर्थात् किसी भी अवस्थामें तू विश्रामको न प्राप्त होगा) । संसारमें (अनेक योनियोंमें बारंबार) जन्म-जन्मकर तू युग-युगमें रोवेगा, । ३ । (रामनाम छोड़ भवबंधनसे) छूटनेका जो उपाय तू करेगा उसी उपायसे तू और भी अधिक बाँधा जायगा (अर्थात् भवबंधनमें पहलेसे भी अधिक जकड़ जायगा । उस यत्नका फल उलटा ही होगा) । अमृतसे सानकर (भी) जो तू भोजन करेगा, वह विष हो जायगा (अर्थात् अमृत विषका काम करेगा । ४। तुलसी ! (वा, तुलसीदासजी कहते हैं—) तीनों लोकों और तीनों कालोंमें तेरे-से दीनके लिये तो रामनाम ही एकमात्र अवलंब है, जैसे मछलीके लिये जल । ५ ।

नोट—१ पिछले तीन पदोंमें नामजपका माहात्म्य कहा और अनन्यगतित्वका उपदेश किया । अब इस पदमें रामनामविमुखताका फल बताते हैं । पद ६७ नोट १ देखिए ।

टिप्पणी—१ (क) 'राम राम राम ···' इति । तीन बार (राम राम राम) कहकर एकतार लगातार रामनामका जप सूचित किया । बैजनाथजी आदिने जो भाव कहे हैं वे पद ६५ (१) में आ चुके हैं । (ख) 'जौं लौं तो लौं' का भाव कि त्रिताप तभीतक है जबतक जपका आरंभ नहीं होता, जपने लगनेपर फिर ये न रह जायँगे । यथा 'सुमिरे त्रिविध घाम हरत । २५५ ।', ' ' ऐसेउ कराल कलिकाल-में कृपाल तेरे नामके प्रताप न त्रिताप तन दाहिए । क० ७।७६ ।", 'तुलसी जागे ते जाय ताप तिहूँ ताय रे । रामनाम सुचि रुचि सहज सुभाय रे । ७३ (४) ।' ('जागिबो जो जीह जपै नीके रामनाम को । क० ७।८३ ।'—यही जागना है) । (ग) 'जहाँ जैहै तहाँ···' —अर्थात् सुखप्राप्तिके लिये जिस भी अन्य साधनका आश्रय लेगा, वहाँ सुख तो दूर रहा, श्रमही फल मिलेगा । यथा 'एहिं कलिकाल सकल साधन तरु है श्रम फलनि फरो सो । १७३।', 'मिटै

न दुख विमुख रघुकुलवीर। कीजै जो कोटि उपाय त्रिबिध ताप न जाइ ···। १६६।'

टिप्पणी—२ 'सुरसरि तीर···' इति। (क) रामविमुखका त्रितापसे संतप्त होना ऊपर कहकर अब तीनोंका उदाहरण देते हैं। जिन सुरसरिके स्मरणमात्रसे त्रिताप दूर होता है और जिनके दर्शनमात्रसे दुःख-दोष-दारिद्र्य आदि मिटते हैं, (यथा 'हरति पाप त्रिबिध ताप सुमिरत सुरसरित। १९।', 'देखत दुख दोष दुरित दाह दारिद हरनि। २०।'), उनके तटपर पहुँच जानेपर जब रोगग्रस्त हो गया और प्यास लगी, तो रामविमुख होनेसे वहाँ उसे कोई पानी पिला देनेवाला नहीं मिलता, वह प्यासके मारे तड़प-तड़पकर मर जाता है। यह दैहिक ताप है। ऐसा भी होता है कि डाक्टरके कहनेसे नदीका जल गन्दा समझकर उसके निकट जाकर भी उसे नहीं पीता और कुआँ निकट न होनेसे दुःख सहता है। पद १६६ में भी कहा है—'तुलसिदास मरै प्यास बिनु प्रभु पसु जद्यपि है निकट सुरसरि तीर।'

२ (ख) 'सुरतरु तर···' इति। सुरतरु अर्थात् कल्पवृक्ष, पारिजातक आदि वृक्ष जो देवलोकमें हैं। 'सुरतरु तर' कहकर जनाया कि सुकृतों द्वारा यदि तू देवलोक (स्वर्ग) में गया, देवशरीर मिला, तो वहाँ कल्पतरु जो माँगते ही अर्थ, धर्म और काम देता है, वह भी तेरा भला नहीं कर सकता। [सुरतरुतले दैत्यों-राक्षसों द्वारा तापका डर सदा बना रहनेसे सुखभोग प्राप्त होनेपर भी उसे भोग नहीं सकते, दरिद्र ही बने रह जाते हैं। यथा 'रावन आवत सुनेउ सकोहा। देवन्ह तके मेरु गिरि खोहा। १।१८२। ६।', 'सुरपुर नितहिं परावन होई। १।१८०।८।'—यह दैविक तापका उदाहरण है। (वै०)। वा, 'कल्पतरुके तले गए, पर उसे जानते नहीं, अतः वहाँ जानेपर भी दरिद्र ही बने रहे। (भ० स०)]

टिप्पणी—३ 'जागत बागत···' इति। (क) जागते, चलते-फिरते और सोते समय प्रियवियोगादि दुःख, तथा ठग बटपार, चोर, डाकू, व्याघ्र, सर्प आदि द्वारा दुःख होते हैं। स्वप्नमें देखते हैं कि हम नदीमें डूब रहे हैं, हमें व्याघ्र आदि खाये लेते हैं, हमारा सिर शत्रुने काट लिया, इत्यादि।—ये सब भौतिक ताप हैं। पुनः, 'सपने न सुख सोइहै' का भाव कि जागते और चलते

फिरते तो भौतिक ताप होना ही है, सोचें कि रातमें तो सुखकी नींद सोवेंगे, सो रामविमुखके भाग्यमें वह भी नहीं। सोते समय दुःखदायी स्वप्न देखकर मरणान्त दुख भोगना पड़ेगा।—'राम विमुख सुख सपनेहु नाहीं।'

३ (ख) 'जनमि जनमि ··' इति। पद ६६ में बता आए कि घोर भवसागरके पार करनेके लिए रामनाम सच्ची, निश्चित एवं अपनी नाव है। नामजप नहीं किया और न अब करते हैं, अतएव अबतक जन्म मरण होता आया और आगे भी जन्मना-मरना पड़ेगा। 'जुग-जुग जग रोइहै'—भाव कि यह न समझ कि इस जन्ममें दुःख भोग रहे हैं, मरनेके बाद फिर दुःख न भोगना पड़ेगा; इस धोखेमें न रह। जबतक रामनामकी शरण नहीं लेगा, रामनाम न जपेगा, तबतक युगयुगान्तरोंमें बराबर तू तीनों तापोंसे पीड़ित होकर रोता रहेगा।

टिप्पणी—४ 'छूटिबे की जतन...' इति। (क) भाव कि 'छूटै मल कि मलहि के धोयें। घृत कि पाव कोउ बारि बिलोयें। ७।४६।५।', 'करम कीच जिय जानि सानि चित चाहत कुटिल मलहि मल धोयो। २४५।'—अर्थात् वेदोंमें जितने कर्म धर्म कहे गये हैं, उनसे भव-बंधन छूट नहीं सकता, प्रत्युत और भी जकड़ता जाता है, दृढ़ होता जाता है। यथा 'जप तप तीरथ जोग समाधी। कलि मति विकल न कछु निरुपाधी॥ करतहुँ सुकृत न पाप सिराहीं। रक्तबीज जिमि बाढ़त जाहीं। १२८।'

४ (ख) 'ह्वैहै बिष भोजन...' इति। अमृत जीवित करता है, अमर करता है। विष मार डालता है। अमृतमें सना हुआ भोजन अमर करनेवाला होता है, किन्तु रामविमुखको वह विष समान प्राणहारक हो जाता है। मानसमें जयन्त प्रसंगमें रामविमुखकी दशा ऐसी ही कही गयी है—

"काहू बैठन कहा न ओही। राखि को सकै राम कर द्रोही।
मातु मृत्यु पितु समन समाना। सुधा होइ बिष सुनु हरिजाना।
मित्र करै सत रिपु कै करनी। ता कहँ बिबुध नदी बैतरनी।
सब जग ताहि अनलहु ते ताता। जो रघुबीर बिमुख सुनु भ्राता॥
३।२।५-८।"

श्रीरामसम्मुखतासे इसका उल्टा होता है, अर्थात् प्रतिकूल विषय भी अनुकूल हो जाता है, इत्यादि। यथा—

"प्रबिसि नगर कीजै सब काजा। हृदय राखि कोसलपुर राजा।
गरल सुधा रिपु करै मिताई। गोपद सिंधु अनल सितलाई।
गरुड़ सुमेरु रेनु सम ताही। राम कृपा करि चितवा जाही।
५।५।१-३।"

अमृतमें सना हुआ भोजन विष हो जायगा, यह कहकर जनाया कि ज्ञान आदि साधन अमर करनेवाले हैं, किन्तु कलिकालके प्रभावसे वे उदरपूर्तिके साधन हो जानेसे संसारमें डालनेवाले ही होते हैं।—इस तरह कर्म, ज्ञान आदि साधनोंका निषेध किया गया।

बैजनाथजी लिखते हैं—'भगवत्-शरणागति-सहित सब साधन मुक्तिदायक हैं और हरिविमुखतासे सब दुःखरूप हैं। जैसे, यज्ञ करनेसे दक्षकी क्या दुर्दशा हुई (हरिहरविमुख होनेसे)। दान करनेसे राजा नृग गिरगिट हुए। तप करके राक्षस नरकके अधिकारी हुए।

अमृतके विष होनेके उदाहरण भानुप्रताप और कैकेयी-वरदान प्रसंग हैं। भानुप्रतापने अमरत्व प्राप्त्यर्थ विप्रोंको निमंत्रण दिया, सो उन्हींके शापसे उसका सपरिवार नाश हुआ। कैकेयीजीने अपने पुत्र के लिये राज्य माँगा, जिससे अपनेको राज्यमाता होनेका सुख मिले। फल क्या मिला? पतिविमुख हुई, विधवा हुई, पुत्रने भी रामविमुख जानकर त्याग दिया, फिर कभी उन्हें माँ न कहा और जिनके लिये राज्य माँगा था उनको कितना दुःख हुआ।—'कहा भलो धों भयो भरत को, लगे तरुन तन दौन। गी० २।८३।'

टिप्पणी—५ 'तुलसी तिलोक तिहुँ काल तोसे दीन को। ..' इति। (क) 'तौ लौं जहाँ जैहै तहाँ तिहुँ ताप तपिहै' की व्याख्या 'सुरसरि तीर बिनु नीर ..' से 'जुग जुग जग रोइहै' तक की। अब सिद्धान्त करते हैं कि तुम्ह सरीखे दीनके लिये व्यास आदिने भूत भविष्य वर्तमान तीनों कालोंमे तीनों लोकोंमें सिवाय रामनामके और कोई साधन भवतरणका निश्चित नहीं किया, कोई इस सिद्धांतको स्वीकार करे वा न करे पर तुम्ह दीनको तो सदा सर्वत्र एकमात्र रामनाम ही की गति है।

'तुलसी तोसे दीन को' का वास्तवमें अर्थ है 'जो इतना दीन है उस तुझ तुलसीको' 'तुझ दीन तुलसी को'।

५ (ख) तुलसीदासजी भूतकालमें वाल्मीकि थे, तब भी रामनाम ही गति थी, यथा 'उलटा नाम जपत जग जाना। वालमीकि भए ब्रह्म समाना। २।१९४।८', 'जान आदिकवि नाम प्रतापू। भयेउ सुद्ध करि उलटा जापू।१।१९।५।' वर्तमान कालमे भी है, यथा 'नाम अवलंब अंबु दीन मीनराउ सो। प्रभु सों बनाइ कहौं जीह जरि जाउ सो। १८२।' भविष्यके लिये यही वर माँगा है। यथा 'नाम-भरोस नाम-बल नाम-सनेह। जनम-जनम रघुनंदन तुलसिहि देहु। बरवै ६८। जनम-जनम जहँ जहँ तनु तुलसिहि देहु। तहँ तहँ राम निबाहिब नाम-सनेहु। ६९।' 'तीन लोकों' का भाव मर्त्यलोक, स्वर्ग वा पाताल जहाँ भी जन्म हो वहाँ राम नाम छोड़ दूसरा अवलंब मेरे लिये नहीं है यथा 'तिहुँ काल तिहुँ लोक मे एक टेक रावरी तुलसी से मनमलीन, को।२७४।'

'दीन'—पद ४१ 'दीन सब अंग हीन ' ' देखिए। 'राम नाम ही की गति' पर 'रामनाम गति' की व्याख्या ६५ (४ क) में देखिए।

५ (ग) तीनों कालों और तीनों लोकोंमें दीनोंकी गति नामसे हुई। गजेन्द्र, गणिका, अजामिल, शबर, शबरी, खस, यवन, कोल, किरात आदि उदाहरण है। वर्तमान कलिमे अन्य साधन रह ही नहीं गए। विशेष 'चहुँ जुग तीनि काल तिहुँ लोका। भये नाम जपि जीव बिसोका।१।२७।१।' को व्याख्या 'मानस पीयूष' मे देख सकते है।

[बैजनाथजी—मीनको जलमें ही चलनेकी गति है, उसके न पद हैं न पक्ष। वैसे ही मेरे न तो कर्मरूप पद है और न ज्ञानरूप पक्ष है, एकमात्र नामरूप जल है।]

५ (घ) 'जैसे जल मीन को' में साधारण भाव तो यह है ही कि विना उसके जीवन न रह जाय, पर साथ ही भाव यह भी है कि मरने पर भी इसीकी शरण रहेगी। जैसे मछलीके खानेपर जलकी प्यास लगती है।—'जीयत राम, मुये पुनि राम, सदा रघुनाथहि की गति

जेही। क० ७।३३।', 'तुलसी मिटै न मरि मिटेहु, साँचो सहज सनेह। दो०।'

श्रीसीतारामचन्द्रार्पणमस्तु।

६६ (३१) राग भैरव—रा०

सुमिरु[1] सनेह सों तूं नाम रामराय को।
संवरु[2] निसंबरी को सखा असहाय को॥ १॥
भागु है अभागेहू[3] को गुन गुनहीन को।
गाहक गरीब को दयाल दानि दीन को॥ २॥
कुल अकुलीन को 'सुने न कोउ माषिहैं'[4]।
पाँगुरे कें[5] हाथ पाय आँधरे के[6] आँखि है॥ ३॥
माय बाप भूखे को अधार निराधार को।
सेतु भवसागर को हेतु सुखसार को॥ ४॥
पतितपावन राम नाम सो न दूसरो।
सुमिरें[7] सुभूमि भयो तुलसी सो ऊसरो॥ ५॥

शब्दार्थ—सों=से, सहित। राम राय=महाराज राजराजेन्द्र श्रीरामजी। 'राय' शब्द 'राजा' का अपभ्रंश है। संवरु (संबल। माधुर्यके लिये बहुधा लकारकी जगह रकारका प्रयोग ग्रन्थकारने किया है)=राह-खर्च; कलेवा। यथा 'धर्मकल्पद्रुमाराम हरिधाम-पथि संवलं मूलमिदमेवमेकं। ४६।', 'दास तुलसी दीन धर्म संबल-

---

१ मुमिरु—६६, भा०. वे०, दी०, पा०। सुमिर—मु०, वै०, वि०। सुमिरि—रा०, ह०, ५१। २ सवरु निसवरी—६६, रा०, ह०। संबर निसंवर—मु०, वै०, दी०। संबल निसबल—भा०, वे०, वि०, पो०। संबल निसबली—७४, १५। ३ अभागेहू—६६, रा०, आ०, ५१। अभागेही—भा०, बे०, ह०, १५, ज०। ॐ सुने न कोउ मापि है—६६, रा०, ह०, श्री श०। सुन्यो (सुनो—भा०, वे०) है वेद साखि है—प्रायः औरोमे। ५—पाँगुरे कें—६६, रा०, भा०, वे०। पाँगुर को—ह०, ५१, ७४, आ०। ६ के—६६, रा०, १५, ज०। की—भा०, वे०, ह०। को—५१, ७४, आ०। ७ सुमिरे—६६, रा०। सुमिरे-भा०। सुमिरि—७४, ज०, १५, आ०।

हीन...। ६०।' निसंबरी (निसंबल)=वह पथिक, यात्री या मुसाफिर जिसके पास राह-खर्च न हो। सखा=मित्र।—'अत्यागसहनो बन्धुः सदैवानुमतः सुहृत्। एकक्रियं भवेन् मित्रं समप्राणः सखा मतः।'—सखा उसे कहते हैं जो 'एक प्राण दो देह' का ज्वलन्त उदाहरण हो। (दीन०)। असहाय=जिसका कोई सहायक (मददगार) न हो। गाहक (ग्राहक)=मोल लेनेवाला।=चाहनेवाला; पूँछ-ताँछ और ग्रहण करनेवाला; इच्छुक अकुलीन=नीच कुलमें उत्पन्न।=कुलहीन (रा० कु०)। कुल=वंश, घराना।=कुलीनता, उच्च कुल। मापना=अप्रसन्न, क्रुद्ध वा अधीर होना।—'माप' क्रिया 'अमर्ष' से बनी हुई मान सकते हैं। मर्ष=सहनशीलता। इस प्रकार 'अमर्ष'=अधीरता; असहनशीलता।=रोप और क्रोध भी जो असहनशीलतासे होता है। 'मापे लपन कुटिल भइ भौंहैं।...' प्रसंगमें 'न सह सकने' का भाव 'मापे' से निकलता है। पाँगर (पंगुल)=लँगडा।—पर यहाँ 'हाथ पाँय' के सम्बन्धसे 'लँगडा-लूला' अर्थ होगा।=जिसके न हाथ हैं न पैर। आँधर=अंधा, जिसे आँखसे दिखाई न देता हो। अधार (आधार =आश्रय; आश्रय (सहारा) देनेवाला। निराधार=जिसको कोई आश्रय, सहारा वा अवलंब नहीं है। सो=का सा; के समान। ऊसर (ऊपर)=वह भूमि जिसमें रेह अधिक हो और तृण या पौधा आदि कुछ-उत्पन्न न हो। यथा—'ऊसर बरसे तृन नहिं जामा।', 'ऊसर बीज बये फल जथा।' सुभूमि=बहुत उत्तम उपजाऊ जमीन।

पद्यार्थ—(हे जीव वा मन !) तू महाराज श्रीरामचन्द्रजीके 'राम' नामका प्रेम सहित स्मरण कर। (उनका नाम) संबलरहित यात्रियोंके लिये राह-खर्च और सहाय-रहित मनुष्योंका सखा है।१। अभागे (भाग्यहीन) के लिये भी भाग्य है और गुणहीन मनुष्योंके लिए गुण है। गरीबका ग्राहक है और दीनके लिये दयालु दानी है (अर्थात् उनपर निस्स्वार्थ अकारण ही दया करते हैं)। २। कुलहीनोंके लिये उत्तम कुल है—यह सुनकर कोई अमर्ष न करे, रुष्ट न हो। लँगडे-लूलेके लिए हाथ पैर है, अंधेके लिये आँख है। ३। भूखेके लिये माता-पिता है, निराश्रयका आश्रयहै। भवसागर (पार करने) के लिये पुल और सुखके सार (की प्राप्ति) का कारण अर्थात् उपाय है। ४। पतितोंको पवित्र करनेवाला रामनामके समान दूसरा नहीं

है कि जिसका स्मरण करनेसे (मुझ) तुलसी समान ऊसर भी उपजाऊ भूमि हो गया ।५।

टिप्पणी—१ 'सुमिरु सनेह सों...' इति । (क) पूर्व पद ६७ में भी 'सानुराग राम राम' जपनेका उपदेश किया था, यथा 'राम राम जपि जीय सदा सानुराग रे'। फिर पद ६८ में न जपनेका फल बताने लगे कि रामनामविमुखको अनुकूल विषय भी प्रतिकूल हो जाते हैं। अब इस पदमें कहते हैं कि विमुखताका फल तूने जान लिया, अतएव अब तू प्रेमपूर्वक नाम-स्मरण कर। रामनामजपसे क्या लाभ है यह पद ६५, ६६, ६७ में बता चुके। न जपनेसे बड़ी हानि (जन्म-जन्म रोना पड़ेगा) और जपनेसे बड़ा लाभ (चारों फलोंकी प्राप्ति इत्यादि) जान लेनेसे नाममे प्रेम हुआ ही चाहे।

पुनः, 'सुमिरु सनेह सों' का भाव कि जैसे-कैसे भी नामके उच्चारणमात्रसे यवन और अजामिल ऐसे जीव शोकरहित हो जाते हैं, परन्तु स्नेहपूर्वक स्मरणका फल तो अकथनीय है, उससे क्या नहीं हो सकता। यथा 'दंभहू कलि नाम कुंभज सोचसागर सोसु। १५६।', 'घोर जमालय जात निवार्यो सुत-हित सुमिरत नाम। १४४।', 'सोई रामनाम जो सनेह सों जपत जन, ताको महिमा क्यों कही है जाति अगमै। क० ७।७६।', 'स्वल्पापि नामस्मृतिरादिपुंसः क्षयं करोत्याहितपापराशेः। प्रत्यक्षतः किं पुनरत्र दृष्टं संकीर्तिते नाम्नि जनार्दनस्य।' (प० पु० उ० २२६।८३) श्रीवसिष्ठजी कहते हैं कि 'आदिपुरुष परमात्माके नामोंकी थोड़ी सी भी स्मृति संचित पापोंकी राशिका तत्काल नाश कर देती है, यह बात प्रत्यक्ष देखी गयी है। फिर उन जनार्दनके नामोंका भली भाँति कीर्तन करनेपर उत्तम फलकी प्राप्ति होगी, इसके लिये तो कहना ही क्या है।'

१ (ख) 'तूँ'—यह सर्वनाम है। पूर्व पद ६७ और ६८ 'राम राम जपि जीय...' और 'राम राम राम जीय जौं लौं तूं न जपिहै' में 'जीय' को सम्बोधित किया है, उसीको यहाँ उपदेश करते हैं। अतएव यहाँ सर्वनाम 'तूँ' से उसीको संबोधित सूचित किया।

१ (ग) 'नाम-राम-राय को' इति। 'राम' देहली-दीपक-न्यायसे नाम और राय दोनोंके साथ है। 'राय' का भाव कि ये राम वही ब्रह्म हैं जो ब्रह्मादिक के संकोचवश रघुकुलमें अवतीर्ण हो राजा हुए हैं। यहाँ रहते हुए उन्होंने अनेक दीनोंका जा-जाकर-उद्धार किया

और अन्तमें अपने साथ कीट-पतंगोंसहित समस्त अवधवासियोंको अपने नित्य धामको ले गये। यथा 'जयति सच्चित् व्यापकानंद परब्रह्मविग्रह व्यक्त लीलावतारी। . ४३।' कुसमयमें कोई दूसरेका भला नहीं करता, किन्तु इन्होंने कुसमयमें भी दान दिया, यथा 'कुसमय दसरथ के दानि तैं गरीब निवाजे।'"

श्रीकान्तशरणजीके मतसे स्नेहपूर्वक नाम जपनेको कहकर श्रीरामजीको राजा कहनेका भाव यह है कि "राजा प्रजाका पालन करता है, अतएव उसमें स्वभावतः प्रजाका स्नेह होता है। वैसे ही रामनामका सब प्रकारसे जापकका लालन पालन करता है और इसका सम्यक् प्रकारसे आधार है।"

१ (घ) 'संबरु निसंबरी को' इति। निसंबल अर्थात् जिनके पास परमार्थपथके लिये कोई भी साधन-सामान नहीं है, उनको रामनाम संबलका काम देता है। यथा 'जो सुनि सुमिरि भाग भाजन भइ सुकृतसील भील-भामो॥ बालमीकि अजामिल के कछु हुतो न साधन सामो। उलटे पलटे नाम महातम गुंजनि जितो ललामो। २२८।', 'गनिका कोल किरात आदिकबि, इन्ह तें अधिक बाम को। बाजिमेध कब कियो अजामिल, गज गायक कब साम को। छली मलीन हीन सब ही अँग, तुलसी सो छीन छाम को। नाम नरेस प्रताप प्रबल जग जुग जुग चलत चाम को। ६६।', 'पाथेयं यन्मुमुक्षोः सपदि परपदप्राप्तये प्रस्थितस्य। हनु० मं०।' (अर्थात् भगवत् प्राप्ति करनेमें शीघ्र-उद्योग करनेवाले मुमुक्षुओंका मार्गव्यय वा साधन है)। 'हरिधाम-पथि-संबलं...।' ४६ (७ ख) भी देखिए।

विना सम्बलवालोंका उदाहरण 'वैरागी' आजकल सर्वत्र देख लीजिये। वे विना खर्चके सारे भारतमें यात्रा कर आते हैं। कंट्रोल अन्न-नियन्त्रणके समय जब देशमें सब त्राहि-त्राहि कर रहे थे, विरक्त समाजको उत्तम-उत्तम पदार्थ ही भोजनको मिलता रहा है, यह केवल श्रीरामनामका प्रताप था।—यह लोककी बात हुई और परलोक तो विना विवेक वैराग्य आदिके नामसे ही बना बनाया है। यथा 'रोटी-लूगा नीकें राखै, आगेहुँ को बेद भाषै भलो होइहै तेरो तातें आनदु लहतु हौं। ७६।'

१ (ङ) 'सखा असहाय को' इति। भाव कि जिसका संसारमें कोई सहायक नहीं है, रामनाम ही के प्रभावसे उनको सहायक मिल

जाते हैं, रामनाम ही सहायक बनकर आ जाता है। सुग्रीव असहाय थे, विभीषणकी रक्षा रावणसे करनेवाला त्रिलोकीमें कोई न था, रामनाम ही उनका अवलंब था, जिससे श्रीरामजी उनके सहायक और सखा हुए। यथा 'लंक विभीषन, राज कपि, पति मारुति, खग मीच। लही राम सों नाम रति चाहत तुलसी नीच। दो० ३४।' श्रीप्रह्लादजीकी रक्षा रामनाम ही ने बराबर की।

इसी प्रकार जिसके माता, पिता, स्त्री. पुत्र, भाई-बन्धु, सखा, सेवक आदि कोई संगी-सहायक नहीं है, पर वह नामनिष्ठ है, तो आवश्यकता पड़नेपर उसके अनेकों सेवा करनेवाले हो जाते हैं।

वैजनाथजी आदिने लिखा है कि अनेकों उसकी शरण होकर सेवा करते हैं। मेरी समझमे श्रीमाधवदास जगन्नाथी, श्रीरघुनाथ गुसाईं, देवा पंडा आदि भक्तमालमे आये हुए अनेक भक्त 'असहाय' के उदाहरण हैं, भगवानने स्वयं उनकी सहायता की। गौनावाली माईने यही तो कहा था कि हमारे और अपने बीचमें ये 'राम' को कहते हैं तब बात मान लेना चाहिये, क्योंकि 'राम नाम' बड़ी दुर्लभ अमूल्य वस्तु है। आखिर ठगोंने पतिको मार डाला तब 'बीच दिये सो कहाँ राम कहि नारि पुकारी॥ आये शारंगपाणि शोकसागर ते तारी। दुष्ट किये निर्जीव सब, दास प्राण संज्ञा धरी॥ छ० ५५।' (भक्तमाल)।

टिप्पणी—२ 'भागु है अभागेहू को ..' इति। (क) भाव कि राम-नामनिष्ठको बिना कोई उपाय किये सब कुछ इतना मिल जाता है कि वह उससे औरोंका पालन करता है। (भ० स०)। 'भाग' के अष्ट अंगों (सुगंध, वनिता, वस्त्र, गीत, ताम्बूल, भोजन, भूषण और वाहन) से रहित अभागेको बिना किसी व्यापारके सब ऐश्वर्य पीछे लगा फिरता है। (वै०)।

मेरी समझमें 'अभागे' का आशय यह है कि जिसके ललाटमें विधाताने 'भाग्य' लिखा ही नहीं, ऐसा भी मनुष्य रामनामनिष्ठ होनेपर भाग्यवान् हो जाता है। यथा 'तुलसी प्रीति प्रतीति सों राम-नाम जप-जाग। कियें होइ बिधि दाहिनो, देइ अभागेहि भाग। दो० ३६।', 'सोच-संकटनि सोच-संकट परत, जर जरत प्रभाव नाम ललित ललाम को। बूड़ियो तरति, बिगरीयौ सुधरति बात, होत देखि दाहिनो सुभाव बिधि बाम को॥ भागत अभाग, अनुरागत बिराग, भाग जागत,

आलसी तुलसीहू से निकाम को। धाई धारि फिरि के गोहारि हितकारी होति, आई मीचु मिटति जपत रामनाम को। क० ७।७५।', 'चाटत रह्यों स्वान पातरि ज्यों कवहुँ न पेट भरो। सो हौं सुमिरत नाम सुधारस पेखत परसि धरो। २२६।'

२ (ख) 'गुन गुनहीन को' इति। विद्या, चातुरी, गान, कारीगरी आदि गुण जिसमें नहीं हैं, रामनामनिष्ठ हो जानेसे सब गुण उसमें आप ही आ जाते हैं। (वै०)। श्री भुशुण्डीजी तो कुछ विद्वान न थे, पर रामनामके प्रभावसे उनकी गणना वड़े-बडे धुरंधर ज्ञानियोंमें की गयी है। गरुड़का मोह आपहीने दूर किया था। (वि० ह०)। गोस्वामीजी अपने सम्बन्धमें कहते हैं—'रामनाम को प्रभाउ, पाउ महिमा प्रताप, तुलसी सो जग मानियत महामुनी सो। क० ७।७२।'

२ (ग) 'गाहक गरीब को' इति। यथा 'नाम गरीव अनेक नेवाजे। लोक बेद वर बिरिद बिराजे।१।२५।२।' गुह, निषाद, कोल, किरात, आदि गरीव थे, यथा 'गुह गरीब गत ज्ञातिहू जेहि जिउ न भखा को। १५२।' [कर्म-ज्ञान-उपासना-योग-यज्ञ आदि रूपी धन इनके पास न था। ऐसोंको भी नाम अपनाकर पवित्र कर देता है। (वै०)। जिससे कुछ भी न हो सके, ऐसेको भी ग्रहण कर लेता है। तात्पर्य कि अन्य साधन परिश्रम साध्य हैं और रामनामजपमें कुछ भी परिश्रम नहीं है। (भ० स०)। इसके उदाहरण सुदामाजी हैं। देखिए भगवान्ने रंक सुदामाका कैसा आदर किया।—'ऐसे वेहाल बिवाइन सों भये कंटकजाल लगे पुनि जोए। हाय महादुख पायो सखा, तुम आये इतै न किते दिन खोए। देखि सुदामा की दीन दसा, करुनाकरि कै करुनानिधि रोए। पानी परात को हाथ छुवो नहि, नयननि के जल सों पग धोए।' (वि० ह०)। पुनः भाव कि जिसके पास यज्ञादिके लिये दाम नही वह भी इसे जपकर यज्ञादिका फल पा लेता है। (भ०)]।

गरीवका ग्राहक कहनेमें भाव यह है कि अमीरों, धनी पुरुषों तथा वडी प्रतिष्ठावालोंका मन रामनाममें नहीं लगता; गरीबका मन रामनाममें खूब लगता है। इसीसे रामनामको 'गरीब' का ग्राहक कहा।

२(घ) 'दयाल दानि दीन को' इति। 'दीन' से यहाँ 'दरिद्रताके कारण दुःखी' अभिप्रेत है। यथा 'छाछीको ललात जे ते रामनाम के प्रसाद

खात खुनसात सोंधे दूधकी मलाई है। क० ७।७४।' [जिनका मान कोई नही करता ऐसे दीनोंका नामस्मरण करते ही दुःख दूर होता और सब प्रकारका सुख होता है।(वै०)] 'दयाल दानी' कथनका भाव कि बहुतेरे दानी दान देते तो हैं, पर याचक जितना दयाका पात्र है, उतनी दया उसपर नही करते। और, रामनाम महाराज भरपूर देते हैं और दया भी करते हैं तथा सम्मानपूर्वक देते हैं।

टिप्पणी—३ 'कुल अकुलीन को...' इति। (क) निषाद, शबरी, श्वपच आदि अकुलीन थे। यथा 'लोक बेद सब भाँतिहि नीचा। जासु छाँह छुइ लेइय सींचा॥ तेहि भरि अंक राम लघु भ्राता। मिलत पुलक परिपूरित गाता। २।१६४।३-४।', 'रामसखा रिषि बरबस भेंटा। जनु महि लुठत सनेह समेटा॥ २।२४३।६।' (कुलीनके भी भाग्यमें यह सम्मान कहाँ जो निषादको मिला।—'एहि सम निपट नीच कोउ नाहीं। बड़ बसिष्ठ सम को जग माहीं। २।२४३।८।')। शबरीकी जाति, यथा—'अधम जाति मैं जड़ मति भारी। ३।३५।२।', 'जातिहीन अघजन्ममहि० ।३।३६।', 'छलिन की छोंड़ी सो निगोड़ी छोटी जाति-पाँति, कीन्ही लीन आपु में सुनारी भोंड़े भील की। क० ७।१८।' उसका जो सम्मान किया वह पिता श्रीदशरथ महाराजके भी भाग्यमें न था। यथा 'सबरीके पास आपु चलि गए हौ सो सुनी मैं। क० ७।२१।' सन्त मंडलीको छोड़कर सीधे श्रीशबरीजीके आश्रममें गये। 'जाति पाँति कुल धर्म बड़ाई। धन बल परिजन गुन चतुराई।' ये मुझे रिझानेवाले नहीं, यह कहकर प्रभुने उसका सम्मान किया, उसके दिये हुये 'फल सुरस अति' की प्रशंसा करके खाए। दण्डकारण्यके ऋषिगण जो उसकी छाँह भी नहीं छूते थे, उनको उसके चरणामृतमें स्नान और उसीको पान करना पड़ा। सरका जल इसका अपमान करनेसे रक्त हो गया था, यह उनको तब ज्ञात हुआ जब इसको सम्मानपूर्वक ले जाकर इसके चरणका स्पर्श सरके जलको कराया गया और वह पूर्ववत् शुद्ध स्वच्छ हो गया। श्रीरामजीने उसका श्राद्ध भी किया; यथा 'मीत बालिबंधु पूत-दूत, दसकंधबंधु सचिव, सराध कियो सबरी जटाइ को। क० ७।२२।', 'गीध सवरी की कहौ करी है सराध को।१८०।' वाल्मीकि श्वपचके भोजन करनेपर युधिष्ठिरजीका यज्ञ पूर्ण हुआ। इनका आदर ब्रह्मर्षियोंसे भी अधिक हुआ।

[वैजनाथजी लिखते हैं कि 'शृङ्गी ऋषि मृगीपुत्र, व्यास केवट-कन्यासे, अगस्त्यजी कलशसे, मतङ्ग मातङ्गीसे, और पराशर चाण्डालीसे पैदा होनेसे अकुलीन ही थे, पर वे सब कुलीन माने गये।]

पं० रामकुमारजी अर्थ करते हैं कि "जिनके कुल अर्थात् पुत्र, कलत्र आदि नहीं है, उनके लिए रामनाम कुल है।"

३ (ख) 'सुने न कोउ माखिहै' इति। इस कथनका प्रयोजन आ पड़ा, इससे यह कहा। अकुलीनको कुलीनवत् माननेमें कुलीनोंको अमर्ष होता ही है। आज भी बड़े-बड़े कर्मकाण्डी कट्टर वर्णाश्रमी शबरीजी तथा वाल्मीकि श्वपचकी कथा सुनकर नाक-भौंह सिकोड़ने लगते हैं। उनसे नीचकुलोद्भव नामानुरागी भजनानन्दी महात्माओं-का मान सहा नहीं जाता।—इसीलिए कवि कहते हैं कि यह कथन यथार्थ है, इसपर चिढ़ियेगा नहीं। एक चाण्डाल (हत्यारा) और एक डोमारके सम्बन्धकी कथा ग्रंथकारकी जीवनीमें इसके ऐतिहासिक प्रमाण हैं।

रामनाममाहात्म्य तो श्रुतियोंमें भी ऐसा ही कहा गया है। यथा—'यश्चाण्डालोऽपि रामेति वाचं वदेत् तेन सह संवदेत् तेन सह-संवसेत् तेन सह संभुञ्जीयात्।'

अकुलीन रामभक्त क्यों कुलीन माना जाता है? क्योंकि राम-सम्मुख होनेसे, रामनाम लेनेसे उसके संचित और क्रियमान सभी पाप नष्ट हो जाते हैं। यथा 'सनमुख होइ जीव मोहि जबहीं। जन्म कोटि अघ नासहिं तबहीं।', 'करउँ सद्य तेहि साधु समाना।'—(ये स्वयं सत्यसंध श्रीरामजीकी प्रतिज्ञायें हैं)। रामभक्तका गोत्र भी अच्युत गोत्र हो जाता है। यह बात लोग न समझकर उसका, नीच कहकर, अपमान करते हैं। यही बात कविने अन्यत्र कही भी है। यथा "अति ही अयाने उपखानो नहि बूझैं लोग, साह ही को गोतु गोतु होत है गुलाम को। क० ७।१०७।"

३ (ग) 'पाँगुरे के हाथ पाय' इति। वैजनाथजीके मतानुसार वर्णा-श्रम पाँव हैं; वेदधर्म हाथ हैं। इन दोनोंसे हीन हैं अर्थात् वेदधर्म-कर्म वे कर नहीं सकते, इससे स्वर्गादि उत्तम लोकोंमें जानेकी उनको गति नहीं। ऐसे पंगुल रामनामके सहारे उत्तम गति पा जाते हैं, कठिन भवमार्गको पार कर लेते हैं। (वै०, भ०)। पूर्व ४६ (८)

में भी कहा है—'तेन तप्तं तेन दत्तमेवाखिलं तेन सर्वकृतं कर्मजालं। येन श्रीरामानामामृतं पानकृतं।' [श्रीभगवानसहायजी लिखते हैं कि लँगड़ेको परधामतक चले आने और लूलेको सब ऐश्वर्य लेनेकी शक्ति हो जाती है।]

हमने एक पंगुल स्त्रीको स्वयं देखा है कि दस बारह वर्ष नाम-जप करते-करते उसके हाथ-पैर बिना किसी औषधिके ठीक हो गये और वह स्वयं चलने फिरने सब काम करने लगी।—'नाम प्रभाउ सही जो कहै कोउ सिला सरोरुह जामो। २२८।'

३ (घ) 'आँधरे के आँखि है' इति। अंधे नामजापकको दिव्य नेत्र मिल जाते हैं, जिससे उसे परमेश्वरका स्वरूप दीखने लगता है, तब और की बात ही क्या? (भ० स०)। यही आँखकी सफलता है, सो उसे मिल जाती है। यही नहीं वह दूसरेके हृदयकी देख लेता है। आँखके काम नामप्रतापसे सब बिना आँखके पूरे हो जाते हैं, शास्त्र-के शास्त्र कंठ हो जाते हैं, इत्यादि। हालही में श्रीबच्चू सूर लाला गार्डके शिष्यको लोगोंने देखा ही है।

अंधेको नेत्र प्राप्त हो जाते हैं, इसमें भी आश्चर्य नहीं करना चाहिये। पुनः भाव कि ज्ञान और वैराग्य दो नेत्र माने गए हैं—'ज्ञान बिराग नयन उरगारी। ७।१२०।१४।' जो इन दोनों नेत्रोंसे हीन है, वे रामनाम-जपद्वारा ये दोनों नेत्र प्राप्त कर लेते हैं, अर्थात् वे ज्ञानी और वैराग्यवान हो जाते हैं।—यह अगले पद में कवि स्वयं कहते हैं—'राग रामनाम सों बिराग जोग जागिहै।'

टिप्पणी—४ (क) 'माय बाप भूखे को' इति। बालक माता-पिताके भरोसे निश्चिन्त रहता है। उसे अपने भरण-पोषणका किंचित् भी उपाय नहीं करना पड़ता। भूख लगी नहीं कि माताने उसे अविलंब भोजन दिया। बच्चेका उदास मुख, बच्चेके आँसू वह सह ही नहीं सकती। यही नहीं वह मचलता है तो माँको उसकी रुचि रखनी ही पड़ती है। यथा 'तुलसी सुखी निसोच राज ज्यों बालक माय बबा कें। २२५।', 'मेरे तो माय बाप दोउ आखर हौं सिसु अरनि अरो। २२६।', 'हौं माचल लै छूटिहौं जेहि लागि अर्यो हौं। २६७।'

'भूखे को माय बाप' कहनेका भाव कि नामजापकको अपने भरण-पोषण आदिकी चिंता नहीं करनी पड़ती, सब उपाय अपने आप हो जाता है। यथा 'सो हौं सुमिरत नाम सुधारस पेखत परसि

धरो। २२६।', 'फिर्यों ललात विनु नाम उदर लगि दुखउ दुखित मोहि हेरें। नाम प्रसाद लहत रसाल फल अव हौं ववुर वहेरें। २२७।'

स्मरण रहे कि पुत्रको भोजन करानेमें जैसा उत्साह और लाड़-प्यार प्रेम माँ-बाप और इनमें भी विशेषकर माँको होता है, वैसा दूसरेको नहीं, इसीसे भूखेके लिये माँ-बापका उदाहरण दिया।

प्राकृत माँ-वापसे श्रीरामनामरूपी माता-पितामें विशेषता भी है। बच्चा यदि कोई हानिकारक (कुपथ्य) माँगता है तो नाम-महाराज उसे न देंगे, प्राकृत मातायें दे भी देती हैं।

[भाव कि रामनाम अर्थार्थियोंकी सब आशायें पूरी करता है। अनेक देवताओंसे माँगते-माँगते थक गया, उसकी भूख नहीं गई, सो रामनामसे चली जाती है। (वै०)। भूखा रामके नामसे माँगकर पेट भर लेता है। (भट्टजी)]

४ (ख) 'अधार निराधार को' इति। 'निराधार' अर्थात् जो शोच स्रोतमें, दुःखसिन्धुमें डूब रहे हैं, जिनको कोई हाथ पकड़कर निकालनेवाला नहीं है, ऐसोंको भी रामनाम ही सहारा देनेवाला है। नामस्मरणसे कुसंकट दूर हो जाते हैं। यथा 'जपहिं नाम जन आरत भारी। मिटहिं कुसंकट होहिं सुखारी।१।२२।५।' गजेन्द्र इसका प्रमाण है—'पसु पाँवर अभिमानसिंधु गज ग्रस्यो आइ जब ग्राह। सुमिरत सकृत सपदि आये प्रभु हर्यो दुसह-उर दाह।१४४।' कोई भी देवता उसका सहायक न हुआ। यथा 'तापस को वरदायक देव, सबै पुनि वैर वढ़ावत बाढ़े। थोरेहि कोप कृपा पुनि थोरेहि वैठिके जोरत तोरत ठाढ़े। ठोंकि वजाय लखे गजराज, कहाँ लौं कहौं केहि सों रद काढ़े। आरत के हित नाथ अनाथ के राम सहाय सही दिन गाढ़े। क० ७।५४।'

४ (ग) 'सेतु भवसागर को' इति। 'सेतु' का भाव कि नामजपसे विना श्रमके भव पार हो जाता है। यथा 'अति अपार जे सरित वर जौं नृप सेतु कराहिं। चढ़ि पिपीलिकउ परम लघु विनु श्रम पारहिं जाहिं।१।१३।' इसी भावसे जाम्बवान्‌जीने कहा है—'नाथ नाम तव सेतु नर चढ़ि भवसागर तरहिं। लं० मं०। यह लघु जलधि तरत कति वारा।'

पद ६६ में नामको 'निज नाव' कहा था। नावको जलचरों तथा तीव्र धारा और भँवर आदि की बाधायें हो सकती हैं।

अतएव इस पदमें नामको सेतु कहा। माँगुरेको हाथ पाँव मिले, दूसरे अब वह पैरों पैरों सेतु द्वारा सागरको पार कर सकता है। और

पुनः 'सेतु' कहनेका भाव कि भवसागरके रहते ही, उसका आनन्द लेते हुए भी, रामनाम जापक सुगमतासे पार हो जाते हैं। सेतु द्वारा छोटे से छोटा जीवजन्तु, लँगड़े लूले आदि भी पार हो जाते हैं, वैसे ही समस्त साधनहीन मनुष्य भी रामनाम द्वारा भवसिन्धु पार कर लेते हैं।

४ (घ) 'हेतु सुखसारको' इति। वेदान्तशिरोमणि श्रीरामानुजाचार्य के मतानुसार 'हेतु सुखसारको' = 'भगवत्-प्राप्तिका हेतु अर्थात् उपाय है।' अथवा 'सुखसार' = तत्सुख-सुखी सेवा कैङ्कर्यके हेतु वर्धक है।

'सुखसार' का अर्थ टीकाकारोंने भिन्न-भिन्न किया है—

(१) हरिशरणागति जो सुखसे भरा हुआ मन्दिर है। भाव कि नाम-स्मरण जीवको शरणागतिमें पहुँचा देता है जहाँ पहुँचने पर जीव सब प्रकार सुखी रहता है। (वै०)। यथा 'सुखी मीन जे नीर अगाधा। जिमि हरिसरन न एकउ बाधा। ४।१७।१'

(२) ब्रह्मानंद; ब्रह्मसाक्षात्कारसे जो आनन्द प्राप्त होता है। (यह अर्थ शब्दार्थमें दीनजीने दिया है)। मोक्ष—(यह अर्थ भावार्थमें दिया है)। (दीन)।

(३) ब्रह्मानंद। (वि०)। (४) मुक्ति। बिना रामनामके मुक्ति नहीं होती। (भ०)। (५) भगवत्प्राप्ति। (पो०)। (६) सुखके सारतत्त्व भगवान् हैं, क्योंकि उन्हींसे सबको सुख प्राप्त होता है। नामजप भगवान् श्रीरामजीकी प्राप्तिका कारण है और नामजपसे वैसा परम सुख प्राप्त भी होता है। यथा 'मम गुनग्राम नामरत गत ममता मद मोह। ताकर सुख सोइ जानइ परानंद संदोह। ७।४६।' (श्री० श०)। (७) समस्त सुखोंमें जो मुख्य सुख है, वह रामप्राप्ति है। (पं० रा० व० श०)।

इनमेंसे हरिशरणागति और भगवत्प्राप्ति दोनों अर्थोंसे यह दीन सहमत है। ब्रह्मानन्दको सुखसार नहीं कह सकते; क्योंकि भगवत्-दर्शनके सुखके आगे वह तुच्छ हो जाता है। यथा 'इन्हहि बिलोकत अति अनुरागा। बरबस ब्रह्म सुखहि मन त्यागा ।१।२१६।५', 'जेहि

सुख लागि पुरारि असुभ वेष-कृत सिव सुखद। अवधपुरी नर नारि तेहि सुख महँ सतत मगन। सोई सुख लवलेस जिन्ह बारक सपनेहु लहेउ। ते नहि गनहिं खगेस ब्रह्मसुखहि सज्जन सुमति।७।८८।'

मोक्ष भी सुख है, पर वह सुखसार नहीं है; क्योंकि वह विना हरि भक्तिके टिक नहीं सकता। यथा 'जिमि थल बिनु जल रहि न सकाई। कोटि भाँति कोउ करै उपाई॥ तथा मोच्छ सुख सुनु खगराई। रहि न सकइ हरि भगति बिहाई।७।११६।५-६।'

'सुखसार' से हम गीता ६।२१ में कहे हुए 'सुखमात्यन्तिकं यत्तद् बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्।' इस इन्द्रियोंसे अतीत, केवल एक आत्मविषयक बुद्धिसे ही ग्रहण होनेवाले आत्यन्तिक सुखको ले सकते है। यह वह सुख है जिसे पाकर योगी फिर उससे अधिक और कोई लाभ नहीं समझता,–'यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।श्लो०२२।' वह योगी आत्मा (मन) से आत्माको ही देखता हुआ अन्यकी अपेक्षा (प्रतीक्षा) न करके आत्मामें ही सन्तुष्ट हो जाता है।— "आत्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति।२०।"—यह अतीन्द्रिय आत्यन्तिक सुख, आत्मसाक्षात्कारमें स्थिति 'सुखका सार' है, यह श्रीरामनामसे प्राप्त हो जाता है—यह 'हेतु सुखसार को' कहकर जनाया। यही जीवन्मुक्तावस्था है।

पद १३६ में जो कहा है—'निर्मल निरंजन निर्विकार उदार सुख तैं परिहरयो।' यह भी 'सुखसार' ही है।

[म० भा० शान्ति० २५१।१२ में व्यासजी कहते हैं कि 'तपस्याका सार है त्याग, त्यागका सार है सुख, सुखका सार है स्वर्ग' – 'सुखस्योपनिपत् स्वर्गः।' यदि यह अर्थ लें तो अर्थ होगा कि रामनाम स्वर्ग (वैकुण्ठ) की भी प्राप्तिका हेतु है] पं० जानकीनाथशर्माका मत है कि 'सुखसार' का अर्थ 'परमानन्दस्वरूप मोक्ष' होना चाहिये।

टिप्पणी – ५ (क) 'पतितपावन रामनाम सों न दूसरो' इति।

(१) जितनी शक्ति पापसमूहोंके नाश करनेकी रामनाममें है, उतना पाप असंख्य जन्मोंमें भी कोई कर ही नहीं सकता।

(२) केवल उच्चारण वा स्मरणमात्रसे संचित और क्रियमाण सभी पापोंका नाश हो जाता है। ऐसा सुगम और सहज साधन दूसरा नहीं।

(३) नामकी तो बात ही क्या, उसके तो आभासमात्रसे पाप-मुक्त होकर जीव परमधामको प्राप्त हो जाता है।

(४) असंख्यों तीर्थ भी वैसा पावन नहीं कर सकते जैसा नाम महाराज कर देते हैं। लोकमें देखनेमें आता ही है कि अन्त्यज चारों धाम, समस्त तीर्थ कर आवे, पर उसका आदर ब्राह्मण एवं वैरागी समाज नहीं करता; किन्तु नामजापकका आज भी सर्वत्र आदर होता है।

इत्यादि कारणोंसे स्पष्ट ही नामके समान दूसरा पतितपावन नहीं ठहर सकता। उदाहरण क्रमशः नीचे दिये जाते हैं—

(१) 'न तादृशं महाभाग पापं लोकेषु विश्रुतम्। यादृशं विप्र-शार्दूल रामनाम्ना विदह्यते। श्रीरामनामसामर्थ्यमतुलं विद्यते द्विज। नहि पापात्मकस्तावत्पापं कर्तुं क्षमः क्षितौ।' (बौद्धायन सं० शुकवाक्य पिंगला प्रति)। पुनश्च यथा 'नाम्नोऽस्य यावती शक्तिः पापनिर्दहने मम। तावत् कर्तुं न शक्नोति पातकं पातकी जनः॥ स्कंद पु० वै० मार्ग० मा० १५।५३।'

(२) राम राम कहि जे जमुहाही। तिन्हहिं न पापपुंज समुहाही।२।१९४।५।', 'विवसहु जासु नाम नर कहही। जनम अनेक रचित अघ दहही १।११९।३।', 'नाम लेत भवसिंधु सुखाही। करहु विचार सुजन मन माही।१।२५।४।' 'नामोच्चारणमात्रेण महापापात्प्रमुच्यते।' (प० पु० उ० ७२।२०)।

(३) 'वेदविदित जग-विदित अजामिल विप्रबंधु अघधाम। घोर जमालय जात निवार्‌यो सुत हित सुमिरत नाम। १४४।' (इसने अपने पुत्र नारायणको पुकारा था। भगवान्‌को नहीं।)

(४) 'तीरथ अमित कोटि सम पावन। नाम अखिल अघ पूग नसावन।७।९२।२।', 'कुरुक्षेत्रं तथा काशी गया वै द्वारका तथा। सर्व तीर्थं कृतं तेन नामोच्चारणमात्रतः।' (प० पु० उ० ७२।२२)। अर्थात् (राम-राम-राम-राम इस प्रकार बारंबार) जप करनेवालेने नामकीर्तन मात्रसे कुरुक्षेत्र, काशी, गया और द्वारका आदि सम्पूर्ण तीर्थोंका सेवन कर लिया।

पुनः, 'पतितपावन न दूसरो' का भाव कि अन्य साधन सुकृती जीवोंको एवं जो पतित नहीं हैं उनको पावन करते हैं, पर पतितोंको पावन करनेवाला रामनामके समान दूसरा नहीं। (भ० स०)।

☞ प० पु० प्रा० ३७ में श्रीआरण्यक मुनिने श्रीरामनामकी महिमाका वर्णन करते हुए कहा है कि 'शास्त्रोंके ज्ञानसे रहित मूढ़ मनुष्य भी यदि आपके नामका स्मरण करता है तो वह संपूर्ण महापापोंके महासागरको पार करके परम पदको प्राप्त होता है। सभी वेदों और इतिहासोंका यह स्पष्ट सिद्धान्त है कि रामनामका जो स्मरण किया करता है वह पापोंसे उद्धार करनेवाला है। ब्रह्महत्या जैसे पाप भी तभी तक गर्जना करते हैं जबतक आपके नामोंका स्पष्टरूपसे उच्चारण नहीं किया जाता। आपके नामोंकी गर्जना सुनकर महापातकरूपी गजराज कहीं छिपनेके लिये स्थान ढूँढ़ते हुये भाग खड़े होते हैं। महान् पाप करनेके कारण कातर हृदयवाले पुरुषोंको तभी तक पापका भय बना रहता है जबतक वे अपनी जिह्वासे परम मनोहर रामनामका उच्चारण नहीं करते। यथा—'त्वन्नामस्मरणान्मूढः सर्वशास्त्रविवर्जितः। सर्वपापाब्धिमुत्तीर्य स गच्छेत्परमं पदम्॥ सर्ववेदेतिहासानां सारार्थोऽयमिति स्फुटम्। यद्रामनामस्मरणं क्रियते पापतारकम्॥ तावद्गर्जन्ति पापानि ब्रह्महत्यासमानि च। न यावत्प्रोच्यते नाम रामचन्द्र तव स्फुटम्॥ त्वन्नामगर्जनं श्रुत्वा महापातककुञ्जराः। पलायन्ते महाराज कुत्रचित्स्थानलिप्सया। ५०-५३। तावत्पापभियः पुंसां कातराणां सुपापिनाम्। यावन्न वदते वाचा रामनाम मनोहरम्। ५६।'

इसमेंके 'मूढः सर्वशास्त्रविवर्जितः' और 'कातराणां' में 'दीन', 'पाँगुरे', 'आँधरे' और 'गरीब' भी आ जाते हैं।

५ (ख) "सुमिरें सुभूमि भयो तुलसी सो ऊसरो" इति। ऊसर भूमिमें तृण, वृक्ष, अन्न आदि कुछ पैदावार नहीं होती, वह निकम्मी समझी जाती है। यथा—'ऊसर बरषै तृन नहिं जामा। ४।१५।१०', 'ऊसर बीज बये फल जथा। ५।५८।४', 'ऊसर को सो बरसो। २६४।' रामनामके प्रभावसे ऊसर भी उपजाऊ भूमि हो जाती है; यथा 'साहिब सरनपाल सबल न दूसरो। तेरो नाम लेत ही सुखेत होत ऊसरो। १८०।', 'सूर सिरताज महाराजनिके महाराज, जाको नाम लेत ही सुखेत होत ऊसरो। क० ७।१६।'

'सुमिरें' का भाव कि पहले मैं स्मरण नहीं करता था, तब ऊसरके समान था। जब नाम स्मरण करने लगा तब वही मैं सुभूमि बन गया।

५ (ग) ऊसरसे सुभूमि हो गए। भाव कि पहले मेरी बुद्धिमें शास्त्रविहित धर्मकर्मरूपी तृण भी नहीं उगता था, पर अब रामनामस्मरणके प्रभावसे उसी बुद्धिमें ज्ञान, भक्ति, वैराग्य आदि सबकी बड़ी-चड़ी खेतियाँ लहलहाने लगीं, प्रेम-भक्तिरूपी उत्तम शालि उससे उत्पन्न होने लगा। (वै०, भ०, वि०, प्रो०)। पुनः, सुभूमि का भाव कि वाल्मीकिका अवतार, महामुनि, जगद्गुरु, लोकपूज्य, संसारके महाकवियोंमे श्रेष्ठ, गोस्वामी आदि माने जाने लगे, यथा—'केहि गिनती महँ गिनती जस वन घास। राम जपत भए तुलसी तुलसीदास। बरवै ५६।', 'जाति के सुजाति के कुजाति के पेटागिबस खाए टूक सबके बिदित बात दुनी सो। मानस बचन काय किये पाप सतिभाय, राम को कहाइ दास दगाबाज पुनी सो। रामनाम को प्रभाउ पाउ महिमा प्रताप, तुलसी सो जग मानियत महामुनी सो।...क० ७।७२।', 'तुलसो गुसाईं भयो..।' (बाहुक)।

श्रीदीनजीका मत है कि "गोस्वामीजी पहले रामप्रेमी नहीं थे। एक बार जब उनकी स्त्री—उनके विना पूछे (क्योंकि वे प्रेमवश उसे जानेकी आज्ञा नहीं देते थे)—अपने मैके चली गई तब ये भी वहाँ पहुँच गए। इस पर उनकी स्त्री बहुत लज्जित हुई और उसने यह दोहा गोस्वामीजीके सामने कहा—'अस्थि-चरममय देह मम, तामें जैसी प्रीति। ऐसी जो श्रीराम महँ, होति न तौ भव भीति॥'

यह दोहा गोस्वामीजीको ऐसा लगा कि वे तुरत वहाँसे चल पड़े और साधु हो गये। फिर तो भगवद्भजनके प्रभावसे ये ऐसे बड़े रामप्रेमी और साधु हुए कि रामचरितमानस और विनयपत्रिका सदृश ग्रन्थरत्न लिख डाले।"

५ (घ) 'तुलसी सो' इति। यहाँ निश्चित सिद्धान्त कहकर कि पतितोंको पावन करनेवाला रामनामके समान दूसरा नहीं है, उदाहरणमें अपनेको ही देते हैं कि प्रत्यक्ष प्रमाण मुझको ही देख लो। प्रत्यक्ष प्रमाण प्रबल प्रमाण है।

श्रीसीतारामचन्द्रार्पणमस्तु।

७० (भैरव—रा०)

भलो भली भाँति है जौ[1] मेरे कहे लागिहै।
मन राम नाम सों सुभाय अनुरागिहै॥ १॥
रामनाम को प्रभाउ[2] जानि[3] जूड़ी आगि है।
सहित सहाय कलिकाल भीरु भागिहै॥ २॥
राग रामनाम सों विराग जोग जागिहै।
बाम विधि भालहू न करम दाग दागिहै॥ ३॥
राम नाम-मोदक सनेह[4]-सुधा पागिहै।
पाइ परितोष तू न द्वार-द्वार बागिहै॥ ४॥
कामतरु[5] राम नाम जोइ जोइ माँगिहै।
तुलसी[6] स्वारथ परमारथ[7] न खाँगिहै॥ ५॥

शब्दार्थ—भलो=भला, अच्छा। भली=अच्छी। भली-भाँति=सब प्रकारसे, पूर्णरीत्या। कहे=कहनेमें। कहा=कथन; उपदेश; कही हुई बात। यथा 'बान-प्रताप जान मारीचा। तासु कहा नहिं मानेहि नीचा। ६।२५।६।' लागिहै=लगेगा; प्रवृत्त वा तत्पर होगा; चलेगा। सुभाय=स्वाभाविक; सहज ही। जूड़ी=ठंडी; तापके साथ जो देहको कँपानेवाला जाड़ा आता है। भीरु=कायर। =डरकर—(दीनजी आदि)। जागिहै=जागृत होंगे, चमक उठेंगे। बाम=

१ जौ—रा०। जौ—७४। जो—औरोंमें। २ प्रभाउ—रा०, ह०, ज०, १५, ७४, भ०। प्रभाव—भा०, वे०, प्र०, ५१। ३ जानि—रा०, भा०, वे०, प्र०, ह०, ५१, भ०, वि०। जानु—ज०, १५, ७४, दी०, श्री० श०। जान—७४। ४ सनेह-सुधा—रा०, भ०, ड०, मु०, दी०, वै०, वि०। सुधा-सनेह—भा०, वे०, प्र०, ह०, ज०, १५। ५ कामतरु रामनाम—रा०, भा०, वे०, प्र०, ५१, मु०, ड०, वै०, दी०। रामनाम कामतरु—ह०, १५, ७४, भ०, ज०, वि०, पो०। ६ तुलसी—रा०, ७४। तुलसिदास—भा०, वे०, मु०, ह०, ज०, वि०, वै०। तुलसीदास—भ०, दी०, ज०। ७ परमारथ—रा०, ५१, मु०, दी०, ड०, वि०, वै०। परमारथौ—भा०, प्र०, ह०, १५, भ०। परमारथो—ज०, वै०।

उल्टे; प्रतिकूल। कर्मदाग=कर्मरेख (जो ललाटपर विधाता लिखते है); भाग्य की लिखन। दागना=अंकित करना, दग्ध करना, कर्मका चिह्न बनाना। मोदक=लड्डू। पागिहै=पागेगा। पागना=मीठी चाशनीमें सानना वा डुवाना। परितोष=पूर्ण सन्तोष; तृप्ति।=वह प्रसन्नता जो किसी विशेष अभिलाषा या इच्छा के पूर्ण होनेसे उत्पन्न हो। बागना=चलना; फिरना। यथा—'जागत बागत सपने न सुख सोइहै। ६८।' स्वारथ (स्वार्थ)=अपना सांसारिक हित, सुख वा प्रयोजन। परमारथ (परमार्थ)=परलोकका सुख। खाँगना=कम होना; घटना। खाँगिहै=घटती वा कमी होगी। खाँगी=कमी। यथा 'राखौ देह नाथ केहि खाँगे।३।३१।७।'

पद्यार्थ—हे मन! यदि तू मेरे कहनेमें लगेगा, स्वभावसे ही रामनाममे अनुराग करेगा, तो तेरा भला भली प्रकार होगा।१। रामनामका प्रभाव 'जूड़ी आग' है, यह जान कायर कलिकाल सहायकों सहित भाग जायगा।२। रामनामसे प्रेम करनेसे वैराग्य और योग जागृत होंगे अर्थात् इनको प्राप्तिके लिए तुझे अन्य किसी साधनकी अपेक्षा (आवश्यकता) न होगी। वाम विधाता भी तेरे ललाटपर (तेरे शुभाशुभ) कर्मोंकी रेखायें न अंकित कर सकेंगे।३। यदि तू रामनामरूपी लड्डूको प्रेमरूपी अमृत (रस या शीरे) में पाग लेगा तो (उसे खानेपर) परम सन्तोष पाकर तू द्वार-द्वार न (माँगता) फिरेगा।४। तुलसीदासजी कहते है कि (वा, हे तुलसीदास!) रामनाम कल्पवृक्ष है, उससे जो-जो भी तू माँगेगा, स्वार्थ (सांसारिक सुख) और परमार्थ किसी की भी तुझे कमी न होगी।५।

टिप्पणी—१ (क) 'भलो भली भाँति है'—'भली भाँति भलो' ही को अन्तमें स्पष्ट किया है, कि 'स्वारथ परमारथ न खाँगिहै'। मानसमें 'लोक लाहु परलोक निबाहू।१।२०।२' में भी यही कहा है। 'भली भाँति' से जनाया कि लोकमें सुख, मान, प्रतिष्ठा, बड़ाई, ऐश्वर्य आदि जो-जो चाहेगा भरपूर मिलेगा, और परलोक भी डंकेकी चोटपर बनेगा। (ख) 'मेरे कहे' का भाव कि अभीतक जन्म-जन्मान्तरमे तू विषयोंके कहनेमें लगा रहा; यथा 'यों मन कबहुँ तो तुम्हहिं न लाग्यो। ज्यों छल छाँड़ि सुभाय निरंतर रहत बिषय अनुराग्यो। १७०।'; अब विषयोंके कहेमें न लगकर मेरे कहेमें लग जा। (ग) 'सुभाय अनुरागिहै'—जो स्वभाव जन्मसे होता है, वह प्रायः छूटता

नहीं। मनुष्य पूर्वजन्मोंके अभ्याससे स्वाभाविक ही विषयोंमें अनुरक्त रहता है। स्वाभाविक प्रेम कर, अर्थात् छल-कपट छोड़कर; जैसे विषयोंमें निरन्तर आसक्त रहता है, वैसा ही प्रेम रामनाममें कर। यथा 'जेहि सुभाय विषयन्हि लग्यो तेहि सहज नाथ सों नेह छाँड़ि छल करिहै। २६८।', 'ज्यों छल छाँड़ि...। १७०।' जिसका जो स्वभाव होता है, उसके किये बिना उससे रहा ही नहीं जाता; इसी तरह रामनामके बिना तुझसे रहा न जाय, ऐसा प्रेम कर।

टिप्पणी—२ (क) 'जूड़ी आगि' के भाव टीकाकारोंने भिन्न-भिन्न लिखे हैं—(१) प्रभावको जूड़ी (ठंडी) आग जान। भाव कि देखनेमें तो इसमें किसी प्रकारका ताप नहीं देख पड़ता, पर निषेधरूप जो कलिकाल है वह सहाय सहित डरकर भागता है; अर्थात् रामनामाश्रयी जीवोंको यदि ग्रहण करे तो जल जायगा। जैसे पाला सबको शीतल प्रतीत होता है, पर लता-वृक्ष आदिको जला डालता है। वैसे ही रामनाम सबको शीतल है, पर कलिकाल मात्रको अग्निरूप होकर जला डालता है। (बाबू शिवप्रकाशजी)। अथवा, (२) शीतसे जो कंप होता है, उस जूड़ीको जैसे आग दूर करती है, वैसे ही जूड़ीसदृश कलिकालको रामनामरूपी अग्नि नाश करता है। (शिवप्रकाश)।

(३) चरखारीटीकाकार अर्थ करते हैं—"प्रभाव जान कि आग भी शीतल हो जायगी और स्मरण करनेवालोंके पापोंको जला देती है।"

(४) बाबा हरिहरप्रसादने 'जान कि जूड़ी आगि है' यह अर्थ किया है।

(५) बैजनाथजीने भी 'पाला' अर्थ करके भाव यह लिखा है कि रामनामके स्मरणसे रामविरहरूप पाला उत्पन्न होकर पाप कर्मोंके वनको समूल सुखा देता है। फिर वह विषयसंगरूपी जल पाकर भी हरा नहीं हो पाता।

☞ अन्य आधुनिक टीकाकारोंने प्रायः ऊपर (२) में दिये हुए भावको अपने शब्दोंमें दिया है।

(६) लाला भगवानदीनजी 'जूडी' का अर्थ 'ठंडक, सर्दी' करते हैं और पदका अर्थ करते हैं कि 'रामनामके प्रभावको वैसा ही जान जैसे ठंढकपर आगका प्रभाव है। अर्थात् जैसे अग्निके निकट जाड़ा

नहीं फटकने पाता, वैसे ही रामनामके प्रभावसे कलियुग अपने सहायकोंके साथ डरकर भाग जायगा।'

(७) पं० रामकुमारजी अर्थ करते हैं—'रामनामका प्रभाव जूड़ी आग है, ऐसा जानकर...। अर्थात् जीभको वह नहीं जलाती, कलिकालको जलाती है, जैसे पाला।'—आशय यह जान पड़ता है कि जीभके लिए ठंडी है और कलिकालके लिए अग्निरूप है।

प्राचीन पोथियोंमें प्रायः 'जानि' पाठ है। आधुनिक टीकाओंमें प्रायः 'जानु' है। गोस्वामीजीके प्रयोगानुसार 'जानि' के दो अर्थ होते हैं—जानकर और जानो। पहला अर्थ लेनेसे अर्थ होगा—'रामनामका प्रभाव जूड़ी आग है यह जानकर कायर कलिकाल सहायकों सहित भाग जायगा।'

'जानु' पाठसे अर्थ होगा—'रामनामका प्रभाव जूड़ी आग है, ऐसा जान। इससे कायर...'।

२ (ख) 'सहित सहाय कलिकाल भीरु...' इति। (१) 'सहित सहाय'—कलिकालके सहाय काम, क्रोध, लोभ, मद, मान, मत्सर, कपट, दम्भ, पाखण्ड, मोह, असत्य भाषण, द्यूत, मद्यपान, स्त्रीसंग, हिंसा और वैर इत्यादि हैं। (२) 'भीरु' का अर्थ कायर, डरपोक इत्यादि है, पर कुछ टीकाकारोंने 'डरकर' अर्थ किया है। कलिकालको 'भीरु' विशेषण देनेका भाव कि रामनामके प्रभावसे वह ऐसे भाग जाता है, जैसे कोई डरपोक भाग जाय। स्मरण रहे कि कायर अपनेसे प्रबलका सामना नहीं कर सकता, सामने तो वह डरता है, छलसे ही प्रबलके साथ काम करता है। जैसे जब परीक्षित् महाराजने उसे मारना चाहा, तब वह भयसे विह्वल होकर उनके चरणोंपर त्राहित्राहि करता हुआ गिरा; यथा 'तत्पादमूलं शिरसा समागाद् भयविह्वलः। भा० १।१७।२९।' पीछे उनसे रहनेके लिये कई स्थान माँग लिये और अवसर पाकर उनके साथ छल किया। पर रामनाम महाराज तथा उनके सेवकोंके साथ उसका छल नहीं चल पाता; यथा—"कालनेमि कलि कपटनिधानू। नाम सुमति समरथ हनुमानू॥ रामनाम नरकेसरी कनककसिपु कलिकाल। जापक जन प्रह्लाद जिमि पालिहि दलि सुरसाल। १।२७।"—यह भाव दरसानेके लिये 'जानि जूड़ी आगि' 'भागि है' कहा।

टिप्पणी—३(क)–'राग रामनाम सों विराग जोग जागिहै' इति। ऊपर 'मन रामनाम सों सुभाय अनुरागिहै' जो कहा है, 'राग' से यहाँ वही स्वाभाविक अनुराग अभिप्रेत है। रामनामानुरागसे वैराग्य और योग जागृत होंगे, उनका उदय होगा, वे स्वतः हृदयमें एकमात्र इसी साधनसे तुझे प्राप्त हो जायँगे, अन्य किसी भी साधनकी अपेक्षा न होगी। धर्मसे वैराग्य और योगसे ज्ञान होता है; यथा 'धर्म ते बिरति जोग ते ज्ञाना। ३।१६।१।' यहाँ योगका प्रस्फुटित होना कहकर ज्ञानका होना भी जना दिया। और यह भी जना दिया कि श्रीरामनामानुराग सबसे प्रधान धर्म है। भा० ६।३ मे धर्मराजने यही बात दूतोंसे कही है—'एतावानेव लोकेऽस्मिन्पुसां धर्मः परः स्मृतः। भक्तियोगो भगवति तन्नामग्रहणादिभिः। २२।' अर्थात् इस लोकमें भगवानके नामोच्चारणादिके सहित किया हुआ भक्तियोग ही मनुष्यका सबसे प्रधान धर्म माना गया है।

☞ इससे रामनामका माहात्म्य दिखाया है। पद्म पु० उत्तरखण्डमें लिखा है कि देवर्षि नारदने भक्ति देवीके पुत्रों ज्ञान और वैराग्यको (जो बूढ़े और जराजीर्ण हो जानेके कारण गाढ़ सुषुप्तावस्थामें पड़े थे) वेदध्वनि, वेदान्तघोष और बारंबार गीता-पाठ करके जगानेका प्रयत्न किया। वे दोनों बहुत जोर लगाकर किसी तरह उठ तो गये, किन्तु आँख खोलकर देख न सके, वे जँभाई लेते रहे। उनकी नींद न गयी। (भा० माहात्म्य २।२५-२८)। नारदजीने यह बात श्रीसनकादिकजीसे भी कही है। यथा 'वेदवेदान्तघोषैश्च गीता-पाठैः प्रबोधितम्। भक्तिज्ञानविरागाणां नोदतिष्ठत्त्रिकं यदा।' (भा० माहा० २।६४)। 'यदा' का पाठान्तर 'महत्' है। जो काम वेद-वेदान्तघोष और गीतापाठसे नहीं हो सका, वह 'रामनाम' के अनुरागसे हो जाता है। कारण कि रामनाम वेदों-श्रुतियों आदिका सार है, प्राण है। सार होनेके कारण उनसे अधिक मधुर और विशेषफलप्रद है।

३ (ख)–'बाम बिधि भालहू न कर्मदाग दागिहै' इति। इसका मुख्य भाव तो यह है कि रामनामानुरागी विधाताके अधिकारसे निकल जाता है। विधाताको उसके शुभाशुभ कर्मोंका फल देने या कर्मफलभोगके अंक भक्तके ललाटपर अंकित करनेका अधिकार

नहीं रह जाता। वह अधिकार स्वयं श्रीरघुनाथजीके हाथोंमें चला जाता है। दूसरे, नामानुरागीके शरीर छूटनेपर उसकी मुक्ति हो जाती है, रामनामके प्रभावसे वर्तमान प्रारब्ध भोग-शरीरका भोग पूरा होते ही पूर्वके संचित और क्रियमान कर्म भस्म हो जाते हैं। यदि किसी कारणसे पुनर्जन्म भी हुआ तो भी वह विधाताके अधिकार से बाहर ही रहता है। प्रमाणमें हम यमराजके 'प्रभुरहमन्यनृणाम-वैष्णवानाम्। वि० पु० ३।७।१४।' (अर्थात् जो विष्णुभक्त नहीं हैं ऐसे अन्य पुरुषोंका ही मैं स्वामी हूँ) इस वाक्यको ले सकते हैं। विष्णु धर्मोत्तर महापुराणमें भी कहा है—'पृथ्वीशतस्करभुजङ्ग-हुताशविप्रदुःस्वप्नदुष्टग्रहमृत्युसपत्नजातम्। संविद्यते न हि भयं भुवनेशभर्तुः भक्ताश्च ये मधुरिपोः मनुजेषु तेषु।२।१२।३५।'

पुनः, साधारण भाव यह है कि 'विधाता यदि नामानुरागीके प्रतिकूल भी हो, तो भी उसके भालको कर्मदागसे न दागेगा।' अर्थात् वह भी वामसे दाहिना, प्रतिकूलसे अनुकूल हो जायगा। 'दाग' इससे कहा कि दुष्कर्मोंका फल बुरा होता है, ऐसे कर्मोंके अंक मनुष्यके लिये कलंक, धब्बा वा दाग ही हैं। दाग=कुअंक।

[बैजनाथजी—भाव यह है कि 'पूर्व दुष्कर्मोंका फल भोगनेको जो ब्रह्माने टेढ़े होकर तेरे मस्तकमें लिख दिया था, विधिके उन अंकोंका फल तुझे न भोगना पड़ेगा।'

वि० हरिजी—"(कहा भी है कि 'मेटत कठिन कुअंक भाल के') अर्थात् उसके प्रभावसे तेरे प्रारब्ध, संचित और क्रियमाण समस्त कर्म क्षीण हो जायँगे।"

दीनजी—अर्थात् तू कर्मबन्धनसे छूट जायगा।

श्री भगवान सहायजी—भाव कि जिसने सुकृत नहीं किये, उसको ब्रह्मा वाम होते हैं; किन्तु रामनामावलम्बीके भाग्यमें वे नरक आदिका दुःख नहीं लिख सकते।]

टिप्पणी—४ (क) 'रामनाम मोदक सनेह-सुधा पागिहै'—अर्थात् स्नेहपूर्वक रामनाम जपेगा। लड्डू शकरकी चाशनी बनाकर उसमें पागे जाते हैं। बैजनाथजीने इसका विस्तृत रूपक दिया है जो इस प्रकार है—

"लड्डू बेसन, रवा, मूँग आदिके बनाये जाते हैं। बूँदीके लड्डू विशेष प्रसिद्ध हैं। बनानेकी विधि यह है—बेसन अधिक हो और

थोड़ा चौरीठा हो। जलमें दोनोंको घोलकर बूँदी घीमें छान (पका) ले। फिर चीनी आदिकी चाशनीमें पागके लड्डू बना ले। यहाँ रकार, अकार, मकार क्रमशः बेसन, चौरीठा और जल हैं। श्वास झाना है जिसमें बूँदी चुवाई जाती है। बुद्धि चूल्हा, विचार ईंधन, विराग अग्नि, चित्त कराह, रामसनेह घृत, विरह-तप्तमें नामोच्चारणरूपी बूँदी बनावे। रामरूपकी उपासना कंद (मिश्री), और प्रेम-अमृतसे स्वादिष्ट जलात्र बनाकर उसमें पाग ले। नाममें विश्वास होना "लड्डू है। उसे खानेसे परितोष होगा।"

४ (ख) 'पाइ परितोष तू न द्वार द्वार बागिहैं' इति। भाव कि आशाके वश होकर अबतक अनेक छोटे-छोटे मनोरथरूपी रोटीके टुकड़ोंके लिये सुर नर मुनि आदि नीच स्वामियोंके द्वार-द्वार दौड़ता रहा। यथा 'आस बिबस खास दास है नीच प्रभुनि जनायो। हा हा करि दीनता कही द्वार द्वार बार-बार परी न छार मुँह बायो।...२७६।' रामनाममें स्नेह हो जानेपर तुझे किसी मनोरथके लिये कहीं जाना न पडेगा, तू तृप्त हो जायगा। कामनाओंके रहते सुख नहीं होता, और बिना सन्तोषके कामनायें जाती नहीं।—'बिनु संतोष न काम नसाहीं। काम अछत सुख सपनेहुँ नाहीं।७।९०।१।'—इस प्रकार 'पाइ परितोष' कहकर जनाया कि तेरी समस्त सांसारिक विषयवासनायें, रामनामानुरक्तिके अतिरिक्त अन्य समस्त मनोवृत्तियाँ, निवृत्त हो जायँगी।

☞ गीतामें भगवान्ने जो आत्मविषयक योगमे लगे हुए संयतचित्त योगीके सुखके सम्बन्धमें कहा है, उसी अतीन्द्रिय आत्यन्तिक सुखकी प्राप्ति यहाँ गोस्वामीजीने 'पाइ परितोष' शब्दोंमें कह दी है।

वहाँ वह योगी आत्मा (मन) से आत्माका साक्षात्कार करता हुआ अन्यकी अपेक्षा न करके आत्मा ही में सन्तुष्ट हो जाता है—'यत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति।६।२०।' वह इन्द्रियातीत, केवल आत्मविषयक बुद्धिसे ग्रहण होनेवाले आत्यन्तिक सुखका अनुभव करता है। उसे प्राप्त कर उससे अधिक और कोई लाभ नही समझता, इसीसे फिर वह उस तत्वसे विचलित नहीं होता, उसीकी ही आकांक्षा करता है।—"सुखमात्यन्तिकं यत्तद् बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्।...यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः। गीता ६।२१,२२।'

इसी प्रकार रामनामानुराग-योगयुक्त होनेपर रामनामानुरागीको वैसा ही इन्द्रियातीत आत्यन्तिक सुख होता है कि फिर वह उसके सामने अन्य किसी लाभको लाभ नहीं समझता, निरन्तर नामानुराग की आकाङ्क्षा करता है, और क्या कहा जाय उस सुखके आगे फिर वह नामीकी भी परवाह नहीं करता। कविने आगे कहा ही है—'प्रिय रामनाम तें जाहि न रामो।२२८।'

श्रीभगवानसहायजी—भाव कि श्रीरामनाम मात्रसे परमेश्वरकी प्राप्तिरूपी तृप्ति हो जायगी, अन्य साधन न करना पड़ेंगे। अन्य साधनोंमें लगना द्वार-द्वार फिरना है।

टिप्पणी—५ 'कामतरु रामनाम... ' इति। 'कामतरु' का अर्थ ही कामनाओंका देनेवाला देववृक्ष है।—'मागत अभिमत पाव जग राउ रंक भल पोच।२।२६७।', 'तथा सुरद्रुमो यद्वदुपाश्रितोऽर्थदः। भा० १०।३८।२२।' (अर्थात् जो कल्पवृक्षको जिस भावसे सेवन करता है, उसे वह वैसा ही फल देता है)। 'जोइ जोइ माँगिहै' उसीकी व्याख्यामात्र है। जोइ-जोइ = जो-जो ही। यहाँ इस पदमें गोस्वामीजीने मनको संबोधित करके श्रीरामनामका प्रभाव कहा है। —'मन। रामनाम सों सुभाय अनुरागिहै'। और फिर उसीको 'तू' सर्वनामसे कहा है—'पाइ परितोष तू न द्वार द्वार बागिहै'। अतएव यहाँ 'जोइ-जोइ' का यही अर्थ इस दानका समझमें ठीक है।

पं० श्रीकान्तशरणका मत है कि "पहला 'जोइ' शब्द अधिकार-भेदका खण्डन करता है, अर्थात् चाहे कोई प्राणी हो, सभीको माँगनेका अधिकार है। दूसरा 'जोइ' शब्द वस्तुभेदका खंडन करता है; अर्थात् चाहे जिस वस्तुको माँगेगा, स्वार्थ और परमार्थमें किसी वस्तु की कमी नहीं है।"

श्रीसीतारामचन्द्रार्पणमस्तु।

७१ (३४) राग भैरव—रा०

ऐसेहु[1] साहिब[2] की सेवा तूं[3] होत चोरु रे।
आपनी न बूझि[4] न कहे को राड[5] रोरु रे॥ १॥

---

१ ऐसेहु—६६, ह०। असेहु—रा०, ज०। ऐसेहु—भा०, वे०, प्र०, ७४, आ०। ऐसेउ—भ०।

मुनि मन अगमु सुगमु माय[6] बापु सो[7]।
कृपासिंधु सहज सखा सनेही आपु सो[7] ॥ २।

लोक वेद-बिदित बड़ो न रघुनाथ सो[7]।
सब दिन सब देस सबहीं[8] के साथ सो ॥ ३ ॥

स्वामी सर्वज्ञ सो[9] चलै न चारी[10] चार की।
प्रीति पहिचानि[11] यह रीति दरबार की ॥ ४ ॥

काय न कलेसु लेसु, लेत मानि मन की।
सुमिरें[12] सकुचि[13] रुचि जोगवत जन की ॥ ५ ॥

रीझें[14] बस होत, खीझे देत निज धामु रे।
फलत सकल फल कामतरु नामु रे ॥ ६ ॥

बेचें खोटो दामु न मिलै, न राखें कामु रे।
सोउ[15] तुलसी निवाज्यौ ऐसो राजा रामु रे ॥ ७ ॥

---

२ साहिब—६६, रा०, मु०, ५१। साहेब—भा०, वे०, प्र०। साहब—दी०, वि०, भ०, पो०। ऐसेऊ रे मन साहिब सो—५१। ३ तु—६६, तूं—रा०, भ०। सों—भा०, वे०, प्र०, भ०, ७४, आ०। सो–१५। को—ह०। ४ आपनी न बूझि—६६, रा०, ५१, ७४, मु०, भ०, दी०। अपनी न बूझे—ह०। आपनो न बूझै—भा०, वे०, प्र०। ५ राड रोरु—६६। राडु रोडु—रा०। राडरोर—ह०, प्र०, डु०, वै०, १५, भ०। राढरोर—दी०। राड रोर—भा०, वे०, ७४, ५१, वि०। ६ माय—६६, भा०, वे०। माइ—रा०, मु०, भ०। ७ सो—६६, रा०, ह०, आ०। सों—भा०, वे०, ५१, डु०, ७४। ८ सबहि—भा०, १५। ९ सो—६६, भा०। सो—रा०, ७४, ५१, मु०, दी०, भ०। १० चारी—६६, रा० कु०। चोरी—औरोमे। ११ पहिचान—डु०, ७४। १२ सुमिरें—६६, रा०। सुमिरे—प्रायः औरोंमे। १३ सकुच—ह०। १४ रीझें—६६, रा०। रीझे—औरोमे। १५ सोउ—६६, रा०, भा०, वे०, मु०। सोऊ—वै०, दी०, भ०, वि०, पो०। १६ अैसो—६६, रा०। ऐसो—५१, ह०, वै०, भ०। ऐसे—भा०, वे०, प्र०, ७४, १५, ज०।

शब्दार्थ - ऐसेहु = ऐसे भी । सेवां = सेवासे । साहिब (साहब) = स्वामी; मालिक । चोरु (चोर) = जी चुरानेवाला; विमुख । चुराना = किसी कामके करनेमें कसर करना, मुँह छिपाना । ☞ कामसे बचनेके लिये हीला-हवाला करना या युक्ति रचना, कामसे भागना 'जी चुराना' कहलाता है । इस तरह, 'सेवाचोर' = सेवासे भागनेवाला, उसमें कसर करनेवाला । सेवा = आराधना, उपासना, पूजा; कैंकर्य, टहल । आपनी = अपनी, निजकी ही । बूझि = समझ । राड = नीच, निकम्मा; यथा 'लखि गयंद लै चलत भजि श्वान सुखानो हाड़ । गज गुन मोल अहार बल महिमा जान कि राड़ ।दो० ३८०।', 'रावन राडके हाड़ गढ़े । क० ६।६ ।' = कायर, भगोड़ा; यथा 'राड राउत होत फिरि कै जूझै ।१७६।' रोरु (रोर) = उद्धत; दुष्ट; क्रूरस्वभाव । सो = सदृश; के समान । सहज = स्वभावसे ही, स्वाभाविक । स्वार्थ रहित । आपुसो = आपसे ही; स्वयं, अपनेसे ही । सनेही (स्नेही) = स्नेह या प्रेम करनेवाला । सो = वह, वे । चारी = चालबाजी, दूतपना, छलकपट । = चुगली (रा० कु०) । चार = चुगलखोर; सेवक; चाकर; जासूस; गुप्तदूत । यथा 'लोभी जस चह चार गुमानी । नभ दुहि दूध चहत ये प्रानी । ३।१७।१६।' चलै न = नहीं चलती । चलना = उपाय लगना; (प्रयत्नका) सफल होना; कारगर होना । रीति = परिपाटी; रस्म; नियम; यथा 'रघुकुल रीति सदा चलि आई । प्रान जाहु बरु बचन न जाई । २।२८।४।' दरबार = महाराज, राजा ।—रजवाड़ोंमें इस अर्थमें 'दरबार' का प्रयोग होता है । काय = शरीर । लेसु (लेश) = लेशमात्र, किंचित् भी । मान लेना = ध्यानमे लाना, ग्रहण करना । रुचि = इच्छा । जोगवना = आदर करना; रक्षित रखना, पूर्ण या पूरा करना । जन = भक्त, सेवक, दास । रीझें = रीझने (प्रसन्न होने) पर । खीझें = झुँझलाने, रुष्ट वा अप्रसन्न होनेपर । बेचें = बेचनेसे । बेचना = चीज देना और उसके बदलनेमें दाम लेना । खोटो (खोटा) = बुरा; दूषित, खराका उलटा । दामु (दाम) = दमड़ी = पैसेका २४ वाँ-२५ वाँ भाग । = दमड़ीका तीसरा भाग । = मूल्य । काम = कामका; उपयोगी होना । = बर्तने, उपयोग करने योग्य । निवाजना = कृपा करना; अनुग्रह करना ।

= (पद्यार्थ) अरे (मन) ! तू ऐसे भी स्वामीकी सेवासे जी चुराता है। अरे नीच उद्धत क्रूर ! तुझे न तो अपनी ही समझ है और न तू किसी दूसरेके कहेका है। (अर्थात् दूसरेके समझाने-बुझानेका भी तुझे कुछ खयाल नहीं)। ।१। (जिनकी सेवासे तू जी चुराता है) वे मुनियोंके मनको भी अगम हैं, (तो भी अपने भक्तोंके लिये वे) माँ-बापके समान सुगम हैं। वे कृपाके समुद्र हैं। अपनेसे ही (अर्थात् अकारण, निस्स्वार्थ) सबके सहज (प्रयोजनरहित स्वभावसे ही) सखा और स्नेही हैं। ।२। लोक और वेद (दोनों) में प्रसिद्ध है कि श्रीरघुनाथजीसे बड़ा कोई नहीं है। वे सब दिन (सदा) और सब देशोंमे (अर्थात् सर्वत्र) सभीके साथ रहते हैं। ।३। सर्वज्ञ स्वामीसे चारकी-चालाकी नहीं चल सकती। प्रीति ही (यहाँ) पहिचान (परिचय) है, इस दरबारकी यह रीति है। ।४। (उनकी सेवामें) लेशमात्र क्लेश नहीं होता। वे मनकी मान लेते हैं (अर्थात् मनकी शुद्धता, मनका प्रेम, मनकी भावना देखकर उसीको ग्रहण करते हैं और प्रसन्न होते हैं, सेवाका चूकपर ध्यान नहीं देते)। उनका स्मरण करनेसे वे सकुचाकर भक्तकी रुचिको जुगवते रहते हैं (अर्थात् उसकी इच्छाको देखते, उसपर ध्यान रखते और उसे पूरी करते रहते हैं)। ।५। अरे ! प्रसन्न होनेपर तो वे सेवकके वश हो जाते हैं और रुष्ट होने पर उसे अपना धाम (साकेत लोक) देते हैं। अरे ! उनका नाम-रूपी कामतरु (अर्थ धर्म, काम और मोक्ष आदि) सभी फल फलता है। ।६। अरे ! (देख कि—) जिसे बेचनेसे खोटी दमड़ी भी न मिले और जो रखनेसे भी कामका नहीं (अर्थात् पास रखनेपर भी जिससे कोई काम नहीं निकल सकता) उस तुलसीदासपर भी कृपा की— अरे ! वे राजाधिराज राम ऐसे हैं। ।७।

टिप्पणी—१ (क) 'ऐसेहु साहिब...'—भाव कि जो साधारण दाता हैं, सब कुछ नहीं दे सकते, उनकी भी लोग आशावश सेवा करते हैं, तब जो सब प्रकार समर्थ हैं और सब कुछ की कौन कहे जो अपने तकको भी दे देता है, उसकी सेवा कौन न करेगा ? पर तू ऐसेकी भी सेवासे मुँह चुराता है। 'जे जड़ जीव कुटिल कायर खल केवल कलिमल साने। सूखत बदन प्रसंसत तिन्ह कहँ हरि ते अधिक करि माने। २३५।' जो देवता आदि व्यवहारमें निपुण हैं,

बड़ी पूजासेवा कराके तब किंचित् सुख देते हैं, उनकी पू सेवा करता है, किन्तु जो सब वरदायकोंको भी वर देते हैं, उनकी सेवासे जी चुराता है। इनकी सेवा तो तुझे मन बुद्धि चित्त लगाकर करनी चाहिए थी।

'ऐसेहु' अर्थात् जिनके नामकी महिमा तुझे सुनाता-समझाता चला आता हूँ। पिछले पदोंसे तथा पद ७० के अन्तिम वाक्य 'कामतरु रामनाम जोइ-जोइ माँगिहै। तुलसिदास स्वारथ-परमारथ न खाँगिहै', से इसका सम्बंध है। ☞ 'ऐसेहु' कहकर पिछले पदोको (जिनमे स्वामीके नामकी महिमा कही है) इस पदका ही अग जनाया।

१ (ख) 'आपनी न बूझि, न कहे को' इति। भाव कि पशु, पक्षी, अज्ञानी जीव भी अपना हित-अनहित समझते हैं और तू तो मनुष्य है, मनुष्यतन ज्ञानका भंडार है, तब भी तुझे समझ नहीं, यथा 'हित अनहित पसु पच्छिउ जाना। मानुष तनु गुन ग्यान निधाना।२।२६४।४।', 'ज्ञानभवन तन दिहेहु नाथ! सोउ पाइ न मैं प्रभु जाना। ११४।' क्या समझ नहीं है, यह 'सेवाँ तू होत चोरु' में कह आये। सेवासे जी चुराना यह नासमझी है; क्योंकि स्वामीकी सेवामें ही सेवकका हित है। यथा 'सेवक-हित साहिब-सेवकाई। करै सकल सुख लोभ बिहाई।२।२६८।४।'

'न कहे का'—भाव कि जिसे स्वयं समझ नहीं होती, वह समझदारसे उपदेश लेकर, उसके बतानेपर कि किसमें अपना हित है, उसपर चलता है; पर तू कहनेपर भी ध्यान नहीं देता। 'आपनी न बूझि' से जनाया कि तू पशु-पक्षीसे भी गया-बीता है। पुनः 'न कहे को' से जनाया कि तू उद्दण्ड है, उद्धत है। अपनी समझ होती तो कहना ही क्यों पड़ता? इसीसे 'न बूझि' कहकर 'न कहे को' कहा।

१ (ग)'राड़-रोर' यौगिक शब्द है, इसका अर्थ है 'निकम्मा और उद्दंड'। यह बोली है।

[टीकाकारोंके अर्थ—(१) जिसे अपनी समझ नहीं वह राँड़ होता है।.. किसीका कहना नही मानता, इससे तू 'रोर' है अर्थात् सांसतिको प्राप्त है। (विशेष वि० हरिमें देखिये)। (वै०)। २) रोर=रोड़ा; पत्थरका टुकड़ा। (भट्टजी)। (३) राँड रोर=कौड़ी कामका नहीं, पत्थरका ढोला है। इसका यह भी अर्थ हो सकता है

कि अपने स्वामीकी सेवासे जी छिपाता है, अपने धर्मको नहीं समझता है, वह रॉड, विधवा स्त्रीकी तरह हो जाता है अर्थात् उसका स्वामी उसे त्याग देता है। व्यभिचारिणीकी भक्ति भला किस कामकी। (वि०)। (नोट-यह भाव वैजनाथजीने दिया है)। (४) रांडरोर = निकम्मा रोड़े (सू० शु०)। (५) यहाँ महिमा न माननेमें नीचपना और उनके उपकारोंको न समझकर भी उनकी सेवा न करनेमें कायरपना है। सदुपदेश सुनकर अवहेलना करना उद्धतपना है। (श्री० श०)]

टिप्पणी--२ (क) 'मुनि मन अगमु सुगमु माय बापु सो' इति। मुनि ऐश्वर्यके उपासक हैं और भक्त ऐश्वर्यमिश्रित माधुर्य्यके उपासक हैं। मुनि शान्तरसके उपासक और भक्त दास्य, सख्य, वात्सल्य और शृङ्गारके उपासक हैं। मुनिके मनको अगम कहनेसे पाया गया कि मुनि-मनमें ध्यान करते हैं, पर कहीं कदाचित् ही दर्शन पाते हैं। यथा 'मुनि-धीर-योगी-सिद्ध संतत विमल मन जेहि ध्यावहीं। १।५१।', 'जिति पवन-मन, गो निरस करि मुनि ध्यान कबहुँक पावहीं।४।१०।' वे ही भगवान् भक्तोंके केवल प्रेमपर रीझकर उनको ऐसे सुलभ हो जाते हैं, जैसे अपने माँ-बाप। यथा—'वेद वचन मुनि-मन-अगम ते प्रभु करुनाऐन। वचन किरातन्हके सुनत जिमि पितु बालक बैन।२।१३६। रामहि केवल प्रेम पिआरा। जानि लेउ जो जाननिहारा॥'

'माय बाप सो'--भाव कि जैसे बच्चेको माँ-बापके पास जानेमें न तो कभी संकोच होता है न कोई रोक, वैसे ही प्रेमी भक्तको भगवान्के पास जानेमें कोई संकोच वा रोक नहीं। देखिए जहाँ ब्रह्मादिककी कौन कहे, स्वयं लक्ष्मीजी श्रीनृसिंहजीके समीप न जा सकीं, वहाँ भक्त प्रह्लाद बडे प्रेमसे निरसंकोच चले गए। पुनः, जैसे माँ-बाप बच्चेके सदा निकट रहते, भरण-पोषण, सार-सँभारका सदा ध्यान रखते हुये उसकी रक्षा करते हैं, वैसे ही भगवान् अपने प्रेमियोंके सदा निकट रहते हुए उनकी रक्षा करते हैं। आगे पद १३५ (४) में भी कहा है—"ठाकुर अतिहिं बड़ो सील सरल सुठि। ध्यान अगम सिवहू, भेट्यो केवट उठि॥" यहाँ कारुण्य और सौलभ्य गुण दिखाया। देखिए गुह निपादराज, गीधराज और शबरीजीको कैसे सुगम हुए कि स्वयं उन सबोंके पास गये। (क० ७।२१)।

[पं० रामेश्वर भट्ट तथा सूर्यदीन शुक्लजीने अर्थ किया है—'सो अपने माँ-बापको सहजमें प्राप्त हुए।']

२ (ख) 'कृपासिंधु सहज सखा सनेही आपु सो' इति। मुनि-मन-अगम ऐसे ऐश्वर्यमान होकर भी लोकोद्धारहेतु जीवोंकी माँ-बापकी तरह रक्षा करनेके लिये दशरथसुत हो अवतीर्ण होनेसे 'कृपासिंधु' कहा। भगवत-कृपाकी परिभाषा इस प्रकार है—'रक्षणे सर्वभूतानामहमेव परो विभुः। इति सामर्थ्यसन्धानं कृपा सा पारमेश्वरी ॥' अर्थात् मैं ही एकमात्र संसारकी रक्षाको समर्थ हूँ—ऐसा दृढ़ अनुसंधान ही 'कृपा' गुण है। (वै०)। अवतारका मुख्य कारण कृपा ही है; यथा 'व्यापक विश्वरूप भगवाना। तेहि धरि देह चरित कृत नाना॥ सो केवल भगतन हित लागी। परम कृपाल प्रनत अनुरागी। १।१३।५।', 'कृपासिंधु जन हित तनु धरहीं।१।१२२।१।'

'सहज' और 'आपु सो' दोनोंका अन्वय 'सखा' और 'सनेही' दोनोंके साथ है। अपने ही से सबके सहज सखा और सहज सनेही हैं। ब्रह्म और जीव अनादिकालसे सखा हैं। यथा—'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया, समानं वृक्षं परिषस्वजाते। ऋग्वेद १।१६४।२०, अथर्व ६।६।२०, श्वे० ४।६।' (अर्थात् सदा परस्पर मिलकर रहनेवाले दो सखा सुपर्ण (सुन्दर गतिवाले पक्षी) एक ही वृक्षको आश्रित किये हुए हैं)। ये दोनों सहज सखा हैं, यथा 'ब्रह्म जीव सम सहज सँघाती।१।२०।४।' सहज सखा, यथा—'राम प्रानप्रिय जीवन जी के। स्वारथ रहित सखा सबही के।२।७४।६।' 'आपु सो'—भगवान् सम्मुख आये हुए जीवसे स्वयं ही प्रथम बोलते हैं और बहुत मधुर प्रिय बोलते हैं, जिसमें उसको किंचित् भी संकोच न हो। यथा 'बुद्धिमान् मधुराभाषी पूर्वभाषी प्रियंवदः। वाल्मी० २।१।१३।'—यह उनका स्वभाव है। ऐसा न होता तो ऐसे बड़े स्वामीके सम्मुख ही कौन जा सकता ?—विशेष टि० ३ में देखिए।

टिप्पणी—३ (क) 'लोक वेद बिदित बड़ो न रघुनाथ सो' इति। जिस रावणने ब्रह्मादिक देवताओंको नाकों चबेना चबवाया, उसका वध करके आपने सबको अभय किया, राज्यपर बैठकर कमसे कम ग्यारह हजार वर्ष ऐसा राज्य किया कि आज वह 'राम राज्य' आदर्श हो रहा है।—यह 'लोक विदित' बात है। परब्रह्म होनेसे, ब्रह्मादिकको

विधिता आदि अधिकार देनेसे, वेद विदित कहा । यथा 'रमन्ते योगिनोऽनन्ते नित्यानन्दे चिदात्मनि । इति रामपदेनासौ परं ब्रह्माभिधीयते ॥ चिन्मयस्याद्वितीयस्य निष्कलस्याशरीरिणः । उपासकानां कार्यार्थं ब्रह्मणो रूपकल्पना ॥ रा० पू० ता० १।६-७।', 'ॐ यो ह वै श्रीरामचन्द्रः स भगवानद्वैतपरमानन्द आत्मा यत्परं ब्रह्म भूर्भुवः सुवस्तस्मै वै नमो नमः । रा० उ० ता० ।', 'हरि-हरहि हरता विधिहि विधिता श्रियहि श्रियता जेहिं दई । सो जानकीपति मधुर मूरति मोदमय मंगलमई ॥ ठाकुर अतिहि बडो सील सरल सुठि ।१३५।' पद्म पु० पा० में श्रीलोमशजीने श्रीआरण्यक मुनिसे कहा है कि "श्रीरामसे बड़ा कोई देवता नहीं, श्रीरामसे बढ़कर कोई व्रत नहीं, कोई योग और यज्ञ नहीं । यह वेदों और शास्त्रोंका रहस्य है जो मैंने तुमसे प्रकट किया है ।"—'रामान्नास्ति परो देवो रामान्नास्ति परं व्रतम् । न हि रामात्परो योगो न हि रामात्परो मखः॥...सर्वेषां वेदशास्त्राणां रहस्यं ते प्रकाशितम् ।' (३५।४६, ५०) । [५५ (६ ग) 'भुवन-भूषन' में देखिए]

वैजनाथजी लिखते हैं—"माधुर्य रूपमें दया, कृपा, अनुकंपा, अनृशंस्य, वात्सल्य, सौशील्य, सौलभ्य, कारुण्य, क्षमा, गाम्भीर्य, औदार्य, स्थैर्य, धैर्य और सौहार्दादि जितने गुण रामरूपमें हैं, उतने गुण किसी अन्य रूपमे नहीं हैं । पुनः, सत्य, धर्म, वीरता, नीति, प्रजापालन भी ऐसा किसी राजामें नहीं ।"

३ (ख) 'सब दिन सब देस सबही के साथ सो' इति । सब दिन अर्थात् सर्वदा, भूत, भविष्य, वर्तमान तीनों कालोंमें । [पल, दिन, मास, वर्ष, कल्पपर्यन्त सब कालमें । (वै०)] सब देश अर्थात् सर्वत्र । [स्वर्ग, नरक, भूमि, पाताल, गर्भवास पर्यन्त सब देशमे । (वै०)] सबके साथ हैं, अर्थात् सर्वव्यापक हैं । मिलान कीजिए—'हरि व्यापक सर्वत्र समाना ।...देस काल दिसि बिदिसिहु माहीं । कहहु सो कहाँ जहाँ प्रभु नाहीं ।१।१८५।५-६।' 'सब' अर्थात् ब्रह्मासे लेकर कीट पर्यन्त । सब दिन सब देशमे सबके साथ है, कथनका भाव कि उनको कहीं खोजना नहीं पड़ता, जहाँ ही उनकी चाह करे वे वहीं हैं । यथा 'दूरि न सो हितू हेरु हियें हि है । छलहि छाड़ि सुमिरे छोह किये हि है । १३५।'

प्रह्लादजीके दैत्यबालकोंसे भा० ७।७ में कहे हुए इस वाक्यसे मिलान कीजिए—"कोऽतिप्रयासोऽसुरबालका हरेरुपासने स्वे हृदि छिद्रवत्सतः। स्वस्यात्मनः सख्युरशेषदेहिनां सामान्यतः किं विषयोपपादनैः ॥३८॥" अर्थात् हे असुरबालको! जो अपने हृदयमें आकाशके समान स्थित है, उन श्रीहरिकी उपासना करनेमें क्या विशेष परिश्रम पड़ता है? वे सामान्य भावसे सम्पूर्ण प्राणियोंके सखा और आत्मा ही हैं।

टिप्पणी—४ (क) 'स्वामी सर्वज्ञ सो चलै न चारी चार की' इति। पं० रामकुमारजी अर्थ करते हैं कि 'स्वामी सर्वज्ञ हैं, भीतर बाहरकी सब जानते हैं, इसलिए यहाँ चुगलखोरकी चुगली नहीं चलती।'

यदि इसे अपने या अपने मनके लिये मानें, तो 'चार' का अर्थ सेवक और 'चारी' का अर्थ 'चाल, चालबाजी, चालाकी' होगा। प्राचीनतम पोथी का यही पाठ है। और पं० रामकुमारजीके खर्रेमें भी यही पाठ है। भाव यह है कि सर्वज्ञ होनेसे तेरी चालाकी उनसे छिप सकती नहीं। अतएव चालबाजी न कर, कपट-छल छोड़कर उनकी सेवामें लग जा।

प्रायः अन्य पुस्तकोंमें 'चोरी' पाठ है। भाव प्रायः वही है। श्रीभगवानसहायजीने अर्थ किया है कि 'दूतकी चोरी नहीं चलती, यह उदाहरण है कि राजासे कारिन्देका फरेब नहीं चलता, तब परमेश्वरसे कब चल सकता है···।'

४ (ख) 'प्रीति पहिचानि यह रीति दरबार की' इति। इस दरबारकी अर्थात् श्रीराम-दरबारकी, महाराज श्रीरामचन्द्रजीकी यह रीति है। प्रीतिकी रीति यथार्थ श्रीरामजी ही जानते हैं; यथा 'नीति प्रीति परमारथ स्वारथु। कोउ न राम-सम जान जथारथु ।२।२५४।५।', 'जानत प्रीति रीति रघुराई। नाते सब हाते करि राखत राम सनेह सगाई ।१६४।' प्रभु तक हमें पहुँचा देनेके लिये किसी दूत-दूतीकी अपेक्षा नहीं, एकमात्र प्रीति ही प्रभुसे मिला देती है, वहाँ और पहिचान या पहचान करानेवालेकी जरूरत नहीं पड़ती। भाव यह कि श्रीरामजी एकमात्र प्रेम चाहते हैं, प्रेम ही से रीझते हैं, यथा 'बलि पूजा मागै नहीं, चाहै एक प्रीति ।१०७।', 'तुम्ह रीझहु सनेह सुठि थोरे ।१।३४२।४।', 'रामहि केवल प्रेम पियारा।'

टीकाकारोंने प्रायः—'वे केवल हृदयकी प्रीति पहचानते हैं', यह अर्थ किया है।

पद २१५ को इस अन्तरा ('प्रीति पहिचानि...') की व्याख्या ही समझिए। अतः हम उसे यहाँ उद्धृत करते हैं—"श्रीरघुबीरकी यह बानि। नीचहू सों करत नेह सुप्रीति मन अनुमानि। १। परम अधम निषाद पाँवर कौन ताकी कानि। लियो सो उर लाइ सुत ज्यों प्रेम की पहिचानि।२। गीध कौन दयालु जो बिधि रच्यो हिंसा सानि। जनक ज्यों रघुनाथ ता कहुँ दियो जल निज पानि।३। प्रकृति मलिन कुजाति सबरी सकल औगुन खानि। खात ताके दिये फल अति रुचि बखानि बखानि।४। रजनिचर अरु रिपु बिभीषन सरन आयो जानि। भरत ज्यों उठि ताहि भेंटत देह दसा भुलानि।५। कौन सुभग सुसील बानर जिन्हहिं सुमिरत हानि। किये ते सब सखा पूजे भवन अपने आनि।६। राम सहज कृपाल कोमल दीनहित दिन दानि। भजहि ऐसे प्रभुहि तुलसी कुटिल कपटु न ठानि।७।"

मिलानसे सूचित हुआ कि 'यह रीति दरबार की'='श्रीरघुबीर की यह बानि'। शेष सारा पद 'प्रीति पहिचानि' की व्याख्या है।

टिप्पणी—५ (क) 'काय न कलेसु लेसु लेत मानि मन की' इति। यह सौलभ्य दिखाते हैं। योग, यज्ञ, तप, त्याग, बलि, पूजा आदिसे शरीरको कष्ट होता है। अन्य देवताओंको प्रसन्न करनेमें प्रायः शरीरको ये कष्ट उठाने पड़ते हैं। परन्तु श्रीरामजीकी सेवामें शरीर को क्लेश नहीं उठाना पड़ता, वे केवल मनकी मान लेते हैं। अर्थात्-वे मन शुद्ध चाहते हैं, मन कपट छोड़कर सम्मुख हो उनसे प्रेम करे, बस इतनी ही सेवासे प्रसन्न हो जाते हैं। मन उनको कभी न भूले, बस इतनेसे ही बेड़ा पार है। यथा "जौं बिनु जोग जज्ञ ब्रत संजम गयो चहहि भव-पारहि। तौ जिनि तुलसिदास निसि-बासर हरिपदकमल बिसारहि। ८५।' प्रेम ही चाहते हैं, इसीका और आगे चलकर प्रमाण देते हैं कि "जौं जप जाग जाग ब्रत बरजित केवल प्रेम न चहते। तौ कत सुर मुनिवर बिहाय ब्रज गोपगेह बसि रहते। ९७।'

५ (ख) 'सुमिरें सकुचि रुचि जोगवत जन की' इति। मनकी मान लेते हैं, यह कहकर उसीको स्पष्ट और पुष्ट करते है। 'सुमिरें' कहकर जनाया कि मनका स्मरण ही सेवा है। 'सकुचि' का भाव कि शुद्ध स्मरणरूपी सेवासे वे संकोचमें पड़ जाते हैं कि मैं इसको क्या दूँ, जो कुछ देनेको सोचते हैं, वह स्मरणकी कीमतके बराबर

नहीं जँचता। यथा 'लंक जरी जोहे जिय सोच सो विभीषन को, कहौ ऐसे साहेबकी सेवा न खटाइ को। क० ७।२२।', 'खग सबरि निसिचर भालु कपि किये आपु से वंदित बड़े। तापर तिन्ह कि सेवा सुमिरि जिय जात जनु सकुचनि गड़े। १३५।' [सलूक (स्मरणरूपी उपकार) को बहुत करके मानना कृतज्ञता गुण है। 'कृतं जानन् कृतज्ञः स्यात्कृतं सुकृतमीरितम्'—(वै०)]

'रुचि जोगवत जन की' इति। यहाँ मनसे स्मरणमात्ररूपी सेवा करनेवाले भक्त ही 'जन' कहे गये हैं। रुचि देखते रहते हैं कि इसके मनमें जो भी इच्छा हो वह मैं पूरी करूँ, चाहे वह लौकिक हो चाहे पारलौकिक। [रुचि जोगवत है 'बिगड़ै नही पावति'—(पं० रा० कु०)]

☞स्मरण रहे कि श्रीरामजी तो स्मरणकर्ताकी बात ही क्या, एक बार भी जो उनको प्रणाम करता है तो वे बडे संकोचमें पड़ जाते हैं, बडे ही कृतज्ञ होते हैं और उसको अपना लेते हैं। यथा—'ज्यों सब भाँति कुदेव कुठाकुर सेये वपु बचन हिये हूँ। त्यों न राम सुकृतज्ञ जे सकुचत सकृत प्रनाम किये हूँ। १७० (५)।', 'सकृत प्रनाम प्रनत जस बरनत सुनत कहत फिरि गाउ। १०० (६)।', 'सकृत प्रनाम किहें अपनाए। ७।२६।२।' वाल्मीकिजी भी लिखते हैं—'कदाचिदुपकारेण कृतेनैकेन तुष्यति।' (वाल्मी० २।१।११); कभी कोई एक बार भी उपकार कर देता तो वे उसके उस एक ही उपकारसे सन्तुष्ट रहते थे। श्री शुकदेवजीने भी श्रीरामको 'सुकृतज्ञमुत्तमम्' (भा० ५।१६।८) अर्थात् उत्तम कृतज्ञोंके भी शिरोमणि कहा है।

टिप्पणी—६ (क) 'रीझें बस होत खीझे देत निज धामु रे' इति। भाव यह कि उनकी रीझ और खीझ दोनों ही शुभकारी है। यथा 'बहुत पतित भवबिधि तरे बिनु तरि बिनु बेरें। कृपा क्रोध सतिभायहूँ धोखेहूँ तिरछेहुँ राम तिहारेहि हेरें। २७३।', 'खीझहू में रीझिबे की बानि, राम रीझत हैं, रीझे ह्वैहै रामकी दोहाई रघुराय जू। क० ७।१२६।' श्रीरामजी सच्चे प्रेमसे रीझते है, यथा 'रीझत राम सनेह निसोतें। १।२८।११।' इस तरह भाव यह हुआ कि वे सच्चा प्रेम होनेपर वशमें हो जाते हैं।

रीझनेपर वशमें हो जाते हैं, इसके उदाहरण श्रीहनुमान्‌जी है। प्रमाण तो सभी रामचरितसम्बंधी ग्रन्थोंमें हैं कि परिवारसहित

श्रीरामजी उनके ऋणी हो गए। यथा 'कपि सेवा वस भये कनोड़े कह्यो पवनसुत आउ। दीबे को न कछू रिनियाँ हौं, धनिक तू पत्र लिखाउ। १०० (७)।', 'सुमिरि पवनसुत पावन नामू। अपने बस करि राखे रामू। १।२६।६।', इत्यादि।

निशाचरोंपर खीझे, यथा 'निसिचरहीन करउँ महि भुज उठाइ पन कीन्ह। ३।६।' उनका नाश करनेकी प्रतिज्ञा की। उनका नाश तो किया; पर क्रोध होनेपर भी उनका हित किया, उनको नरक न देकर अपना वही धाम दिया जो भक्तोंको देते हैं। यथा 'महा-महा-मुखिया जे पावहि। ते पद गहि प्रभु पास चलावहिं॥ कहहिं बिभीषन तिन्हके नामा। देहिं राम तिन्हहूँ निज धामा॥ खल मनुजाद द्विजामिष भोगी। पावहिं गति जो जाचत जोगी। ६।४४।१-३।'

खीझनेपर भी शत्रुका भला ही करते है, यह कारुण्यगुण है। यथा 'उमा राम मृदुचित करुनाकर। बयर भाव सुमिरत मोहि निसिचर। देहिं परम गति सो जिय जानी। अस कृपाल को कहहु भवानी। ६।४४। ४-५।' रावणको भी निज धाम दिया, यथा 'तुम्हहू दियो निज धाम राम नमामि ब्रह्म निरामयं। ६।१०३ छंद।' इसमें भी कृपा-गुण दिखाया है, यथा 'अहह नाथ रघुनाथ सम कृपासिंधु नहि आन। जोगिबृंद दुर्लभ गति तोहि दीन्हि भगवान। ६।१०३।', इतना ही नहीं, विभीषणको रावणका मृतककर्म करनेकी आज्ञा दी।

☞ इस कथनसे यह जनाया कि उनकी रीझ और खीझ दोनों ही अमोघ हैं—'अमोघक्रोधहर्षश्च।' (वाल्मी० २।१।२२)। जिसपर क्रोध करते उसका भलाही करते थे।

६ (ख) 'फलत सकल फल कामतरु नाम रे'—रामनाम चारों फल एवं भक्तिका देनेवाला है, यह बहुत बार आ चुका है।—यह औदार्य (उदारता) गुण है। ७० (५) देखिए।

टिप्पणी—७ (क) 'बेचें खोटो दामु न मिलै .' इति। ऊपर जो गुण भगवान् रामके कह आए उसके प्रत्यक्ष प्रमाणमें अपनेको ही देते हैं कि मैं ऐसा (निकम्मा) हूँ कि मुझे कोई बेचे तो कानी कौड़ी भी कोई न देगा और अपने पास रक्खे तो मुझसे उसका कोई काम तो होगा नहीं (मैं ऐसा आलसी, गुणहीन इत्यादि हूँ) और खाऊँगा

भरपेट, तब ऐसेको कौन रक्खेगा। पद २७२ में कहा भी है—'अगुन अलायक आलसी जानि अधनु अनेरो। स्वारथे साथिन्ह तज्यो तिजरा को सो टोटकु औचट उलटि न हेरो॥ भगतिहीन वेदबाहिरो लखि कलिमल घेरो। देवनिहूँ देव परिहर्‍यो अन्याउ न तिन्ह को हौं अपराधी सब केरो॥'—ऐसे आलसी गुणहीनका भी पालन श्रीरघुनाथजी करते हैं। यथा 'अधन अगुन आलसिन्हको पालिबो फबि आयो रघुनायक नवीन कों।२७४।', 'को तुलसीसे कुसेवक संग्रह्यो सठ सब दिन साँईद्रोहै।२३०।'

यहाँ 'खोटो दाम' कहकर जनाया कि 'खरा वा सच्चा दाम' भी होता है। वैजनाथजीके मतानुसार कर्म, ज्ञान और उपासना आदि सच्चे दाम हैं और पिशाची आदि झूठी ही सिद्धि खोटे दाम हैं। भाव कि "साधन करनेसे कर्म-ज्ञान-उपासनादि सच्चे दामोंकी कौन कहे, पिशाची आदि झूठी सिद्धि भी मुझे न मिल सकती।" (वै०)।

७ (ख) 'न राखें कामु रे'—भाव कि "घरमें कृषि, वाणिज्य, चाकरी आदि काम रहते हैं, पर मैं इनमेंसे किसी कामका न था; ऐसे मुझ निकम्मेको भी शरणमात्र होनेसे अपनाकर सब प्रकार बड़ाई दी, निहाल कर दिया। भाव कि ऐसे सुलभ उदार सुस्वामीसे नमकहरामी करनेसे तेरा ठिकाना कहीं न लगेगा। अतएव निष्कपट स्नेह कर।" (वै०)

७ (ग) 'ऐसो राजा रामु रे'—भाव कि 'राम' राजा हैं, राजा खोटे सिक्केको भी खरा बना दे सकता है, यदि वह चाहे। और किसीमें यह सामर्थ्य नहीं। मुझ खोटेको भी उन्होंने खरा कर दिया।

श्रीसीतारामचन्द्रार्पणमस्तु।

७२ (३५) [राग भैरव—रा०]

मेरो भलो कियो राम अपनी[1] भलाई[2]।
हौं[3] तो साईंद्रोही[4] पै सेवक-हितु साँई[5]॥१॥

१ अपनी—६६, रा०। आपनी—औरोंमे। २, ५ भलाई, साँई—६६। भलांइ, सांइ—रा०। भलाई, सांई—प्रायः औरोंमे। ३ हो—६६, रा०। हौं—प्रायः औरोंमे। ४ साईंद्रोहो—६६। साइंदोहों—रा०। साईं-दोह—भा०, बे०। साईंद्रोह—प्र०, ज०। साँइद्रोही—७४। साईंद्रोही—ह०, आ०।

राम सों बड़ो है कौनु[६] मोसों कौनु[६] छोटो।
राम सों खरो खसम[७] मोसों खल[८] खोटो ॥२॥
लोगु[९] कहै राम को गुलामु हौं कहावों।
एते[१०] बड़े अपराध 'भो न मनु बावों'[११] ॥३॥
पाथ माथे चढ़ै तिनु[१२] तुलसी जो[१३] नीचो।
बोरत न बारि ताहि जानि आपु[१४] सींचो ॥४॥

शब्दार्थ—भलाई=भला होनेका भाव; भलापन। भलाईं=भलेपनके स्वभावसे। साईं=स्वामी। द्रोही=द्रोह वा वैर करनेवाला; विमुख। खरो (खरा)=सच्चा; चोखा; जो व्यवहारमें छलछिद्र-शून्य सच्चा और ईमानदार हो। खसम=स्वामी। यथा 'लखमके खसम तुही पै दसरत्थके। क० ७।७४।' कहाना—(यह 'कहना' का प्रेरणार्थक रूप है)=दूसरेके द्वारा कहनेकी क्रिया कराना; कहलाना, कहलवाना। कहावों=कहलवाता हूँ। एते=इतने। भो (भया)=हुआ। बावों (बाम)=वाम; प्रतिकूल; विरुद्ध; विमुख। भो न मन बावों=मन फिरा नहीं। पाथ=जल। माथे=मस्तकपर। तिनु (तृण)=तिनका। आपु=अपना ही। सींचो=जल देकर पाला-पोसा हुआ।

---

६ कोनु—६६, रा०। कौन-औरोंमे। ☞ आजकल 'कौन' ही बोला जाता है, अतः हमने 'कौन' पाठ दिया है। ७, ८ यह पाठ ६६, रा०, ह०, भा०, वे०, प्र०, ज०, भ०, मे है। ७ है कौन, ८ कौन—७४, आ०, पो०। ९ लोगु—६६, भ०। लोग—७४। श्री० श०। लोक—औरो मे। १० एते बड़े—६६। एते बडे—रा०। एतो बड़ो—भा०, वे०, ह०, भ०, ७४, आ०। एती बड़ो—प्र०, ज०। ११ भो न मनु बावो—६६। भो न मन बावो—वि०, श्री० श०। भी न मन बावो—रा०, ७४, वै०, भ०, दी०, सू०शु०। मन भो न बावो—ह०। मन भी न पावो—भा०, वे०। भी न मन भावो—मु०। १२ तिनु—६६। त्रिन—रा०, ह०, भ०। तृन—७४, भा०, वे०, प्र०, ज०, आ०, श्री० श०। १३ जो—६६, रा०, ह०, वै०, दी०, मु०। ज्यो—भा० वे०, प्र० ज०, ह०, ७४, वि०, पो०। ज्यौ—भ०। १४ आपु—६६, रा०, ह०, प्र०, दी०, वि०, पो०, मु०, भ०। आप—भा०, वे०, ७४, श्री० श०।

पद्यार्थ—श्रीरामचन्द्रजीने अपने भलेपनके स्वभावके कारण मेरा भला किया। मैं तो स्वामी-द्रोही हूँ अर्थात् उनसे द्रोह करनेवाला, उनसे विमुख ही रहा हूँ, परन्तु स्वामी (अपने) सेवकके हितकारी ही हैं।१। श्रीरामजीसे बड़ा कौन है और मुझसे छोटा कौन है? श्रीरामजीके समान सच्चा स्वामी और मेरे समान निकम्मा और दुष्ट कौन है? अर्थात् कोई भी तो नहीं है† ।२। (उसपर भी) लोग मुझे रामका गुलाम (सेवक) कहते हैं और मैं भी (अपनेको यही) कहलवाता हूँ। इतने बड़े अपराधपर भी उनका मन मेरी ओरसे फिरा नहीं।३। तुलसीदासजी कहते हैं कि (देखो) तिनका जो नीच है वह जलके सिरपर चढ़ता अर्थात् जलके ऊपर उतराता रहता है, (तो भी) अपनाही सींचा हुआ समझकर जल उसे डुबाता नहीं।४।

टिप्पणी—१ (क) 'मेरो भलो कियो राम अपनी भलाई' इति।—भाव यह कि यदि वे अपनी ओर देखकर मेरा भला न करते, तो न तो मुझमें कोई ऐसा गुण ही है जिससे वे रीझकर भला कर सकते और न इस योग्य करनी (कर्तव्य) ही है, अतएव मेरा भला, मेरा उद्धार असंभव था। यथा—'तुलसिदास प्रभु सो गुन नहि जेहि सपनेहुँ तुम्हहिं रिझावों। नाथ कृपा भवसिंधु धेनुपद सम जो जानि सिर नावों।१४२।', 'जौं आचरन बिचारहु मेरो कलप कोटि लगि अवटि मरों। तुलसिदास प्रभु कृपा बिलोकनि गोपद ज्यों भवसिंधु तरों।१४१।', 'खीझिबे लायक करतब कोटि कोटि कटु...।२५२।' (मेरे कर्त्तव्य तो खीझने लायक हैं, रीझने लायक नही)। प्रभुने अपनी ओरसे भला किया; यथा 'रामसुस्वामि कुसेवक मोसो। निज दिसि देखि दयानिधि पोसो।१।२८।४।,' 'कै तुलसी से कुसेवक संग्रह्यो सठ सब दिन सांईदोहै।२३०।'

वि० हरिजी 'आपनी भलाई' का भाव यह लिखते हैं कि "जो जैसा होता है, वह दूसरोंके साथ भी वैसा ही व्यवहार करता है। वे स्वयं भले हैं, इसीलिये उन्होंने मेरा भला किया।"

---

† '(कहाँ तो) श्रीराम-जैसे सच्चे स्वामी और (कहाँ) मुझ-सा खल और खोटा!'—ऐसा अर्थ भी कर सकते हैं।

'अपनी भलाई' की पूरी व्याख्या पद १५२ 'राम भलाई आपनी भल कियो न काको।' में ग्रन्थकारने स्वयं की है। उसे देखिए।

१ (ख) 'हौं तो साईंद्रोही पै सेवक-हित साईं' इति। स्वामिद्रोहताका उल्लेख कविने पद २५८ में स्वयं किया है। यथा 'जानि पहिचानि मैं बिसारे हौं कृपानिधान एते मान ढीठ हौं उलटो देत खोरि हौं। करत जतन जासों जोरिवेको जोगी जन तासों क्यों हूँ जुरी सो अभागो बैठो तोरिहौं।१। मोसे दोस-कोसको भुअनकोसु दूसरो न, आपनी समुझि सूझि आयो टकटोरि हौं। गाड़ीके स्वानकी नाईं माया मोह की बड़ाई, छिनहि तजत छिन भजत बहोरि हौं।२। बडो साईंदोही न बराबरी मेरीको कोऊ नाथ की सपथ किये कहत करोरि हौं। दूरि कीजे द्वार तें लबारु लालची प्रपंची, सुधा सो सलिल सूकरी ज्यों गहडोरिहौं।३। राखिए नीके सुधारि, नीचको डारिऐ मारि, दुहूँ ओर की बिचारि अब न निहोरिहौं। तुलसी कही है साँची रेख बार बार खाँची, ढील किये नाम-महिमाकी नाव बोरिहौं।४।'

☞इस प्रकार साईं-द्रोह यह है कि प्रभुको जानकर, उनसे नाता-संबंध जोड़-जुड़ाकर फिर भी मैंने स्वामीको भुला दिया, संबंध जो जुड़ा था उसे बैठे तोड़ रहा हूँ, उनसे विमुख होकर विषयोन्मुख हो रहा हूँ और ढीठ एवं कृतघ्न ऐसा हूँ कि उलटे प्रभु को दोष देता हूँ, उनकी निन्दा करने-करानेको उद्यत हूँ। इत्यादि। स्वामिद्रोहका फल निरन्तर घोर यमयातना देना चाहिये था, पर उन्होंने ऐसा न किया।

स्वामिद्रोही न तो अपनी करतूतसे स्वामी द्वारा अपना भला होनेकी आशा ही कर सकता है और न कोई स्वामी द्रोही-सेवकका कभी भला करेगा। पर श्रीराम ऐसे अनुपम स्वामी हैं कि वे स्वामिद्रोही-सेवकका भी हित ही करते है। इसीसे उन्होंने मेरा भला किया।

एक बार जो प्रभुकी शरण हो गया उसे वे छोड़ते नहीं। वे उसका हित ही करते हैं, यह उनकी प्रतिज्ञा है। यथा 'पन हमार सेवक हितकारी। १।१२६।५।' इसीसे सेवक कितना ही बिगड़ जाय, वे सदा उसके हितमे ही लगे रहते है।

"साईं-द्रोह मैंने क्या किया? उसका फल क्या मिलना चाहिए था? स्वामीने मेरा क्या हित किया? उन्होंने हित अपनी ओरसे

किया ।''—इन सब बातोंका उल्लेख नीचे उद्धृत १७१वें पदमें है—

"कीजै मों कों जग-ज़ातनामई ।
राम तुम्हसे सुचि सुहृद साहिवहि मैं सठ पीठि दई । १ ।
गरभ-वास दस मास पालि पितु-मातु-रूप हित कीन्हों ।
जडहि विवेक सुसील खलहि अपराधिहिं आदरु दीन्हों । २ ।
कपट करों अंतरजामिहुँ सों अघ व्यापकहि दुरावों ।
ऐसे कुमति कुसेवक पर रघुपति न कियो मन बावों । ३ ।
उदरु भरों किंकरु कहाइ बेंच्यो बिषयन्ह हाथ हियो है ।
मोहिसे वंचक कों कृपाल छल छाड़ि कै छोह कियो है । ४ ।
पल-पलके उपकार रावरे जानि बूझि सुनि नीकें ।
भिद्यो न कुलिसहु तें कठोरु चित कबहुँ प्रेम सिय-पी कें । ५ ।
स्वामीकी सेवक-हितता सब कछु निज सांईंदोहाई ।
मैं मति-तुला तौलि देखी भइ मेरिहि दिसि गरुआई । ६ ।
एतेहुपर हित करत नाथ मेरो करि आयो अरु करिहै ।
तुलसी अपनी ओर जानियत प्रभुहि कनोड़ोइ भरिहै । ७ ।''

इसके अनुसार शुचि सुहृद स्वामीसे विमुख होना, उनसे कपट करना, पापोंको छिपाना, अपनेको उनका किंकर कहकर पेट भरना और वास्तवमें विषयोंका किंकर होना—(यथा 'वंचक भगत कहाइ रामके । किंकर कंचन कोह कामके ॥ तिन्ह महँ प्रथम रेख जग मोरी । १।१२।३-४ ।'),—उपकारोंको न मानना अर्थात् कृतघ्नता इत्यादि स्वामिद्रोह है ।

साईंद्रोहका फल चाहिए था—'संसारयातनामयी वना देना' । मिलान कीजिए—'नरक अधिकार मम घोर संसार-तम-कूप कही भूप मैं सक्ति आपानकी । २०६ ।'

स्वामीने असंख्यों उपकार किये । कुछ ये है,—गर्भमे रक्षा की, उस जड़ दशामें सदसद्विवेक दिया । मैं खल था पर उन्होंने मुझे सुशील वनाया, अपराधी होनेपर भी मेरा आदर किया । मुझ ऐसे वंचक भक्तपर भी निष्कपट भावसे सदा कृपा ही की, मुझसे मुँह न फेर लिया । [विमुखपर कृपा करके अपने सम्मुख करना हित है । (भ० स०)]

१ (ग) 'एतेहु पर हित करत···' इति। यही अपनी ओर देखकर, अपने कारुण्य, कृपा, भक्तवात्सल्य, पतितपावन आदि गुणोंको स्मरणकर भक्तके दोषोंपर दृष्टि न देकर स्वयं उसका भला करना है। अपनेसे उसका हित करके फिर उसीका एहसान मानते हैं।—इससे प्रभुको कारण-रहित कृपालु जनाया।

पद १४८ में भी अपनी स्वामिद्रोहता कहकर, कि 'मैं आपके गुणगणोंको सुनकर भी चित्तमें नहीं धारण करता, न सेवा करूँ, न ध्यान करूँ और न स्मरण ही करूँ, प्रत्युत आपसे भरपेट बिगाड़ ही करता हूँ', फिर यही प्रार्थना की है—'तुलसी प्रभु निज ओर तें बनि परै सो कीबी।'

टिप्पणी—२ 'राम सो बडो···खोटो' इति। भाव कि देखिए—कहाँ तो जगत्पति, सर्वेश्वर, सकल विश्ववंदित, सर्वश्रेष्ठ तथा दोषरहित श्रीरामजी और कहाँ मैं एक तुच्छ, अधम, निकृष्ट, स्वामिद्रोही नीच जीव! कहाँ तो राम ऐसे सच्चे स्वामी और कहाँ मैं निकम्मा खल! दोनोंमें आकाश-पातालका बीच है, बड़ा भारी अन्तर है। 'खरो खसम' अर्थात् शुचि सुहृद सुस्वामी। विशेष 'लोक वेद विदित बड़ो न रघुनाथ सो' ७१ (३ क) में देखिए।

टिप्पणी—३ (क) 'लोगु कहे रामको···'—इसका संबंध पिछले चरणोंसे है। भाव यह कि इतना बड़ा अन्तर होनेपर भी मुझे लोग रामका सेवक कहते हैं और मैं भी अपनेको सेवक कहता-कहलवाता हूँ। अन्यत्र भी कहा है—'साँच कैधौं झूठ मोको कहत कोउ-कोउ, राम रावरो होहुँ तुम्हरो जन कहावों।२०८।', 'भलो पोच रामको कहै मोको सब नर-नारी। बिगरे सेवक स्वान सो साहिब सिर गारी।१५०।' इत्यादि।

३ (ख) 'एते बड़े अपराध भो न मन बावों' इति। भाव कि जिनकी सेवा एवं कृपा कटाक्षके लिये ब्रह्मा-शिवादि तरसते हैं, ऐसे बड़े स्वामीका मैं अपनेको सेवक कहता और हरिभक्तका ऊपरका बाना बनाकर दूसरोंसे भी अपनेको रामसेवक कहलवाता हूँ, जो दासोंका भी दास कहाने योग्य नहीं, वह अपनेको ऐसे बड़े स्वामीका दास कहे कहावे, यह बड़ी भारी धृष्टता और अपराध है। यह जानकर भी श्रीरामजी उपहास सह लेते हैं, पर मुझसे मुँह नहीं फेरते, मेरा भलाही करते हैं। यथा 'हौंहु कहावत सब कहत राम सहत

उपहास । साहिब सीतानाथ सो सेवक तुलसीदास । १।८।', 'ऐसे कुमति कुसेवकपर रघुपति न कियो मन बावों। १७१।' मिलान कीजिए—'लोग कहैं अरु हौंहूँ कहौं जन खोटो खरो रघुनायक ही को । रावरी राम बड़ी लघुता जस मेरो भयो सुखदायक ही को । कै यह हानि सहौं बलि जाउँ कि मोहूँ करो निज लायक ही को ।'''क० ७।५६।'

३ (ग) 'भो न मन बावों' कहकर जनाया कि प्रभुने मेरी धृष्टता पर ध्यान भी नहीं दिया । यथा 'अति बड़ि मोरि ढिठाई खोरी । सुनि अघ नरकहु नाक सकोरी ॥ समुझि सहम मोहि अपडर अपने । सो सुधि राम कीन्हि नहि सपने । १।२६।१-२ ।'

टिप्पणी—४ 'पाथ माथे चढ़ै तिनु'''' इति । (क) 'मुझ ऐसे नीच स्वामिद्रोही, स्वामीको बदनाम करानेवाले कुसेवकका हित क्यों करते हैं ? इसपर अब तृण और जलका दृष्टान्त देते हैं । नीच तुच्छ क्षुद्र सेवक तृण है, श्रीरामजी जल हैं । नदी तालाब आदि जलाशयोंके तटपर जो घास-फूस आदि होते हैं वे उसीके जलकी तरी पाकर बढ़ते हैं । करार आदिके कटने या अन्य किसी कारणसे वह उखड़कर जलमें गिरता है, तो हलका होनेसे जलके ऊपर ही ऊपर वह रहता है । इसीको कवि तृणका जलके मस्तकपर चढ़ना कहते हैं । न डुबानेका कारण जलका बड़प्पन बताते हैं कि अपना पाला-पोसा समझकर वह उसे मस्तकपर चढ़े रहने देता है ।

सिरपर चढ़ना यह धृष्टता है । सेवक स्वामिद्रोह करे, उलटे स्वामीको दोष दे, इत्यादि धृष्टता ही स्वामीके सिरपर चढ़ना है ।

४ (ख) 'जानि आपु सींचो'—भगवान्‌का प्रण है कि जो शरणमें एक बार आ जाता है, उसको फिर वे त्यागते नहीं । यदि उसमें कोई दोष आ जाते हैं तो वे सोचते हैं कि इसमें इसका अपराध नहीं, हमारी ही ओरसे कृपाकी कमी हुई, इसीसे यह विगड़ गया । एक बार गुरुद्वारा प्रभुके सम्मुख हो जानेपर, शरणागतको सम्भालना, उसका नाश न होने देना, सारी जिम्मेदारी प्रभुपर आ जाती है । उनका वाक्य है—'न मे भक्तः प्रणश्यति । गीता ९।३१।' अर्थात् मेरी भक्तिमें लगा हुआ पुरुष विरोधी आचरणोंसे मिश्रित होनेपर भी नष्ट नहीं होता, विरोधिनिवृत्तिको प्राप्त करके वह पुनः शीघ्र ही परिपूर्ण भक्तिमान् हो जाता है । उसका पतन कभी भी नहीं हो सकता ।

भगवान्‌की शरण होनेपर चरितश्रवण, गुण-गान, नामकीर्तन आदि जो भी भक्ति श्रीरामकृपासे वह करता है, वही जल द्वारा सिचन है। स्वामीका नाम ले लेकर पेट भरना तो कविने अनेक पदोंमें स्वीकार किया है। यथा 'नाम की ओट पेट भरत हौं पै कहावत चेरो। जगत विदित बात ह्वै परी समुझिये धौं अपन पै लोक कि वेद बड़ेरो।२७२ (४)', 'नामु लै भरै उदरु एक प्रभु-दासि-दासु कहाइ।४१।', 'जानकी-जीवन जनम जनम जग ज्यायो तिहारेहि कौर को हौं।२२६।' लोग रामका कहते हैं, यह कौन कहलवाता है? प्रभु ही की प्रेरणासे तो लोग ऐसा कहते हैं,—'उर प्रेरक रघुबंस-विभूषन।' अतएव कहा—'जानि आपु सींचा।' भगवान् उसे त्यागते नहीं—यह उनका बड़प्पन है, वात्सल्य है। मिलान कीजिए—'बड़े सनेह लघुन्हपर करहीं। गिरि निज सिरनि सदा तृन धरहीं॥ जलधि अगाध मौलि वह फेनू। संतत धरनि धरत सिर रेनू।१।१६७।'

[वि० हरि—यह चरण अमूल्य है। जन-वत्सलता, उदारता, क्षमा और कृपाका जैसा कुछ समावेश इसमें किया गया है, वह देखते ही बनता है।

भ० स०—उसीसे पैदा हुआ उसीके माथे चढ़ै, यह नीचता है। अपना पाला जानकर जल उसे नहीं डुबाता। भाव यह है कि श्रीरघुनन्दनजी त्रैलोक्यस्वामी हैं, उनके गुणोंका वर्णन कैसे हो सकता है?

श्रीसीतारामचन्द्रार्पणमस्तु।

७३ (राग भैरव रा०)

'जागु जागु जीव जड़,[१] जोहै जग जामिनी।
देह गेह नेह जानि[२] जैसे[३] घन दामिनी॥ १॥

---

१ जागि जागि जीव जड—रा०। जागु जागु जीव जड़—ह०, ज०, डु०, आ०, भ०,। जागु जागु जागु जीव—भा०, वे०, ७४, श्री०श०। २ जानु—ज०, वै०, दी०, भ०। जानि—रा०, ह०, भा०, वे० तथा अन्य सबो मे। ३ जैसी—रा०। जैसे—औरो मे।

सोवत सपने[४] सहे संसृति[५] संताप रे।
बूड़ो मृगवारि खायो जेवरी के[६] सांप रे॥२॥
कहै बेद बुध तू तो बूझि मन माहिं रे।
दोष दुख सपने के जागे ही पै जाहिं रे॥३॥
तुलसी जागे ते 'जाइ ताप तिहुं ताय रे'[७]।
राम नाम सुचि रुचि सहज सुभाय[८] रे॥४॥

शब्दार्थ—जड़=अज्ञ; मूर्ख। जोहना=देखना। यथा 'बन बेहड़ गिरि कंदर खोहा। सब हमार प्रभु पग-पग जोहा।२।१३५।६।' जोहै=देख। जामिनी (यामिनी)=रात्रि। गेह (गृह)=घर। जानि=जान; जानकर। तुलसी ग्रन्थावलीमें इस क्रियाका प्रयोग दोनों अर्थोंमें पाया जाता है। इसी पदमें आगे 'बूझि' शब्दका अर्थ 'बूझ', 'बूझो' है। घन=मेघ। संसृति=संसार, आवागमन, भवचक्र, बारंबार जन्म-मरणकी परंपरा। बूड़ो=डूबा। मृगवारि—गर्मीमें जब वायुकी तहोंका घनत्व उष्णताके कारण असमान होता है, तब पृथ्वीके निकटकी वायु अधिक उष्ण होकर ऊपरको उठना चाहती है। परन्तु ऊपरकी तहें उसे ऊपर उठने न देतीं, इससे उस वायुकी लहरें पृथ्वीके समानान्तर बहने लगती हैं। मृग इससे प्रायः धोखा खाते हैं, इससे इसे मृगजल, मृगतृष्णा, मृगवारि, मृगभ्रमबारि आदि कहते हैं। जेवरी=रस्सी। माहि=में। ताप तिहुँ=त्रिताप; दैहिक दैविक भौतिक ताप।—विशेष पद ४० के शब्दार्थमें देखिए। ताय (ताव)=

४ सोवत सपने—रा०, ज०, डु०, मु०, वै०, दी०। सोवत सपनेहू—भ०, वि०, पो०। सोये सपने—७४। सूते सपने ही—ह०, भा०, बे०, प्र०, श्री० श०। ५ संसृति—रा०, ह०, ७४, भ०, आ०। संसृत—भा०, बे०। ६ के—रा० ह०, भा०, प्र०, ज०, ५१, १५। को—७४, बे०, आ०, भ०। ७ जाइ ताप तिहुँ ताय रे—रा०, आ०, भ०। जाइ तिहुँ ताप ताय रे—ह०। जाय तिहूँ ताप ताइ रे—भा०, बे०। जाइ तिहूँ ताप ताइ रे—प्र०। जाइ तिहूं ताप ताय रे—७४। ८ सुभाइ—भा०, बे०, प्र०। सुभाय—औरो मे।

जलन, तपन, ताव । रुचि=प्रवृत्ति; प्रीति । सहज=साथ उत्पन्न होनेवाला; प्राकृतिक; संग आदिसे बना हुआ नहीं । सुभाय= स्वभाव ।

पद्यार्थ—अरे जड़ जीव ! जाग, जाग और संसाररूपी रात्रिको देख । शरीर और घरके स्नेहको ऐसा समझ जैसे मेघोंमें बिजली । १। सोते हुये (निद्रामें पड़े हुए) स्वप्नमें तूने संसारके दुःख झेले और झेल रहा है । तू मृगजलमें डूबा हुआ है । तुझे रस्सीके साँपने डस लिया है ।२। अरे ! वेद और विद्वान पण्डित (पुकार पुकारकर) कहते (ही) हैं, (पर) तू भी तो अपने मनमें समझ-विचार ले कि स्वप्नके दुःख जागने ही पर जाते हैं (अन्यथा नहीं) । ३। तुलसीदासजी कहते हैं—अरे ! जागनेसे त्रितापकी जलन जायगी और (तभी) रामनाममें सहज स्वभावसे पवित्र रुचि होगी ।४। ❀

टिप्पणी—१ 'जागु जागु जीव जड़···' इति । (क) 'जागु जागु' से पाया गया कि वह सो रहा है और गहरी नींदमें है, एक बार जगानेसे नहीं जगा । अत कहते हैं 'जागु जागु जीव जड़' । भाव कि तू चेतन जीव होकर भी अचेतन जड़ समान हो गया है कि जगानेसे भी नही जागता । विशेप (ख) मे देखिए । यहाँ 'जागु जागु' में आग्रह की विप्सा है । पुनः भाव कि तुझपर भय उपस्थित है, विपत्ति आ रही है, यह भी 'जागु जागु' से जनाया । किसी पर संकट आता देख लोग बोल उठते है—'अरे भाग, भाग' इत्यादि । वैसे ही जीवपर विपत्ति आई देखकर उससे कहते हैं 'जागु जागु' । कामादि चोर इसके ज्ञान, वैराग्य आदि धनको चुरा रहे हैं । अतः उस मोह-निशामें सोये हुए को जगा रहे है ।

१ (ख) जीवका सोना और जागना क्या है ? मोहमें फँस जाना ही सोना है, यथा 'मोहनिसा सबु सोवनिहारा । देखिअ सपन अनेक प्रकारा । २।९३।२।' मोहके वश हो जानेसे ही जीव देह तथा

❀ यह अर्थ पं० रामकुमार, दीनजी, भट्टजी, वियोगीहरि, पोद्दारजी आदि ने किया है । अर्थान्तर—अतएव पवित्र श्रीरामनाममे सहजस्वभावसे पवित्र प्रीति कर, अर्थात् स्नेह सहित रामनामका स्मरण कर । नामके प्रभावसे तू आप ही जागेगा और जागनेसे तीनो ताप मिट जायँगे । (वै०, श्री० श०) ।

देहसंबंधी धन, धाम, पुत्र, कलत्र, आदिको अपना मानकर संसार-के अनेक गृहकार्यों, हर्ष-शोक आदिमें आसक्त हो जाता है, देखता हुआ कि ये नश्वर हैं, उनको सत्य और अपना मान लेता है। यथा 'सुत-वित-दार-भवन-ममतानिसि सोवत अति न कबहुँ मति जागी। १४०' ; इसीसे बारंबार जन्म-मरणके चक्करमें पड़ा रहता है। इन सबोंको नाशवान् और बाधक जान इनकी मोह-ममताका छूटना तथा भगवान्को जानना और विषयोंसे विरक्त हो जाना जीवका 'जागना' है। यथा 'जानिय तबहिं जीव जग जागा। जब सब बिषय बिलास बिरागा। २।९३।४।', 'मैं तैं मोर मूढ़ता त्यागू। महामोह-निसि सूतत जागू।६।५५।७।', 'जेहि जाने जग जाइ हेराई। जागे जथा सपन-भ्रम जाई ।१।११२।२।' जिह्वासे रामनामका भलीभाँति जपमें लग जाना भी 'जागना' है; यथा 'जागिबो जो जीह जपै नीके रामनाम को। क० ७।८३।'

१ (ग) 'जड़ जीव' इति। जीव मोहके वश होकर विषयासक्त हो गया, इसीसे नाना संकट सह रहा है, दूसरोंके समझानेसे भी नहीं समझता, अपनी हित-हानि नहीं देखता, इत्यादि कारणोंसे 'जड़' कहा। मिलान कीजिए—'विषया परनारि निसा तरुनाई, सुपाइ पर्‌यौ अनुरागहि रे। जम के पहरू दुख-रोग-बियोग बिलोकतहू न बिरागहि रे॥ ममता बस तैं सब भूलि गयो, भयो भोर, महाभय भागहि रे। जरठाइ दिसा रविकाल उग्यो, अजहूँ जड़-जीव न जागहि रे। क० ७।३१।'—इसमें सूर्योदय वा सवेरा भी बताया है। 'जड़'—पद ४६ नोट २-३ में शठ, मूढ़ आदि पर विशेष लिखा जा चुका है। ["जडोऽज्ञः इत्यमरः। अस्यार्थः जडः अज्ञः द्वे अत्यन्त-मूढस्य यदुक्तम्। इष्टं वानिष्टं वा सुखदुःखे वा न चेहयो मोहात्। विन्दति परवशगः स भवेदिह जडसंज्ञकः पुरुषः॥' अर्थात् हानि-लाभ तथा दुःख सुख जिसे नहीं सूझता वह 'जड़' है। (वै०)]

[वैजनाथजी लिखते हैं—'अविद्यारात्रिमें निद्रावश बहुत सोया, अब जाग। इतना कहनेपर जब वह न जगा, तब जोरसे पुकारकर बोध देकर कहते हैं कि हे जड़ ! जाग। विवेक वैराग्यरूपी नेत्रोंको खोल।']

१ (घ) 'जोहै जग जामिनी' इति। संसार अर्थात् भवचक्रको रात्रि कहा। श्रीलक्ष्मणजीने निषादराजसे भी ऐसा ही कहा है। यथा

'एहि जग जामिनि जागहिं जोगी। २।९३।२।' 'जोहै' का भाव कि देख, होशियार हो जा, सावधान हो जा, अज्ञानके फंदेसे छूटनेका प्रयत्न कर।

☞ इस पदमें जगको यामिनी कहा। अन्यत्र कहीं मोहको, कहीं महामोहको और कहीं ममता आदिको रात्रि कहकर उसमें सोना कहा है। यथा 'मोह निसा सब सोवनिहारा', 'महामोह निसि सूतत जागू।', 'सुत बित दार भवन ममता निसि सोवत अति न कबहुँ मति जागी।' और इसी पदके अगले चरणमें 'देह गेह नेह जान जैसे घन-दामिनी' कहा है। इससे सिद्ध होता है कि मोह, महामोह, सुत-बित-दार-भवनादिकी ममता वा देह-गेह-नेह 'जग' के पर्याय वा स्वरूप है।

१ (ङ) 'देह गेह नेह ...' इति। इसके दो प्रकार अर्थ हो सकते हैं—देह और गेहका स्नेह। एवं देह, गेह तथा जहाँ तक संसारमें सर्वत्रका स्नेह है वह सब। यथा 'जहँ लगि जगत सनेह सगाई। प्रीति प्रतीति निगम निजु गाई। मोरे सबइ एक तुम्ह स्वामी। २।७२।५-६।' [बैजनाथजीने 'देह' से देहसम्बन्धी स्त्री-पुत्रादि और 'गेह' से घरके पदार्थ अन्नधनादि (दूसरे शब्दोंमें देहसे तत्संबंधी चर और 'गेह' से तत्सम्बन्धी अचर जगत्) का ग्रहण किया है।]

'जानि जैसे घन दामिनी'—अर्थात् देह-गेह-नेह स्थिर नहीं है, चंचल है, अस्थाई वा क्षणभंगुर है। जैसे बिजली मेघोंसे निकलकर तुरत छिप जाती है। यथा 'दामिनि दमक रह न घन माहीं। खल कै प्रीति जथा थिर नाहीं। ४।१४।२।' मिलान कीजिए—'गज बाजि-घटा, भले भूरि भटा, बनिता सुत भौह तकै सबकै। धरनी-धन-धाम-सरीर भलो, सुरलोकहु चाहि इहै सुखवै। सब फोकट साटक है तुलसी, कहनी न कछू सपनो दिन द्वै।...।क० ७।४१।'

देह-गेह-नेहकी क्षणभंगुरता; यथा 'सहसबाहु दसबदन आदि नृप बचे न काल बली तें। हम हम करि धन धाम सँवारे, अंत चले उठि रीते॥ सुत बनितादि जानि स्वारथरत न करु नेह सबही तें। अंतहु तोहि तजैंगे पामर तू न तजै अबही तें। १९८ (२-३)।', 'नये नये नेह अनुभये देह गेह बसि, परिखे प्रपंची प्रेम परत उघरि सो। सुहृद-समाज दगाबाजिहि को सौदा सूतु ...।२६४ (२)।'

प्रह्लादजीने दैत्यबालकोंसे जो भा० ७।७ में कहा है उसमें भी यही भाव है।—'कामान्कामयते काम्यैर्यदर्थमिह पूरुषः। स वै देहस्तु

पारक्यो भङ्गुरो यात्युपैति च ।४३। किमु व्यवहितापत्यदारागार-धनादयः । राज्यं कोशगजामात्यभृत्याप्ता ममतास्पदाः ।४४। किमेतै-रात्मनस्तुच्छैः सह देहेन नश्वरैः । अनर्थैरर्थसंकाशैर्नित्यानन्दमहो-दधेः ।४५।'

अर्थात् जिस शरीरके लिये पुरुष इस लोकमें काम्य कर्मों द्वारा नाना प्रकारके भोगोंकी इच्छा करता है, वह देह तो परकीय और क्षणभङ्गुर है—वह तो वार-बार बिछुड़ता और मिलता रहता है। फिर इससे दूर रहनेवाले ममताके आश्रयरूप पुत्र, स्त्री, गृह, धनादि, राज्य, कोश, गज, अमात्य, सेवक तथा विश्वासपात्र व्यक्तियोंकी तो बात ही क्या है? इन तुच्छ विषयोंसे आत्माका क्या प्रयोजन है? ये तो देहके साथही नष्ट हो जानेवाले और पुरुषार्थरूप मालूम होने पर भी नित्यानन्दमहोदधि आत्माके लिये अनर्थरूप ही हैं।

१ (च) वैजनाथजी—जग-यामिनीमें जीवका मोह अंधकार है। देह-गेहमें अपनपौ मानना मेघोंका समूह है। देह-गेह-नेहमें जो क्षणमें चैतन्यता और क्षणमें 'भूल जाना' है यही बिजली है। [बिजली क्षण-क्षणमें चमकती और क्षण-क्षणमें बंद होती है। वैसेही कभी इनका संयोग होता है, कभी वियोग होता है। इनका स्नेह झूठा है, आँख बन्द होने पर कुछ भी नहीं है। (भ०)। पुनः, "कर्मानुसार चराचरका संयोग मेघोंकी घटा है, उनसे सुख-शोभाका क्षणिक संयोग बिजलीकी चमक है। इन्द्रके ऐश्वर्य मेघ हैं, वैसे ही कर्मेन्द्रिय हस्तके देवता इन्द्रके द्वारा कर्म-ऐश्वर्य भी होता है—यह उपमामें समता है। (श्री० श०)]

१ (छ) अँधेरी रात्रिमें बादलोंके होनेसे अंधकार अधिक हो जाता है। ऐसी रात्रिमें चोर, लुटेरे, उचक्के सोनेवालेका धन चुरा वा लूट लेते हैं। संसाररूपी रात्रिमें मोह, लोभ, काम, क्रोध, मद, अहंकार आदि चोर लूट-मार करते हैं। यथा 'मम हृदय भवन प्रभु तोरा। तहँ बसे आइ बहु चोरा ॥''''तम मोह लोभ अहंकारा। मद क्रोध बोधरिपु मारा ॥''''कह तुलसिदास सुनु राम। लूटहिं तसकर तव धाम। १२५।', 'भागे मद मान चोर भोर जानि जातुधानु काम क्रोध लोभ छोभ निकर अपडरे। ७४।' ज्ञान, भक्ति, विराग आदि रत्नोंको ये चुरा ले जाते हैं। यथा 'कामः क्रोधश्च लोभश्च देहे तिष्ठन्ति

तस्कराः । ज्ञानरत्नापहाराय तस्माद् जाग्रत जाग्रत ।' (आत्मबोध, श्रीस्वामी शङ्कराचार्यजी) ।

टिप्पणी २—'सोवत सपने सहै संसृति संताप रे···" इति । (क) संसार वा मोहरूपी रात्रिमें सोता हुआ जीव अनेक प्रकारके जो स्वप्न देखता है, उनको श्रीलक्ष्मणजीने निषादराजसे इस प्रकार कहा है—"जोग वियोग भोग भल मंदा । हित अनहित मध्यम भ्रम फंदा ॥ जनमु मरनु जहँ लगि जग जालू । संपति बिपति करमु अरु कालू ॥ धरनि धामु धनु पुर परिवारू । सरग नरक जहँ लगि व्यवहारू ॥ देखिअ सुनिअ गुनिअ मन माहीं । मोह मूल परमारथ नाहीं ॥ सपनें होइ भिखारि नृप, रंक नाकपति होइ । जागें लाभ न हानि कछु तिमि प्रपंच जियँ जोइ । २।९२।"—यह कहकर अन्तमें कहते हैं—'मोह निसा सब सोवनिहारा । देखिअ सपन अनेक प्रकारा ।'— अर्थात् उपर्युक्त सब स्वप्नवत् हैं ।

☞ "ईश्वर अंस जीव अविनासी । चेतन अमल सहज सुखरासी" ऐसा वह जीव मायावश अपने स्वरूपको भूल गया, अपनेको अनित्य, दुःखी, मरनेवाला इत्यादि समझने लगा । अविद्यालिङ्गित होकर गुणोंके सेवनसे तन्मयताको प्राप्त हो आध्यात्मादि अवस्था-त्रयादिको अपनेमें आरोपित कर नष्टैश्वर्य हो गया । यही मोह-निशामें सोना और स्वप्न देखना है ।

प्रज्ञानानन्दस्वामीका मत है कि 'मैं और मोर तोर तैं' यही मुख्य स्वप्न है । शत्रु-मित्र, गुण-दोष, भला-बुरा, सुख-दुःख, लाभ-हानि, रंक-राजा इत्यादि सब स्वप्न ही हैं ।

२ (ख) बुरे स्वप्न देखनेवालेको भारी कष्ट होता है । यथा 'जौं सपने सिर काटै कोई । बिनु जागें न दूरि दुख होई ।१।११८।२।', 'सुभग सयन सोवत सपने बारिधि बूड़त भय लागै । कोटिहु नाव पार न पावै सो जब लगि आपु न जागै ।१२१।', 'सपने नृप कहँ घटइ बिप्रबध, बिकल फिरै अघ लागें । बाजिमेध सत-कोटि करै, नहिं सुद्ध होइ बिनु जागें ।१२२।'; वैसे ही मोहनिद्रामें पड़े हुए जीवको अनेक संसृति क्लेश भोगने पड़ते हैं । गर्भवासमें सिर नीचे चरण ऊपर इस तरह पड़ा रक्त, विष्ठा, मल-मूत्र और माँस-मज्जासे चारों तरफ घिरा हुआ था, उस समयके संकटका पूछनेवाला कोई नहीं

था। जन्मते समय तीव्र कष्ट होता है। बालपनेमें भूख-प्यास और रोग के कष्ट, जरा, मरणके कष्ट और बारंबार जन्म-मरण इत्यादि संसृति संताप हैं जिनका वर्णन पद १३६ में आया है।—'बिसरे बिषाद निकाय संकट समुझि नहिं फाटत हियो। फिरि गर्भगत आवर्त्त संसृति-चक्र जेहिं सोइ सोई कियो।"

अपार संसृति दुःख, शोक और संशय द्वैतजनित हैं, मैं-मोर, तू-तेरा ही इनकी जड़ है।

२ (ग) 'बूड़ो मृगबारि ···' इति। जीवोंका प्रभुसे विमुख होकर देहमें आत्माभिमान करके संसारमें मग्न होना ही 'मृग-तृष्णाजल' में डूब मरना है। और 'अस अभिमान जाइ जनि भोरे। मैं सेवक रघुपति पति मोरे।' इत्यादि—इस यथार्थ ज्ञानसे वंचित होकर अपनी आत्मामें स्वातन्त्र्यताके आभाससे ईश्वराभिमान होना ही रस्सीके साँपसे डसा जाकर मरना है। यथा 'दासभूताः स्वतः सर्वे आत्मानः परमात्मनः। नान्यत्र लक्षणं तेषां बन्धे मोक्षे च विद्यते।' (अर्थात् सभी जीवात्मायें उन परमात्माके दास हैं। अन्यथा 'बंध-मोक्ष' लक्षण उन्हें नहीं प्राप्त होगा), 'अनात्मन्यात्मबुद्धिर्या चास्वे स्वमिति या मतिः। संसारतरुसम्भूतिबीजमेतद्द्विधा स्थितम्। ११। पञ्चभूतात्मके देहे देही मोहतमोवृतः। अहं ममैतदित्युच्चैः कुरुते कुमतिर्मतिम्।१२।' (वि० पु० ६।७) अर्थात् संसारवृक्षकी बीजभूता यह अविद्या दो प्रकारकी है—अनात्मामें आत्मबुद्धि और जो अपना नहीं है उसे अपना मानना। यह कुमति जीव मोहरूपी अंधकारसे आवृत होकर इस पंचभूतात्मक देहमें 'मैं' और 'मेरापन' का भाव करता है। (वे० शि० श्रीरामानुजाचार्यजी)।

पृथ्वीके निकटकी वायु जब ऊपरकी तहोंके कारण ऊपर नहीं उठ पाती, तब उस वायुकी लहरें पृथ्वीके समानान्तर बहने लगती हैं। यही लहरें दूरसे देखनेमें जलकी धारा-सी दिखाई देती हैं। मृग इससे प्रायः धोखा खाते हैं; इसीसे इसे मृगजल, 'मृगतृष्णा' आदि कहते हैं। इसे रविकर-भवबारि अर्थात् सूर्यकिरणसे उत्पन्न हुआ जल भी कहते हैं। क्योंकि रेतपर या ऊसर मैदानोंमें तीक्ष्ण सूर्य-किरणोंके पड़नेसे प्यासे हिरनको उसमें जल या जलकी लहरोंका धोखा होता है।

प्यासा हिरन मृगजलको देखकर उसमें सत्य जलकी आशा करते हुए दुःखी दौड़ता जाता है, बहुत दूर दौड़नेपर जल नहीं मिला, फिर भी वह आगे जलकी आशा करता है और फिर दौड़ता है। वहाँ जल है ही नहीं, तब मिले कहाँसे ? बस इस प्रकार वह दौड़ते-दौड़ते मर ही जाता है।

(१) यहाँ जीव या मनुष्य मृग है। विषय मृगजल है। आशा प्यास है। सुख सत्यजल है। (२) एक विषयके बाद दूसरे, फिर तीसरे, चौथे इत्यादिमें सुखकी प्राप्ति मानकर उनका सेवन करना यही लगातार दौड़ते फिरना है। अन्तमें प्यासे मर जाना ही मृग-जलमें डूबना है। क्रमशः उदाहरण ये हैं—यथा (१) तृषित निरखि रविकर-भव बारी। फिरिहहिं मृग जिमि जीव दुखारी। १।४३।८'; 'ब्रह्म पियूष मधुर सीतल जौं पै मन से रस पावै। तौ कत मृगजलरूप विषय कारन निसि बासर धावै।११६।', "तौ कत विषय बिलोकि झूठ जल मन कुरंग ज्यों धावै।१६८।"; 'आस-पिआस मनोमल हारी।१।४३।२।', 'संजम यह न विषय कै आसा।७।१२२।६।'; 'आनंद सिंधु मध्य तव बासा। बिनु जाने कस मरसि पियासा॥ मृगभ्रमबारि सत्य जल जानी। तहँ तू मगन भयो सुख मानी॥ तहाँ मगन मज्जसि पान करि त्रयकाल जल नाहीं जहाँ। निज सहज अनुभव रूप तव खलु भूलि जनु आयो तहाँ। निर्मल निरंजन निर्विकार उदार सुख तैं परिहर्यो।' १३६।...

(२) प्यासे फिरनेका भाव पद ८८ से स्पष्ट हो जाता है। यथा 'कबहूँ तो मन विश्राम न मान्यो। निसि दिन भ्रमत बिसारि सहज सुख जहँ तहँ इंद्रिन्ह तान्यो।।१। जदपि विषय संग सहे दुसह दुख विषम जाल अरुझान्यो। तदपि न तजत मूढ़ ममता बस जानतहूँ नहिं जान्यो।२। जनम अनेक किये नाना विधि करम कीच चित सान्यो।...। तुलसिदास कब तृपा जाइ...।४।' श्रीस्वामी शंकराचार्य-जीने भी कहा है—'आशया बद्धयते लोको कर्मणा बहुचिन्तया। आयुः क्षीणं न जानाति तस्मात् जाग्रत जाग्रत।' (आत्मबोध)।

२ (घ) विषयोंमें तथा विषयोंकी आशामे सुख नहीं; यथा 'जेहि सुख सुख मानि लेत सुख सो समुझ कियत॥ जहँ जहँ जेहि जेहि जोनि ... महि पताल बियत। तहँ तहँ तू विषय सुखहिं चहत लहत नियत॥ ... विमोह लख्यो, फट्यो गगन सियत। तुलसिदास

प्रभु सुजस गाइ क्यों न सुधा पियत ।।१३३।', 'सुधा समुद्र समीप बिहाई । मृगजल निरखि मरहु कत धाई ।१। . २४६।५।', 'अजहुँ विषय कहुँ जतन करत जद्यपि बहु विधि डँहकायो । पावक-काम भोग-घृत तें सठ कैसे परत बुझायो ।। विषयहीन दुख मिलें विपति अति सुखु सपनेहु नहि पायो । ''१६६ ।'

☞ महामोहको भी मृगजल कहा है। यथा 'महामोह मृगजल सरिता महुँ बोरो हौं बारहिं बार ।१८८।' श्रीरामजीको छोड़कर विषयों-मे लगना महामोह है। सं० १६६६ का पाठ 'महा घोर मृगजल''' है। प्रस्तुत पदमें 'बूड़ो मृगबारि' है, वैसे ही पद १८८ में 'बोरों हौं' है।

☞ ऊपर आये हुये उद्धरणोंसे स्पष्ट है कि विषय, सांसारिक सुख, महामोह एवं श्रीराम और श्रीरामभक्तिको छोड़ अन्य सब कुछ 'मृगजल' है।

२ (ङ) 'खायो जेवरीके सॉप' इति। रस्सी भयकी वस्तु नहीं है, पर उसीको जब हम अँधेरेमें भ्रमसे सर्प मान लेते हैं, तब उससे भय होता है कि डस न ले। यथा 'स्रग महँ सर्प बिपुल भयदायक प्रगट होइ अविचारे । बहु आयुधधर मिलि अनेक कर हारहिं मरइ न मारें। १२२।', 'सो परि डरै मरै रजु अहि तें बूझय नहिं व्यवहार ।१८८।', 'अनबिचार रमनीय सदा संसार भयंकर भारी । सम संतोष दया विवेक तें व्यवहारौ सुखकारी ।। तुलसिदास जद्यपि सब बिधिपरि-पंच गूढ़ श्रुति गावै । रघुपति भगति संत-संगति बिनु को भवत्रास नसावै ।१२२।'

नोट—१ संसारकी निवृत्ति निम्न किसी भी प्रकारसे हो सकती है।
(१) 'सीयराममय सब जग जानी । करौं प्रनाम जोरि जुग पानी ।।
।२।२।',
'जड़ चेतन जग जीव जत सकल राममय जानि ।
बंदौं सब के पद कमल सदा जोरि जुग पानि ।। १।७।',
'नयनन्ह निरखि कृपासमुद्र हरि अगजगरूप भूप सीतावरु । २०५।'

(२) 'मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत ।४।३।',
'जानत हौं हरिरूप चराचर मैं हठि नयन न लावौं ।१४२।'
'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' यह सारा जगत् चिदचिद्विशिष्ट ब्रह्म है।

(३) प्रत्येक प्राकृतिक शरीरमें आत्मा है और आत्मा ब्रह्मका शरीर है; अतएव सब जीवोंके शरीर ब्रह्मके शरीर हैं। सारा जगत् प्रभुका शरीर है।

(४) 'कर्म प्रधान बिश्व करि राखा। जो जस करै सो तस फल चाखा। २।२१९।४।', 'काहु न कोउ सुख दुख कर दाता। निज कृत कर्म भोग सब भ्राता।२।९१।८।', 'करम बिबस दुख सुख छति लाहू॥·· कठिन करम गति जान बिधाता। जो सुभ असुभ सकल फल दाता। २।२८२।', 'कर्मजं त्विह मन्यन्ते फलयोगं शुभाशुभम्। म० भा० शान्ति० २२२।२४।' (यहाँपर जो शुभ और अशुभ फलकी प्राप्ति होती है, उसमें कर्मही कारण माना जाता है)।

(५) सबके उर प्रेरक रघुवंशविभूषण हैं, अतः जो भी दुःख सुख हमको दूसरोंके द्वारा और दूसरोंको हमारे द्वारा मिलता है, उसके प्रेरक वे ही हैं। अतएव उसमें किसीका दोष नहीं।

(६) सब तरहके भाव और अभाव स्वभावसे ही आते-जाते हैं।—'स्वभावात् सम्प्रवर्तन्ते निवर्तन्ते तथैव च। म० भा० शान्ति० २२२।१५।' कर्म सब ओरसे प्रकृतिके गुणों द्वारा किये हुए होते हैं,—'प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः। गीता ३।२७।' जब शुभाशुभ सभी प्रकारके गुण स्वभावकी ही प्रेरणासे प्राप्त होते हैं, तब किसीको भी उनपर अभिमान करनेका क्या कारण है? गुण ही गुणोंमे वर्तते हैं ऐसा मानकर उनमें आसक्त न होना चाहिये।—'स्वभाव प्रेरिताः सर्वे निविशन्ते गुणा यदा। शुभाशुभास्तदा तत्र कस्य किं मानकारणम्। म० भा० शान्ति० २२२।२२।', 'गुणा गुणेषु वर्तन्ते इति मत्वा न सज्जते। गीता ३।२८।'

(७) यह संसार मिथ्या है, स्वप्नवत झूठा है। इसके सब व्यापार, सब विषय हमारे मनने गढ़ लिये हैं। इसमें जो रमणीयता देख पड़ती है वह ब्रह्मकी सत्तासे; यथा 'जासु सत्यता ते जड़ माया। भास सत्य इव मोह-सहाया।', 'यत्सत्त्वादमृषैव भाति सकलं रज्जौ यथाऽहेर्भ्रमः।'

उपर्युक्त (१) से (७) तकके अनुसार विचार करनेसे संसार भयंकर न होकर सुखकारी हो जायगा। ऐसे विचारोंसे 'सम सन्तोष दया विवेक' उत्पन्न होंगे। पर ये विचार श्रीरामभक्ति तथा सत्संग

करनेसे ही उत्पन्न होंगे—इसीसे अन्तमें कहते हैं—'रामनाम सुचि रुचि सहज सुभाय रे।'

[वैजनाथजी—मोहरूप अंधकारमें झूठे संसारमें सत्यका भ्रम जेवरीमें सर्पका भ्रम है। मोहसे पूर्वरूपका नष्ट होना सर्पका डसना है। विषय-विषमें पड़नेसे चौरासी लक्षयोनियोंमें भ्रमण करना मर जाना है।

वि० हरिजी—यहाँ मायावादका आरोप किया गया है। किन्तु यह विशेषता है कि 'आत्मबोध' होनेपर भी 'रामनाम सुचि रुचि' की सूचना दी गयी है।

श्री० शरणजी—कूपमें पड़ा हुआ मेढक रस्सीको सर्परूप देखकर डरता है। भवकूपमें पड़ा हुआ अज्ञानी जीव मेढकके समान है। भगवान् इसे सब ओरसे रस्सीकी तरह आवृत किये हुए हैं और इस तरह सब रूपोंसे उसका पालन करते हैं। पर यह भगवान्को नहीं जानता, किन्तु नानात्व जगत्की कल्पना कर लेता है। यही रस्सीको सर्परूप मानना है। प्रत्येक जीवोंके उपकारानुसार उनका ऋणी बनकर उनमें प्रीतिवश आसक्त होना, उन सर्पों द्वारा उसका डसा जाना है; उनके सम्बन्धसे तरह-तरहके दुःख भोगना उनके विषकी गर्मी है। अन्तमें चौरासीमें जाना मरना है।

इस चरणमें दो दृष्टान्तों द्वारा संसारका विषय और संसारकी आसक्ति—इन दोनोंसे पृथक होना दृढ़ किया।]

टिप्पणी—३ (क) 'तू तो बूझि मन माहि'—भाव यह कि विचार करना तो तुझको ही पड़ेगा, बिना विचारे समझ न आयगी और न क्लेश मिटेगा। मनमें समझते-समझते तब कहीं समझ पड़ेगा। यथा 'तुलसिदास कह चिदबिलास जग बूझत बूझत बूझै। १२४।'

३ (ख) 'दोष दुख सपने के जागे ही पै जाहि रे' इति। ऊपर स्वप्नमें संसृतिसंतापका सहना कह आए—'सोवत सहे संसृति संताप'; अब कहते हैं कि जबतक सोता रहेगा तबतक दोष दुःख बने रहेंगे, यथा 'सपने ब्याधि बिबिध बाधा भइ मृत्यु उपस्थित आई। बैद अनेक उपाय करहिं जागें बिनु पीर न जाई ।१२०।', 'सपने नृप कहँ घटइ बिप्रबध बिकल फिरै अघ लागें। बाजिमेध सतकोटि करै नहिं सुद्ध होइ बिनु जागें ।१२२।', 'जौं सपने सिर काटै कोई। बिनु जागें न दूर दुख होई ।१।११८।२।' अतएव जाग।

वैसे ही जगत् स्वप्नवत् दुःखद है, यथा 'तस्मादिदं जगदशेषमसत्स्वरूपं स्वप्नाभमस्तधिषणं पुरुदुःखदुःखम्। भा० १०।१४।२२।' अर्थात् यह अशेष जगत् असत्रूप स्वप्नवत् दुःखद है। पुनश्च, 'शोकमोहौ सुखं दुःखं देहोत्पत्तिश्च (देहापत्तिश्च) मायया। स्वप्नो यथाऽऽत्मनः ख्यातिः संसृतिर्न तु वास्तवी। भा० ११।११।२।' अर्थात् इस जीवको मायासे शोक, मोह, दुःख, सुख और देहप्राप्ति इत्यादि संसृतिका भास होता है, वह वास्तविक नहीं है, जैसे स्वप्न।

टिप्पणी—४ 'तुलसी जागे ते जाइ ताप···' इति। (क) जागनेसे क्या लाभ होगा, यह अब बताते हैं कि दैहिक, दैविक और भौतिक तापोंकी जो जलन हो रही है वह मिट जायगी और रामनाममें स्वाभाविक सहजमें छलरहित पवित्र रुचि उत्पन्न होगी। अतएव तू जाग।—पं० रामकुमारजीने यही अर्थ किया है।

[वैजनाथजीने अर्थ किया है—जागनेका क्या उपाय है सो बताते हैं कि जिस भाँति स्त्री, पुत्र, धन, व्यापार आदिमें तेरी रुचि है (उसे अशुचि जानकर त्याग दे) वैसे ही सहज स्वभावसे पवित्र जो रामनाम है उसमें रुचि कर, स्नेहसहित उसका स्मरण कर। रामनामके प्रभावसे आप ही जागेगा और तब तीनों तापकी तपन मिट जायगी।]

४ (ख) रामनाम प्रीतिपूर्वक जपनेसे त्रितापकी जलन नहीं होने पाती। यथा 'जो मन प्रीति प्रतीति सों रामनामहिं रातो। तुलसी रामप्रताप तें तिहुँ ताप न तातो।१५१।' बिना रामनामके यह तपन नहीं जाती। यथा 'राम राम राम जीय जौ लौं तू न जपि है। तौलों जहाँ जैहै तिहुँ ताप तपिहै।६८।'

नोट २—इसी प्रकार भा० ४।२६ में श्रीनारदजी कर्मफल भोगके संबंधमें कहते हैं—'जिस प्रकार स्वप्नमें होनेवाला स्वप्नान्तर उस स्वप्नसे छूटनेका उपाय नहीं है उसी प्रकार कर्मफलके भोगसे सर्वथा छूटनेका साधन केवल कर्म नहीं है, क्योंकि दोनों अविद्याजन्य हैं। जैसे स्वप्नके पदार्थ वास्तवमें न होनेपर भी प्राणीको स्वप्नमें भासते रहते हैं, वैसे ही अनात्म पदार्थ वास्तवमें न होनेपर भी उनमें अभिमान करनेवाले जीवका संसार निवृत्त नहीं होता'—यह कहकर फिर निवृत्तिका उपाय भगवद्भक्ति बताया है। वैसे ही यहाँ 'दोष दुख···'

कहकर रामनाम प्रेमको दुःखकी निवृत्तिका उपाय बताया है। (भा० ४।२६ ३४—४०)।

श्रीसीतारामचन्द्रार्पणमस्तु।

७४ (४६) राग ललित (विभास-रा०)

जानकीस की कृपा जगावति[1] सुजान जीव,
जागि[2] त्यागि मूढता[3] अनुराग श्री-हरे।
करि बिराग[4]/बिचार तजि बिकार भजि[5] उदार रामचंद्र,
भद्रसिंधु दीनबंधु बेद बदत रे ॥१॥
मोहमय[6] 'कुहू[7] निसा बिसाल काल बिपुल' सोयो,
खोयो सो अनूप रूप स्वपन यू[8]प रे।
अब प्रभात प्रगट ज्ञान-भानु के प्रकास,
वासना स रोग[9]/राग मोह द्वेष निबिड़ तम टरे ॥२॥

१ जगावति—६६। जगावती—प्रायः औरो मे। २ जागि त्यागि—६६, रा०, भा०, वे०, मु०, वै०, वि०, भ०। जाग त्यागु—दी०। ३ मूढता अनुराग—६६। मूढताऽनुराग—ह०, मु०, भ०। मूढतानुरागि—रा०। मूढतानुरागु—भा०, बे०। मूढताऽनुरागु—दी०। ४ बिराग—६६। बिचार—औरोमे। ५ भजि—६६, रा०, ह०, मु०, ७४। भजु—भा०, बे०, प्र०, ज०, आ०, भ०। ६ मोहमाय—वै०, वि०, सू० शु०। मोह माया—प्र०। मोहमय—औरोमे। ७ 'निसा बिसा बिसाल बिपुल'—६६। 'बिसा' लेख-प्रमाद जान पड़ता है। 'कुहू निसा बिसाल काल बिपुल'—ह०, भा०, बे०, ७४, भ० (कुहु)। कुहू निसा बिसाल काल बिपुल व्याल—रा०, मु०। 'निसि बिसाल ...'—प्र०। ८ यूपरे—६६। जूपरे—रा०, भा०, वे०, मु०, ह०, ज०, डु०। जूप रे—पं० रा० कु०। जो परे—वै०, ७४, भ०, वि०, सू० शु०। हू परे—दी०, श्री० श०। ९ वासना सराग—भा०, वे०, ह० (वास नास राग), भ०। वासना सरोग—६६, रा०, प्र०, ज०। वासनास रोग—७४, मु०, वै०। ☞ प्राचीन पोथियो-मे अक्षर अलग-अलग लिखे जाते थे। इसीसे 'वासना सरोग' और 'वास नास रोग' दोनो ही पढा जा सकता है।

भागे मद मान चोर भोर जानि जातुधानु,
काम क्रोध[10] लोभ छोभ निकर अपडरे।
देखत रघुवर प्रताप बीते संताप पाप,
ताप त्रिविध प्रेम आप दूर ही करे ॥३॥

श्रवन सुनि गिरा गभीर जागे अति धीर वीर
वर विराग तोष सकल संत आदरे।
तुलसिदास प्रभु कृपाल निरखि जीव जन विहाल,
भंज्यो भवजाल परम मंगलाचरे ॥४॥

शब्दार्थ—जानकीस (जानकी-ईश)=श्रीजानकीजीके पति श्रीरघुनाथजी। जगावति=जगाती है। कुहू=नष्टचन्द्रा अमावस्या। पूर्व लिखा जा चुका है कि पूर्णमासी दो प्रकारकी होती है। (पद ५८ 'राकेश' का शब्दार्थ देखिए)। वैसे ही अमावस्या भी दो प्रकारकी होती है—'सिनीवाली' और 'कुहू'। यथा 'सिनीवाली कुहूश्च'। दृष्ट-चन्द्रा अमावस्याका नाम 'सिनीवाली' है और नष्टचन्द्रा अमावस्या-का नाम 'कुहू' है। (वि० पु० २।८।८२ तथा श्रीमुनिलालकी पाद-टिप्पणी)। यूप=जूआ=समूह। प्रभात=सवेरा। निविड़=सघन। अपडरना=आपसे आप झूठे ही डरना; विशेष डरना। आप= जल। मंगलाचरे=मंगल आचरे। आचरना=आचरण, अनुष्ठान वा व्यवहार करना। यथा 'इहै भगति वैराग्य ज्ञान यह हरितोषन यह सुभव्रत आचरु। २०५।'

पद्यार्थ—श्रीजानकीपति श्रीरघुनाथजीकी कृपा सुजान जीवको जगाती है कि "हे सुजान जीव!† तू जाग, मूढ़ताको छोड़कर श्रीहरि रामचन्द्रजीमें प्रेम कर। विचार (वैराग्य) करके विकारोंको त्यागकर परम श्रेष्ठ, सरल, सबसे बड़े और महादानी श्रीरामचंद्रका भजनकर,

१० कोह—भ०, वि०,पो०। क्रोध—६६, रा०, भा०, वे०, मु०, दी०,वै०।

† 'रे सुजान जीव! तुझे श्रीजानकीशजीकी कृपा जगाती है।'—इस प्रकार भी अर्थ कर सकते हैं। अर्थान्तर—'श्रीरामचन्द्रकी कृपा ज्ञानी पुरुषको जगाती है (इसलिये) मूढताको त्याग''।' (भ०, वि०)।

जिन्हें वेद कल्याणोंका समुद्र और दीनजनोंका बंधु कहते हैं।१। प्रचुर-मोहरूपी कुहू (नष्टचन्द्रा अमावस्या) की बड़ी भारी रात्रिमें तू बहुत कालतक सोया और उसमें स्वप्नरूपी जूएमें एवं स्वप्न समूह में तूने अपना वह (पूर्वका) अनुपम रूप गँवा दिया। अब (आत्म-ज्ञानोदय रूपी) सवेरा हो गया। ज्ञानरूपी सूर्यके प्रकाशसे वासनायें, रोग (वा राग) सहित मोह, द्वेष रूपी सघन अंधकार जाता रहा।२। सवेरा जानकर (अर्थात् आत्मज्ञान होनेपर) रघुकुल श्रेष्ठ श्रीरामजी-के प्रतापरूपी सूर्य को देखते ही मद-मानरूपी चोर और काम-क्रोध-लोभ क्षोभ रूपी राक्षससमूह डरकर भागे, पाप-संताप जाते रहे, (और श्रीरघुनाथजीमें प्रेम उत्पन्न हुआ) प्रेमरूपी जलने त्रितापको दूर ही कर दिया (गर्मीकी तपन जलसे शान्त होती ही है)। ३। यह गम्भीर वाणी कानोंसे सुनकर जो अत्यन्त धीर वीर हैं वे जागे। श्रेष्ठ वैराग्य और सन्तोष (आदि) सबका सन्तोंने आदर किया (अर्थात् उनको वैराग्यादि प्राप्त हो गए)। तुलसीदासजी कहते हैं कि कृपाल समर्थ प्रभुने जीवरूपी जन (भक्त) को विह्वल-व्याकुल देखकर उसके संसाररूपी जालको (जिसमें वह फँसा था) नष्ट कर डाला और (उस जीवमें) परम आनंद-मंगलका आचरण करने लगे (अर्थात् सम्मुख जीवोंमें अब मंगल आचरण होने लगे, प्रभुने उनका दुःख दूरकर उनको सुख दिया)। ४।

टिप्पणी—१ (क) 'जानकीस की कृपा जगावति'—प्रथम श्रीजानकीजीकी कृपा जीवपर होती है, वे उसको भगवान्‌के सम्मुख, उसको समझा-बुझाकर तथा श्रीरामजीकी करुणाको उभारकर, करती हैं; तब प्रभु उसपर करुणा-अनुकंपा करते हैं। इस भावको दरसानेके लिये 'जानकीस' शब्दका प्रयोग किया गया। ४१ (४ घ) तथा पद ४२ में देखिए।

करुणाको उत्तेजित करनेपर प्रभु सोचते हैं कि बेचारा जीव अपने-से कर ही क्या सकता, उसको रक्षाको एकमात्र हम ही समर्थ हैं, यह कृपा गुण है। यह विचार आया कि जीव सोतेसे जागनेकी ओर प्रवृत्त हुआ।

१ (ख) 'सुजान जीव' से तात्पर्य उस जीवसे है जो समझदार है, समझानेसे समझ सकता है, जिसके हृदयमें माया-प्रपंचसे छुट-

कारा पानेकी इच्छा है, परन्तु जो अपनेसे उससे छूटनेमें असमर्थ है। जो समझानेपर भी नहीं समझेगा, उसको कोई क्या समझावेगा ?

[पिछले पदके 'रामनाम सुचि रुचि सहज सुभाय रे' का यह अर्थ लेनेपर कि 'पवित्र रामनामका स्नेहसहित स्मरण कर।', 'जानकीस की कृपा...' का भाव यह कहा जाता है—"निद्रामें पड़े हुए जीवको 'जागु जागु' पुकारनेसे उसमें किंचित् चेतनता आई, तब वह संदेह करता है कि प्रेमपूर्वक रामनाम स्मरण करनेसे मुझे कौन जगावेगा ? उसी पर कहते हैं कि श्रीजानकीशकी कृपा जीवमात्रके पास खड़ी उसे जगाती है।..." (वै०)।

श्री० शरणजीका मत है कि "रामनाम सुचि रुचि सहज सुभाय रे' में कहे हुए जागनेके उपायरूप श्रीरामनाममें जीवकी निष्ठा देखकर, इस जीवको सुजान (चतुर) कहा। क्योंकि थोड़े प्रयासमें जो बहुत बड़ा कार्य साध लेता है, वही चतुर कहाता है।" (श्री० श०)। अब जीवको अपना हित सूझने लगा, वह अपनेको ईश्वरका अंश समझने लगा। अतः उसे 'सुजान' कहा। (वै०)]

१ (ग) 'जागि त्यागि मूढ़ता...' इति। विषयोंमे ममत्व होनेसे भवजालमें उलझा पड़ा अनेक संसृति दुःख सहता आ रहा है, तब भी चेत नहीं होता, उन्हें छोड़ता नहीं, मैं-मोर तै-तोरमें पड़ा है, इत्यादि 'मूढ़ता' है। यथा 'जदपि विषय संग सहे दुसह दुख विषम जाल अरुझान्यो। तदपि न तजत मूढ ममता वस जानतहू नहिं जान्यो।८८।,' 'मैं तै मोर मूढ़ता त्यागू। महामोह निसि सूतत जागू। ६ ५५।७।' [देहाभिमानके कारण अबतक जो जड़ता रही वही मूढ़ता है। (वै०)]

१ (घ) 'अनुराग श्रीहरे' इति। मूढ़ताका त्याग करनेपर श्रीहरिमें प्रेम करनेको कहते हैं। भाव कि केवल मूढ़ताका त्याग होनेसे काम न चलेगा, भवजाल न कटेगा। यथा 'तुलसिदास भवरोग रामपदप्रेमहीन नहिं जाई।८१।' मूढ़तारूपी मलके सर्वथा नाशके लिए रामपदप्रेम आवश्यक है। यथा 'रामचंद्र अनुराग नीर विनु मल अति नास न पावै।८२।' पुनः, मनका स्वभाव है कि वह खाली बैठ नहीं सकता, मूढ़ता छोड़ी तो उसके बदले दूसरा काम बताते हैं कि श्रीहरिमें अनुराग कर।

'श्रीहरि' = श्रीजानकीजी सहित श्रीराम। श्री = श्रीजानकीजी। यथा 'उभय बीच श्री सोहइ कैसी। ब्रह्म जीव बिच माया जैसी। ३।७।३।', 'श्रीसहित दिनकरबंस भूषन काम बहु छवि सोहई '७।१२ छं० ।' पुनः, श्रीहरि = शोभायुक्त भगवान् राम। यथा 'तैं निज कर्म-जाल जहँ घेरो। श्रीहरि संग तज्यो नहीं तेरो।१३६ (४)।' पुनः, शुभ गुणों (वात्सल्य, करुणा, कृपा, शील, औदार्य आदि) से युक्त होनेसे 'श्री' विशेषण दिया। यथा 'श्रीर्गुणा' (भा० ११।१९।४१)।

१ (ङ) 'करि बिराग··' इति। सं० १६६६ की पोथीमें 'बिराग' पाठ है। उसके अनुसार भाव होगा कि श्रीहरिमें अनुराग तभी होगा जब पहिले विषयोंसे वैराग्य हो, वैराग्य होनेपर विवेक द्वारा मोहादि विकारका नाश होनेपर भजन और प्रेम होगा। यथा 'जब सब बिषय बिलास बिरागा॥ होइ बिबेकु मोह भ्रम भागा। तब रघुनाथ चरन अनुरागा।२।६३।४-५।', 'ज्ञान कि होइ बिराग बिनु।७।८९।'

'बिचार' पाठसे भाव होगा कि प्रथम विचार उठता है तब विषय-से वैराग्य होता है; यथा 'होइ न बिषय बिराग, भवन बसत भा चौथ पन। हृदय बहुत दुख लाग, जनम गएउ हरिभगति बिनु।१।१४२।' विचार, विकारोंका त्याग और भजन क्रमशः होते हैं, यथा 'अजहूँ बिचारि बिकार तजि भजि राम जन-सुखदायकं।·· बिनु हेतु करुना-कर उदार अपार माया तारनं।१३६ (९)।'

'विकार' से यहाँ षड्विकार काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मत्सर अभिप्रेत हैं।

१ (च) 'भजि उदार रामचंद्र···' इति। अब भज्यके गुण कहते हैं। वे उदार हैं अर्थात् बड़े श्रेष्ठ हैं, महादानी हैं, 'मंगन लहहि न जिन्ह कै नाहीं' ऐसे दाता हैं, याचकको अयाचक बना देते हैं। इनका भजन करनेसे वे पूर्णकाम बना देते हैं, अपार मायासे तार देते हैं; यथा 'ऐसो को उदार जग माहीं।···तुलसिदास सब भाँति सकल सुख जो चाहसि मन मेरे। तौ भजु राम काम सब पूरन करैं कृपानिधि तेरे। १६२।', 'जेइ जांच्यो सोइ जाचकतावस फिरि बहु नाच न नाच्यो। १६३ (२)।', 'बिनु हेतु करुनाकर उदार अपार माया तारनं। १३६ (९)।'

१ (छ) 'रामचंद्र'—चदि धातु आह्लाद अर्थका वाचक है। अतः 'रामचंद्र' का भाव कि ये ब्रह्माण्डभरको आह्लाद देनेवाले हैं।

'चंद्र' से शीलवान्, यशस्वी, सबको समान सुखदायक, प्रियदर्शन, तापनाशक इत्यादि भाव दर्शित किये । यथा 'सोम से सील। क० ७।४३।', 'जस सोम सो। क० ७।४२ ।', 'सरदातप निसि ससि अपहरई। ४ ।१७।६ ।', 'प्राची दिसि ससि उयेउ सुहावा। सियमुख सरिस देखि सुख पावा। १।२३७।७ ।', 'एकटक सब सोहहि चहुँ ओरा। रामचद्र मुख-चंद चकोरा। २।११५।५ ।', 'रामचंद्र मुख-चंद्र छबि लोचन चारु चकोर। करत पान सादर सकल प्रेमु प्रमोद न थोर। १।३२१।', 'विष्णुना सदृशो वीर्ये सोमवत् प्रियदर्शनः। वाल्मी० १।१।१८।', 'प्रजासुखत्वे चन्द्रस्य। वाल्मी० २।२।३० ।' अर्थात् जैसे चन्द्रमा सब प्रकारकी प्रजाओंको सुखी करता है, वैसे ही श्रीरामजी सबको सुखी रखते हैं), 'सौम्यश्च सर्वलोकस्य चन्द्रवत् प्रियदर्शनः। वाल्मी० २।४८।३०।' (अर्थात् संसार भरके लिये सौम्य हैं, उनका दर्शन चन्द्रमाके समान प्यारा है)।

☞ 'श्रीराम, रामचन्द्र और रामभद्र' ये सब श्रीरघुनाथजीके मुख्य नाम हैं। भगवान् शंकरने जो श्रीरामजीके मुख्य एक सौ आठ नाम कहे हैं, उनमें सर्वप्रथम ये ही तीन नाम हैं । यथा "ॐ श्रीरामो रामचन्द्रश्च रामभद्रश्च शाश्वतः। राजीवलोचनः श्रीमान् राजेन्द्रो रघुपुङ्गवः।" (प० पु० उ० २८१।३०)। श्रीशिवजीने श्रीपार्वतीजीसे बताया है कि "जो दूर्वादलके समान श्यामसुन्दर कमलनयन पीताम्बरधारी भगवान् श्रीरामका इन दिव्य नामोंसे स्तवन करते हैं, वे कभी संसार-बंधनमे नहीं पड़ते। 'राम, रामभद्र, रामचन्द्र, वेधा, रघुनाथ, नाथ एवं सीतापतिको नमस्कार है'—'रामाय रामभद्राय रामचन्द्राय वेधसे। रघुनाथाय नाथाय सीतायाः पतये नमः।' (प० पु० उ० २८१।५५)।—केवल इस मंत्रका भी जो दिन-रात जप करता है, वह सब पापोंसे मुक्त हो भगवान्का सायुज्य प्राप्त कर लेता है। यह वेदानुमोदित माहात्म्य है ।"—इससे सिद्ध है कि यह प्राचीन नाम है। मानस और विनयमें 'रामचंद्र' नामका प्रयोग कम नहीं है।—विशेष ४५ (१ क) में देखिए।

पुनः, 'भजि उदार रामचंद्र···' में श्रीलोमश मुनिके 'रामान्नास्ति परो देवो रामान्नास्ति परं व्रतम्।···तं स्मृत्वा चैव जप्त्वा च पूजयित्वा नरः पदम्। प्राप्नोति परमामृद्धिमैहिकामुष्मिकीं तथा॥ संस्मृतो मनसा ध्यातः सर्वकामफलप्रदः। ददाति परमां भक्तिं संसाराम्भोधिता-

रिणीम् ।'''एको देवो रामचन्द्रो व्रतमेकं तदार्चनम् । मन्त्रोऽप्येकश्च तन्नाम शास्त्रं तद्ध्येव तत्स्तुतिः ॥ तस्मात्सर्वात्मना रामचन्द्रं भज मनोहरम् ॥" (प० पु० पा० ३५।४६,४७,४८,५१,५२)—इन वाक्योंका भाव भी है। अर्थात् श्रीरामसे बड़ा कोई देवता नहीं, श्रीरामसे बढ़कर कोई व्रत नही।'''श्रीरामका स्मरण जप और पूजन करके मनुष्य परम पदको प्राप्त होता है। उसे इस लोक और परलोककी समृद्धि मिलती है। वे संपूर्ण कामनाओं और फलोंके दाता हैं। मनके द्वारा स्मरण और ध्यान करनेपर वे अपनी भक्ति प्रदान करते हैं, जो संसार-समुद्रसे तारनेवाली है।'''एकही देवता हैं—श्रीराम, एकही व्रत है—उनका पूजन, एक ही मंत्र है—उनका नाम, तथा एकही शास्त्र है—उनकी स्तुति। अतः तुम सब प्रकारसे परम मनोहर श्रीरामचन्द्रजीका भजन करो।—'उदार और भद्रसिंधु'में ये सब भाव हैं।

☞ 'उदार' का अर्थ दाता, महान् और सरल भी है,—'उदारो दातृमहतोः' (अमर० ३।२।६१), 'दक्षिणे सरलोदारौ' (अमर ३।१।८)। भ० गु० द० में 'उदार' गुणकी व्याख्या यह है—'पात्रापात्रविवेकेन देशकालाद्युपेक्षणात्। वदान्यत्वं विदुर्वेदा औदार्यं वचसा हरेः।' अर्थात् पात्र-अपात्र, देश-काल आदिका कुछ भी न विचारकर याचकमात्रको निस्स्वार्थ मनोवांछित देना उदारता है।

१ (ज) 'भद्रसिंधु' इति। कल्याणके समुद्र हैं। इससे जनाया कि वे स्वयं कल्याणस्वरूप हैं, कल्याणकी जन्मभूमि हैं, सबका सब प्रकार कल्याण करनेवाले हैं, कल्याणका सम्यक् प्रकार आयोजन करनेवाले हैं और सबको सब प्रकारके कल्याणोंके देनेवाले हैं। यथा 'अनेन श्रेयसा सद्यः संयोक्ष्येऽहमिमां महीम्। वाल्मी० २।२।१४।' (श्रीराम कल्याणस्वरूप हैं, उनका अभिषेक करके मैं भूमण्डलको तत्काल कल्याणका भागी बनाऊँगा। ये श्रीदशरथवाक्य हैं), 'सदा भव्योऽनसूयकः', 'कल्याणाभिजनः', 'सम्यग्योक्ता श्रेयसां' (श्लो० ३२,३५,४२)। आयु, श्री, यश, धर्म, शुभ लोक और सुख आदि सब कल्याण हैं। ऊपर १ (छ) में भी लिखा गया है। विशेष 'सर्वतोभद्रदाता समाकं। ५१ (८ घ)', 'सर्वतोभद्रनिधि।' ५३ (१ ख) में देखिए।

'कल्याण गुणोंका समुद्र' यह अर्थ किसीने किया है। श्रीराम कल्याणगुणोंके समुद्र भी हैं। यथा 'बहवो नृप कल्याणगुणाः सन्ति सुतस्य

ते' श्रीदशरथ महाराजसे यह कहकर फिर सर्गभरमें इन गुणोंका वर्णन करके अंतमे 'तमेवंगुणसंपन्नं' कहा है। वाल्मी० २।२।२६-४८।'

१ (झ) 'दीनबंधु' इति। अर्थात् सर्वसाधनहीन दीन-दुखी संकटापन्न प्राणियोंपर बंधुसमान निस्स्वार्थ प्रीति करनेवाले, उनके दुःखसे दुखी और सुखसे सुखी होनेवाले, उनकी पीरको जानने और पानेवाले तथा उनकी विपत्तिके निवारण करनेवाले होनेसे 'दीनबंधु' नाम है। यथा 'दास तुलसी दीन पर एक राम ही के प्रीति।२१६।', 'व्यसनेषु मनुष्याणां भृशं भवति दुःखितः।', 'सान्त्वयिता श्लक्ष्णः' (वाल्मी० २।२।४०, ३१। अर्थात् नगरके मनुष्योंपर संकट आनेपर वे बहुत दुखी हो जाते हैं। वे दीन-दुखियोंको सान्त्वना देनेवाले हैं), 'दीनबंधु दूसरो कहँ पावों। को तुम्ह बिनु पर पीर पाइहै केहि दीनता सुनावों। २३२।', 'दीनानुकम्पी' (वाल्मी० २।१।१५) अर्थात् उनके मनमें दीन-दुखियोंके प्रति बड़ी दया थी।

१ (ञ) 'वेद वदत रे' इति। यथा 'सर्वेषां वेदशास्त्राणां रहस्यं ते प्रकाशितम्।' आरण्यक मुनिने भी श्रीरामचन्द्रजीके उपर्युक्त १ (छ) में कहे हुए गुणोंको कहकर तब यही कहा है कि यह संपूर्ण वेद और शास्त्रोंका रहस्य है जिसे मैंने तुमपर प्रकट किया है। वाल्मीकीय रामायण वेदोंका अपबृंहणरूप है, उसके प्रमाण ऊपर आ ही चुके हैं। अन्यत्र भी कहा है—'वेद पुरान कहत जग जानत दीनदयाल दिन दानि हो।२२३।'

टिप्पणी—२ 'मोहमय कुहू-निसा··' इति। (क) किंचित् भी विवेक-विचारकी कला न होनेसे मोहमय कहा और इसीसे उसे 'कुहू' नामक अमावस्यासे रूपित किया। 'बिसाल काल बिपुल सोयो'—जीव अनन्त कालसे मोहमें फँसा पड़ा है। जीव-नामधारी अनादि अनन्तकालसे है, तभीसे मायाके फंदेमें पड़कर अपने स्वरूपको भूल सुत-वित-नारि-देह-गेहको अपना माने हुए भवप्रवाहमें बह रहा है। यथा 'नाचतही निसि दिवस मर्‍यो। तबही ते न भयो हरि थिर जब तें जिव नाम धर्‍यो।९१(१)।', 'जिय जब तें हरि तें बिलगान्यो। तब तें देह गेह निज जान्यो। मायाबस स्वरूप बिसरायो ·।१३६।', 'मेरे जान जब तें हौं जीव ह्वै जनम्यो जग, तब तें बेसाह्यो दाम लोह कोह

काम को। मन तिनही की सेवा, तिनहीं सों भाव नीको, बचन बनाइ कहौं हौं गुलाम रामको। क० ७।७०।'; इसीसे 'बिसाल काल' और 'बिपुल सोयो' कहा।

पुनः, रात्रिका नाम त्रियामा है। तीन प्रहरकी ही मानी जाती है, चौथा प्रहर तो ब्रह्ममुहूर्त होनेसे दिनही में उसकी गणना है। कुछ लोगोंके मतसे उसे चार प्रहरकी भी मान लें, तो भी इससे अधिक उसका प्रमाण नहीं, पर मोहमयरूपी रात्रि परिमाणरहित है, कल्पके कल्प बीत गए किन्तु यह रात्रि बनी ही है। अतः 'बिसाल काल बिपुल सोयो' कहा।

२ (ख) 'खोयो सो अनूप रूप' इति। जीव ईश्वरांश, अविनाशी अर्थात् सद्रूप, चेतन अर्थात् चिद्रूप और सहज सुखराशि है, वह 'निर्मल निरंजन निर्विकार सुखका भोगी था, यह उसका सहजस्वरूप है, इसीसे उसे 'अनुपम' कहा। इस सुखको छोड़कर विषयमें सुख मानने लगा, जहाँ स्वप्नमें भी सुख नहीं है; इसीसे 'अनूप रूपका खोना' कहा।

२ (ग) 'स्वप्न-यूप' इति। सं० १६६६ में 'यूप रे' पाठ है। कई पुस्तकोंमें 'जूप रे' है। 'जूप' का अर्थ ठीक न लगा पानेसे टीकाकारों-ने 'जू परे' अथवा 'जो परे' वा 'हू परे' पाठ रखकर अर्थ किया है।

शब्दसागरमें 'जूप' का अर्थ 'जुआ, द्यूत, पासा' और 'यूप' दिया है। प्राकृत 'जूअ' वा 'जूव' से यह शब्द बना माना है। 'यूप' का अर्थ 'यज्ञमें वह खम्भा जिसमें वलिका पशु बाँधा जाता है', 'वह स्तम्भ जो किसी विजय अथवा कीर्ति आदिकी स्मृतिमें बनाया गया हो'—यह दिया है। उसी कोशमें 'यूपा' शब्दका भी अर्थ 'जूआ, द्यूतकर्म' दिया है और उदाहरणमें सबलसिंहके "यहै मनोरथ जीतव यूपा। काहू कह्यो यह भेद न भूपा।' ये वाक्य दिये हैं।

पं० रामकुमारजी 'जूप' का अर्थ 'समूह' लिखते हैं। स्वप्नजूप = स्वप्नके समूहमें।—यह अर्थ भी संगत है। मोहनिशामें विशालकाल सोनेवाला जीव अनेकों स्वप्नके स्वप्न देखता है। यथा 'मोह-निसा सब सोवनिहारा। देखहिं सपन अनेक प्रकारा।' अनेक स्वप्न ही 'स्वप्न-समूह' हैं।

इस दीनकी समझमें 'जूआ' अर्थ यहाँ असंगत नहीं है। 'अनूप

रूप' दॉव है जो जूएमें लगा है। दॉव हारना उसका खोना है।*

२ (घ) 'अब प्रभात प्रगट···' इति। प्रभात 'प्रातःकाल' को कहते हैं। सूर्योदयके पहले ही प्रभात हो जाता है, अंधकार मिट जाता है, सब वस्तुयें दिखाई देने लगती हैं।

इसके अर्थ दो तीन प्रकारके मिलते हैं। अधिकतर अर्थ यही लोगोंने किया है कि—'देख ! अब सवेरा हो गया। ज्ञानरूपी सूर्यके प्रकाशसे···'। सूर्यदीन शुक्लजीका अर्थ यह है—'अब ज्ञानरूप सूर्यके उजेलेसे प्रातःकाल हुआ।' पं० रामकुमारजीके खर्रेमें यह अर्थ है—'ज्ञान-प्रगट-रूप अब सवेरा हुआ। भानुके प्रकाशमें···'।

'सवेरा' क्या है, इसे पं० रामकुमारजीको छोड़ प्रायः अन्य किसीने स्पष्ट नहीं किया।

वैजनाथजी इतना मात्र लिखते हैं—'अब प्रभात हुआ, अविद्यारात्रि मिटी'। जिसका आशय यह जान पड़ता है कि अविद्यारात्रिका नाश प्रभात है।

श्री० शरणजी लिखते हैं कि "श्रीरामजीकी कृपासे जागना अर्थात् विषयविलाससे वैराग्य होना प्रभात होना है, तब ज्ञानका उदय होता है; यथा 'ज्ञान कि होइ बिराग बिनु···'; यही प्रातःकालके सूर्यका उदय होना है।"—(पर इसमें शंका होती है कि 'जागना' और 'प्रभात' तो एक वस्तु नहीं हैं। विषयसे वैराग्यको जागना कहा गया है, यथा 'जानिय तबहि जीव जग जागा। जब सब बिषय बिलास बिरागा।')

२ (ङ) 'बासना सरोग/सराग मोह द्वेष ··टरे' इति। 'सराग'=राग सहित। इस पाठके अर्थमें कोई अड़चन नहीं पड़ती। 'सरोग' पाठमें किंचित् कठिनाई देख पड़ती है। टीकाकारोंने भिन्न-भिन्न अर्थ किये हैं—

(१) "बहुत सोनेसे कफवृद्धि, आलस्य आदि रोग होते हैं। वैसे ही इन्द्रियविषय आदि देहसुखकी वासना ही रोग हैं।" (वै०)।

* टीकाकारोने भिन्न-भिन्न अर्थ किये हैं—(१) 'जिस स्वप्नमे पड़ा है उससे···' (वीर)। (२) स्वप्नावस्थामे भी पड़कर तूने ··' (वै०, दी०)। इत्यादि।

(२) "वासना रोगके सहित मोह द्वेष सघन अंधकार है, सो दूर हुए।" (पं० रा० कु०) ।

(३) "मोह-द्वेषरूपी रोगोंके सहित वासनारूपी सघन अंधकार दूर हुए। इस पाठमें वासनाके विविध भेदोंको लेकर 'टरे' इस बहुवचनकी सार्थकता होगी। राग एवं मोह द्वेष आदि मानसरोग हैं ही।" (श्री० श०) ।

(४) "सहित रोग इच्छा, द्वेष, मोहरूप महा अँधेरा दूर गया।" (सू० शु०) ।

(५) वासना अर्थात् भाँति भाँतिकी इच्छाएँ। अभिलषित पदार्थका न मिलना ही रोग है।

मोह-द्वेषको तम कहा, क्योंकि मोह हो जानेपर बुद्धिको कुछ सूझता नहीं। ज्ञानदीपक प्रसंगमें भी इन्हें 'अपार तम' कहा है। यथा 'मोह आदि तम मिटइ अपारा।७।११८।३।' 'आदि' शब्दमें द्वेष भी आ गया। ज्ञानोदयसे मोहादिका नाश होता है। यथा 'आतम अनुभव सुख सुप्रकासा। तब भवमूल भेद भ्रम नासा। प्रबल अविद्या कर परिवारा। मोह आदि तम मिटइ अपारा।७।११८।२-३।' 'भए ज्ञान बरु मिटै न मोहू।२।१६६।३।'

मोह, द्वेष और वासना ये सभी रोग माने गए हैं। क्रमशः यथा 'मोह सकल व्याधिन्ह कर मूला। ७।१२१।२९।', 'पर-सुख देखि जरनि सो छई।' (यह द्वेष है), 'त्रिविध ईषना तरुन तिजारी।७।१२१।३६।' (एषणा वासना है) । अतएव 'वासना-रोगसहित' अर्थ भी पूर्ण संगत है। मोह द्वेषके साथ भी 'सरोग'का अन्वय हो सकता है।

टिप्पणी—३ (क) 'भागे मद मान चोर भोर जानि'—चोर रात्रिमें ही सोतेमें चोरी करते हैं, सवेरा होते ही भाग जाते हैं। वैसे ही मोहरूपी रात्रिमें सोते हुए जीवके यहाँ मद-मानरूपी चोर चोरी करते हैं। मद-मान चोरोंको कोई न तो जल्दी पहचान पाता है और न पकड़ पावे। इसीसे इन्हें चोर कहा। मानसके रामप्रताप दिनेशोदयके रूपकमें भी इनको चोर कहा है। 'हहि सबके लखि बिरलेन्ह पाए।७।१२२।२।', 'बडे अलेखी लखि परे परिहरे न जाही। असमंजसमें मगन हौं लीजे गहि बाहीं।१४७।', 'मत्सर मान मोह मद चोरा।७।३१।६।'

ज्ञान होनेपर ये भाग जाते हैं, यथा 'ज्ञान मान जहँ एकउ नाहीं।

देख ब्रह्म समान सब माहीं ।३।१५।७।'; ज्ञान होनेसे जीव सबको निज-प्रभु-सियाराम-मय देखने लगता है, तब मान और मद किसके लिये किया जाय। तब तो यह दशा हो जाती है कि 'बंदौं सब के पद कमल सदा जोरि जुग पानि ।', 'करौं प्रनाम जोरि जुग पानी ।'

३ (ख) 'जातुधान काम क्रोध लोभ छोभ निकर अपडरे' इति। पूर्व पद ५८ में विश्रामहारी पाकारिजित मेघनादको काम, पापिष्ठ देवान्तकको क्रोध और लोभको अतिकाय नामक राक्षस कहा है। काम, क्रोध, लोभ और दुःख आदि मनोवेगोंके कारण जो चित्तकी विचलता होती है उसको क्षोभ कहते हैं; यथा 'तात तीनि अति प्रबल खल काम क्रोध अरु लोभ। मुनि विज्ञानधाम मन करहिं निमिष महँ छोभ ।३।३८।' कामादिके कारण चित्तमें खलबली होनेसे क्षोभ कामादिकी सन्तान हुई। अतएव क्षोभको भी राक्षस कहा। 'निकर' कहकर जनाया कि ये इतने ही नहीं हैं, इनका परिवार बहुत बड़ा है। ज्ञानोदय होनेपर ये सब डरकर भाग गये।

'अपडरे' इति। 'अप' उपसर्ग जिस शब्दके पहले लगता है उसके अर्थमें निम्नलिखित विशेषता उत्पन्न करता है—निषेध, अपकृष्ट, विकृति, विशेषता। (श० सा०)। यहाँ 'अपडरे' का अर्थ मेरी समझमें 'विशेष आशंकित हुए वा डरे' अधिक संगत है। दूसरा अर्थ है कि 'अपनेसे ही डरे, उनका डर कल्पित वा झूठा था'। यथा 'बहु राम लछिमन देखि मर्कट भालु मन अति अपडरे ।६।८८ छंद ।', 'अपडर डरेउँ न सोच समूले ।२।२६७।३।'

३ (ग) 'देखत रघुबर प्रताप बीते संताप पाप···' इति। (क) जब ज्ञान हुआ तब रघुवर-प्रताप देख पड़ा। प्रताप देख पड़नेपर श्रीरघुनाथजीमें प्रेम हुआ और प्रेम होनेपर तीनों प्रकारके ताप दूर हो गए। श्रीरामचन्द्रानुरागको जल कहा है। यथा 'तुलसिदास ब्रत दान ज्ञान तप सुद्धि हेतु श्रुति गावै। रामचंद्र अनुराग नीर बिनु मल अति नास न पावै ।८२।', 'तुलसिदास भवरोग रामपदप्रेमहीन नहि जाई। ८१।' (पं० रामकुमारजी)।

☞ स्मरण रहे कि जिसके हृदयमें रामप्रतापरूपी सूर्य प्रकाश करता है, उसके अविद्या, अविद्याजनित पाप, काम-क्रोध, नाना कर्म-गुण-काल-स्वभाव, मत्सर, मान, मोह और मद नाशको और ज्ञान, विज्ञान, सुख-सन्तोष, विराग और विवेक वृद्धिको प्राप्त होते हैं। यथा

'यह प्रताप रबि जाके उर जब करइ प्रकास। पछिले बाढ़हिं प्रथम जे कहे ते पावहिं नास।७।३१।'

[वैजनाथजी लिखते हैं—अविद्याका परिवार ज्ञानके प्रतापको विशेष नहीं डरता। प्रीतिपूर्वक नामस्मरण करते-करते जब हृदयमें रूपका ध्यान आ गया तब उन रघुनाथजीका प्रंचडप्रताप देखते ही हानि-वियोगादि सब संताप (दुःख) तथा संचित पाप बीते और प्रारब्धी पापोंके फल (दैहिक, दैविक, भौतिक) त्रिविध तापोंको राम-प्रेमरूपी जलने बुझा दिया। अर्थात् संचित पाप तो प्रभुके सम्मुख होते ही नाशको प्राप्त हुए और प्रारब्धी त्रिताप प्रेमके प्रभावसे बुझ गए, जीव आनन्दित हो गया।

दीनजी—"इस पदसे ज्ञानपक्ष और भक्तिपक्षके मार्गका भेद प्रगट होता है - ज्ञानीको अपने ज्ञानका भरोसा रहता है। पर दीन भक्तको अपने स्वामी श्रीभगवान् ही का एकमात्र आसरा होता है। ज्ञानपक्षमें पुरुपार्थका भाव वर्तमान रहता है, पर भक्तिपक्षमें भगवत्कृपारूपी जलसे अहमन्यताके सारे भाव धुल जाते हैं।"

श्रीकान्तशरणजी—ज्ञानकी परानिष्ठा पराभक्तिरूपमें कही गई है, उस समय श्रीरामजीका साक्षात्कार रहता है, तब ज्ञान उदित प्रचंड सूर्यके समान हो जाता है। अतः 'देखत रघुबर प्रताप' से यहाँ पराभक्तिकी अवस्थाके ज्ञानका महत्व कहा गया है। पहले जो काम-आदि राक्षस अपने आप डरे थे, उनके सूक्ष्म भाव रह गए थे, उनका यहाँ निर्मूल होना कहा गया। अतः 'संताप पाप' का अर्थ यह होगा कि पापरूप जो सूक्ष्म भावसे काम-क्रोध-लोभ-क्षोभ आदि थे, उनके सन्ताप जड़ समेत नष्ट हो गए।

टिप्पणी ४ - 'श्रवन सुनि गिरा गँभीर जागे अति धीर बीर···' इति। (क) 'जानकीस की कृपा जगावति सुजान जीव०' प्रतापयुक्त श्रीरघुवीरकी कृपाका वर्णन—यही प्रभावयुक्त गम्भीर वाणी है। जो अत्यन्त धीर वीर (संत) हैं वेही जागे। इससे जनाया कि जो अति धीर बीर नहीं हैं, वे वाणीको सुनकर भी नहीं जागे। इसीसे उपक्रममें कहा है कि 'सुजान जीव' को ही कृपा जगाती है। इसीसे जागनेवालोंमें योगी वा संयमीको ही अन्यत्र कहा गया है। यथा 'नाम जीह जपि जागहिं जोगी। बिरति बिरंचि प्रपंच बियोगी।१।२२।१।', 'एहिं जग जामिनि जागहि जोगी। परमारथी प्रपंच-बियोगी।२।६३।२।',

'या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी। गीता २।६९।' अज्ञानी, असंयमी, शब्दादि विषयोंमें लगी हुई बुद्धिवाले सोते ही रहे। (ख) 'धीर' अर्थात् जो कामादिकी सेना देखकर पैर पीछे न हटावें, क्षुब्ध न हों। यथा 'लछिमन देखत काम अनीका। रहहिं धीर तिन्ह कै जग लीका।३।३८।' वीर, यथा 'महा अजय संसार-रिपु जीति सकै सो बीर।६।७९।'

४ (ग) 'बर बिराग तोष सकल संत आदरे' इति। जागकर सन्तोंने श्रेष्ठ वैराग्य और संतोषका आदर किया अर्थात् वैराग्यादि पदार्थ उनको प्राप्त हुए।

☞यह अर्थ प्रायः पं० रामकुमारजी, दीनजी, वियोगीजी, पोद्दारजी, भट्टजी ने किया है।

वैजनाथजी लिखते हैं —"जब जीव जागकर प्रेमपूर्वक नाम-स्मरण करने लगा तब उसकी रीति-रहस्य देख उसे रामस्नेही जान सकल सन्त आदरपूर्वक वचनोंसे उसकी प्रशंसा करने लगे—यह सन्तोंकी प्रामाणिक गौरवकी वाणी सुनकर 'वर विराग सन्तोष आदि वीर अत्यन्त धैर्यमान हो' जागे। अर्थात् अन्तःकरणमें उत्पन्न हुए। विराग और सन्तोष बिना उपाय स्वयं उत्पन्न हुए इससे उनको वर कहा।···"

श्रीकान्तशरणजीने अर्थ किया है कि "समस्त सन्त लोग आदर करने लगे; उनकी गंभीर वाणी कानोंके द्वारा सुनकर श्रेष्ठ वैराग्य और सन्तोष आदि धैर्यवान् वीर जाग पड़े।" कृपाका कार्य विशुद्ध सन्तोंके द्वारा होता है; यथा 'संत बिसुद्ध मिलहिं परि तेही। चितवहिं राम कृपा करि जेही।' इत्यादि। सन्त अपने सदोपदेश द्वारा मोहमग्न जीवोंको जगाते हैं, क्योंकि वे मोहनिशामें जागते रहते हैं। सन्त पारमार्थिक अवस्थाके ज्ञाता होते हैं। अतएव उनकी वाणी यथार्थ और अगाध आशयपूर्ण होती है। इसीसे इसे 'गंभीर गिरा' कहा गया है। सन्तोंकी सराहनासे श्रीरामजीकी कृपाका बल अपने पर जानकर मुमुक्षुको विशेष उत्साह हुआ। उसके हृदयके श्रेष्ठ वैराग्य और सन्तोष जाग पड़े।

सू० शुक्लजी अर्थ करते हैं—"कानोंसे गरू वाणी सुन बड़े धैर्य-वान् वीररूपी उत्तम वैराग्य जगे, संतोषरूपी साधुओंका सम्मान हुआ।"

४ (घ) 'तुलसिदास प्रभु कृपाल निरखि जीव जन बिहाल...' इति। जब जीव संसारको जीतनेके लिये समरमें सम्मुख हुआ, तब मोहदलने प्रबल होकर जीवको दबाया, जिससे वह संकटमें पड़ गया। उसे विह्वल देख प्रभुने कृपा-गुणको सँभाला और उसके भव-पाशको काट डाला। (वै०)। 'प्रभु कृपाल' का भाव कि आप उसके भवजालके काटने, उसके संकटको दूर करनेको समर्थ हैं। समर्थ हो, पर उसमें दया न हो, तो उससे काम नहीं चल सकता, अतएव कहा कि वे कृपाल भी हैं। उन्होंने अपनी कृपासे जीवको जगाया और फिर स्वयं ही उसके दुःखको दूर किया; अतः कृपाल विशेषण दिया। 'जानकीस की कृपा' उपक्रम है और 'कृपाल' उपसंहार है।

४ (ङ) 'परम मंगलाचरे' इति। देहाभिमान मोह-ममता आदिके नाश होनेपर शुद्ध प्रेमा-पराभक्ति और परममंगल और परमानन्दका लाभ होता है। इससे 'सर्वे भद्रं पश्यन्तु' की सूचना मिलती है। (वि० ह०, वै०)।

श्रीसीतारामचन्द्रार्पणमस्तु।

७५ (४७) राग ललित (रा०)

खोटो खरो रावरो हौं 'रावरी* सों*' रावरे सों,

झूठो[1] क्यों कहौंगो जानो सब ही के मन की।

करम बचन हियें कहौं नहीं[2] कपटु किये,

ऐसी हठ जैसी गाँठि पानी परें सन की ॥१॥

दूसरो भरोसो नहिं[3] बासना उपासना की,

बासव बिरंचि सुर नर[4] मुनिगन की।

** रावरी सो—वै०, वि०, सू० शु०, मु० मे नही है। ६६, रा०, भा०, वे०, ह०, दी०, पो०, भ० मे है। १ झूठो—६६। झूठो—रा०, मु०, ह० डु०। झूठ—भा०, वे०, ७४, भ०, दी०, वि०, पो०। २ नही—६६। न—प्रायः औरो मे। ३ नहि ६६, रा०, भा०, वे०। नाहिं—ह०, ज०, ७४, आ०, भ०। ४ 'नर' ६६ मे नही है, अन्य सबोमे है।

स्वारथ के साथी मेरे 'हाथी[5] स्वाने' लेवा देई
काहू तो न पीर रघुवीर दीन जन की ॥२॥
साँप सभा सावरु लवारु भयें देवं[†] दिव्य
दुसह सांसति कीजै आगें दै[6] या तन की।
साँचे पर[7] पावों पान 'पांच मैं प्रवान पनु'[8]
तुलसी चातकु आस राम-स्याम घन की ॥३॥

शब्दार्थ—खोटा-खरा = भला-बुरा; उत्तम अथवा निकृष्ट। सौं = सौगंद; कसम; शपथ। = से। क्यों = किस प्रकार; कैसे। हियें = हृदय-से। परें = पड़नेसे। सन (शण)—यह एक प्रसिद्ध पौधा है। इसके डंठल रेशेदार छिलका अलग करनेके लिये पानीमें डालकर सड़ाये जाते हैं। छालके रेशोंसे सुतली और रस्सी आदि बनती हैं। यहाँ 'सन' से सनकी सुतली वा रस्सी अर्थका ग्रहण होगा। गाँठि = ग्रन्थि; गिरह। वासव = इन्द्र। पीर = पीड़ा; दर्द। दूसरेके दुःखसे पसीजने का भाव; सहानुभूति। लेवा-देई = लेन-देन; लेना-देना; व्यवहार। सावरु (शंबर) = एक प्रकारका सिद्ध मंत्र जो शिवजीकृत माना जाता है। = शाबरमन्त्रका जाननेवाला; सँपेरा। (दीनजी)। लवारु (सं० लपन = बकना) = झूठा; गप्पी। यथा 'बालि न कबहुँ गाल अस मारा। मिलि तपसिन्ह तैं भएसि लबारा।' दिव्य = शपथ। = परीक्षा। विशेष टिप्पणी ३ ख में देखिए। साँसति = दण्ड। आगें दै = अपने सामने हो।—आगे देना = सामने रखना, उपस्थित करना। आगे = सामने। साँचे पर = सच्चा होनेपर। पान पाना—पानका बीड़ा मिलना प्रतिष्ठाका मानों प्रमाणपत्र है। = आदर किया जाना। पाँच =

---

५ हाथी स्यान—६६, रा० (रा० मे 'स्यने' था, 'स्य' पर २ बनाया है अर्थात् स्याने)। हाथी स्वान—७४, मु०, डु०, वै०, दी०, वि०। हाथ सो न—भा०, च०, ह०, भ०, प्र०। † देउ[०] दिव्य—भ०, दी०। ६ दे—६६, रा०, ह०, भा०, वे०, ७४, ज०, दी०। ही-श्रा०। ७ पर—६६, भ०। परे—रा०, ह०, ७४, प्र०, ज०, दी०। परै—भा०, वे०। परी—वै०, वि०, पो०। परो—मु०। ८ पाच मैं प्रवान पनु—६६। पाच मैं पन प्रवान—रा०, ह०। पाचमे पन प्रमान—ज०। । पंचमे परै प्रमान—भा०, वे०, ७४। पंचनमे पन प्रमान—वै०, दी०, नि०, मु० (पचन मैं···) पंच मे पन प्रमान—पो०। पांचमे प्रमान पनु—भ०।

पाँच या अधिक मनुष्योंका समुदाय; जनता । यथा 'मोरि बात सब बिधिहि बनाई । प्रजा पाँच कत करहु सहाई ।।२।१८०।८।'=पंच । प्रवान=प्रमाण; यथा 'कहा जो प्रभु प्रवान पुनि सोई ।१।१५०।७।', 'मैं पुनि करि प्रवान पितु बानी । बेगि फिरब सुनु सुमुखि सयानी । २.६२।१.'

पद्यार्थ—(हे रघुवीर श्रीरामचन्द्रजी !) मैं बुरा-भला (जो कुछ भी हूँ पर) आपका ही हूँ । आपकी सौगन्द (खाकर कहता हूँ । भला) आपसे झूठ क्योंकर कहूँगा (जब कि) आप सभीके मनकी जानते हैं । मैं कर्म, वचन और मनसे कहता हूँ (कुछ) कपट करके (अर्थात् कपट भावसे) नहीं कहता । मेरी हठ ऐसी (दृढ़) है, जैसी पानी पड़नेपर सनकी गाँठ (दृढ़ पड़ जाती है, उसका खुलना कठिन हो जाता है) ।१। मुझे न तो दूसरा (अर्थात् किसी साधनका) भरोसा है और न इन्द्र, ब्रह्मा, देवता, मनुष्य या मुनिसमूहकी उपासना (भक्ति) की इच्छा है । (ये सब) मेरे साथी स्वार्थके साथी अर्थात् मतलबके यार हैं । 'हाथी-श्वाने' (हाथीके बदलेमें श्वान देना) इनका व्यवहार है * । हे रघुवीर ! (इनमेंसे) किसीको भी तो दीन-जनकी पीर नहीं है ।२। (अब अपनी प्रतिज्ञा वा निष्ठाकी सत्यताके विषयमें कहते हैं—) हे देव ! आपकी शपथ (खाकर कहता हूँ) ! जैसे साँपोंके (दिव्य) समाजमें शाबरके झूठा (साबित) होनेपर कठिन साँसति (की प्राप्ति होती है), वैसे ही 'दिव्य' अर्थात् परीक्षामें झूठा होनेपर, इस शरीरको अपने सामने ही दुःसह दण्ड दीजिए । और सच्चा होनेपर पंचोंके बीचमें (मुझे सरकारसे) पानका बीड़ा मिले और पंचोंमें मेरे इस प्रणका प्रमाण हो (अर्थात् पंच इस बातको प्रमाण करें कि) तुलसीदासरूपी चातकको (एकमात्र) श्रीराम घन-श्यामकी आशा है ।३।

वैजनाथजी—देहेन्द्रिय सहित मनको और मन-चित्त बुद्धि-अहंकार-सहित जीवको (पिछले पदमें) प्रभुके सम्मुख करके अब सेवक-सेव्य भावकी दृढ़ताके लिए प्रार्थना करते हैं ।

---

* 'मेरेसे हाथी और श्वानका लेना-देना करते हैं । (इु, भ. स.) । मेरे हाथीका श्वानसे लेन-देन करते हैं ।

टिप्पणी—१ 'खोटो खरो रावरो ···' इति। (क) 'खोटा खरा' और 'खरा खोटा' दोनों ही मुहावरे हैं। यथा 'गाँठी बाँध्यो राम सो परिख्यो न फेरि खर खोट।१६१।', 'खोटो खरो ···' (यहाँ), तथा 'तुलसी राम जो आदरयो, खोटो खरो खरोइ। दो० १०६।' दोनोंका अर्थ 'भला-बुरा' 'जैसा-तैसा' है। यही भाव 'जैसो हौं तैसो राम रावरो जन जिनि परिहरिये।२७१।', 'स्वामी समरथ ऐसो हौं तिहारो जैसो-तैसो काल चाल हेरि होति हिये घनी घिनु।२५३।', 'तुलसिदास भलो पोच रावरो नेकु निरखि कीजे निहालु।१५४।' इन उद्धरणोंमें है।

'खोटो' को प्रथम कहकर जनाया कि मुझमें अवगुणही अवगुण भरे हैं (यथा 'हौहुँ रावरो जद्यपि अघ अवगुनन्हि भर्यो हौं।२६६।') खरापन वा गुण तो एक ही है, वह यह कि मुझे आपका ही भरोसा है। यथा 'है तुलसी के एक गुन, अवगुननिधि कहैं लोग। भलो भरोसो रावरो राम रीझिबे जोग। दो० ८५।'—यही बात इस पद भरमें दृढ़की गई है। खोटा और खरापन कवितावलीमें भी दिखाया है। यथा 'साधु कै असाधु, कै भलो कै पोच, सोचु कहा, का काहू के द्वार परौं, जो हौं सो हौं रामको। क० ७।१०७।', 'कोऊ कहै करत कुसाज, दगाबाज बड़ो, कोऊ कहै रामको गुलामु खरो खूब है। साधु जानैं महासाधु, खल जानैं महाखल···। क० ७।१०८।' ठीक और मुख्य अर्थ यही है। पुनः भाव कि खोटा ही हूँ, किन्तु 'रावरो हूँ' इस संबंधसे 'खरा' हो गया हूँ। यह संबंधका प्रभाव है। यथा 'तुलसी से खोटे खरे होत ओट नाम ही की तेजी माटी मगहू की मृगमद साथ जू। क० ७।१६।'

१ (ख) 'रावरी सौं' इति। बातकी सत्यताके लिये शपथ की जाती है। यथा 'राम की सपथ सरबस मेरे रामनाम।', 'मोहि राम राउरि आन दसरथ सपथ सब साँची कहौं। २।१००।', 'राउर राय रजायसु होई। राउरि सपथ सही सिर सोई। २।२६६।८।', वैसे ही यहाँ श्रीरामजीकी कसम खाते हैं कि 'मैं आपका ही हूँ, दूसरे-का नहीं।'—यह मैं शपथपूर्वक सत्य कहता हूँ।

१ (ग) 'झूठों क्यों कहौंगो, जानो सब···'—अर्थात् झूठ तो वहाँ कहा जाय जहाँ वह चल सके, जहाँ झूठ छिप नहीं सकता वहाँ उसे कोई कैसे कहेगा ? छिप नहीं सकनेका प्रमाण देते हैं कि 'जानो सब ही के मन की'। भाव कि आप अन्तर्यामी हैं, मनकी

सब बात जानते हैं; यथा-'ज्ञानहु गिरा के स्वामी बाहेर-अंतरजामी, इहाँ क्यों दुरैगी बात मुख की औ हिय की। २६३।', 'स्वामी सर्वज्ञ सों चलै न चारी चार की। ७१।'

१ (घ) करम बचन हियें कहौं नहीं कपट किये…' इति। "मनसा-वाचा-कर्मणा, मन-वचन-कर्म तीनोंसे कहता हूँ। भाव कि आपके सेवकके योग्य पथपर चलकर (यह कर्मसे), सेवकके योग्य वाणी उच्चारणकर (यह वचनसे) और हृदयमें सेवक ही का भाव रखकर (यह मनसे) कहता हूँ।" (दीन)। 'नहीं कपट कियें'—कपट करनेका बुरा फल होता है। क्या फल होता है यह पद २६३ में बताया है। यथा 'तुलसी तुम्हारो तुम्हही पै तुलसी के हित, राखि कहिहै तौ ह्वैहै माखी घिय की।' भाव यह कि सद्भावसे कहता हूँ।

'ऐसी हठ जैसे…' इति। पं० रामकुमारजी 'करम बचन हियें' का अन्वय 'ऐसी हठ…' के साथ करते हैं। अर्थात् मैं कपट करके नहीं कहता हूँ, मन-वचन-कर्मसे मेरी हठ ऐसी (मजबूत, पक्की वा दृढ़) है, जैसे पानी पड़नेसे सनकी गाँठ दृढ़ पड़ जाती है।

१ (ङ) 'गाँठि पानी परे सनकी'—इसके दो प्रकारसे अर्थ होते हैं। एक तो पानीमें पड़े हुए अर्थात् भीगे हुए सनकी गाँठ; दूसरे, सनकी गाँठ जो (गाँठ लगनेके पश्चात्) पानीमें डाल दी जाय, भिगो दी जाय। गाँठपर पानी पड़नेपर वह बहुत दृढ़ हो जाती है, खुलती नहीं। क्या हठ है, यह आगे कहते हैं।

टिप्पणी—२ (क) 'दूसरो भरोसो नहिं…' इति। 'दूसरो' अर्थात् कर्म, ज्ञान, उपासना, योग और यज्ञ आदि का। यथा 'जोग न बिराग जप जाग तप त्याग व्रत तीरथ न धर्म जानौं वेद-विधि किमि है। क० ७।७१।' अथवा देवता या देवी आदिका। 'नहिं बासना उपासना…'; यथा 'ईस न गनेसु न दिनेसु न धनेसु न, सुरेस सुर गौरि गिरापति नहि जपने। तुम्हरेई नामको भरोसो भव तरिबे को बैठें-उठें जागत-बागत सोएँ सपनें। क० ७।७८।', 'मेरे मन मान है न हर को न हरि को।', 'तुम्हरे भरोसे सुर मैं न जाने सुर कै।' (बाहुक); 'सेए न दिगीस न दिनेस न गनेस गौरी, हितु कै न माने

विधि हरिऊ न हर। रामनाम ही सों जोग छेम नेम प्रेम पन सुधा सो भरोसो एहु दूसरो जहरु। २५०।'

२ (ख) 'स्वारथके साथी मेरे हाथी स्वाने लेवा-देई' इति। इन्द्रादिकी उपासनाकी इच्छा न होनेका कारण कहते हैं कि ये सब स्वार्थके मेरे साथी हैं। यथा 'सुर नर मुनि सब कै यह रीती। स्वारथ लागि करहि सब प्रीती। ४।१२।२।', 'स्वारथ मीत सकल जग माहीं। ७।४७।६।' जबतक उनका स्वार्थ मुझसे सधेगा तभी-तक वे मेरे साथी हैं, अन्यथा नहीं। यथा 'सब स्वारथी असुर, सुर, नर मुनि कोउ न देत बिनु पायें। १६३।'

☞प्राचीनतम पाठ 'हाथी स्याने' है। हो सकता है कि 'स्वाने' का 'स्याने' लिख गया हो। अथवा 'स्याने' स्येने का अपभ्रंश हो। श्येन =बाज। श्वान=कुत्ता। सीधा अर्थ हुआ 'उनका लेन-देन हाथी-श्वानका है'। अर्थात् हाथी लेते हैं, तब बदलेमें श्वान देते हैं। इससे जनाया कि व्यवहारमें बड़े चतुर हैं। यथा 'तन साथी सब स्वारथी सुर व्यवहार सुजान। १६१।' महात्मा भगवान सहायजीने अर्थ किया है—'मेरे से हाथीका और श्वानका लेना-देना करते हैं'। अर्थात् उनकी पूजा-सेवामें हाथीरूप पूर्ण आयु जब दी जाती है, तब श्वानरूप तुच्छ धन, पुत्र आदि बदलेमें मिलते हैं।

स्त्री, पुत्र, धन, धाम, ऐश्वर्य आदि लौकिक नश्वर सुख श्वान हैं। 'हाथी' क्या है? वैजनाथजीके मतसे 'मन' हाथी है, जन्मभर विधिपूर्वक मन लगाकर पूजा करना हाथीका लेना है। अथवा, कठिन तप आदि भारी सेवा हाथी है। (दीन)। यथा—'बिबुध सयाने पहिचाने कैधों नाहीं नीके, देत एक गुन लेत कोटिगुन भरि सो। २६४।', 'सेवा अनुरूप फल देत भूप कूप ज्यों, बिहूने-गुन पथिक पिआसे जात पथ के। लेखें-जोखें चोखें चित तुलसी स्वारथहित, नीके देखे देवता देवैया घने गथ के। क० ७।२४।'

२ (ग) 'काहू तो न पीर रघुबीर दीन जन की' इति। स्वार्थके जो साथी होते हैं, उनको तो अपने स्वार्थसाधनसे काम रहता है। अतः उनको दीनपर प्रीति हो ही नहीं सकती। इसीसे 'स्वारथके साथी'

पं० रामकुमारजीके खर्रेमें 'मेरे हाथ सो न लेवा-दई' पाठ है। "मेरे हाथसे इनसे लेवा देई नही है। अर्थात् इनसे मैं व्यवहार नही रखता। न अपने हाथसे पूजा दूँ और न हाथसे इनसे कुछ लूँ।"

कहकर तब 'काहू न पीर' कहा। किसीको पीर नहीं, यथा 'काहि ममता दीन पर ?···रहे संभु बिरंचि सुरपति लोकपाल अनेक। सोक सरि बूड़त करीसहि दई काहुँ न टेक।···२१७।', 'कबहुँ काहुँ न राखि लियो कोउ सरन गयें सभीत।२१६।', 'बिनु सेवा जो द्रवै दीन पर राम सरिस कोउ नाहीं।१६२।'

पिछले पदमें श्रीरामको 'दीनबंधु' कहा था; यथा 'दीनबंधु वेद बदत रे'। अब इस पदमें बताते हैं कि आपके सिवा दूसरा दीनबंधु कोई है ही नहीं। क्योंकि दीनबंधु तो वही है जिसको दीन प्राणियों-की पीर हो और संसारमें कोई ऐसा है नहीं। 'बासव बिरंचि, सुर, नर और मुनिगण' किसीको भी दीन शरणागतपर सहानुभूति नहीं होती—इस कथनसे यह जनाया कि एकमात्र आपको ही दीनोंकी पीर होती है, इसीसे आपही उनकी पीड़ा हरते हैं। यथा 'करुनामय रघुनाथ गोसाँई। वेगि पाइअहि पीर पराई। २।८५।२।', 'दीनबंधु दूसरो कहँ पावों। को तुम्ह बिनु पर पीर पाइहै केहि दीनता सुनावों। २३०।' दीनकी पीर पाना 'करुणा गुण' है।

टिप्पणी—३ 'साँप सभा साबर लबारु भये देव दिव्य···' इति। (क) अब अपनी सचाई पर दृष्टान्त देते हैं। "जहाँ सर्प रहते हैं वहाँ शाबर लोग जाकर बिछौना और गद्दी लगाकर मंत्र पढ़ते हैं। मंत्रसे प्रेरित हो सर्प वहाँ आकर बैठते हैं। तब शाबर वीणा बजाते और सर्पोंका गुणगान करते हैं, जिसे सुनकर सर्प द्रव्य देते हैं। यही शाबरकी जीविका है। यदि वे शाबर फिर दूसरोंसे द्रव्य लें अथवा सर्पोंकी सभाका परिचय किसीको दें, तो सर्प उन्हें डस लेते हैं। इसी प्रकार गोस्वामीजी कहते हैं कि यदि मैं दूसरेका आशा-भरोसा, अथवा दूसरेकी उपासना करता होऊँ, या दूसरोंसे कुछ लेता पाया जाऊँ, तो मेरी सजा कीजिए।" (पं० रामकुमारजी)।

[वैजनाथजी लिखते हैं कि साँप-सभामें 'साबर जाइ लबार, तो कैसे होइ उबार' यह कहावत प्रसिद्ध है। अर्थात् जो सर्पोंके मुख कीलनेवाले शाबर मंत्रोंको विधिवत् जानते हैं, वे बांबीके पास जाकर मंत्रसे सर्पको कीलकर उसे पकड़ लेते हैं और जो शाबरमें लबार अर्थात् झूठे हैं, मंत्रको नहीं जानते, वे सर्पके पास जायँगे तो अवश्य ही सर्प उनको डस लेगा।

सूर्यदीन शुक्लजीने अन्वय इस प्रकार किया है–'देव ! साँप-सावर-लबार भये सभा आगे ही या तनकी दिव्य-दुसह सांसति कीजिए।' और अर्थ किया है कि "हे देव ! (यदि मैं) साँपके सावरी मंत्र-सा अपराधी हूँ (तो) सभाके आगे ही इस देहको सदाके लिये कठिन दुःख दो।"

श्रीभगवानसहायजीके मतानुसार "साँप सभा=शाबरमंत्रसे मंत्रित जो साँप उसकी जो सभा है।' श्रीदीनजी अर्थ करते हैं–'जैसी परीक्षा सर्पसमूहमें पड़कर झूठे सँपेरेकी होती है।' इस तरह 'साँप-सभा' का अर्थ उनके मतसे सर्पसमूह है। अन्य टीकाकारोंने 'साँप सभा' को प्रायः ज्योंका त्यों रख दिया है, उसपर कोई प्रकाश नहीं डाला है।]

३ (ख) 'देव दिव्य' इति। इसके अर्थ ये किये गये हैं–(१) "हे देव, श्रीरघुनाथजी ! आप तो दिव्यरूप दिव्यदृष्टि हैं, मेरे अन्तःकरणमें देख लीजिए।" (वै०)। (२) हे देव ! आप तो सर्वज्ञ हैं। (वि०)। (३) हे दिव्य, हे देव ! (पं० रा० कु०)। (४) हे दिव्य देव ! (पो०)। (५) हे दिव्य दृष्टिवाले देव ! (श्री० श०)। (६) दिव्य दुसह साँसति = सदाके लिये कठिन दण्ड। (सू० शु०)।

शब्दसागरमें, भट्टजीके चतुर्थ संस्करणमें और लाला भगवानदीनजीकी टीका (प्रथम संस्करण) में 'देउँ दिव्य' पाठ है। श० सा० में 'दिव्य' का अर्थ यहां पर यह दिया है–"व्यवहार वा न्यायालयमें प्राचीन कालकी परीक्षा जिससे किसी मनुष्यका अपराधी या निरपराध होना सिद्ध होता था। ये परीक्षायें नौ प्रकारकी हैं–घट (वा तुला), अग्नि, उदक, विष, कोष, तंडुल, तप्तमाषक, फूल और धर्मज। इनमें प्रथम पाँच भारी अपराधोंके लिये, तंडुल चोरीके लिये, तप्तमाषक बड़ी भारी चोरीके लिये और फूल तथा धर्मज साधारण अपराधोंके लिये हैं।...कुछ विशिष्ट नियमोंके अनुसार राजसभामें सबके सामने दिव्य या परीक्षा होनी चाहिए।"

इस अर्थके उदाहरणमें 'साँप सभा सावर लबार भए देउँ दिव्य...' यह उद्धरण दिया है। 'देउँ' पाठ हमें किसी भी उपलब्ध प्राचीन पोथीमें नहीं मिला। केवल दीनजी की टीकामें था और सम्भवतः उसीको देखकर भट्टजीने चतुर्थ संस्करणमें दिया है।

☞ श० सा० में बाईसवाँ अर्थ यह दिया है—"शपथ विशेषतः देवताओं आदि की।"—इसके अनुसार "देव दिव्य = देव शपथ; हे देव ! आपकी शपथ।" चरणका अर्थ होगा कि 'हे देव ! मैं आपकी शपथ करता हूँ। साँप-सभामें जैसे शाबरकी परीक्षा होनेपर उसके झूठा होनेपर उसे दुःसह दण्ड मिलता है, मेरी वैसी परीक्षा होनेपर यदि मैं झूठा सिद्ध होऊँ...।"

'दिव्य देव !' अर्थ भी ठीक है। पर 'दिव्य' का अर्थ 'देव' में होता ही है। इस प्रकारका प्रयोग अन्यत्र मुझे मिला नहीं।

३ (ग) 'आगे दै' इति। इस प्रकारका प्रयोग श्रीभक्तिरसबोधिनी टीका भक्तमालमे देखनेमे आता है जिससे अनुमान होता है कि व्रजभाषाका यह प्रयोग है। यथा 'वेगि दै बताय दीजै आभरण दिये लीजै' (कवित सदाव्रती महाजन), 'दौरे नर ताही समय वेगि दै लिवाय ल्याये देखि लपटाय पायँ नृप दृग भीजे हैं।' (कवित प्रेमनिधि)। इत्यादि।

३ (घ) "साँचे पर पावौं पान०" इति। पानका बीड़ा दो हालतोंमें दिया, लिया या उठाया जाता है। एक तो जब किसी साहसपूर्ण कार्यके कर डालनेके लिये किसीको प्रतिज्ञाबद्ध किया-कराया जाता है, तब उसे बीड़ा दिया जाता है अथवा उसे बीड़ा उठा लेनेको कहा जाता है। दूसरे, जब कोई अपनी प्रतिज्ञाका पूर्ण पालन कर दिखाता है, तब उसे आदर प्रतिष्ठा सूचक पानका बीड़ा सभामें देकर उसका आदर किया जाता है।—यही बात यहाँ कह रहे हैं कि यदि यह बात सच्ची निकले कि तुलसीदासरूपी चातकको एकमात्र राम-घनश्यामकी आशा है, दूसरेकी नहीं, तो सभा इसका प्रमाणपत्र दे और मुझे पानका बीड़ा दे कि तेरी बात सत्य है।

☞ इनकी सचाई सभामें श्रीरामजीने भी स्वीकार की है। यथा 'मारुति मन रुचि भरतकी लखि लषन कही है। कलिकालहू नाथ नाम सों प्रतीति प्रीति एक किंकरकी निबही है॥ सकल सभा सुनि लै उठी, जानी रीति रही है।...बिहँसि राम कह्यो 'सत्य है, सुधि मैं हूँ लही है'। पंचोंके सामने जो बात निश्चित होती है वह प्रमाण मानी जाती है। इसीसे कहते हैं कि पंचोंके बीचमें मुझे बीड़ा मिले और श्रीरामजीने सभाके बीचमें 'सत्य है'..." रूपी बीड़ा दिया ही।

नोट—इस पदमें बताया है कि संसारी कार्य भी जो दृढ़ताके साथ नहीं किये जाते निष्फल हो जाते हैं, तब भला पारमार्थिक कार्यों-का कहना ही क्या ? दृढ़ता हो तो ऐसी, जैसी इस पदमें बताई है—'जैसी गाँठि पानी परे सनकी'। और हठ ऐसी हो जैसे स्वातीके बूँद-में पपीहा की—'चातक आस राम श्याम घन की'। ऐसा होनेसे कैसा ही दुर्लभ क्यों न हो अवश्यमेव कार्यकी सिद्धि होती है; परन्तु जितना प्रेम हो, सचाईके साथ हो, नहीं तो 'साँप सभा साबर लबार भए'—वाली गति होगी। (सू० शु०)।

श्रीसीतारामचन्द्रार्पणमस्तु।

७६ (४८) राग ललित

रामु को[१] गुलामु नामु रामबोला राम राख्यो[२],
काम इहै नाम द्वै[३] हौं[४] कबहुँ[५] कहतु हौं।
रोटी लूगा नीकें राखैं[६] आगेहु[७] कें[८] बेद भाखैं,
भलो ह्वै है तेरो तातें आनदु[९] लहतु हौं ॥१॥

१ के—५१, मु०। २ राम राख्यो—६६, रा०, भा०, वे०, ह०, भ०, १५, ज०, श्री० श०। राख्यो राम—५१, मु०, ७४, डु०, वै०, वि०, दी०। ३ दुइ—७४। ४ हो—६६, रा०, ५१, भ०। हौं—भा०, वे०, आ०। ५ कबहुँ—६६, रा०, भा०, वे०, मु०, भ०। कबहूँ—७४, ह०, ५१, आ०। ६ नीके राखइ—७४। नीकै राखै—मु०। नीकें राखै—रा०। नीके राखै-भा०, वे०, वै०। नीके राखैं—दी०, वि०, भ०। नीकें राखैं—६६। ७ आगेहु—६६। आगेंहू—रा०। आगेहू—ह०, ७४, आ०। आगेहूँ-भा०, वे०, मु०, ५१, भ०। ८ कें—६६। के—ज०, भ०। को—रा०। को—ह०, डु०, मु०, दी०, श्री० श०। की—भा०, वे०, वि०, ५१, ७४, पो०, वै०, भ०। ९ आनदु (आनँदु)—६६। आनद-भा०, वे०, ७४। आनँदु—रा०। आनंद—ह०, ५१, ज०, १५। आनँद—वै०, दी०, वि०, भ०।

वाँध्यो[10] हों करम जड़ गरभ[11] गूढ़[12] निगड़
सुनत दुसह हु[13]-तो सासति सहतु हों।
आरत-अनाथ-नाथ कोसलपाल[14] कृपाल
लीन्हों[15] छीनि दीनु देखो[16] दुरित दहतु हों ॥२॥
बूझ्यो[17] जैहै[18]/ज्यांही में[19] कह्यो 'हों[20] चेरो ह्वै हों रावरो जु[21]",
[22]'मेरें कोऊ कहूँ न हों' चरन गहतु हों"।
मींजो गुर पीठ अपनाइ गहि बाँह बोलि,
सेवक[23] सुखद सदा हों[24] विरुद वहतु हों ॥३॥

---

१० वांध्यो हो—६६, रा०, ह०, भ०। बांध्यो हो—ज०, डु०। वांधे हौ—भा०। वांधे हो—वे०। वांध्यो हौ—वै०, बि०, श्री० श०। ११ गरभ १२ गूढ—६६, रा०, भा०, दी०, भ०, पं० रा० कु०। गरव (गर्व) गूढ—डु०, वै०, वि०, पो०। ☞मु० मे 'गरव निगड गूढ' है, वै० मे 'गर्व गूढ निगडे' है। १३ हु—६६, रा०, भ०। ही—भा०, वे०, ह०, प्र०, ७४, आ०। हो—ज०। १४ कोसल कृपाल पाल—५१, मु०, वै०। १५ लीन्हो- ६६, भा०, वे०, मु०, वै०, दी०, वि०, भ०। लीन्हो—ह०, ज०। लीन्हेउ—७४। लीन्ही—रा०। १६ देखो—६६, भ०। देख्यो—रा०, ज०, वै०, दी०, वि०। देख्यौ—भा०, वे०, प्र०, ह०, मु०, ५१। १७ वूझ्यो—६६, आ०, रा०। वूझ्यौ—ह०। वूझेउ—७४। पूछ्यो—भा०, वे०, ज०। पूछो—प्र०। १८ जैहै—६६। जो जोहै—रा०। ज्योहो—भा० वे०, ७४, प्र०, ज०। आ०। जौहो—भ०। ज्यौहो—ह०। १९ मैं कह्यो—६६, भ०। कह्यो मैं (मैं)—रा०, भा०, वे०, ह०, ५१, प्र०, आ०। २० हो—६६, रा०, ५१, भ०। हूँ—भा०, वे०, ह०, ७४, वै०, दी०,। २१ जु—६६। ज्यू—रा०, ह०। जू—भा०, वे०, ७४, आ०। २२ मेरें कोउ कहुँ न हो—६६। मेरें कोऊ कहूँ न हो—रा०। मेरे कोऊ वहूँ नाही—प्र०, ज०। मेरो कोऊ कहूँ नाहि—भा०, वे०, ७४, आ०। मेरो कोउ कहूँ नाही—ह०। ☞जान पडता है कि 'हो' को 'ही' पढकर 'न' के साथ पढनेसे 'नाही' पाठ हो गया है। मेरो कोउ कहूँ न हो—भ०। २३ सेवा—६६। सेवक—औरोमे। २४ हो—६६, भ०। औरोमें नही है।

लोगु कहै पोचु, सो न सोचु 'न[25] संकोचु' मेरें
ब्याह न बरेखी जाति पाति न चहतु हौं।
तुलसी काजु[26] अकाजु रामहि[27] के रीझें खीझें
प्रीति की प्रतीति मन मुदित रहतु[28] हौं ॥४॥

शब्दार्थ—गुलामु=मोल लिया हुआ दास; सेवक। काम=सेवा, टहल। द्वै=दो। रोटी-लूगा=खाना-कपड़ा; भोजन-वस्त्र। यह मुहावरा है। रोटी=भोजन। लूगा=वस्त्र; कपड़ा। आगेहु कें=आगे अर्थात् भविष्यके लिये भी। भाखना=कहना। आनदु=आनंद; सुख। लहना=पाना। गरभ (गर्भ)=स्त्रीके पेटके भीतरका वह स्थान जिसमें बच्चा रहता है।=गर्व; अहंकार, अपनेको सबसे बड़ा समझने-का भाव। गूढ=कठिन। छुटने योग्य नहीं। निगड़=हाथीके पैर बाँधनेकी जंजीर।=बेड़ी। दुरित=पाप। दहना=जलना। हौं=मैं।=हूँ। छीनना=किसी वस्तुको दूसरेके अधिकारसे अपने अधि-कारमें कर लेना=हरण करना। हुतो=था। चेरा=गुलाम, सेवक। जु (जू)—यह एक आदरसूचक शब्द है जो ब्रज, बुन्देलखण्ड, राजपूताना आदिमें बडे लोगोंके नामके साथ लगाया जाता है। अथवा, किसी बड़ेके कथन प्रश्न या सबोधनके उत्तररूपमें जो संक्षिप्त प्रतिसंबोधन होता है उसमें प्रयुक्त होता है।=जी। गहना=पक-ड़ना। मींजो=मीजा। मींजना=हाथ फेरना, हाथसे मलना। पीठ मींजना=पीठपर हाथ थपथपाना, हाथ फेरना।=पीठ ठोकना।—यह क्रिया प्यार जताने, किसीके कार्यसे प्रसन्नता प्रकट करने, प्रशंसा करने, उत्साह बढ़ानेके लिये की जाती है। बाँह गहना या पकड़ना=किसीकी सहायता करनेके लिये हाथ बढ़ाना।=सब प्रकारसे सहायता देनेके लिये तैयार होना।—यह अपनानेका एक ढंग है। अपनाना=अपनी शरणमें लेना। बाँह बोल=रक्षा करने या सहायता देनेका वचन।

---

२५ न सकोचु—६६, ह०, ७४, ज०। न संकोचु—रा०, दी० भ०। संकोच—भा०, वे०, मु०। २६ काजु अकाजु—६६, भ०। काज अकाज - श्री० श०। अकाज काज—श्रोरोमे। २७ रामहि—६६, भ०। रामही—रा०, ह०, भा०, वे०, ७४, आ०। ☞ २८ सर्वत्र पद भरके अन्तमे ६६, रा०, भ० मे 'हो', ज० मे 'हो' और भा०, वे०, ह०, ७४, आ० मे 'हौं' है।

विरुद=बाना। बहतु हों=धारण किये रहता हूँ। यथा 'छोनी में न छॉड्यो छप्यौ छोनिपको छोना छोटो, छोनी छपन बाँकी बिरुद बहतु हो। क० १।१८।' पोचु=बुरा, खोटा, नीच। बरेखी (वर देखी)=सगाई; विवाह सम्बंधके लिये वर या कन्या देखना। यथा 'जौं तुम्हरे हठ हृदय बिसेषी। रहि न जाइ बिनु किये बरेषी॥...१।८१।' जाति पॉति=जाति या वर्ण आदि। यथा 'जाति पॉति उन्ह सम हम नाहीं। हम निर्गुण सब गुण उन पाहीं।' (सूर)। पॉनि (पंक्ति)=एक साथ भोजन करनेवाले बिरादरीके लोग; परिवार समूह। यथा 'मेरे जाति पॉति, न चहौं काहूकी जाति पॉति, मेरे कोऊ काम को, न हौं काहू के काम को। क० ७।१०७।' काज=कार्य या प्रयोजनकी सिद्धि। अकाज-कार्यकी हानि। काज अकाज=बनना बिगड़ना; भलाई बुराई।

पद्यार्थ—मैं श्रीरामजीका गुलाम हूँ। श्रीरामजीने मेरा नाम 'राम-बोला' रक्खा। (गुलाम हैं तो कुछ काम भी तो करना पड़ता होगा? उसपर कहते हैं—हॉ) काम यही है कि कभी-कभी उनका दो अर्थात् दो चार बार अथवा युगल नाम 'सीताराम' वा 'राम राम') नाम कह लेता हूँ। भोजन-वस्त्रसे अच्छी तरह (पूर्ण) रखते हैं। आगेके लिये भी वेद कहते है कि तेरा भला होगा। इसलिये आनंद पाता हूँ अर्थात् सदा प्रसन्न रहता हूँ।१। 'जड़ कर्मोंने मुझे गर्भरूपी कठिन वेड़ी से (जकड़कर) बॉधा, दुःसह दुःख भी मैं सह रहा था'—यह सुनकर आर्त और अनाथोंके नाथ कोसलपुरी (श्रीअयोध्याजी) के राजा कृपाल श्रीरामचन्द्रजीने देखा कि मैं दीन हूँ और पापों (रूपी अग्नि) से जल रहा हूँ और मेरे दुःखोंको छीन लिया अर्थात् छुड़ा दिया।† २। (मेरी दीन दशा देख) जैसे ही उन्होंने मुझसे पूछा—(तेरी

---

† पं० रामकुमारजीका अर्थ इस प्रकार है—'जडकर्ममे वँधा हूँ, गर्भरूपी वेड़ी पड़ी है। और दुसह सॉसति सह रहा हूँ' यह सुनते ही कृपालने मुझे छीन लिया। और 'मैं दीन हूँ, पापोसे जल रहा हूँ' 'ऐसा मुझको देखा तव पूछा कि तेरी क्या इच्छा है? टि० २ (घ) मे भी देखिए। दीनजीने अर्थ किया है—"जब मैं गर्भमे ही जडकर्मकी गूढ वेडियोसे जकड़कर वँधा हुआ था।"

भट्टजीका अर्थ—'जड कर्मने मुझे अहंकाररूपी पक्की वेडीसे वाँध लिया'। (परन्तु यह अर्थ ज्योका त्यो उनके पूर्व संस्करणोमे था जिनमे 'गरब' पाठ दिया था। प्रकाशकने पाठ वदला पर अर्थ वही रहने दिया)।

क्या इच्छा है ? तू क्या चाहता है ?)—मैंने कहा अजी स्वामिन् ! मैं आपका गुलाम बनूँगा। कहीं भी मेरा कोई नहीं है, मैं आपके चरण पकड़ता हूँ (अर्थात् आपकी शरण हूँ, आपका चरणसेवक बनना चाहता हूँ। मेरी विनय स्वीकार कीजिए। सेवक बना लीजिए)। (तब) श्रीगुरुजीने * मेरी पीठ ठोंकी (शाबाशी दी), सहायताका वचन दे हाथ पकड़कर मुझे अपना लिया। (तबसे) मैं सेवकको सुख देनेवाले श्रीरामजीका बाना (कंठी, माला, तिलक) सदा धारण करता हूँ† ।३। लोग मुझे नीच कहें इसका मुझे न शोच है न संकोच । (क्योंकि) मुझे न तो व्याह करना है न सगाई और न मुझे जाति-पाँतिकी चाह है । 'तुलसी' का तो काज-अकाज बनना-बिगड़ना श्रीरामजी के ही रीझने-खीजनेमें है, (यह) प्रीतिका विश्वास है, इसीसे मनमें प्रसन्न रहता हूँ ।४।

---

* दीनजीने 'गुर' का अर्थ 'गुड' किया है और लिखा है कि 'पीठपर गुड़ मीजना' =अत्यन्त आराम पहुँचाना। भट्टजीने 'मीजो गुर-पीठ' ऐसा लिखा है और अर्थ किया है—'मुझे शाबाशी दी'। वैजनाथजीने लिखा है कि "पीठमे गुर मीजना कहावत है, लोक प्रसिद्ध उपखान है। 'पीठमे गुर मीजा' अर्थात् निर्हेतु मेरा भला किया।"

† वैजनाथजी अर्थ करते हैं—'प्रभुने मेरा निर्हेतु भला किया। कहा कि मैं अपने सेवकोको सदा सुख देनेवाला बाना धारण किये रहता हूँ—ऐसा वचन कहकर बाँह पकडकर मुझे अपना लिया।"

प० रामकुमारजी—"गुरु श्रीरामचंद्रजीने मेरी पीठ ठोकी कि तुझे सुखी करूँगा, क्योंकि सेवकको सुखदेनेका (सेवक सुखद) बाना हम सदा बाँधे रहते हैं—यह कहकर…"

दीनजी—"महाराजने मुझे अपनाया और सहायता देनेका वचन देकर मेरी बाँह पकडली और अत्यन्त सुख दिया, इस लिए मैं भी सदा श्रीरामजीका यश कहकर फैलाता फिरता हूँ कि श्रीरामजी 'सेवक-सुखद' हैं। (क्योंकि मैं स्वयं उसका अनुभव कर चुका हूँ)।"

भट्टजी—तब सेवकोको सुखदेनेवाले रामजीने मुझे शाबासी दी और भरोसा दे बाँह पकडकर अपनाया। तबसे (माला कठी तिलक आदि) बाना धारण किये रहता हूँ।"

टिप्पणी—१ 'राम को गुलामु…' इति । (क) पूर्व पदमें शपथपूर्वक अपनी अनन्यता स्थापित की और बीड़ा मिलनेकी तथा पंचोंमें भक्तोंमें मेरी दृढ़ अनन्यता प्रमाणित रहे—इसकी प्रार्थना की-थी । अतएव अब अपनेको 'गुलाम' कहते हैं । गुलाम पूर्वकालमें मोल लिए हुए दासको कहते थे । गोस्वामीजी अपनेको बिना मूल्यके ही बिका हुआ गुलाम कहते हैं । यथा 'हौं तो बिन मोल ही बिकानो बलि वारे ही ते, ओट रामनाम की ललाट लिखि लई है' (बाहुक), 'कीजै दास दासतुलसी अब कृपासिंधु बिनु मोल बिकाउँ । १५३ ।'

१ (ख) 'नामु राम बोला राम राख्यो' इति । श्रीमद्गोस्वामीजीके मुखसे जन्मते ही 'राम' शब्द निकला था ऐसा प्रसिद्ध है । यह इनके जन्मकी अलौकिक घटना है । माता और दासी जो इनका पालन करती थी उनके मरजाने पर जब ये बालपने में दीन दशासे फिरा करते थे, श्रीनरहर्य्यानन्दजीने इनको देख भगवान्के शरणागत किया था और पूर्वसंस्कारवश 'रामबोला' इनका नाम रक्खा । यहाँ श्रीरामजीका नाम रखना कहते हैं—'नाम रामबोला राख्यो राम'; पर नाम रक्खा गुरुजीने । इसमें शंका नहीं करनी चाहिए, क्योंकि 'भक्त भक्ति भगवंत गुरु चतुर नाम बपु एक ।' (नाभाजी) । मंत्रदाता गुरु भगवान्का रूप ही है । गोस्वामीजीने गुरुकी वन्दना भी 'नररूप हरि' कहकर की है । यथा 'बंदउँ गुरुपदकंज कृपासिंधु नररूप हरि ।'

वियोगीजी भी लिखते है कि "इस पदमें गोसाईंजीने एक प्रकारसे अपनी राम-कहानी कही है । उन्होंने राम और गुरुमें अभेद माना है । इसी लिये कहीं राम और कहीं गुरु, इन दोनोंही शब्दोंका प्रयोग किया है । कबीरदासजीने तो गुरुको हरिसे भी बड़ा माना है । वे लिखते हैं—'गुरु गोविद दोऊ खड़े, काके लागौं पाँय । बलिहारी गुरु, आपने गोविद दिये बताय ।। गुरु हैं बड़े गोविद ते मनमें देखु विचार । हरि सुमिरै सौवार है, गुरु सुमिरै सो पार ।।'

१ (ग) 'काम इहै नाम द्वै…' इति । सभी सेवकोंको स्वामीका काम करना पड़ता है । इसी प्रकार रामसेवकोंको भी कैंकर्य गुरुदेवजी बताते हैं । श्रवण, कीर्तन, स्मरण, अर्चन, वन्दन आदि नवधा भक्तियाँ कैंकर्य हैं कैंकर्यकी थाह नहीं । तुलसीदासजी कहते हैं कि मुझे सेवा यह मिली कि 'राम राम कहा कर' । इतनी सुगम सेवा मिली ।

'नाम द्वै हों कबहुँ कहतु हों'—इसका भाव कोई-कोई ऐसा कहते हैं कि यह सेवा मुझे मिली, पर मैं ऐसा आलसी हूँ कि मैं दो चार बार ही नाम लेता हूँ और वह भी कभी-कभी ही। पुनः, 'नाम द्वै' अर्थात् राम-राम (दो बार), वा 'सीताराम' (यह युगलनाम), वा (भट्टजीके मतानुसार) रामनामके दो अक्षर। 'कहत हों'-भाव कि जिह्वासे कहता हूँ, मन भी नहीं लगाता।

१ (घ) 'रोटी लूगा नीकें राखैं ' इति। जो सेवा-टहल करता है, उसको कुछ वेतन आदि मिलता है। तुमको क्या मिलता है? इसका उत्तर देते हैं-'रोटी ''। अर्थात् दो एकबार नाम ले-लेता हूँ वह भी मनसे नहीं, तो भी मुझे भरपेट भोजन और शरीरकी रक्षाके लिये आवश्यक वस्त्र परिपूर्ण मिलते हैं। अन्यत्र कहा भी है-'रावरो कहावौं गुन गावौं राम रावरोई, रोटी द्वै हौं पावौं राम रावरी ही कानि हौं। क० ७।६२।' यह तो इस लोकका सुख हुआ। और परलोक भी बना देते हैं। 'लोक लाहु परलोक निबाहू'। प्रमाण क्या है कि परलोक बनेगा? उसपर कहते हैं कि 'वेद प्रमाण हैं। वे कहते हैं कि तेरा भला होगा' [यथा—'रा॰नामजपादेव मुक्तिर्भवति' (सामवेदे), इत्यादि]

१ (ङ) 'ताते आनँदु लहतु हौं'—वेदवाक्य अमिट हैं; अतएव भविष्यके लिये चिन्ता न रहजानेसे जीवन आनन्दसे व्यतीत कर रहा हूँ। यथा 'दंभहूँ कलि नामु कुंभजु सोचसागर सोसु॥ मोद मंगलमूल अति अनुकूल निज निरजोसु। रामनाम प्रभाव सुनि तुलसिहुँ परम परितोसु। १५६।'

☞'काम इहै ' लहतु हौं'—में नामकी महिमा कही गई और यह विश्वास दिलाया गया कि श्रीरामजी दो एक बार नाम लेनेमात्र सेवासे रीझ जाते हैं।

गीता ९।२२ में तो भगवान्‌ने 'अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।'— (अर्थात् जो अनन्यभावसे चिन्तन करते हुए भली भाँति उपासना करते हैं')—ऐसे नित्ययुक्त भक्तोंके ही संबंधमें 'योग-क्षेम' का वहन करना कहा है, परन्तु श्रीरामजी तो बहुत ही कृपालु हैं, इनका गुलाम हो जाय और कभी-कभी दो-चार नाम ले लिया करे, इतनेहीसे लोक-परलोक दोनों अच्छी तरह बना देते हैं—यह विशेषता है।

[बैजनाथजी—भोजन वस्त्र परिपूर्ण दिया। भाव कि कृपारूपी भोजन पानेसे संतोषरूपी तुष्टि और विरागरूपी पुष्टि हुई। अर्थात् कृपा करके उन्होंने विषयाशाको दूर कर दिया। दयारूपी वस्त्र मिलनेसे दुःख दारिद्रय शीत-उष्ण आदिसे रक्षा हुई और लोकमान्यतारूप मर्यादा जगत्‌में हुई।]

टिप्पणी—२ 'बाँध्यो हौं करम जड़...' इति। (क) श्रीरामजीका गुलाम होने और रामनाम लेनेके पूर्व जो दशा थी, उसका उल्लेख यहाँ करते हैं—'बाँध्यो...'।

२ (ख) कर्म जड़ हैं, यथा 'कियो कथिकको दंड हौं जड़ कर्म कुचाली।१४७।' कर्म एकही पदार्थमें जड़ता और अजड़ताके मिलनेपर होते हैं, क्योंकि कर्म करनेमें कर्त्ताकी जड़तारूप विकारिता तथा अजड़तारूप अपने हितका अनुसंधान, यह दोनों धर्मोंका होना आवश्यक है। अर्थात् विकारिता या हितानुसंधानसे ही कर्मका होना सम्भव है। किन्तु शरीर विकारी होने पर भी जड़ है। इस लिये जड़ होनेसे केवलदेह हितका अनुसंधान नही कर सकता।('कर्मोऽस्तुहेतुः सुखदुःखयोर्वै किमात्मनस्तद्धि जडाजडत्वे।...भा० ११।२३।५५।' पर श्री प० गोविंददास 'विनीत' की टीकासे)।

शुभाशुभ कर्मोंमें अहंकार जो हो जाता है कि मैंने यह किया, इत्यादि, वही बंधनका कारण होता है। पर कहा यही जाता है कि कर्मने बाँध लिया। कर्म-बंधन, कर्म-जाल, कर्मपाश आदि शब्द इसी भावके सूचक हैं। कर्म भोगना ही पड़ता है; यथा 'निज कृत कर्म भोग सब भ्राता।२।९१।८।', 'कर्म प्रधान बिस्व करि राखा। जो जस करै सो तस फल चाखा।२।२१९।४। सुर, नर, नाग सभी कर्मपाशमें बँधे हैं। यथा 'जेहि बाँधे सुर असुर नाग नर प्रबल करमकी डोरि।९८।'

२ (ग) कर्मजालका फल गर्भवास है। यथा 'तै निज कर्म-डोरि दिढ़ कीन्ही। अपनेहि करनि गाँठि हठि दीन्ही। ताहि तें परबस पर्‍यो अभागे। ताको फल गरभवास दुख आगे।१३६ (३)।', तैं निज करमजाल जहँ घेरो। १३६ (४)।' जबतक कर्माभिमान रहता है तबतक गर्भवासका बारंबार होना छूट नहीं सकता, इसीसे गर्भवासको कठिन बेड़ी कहा।

'गरभ' शब्दका अर्थ कुछ लोगोंने 'गर्व' किया है, वास्तवमें

वैजनाथजीका पाठ 'गर्व' ही है। वियोगीजीने भी 'गरव' पाठ रक्खा और पोद्दारजीने भी। इसीसे उन्होंने 'गर्व' अर्थ किया, सो ठीक ही है। प्राचीन हस्तलिखित पोथियों तथा कुछ टीकाकारोंका पाठ 'गरभ' है। यह शब्द उपर्युक्त पद १३६ के उद्धरणमें भी आया है। अतएव इसका अर्थ 'गर्भ' किया गया।*

'गूढ़' वेडी कहनेका भाव कि जिसका रहस्य शीघ्र समझमें न आनेके कारण उसके खोलनेका उपाय न सूझे। (दीन)।

२ (घ) 'सुनत दुसह हुतो सासति सहत हों' इति। 'सुनत' का कर्त्ता 'आरत-अनाथ-नाथ···' को माननेसे प्रश्न होता है कि किससे अथवा कैसे सुना ? इसका उत्तर "सासति सहत हों, आरत अनाथ नाथ कोसलपाल कृपाल, देखो दीनु दुरित दहतु हों'- इन वाक्योंको अन्वय करनेमे दो बार लेनेसे आ जाता है। 'अरथ अमित आखर अति थोरे' का यह भी एक नमूना है। अन्वय—'हे आर्त-अनाथ-नाथ कृपाल कोसलपाल ! मैं दुसह सॉसति सह रहा हूँ, दीनकी ओर देखिए, मैं दुरितसे दहत हूँ।"—यह (मेरी पुकार) सुनते ही आर्त्त-अनाथ-नाथ कृपालु कोसलपाल (ने) दीनको पापसे जलता देखा और (कर्मबंधन को) छीन लिया (अर्थात् दुःखको हरण कर लिया)।

'दीनु देखो' मे पुकार और शरणागति तथा रक्षाकी प्रार्थना ये सब बातें भी आ गईं। यथा 'केहूँ भाँति कृपासिंधु मेरी ओर हेरिये।१८१।'

'सुनत दुसह हुतो सासति सहतु हों' का दूसरा अर्थ ऐसा भी किया गया है—मैं सॉसति सह रहा था जो सुनने मात्रसे भी न सहा

---

*'गर्व' पाठ अथवा 'गरभ' का अर्थ 'गर्व' लेनेपर भाव—जडकर्मोंने मुझे गर्वरूपी गुप्त वेडी से बाँधा। अर्थात् जबमे आत्मदृष्टि भूल देहसुखके लिए यज्ञ, दान, तप आदि सत्कर्म किये और इसीमे काम, क्रोध, लोभादिके वश हो अशुभ कर्म किये। कर्म जड हैं, विना भोगे छूटते नही, यथा मिताक्षरायाम्-'नाभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि। अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम् ॥' इन कर्मोंने मुझे बाँध लिया। गर्वको गुप्त वेडी कहा, क्योकि देहाभिमान कि मै ब्राह्मण हूँ, मैं क्षत्री हूं, मैं राजा हूँ इत्यादि, अन्तःकरण मे छिपा रहता है। (वै०)।

जा सकता था। अर्थात् सुननेवालेको भी असह्य था, तब देखकर भला उसे कौन सह सकता ?—इस अर्थमे उपर्युक्त प्रश्न नहीं उठता। (डु०, भ० स०, पो०)। 'सुनत दुसह' ऐसा अन्वय होगा।

गर्भमे दुसह साँसति जो हुई उसका और प्रभुसे रक्षाकी पुकारका वर्णन पद १३६ में है—"आगे अनेक समूह संसृति उदरगति जान्यो सोऊ। सिर हेठ ऊपर चरन संकट बात नहि पूछै कोऊ।"..."तेहि ईसकी हों सरन जाकी बिषम माया गुनमई।" सो करौ वेगि सँभार श्रीपति विपति महुँ जेहि मति दई।"

२ (ङ) 'आरत अनाथ-नाथ...'—भाव कि आप आर्त और अनाथोंके स्वामी हैं, आर्तिके नाशक और अनाथका हित करते हैं। आर्त और अनाथोंको आप अपने करकमलकी छाया तले कर लेते हैं। यथा 'आरत दीन अनाथन को रघुनाथ करै निज हाथ की छाहैं। क० ७।११।' मैं आर्त और अनाथ हूँ, मेरा दुःख हरण कीजिए और मुझे सनाथ बनाइए। 'कोसलपाल' का भाव कि अवधवासियोंके ऊपर आपके राज्यमें काल-कर्म-स्वभाव-गुणका अधिकार न रह गया था, सभी सुखी थे और सभीको आपने अपने धामकी प्राप्ति कराई।—ऐसे शरणागतपालक कृपाल हैं। पुनः, 'कृपाल' का भाव कि गर्भमें पड़े हुए मुझ जडको आपने ही बुद्धि और विवेक दिया जिससे मैं आपकी शरण आया, नहीं तो वहाँ मुझे कौन पूछता। यथा 'परम कृपाल ज्ञान तोहि दीन्हों। तोहि दियो ज्ञान विवेक जन्म अनेककी तब सुधि भई।' इत्यादि। 'आरतनाथ...कृपाल' से यह भी जनाया कि जहां ही जो आपका स्मरण करता है, आप वही उसकी सहायता करते हैं। यथा 'आरतपाल कृपाल जो राम जेही सुमिरे तेहि को तहँ ठाढ़े। क०। ७।१२७।'

टिप्पणी—३ 'बूझ्यो ज्योंही...' इति। (क) यहाँ गुरुरूपसे हरिका प्रकट होकर पूछना, शरणमें लेना आदि है। क्या पूछा ? यह कि तुम कौन हो ? क्या चाहते हो ? (ख) 'चेरो ह्वै हों' आपका गुलाम वा चेला हूँगा। गुलाममें यह प्रश्न होता है, कि तुमको कौन बेचता है और चेलामें भाव यह कि लड़केको बिना उसके माता-पिता आदिसे पूछे चेला न बना लेना चाहिए। दोनों हालतोंमें उत्तर एक ही होता है-'मेरें कोऊ कहूँ न'। मुझको बेचनेवाला कोई नहीं, मैं बिना दामके ही आपका गुलाम होता हूँ तथा मेरे माँ-बाप, भाई आदि कोई नहीं

हैं, आप मुझे अपना विरक्त चेला बना लें। जैहे (जेइहे, जेहिहै)= जैसे ही। देहाती भाषामें ऐसे बोला जाता रहा है।

'चरन गहतु हों'—चरण पकड़नेमें विनीत प्रार्थना, चरण-शरण होना और दास्य भाव ग्रहण करना सभी भावोंका समावेश है।

३ (ख) 'सेवक सुखद सदा हों बिरुद ''—'सेवक सुखद' श्रीरामजी भी हैं और उनका वैष्णवी बाना, कण्ठी, तिलक, माला आदि भी सेवक-सुखद है। वैष्णव भगवान्‌का यह बाना धारण करते हैं और उससे सुख पाते हैं।—यह अर्थ पं० रामेश्वर भट्ट, वियोगीजी तथा पोद्दारजीने किया और यही संगत प्रतीत होता है। विरुद शब्द साधुके 'बाना', वीरके 'बाना' आदिके संबंधमें भी प्रयुक्त होता है। यथा 'बिरिद बाँधि बर बीर कहाई। चलेउ समर जनु सुभट पराई। २।१४४।' (इसमें भी विरदका अर्थ बाना है। वीरका बाना अस्त्र, शस्त्र, कवच, ढाल आदि हैं)। साधुका बाना कंठी तिलक आदि है।

३ (ग)☞ऊपर जो 'रामको गुलामु ''आनदु लहतु हों' कहा था। उसका आदि-कारण यहां तक कहा।

टिप्पणी—४ (क) 'लोगु कहै पोचु, सो न सोचु न सकोचु मेरें···' इति। दीनजी लिखते हैं कि "वैष्णवधर्ममें सम्मिलित हो जानेपर अधिकांश लोग तुलसीदासजी पर आक्षेप करने लगे, विशेषतः उनके जाति-पाँतिके बंधन तोड़नेपर। इसी आक्षेपका उत्तर इस पदके अंतिम दो चरणोंमें है। कवितावलीमें तो उन्होंने खूब ही मुँहतोड़ जवाब दिया है"—

धूत कहौ, अवधूत कहौ, रजपूत कहौ, जोलहा कहौ कोऊ।
काहू की बेटी सो बेटा न ब्याहब काहू की जाति बिगारौ न सोऊ॥
तुलसी सरनाम गुलाम है रामको, जाको रुचै सो कहौ कछु ओऊ॥
मागि कै खैबो मसीत को सोइबो, लैबेको एक न दैबे को दोऊ॥७ १०६।'
'मेरे जाति-पाति, न चहौं काहू की जाति-पाति, मेरे कोऊ काम को,
न हौं काहू के काम को।''क० ७।१०७।'

४ (ख) 'ब्याह न बरेपी' अर्थात् मुझे ब्याह नहीं करना है, और न मेरे कोई बेटा है जिसके लिये किसीकी (बेटीको) ढूँढ़ना पड़े। दोनोंमें जाति पाँति बिरादरीकी खुशामद करनी पड़ती है। जब दोनोंही से मैं निश्चिन्त हूँ, तब मुझे जाति-पाँतिकी क्या पर्वाह? कोई मेरे साथ खाय या न खाय, मुझे अपनी पंक्तिमें बिठाये या न बिठाये। मेरा

इससे कुछ बिगड़नेका नहीं। मुझे किसीसे नातेदारी नहीं जोड़ना है। नाता एकमात्र रघुनाथजीसे करना है।

'जाति-पाँति न चहतु हौं'—भाव कि मेरे साथ खान-पान-व्यवहार-से किसीकी जाति बिगड़ती है, तो मेरे साथ न खाये-पिये न व्यवहार करे, मैं किसीसे ऐसा करनेको तो कहता नहीं। मैं जाति-पाँतिके पचड़ेसे अलग हूँ, मेरी तो जाति 'वैष्णव' है, मेरी जाति-पाँति सब कुछ श्रीरामही हैं, इत्यादि। यथा "साहही को गोतु गोतु होत है गुलाम को। क० ७।१०७।", "जाति-पाँति सब भाँति लागि रामहि हमारि पति। क० ७।११०।' 'जाति-पाँति' क्यों नहीं चाहते? कारण यह कि प्रभु जाति-पाँतिसे नहीं रीझते, वे तो भक्तिसे ही रीझते हैं, जाति-पाँति आदिको छोड़कर जो एकमात्र प्रभुका हो जाता है, उसके हृदयमें प्रभु निवास करते हैं। यथा "कह रघुपति सुनु भामिनि बाता। मानउँ एक भगति कर नाता। जाति-पाँति कुल धर्म बड़ाई। धन बल परिजन गुन चतुराई॥ भगतिहीन नर सोहइ कैसा। बिनु जल बारिद देखिय जैसा। ३।३५।४-६।', 'जाति-पाँति धन धरम बड़ाई। प्रिय परिवार सदन सुखदाई॥ सब तजि तुम्हहि रहइ उर लाई। तेहि के हृदय रहहु रघुराई॥२।१३१।'

४ (ग) वियोगीजी लिखते हैं कि क० ७ १०६ व १०७ के आधार पर, किसी-किसीके मतसे, यह बात सिद्ध हो जाती है कि गोसाईंजी-का ब्याह नहीं हुआ था, वे बालब्रह्मचारी थे।

४ (घ) 'तुलसी काजु अकाजु रामहि के रीझें खीझें ''' इति। अर्थात् बनाना और बिगाड़ना एकमात्र श्रीरघुनाथजीके ही हाथमें है, अन्य किसीके हाथमें नहीं है, अतएव किसी दूसरेकी रीझने-खीजनेकी पर्वाह नहीं। कवितावलीमें भी कहा है—"लोक परलोकु रघुनाथ ही के हाथ सब'''। साधु कै असाधु, कै भलो कै पोच, सोचु कहा, का काहू के द्वार परौं, जो हौं सो हौं रामको॥ क० ७।१०७।", "तुलसीको भलो पोच हाथ रघुनाथ ही के, रामकी भगति भूमि मेरी मति दूब है। क० ७।१०८।", "कह तुलसिदास अब जब कबहुँ एक राम तें मोर भल। क० ७।११०।'

मिलान कीजिए—

'को भरिहै हरिके रितएँ, रितवै पुनि को, हरि जो भरिहै।
उथपै तेहि को जेहि रामु थपै, थपिहै तेहि को हरि जो टरिहै॥

तुलसी यहु जानि हिएँ अपने, सपनेहु नहि कालहु ते डरिहै।
कुमयाँ कछु हानि न औरन की, जो पै जानकीनाथ मया करिहै।क० ७।४७।'
'कृपा जिनकी कछु काज नही, न अकाजु कछू जिनके मुख मोरे।
करैं तिन्ह की परवाहि ते जो विनु पूँछ-विषान फिरैं दिन दौरें॥
तुलसी जेहिके रघुनाथसे नाथ, समत्थ सुसेवत रीझत थोरें।
कहा भवभीर परी तेहि धौं, विचरै धरनी तिन सो तिनु तोरें॥क० ७।४६।'

४ (ङ) 'प्रीति की प्रतीति मन मुदित रहतु हौं' इति। श्रीरामजीने दुःख दूरकर मुझे अपनाया, अपना गुलाम बनाया, रामबोला नाम रक्खा, इत्यादि जो ऊपर कह आये, इससे मुझे विश्वास है कि उनका मुझपर प्रेम है। अतएव 'मन मुदित' रहता हूँ। एवं 'लोगु कहै पोचु' से लेकर 'काजु अकाजु सब रामहिके रीझें खीझें' तक जो कहा, इस अपने प्रेमका मुझे विश्वास है, इससे 'मन मुदित रहतु हौं'। उनके प्रेमका विश्वास होनेसे प्रसन्न रहनेका कारण है कि जिसको वे अपना लेते हैं, उसका फिर त्याग नहीं करते, उनको अपने विरुदकी लाज है। यथा 'आपने निवाजे की तौ लाज महाराजको, सुभाउ समुझत मनु मुदित गुलाम को। क० ७।१४।', '...वेद कहै न घटै जन जो रघुवीर बढ़ायो। क० ७।६०।' अपने प्रेमका विश्वास है इससे प्रसन्न रहनेके उदाहरण उपर्युक्त क० ७।४७ व ४६ में आ गए।

वैजनाथजी—काज अकाज श्रीरामके रीझने-खीझने में ही है; अर्थात् श्रीरघुनाथजी की प्रसन्नतासे ही मुझे प्रयोजन है; इसलिये रामनाममें जो मेरी प्रीति है, उस नामके प्रभावकी मुझे प्रतीति है, इससे मनमें मुदित रहता हूँ।'❀

महात्मा भगवान सहायजी—इस पदके पूर्व पदोंमें विनय की है और इसके पश्चात् भी विनय करेंगे। बीचमें यहाँ सिद्ध अवस्था का, अर्थात् श्रीरघुनन्दनका आविर्भाव (वा, आदर भाव) और

❀ वियोगीजीने इसका अर्थ यह किया है—"पर मेरा प्रेम और विश्वास उनके चरणोमे सदा एकसा बना रहेगा; इसीसे मैं सदा सानन्द रहता हूँ।"

नोट—इस पदमे शुद्ध दृढ शरणागतिका भाव है कि देहनिर्वाहमात्रको जो मिले न मिले उसीमे संतुष्ट रहे और मन वचन कर्मसे भक्ति ही का पूरा विश्वास रक्खे। क्योंकि 'मोर दास कहाइ नर आसा। करइ तो कहहु कहा विस्वासा।' (सू० शु०)

अपना कृतार्थ होना, वर्णन हुआ। इस तरह पूर्व-परमें विरोध है। समाधान यह है कि इस पदको मनोराज्य समझना चाहिए; अथवा, यह विनय-पत्रिका है, इसमें पूर्व-परके विचारकी अपेक्षा नहीं, प्रत्येक पदका मतलब (तात्पर्य) उसी पदमें समाप्त वा पूर्ण हो जाता है।

श्रीसीतारामचन्द्रार्पणमस्तु।

७७ (४६) (राग ललित—प्र० । विलावल—भा०, वे०)

जानकीजीवन जगजीवन जगतहित[१],
जगदीस रघुनाथ राजीवलोचन राम।
सरद-विधु-वदन सुख-सील-श्री-सदन,
सहज सुंदर तनु सोभा अगनित काम ॥१॥
जग[२] सुपिता सुमातु सुगुर सुहित मीत[३]
सबको दाहिनो[४] दीनबंधु 'न[५] काहू को' बाम।
आरतिहरन सरन[६] अतुलित दानि
प्रनतपाल कृपाल पतितपावन नाम ॥२॥
सकल-विश्व-बंदित सकल सुर सेवित
आगम निगम कहैं रावरेइ[७] गुनग्राम।
इहै जानिकै तौं[८] तुलसी तिहारो जन भयो[९]
न्यारो कै गनीबो[१०] जहँ[११] गने गरीब गुलाम ॥३॥

१ जगतहित—६६ मे नही है, अन्य सवो (रा०, ५१, भा०, वे०, ७४) में है। २ जग—६६, रा०, ह०, आ०। जगत—भा०, वे०, ७४। ३ मीत—६६, रा०, ह०, ७४। सुमीत—भा०, वे०, आ०। ४ दाहिनो—६६, रा०, वे०, ५१, ह०, आ०। दाहिने—भा०। ५ न काहू को—६६, रा०। काहू को न—प्रायः औरोमें। ६ सरन—६६। सरनद—प्रायः औरोमे। ७ रावरेइ—६६, रा०, भ०, १५। रावरेई—भा०, वे०, ह०, प्र०, आ०। रावरोई—७४। ८ तौं—६६, भ०, रा०, भा०, वे०। ७४, आ०, ५१ मे नही है। ९ भयो—६६ के अतिरिक्त सवमे है। भ० मे भी नही हे। १० गनीवो—६६, ७४, ज०। गनिवो—रा०, भा०, वे०, ह०, आ०। ११ जहँ—६६। जहाँ—अन्य सवोमे।

शब्दार्थ—वदन = मुखमंडल। श्री = लोक-श्री, जय-श्री, आदि सब प्रकारकी श्री, ऐश्वर्य एवं शोभा। = लक्ष्मी। = श्रीजानकीजी। श्रीसदन = समस्त 'श्री' के धाम। = जिनके हृदयमें श्रीजीका निवास है। तन = शरीर; देह। काम = रतिका पति कामदेव। दाहिनो = अनुकूल; हितकी ओर प्रवृत्त। वाम = प्रतिकूल। शरण = शरण्य; शरणागतके रक्षक; आश्रयके स्थान। अतुलित = जिसकी तुलना या समता न हो; अपरिमित, अतुलनीय। प्रणतपाल = प्रणत (प्रणाम करनेवाले; दीन, दास या भक्तों) का पालन करनेवाले = दीनजनरक्षक। आगम = शास्त्र। निगम = वेद। रावरेइ = रावरे ही = आपके ही। न्यारो (न्यारा) = अलग; पृथक्। कै = अथवा। गनीवो (गनिबो) = गिनोगे।

पद्यार्थ—हे श्रीरामजी! आप श्रीजानकीजीके प्राणोंके आधार अर्थात् प्राणप्रिय प्रियतम, जगत्के जीवन अर्थात जगत्की स्थिति और अस्तित्वके कारण, जगत्का हित करनेवाले, जगत्भरके स्वामी, रघुकुलके एवं रघु (= जीवमात्र) के नाथ, अरुण कमलदलके समान नेत्रवाले हैं। आपका मुखमण्डल शरत्पूर्णिमाके चन्द्रमाके समान (स्वच्छ, प्रकाशमान, प्रियदर्शन) है आप सुख, शील† और श्रीके निवासस्थान हैं। आपके स्वाभाविक ही (अर्थात् विना भूषण वस्त्र शृङ्गारके ही) सुंदर शरीरमे असख्यों कामदेवोंकी छवि है।१। आप जगत्के सर्वोत्कृष्ट (सबसे बढ़कर सुखकारी) पिता, सर्वोत्तम माता, सर्वश्रेष्ठ गुरु, अत्यन्त हितकारी मित्र, सबके अनुकूल और दीनबंधु (दीनोंके भाई समान सहायक) हैं। प्रतिकूल (तो) किसीके भी नहीं है। आप विपत्तिके हरनेवाले, सबके एवं शरणागतके आश्रयस्थान, अतुलनीय दानी, प्रणतपाल और कृपाल हैं। आपका नाम महापापियोंको पावन (पवित्र) करनेवाला है।२। आप संपूर्ण विश्वद्वारा वंदित (अर्थात् सारा विश्व आपकी वन्दना करता है) और समस्त देवताओंसे सेवित (अर्थात् सबके सेव्य) हैं। वेद शास्त्र आपके ही गुणसमूह (यश) कहते हैं।—यही (उपर्युक्त गुणग्राम) जानकर तो 'तुलसी' तुम्हारा दास हुआ। (कहिये)

† 'शील' का अर्थ 'स्वभाव' भी होता है। 'सुख-शील' को एक शब्द मानें तो अर्थ होगा :—'सुखमय स्वभाववाले हैं', 'सुख देना आपका स्वभाव है'।

आप इसे अलग गिनेंगे या जहाँ गरीब गुलाम गिने गये हैं वहाँ गिनेंगे *।३।

टिप्पणी—१ 'जानकी-जीवन···' इति । (क) पिछले पदमें बताया कि मैंने प्रार्थना की कि मुझे आप अपना गुलाम बना लीजिए और प्रभुने मुझे गुलाम बना लिया। अब इस पदमें बताते हैं कि मैं आपका गुलाम क्यों हुआ, सो सुनिए।—'जानकीजीवन' से लेकर 'आगम निगम कहैं रावरेइ गुनग्राम।' तक कारण कहकर तब कहते हैं—'इहै जानि कै तौ तुलसी तिहारो जन'। (ख) 'जानकी-जीवन' का भाव कि जो जगज्जननी हैं, जिनकी कृपाकटाक्षकी चाह देवता करते हैं, जो उमा, रमा तथा ब्रह्मादिद्वारा वंदित हैं, इत्यादि सर्वगुण-ऐश्वर्य-संपन्न हैं उनके भी आप प्राणाधार हैं। यथा 'लोकप होंहि बिलोकत तोरे। तोहि सेवहि सब सिधि कर जोरें।२।१०३।६।', 'उमा रमा ब्रह्मादि वंदिता।७।२४।६।', 'जासु कृपा कटाच्छ सुर चाहत चितव न सोइ।७।२४।'; वे भी कहती हैं—'प्राननाथ तुम्ह बिनु जग माहीं। मो कहुँ सुखद कतहुँ कछु नाहीं।२।६५।६।' वे श्रीरामजीकी प्रभुता जानती हैं, इसीसे सेवा करती हैं। यथा 'जानति कृपासिंधु प्रभुताई। सेवत चरन कमल मन लाई।७।२४।४।'—अतएव मैं भी सेवक बना।

१ (ग) 'जगजीवन' इति। अर्थात् जगत्के सब प्राणी आपके ही आश्रयसे जीवित रहते हैं, आपही जगत्में चेतनाशक्ति डालकर इसे चेतन बनाते हैं, सब प्राणियोंके आप प्राण हैं। यथा 'येन जातानि जीवन्ति' अर्थात् उत्पन्न होनेपर सब भूत जिसके आश्रयसे जीवित रहते हैं (तै० ३।१), 'चेतनाशक्तिमाविश्य त्वमेनं चेतयस्यहो।' (प० पु० पा० २२।३०), 'राम प्रानप्रिय जीवन जी के।२।७४।६।', 'प्रान प्रानके जीवके जिव सुखके सुख राम।२।२९०।' जगत्हित—यथा 'सर्वलोकहिते रतम्' (वाल्मी० २।५८।३२)। संसारका स्वार्थ-रहित हित करनेवाले दो ही कहे गये हैं—एक तो प्रभु, दूसरे उनके

* पं० रामकुमारजीका अर्थ—"जहाँ आपके गरीब गुलाम गिने जाते हैं, न्यारा करके वही उन्हीमे मुझे भी गिनिये।"—इस अर्थमे 'कै'=करके।

दीनजीका अर्थ—'अब आप मुझे अलग ही गिनियेगा जिसमे गरीब गुलामो-की गणना है'।

भक्त। यथा 'हेतुरहित जग जुग उपकारी। तुम्ह तुम्हार सेवक असुरारी। ७।४७।५।' दोनोंमें भेद नहीं है। पद ५२ में भी श्रीरामजीका यह गुण कहा है—'कौसलाधीस जगदीस जगदेकहित'। विशेष भाव ५२ (१ ख-ग) में देखिए। 'शरद विधु वदन' से प्रियदर्शन, सौम्य और लोक-सुखदाता जनाया।—विशेष 'भजि उदार रामचंद्र' ७४ (१ छ) में देखिए। वाल्मी० २।४८।३० में भी कहा है—'सौम्यश्च सर्वलोकस्य चन्द्रवत् प्रियदर्शनः ॥'

१ (घ) 'सुख सील श्री सदन' इति। सुखके सदन अर्थात् धाम हैं। भाव कि जीवको सुखकी प्राप्ति यहीं होती है। 'जानकीरमन सुख-भवन' ४६ (२घ) देखिए। शीलसदन और सम्यक् श्रीके निवास-स्थान हैं। 'श्री' चंचलता छोड़कर यहीं रह गई है, यथा 'जद्यपि परम चपल श्री संतत थिर न रहति कतहूँ। हरिपद पंकज पाइ अचल भइ करम वचन मनहूँ।८६।' 'श्रीसदन'—से श्रीमान्, लक्ष्मीवान्, कान्तिमान् और शोभासंपन्न जनाया। 'शीलसदन' से सदाचारयुक्त भी जनाया। शील स्वभावका वर्णन कविने स्वयं पद १०० में किया है।

'सुख सील श्री सदन' को 'विधु वदन' का विशेषण भी मान सकते है। शरद्चन्द्र निर्मल, शीतल और प्रकाशयुक्त होता है। ['सदा एकरस प्रसन्न मुख' सुख सूचित करता है, यही निर्मलता है। 'सबका सम्मान करना'—रूप शील शीतलता है और मुखकी श्री (शोभा) चन्द्रमाका प्रकाश है। (वै०)]

१ (ङ) 'सहज सुंदर तनु···' इति। रूपसौन्दर्यमें कामकी उपमा दी जाया करती है। यथा 'काम-से रूप' (क० ७।४२)। एक ही काम सारे विश्वको वशमें किये रहता है; यथा 'काम कुसुम धनु सायक लीन्हे। सकल भुवन अपने बस कीन्हे।१।२५७।१।' तब जहाँ अगणित कामकी शोभा हो वहाँका कहना क्या ? इस कथनसे म० भा० द्रोण० ५६।२१ 'सर्वभूतमनःकान्तो रामो राज्यमकारयत्' का भाव सूचित किया। अर्थात् उनके शरीरकी कान्ति समस्त प्राणियोंके मनको मोह लेनेवाली थी। 'विशेष 'सौंदर्य सुखमा-रूप मनोभव कोटि गर्वहारी' ४४ (३ घ); 'सहज सुंदर' ५६ (४ क) आदि में आ चुका है।

२ (क) 'जग सुपिता···' इति। भाव कि आपके समान पिता, माता आदि कोई नहीं हैं, (क्योंकि वे सब स्वार्थरत है)। यथा 'नाम

सों न मातु पितु मीत हित बंधु गुर साहिब सुधी सुसील सुधाकरु है। २५५।' (नाम नामी अभेद होनेसे यह उदाहरण दिया गया), 'मातु पिता स्वारथरत ओऊ ॥'''स्वारथ मीत सकल जग माही। सपनेहुँ प्रभु परमारथ नाहीं ॥ ७।४७।' (ख) सं० १६६६ की प्रतिमें 'सुहित मीत' पाठ है, इसलिये 'सुन्दर हितकारी मित्र' अर्थ किया है। सुहितमें मानसके "कुपथ निवारि सुपंथ चलावा। गुन प्रगटै अवगुनन्हि दुरावा॥ बिपति काल कर सतगुन नेहा। श्रुति कह 'संत मित्र' गुन एहा।४।६।४-६।" में कथित 'संत मित्र' का भाव है। तथा 'मित्रभावेन सम्प्राप्तं न त्यजेयं कथंचन। दोषो यद्यपि तस्य स्यात्सतामेतदगर्हितम्। वाल्मी० ६।१८।३।' का भाव भी है।—'सुहित सुमीत' पाठ जिन पुस्तकोंमें है, उनमें 'सुहित' और 'सुमीत' दो विशेषण मानकर अर्थ करना चाहिए। (ग) 'सबको दाहिनो न काहू को बाम' कहकर जनाया कि आपका स्वभाव सुरतरुके समान है; यथा 'देव देवतरु सरिस सुभाऊ। सनमुख विमुख न काहुहि काऊ॥ जाइ निकट पहिचानि तरु छाँह समन सब सोच। मागत अभिमत पाव जग राउ रंक भल पोच॥ २।२६७।', 'अपराधिहु पर कोह न कोऊ। २।२६०।५।', 'अरिहुक अनभल कीन्ह न रामा। मैं सिसु सेवक जद्यपि बामा।२।१८३।६।'

२ (घ 'सरन' इति। शरण=शरणदाता; शरणागतवत्सल। यथा 'शरण्यं शरणं च त्वामाहुर्दिव्या महर्षयः। वाल्मी० ६।११७।१७।' (दिव्य महर्षिगण आपको शरणदाता तथा शरणागतवत्सल बताये हैं)। 'शरण' हैं अर्थात् जिसको शरण देनेवाला कोई नहीं उसको भी आप शरण देते हैं; यह आपका विरुद है। यथा 'असरन सरन बिरदु संभारी। मोहि जनि तजहु भगत-भयहारी।७।'८।', 'असरन सरन दीनजनगाहक।७।५'।४।' उपर्युक्त प्रमाणानुसार 'शरण' पाठ शुद्ध है जो १६६६ की पोथीमें है। ५५ (६ क) भी देखिए।

२ ङ) 'अतुलित दानि' इति। प० पु० पाताल खं० में शेषजीने बताया है कि राज्याभिषेक हो जाने पर ब्रह्मादिक देवताओंने श्रीरामकी स्तुति करके उनके चरणोंमें बारंबार प्रणाम किया। स्तुतिसे सन्तुष्ट होकर श्रीरामजीने कहा—'देवताओ! तुम लोग मुझसे कोई ऐसा वर माँगो जो तुम्हें अत्यन्त दुर्लभ हो तथा जिसे अबतक किसी देवता, दानव, यक्ष और राक्षसने भी नहीं प्राप्त किया हो।'—'सुरा

वृणुत मे यूयं वरं किंचित्सुदुर्लभम्। यं कोऽपि देवो दनुजो न यक्षः प्राप सादरः ।५।१३।' अत्यन्त दुर्लभ जो आजतक किसीको न प्राप्त हुआ हो—इस प्रकार विना किसी शर्त (अपवाद) के मुँह माँगा वर देनेवाले होनेसे 'अतुलित दानी' कहा।

इसी तरह मनुजीको दर्शन देकर उनसे कहा था—'माँगहु वर जोइ भाव मन महादानि अनुमानि। १।१४८।', 'सकुच विहाइ माँगु नृप मोही। मोरे नहिं अदेय कछु तोही॥ १।१४६।८' इसीपर मनुजीने भी उन्हें 'दानिशिरोमणि कृपानिधि' संबोधित करके इन्हींको पुत्ररूपमें माँगा। ऐसे दानी हैं कि स्वयं अपनेको दे डालते हैं। देवर्षि नारदसे भी यही कहा है—'कवन वस्तु अति प्रिय मोहि लागी। जो मुनिवर न सकहु तुम्ह माँगी॥ जन कहँ कछु अदेय नहिं मोरें। अस विश्वास तजहु जनि भोरें।३।४२।४।'—वरमें कहीं कोई शर्त नहीं लगाते कि अमुक वस्तु छोड़कर माँगो। अतः 'अतुलित दानि' कहकर दानि-शिरोमणि, महादानी, उदारचूड़ामणि जनाया।

२ (च) 'प्रनतपाल ···' इति। प्रणाममात्रसे पालन और रक्षा आदि करते हैं; यथा 'सकृत नतमात्र कहे पाहि पाता', 'नमत नर्मद॰' ४४ (६ छ, ८ ख) देखिए। प्रणतपाल ऐसे हैं कि शरणमें आनेके पूर्व भी जो इच्छा मनमें थी किन्तु शरणमें आनेपर नहीं रह गई, उसे भी पूरा करते हैं। विभीषणशरणागतिमें देख लीजिये।

विभीषणजी कहते हैं—'प्रनतपाल उर अंतरजामी॥ उर कछु प्रथम वासना रही। प्रभुपद प्रीति-सरित सो बही॥···', इसपर श्रीरघुनाथजी कहते हैं- 'जदपि सखा तव इच्छा नाहीं। मोर दरस अमोघ जग माहीं॥ अस कहि राम तिलक तेहि सारा।' (५।४६)। इतना ही नहीं वे तो उसके कुटुम्बका भी पालन करते हैं। यथा 'यह न अधिक रघुवीर बड़ाई। प्रनत कुटुंब पाल रघुराई।२।२०८।७' 'प्रणतपाल' का भाव 'प्रनतपाल रघुनायक करुनासिंधु खरारि। गएँ सरन प्रभु राखिहैं तव अपराध बिसारि।५।२२।' में खोल दिया है। पुनश्च 'नाहिने कोउ राम सो ममता प्रनत पर जाहि।२१६।'

'पतितपावन नाम'—'पतितपावन रामनाम सो न दूसरो' ६६ (५ क) देखिए। 'कृपाल' से जनाया कि समस्त प्राणियोंपर आप अनुग्रह करते हैं; यथा 'सर्वभूतानुकम्पकः' (म॰ भा॰ द्रोण॰ ५६।८)।

['जग सुपिता सुमातु ''बाम' इति। इसमें ऐश्वर्य-माधुर्यमिश्रित स्वभावके गुण कहे हैं। निर्हेतु जगत्‌का भरण-पोषण करते हैं इससे सु (सुंदर सुखद)—पिता-माताके समान हैं; यह विभुत्व और कृपा-गुण है। सद्गुरुके समान सम्मुख जीवोंको परमार्थमें लगाते हैं; इससे 'सुगुरु' के समान हैं। स्नेही जनोंके हितमें तत्पर सुमित्र हैं,—यह सौहार्द गुण है। यथा 'मित्रभावेन सम्प्राप्तं न त्यजेयं कथंचन।' सबको दाहिने अर्थात् सबके हितकारी है, जीवमात्रके रक्षक हैं,—यह कृपा, शील और सौलभ्य गुणका स्वभाव है। दीनोंके बंधुसम सहायक होनेमें 'दया' गुण कारण है। 'न काहू को बाम' इसमें क्षमागुण कारण है। सबका हित ही चाहते हैं। जिसका वध करते हैं उसे भी मुक्ति ही देते हैं, वाम होते तो नरकमें डालते। (वै०)]

३ (क) 'सकल विश्व वंदित०' में 'व्याप्य कृत्स्नं जगत् कीर्त्या सुरर्षि-गणसेवितः।', तथा 'त्रिदशैरभिपूजितः' और 'रामो रामो राम इति प्रजानामभवत् कथा। २२। रामाद् रामं जगदभूद् रामे राज्यं प्रशासति।' (महा० द्रोण० ५९।८, ७, २२-२३) का भाव है। अर्थात् देवर्षिगणोंसे सेवित श्रीरामने अपनी कीर्तिसे संपूर्ण जगत्‌को व्याप्त कर दिया। वे देवताओं द्वारा सम्मानित हुए। उनके राज्य-शासनकालमें समस्त प्रजाओंमें 'राम, राम, राम' यही चर्चा होती थी। श्रीरामजीके कारण सारा जगत् ही राममय हो रहा था।

३ (ख) 'आगम निगम कहैं रावरेइ गुनग्राम' इति। 'शास्त्रोंमें गुणगान', यथा 'न तत्पुराणं नहि यत्र रामो यस्यां न रामो न च संहिता सा। स नेतिहासो नहि यत्र रामः काव्यं न तत्स्यात् नहि यत्र रामः॥ शास्त्रं न तत् स्यान्नहि यत्र रामस्तीर्थं न तद्यत्र न रामचन्द्रः।(आदि पु० कथा विषय)। वेदोंमें गुणगान, यथा 'वेदे रामायणे पुण्ये भारते भरतर्षभ। आदौ चान्ते च मध्ये च हरिः सर्वत्र गीयते। म० भा० स्वर्ग०' अर्थात् हे भरतश्रेष्ठ! वेद, रामायण तथा पवित्र महाभारतके आदि, मध्य एवं अन्तमें सर्वत्र श्रीहरिका ही गान किया जाता है। (हरिवंशोक्त भारतश्रवणविधावध्याय श्लोक ९३)

पूर्व भी कहा है—'बिपुल गुनधाम बिधि-बेद-बुध-संभु सेवित असानं' ६० (३ क) देखिए।

३ (ग) ["'सकल विश्व वंदित०' से जनाया कि आपका माधुर्य रघुनन्दन रामरूप 'सकल विश्व वंदित सकल सुर-सेवित' इत्यादि है।

अवतार लेकर आपने भूभार उतारा, धर्मका स्थापन किया, देवोंको अभय किया और नाम-रूप-लीला-धाम-द्वारा जीवोंका सुलभ उद्धार करते हैं। इसीसे सारा संसार आपकी वन्दना करता है।—यह आज भी प्रसिद्ध है—देखिए, स्नेही तथा संबंधी लोग आज भी परस्पर 'राम राम', 'सीताराम' कहते हैं। न्याय सभामें सत्य कहनेमें 'रामो राम' कहकर सत्यका प्रतिपादन और सत्यके निरवार (फैसला) में 'रामदुहाई' करते हैं। शिष्य करने, मंत्र देनेको 'राम राम सुनाना' कहते हैं। अन्नादि तौलनेमे प्रथम एककी सख्यामें 'राम, राम' कहते हैं। कष्ट समय 'हा राम ! हा राम' और मृत्यु हो जाने पर 'राम नाम सत्य है' कहते हैं।" (वै०)]

३ (घ 'इहै जानिकै'—टिप्पणी १ (क) देखिए। 'न्यारो कै गनीवो जहँ गने गरीव गुलाम' इति। यह कहकर कि मैं आपका 'जन' हो गया, अव अपना स्थान वताते हैं कि मैं किस पंक्तिमें रक्खा जाऊँ। वे अपनी गिनती व्याध, गज, गणिका, अजामिल और गीधकी पक्तिमें चाहते है, बड़े सुकृतियों आदिकी पंक्तिमे नहीं। यथा 'कवहुँ रघुवंसमनि सो कृपा करहुगे। जेहि कृपा व्याध गज विप्र खलतर तरे तिन्हहिं सम मानि मोहिं नाथ उद्धरहुगे। २११।', 'खग गनिका गज व्याध पाँति जहँ तहँ हौं हूँ वैठारो। अव केहि लाज कृपानिधान परसत पनवारो फारो।९४।'(ङ)—'न्यारो कै गनीवो' का लक्ष्य 'परसत पनवारो फारो' मे है, अर्थात् क्या उस पंक्तिसे निकालना चाहते हैं, ऐसा न कीजिए। [मेरी गणना उत्तम दासोंमें न करके गरीव गुलामोंमे कीजिए; क्योंकि मैं नीच हूँ। अपनी पंगति सवको अच्छी लगती है। इति भावः। (भ० स०)]

दीनजी लिखते हैं—"अंतिम चरण अमूल्य है। गोस्वामीजीको इन्द्र भी वनना अस्वीकार है, पर वे रामका 'गरीव गुलाम' की पदवी पानेमे अपना अहोभाग्य मानते हैं। इन्द्रपद पानेके लिये अगणित मनुष्योंने तपस्या की है, सांसारिक राजपदवी पानेके लिये नित्य लड़ाइयाँ होती रहती हैं। पर गोस्वामीजीने इनपर लात मार दी।"

श्रीवियोगीजी 'काव्य चमत्कार' शीर्षक लेखमे लिखते हैं—विनय-पत्रिकामे भक्ति-सिद्धान्तोंका प्रतिपादन प्रधानतः और काव्य-चमत्कार-का चित्रण गौणतः किया गया है। हम केवल भक्तिसिद्धान्त वैचित्र्य पर ही कुछ लिखेंगे।—

"इहै जानिकै···गुलाम ?"—अब यह बतलाइए कि आप इसे अलग गिनेंगे, या जहाँ गरीब गुलामोंका नाम आया है, वहाँ गिनेंगे? यहाँ 'अलग' शब्दसे क्या तात्पर्य है ? जब सेवकत्व ही स्वीकार कर लिया और यह भी विश्वास हो गया कि भगवान् हमें अंगीकार कर लेंगे, तब अलग गिनना कहाँ रहा ? 'अलग' शब्दसे गोसाईंजीका कदाचित् यह भाव रहा होगा, कि कहीं मैं बड़े-बड़े ज्ञानी, ध्यानी और ऊँचे भक्तोंकी श्रेणीमें न बिठा दिया जाऊँ, तो बड़ी आफत हो। साधारणतया देखनेसे तो इस श्रेणीमें बैठना आदरसूचक है, पर भगवान्का सान्निध्य चाहनेवाले एकान्त भक्तके लिये महान्मान कुछ अधिक मूल्य नहीं रखता। इन्द्र, कुबेर, ध्रुव आदि अलग बैठे-बैठे राजसीभोग भोग करते हैं, पर उन्हें वह आनन्द कहाँ, जो गरीब निषाद, शबरी, हनुमान् और जटायुको है ? यों तो इतना ही कह देना काफी था, कि 'इहै जानि कै तो तुलसी तिहारो जन भयो'—पर इतनेमें संतोष न होता। साफ-साफ तय कर लेना ठीक होता है। कहीं 'अलग' की गणनामें न आ जाऊँ, बड़प्पनकी पाग सिरपर न बाँध दी जाय, इसी खयालसे आपने स्पष्ट कह देना ठीक समझा। फिर भी शिष्टाचारके विरुद्ध योंहीं नहीं कह दिया, कि मैं तुम्हारा सेवक हो गया हूँ, मुझे अपने अमुक सेवकोंके विभागमें रख लो। कितनी शिष्टता, मिन्नत और गहराईके साथ निवेदन किया गया है—'न्यारो कै गनिबो जहाँ गने गरीब गुलाम ?'

श्रीसीतारामचन्द्रार्पणमस्तु।

७८—राग टोड़ी

देव*-दीन को दयालु दानि दूसरो न कोऊ[1]।
जाहि[2] दीनता कहौं 'हौं[3] दीन देखौं' सोऊ[1] ॥१॥

---

* देव—रा०, भा०, वे० आदि प्राचीन सभी प्रतियोंमें है। वै०, भ०, दी०, वि०, मु० छपी प्रतियोंमें नहीं है। केवल पो०, श्री० शा० की टीकाओंमें है।
१ कोऊ—सोऊ—रा०, ह०, श्रा०। कोई-सोई—भा०, वे०, डु०, ७४, ज०।
२ जाहि—रा०, ७४, मु०, डु०, वै०, दी०, पो०। जासो—भा०, वे०, ह०, भ०, ज०, वि०। ३ हो दीन देखो—रा०। हौं दोन देखौं—डु०, वै, दी०, सू० शु०। हौं देखौं दीन—भ०, वि०। मैं देखौं दीन—भा०, वे०, ज०, ७४, ह०।

देव—मुनि[4] सुर नर नाग असुर साहिब तौ घनेरे।
पै[5] तौ लौं जौं लौं रावरे न नेकु नयन फेरे ॥२॥
देव—त्रिभुवन तिहुँकाल विदित वदत वेद चारी।
आदि अंत[6] मध्य राम साहिबी तिहारी ॥३॥
देव—तोहि[7] माँगि मागनो न मागनो कहायो।
सुनि सुभाउ सील सुजसु जाचन जनु आयो ॥४॥
देव—पाहन 'पसु[8] विटप विहँग' अपने करि[9] लीन्हे।
महाराज दसरथ के तैं[10] रंक राय कीन्हे ॥५॥
देव—तू गरीब को निवाज हौं गरीब तेरो।
बारक कहिये कृपालु तुलसिदास मेरो ॥६॥

नोट—१ यहाँ अन्तराओंका जो क्रम है वह रा०, ह०, ७४, भ०, वै०, मु०, वि०, पो०, दीनमें है। भा०, वे० मे अन्तरा २, ३, ४, ५ के बदले अन्तरा ३, ५, २, ४ यह क्रम है।

इस पदमे भा०, वे०, ज०, ७४, ह०, रा० आदि के पाठोंमें भी बहुत भेद है। दास विशेषकर रा० वाला ही पाठ इन सबोंमे विशेष प्रामाणिक मानता है, क्योंकि इस पोथीका पाठ प्राचीनतम पोथीसे विशेष मिलता-जुलता है।

शब्दार्थ—दीनता = दरिद्रता; गरीबी। साहिब = स्वामी। घनेरे (सं० 'घनिष्ट' से) = बहुतेरे; बहुत अधिक। यथा 'बन प्रदेस मुनि-

---

४ मुनि सुर नर नाग असुर—रा०, मु०, डु०। सुर नर मुनि असुर नाग—ह०, भा०, वे०, ज०, भं०, वि०, पो०। सुर मुनि नर नाग असुर—७४, वै०। सुर नर मुनि नाग असुर—दी०। ५ पै—रा०, आ०। भा०, वे०, ह०, ७४, ज०, भ० मे 'पै' नही है। मु० मे 'तौ लौं' नही है, केवल 'पै जौ लौं' है ६ मध्य अंत ७४। ७ तोहि—रा०, आ०, भ०। तुमहि—भा०, वे०, ह०। तुम्हहि—७४। ८ 'पसु विटप विहँग'—रा०, ह० आ०। 'कपि पसु विहग'—भा०, वे०,। 'पसु कपि विहंग'—ज०। पसु व्याघ विहग—७४। ९ करि—रा०, ह०, ७४, वि०, पो०। कर—भा०, वे०, ज०, डु०, वै०, दी०, भ०। १० तैं—रा०, ह० (तें)। भा०, वे, ज०, आ० में नहीं है।

बास घनेरे। जनु पुर नगर गाँउ गन खेरे ।२।२३६।१।' 'नयन फेरना' (यह मुहावरा है)।=निगाह फेरना; नजर बदलना; पहलेकी-सी कृपा-दृष्टि वा स्नेह न रखना ।=विरुद्ध वा प्रतिकूल हो जाना। नेकु=किंचित; थोड़ा भी; जरा सा। बदत=कहते हैं। साहिबी=प्रभुता; स्वामित्व; ठकुराई; बड़प्पन । माँगनो=मंगन; भिक्षुक; मँगता; माँगनेवाला, याचक। जाचन (याचन)=याचना करने; माँगने। पाहन=पाषाण; पत्थर। के=के पुत्र; यथा 'तैं रन केहरि केहरि के बिदले अरि कुंजर छैल छवा से।' (बाहुक)। 'राय दसरथ के तू उथपन थापनो ।१८०।' रंक=कंगाल; दरिद्र। राय=राजा। निवाज (यह फारसी शब्द है)=कृपा करनेवाला। बारक (वार एक)=एक बार।

पद्यार्थ—हे देव! दीनजनोंके लिये दयालु दानी (वा, दयालु और दानी आपके सिवा) दूसरा कोई नहीं है। जिससे मैं (अपनी) दीनता कहता हूँ, उसको भी मैं दीन देखता हूँ ।१। हे देव! मुनि, सुर, नर, नागदेव और असुर (दैत्य, दानव, राक्षस आदि) स्वामी तो बहुत-से हैं, पर तभी तक (उनकी साहिबी है, वे साहिब हैं) जबतक आप (उधरसे; उनकी ओरसे) किंचित् आँख नहीं फेरते (अर्थात् आपके कृपाकटाक्षसे ही उनकी साहिबी है, दृष्टि किंचित् फिरी नहीं कि उनकी साहिबी गई)।२। हे देव! तीनों लोकों और (भूत, भविष्य, वर्तमान) तीनों कालोंमें प्रसिद्ध है और चारों वेद कहते हैं,—हे श्रीरामजी! आपकी ही साहिबी आदि, अन्त और मध्य (तीनों कालोंमे एकरस) रहती है ।३। हे देव! आपसे माँगनेपर याचक फिर याचक नहीं कहलाया (अर्थात् एकही बार माँगनपर आप उसको इतना दे देते हैं कि फिर कभी उसे किसीसे कुछ भी माँगनेकी आवश्यकता नहीं पड़ती। जब फिर माँगेगा ही नहीं, तब 'मंगन' क्यों कहलाने लगा? मँगतापन छूटकर वह तो दाता बन जाता है)। (आपका यह) स्वभाव, शील और सुन्दर यश सुनकर (यह आपका) दास माँगने आया है ।४। हे देव! आपने पाषाण, पशु, वृक्ष और पक्षियोंको अपना कर लिया। हे महाराज श्रीदशरथके पुत्र! आपने रंकोंको राजा बना दिया ।५। हे देव! आप गरीबोंपर कृपा करनेवाले हैं, मैं आपका गरीब हूँ। हे कृपालु! एक बार तो कहिये कि 'तुलसीदास मेरा है' ।६।

नोट—२ पट् शरणागतिमें 'गोपतृत्व (वरण)' एक शरणागति है। यथा 'केवट कपिकृत सख्यता शबरी गीध पषान। सुगति दीन, रघुनाथ तजि कृपासिंधु को आन।' इस पदमें 'गोपतृत्व वरण' शरणागतिको लिए हुए अपनी दीनता कहते हैं। (वै०)।

पट् शरणागतिका श्लोक यह है—'आनुकूल्यस्य संकल्पः प्रातिकूल्यस्य वर्जनम्। रक्षिष्यतीति विश्वासो गोप्तृत्ववरणं तथा। आत्मनिक्षेप कार्पण्ये पड्विधा शरणागतिः'। (भूषण टीका वाल्मी० ६।१७ तथा अहिर्बुध्न्य संहिता ३७।२७-२८)। इसके अनुसार 'गोप्तृत्ववरण' चौथी शरणागति है। इसका अर्थ है—'रक्षकरूपसे भगवान्‌को वरण करना। अर्थात आपही एकमात्र मेरे रक्षक हैं, इस भावसे उनको स्वीकार कर लेना।' विशेष व्याख्या पद १०४ नोट १ (क) मे देखिए।

टिप्पणी—१ 'दीन को दयाल दानि दूसरो न कोऊ' इति।(क)'दीन' = सब अंग-बलहीन, जिसके पास कर्म, उपासना, ज्ञान आदि कोई भी साधन नही है, जो अधन गुणहीन और आलसी है, जो किसी प्रकारकी सेवा नही कर सकता, पर दुखित है, भव पार होनेकी इच्छा अथवा अपना दुःख छूटे यह इच्छा करता है।—ऐसे पर दया करनेवाला प्रभुके सिवा दूसरा नहीं। निम्न उद्धरणोंसे ये सब भाव प्रमाणित होते हैं। यथा—"कहाँ जाउँ कासों कहौं को सुनै दीन की। त्रिभुवन तुही गति सब अंग हीन की।१७९।", "जाउँ कहाँ, ठौर है कहाँ देव दुखित दीन कों। को कृपाल स्वामी सारिखो राखै सरनागत सब अग बल हीन को।२७४।", 'बिनु सेवा जो द्रवै दीन पर राम सरिस कोउ नाहीं।१६२।', 'को न सेवत देत संपति लोकहू यह रीति। दास तुलसी दीन पर एक राम ही कें प्रीति।२१६।'

१ (ख) 'दयालु दानि' का भाव कि दानी तो बहुत हैं, पर उनमें दया नहीं है, दया न होनेसे वे दीनकी कब सुनने लगे। और जिनमें दया है, उनके पास कुछ है नही, वे दूसरेकी दीनता दूर करनेमें असमर्थ हैं। यथा 'प्रभु अकृपाल कृपाल अलायक जहँ जहँ चितहि डोलावों। इहै समुझि सुनि रहों मौन ही कहि भ्रमु कहा गँवावों। २३२।' आपमें दोनों गुण हैं। दयालु होनेसे आपको दीनकी 'पीर' होती है। यथा 'को तुम्ह बिनु पर-पीर पाइहै, केहि दीनता सुनावों। २३२।'

१ (ग) पुनः, 'दानि दूसरो न कोऊ' का भाव कि दानी एकमात्र आपही हैं, और सारा संसार तो याचक ही है, सब आपसे ही दीन होकर याचना किया करते हैं। यथा 'दानव देव अहीस महीस महामुनि तापस सिद्ध समाजी। जग जाचक, दानि दुतीय नही, तुम्ह ही सबकी सब राखत बाजी। क० ७।६५।'—इस उद्धरणमे यह भी जनाया है कि सबकी साहिबी आपके ही रखनेसे रहती है। पुनः, 'दूसरो न कोऊ'–अर्थात् दूसरा कोई जब है ही नहीं, तब मैं आपको छोड़कर कहाँ जाऊँ? अतएव रक्षकरूपसे मैं आपको वरण करता हूँ। पद २१७ भी इसी भावका है।

१ (घ) 'जाहि दीनता कहों हों···' इति। किसीसे अपनी दीनता कही थी? कही तो किससे? कैसे उनको भी दीन देखा?—उत्तर यह है कि सुर, नर, मुनि, दैत्य आदिसे दीनता कही, उनसे याचना की। किसीने दुःख हरण न किया। यह साक्षात् अनुभव हुआ। सबको काम, क्रोध, लोभ, मद, मान, मत्सर आदि मायाके वश देखा। कोई स्वतंत्र नहीं। और पराधीन होना दीनता है ही। यथा—'सुर मुनि मनुज दनुज अहि किन्नर मैं तनु धरि सिर काहि न नायो। जरत फिरत त्रैताप पाप बस काहु न हरि करि कृपा जुडायो।२४३।', 'देव दनुज मुनि नाग मनुज नहिं जाँचत कोउ उबर्‍यो। मेरो दुसह दरिद्र दोष दुख काहू तो न हर्‍यो।६१।', 'और सकल सुर असुर ईस सब खाये उरग छहूँ।८६ (४)', 'देव दनुज मुनि नाग मनुज सब माया बिबस बिचारे।१०१।'

पुनः, 'सब दीन देख पड़ते हैं' कथनका भाव कि तब "तिन्ह के हाथ दास तुलसी प्रभु कहा अपनपौ हारे।१०१।"; अतएव आपको ही अपना एकमात्र रक्षक जानकर शरणमें आया हूँ, स्वीकार कीजिए।

[बैजनाथजी 'दीन देखौं' का भाव यह लिखते हैं कि वेदपुराणादिमें देखता हूँ कि दीन हो-होकर सब आपही से याचना करते हैं, आपही सबको ऐश्वर्य देते हैं और स्वयं कभी किसीसे याचना नहीं करते। सभी याचक हैं, दानी एकमात्र आपही हैं, यह कैसे जाना? --यह आगे कहते हैं।]

टिप्पणी--२ 'मुनि सुर···फेरे' इति। मुनि, सुर, नर, नाग, असुर किसीकी भी साहिबी नहीं रह जाती जब आपकी दृष्टि उनकी

ओरसे फिर जाती है। मुनियोंमें परशुरामजीको ले लीजिए जो दशावतारोंमें से एक हैं। भगवान्‌के ही ये आवेशावतार थे, क्षत्रियोंके संहारके लिये भगवान्‌ने अपने तेजका अंश इनको दिया था। प० पु० पाताल खण्डमें श्रीशिवजीने बताया है कि "परशुरामजीको शालग्राम-पर्वतपर ब्रह्मर्षि कश्यपने दश अविनाशी षडक्षर महामंत्रका उपदेश किया जिसका जप करते हुए श्रीहरिके ध्यानपूर्वक उन्होंने वहीं अनेक वर्षोंतक तपस्या की। भगवान्‌ने प्रसन्न होकर दर्शन दिया और अपने परशु, वैष्णव महाधनुष और अनेक दिव्यास्त्र प्रदान करके उनसे कहा—'मैं तुम्हें अपनी उत्तम शक्ति प्रदान करता हूँ। मेरी शक्तिसे आविष्ट होकर तुम पृथ्वीका भार उतारने और देवताओंका हित करनेके लिये दुष्ट राजाओंका वध करो। उन्हें मारकर समुद्रपर्यन्त सारी पृथ्वीका धर्मपूर्वक पालन करो; फिर समय आनेपर मेरी कृपासे तुम मेरे परमपदको प्राप्त होगे।'—इस तरह वे भगवान् विष्णुके अंशके अंशसे प्रकट हुए थे, उनकी शक्तिके आवेशावतार थे।" वे अपनेको भूल गए, अपनेको क्षत्रियकुलद्रोही परम वीर सुभट मानने लगे। वे अपने अंशीको न पहचानकर उन्हें उलटी-पुलटी सुनाने लगे। यद्यपि श्रीराम लक्ष्मणजी संकेत करते रहे कि आप अपने स्वरूपको भूले हैं, अपने स्वरूपका स्मरण कीजिए, तो भी वे समझ न पाए। प्रभुकी निगाह फिरनेसे वे लक्ष्मणजीके वाक्योंका भी उत्तर न दे पाते थे और बलकी हानि होती गई।—'भृगुपति सुनि-सुनि निरभय बानी। रिस तन जरै होइ बल हानी।१।२७४।६।' अन्ततोगत्वा वे अपना धनुष देकर क्षमा माँगकर तेजरहित होकर गए। 'नयन फेरने' का प्रमाण 'देखि कुठारु-बान-धनुधारी। भै लरिकहि रिस वीरु बिचारी।' तथा 'राम कहा मुनि कहहु बिचारी। रिस अति बड़ि लघु चूक हमारी।१।२८३।', 'टूटत पिनाकके मनाक बाम रामसे, ते नाक-बिनु भये भृगुनायक पलकमें। क० ६।२५।', 'नाकमें पिनाक मिस बामता बिलोकि राम, रोक्यो परलोक लोक भारी भ्रम भानि कै। क० ६।२६।

'सुर'—इन्द्र, कुबेर, वरुण आदि प्रभुकी ओरसे अधिकारी हैं। इन्द्र सभी देवताओंका राजा है। जब इनको अभिमान हो जाता है, तब प्रभु दृष्टि किंचित् फेर लेते हैं। फलतः कोई दैत्य, दानव वा राक्षस उनका अभिमान चूर करनेके लिये उत्पन्न कर दिया जाता है, जो

उनके ऐश्वर्यको छीन लेता है। जैसे हिरण्यकशिपु, बलि, तारकासुर, रावण आदि। फिर जब दीन होकर शरण जाते हैं, तब प्रभु अवतारादि द्वारा उनका दुःख दूर करते हैं।

'नर'—सहस्रबाहु मनुष्य था। इसने भगवान् दत्तात्रेयको प्रसन्न करके बहुतसे वरदान प्राप्त किये। संसारमें कोई योधा उसकी जोड़का न था। जब उसे अभिमान हुआ, उसने महर्षि जमदग्निका वध कर डाला। बस भगवान्की दृष्टि फिर गई और परशुरामजीके हाथों उसका सर्वनाश हुआ।

'नाग'—ये भी देवताओंकी एक जाति है। इनको भी जब अभिमान होता है तब प्रबल राक्षसों द्वारा उनको नीचा दिखाया जाता है। यथा 'देव जच्छ गंधर्व नर किन्नर नाग कुमारि। जीति बरीं निज बाहु बल बहु सुंदर बर नारि।१।१८२।' कद्रूके सभी पुत्र नाग थे। इनके रहनेके स्थान पाताल, सुतल और वितल थे। बनिता-के साथ जब इसने छल किया तब प्रभुने उनके नाशके लिए गरुड़को उत्पन्न किया। जो प्रभुकी शरणमें गए वे ही बचे। द्वापरमें कालिय नागको ले सकते हैं। यह नाग गरुड़के भयसे रमणक द्वीपको छोड़कर यमुनाजी के दहमें रहता था जो कालीदहके नामसे ख्यात है। उसके विषसे यमुनाजल दूषित हो गया था। प्रभुने श्रीकृष्णरूपसे उसका दमन किया। अन्तमें उसने स्तुति की, भगवान्ने उसे दह छोड़ समुद्रमें चले जानेकी आज्ञा दी और गरुड़से अभय कर दिया। उसके सिरपर भगवान्के चरणोंका चिह्न बन गया। (भा० १०।१६)।

'असुर' में हिरण्यकशिपु, रावण आदि आ गए। जब इन्होंने अत्यन्त अत्याचार किया, भक्त प्रह्लाद तथा विभीषणको दुःख दिया, तब एकदम उनकी ओरसे दृष्टि फिर गई और ऐश्वर्य सहित उनका नाश हुआ।

टिप्पणी—३ 'त्रिभुवन तिहुँ काल बिदित' ' इति। (क) 'आदि अंत मध्य राम साहिबी तिहारी' यह तीनों लोकोंमें और तीनों कालोंमें विदित है' '। 'आदि' अर्थात् सृष्टिकी उत्पत्तिके पूर्व, सृष्टिकी उत्पत्तिके समय तथा उत्पत्तिके बाद आरंभमें। यह भूतकाल हुआ। 'अंत' अर्थात् सृष्टिके प्रलय होनेके पूर्व और पश्चात् जबतक प्रलय रहे। यह भविष्य हुआ। 'मध्य' अर्थात् सृष्टिकी स्थितिमें। इससे वर्तमानकालका निर्देश हुआ। इस तरह 'आदि' अंत मध्य'से भूत,

भविष्य, वर्तमानकालों तथा उद्भव, स्थिति और संहार सभी अवस्थाओंमें होना सूचित किया। (वैजनाथजी आदिसे सत्ययुग, मध्यसे त्रेता-द्वापरयुग और अंतसे कलियुगका ग्रहण करते हैं)। आदि, मध्य और अन्त तीनोंमें प्रभुत्वका होना कहकर सदा एकरस बना रहना सूचित किया। 'साहिबी तिहारी' का भाव कि अन्य किसीकी साहिबी न तो सब कालोंमें रहती है और न एकरस रहती है। रावणकी साहिबी कई चतुर्युगोंमें रही, परन्तु आगे न रह गई। औरोंकी साहिबी 'चार दिनकी चाँदनी फिर अँधियारा पाख' समान थोडे ही दिनोंकी होती है।

मिलान कीजिए—'देव आदिमध्यांत भगवंत त्वं सर्वगतमीस पश्यंति ये ब्रह्मवादी। जथा पट-तंतु घट-मृत्तिका सर्प-स्रगदारु-करि कनक-कटकांगदादी ।५४ (५) ।'—इसका भाव भी यहाँके 'आदि अंत मध्य राम साहिबी तिहारी' में है। विशेष ५४ (४ क-ख) में लिखा जा चुका है, वहाँ देखिए ।*

३ (ख) आदि अन्त मध्यमें तीनों कालोंमें आपकी ही साहिबी है, इससे यह भी जनाया कि उत्पत्ति, पालन और संहार आपकी एक लीला है। आपही से सब उत्पन्न और पालित होते हैं और आपमें ही सब अन्तमें प्रविष्ट होते हैं। यथा 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते। येन जातानि जीवन्ति। यत् प्रयन्त्यभिसंविशन्ति। इति श्रुतिः।' (तैत्ति० ३।१), 'उत्पति पालन प्रलय समीहा ।६।१५।६।', 'यतःसर्वाणि भूतानि भवन्त्यादि युगागमे। यस्मिंश्च प्रलयं यान्ति पुनरेव युगक्षये। इति स्मृतिः।' (अर्थात् आदि सृष्टिमें जिससे सब प्राणी होते हैं और

---

* वैजनाथजी—प्रभुके नाम, रूप, लीला और धाम चारो नित्य हैं और सच्चिदानन्दविग्रह हैं। यथा वशिष्ठसंहितायाम्—'रामस्य नामरूपं च लीला धाम परात्परम्। एतच्चतुष्टय नित्य सच्चिदानन्दविग्रहाः ॥' ये चारो नित्य एकरस हैं, इनके द्वारा सदा जीवका कल्याण होता है, ऐसा वेद कहते हैं। अतएव कहा कि आपकी ही साहिबी सदा एकरस है।

सूर्यदीन शुक्लजी—द्वैतदृष्टिसे विचारनेसे पंचपर्वा अविद्याके क्लेशसे सभी जीव दुःखी देख पड़ते हैं। इस विचारसे सब देश सब कालमें प्रभुकी ही प्रभुता देख पड़ती है।

जिसमें युगक्षयके समय सब लीन हो जाते हैं)। (मा० पी० ६।१५।६ से उद्धृत)।—जिनके संबंधमें श्रुति स्मृतिके ये वाक्य हैं वे राघव राम ही हैं, यह वाल्मीकीयमेंके ब्रह्मा द्वारा किये हुए श्रीरामस्तवके—'अन्ते चादौ च मध्ये च दृश्यसे च परंतप।', 'अब्रवीच्छृणु मे वाक्यं सत्यं सत्यपराक्रम ।। भवान् नारायणो देवः श्रीमांश्चक्रायुधः प्रभुः।''' अक्षरं ब्रह्म सत्यं च मध्ये चान्ते च राघव।' (वाल्मी० ६।११७।६,१२, १३, १४)—इन उद्धरणोंसे स्पष्ट है। (अर्थ सरल है)।

टिप्पणी—४ 'तोहि माँगि ''' इति। (क) माँगनो=भिक्षुक; माँगनेवाले। यथा 'नृप करि विनय महाजन फेरे। सादर सकल माँगने टेरे। १।३४०।१।' आपसे याचना करनेपर आप इतना दे देते हैं कि फिर आजीवन उसे किसीके सामने हाथ फैलाना नहीं पडता। यथा 'जेहि जाचत जाचकता जरि जाइ, जो जारति जोर जहानहि रे ॥ तुलसी भजु दारिद-दोष-दवानल, संकट-कोटि-कृपानहि रे। क० ७।२८।' आगे भी कहा है—'और काहि माँगिये, को माँगिबो निवारै।८०।' (ख) 'माँगनो न माँगनो कहायो' से जनाया कि ऐसे दानी एकमात्र आप ही हैं। यथा 'एकै दानिसिरोमनि साँचो। जेइ जाँच्यो सोइ जाचकताबस फिर बहु नाच न नाच्यो ॥ ' कपि सबरी सुग्रीव बिभीषन को नहिं कियो अजाची।१६३।' (ग) 'सुनि सुभाउ सील सुजस ' इति। यहाँ बराबर माँगने और देनेका ही प्रसंग है। उस संबंधका ही स्वभाव, शील और सुयश यहाँ अभिप्रेत है। दयामय स्वभाव है, अद्वितीय दानी हैं। दीन-मलिनको भी शरणमें आनेपर अपना लेते हैं—यह शील स्वभाव है। यथा 'कपि केवट कीन्हे सखा जेहि सील सरल चित तेहि सुभाय अनुसरिये।२७१।', 'मृदुल सुभाउ सील रघुपति को सो बल मनहि दिखावों।१४२।' याचक अयाचक हो जाते हैं—यह कीर्ति संसारमें फैल रही है। पद २४८ में भी कहा है—'''सुजस श्रवन सुनि आयों हौं सरन। दीनबंधु, दीनता-दरिद्र-दाह-दोष-दुख, दारुन दुसह दर दरप हरन ।।' उदाहरण उपर्युक्त पद १६३ मे आ गये हैं। 'सुनि'—किससे सुना ? इसका उत्तर भी 'वदत वेद चारी' आदिमे आ गया।—'आरत अनाथ दीन मलिन सरन आए, राखे अपनाइ, सो सुभाउ महाराज को। क० ७।१३।' आगे भी स्वभाव-शील-सुयशके उदाहरण स्वयं देते हैं—

टिप्पणी ५—'पाहन पसु बिटप बिहग ···' इति। (क) 'पाहन'—अहल्या अपने पाप तथा ऋषि-शाप-वश पाषाण थी, किसी प्रकार अपने उद्धारका साधन न कर सकती थी, चरणकमलरजकी आशा लगाये पड़ी थी, दीन थी। इसीसे उसका उद्धार करनेमें आपको 'दीनबंधु' कहा गया। यथा 'अस प्रभु दीनबंधु हरि कारन रहित कृपाल। १।२११।'—☞स्मरण रहे कि रामचरितमानसमे 'दीनबंधु' पदवी सबसे प्रथम अहल्योद्धारमे ही मिली। इसीसे यहाँ भी दीनोंको अपनानेमें प्रथम 'पाहन' का नाम लिया।

५ (ख) 'पशु' मे वानरोंकी गणना है। सुग्रीव वानर थे और दीन थे, वालिके भयसे दिनरात चिंतित रहते थे। यथा 'दीन जानि तेहि अभय करीजे। ४।४।३।', 'बालि त्रास व्याकुल दिन राती। तन बहु व्रनु चिंता जर छाती॥ ४।१२।३।'—सो वालिका वध करके उसको कपिराज बना दिया।

५ (ग) 'बिटप'—सुग्रीव शरणमें आये और सप्तताल बेधे गये। क्रमसे यहाँ 'बिटप'-से सप्तताल वृक्ष अभिप्रेत है। ये सप्तताल किसी मुनिके शापसे देवलोकसे च्युत हुए थे। उनका उद्धार रामबाणसे हुआ और वे दिव्यरूप हो परमपदको प्राप्त हुए। (यह श्रीकरुणासिंधुजीका मत है)। हनुमन्नाटकमें लिखा है कि इन सप्ततालोंकी जड़ें पातालमें शेषजीकी पीठमें स्थित थीं। और, इनके विषयमे यह कथा है कि यदि कोई इनका नाश करना चाहे और एक बाणसे नाश न कर सका तो ये (सप्तताल) बाण चलानेवालेको ही मार डालते हैं। (हनु० अंक ५।४७-४८)। तीसरी कथा कहींकी यह है कि वाली एक बार एक फल लाकर सरके तीर रखकर स्नान करने लगा। इतनेमें तक्षक नागका पुत्र आकर गुड़री लगाकर उसपर बैठ गया। वालीने आकर उसे फलपर बैठे देख शाप दे दिया कि तूने हमारा भक्ष्य मलिन कर दिया, अतः तेरे शरीरसे यह फूटकर वृक्ष-रूप हो जायगा। गुड़री लगाये हुए सर्पके ऊपर इन वृक्षोंकी स्थिति

---

* गोवर्धन पर्वतको भी ले सकते हैं। सेतुबन्धन समय इसे हनुमान्‌जी लाये थे कि भगवान्‌का दर्शन तुमको करायेंगे। परन्तु सेतु पूरा हो जानेसे प्रभुकी आज्ञासे वह यहा रख दिया गया। श्रीरामजीने उसे वरदान दिया कि द्वापरमे हम सात दिन तुझे उँगलीपर लिये रहेंगे और तुझको परमपूज्य बना देंगे।

होनेसे एक तालसे अधिक एक बारमें कोई वेध न सकता था और ये ऐसे दीखते थे मानों कोई सर्प सो रहा हो।—पर इस कथामें विशेषता तक्षकके उद्धारकी है न कि तालवृक्ष की।

क्रमका विचार न करें, तो दण्डकारण्यके विटपोंको भी ले सकते हैं, जो शुक्राचायजीके शापसे जले वा सूखे खडे थे। ये सब हरे-भरे हो गए। यथा 'दंडक पुहुमि पॉय परसि पुनीत भई, उकठें विटप लागे फूलन फरन। २५७'—ये त्रेताके उदाहरण हैं। द्वापरमें 'यमलार्जुन' का उद्धार किया। कथा इस प्रकार है—'कुबेरके पुत्र नलकूबर और मणिग्रीव एक बार मद्य पीकर नंगे होकर नदीमें स्त्रियोंके साथ क्रीड़ा कर रहे थे। दैवेच्छासे नारदजी वहाँ आ पहुँचे, इनको देखकर भी धन-मदसे चूर वे दोनों नंगे ही खड़े रहे। (भा० १०।१०।२-६)। नारदजीने यह सोचकर, कि ये दोनों लोकपालके पुत्र होकर भी मदोन्मत्त हैं, अपने नग्न शरीरका ज्ञान इनको नहीं है, अतएव ये स्थावर ही होने योग्य हैं, उनको वृक्ष होनेका शाप दिया, पर साथ ही यह अनुग्रह किया कि सौ दिव्य वर्ष बीतनेपर भगवान्का दर्शन होनेपर ये फिर देवरूप हो जायँगे। वे दोनों शापसे गोकुलमें यमलार्जुन (जुडे हुए दो अर्जुन) वृक्ष हुए। (श्लोक २०-२३) एक दिन माता यशोदाने किसी अपराधसे बालक श्रीकृष्णको ऊखलसे बॉध दिया। (भा० १०।६।१४)। भगवान् धीरे-धीरे वहाँ पहुँचे जहाँ यमलार्जुन वृक्ष खड़े थे, और दोनोंके बीचमें घुसकर दूसरी ओर जा निकले, परन्तु ऊखल, जो रस्सीसे बँधा था, टेढ़ा होकर अटक गया। ऊखलको तनिक बलसे खींचते ही दोनों वृक्ष जड़से उखड़कर पृथ्वीपर गिर गए, वे दिव्यरूप हो गए और भक्ति वर पाकर अपने लोक को गए।" (भा० १०।१०।२४-२८, ४२)।

[बाबा हरिहरप्रसादजी 'विटप' में 'तुलसी, वट, पीपल, धात्री आदि' को लेते हैं।]

५ (घ) विहग=पक्षी। पक्षीमें गीधराज जटायुका नाम विनयमें बारबार आया है। बाबा हरिहरप्रसादजी इससे 'गरुड़, भुशुण्डी और शुक आदि' को लेते हैं।

५ (ङ) 'अपने करि लीन्हे'—अपना लिया। अर्थात् इनको तार दिया। यथा 'खग मृग ब्याध पषान विटप जड़ जवन कवन सुर

तारे। १०१।'—इस उद्धरण में 'पाहन पसु बिटप बिहंग' ये चारों हैं और इनका तारना कहा गया है।

५ (च) 'महाराज दसरथ के…' कथनका भाव कि आपके पिता रंकको राजा बना सकते थे; यथा 'कहु केहि रंकहि करौं नरेसू। २।२६।२।' आप ऐसे पिताके सुपुत्र हैं; अतएव आपमें यह गुण हुआ तो क्या आश्चर्य? सुग्रीव रंक थे, इनको ठहरनेका भी कहीं ठिकाना न था। विभीषणको रावणने लात मारकर निकाल ही दिया था, तीनों लोकोंमें इनकी रक्षा रावणसे कौन कर सकता था? दोनोंको राजा बना दिया।

टिप्पणी—६ 'तू गरीबको निवाज…' इति। (क) भाव कि आप गरीबोंपर कृपा किया करते हैं, यह आपका बाना है। इसीसे आपका नाम 'गरीब-निवाज' हुआ। यथा "दानव देव अहीस महीस महामुनि तापस सिद्ध समाजी। जग जाचक दानि दुतीय नहीं, तुम्हही सबकी सब राखत बाजी॥ एते बड़े तुलसीस तऊ, सबरीके दिये बिनु भूख न भाजी। राम गरीबनेवाज भए हौ गरीबनेवाज गरीब नेवाजी। कि० ७।४५।', 'बिरुदु गरीबनिवाजु राम को। ६६।'

६ (ख) 'हौं गरीब तेरो'—गरीब कहकर अपना संबंध गरीबनिवाजसे जोड़ा। भाव कि मुझ गरीबपर कृपा करके, मुझे अपनाकर अपने विरुदकी लाज रखिए। यथा 'आपनो कबहुँ करि जानिहौ। राम गरीबनिवाज राजमनि बिरद-लाज उर आनिहौ। २२३।'—यही याचना आगे दूसरे शब्दोंमें करते हैं। 'तेरो' का भाव कि मैं आपका गरीब हूँ, दूसरेका नहीं। दूसरेसे याचना कदापि नहीं करनेका। कुछ ऐसा ही अन्यत्र भी कहा है। यथा 'तुलसी जदपि पोच तो तुम्हरोइ और न काहू केरो। १४५।', 'कृपापाथनाथ लोकनाथनाथ सीतानाथ, तजि रघुनाथ, हाथ और काहि ओड़िये। क० ७।२५।' ☞ जैसा भी हो पर केवल श्रीरामजीका हो जाय तो सदा भला होता है, यह 'तेरो' से जनाया। यथा 'जैसो तैसो रावरो, केवल कोसलपाल। तौ तुलसी को है भलो, तिहूँ लोक तिहुँ काल॥ दो० ८४।'

६ (ग) 'बारक कहिये कृपाल…' इति। क्या 'निवाजिश' (कृपा) चाहते हैं, यह कहते हैं कि 'एक बार कह दीजिए कि तुलसीदास मेरा है'। 'बारक' (एक बार) ही क्यों कहलाना चाहते

हैं ? क्योंकि श्रीरघुनाथजी सत्यप्रतिज्ञ हैं, दो बार कभी नहीं कहते। एक बार जो कह दिया वह अटल है। एक बार जिसे अपना लिया, उसे सदाके लिये अपना लिया।--'रामो द्विर्नाभिभाषते' (वाल्मी० २।१८।३०)। 'कृपाल' का भाव कि मेरे पास कोई साधन नहीं है, जिससे आपको रिझा सकूँ, आप अपनी ओरसे मुझपर यह कृपा करें।

६ (घ) 'तुलसिदास मेरो' इति। अपनी कुछ दुःख-दीनता निवारण करनेको नहीं कहते, 'तुलसीदास मेरा है'--इतना ही कहलाना चाहते हैं। वस्तुतः इतनेमें ही सब योग-क्षेमका समावेश हो जाता है। इतना मात्र हो जानेसे और सब तो स्वतः हो जायगा। यथा "खीझि रीझि बिहँसि अनख क्यौंहूँ 'एक बार तुलसी तू मेरो' बलि कहियत किनु। जाहिं सून निरमूल होहिं सुख अनुकूल महाराज राम रावरी सो तेही छिनु।२५३।" इतना ही नहीं, जिसको प्रभु अपना कह देते हैं, वह तो तारण-तरण हो जाता है—यह बड़ा भारी महत्व इस वरका है। यथा 'सबै कहावत राम के, सबहि राम की आस। राम कहैं जेहि आपनो, तेहि भजु तुलसीदास। दो० ३४१।' मैं तुम्हारा हूँ, 'तवास्मि प्रपन्नोऽहं' कहनेसे तो प्रभु प्रपन्नको अभय देते हैं और प्रभु जिसे कह दें कि 'तू मेरा है', वह दूसरोंको भी अभय देनेवाला हो जाता है। यहाँ 'तुलसिदास मेरो' कहा और अन्यत्र 'तुलसी तू मेरो' वा 'तू मेरो' कहा है। यथा 'तुलसी तू मेरो बलि कहियत किनु। २५३।', 'तू मेरो यहु बिनु कहे उठिहौं न जनम भरि प्रभु की सौं करि निबरो हौं। २६७।'–'तुलसिदास मेरो' यह परोक्ष वाक्य है, जो अपनी अनुपस्थितिमें दूसरों से कहा जायगा। 'तू मेरो' यह अपरोक्ष वाक्य है, जो स्वयं प्रार्थीसे कहा जायगा।

अतएव 'तुलसिदास मेरो' में यह भाव भी गृहीत है कि प्रार्थीको कलि डाँटता है, जैसा 'निकट बोलि बरजिये परिहरै ख्याल अब तुलसिदास जड़ जी को। २६५।' तथा अन्य कई पदोंसे स्पष्ट है। अतएव आप उससे कह दें कि 'तुलसीदास मेरा है', बस वह डर जायगा, फिर न सता सकेगा। और 'तू मेरो' कह देनेसे मैं निर्भय हो जाऊँगा, फिर उसकी पर्वा न करूँगा, उसकी धमकीमें न आऊँगा।

श्रीसीतारामचन्द्रार्पणमस्तु।

७६

देव❀-तू दयालु दीन हौं तू[1] दानि हौं भिखारी।
हौं प्रसिद्ध पातकी तू[2] पाप-पुंज-हारी ॥१॥
देव-नाथ तू अनाथ को अनाथ कौन मोसो।
मो समान आरत नहि आरतिहर तोसो ॥२॥
देव—ब्रह्म तू हौं जीव तू[3] ठाकुर हौं चेरो।
तात मातु गुरु सखा तूं सब विधि हितु मेरो ॥३॥
देव—तोहि मोहिं नाते[4] अनेक मानिऐ जो भावै।
ज्यों त्यों तुलसी कृपाल चरन सरन पावै ॥४॥

नोट—१ रा० मे जहां-जहां 'हों', 'तूं' वा 'कोन' है, प्रायः उन सब स्थानोंमें अन्य पोथियों में 'हौं', 'तू' वा 'कौन' है। ह० मे भी 'तूँ' है। हमने 'तूं' की जगह भी 'तू' और 'कोन' की जगह 'कौन' ही रक्खा है।

शब्दार्थ—भिखारी=भीख (भिक्षा) माँगनेवाला। पुंज= समूह। अनाथ=जिसका भरण-पोषण करनेवाला, माँ-बाप वा मालिक न हो। =असहाय, अशरण। नाथ=शरण, मालिक। मो=मेरा; मुझ। ठाकुर=ऐश्वर्यवान् स्वामी; पूज्य व्यक्ति; देवता, साहिब। यथा 'ठाकुर अतिहि बड़ो सील सरल सुठि। ध्यान अगम सिवहू भेट्यो केवट उठि।१३५।', 'निलज नीच निरधन निरगुन कहँ जग दूसरो न ठाकुर ठाउँ।१५३।' चेरो (चेरा)=सेवक, दास। तात=पिता। 'नाते'—यह नाताका बहुवचन है। नाता=दो या

❀ देव—रा०, भा०, वे०, पो०। प्रायः छपी पोथियोमे नही है। १ तुं—रा०। तु—ह०। तू—भा०, वे०, ७४, भ०। २ तूं—रा०। तु०-भ०। ३ तू - भा०, वे०, ज०, मु०, वि०। हौ तू—डु०, वै०। तूं हौ—रा०। तू हौ—ह०, ७४। तू है—प्र०, पो०। तु ही—भ०, दी०। (☞ 'हौं' वा 'हौ' के विना भी अर्थ और पाठ ठीक है)। ४ नाते—रा०, भा०, वे०, ह०, वै०, भ०, वि०, दी०। नातो—प्र०, ज०, डु०, ७४।

कई व्यक्तियोंके बीच वह लगाव जो एक ही कुलमें उत्पन्न होने या विवाह आदिके कारण होता है। संबंध; रिश्ता। यथा 'सेवक हम स्वामी सियनाहू। होउ नात यह ओर निबाहू।२।२४।६।', 'मानि मातु कर नात बलि सुरति बिसरि जनि जाइ। २।५६।', 'मानौं एक भगति कर नाता।३।३५।४।', 'खेलिवे को खग मृग तरु किंकर ह्वै रावरो राम हौं रहिहौं। एहि नाते नरकहुँ सचु पैहौं, या बिनु परमपदहुँ दुख दहिहौं।२३१।' सरन (शरण)=रक्षा, अवलम्ब, पनाह। ज्यों त्यों=जैसे बने तैसे; किसी भी प्रकार।

पद्यार्थ—हे देव! तू दयालु है (तो) मैं दीन हूँ। तू दानी है (तो) मैं भिक्षुक हूँ। मैं प्रसिद्ध (जगविदित मशहूर) पापी हूँ (तो) तू पापसमूहका हर लेनेवाला है।१। हे देव! तू अनाथोंका नाथ है (तो) मुझ-सा अनाथ कौन है? अर्थात् कोई भी तो नहीं। मेरे समान आर्त (दुःखसे पीड़ित) और आपके समान दुःखका हरनेवाला कोई नहीं है।२। हे देव! तू ब्रह्म है, मैं जीव हूँ। तू स्वामी है और मैं सेवक हूँ। तू पिता, माता, गुरु, सखा सभी प्रकारसे मेरा हित करनेवाला है।३। हे देव! तुझसे और मुझसे अनेक (अगणित) नाते हैं, जो (नाता) आपको अच्छा लगे वही मान लीजिए। हे कृपाल! जैसे (बने) तैसे (चाहे जिस सम्बन्धसे हो, जिस प्रकार भी हो उसीसे) 'तुलसी' आपके चरणोंकी शरण पावे।४।

नोट—२ 'रामको गुलाम नाम रामबोला···' इस प्रकार पद ७६ में अपना आत्म-परिचय देकर फिर पद ७७ में शरणमें आनेका कारण कहनेमें प्रभुकी सर्वशक्तिमत्ता, सर्वस्वामित्व, सर्वहितकारित्व, सर्व-सौन्दर्यनिधित्व, उदारचूणामणित्व आदि गुण वर्णन किये। पद ७८ में भी सर्वशक्तिमत्ता और उदारता गुणोंका ही विशेषतः वर्णन है। अब इस पद ७६ में अपने कुछ नाते रघुनाथजीसे बताते हैं। पूर्व भी लिखा जा चुका है कि भगवान्से अपना कुछ न कुछ नाता अवश्य बाँध लेना चाहिए। लोकमें आप नित्य ही देखते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति दूसरे परिचित व्यक्तिकी अपेक्षा अपने सम्बन्धीपर विशेष कृपा करता है। वैसे ही भगवान्की कृपा-अनुकम्पा तो साधारणतः सभी जीवोंपर रहती है, परन्तु निज भक्तोंपर विशेष कृपा रहती है। यथा 'सब पर मोहि बराबरि दाया।७।८७।७।', 'मोहि सेवक सम प्रिय कोउ नाहीं॥ भगतिहीन बिरंचि किन होई। सब जीवहु सम प्रिय

मोहि सोई ॥ भगतिवंत अति नीचउ प्रानी। मोहि प्रानप्रिय अस मम बानी ।७।८६।', 'मानउँ एक भगति कर नाता।' भक्तिके दास्य, वात्सल्य, सख्य, शृङ्गार और शान्त रसोंमें ही अनेक नाते आ जाते हैं, फिर भी भक्तमालमें इनके अतिरिक्त विचित्र नाते वा भक्तियाँ देखनेमें आती है। प्रभुका किसी प्रकार हो जाय, बस इतना ही चाहिए। चाहे उनका कुत्ता, हाथी, पशु, पत्ती ही क्यों न हो!

टिप्पणी—१ 'तू दयालु दीन हौं…आरतिहर तोसों' इति। दयाल, दीन, दानी, पापपुञ्जहारी (पतितपावन), नाथ, अनाथ, आर्तिहरके भाव पद ७६,७७,७८ में अभी-अभी आ चुके हैं। 'दीनको दयाल दानि। ७८ (१)।', 'पतितपावन नाम। ७७ (२)।', 'आरतिहरन सरन अतुलित दानि। ७७ (२)।', 'आरत अनाथ नाथ। ७६ (२ ङ)।', देखिए।

[वैजनाथजी लिखते हैं-"जीवका ईश्वरसे सम्बन्ध चाहिए। उसमें-से देह-बुद्धिके सम्बन्ध प्रथम कहते हैं। 'तू दयालु दीन हौं' का भाव कि यद्यपि मैं देहाभिमानी विषयासक्त हूँ तो भी आप दयालु है, 'निर्हेतु जीवोंका दुःख दूर करना'—रूपी दया-गुण आपमें है। मैं ससारदुःखसे पीड़ित शरणमें आता हूँ तो कलि बाधा करता है, उसके कारण दीन दुर्गतिमें पड़ा आपको पुकारता हूँ। आप दया करके दुःख हरिये। आप उदार दानी हैं, मैं अभय शरण भिक्षा माँगता हूँ। मैं प्रसिद्ध पापी हूँ, निश्शंक खुले-खजाना पाप करता हूँ, आप अपने 'पापपुंजहारी' गुणसे मेरे पापोंका नाश कीजिए।" (वै०)।]

'प्रसिद्ध' में भाव यह है कि मैं नामी पातकी हूँ, कलिका भी मैं गुरु हूँ। यथा 'दया-दान-दूबरो हौं, पाप ही की पीनता॥ लोभ-मोह काम कोह दोसु कोसु मोसो कौन, कलिहू जो सीखि लई मेरियै मलीनता। क० ७।६२।'।

टिप्पणी—२ (क) 'नाथ तू अनाथ को…'—भाव कि मैं स्त्री, पुत्र, धन, धाम, माता, पिता आदि लौकिक नातेदारोंसे रहित हूँ और पूजा-पाठ-जप आदिसे रहित होनेसे देवादिका भी मुझे आशा-भरोसा नहीं, उसपर भी कलि इस समयका राजा है, कामादिको मेरे पीछे लगाकर मेरा नाश करना चाहता है, इस तरह मैं सब तरह अनाथ हूँ, आप ही अनाथोंका संकट दूर करते हैं, उनके एकमात्र नाथ

हैं, मेरा संकट दूर कीजिए। (वै०)। दूसरा कोई नाथ नहीं है, यह पूर्व पदमें कह आये हैं, यथा 'जाहि दीनता कहौं हौं दीन देखौं सोऊ।' आप ऐसे नाथके होते हुए मेरी यह दुर्दशा न होनी चाहिए। आगे भी कहा है—'हौं अनाथ तुम्ह प्रभु अनाथहित चित यह सुरति कबहुँ जिनि जाई। २४२।'

२ (ख) 'मो समान आरत' ' इति। आर्त्त हूँ अर्थात् धनादिरहित दरिद्र दु:खी हूँ, भवबन्धनमें पड़ा होनेसे दु:खी हूँ, उसपर भी कलिके द्वारा पीड़ित हूँ, इत्यादि दु:खोंको दूर कीजिए। (वै०)। अन्यत्र भी कहा है—'हौं आरत आरतिनासन तुम्ह कीरति निगम पुराननि गाई। २४०।'

मिलान कीजिये—'न मृषा परमार्थमेव मे शृणु विज्ञापनमेकमग्रतः। यदि मे न दयिष्यसे ततो दयनीयस्तव नाथ दुर्लभः।५०। तदहं त्वदृते न नाथवान्मदृते त्वं दयनीयवान्न च। विधिनिर्मितमेतदन्वयं भगवन् पालय मास्मजीहपः।५१।' (आलवन्दार)। श्री यामुनाचार्यजी कहते हैं—'मेरा यह यथार्थ विज्ञापन आप सुनें। यदि आप मुझपर दया नहीं करेंगे तो आपको मेरे सदृश दया करने योग्य पात्र भी दुर्लभ हो जायगा। आपके विना मेरा कोई नाथ नहीं है, इसी प्रकार आपको भी इस जगत्में मेरे समान दयनीय अर्थात् दयाका पात्र दीन दु:खी दूसरा कोई नहीं है। दैवयोगसे मेरा और आपका दीन-दयालु-भाव सम्बन्ध जुड़ गया; अतः आप इसका पालन करें, इस सम्बन्धका कभी त्याग न होने दें।'—यह सब भाव 'तू दयाल दीन हौं', 'नाथ तू अनाथ को अनाथ कौन मो सो', और 'तोहि मोहि नाते०' में आ जाते हैं।

टिप्पणी - ३ 'ब्रह्म तू हौं जीव' ' ' इति (क) "जब देहाभिमान नहीं रहे, तब भी मैं आपका अंश ही हूँ।' यथा 'ईश्वर अंस जीव अविनासी।' आप ब्रह्म मेरे अंशी हैं। अंश होनेसे मैं आपके ही आधारपर रह सकता हूँ। आपसे विछोह होनेसे अविद्या द्वारा मेरा नाश हो जायगा। अतएव अपनी शरण-आधारमें रखिये।" (वै०)।

३ (ख) "आत्मदृष्टि होनेपर भी आप 'ठाकुर' हैं और मैं गुलाम हूँ। भाव यह कि आप सिंधुवत् हैं और मैं तरंगवत्। तरंगें सिंधुकी है, सिंधु तरंगोंका नहीं। वैसे ही मैं आपका आज्ञाकारी सेवक हूँ,

आप मेरे आज्ञाकारी सेवक नहीं हैं।" (वै०)। (ठाकुर अपने सेवकका पक्ष लेता ही है और उसकी रक्षा करता है। वैसे ही मेरी रक्षा आप करें।) ❀

३ (ग) 'तात मातु गुर सखा तू'...' इति। ऐसा ही अन्यत्र भी कहा है। यथा 'राम हैं मातु पिता गुरु बंधु औ संगी सखा सुत स्वामि सनेही। राम की सौंह भरोसो है राम को, राम रँग्यो रुचि राच्यो न केही। क० ७। ३६।' गोस्वामीजीकी माता तो जन्म देते ही मर गई थीं, पिताने मूलनक्षत्रमें जन्म होनेके कारण इनका जन्मसे ही त्याग किया था। बालपनमें भी इनका कोई लौकिक सखा या मित्र न था। गुरु तो नररूप-हरि थे ही। इस प्रकार गोस्वामीजी सत्य ही कहते हैं कि हमारे पिता, माता, गुरु, सखा तथा सब प्रकार हितकारी एकमात्र आप ही हैं।

विभीषणजीसे प्रभुने इसी भावसे कहा है कि "जननी जनक बंधु सुत दारा। तनु धनु भवन सुहृद परिवारा॥ सबकै ममता ताग बटोरी। मम पद मनहि बाँध बरि डोरी॥...अस सज्जन मम उर बस कैसे। लोभी हृदय बसत धन जैसे॥ ५।४८।" अर्थात् ये सब नाते हमसे ही जोड़नेवाला हमको प्राणप्रिय है। वाल्मीकिजीने भी कहा है—'स्वामि सखा पितु मातु गुर जिन्ह के सब तुम्ह तात। मन मंदिर तिन्ह के बसहु सीय सहित दोउ भ्रात। २।१३०।'—इसमें भी विशेषता इसी भावकी है कि आप ही को जो अपना स्वामी सखा आदि समझते हैं, उनको ही यह सौभाग्य प्राप्त होता है। और भी कहा है—'रामु मातु पितु बंधु सुजन गुरु पूज्य परमहित। साहेब सखा सहाय नेह नाते पुनीत चित॥ देस कोस कुल कर्म धर्म धन धाम धरनि गति। जाति पाँति सब भाँति लागि रामहि हमारि पति।...। क० ७।११०।' इसी तरह 'रामनाम मातु पितु स्वामि समरथ हितु...। क० ७।१७८।' कहा गया है—कारण स्पष्ट है कि सांसारिक सभी नाते क्षणभंगुर हैं, एक-

---

❀ 'ठाकुर' का अर्थ यदि 'अर्चाविग्रह' लें तो 'चेरा' का अर्थ सेवक (पुजारी) होगा। पर तुलसी साहित्यमें यह शब्द प्रायः 'साहिब' या 'स्वामी' के लिये ही आया है। यथा 'ठाकुर अतिहि बड़ो सील सरल सुठि।...' (१३५), 'जो पै मोको होतो कहूँ ठाकुर ठहरु। २५०।', 'निलज नीच निर्गुन निर्धन कहँ जग दूसरो न ठाकुर ठाउँ। १५३।', इत्यादि।

एक नातेदार अपने नातेका हित कर सकता है और वह भी अपने बस-भर। और श्रीरामजी माता-पिता, भाई-बन्धु-सखा आदि सभीके द्वारा जो हित हो सकता है उससे अधिक हित अकेले ही कर सकते हैं। वे अकेले ही 'सब बिधि हित' हैं। यथा 'तैं जनक जननि गुर बंधु सुहृद पति सब प्रकार हितकारी।११३।' गोस्वामीजीने सुत दार आदिको कुसमाज कहा है। यथा "सुत दार अगारु सखा परिवारु बिलोकु महाकुसमाजहि रे। क० ७।३०।" सब नाते प्रभुमें ही सत्य उतरते हैं, यथा 'कहुँ न कोउ रघुबीर सो नेहु निबाहनिहार। जासो सब नातो फुरै तासो न करी पहिचानि। तातें कछु समझ्यो नहीं कहां लाभ कहँ हानि ॥१६०॥' और भी कहा है—'निज हित नाथ पिता गुरु हरि सो हरषि हृदय नहि आन्यो। ८८।', 'जग सुपिता सुमातु सुगुरु सुहित दीनबंधु। ७७।' श्रीलक्ष्मणजीका भी यही भाव था। यथा 'गुर पितु मातु न जानउँ काहू।... जहँ लगि जगत सनेह सगाई। ...मोरे सबइ एक तुम्ह स्वामी। २।७२।' माताका भी यही उपदेश था,—'तात तुम्हारि मातु बैदेही। पिता राम सब भाँति सनेही। २।७४।२।' लक्ष्मणजीके वाक्य हैं—'भ्राता भर्ता च बंधुश्च पिता च मम राघवः।' श्रीराघव ही मेरे भाई, स्वामी, बंधु-बान्धव तथा पिता हैं। (वाल्मी० २।५८।३१)।

ब्रह्मतन्त्रमें इसी भावका पोषक यह श्लोक है—'पिता माता सुहृद्-बन्धुर्भ्राता पुत्रस्त्वमेव मे। विद्या धनं च कामश्च नान्यत्किंचित्त्वया विना।' अर्थात् हे जगदीश्वर! आपही मेरे पिता, माता, मित्र, बन्धु-बान्धव, भ्राता और पुत्र हैं; विद्या, धन आदि समस्त कामनायें भी आप ही हैं।

☞ उपासकको अपनी समस्त भावनाएँ अपने उपास्यमें केन्द्रित कर देनी चाहिएँ। अपने इष्टदेवको सभी भावोंका आश्रय और आधार बना लेना चाहिए।—यह इस पदसे हमें उपदेश मिलता है।

[पं० श्रीकान्तशरणजीका मत है कि "पिता-माता आदिमें वात्सल्य आदि गुणोंकी प्रेरणा करके उनके द्वारा श्री रामजी ही सबकी रक्षा करते हैं; यथा 'सो प्रभु पहिचानई। पितु मातु गुरु स्वामी अपनपौ तिय तनय सेवक सखा। प्रिय लगत जाके प्रेम सों बिनु हेतु हित नहिं तै लखा। दूरि न सो हितू हेरु हिये ही है। १३५।', 'गुरु पितु

मातु बंधु पतिदेवा। सब मो कहँ जानइ दृढ़ सेवा। ३।१५।…।"
अतएव 'तात मातु गुर सखा तू …' कहा।

वैजनाथजी 'तात मातु…' का सम्बंध ऊपरके 'तू ठाकुर हौं चेरो' के साथ मानते हैं। भाव कि "आप आज्ञा देनेवाले स्वामी हैं, मैं आज्ञाकारी सेवक हूँ। जैसे पिता माता पुत्रका लालन-पालन विवाह आदि करते हैं और उसको अपना ऐश्वर्य देते हैं, फिर भी पुत्र माता-पिताका अनुचर है, आज्ञा पालन करता है। गुरु उपदेश-आज्ञा देनेवाला स्वामी है, शिष्य सेवक है। राजाके सखा सब प्रकार राजाके तुल्य होते है, फिर भी सखा राजाका आज्ञाकारी सेवक ही है, चाहे वह सगा भाई ही क्यों न हो; यथा 'जेठ स्वामि सेवक लघु भाई।' यद्यपि आत्मबुद्धि होनेपर माता-पिता-पुत्र, गुरु-शिष्य, राजा-सखा एक ही हैं, तथापि पुत्र, शिष्य, सखा आदि सेवक हैं। ऐसे ही जब आत्मबुद्धि हो तब भी माता-पिता आदि सबसे हितकारी आपही हैं।"]

टिप्पणी—४ 'तोहिं मोहि नाते अनेक मानिऐ…' इति। (क) 'तू दयालु', से 'सखा तू' तक ग्यारह नाते कहे। भाव यह कि ये सब नाते और सब प्रकार हितकारी मैंने आपको ही माना है। आपको इनमेंसे जो भी नाता मानना हो वह मान लें और जैसे बने वैसे चरणोंकी शरण दीजिए, प्रयोजन इतनेसे ही है। (भ० स०)। इस भावमें 'अनेक' से जो नाते कह आये उन्हींको ग्रहण किया गया है। परन्तु मेरी समझमें 'अनेक' से यह भी भाव निकलता है कि इतने मैंने गिनाये, पर इतने ही नहीं और भी बहुतसे नाते हैं, आपको अधिकार है कि आप न गिनाये हुयेमेंसे ही कोई मान लें। आगेभी इसी प्रकार कुछ नाते गिनाकर फिर कहा है—'बहुत नात रघुनाथ तोहिं मोहि। ११३।'

४ (ख) 'तोहिं मोहि नाते अनेक…' इति। "पिता च रक्षकः शेषी भर्ता ज्ञेयो रमापतिः। स्वाम्याधारोऽयमात्मा च भोक्ता चेति मनोदितः।"

श्रीसरकार श्रीरामजीसे जीवके नौ प्रकारके संबंध हैं। ऐसा ही महामन्त्ररूप श्रीरामनाममें सम्बंधानुसंधान कहा गया है।—
"रकारसे 'पिता-पुत्र संबंध', 'आत्मात्मीय संबंध' और 'ज्ञातृ-

ज्ञेय-संबंध'। अकार-से 'रक्ष्य-रक्षक-संबंध', 'आधार-आधेय-संबंध' और 'भोक्तृ-भोग्य-संबंध'। तथा मकार-से 'भर्तृ-भार्या-संबंध', 'स्व-स्वामि-संबंध' और शेष-शेषी संबंध।"—ये नौ सम्बंध हैं। नारद पांचरात्र दाशरथी संहितामें इसका वर्णन है। (वे० शि० श्रीरामानुजाचार्यजी)।

४ (ग) 'ज्यों-त्यों तुलसी ···' इति। 'कृपाल' से जनाया कि सभी नाते आपकी कृपाको उत्तेजित करनेवाले हैं। प्रत्येक नाता चरण-शरण देनेके लिये पर्याप्त है। अतः प्रार्थना है कि किसी भी नातेको आप स्वीकार करके मुझे शरण दें। इतना ही मुझे चाहिए।

श्रीसीतारामचन्द्रार्पणमस्तु।

८०

देव—और काहि माँगिये को[1] मांगिबो निवारै।
अभिमत-दातारु कौन दुख दरिद्र दारै ॥१॥
देव—धरम-धाम राम काम-कोटि-रूप रूरो।
साहिब[2] सब बिधि सुजान दान-खड्ग-सूरो ॥२॥
देव—सुसमय दिन द्वै निसान सब कें द्वार बाजै[3]।
कुसमय दसरथ के दानि तैं[4] गरीब निवाजै[3] ॥३॥
देव—सेवा बिनु गुन बिहीन दीनता सुनाए।
जे जे तैं निहाल किए † फूले फिरत[5] पाए ॥४॥

---

१ जो—ह०। २ साहिब—रा०। साहेब—भा०, वे०, ह०, ज०, ७४। साहब—मु०, वै०, डु०, दी०, वि०, पो०, भ०। ३ बाजै—निवाजै—रा०, भा०, वे०, ज०, ७४, आ०। बाजे—निवाजे—ह०। ४ तै—रा०, भा०, वे०, आ०। तू—प्र०, ज०। † ह०, ज०, भा० मे यहाँ 'तै' अधिक है जो औरो मे नही है। ५—डु० और ज० मे 'फरत' है पर डु० की टीका मे अर्थ 'फिरत' किया गया है। फूलना-फलना मुहावरा है—हमारी समझमे 'फरत' पाठ उत्तम है। अन्य पोथियोमे 'फिरत' पाठ है।

देव—तुलसिदास जाचत[६] रुचि जानि दानु दीजै।
रामचंद्र चंद्र तू चकोरु मोहि कीजै ॥५॥

शब्दार्थ—मागिये = माँगा जाय। मागिवो = माँगना, मंगनपना। निवारना (निवारण) = दूर करना, छुड़ा देना। अभिमत = मनोवांछित; मनचाहा पदार्थ। दातार = देनेवाला। दारना = फाड़ डालना, नष्ट करना। धरम-धाम = धर्मका स्थान वा घर। रूरो = सुन्दर। दान-खड्ग-सूर = दानवीर और तलवार चलानेमें वीर अर्थात् शूरवीर पराक्रमवीर। = दानरूपी खड्गमें शूरवीर। सुसमय = भले वा अच्छे दिन; सुख संपत्ति पूर्ण ऐश्वर्य्य सौभाग्यके दिन; बढ़तीमें। कुसमय = बुरे दिन; विपत्तिके दिन। निशान = डंका। तैं = तू। निवाजना = कृपा करना; निहाल करना। सेवा-विनु = जिनसे कुछ भी सेवा बन नहीं सकती; जिनके पास सेवायोग्य कुछ भी नहीं है। = बिना सेवा (किये)। गुणविहीन = बिल्कुल गुण रहित; जिनमें एक भी गुण नहीं है। निहाल = पूर्णकाम; सब प्रकार संतुष्ट और प्रसन्न। यथा 'गये जे सरन आरत के लीन्हे। निरखि निहाल निमिष महँ कीन्हे। ६।' फूले = प्रफुल्लित; आनन्दित; मग्न; कृतार्थ; बहुत खुश। फूले फिरना = निर्भय प्रसन्न घूमना; आनन्द उल्लासमें रहना। यथा 'परमानंद प्रेम सुख फूले। बीथिन्ह फिरहिं मगन मन भूले॥ १। १६६।५।'

पद्यार्थ—हे देव! (आपको छोड़) और किससे माँगा जाय? (अन्य) कौन मँगनपना दूर कर देता है? (याचकको) मनोवांछित पदार्थ देनेवाला (दूसरा) कौन है जो दुःख और दारिद्र्यका नाश कर देता है? (अर्थात् आपके सिवा और कोई यह नहीं कर सकता)। १। हे देव! हे श्रीरामचन्द्रजी! आप धर्मके निवासस्थान हैं; आपका रूप करोड़ों कामदेवोंके समान (वा, उनसे अधिक) सुन्दर है। आप सब प्रकारसे सुजान (अर्थात् सर्वज्ञ, भक्तके हृदयकी जाननेवाले, कुशल) स्वामी हैं। आप दानरूपी खड्गके एवं दान

६ जाचत—रा०, भा०, वे०, वै०, सू० शु०। जाचक—मु०, दी०, वि०, पो०, भ०।

और खड्ग दोनोंमें शूरवीर हैं। २। हे देव! सुसमयके दिनोंमें तो दो दिन सभीके दरवाजेपर नगाडेका जोडा वजता है (अर्थात् अपने मङ्गलमें सभी दाता वन जाते हैं, दान दिया करते हैं), पर बुरे दिन आनेपर (अर्थात् विपत्तिमें) हे दशरथ-पुत्र! हे दानी! तू ही गरीबोंपर कृपा करता, उनको निहाल करता है। ३। हे देव! जो कुछ भी सेवा करने योग्य नहीं (उनके बिना सेवाके ही) और जो समस्त गुणोंसे सर्वथा रहित हैं, ऐसे-भी जिन-जिन लोगोंको, अपना दुःख सुनाने (मात्र) पर तूने निहाल कर दिया, वे आनंदमें मग्न निश्चिन्त फिरते पाये जाते हैं। ४। हे देव! तुलसीदास याचना करता है, (उसकी) रुचि जानकर दान दीजिए। हे श्रीरामचन्द्रजी! (मेरी रुचि सुनिये) आप चन्द्रमा हों और मुझे (अपने रूपका) चकोर वना लीजिए। ५।

टिप्पणी—१ 'और काहि माँगिये' ' इति। भाव कि यदि आप कहें कि 'थोड़ीसी बातके लिये हमहीसे क्यों कहते हो, हमारे अंग-देवताओंसे क्यों नहीं माँग लेते हो?' उसपर कहते हैं 'और काहि'''। अर्थात् यद्यपि यह ठीक है कि चक्रवर्ती महाराजके सेवक प्रत्येक वात स्वामीसे नहीं कहते, अमला (कर्मचारियों) से कहकर काम करा लेते हैं, तथापि कर्मचारी अंग-देवोंमें कोई ऐसा है ही नहीं 'जो मेरी याचकता छुड़ा दे, जो अभिमतदाता और दुःखदरिद्रनाशक' हो। याचक सदा उदार दातासे ही माँगता है;—ऐसे सब प्रकार समर्थ उदार दाता आपही हैं, अतएव आपहीसे माँगता हूँ। (वै०)।

२ 'धरमधाम राम'''' इति। (क) धर्मधाम अर्थात् सत्य, शौच, तप (दया), दान आदि धर्मके सब अंग आपमें परिपूर्ण हैं, अर्थात् स्वभावसे ही आप धर्मवान् हैं, धर्ममय आपका स्वभाव है। स्वभाव कहकर फिर शरीरका लावण्य कहनेमें 'राम' संबोधन देकर जनाया कि आप सबको अपने रूपमें रमा लेते हैं, अनुरक्त कर लेते हैं। (वै०)। वह रूप कैसा है?—'काम कोटि रूप रूरो'। इसके दोनों अर्थ होते हैं—'कोटि कामदेवके समान सुन्दर'; यथा 'कंदर्प अगनित अमित छवि। ४५ (२)।', 'नील जलदाभ तनु स्याम बहु काम छवि। ४६ (४)।', 'कोटिकंदर्प छवि। ५० (१)।', 'लावन्य वपुष अगनित अनंग। ६४ (३)।' इत्यादि। दूसरा अर्थ है—'करोड़ों काम-

देवोंसे अधिक सुन्दर'; यथा "सकल सौभाग्य सौंदर्ज सुखमा रूप निज मनोभवकोटि गर्वहारी। ४४ (३)।", "सखि इन्ह काम कोटि छवि जीती। १।२२०।५।', 'सहज मनोहर मूरति दोऊ। कोटि काम उपमा लघु सोऊ। १।२४३।१।', 'अंग अंग पर वारिअहि कोटि-कोटि सत काम। १ २२०।'—वास्तवमे श्रीरामजी अनतकामदेवोंसे भी सुन्दर है, पर उपमा जव कुछ दी जाती है, तव इसी प्रकार दी जाती है।

वे०भू० जी भी लिखते हैं कि, उपमालंकारमें सर्वत्र उपमेयसे उपमान अधिक होता है। यहाँ यदि 'रूरो' न कहते तो अर्थ होता—'कोटि कामके समान सुन्दर हैं'; परन्तु 'रूरो' होनेसे उपमानसे अधिक उपमेय को ही जनाया। हिन्दी विश्वकोषमें 'रूर, रूरा' दोनों शब्दों-का अर्थ 'उत्तम, प्रशस्त, बहुत बड़ा और सुन्दर-मनोहर' किया गया है। इस तरह यहाँ प्रतीप अलंकार हुआ 'आक्षेप उपमानस्य प्रतीप-मुपमेयता। तस्यैव यदिवा कल्प्या तिरस्कार निबन्धनम्॥ काव्य-प्रकाश-१०।१३३।'—इसीकी टीकामें श्रीभट्टवामनाचार्य्यने 'उपमाना-पकर्षे वोधानुकूलो व्यापारः प्रतीपम् ...' लिखा है। यहाँ उपमान कोटिकन्दर्पका अपकर्ष पाया गया।

२ (ख) 'धर्मधाम' और करोड़ों कामदेवोंसे अधिक लावण्यमय कहकर जनाया कि आपकी उपासना करनेसे मेरे ऐश्वर्य और माधुर्य दोनों ही पच्च सध जायँगे। (वि० ह०)।

२ (ग) 'साहिब सब विधि सुजान...' इति। पूर्व कहा था कि आपकी साहवी तीनों कालों और तीनों लोकोंमें सदा एकरस रहती है,—'आदि अंत मध्य राम साहिबी तिहारी। ७८।' यहाँ प्रभुको 'साहिब' और 'सब बिधि सुजान' कहते है। 'साहिब' के साथ-साथ 'सब विधि सुजान' कहकर यह भी जनाया कि आपकी साहिबी बहुत बड़ी है, तब भी आप बड़े सावधान रहते है, किसी प्रकार भी विरुद-के पालनमे कसर या चूक नहीं होने पाती, कोई अत्यन्त तुच्छ प्राणी आपकी शरणमें आता है तो आप उसकी पूरी-पूरी चिन्ता रखते हैं। यथा "ईसनके ईस महाराजनके महाराज, देवनके देव, देव! प्रानहु-के प्रान हौ। कालहूके काल महाभूतनके महाभूत, कर्महू के करम, निदानके निदान हौ॥ निगमको अगम, सुगम तुलसीहू-से-को, एते मान सीलसिंधु करुनानिधान हौ। महिमा अपार, काहू बोलको

न वारापार, बड़ी साहबीमें नाथ बड़े सावधान हो॥ क० ७।१२६।' श्रीवसिष्ठजीने भी साहबीका वर्णन इस प्रकार किया है—'बिधि हरि हर ससि रबि दिसिपाला। माया जीव करम कुलि काला॥ अहिप-महिप जहँ लगि प्रभुताई। जोग सिद्धि निगमागम गाई॥ करि बिचार जियँ देखहु नीके। राम रजाइ सीस सब ही कें।२।२५४।'

'सब बिधि सुजान' अर्थात् नीति, प्रीति, परमार्थ और स्वार्थ इत्यादि सभीमे कुशल हैं तथा सर्वज्ञ हैं। शब्द-सागरमें 'सुजान' का अर्थ 'परमात्मा, ईश्वर' दिया है और उदाहरणमें 'बार-बार सेवक सराहना करत राम तुलसी सराहैं रीति साहिब सुजान की। क० ६।४०।', पर यहाँ संगत अर्थ 'कुशल' एवं 'सर्वज्ञ' है। वैजनाथजीका मत है कि नीति, धर्मशास्त्र, वेद वेदान्त और व्याकरणादि सब विद्याओं तथा सब देशोंकी भाषा, सब पशु-पक्षियोंकी भाषा, सगुण-विद्या इत्यादिके ज्ञाता होनेसे 'सब विधि सुजान' कहा।

२ (घ) 'दान-खड्ग-सूरो' इति। यहाँ पूर्वसे ही याचना और दान-का ही प्रसंग चल रहा है, इससे प्रधान अर्थ यही है कि आप दान-रूपी खड्गविद्यामें शूरवीर हैं अर्थात् आप दान द्वारा दीन शरणा-गतोंके दुःख दारिद्रय आदिको इस तरह काट डालते हैं जैसे तल-वारसे शत्रु काट डाला जाता है। 'सूर' (शूरवीर) कहनेका भाव कि आप उत्साहपूर्वक दान देते हैं। शूरवीरको रणमें शत्रुको मारनेमें उत्साह होता है। 'दानखड्गशूरता' वही है जो 'तोहि माँगि माँगनो न माँगनो कहायो।७८ (५)।' तथा 'अतुलित दानि। ७७(२)।', 'एकै दानिसिरोमनि साँचो।१६३।' आदिमें कहा गया है। [वे० भू० जी लिखते हैं कि 'संसारमें सबसे महत्व (का) शीलदान 'अभयदान' है और बिना खड्गसूरताके (अर्थात् शारीरिक वलके) अभय नहीं दिया जा सकता। अतः यहाँ 'खड्गसूरो' से तात्पर्य महाबलवान्से है।"]

टिप्पणी—३ (क) 'सुसमय दिन द्वै निसान···' इति। टीका-कारोंने या तो 'द्वै' का अर्थ ही छोड़ दिया है, या उसे 'दिन' का विशेषण मानकर अर्थ किया है। पर दासकी समझमें यह 'निसान' का विशेषण है, दीपदेहलीन्यायसे इसे दोनों ओर ले सकते हैं।—'दिन द्वै' 'द्वै निसान।'

निशान=नक्कारा, नगाड़ा, डंका या डुगडुगी। नगाड़े या डंकेका जोड़ा बजता है। नगाड़ेके साथ एक छोटी नगड़िया होती है। इन दोनोंको आमने-सामने रखकर दो चोबोंसे इन्हें बजाते हैं। 'निशान बजानेको' ही नौबत बजना कहते हैं। मङ्गल उत्सवोंके अवसरोंपर प्रायः सभीके यहाँ नौबत बजाई जाती है। मन्दिरों, राजाओं, रईसोंके यहाँ तो प्रायः पहर-पहर भरपर नित्य ही नौबत बजा करती है। अन्यत्र केवल मङ्गलसूचक उत्सवोंपर ही यह बजती है। 'निशान बजाना' या 'नौबत बजाना' मुहावरा हो गया है; अर्थ है— 'आनन्दोत्सव करना', 'खुशी मनाना'। प्रताप या ऐश्वर्यकी घोषणा करनेके लिए भी नक्कारा बजाया जाता है।

३ (ख) 'कुसमय दसरथ के दानि···' इति। 'कुसमय' से यहाँ 'वनवासको आज्ञा पानेपर एवं वनवासके समयसे तथा सीताहरण होनेपर भी' अभिप्रेत है। वनवासके लिये साथमें श्रीजानकीजीका जाना भी निश्चित होनेपर उन्होंने ब्राह्मणोंको रत्न, भिक्षुकोंको भोजन, सेवकोंको भूषण, वस्त्र, पलंग, सवारियाँ आदि दिये। (वाल्मी० २।३०।४२-४६)। फिर गुरुगृहमें रहनेवाले तथा अन्य इच्छुक ब्राह्मणों-को अपने सब आभूषण तथा श्रीसीताजीके आभरण ब्राह्मणियोंको दिये दिलाए। इस समयके दानविशेष तथा वर्षासन आदिका विस्तृत उल्लेख २।३२ में है। वाल्मीकिजी लिखते हैं कि ब्राह्मण, सुहृद्, भृत्य तथा दरिद्र भिक्षुक जो भी उस समय वहाँ आया, वह सभी उचित सम्मान तथा दानसे सन्तुष्ट किया गया। यथा 'द्विजः सुहृद्भृत्यजनोऽथवा तदा दरिद्रभिक्षाचरणश्च यो भवेत्। न तत्र कश्चिन्न बभूव तर्पितो यथार्हसम्माननदानसंभ्रमैः। २। ३२।४५।'—यह सब दान करके तब श्रीरघुनाथजी श्रीसीतालक्ष्मण सहित पितासे विदा होने गए।

वनमें जानेपर उन्होंने जटायु और शबरीपर कैसी अनूठी कृपा की, दोनोंको अपना धाम दिया और उनका श्राद्ध किया। दीन सुग्रीव और विभीषणको रंकसे राजा बना दिया और दोनोंको अपना सख्यत्व प्रदान किया। भक्तोंके दुःख सुनते ही प्रियाविरहका दुःख आप भूल जाते थे। गोस्वामीजीने इसका बड़ा सुन्दर वर्णन किया है। यथा— "नगरु कुबेरु को सुमेरु की बराबरी, बिरंचि-बुद्धिको बिलासु लंक निरमान भो। ईसहिं चढ़ाय सीस बीसबाहु बीर तहाँ, रावनु सो राजा रज तेजको निधानु भो॥ तुलसी तिलोककी समृद्धि सौंज संपदा

सकेलि चाकि राखी रासि, जाँगरु जहानु भो। तीसरें उपास बनवास सिंधु पास सो, समाज महाराजजू को एक दिन दानु भो। क० ५।३२।', "तियबिरही सुग्रीव सखा लखि प्रानप्रिया बिसराई। १६३।', 'कपि सुग्रीव बंधुभय व्याकुल आयो सरन पुकारी। सहि न सके दारुन दुख जनके, हत्यो बालि सहि गारी। १६६ (७)।', 'बलकल भूषन, फल असन, तृन सज्या, द्रुम प्रीति। तिन्ह समयन लंका दई, यह रघुबर की रीति। दो० १६२।', इत्यादि।

'दसरथ के' में वही भाव है जो पद ७८ (५) के 'महाराज दस-रथ के' में है। 'दसरथ के दानि' कहकर यह भी जनाया कि दशरथ-महाराजने वरदान दिया, सत्यका त्याग नहीं किया, यद्यपि उस दान-के साथ ही प्राण भी छोड़ना पड़ा। वैसे ही विभोपणको लंकेश संबो-धन देकर श्रीरामजीने उनकी रक्षा प्राणोंसे की; यथा 'आवत देखि सक्ति अति घोरा। प्रनतारतिभंजन पन मोरा॥ तुरत बिभीषन पाछे मेला। सनमुख राम सहेउ सोइ सेला। लागि सक्ति मुरुछा कछु भई। ६।९३।'—७८ (५ च) देखिए।

यों तो महाराज दशरथका दान पुत्रजन्म तथा पुत्रविवाहके अवसरपर मानसमें पाठकोंने पढ़ा ही है, पर पुत्र-प्राप्तिके प्रारम्भिक यज्ञमें जो दान उन्होंने दिया, उससे उनकी उदारताका विशेप परिचय मिलता है। इस दानका वर्णन वाल्मी० १।१४। श्लोक ४३ से ५४ तक है। इसमें उन्होंने चारों दिशाओंकी पृथ्वी दानमें दे दी थी।

वेदान्तभूषणजी लिखते हैं—"महाराज दशरथजीके दानका वर्णन करते हुए वेदने बताया है कि पुत्रेष्ठी यज्ञके पूर्ण होनेपर श्रीदश-रथजीने पंच महायाजकों (उपाध्याय, होता, उद्गाता, अध्वर्य और ब्रह्मा) को दिया सो तो अलग, साधारण ऋत्विजों (वरण किये हुए ब्राह्मणों) को जो एक हजार थे, उनमेंसे प्रत्येकको चालीस-चालीस श्यामकरण घोड़े, चालीस-चालीस मतवाले ग्राण्डील गजेन्द्र और एक-एक हजार दास तथा उन सबोंके निर्वाहकी भूमि आदि वृत्ति दानमें दी थी।—'चत्वारिंशद् दशरथस्य शोणाः सहस्रस्याग्रे श्रेणिं नयन्ति। मदच्युतः कृशनावतो अत्यान् कक्षीवन्तः उदमृक्षन्त पज्राः॥ ऋग्वेद मण्डल १, सूक्त १२६, मन्त्र ४।'

'वेद विदित तेहि दसरथ नाऊँ।', 'श्यामकरन अगनित हय

होते।', आदि पंक्तियों द्वारा ग्रन्थकारने भी मानसमें इस तथ्यका संकेत किया है। विशेष 'वेदोंमें रामकथा' ग्रन्थमें देखो।"

३ (ग) 'गरीब निवाजे' का भाव कि जो अमीर हैं, साधनके धनी हैं, बड़े-बड़े ब्रह्मर्षि, राजर्षि आदि हैं, उनको छोड़कर गरीब शबरी, निषाद आदिको निहाल किया। यथा 'रघुबर रावरि इहै बड़ाई। निदरि गनी आदर गरीबपर करत कृपा अधिकाई। १६५।'

टिप्पणी--४ (क) 'सेवा-बिनु गुन-बिहीन दीनता सुनाये।' इति। सुग्रीवने क्या सेवा की, केवल अपना दुखड़ा ही तो सुनाया था कि मैं बालिके भयसे व्याकुल मारा-मारा फिरता हूँ, यद्यपि वाली 'इहाँ साप बस आवत नाहीं। तदपि सभीत रहउँ मन माहीं। ४।६।१३।'; बस इतना सुनते ही दीनदयालने वालि-बधकी प्रतिज्ञा कर दी।--दीनता सुनकर कृपा करनेसे यहाँ 'दीनदयाल' विशेषण कविने दिया है। यथा 'सुनि सेवक दुख दीनदयाला। फरकि उठीं द्वौ भुजा बिसाला॥ सुनु सुग्रीव मारिहउँ बालिहि एकहि बान।' ॥' विभीषणजीके शरणमें आते ही श्रीरामजीने उनका तिलक कर दिया, उनको सखा बना लिया और फिर स्वयं रावणका सपरिवार वध करके उनको राज्यपर बिठा दिया। प्रथम आकर उन्होंने दीनता ही तो सुनाई थी कि रावणने मुझे लात मारकर निकाल दिया। यथा 'बंधु अपमान गुरु ग्लानि चाहत गरन। पतितपावन प्रनतपाल करुनासिंधु! राखिए मोहि सौमित्रिसेवित चरन।'--ये दीनताके वचन हैं। यथा 'दीनता प्रीति सकलित मृदु वचन सुनि···' (गी० ५।४२)। आगे विनय पद १६३ में भी कवि स्वयं कहते हैं—'का सेवा सुग्रीव की, का प्रीति रीति निरबाहु। जासु बंधु बध्यो व्याध ज्यों सो सुनत सुहाइ न काहु॥ भजन विभीषण को कहा, फल कहा दियो रघुराज। १६३ (५-६)।'

बैजनाथजी 'सेवा बिनु' वालोंमें बिल्व गंधर्व, अहल्या और दण्डकवन आदिको लेते हैं। 'गुण-विहीन' में कोल, किरात, भील, वानर, रीछ आदि आ गए।

पुनः, 'सेवा बिनु गुन बिहीन···' का भाव कि अन्य स्वामी सेवा-समीचीन और गुणीको ही ग्रहण करते हैं, सेवा बिना कुछ नहीं देते, गुणहीनको पूछते भी नहीं। यथा 'गनिहि गुनिहि साहिब चहै, सेवा समीचीन को। अधन अगुन आलसिन्हको पालिबो फबि आयो रघुनायक नवीन को। २७४।', 'सब स्वारथी असुर सुर नर मुनि कोउ न

देत बिनु पाये । १६३ ।', 'बिनु सेवा जो द्रवै दीनपर राम सरिस कोउ नाहीं । १६२ ।' इत्यादि ।

पुनः, (दीनजीके मतानुसार) 'दीनता सुनाये' में यह भी ध्वनित है कि उनमें जो दीनता थी वह भी सच्ची नहीं, केवल सुनानेमात्रकी थी अर्थात् वह शिष्टाचारी नम्रता थी, असली नहीं ।

४ (ख) 'जे जे तै निहाल किए फूले फिरत पाए' इति । निषादराज, सुग्रीव और विभीषणको ही नहीं, किंतु समस्त वानरयूथपोंको सखा बना लिया, सबकी सभामें बड़ाई की, 'अनुज राज संपति बैदेही । देह गेह परिवार सनेही' से भी उनको अधिक प्रिय माना, उनके कृतज्ञ हुए, उनको अपनी कीर्तिमें साभी ही नहीं वरन् अपने समान बनाया; यथा 'मोहि समेत सुभ कीरति तुम्हारी परम प्रीति जो गाइहैं । संसारसिंधु अपार पार प्रयास बिनु नर पाइहैं । लं० १०५।' फिर विदा करते समय सबको सबसे अभय किया । यथा 'निज-निज गृह अब तुम्ह सब जाहू । सुमिरेहु मोहि डरपहु जनि काहू । ६।११७।५।' —अतएव सब अभय आनन्दसे विचरते हैं । यथा 'फिरत सनेह मगन सुख अपने । नाम प्रसाद सोच नहि सपने । १।२५।८।' इसी तरह 'जासु छाँह छुइ लेइअ सींचा' ऐसे गरीब केवट गुहको भरत समान कहकर सखा बनाया । उसको ऐसा बड़भागी बना दिया कि गुरु वसिष्ठजी भी उससे भेंटे । वह निहाल हो गया, यह उसके ही वचनोंसे सिद्ध है जो उसने भरतजीसे कहे हैं—'समुझि मोरि करतूति कुल प्रभु महिमा जिय जोइ । जो न भजइ रघुबीर पद जग बिधि बंचित सोइ । २।१९५। कपटी कायर कुमति कुजाती । लोक बेद बाहेर सब भाँती ॥ राम कीन्ह आपन जबही तें । भयउँ भुवन भूषन तब ही तें ॥' कोल-किरात-भील आदिने भी निषादराज तथा अपने संबंधमें प्रभुकी कृपा कही है । यथा 'राम कृपाल निषाद नेवाजा । २।२५०।', 'हम जड़ जीव जीवगनघाती । कुटिल कुचाली कुमति कुजाती ॥ पाप करत निसि बासर जाहीं । नहि पट कटि नहि पेट अघाहीं ॥ सपनेहु धरमबुद्धि कस काहू । यह रघुनंदन दरस प्रभाऊ । २।२५१।'

टिप्पणी—५ (क) 'रुचि जानि दानु दीजै' कहकर फिर स्वयं अपनी रुचि भी बतानेका भाव कि यदि मैं झूठ कहता होऊँगा तो आप सुजान (सर्वज्ञ) हैं, स्वयं जान सकते हैं कि मेरी यही रुचि है । पुनः

प्रारम्भमें प्रभुको 'अभिमतदातार' कह आये हैं, अतएव 'रुचि जानि' दान देनेको कहते हैं। उदार दाता रुचि देखकर अभिलषित पदार्थ देते ही हैं। यथा 'दीन्ह जाचकन्हि जो जेहि भावा।१।३२६।७।', 'लिये बोलि पुनि जाचकवृंदा॥ कनक बसन मनि हय गय स्यंदन। दिये बूझि रुचि रबिकुलनंदन॥ १।३३१।', 'तेहि अवसर जो जेहि बिधि आवा। दीन्ह भूप जो जेहि मन भावा। १।१६६।७।' इत्यादि।

५ (ख) 'चंद्र तू चकोर मोहि कीजै' इति। चकोर-पक्षीके संबंधमें बहुत कालसे प्रसिद्ध है कि यह चन्द्रमाका बड़ा भारी प्रेमी है और उसकी ओर एकटक देखा करता है, यहाँतक कि वह आगकी चिंगारियोंको चन्द्रमाकी किरणें समझकर खा जाता है। इसके प्रेमका उल्लेख गोस्वामीजीने भी किया है। यथा 'सिय मुख ससि भये नयन चकोरा। १।२३०।', 'अधिक सनेह देह भै भोरी। सरद-ससिहि जनु चितव चकोरी। १।२३२।६।', 'सरद इंदु तन चितवत मानहुँ निकर चकोर। ३।१२।'

श्रीरामचन्द्ररूपी चन्द्रका चकोर बनाये जानेका भाव कि मेरा आपमें अनन्य अखण्ड एकरस प्रेम बना रहे। चकोर चन्द्रकिरणोंको पान करता है, मैं आपकी छविरूपी किरणोंको पान करूँ। चकोरको प्रेममें देहसुध नहीं रह जाती, वैसे ही आपका एकटक दर्शन मैं अत्यन्त स्नेहसे करूँ, मुझे देहकी सुध न रह जाय। मिलान कीजिये—'रामचंद्र मुखचंद्र-छवि लोचन चारु चकोर। करत पान सादर सकल प्रेमु प्रमोदु न थोर। १।३२१।'

श्रीसीतारामचन्द्रार्पणमस्तु।

८१ राग भैरव

दीनबंधु सुखसिंधु कृपाकर कारुनीक रघुराई।
सुनहु नाथ मन जरत त्रिविध जर[1] करत फिरत बौराई॥१॥
कबहुँ जोगरत भोगनिरत सठ हठि[2] बियोग बस होई।
कबहुँ मोहबस द्रोह करत बहु कबहुँ दया अति सोई॥२॥

---

१ जर—रा०, ह०, ५१, ७४। जुर—वि०, पो०। ज्वर—भा०, वे०, मु०, डु०, वै०, दी०, भ०। २ हठि—रा०। हठ—भा०, वे०, प्रा०।

कबहुँ दीन मतिहीन रंकतर कबहुँ भूप अभिमानी।
कबहुँ मूढ़ पंडित बिडंबरत कबहुँ धर्मरत ज्ञानी ॥३॥
कबहुँ देख जग धनमय रिपुमय कबहुँ नारिमय भासै।
संसृति[3] संनिपात दारुन दुख बिनु हरि कृपा न नासै ॥४॥
संजम जप तप नेम धरम ब्रत बहु भेषज समुदाई[4]।
तुलसिदास भवरोग रामपद पेम[5] हीन नहि जाई ॥५॥

शब्दार्थ—कृपाकर=कृपा+आकर=कृपाकी खान। कारुनीक (कारुणिक =करुणायुक्त. कृपालु, करुणामय, कारुण्य स्वभाववाले। करुणा=वह मनोविकार वा दुःख जो दूसरोंके दुःखके ज्ञानसे उत्पन्न होता है और जो दूसरोंके दुःखको दूर करनेकी प्रेरणा करता है। त्रिविध=तीन प्रकारका। जर=ज्वर। बौराई=बौरहापन; बावलापन; पागलपन। भोगनिरत=भोग (सुगंध, स्त्री, वस्त्र, गीत-वाद्य,ताम्बूल, भोजन, आभूषण और वाहन अष्ट भोग) में लिप्त। निरत=लिप्त; आसक्त; अत्यंत प्रीति रखनेवाला। रंकतर=अधिक कंगाल वा दरिद्र। 'तर'—यह संस्कृत भाषाका एक प्रत्यय है, जो गुणवाचक शब्दोंमें लगकर दूसरेकी अपेक्षा आधिक्य (गुणमें) सूचित करता है। बिडंबरत=दंभ-पाखंडमे लगा हुआ; दंभी-पाखंडी। विडंबन=किसीके रंग-ढंग या चालढाल आदिका ठीक-ठीक अनुकरण करना।=चिढ़ाने या अपमानित करनेके लिये नकल करना।=निंदा या उपहास करना। (श० सा०)।=छल व्यवहारसे स्वयं सज्जन बनना और दूसरेकी निंदा करना। (वै०)। फजीहत। (पं० रा० कु०)। रत=आसक्त; तत्पर; प्रेममें पडा हुआ; लगा हुआ। भासना=प्रतीत होना; देख पडना। संसृति=संसार; आवागमन, भवचक्र। संनिपात=वात, पित्त, कफ तीनोंका एकसाथ बिगड़ना; त्रिदोष। दारुण=कठिन; भयंकर। संजम (संयम)=अहिंसा, सत्यभाषण, इन्द्रियनिग्रह आदि। नेम=नियम; शौच जप-

३ संसृति—रा०, ह०, ५१, ७४, आ०। संसृत—भा०, वै०, ज०। ४ श्रुति गाई—ज०। ५ पेम—रा०। प्रेम—प्रायः औरोंमे।

तप आदि। विशेष ५८ (६ घ) में देखिये। समुदाई (समुदाय) = समूह। भेषज = औषध; दवा।

पद्यार्थ—हे दीनजनोंके सहायक, सुखके सागर, कृपाकी खान, करुणामय, रघुवीर! हे नाथ! सुनिये। मेरा मन तीनों प्रकारके ज्वरसे जल रहा है और पागलपन करता फिरता है। १। (क्या बावलापन करता है, यह आगे कहते हैं—) कभी योगाभ्यासमें लगता है (तो) कभी यह मूर्ख विषयभोगोंमें आसक्त और कभी हठपूर्वक वियोग-विरहके वश हो जाता है। कभी मोहके वश होकर बहुत वैर करता है और वही कभी अत्यन्त दया करने लगता है। २। कभी दीन (गरीब, बेचारा), बुद्धिहीन और विशेष कंगाल, (तो) कभी अभिमानी राजा, कभी मूढ़ (कर्तव्याकर्तव्यज्ञानरहित), कभी पंडित, कभी विडंबरत (दूसरोंकी फजीहत, हँसी, अपमान करनेमें तत्पर एवं दंभी पाखण्डी) अथवा विडम्बरत पंडित अर्थात् पंडित बनकर दूसरोंकी हँसी करनेवाला, और कभी धर्मपरायण ज्ञानी (बनता है)। ३। कभी तो जगत्को धनमय देखता है और कभी शत्रुमय। कभी जगत् इसको स्त्रीमय प्रतीत होता है। (यह) संसाररूपी सन्निपातका दारुण दुःख बिना (क्लेशके हरनेवाले) भगवान्की कृपाके नष्ट नहीं हो सकता। ४। तुलसीदासजी कहते हैं कि (भवरोगके नाशके लिये) संयम, जप, तप, नियम, धर्म, व्रत (आदि) बहुत दवाइयोंका समुदाय है, परन्तु भवरोग श्रीरामपदप्रेमके बिना नहीं जा सकता। ५।

नोट—१ पद ७८ से गोप्तृत्ववरण शरणागतिमें विनय आरंभ होकर पद ८० तक आई। अब इस पदसे कार्पण्यशरणागतिमें विनय करते हैं। कार्पण्यकी व्याख्या इस प्रकार है—"कायर कूर कपूत खल लम्पट मंद लबार। नीच अघी अति मूढ़ मैं कीजै नाथ उबार॥" (वै०)। मुझसे कुछ नहीं बनता, मैं तो किसी कामका नहीं हूँ, सब प्रकार अपराधी हूँ, अवगुणोंसे भरा हूँ, सब प्रकार पतित हूँ, दीन हूँ,—यह कार्पण्य शरणागति है।

टिप्पणी—१ (क) 'दीनबंधु' अर्थात् भाईके समान दीनजनोंके सहायक। विपत्तिमें सहायक होना यह बंधुका धर्म है। यथा 'होहिं कुठायँ सुबंधु सहाए। ओड़िअहिं हाथ असनिहु के घाए। २।३०६।', 'स बन्धुर्योविपन्नानामापदुद्धरणक्षम'। न च भीत परित्राणवस्तू-

पालम्भ पण्डितः।'—इस नीतिवचनके अनुसार भी आपत्तिमें सहायता देनेवाला 'बंधु' है। इस प्रकार 'दीनबंधु'=आपत्तिमें दीनोंका सहायक।—विशेष 'दीनबंधु बेद बदत रे' ७४ (१ क), ७८ (१ क) में देखिए। कृपाकर=कृपाकी आकर (खान)। भाव कि सारे ब्रह्माण्डमें कृपा जिसको भी प्राप्त होती है वह यहींसे। 'दीनबंधु सुखसिंधु कृपाकर' आदि कहकर जनाया कि आप दीनबंधु, सुखके सागर आदि हैं और मैं दीन हूँ, त्रिविध प्रकारसे दुखी हूँ, सभीत होनेसे दयाका पात्र हूँ, करुणाका पात्र हूँ। आप रघुराई हैं। रघुजी महाराजके समान कुलमें कोई ब्रह्मण्य, उदार दानी नहीं हुआ। उन्होंने केवल यह सुनकर कि एक ब्राह्मणके हृदयमें अयोध्या ऐसे राज्य और रानियोंकी इच्छा अंकुरित हुई है, स्वयं ब्राह्मणके पास जाकर कहा कि आप इसके लिये तप आदि करनेका कष्ट न उठायें, आप रानियों सहित यह सब राज्य ग्रहण करें। सब कुछ उसको देकर आप राज्यके बाहर मट्टीके पात्रसे निर्वाह करने लगे। इत्यादि। उनके दान, ब्रह्मण्य, शरणवत्सलता आदिकी विस्तृत कथायें हैं। इसीसे उस कुलका नाम अबतक 'रघुवंश' बना है। प्रजाकी प्रार्थना-पर भी उस नामको रघुनाथजीने बदलना स्वीकार न किया। ऐसे कुलके राजा होनेसे आपमें भी वे सब गुण विशेष रूपसे हैं, आप मेरी दीनता दूर करनेको समर्थ हैं। इस चरणके 'दीनबंधु', 'कृपाकर', 'सुखसिंधु' और 'रघुराई' विशेषणोंके भाव पद २४२ के—'तुम्ह सम दीनबंधु न दीन कोउ मो सम सुनहु नृपति रघुराई। ''हौ आरत आरतिनासन तुम्ह कीरति निगम पुराननि गाई। हौ सभीत तुम हरन सकल भय, कारन कवन कृपा बिसराई॥ तुम सुखधाम राम श्रमभंजन हौ अति दुखित त्रिविध श्रम पाई। यह जिय जानि दास-तुलसी कहँ राखहु सरन समुझि प्रभुताई॥' इन चरणोंमें क्रमशः हैं। 'कारुनीक'का भाव 'कस न करहु करुना हरे''' पद १०९ में है कि मैं त्रिविध ताप, संदेह, शोक, संशय और भयसे पीड़ित हूँ, कलिकालजनित मलके कारण मैं मतिमन्द और मलिनमन हूँ, सब प्रकारसे दीन हूँ, मेरी दीन दशापर करुणा करके मेरे दुःखको हरिये। आप राजा हैं, मैं शरणागत हूँ।

१ (ख) 'मन जरत त्रिविध जर''' इति। 'जर' (ज्वर) में ताप होता है। इसलिये किसी-किसी टीकाकारने 'त्रिविध जर' से "दैहिक,

दैविक, भौतिक तीनों ताप" अर्थ ग्रहण किया है। किसीने सत्व, रज और तमकी वृत्तिको तीन प्रकारका ज्वर माना है। परन्तु यहाँ 'त्रिविध जर', 'बौराई' और आगे 'सन्निपात' शब्द आये हैं। दोनोंके बीचमें काम (भोगनिरत), क्रोध (द्रोह करत) और लोभ (विडंबरत…) को और तीनोंका सन्निपात 'धनमय, रिपुमय, नारिमय' में कहा है। मानसरोगोंके वर्णनमें कामको वात, लोभको कफ और क्रोधको पित्त कहा है। इन वात-पित्त-कफसे ही सन्निपात होता है। यथा 'काम-बात कफ-लोभ अपारा। क्रोध पित्त नित छाती जारा॥ प्रीति करहिं जौं तीनिउ भाई। उपजइ सन्यपात दुखदाई।७।१२१।३०-३१।' अतएव यहाँ प्रसंगानुकूल काम, क्रोध और लोभ ये ही तीन प्रकारके ज्वर हैं। ऐसा कह सकते हैं।

[वे० भू० जी लिखते हैं कि "सुश्रुत और चरक संहितामें ज्वरोत्पत्तिके आठ कारणोंका वर्णन है—वायु, पित्त, कफ, वातपित्त, पित्तश्लेष्मा, वातपित्तश्लेष्मा, वातश्लेष्मा और आगन्तुक। परन्तु ये सब ज्वर दो ही प्रकारके होते हैं। एक शीतज्वर, दूसरा तप्तज्वर। विनयपत्रिकाकारने मानसमें दो ही प्रकारके ज्वर माने हैं और यही शास्त्रसंमत है—'जुग बिधि ज्वर मत्सर अबिबेका। कहँ लगि कहौं कुरोग अनेका॥'

"हरिवंशमें दोनों ज्वरोंकी उत्पत्ति विस्तारसे दी है। शीतज्वरमें प्रथम जलन नहीं होती। अतः यहाँ 'मन जरत त्रिविध जर…' में 'जर' शब्द ज्वर अर्थमें न होकर 'ताप' के अर्थमें है जो 'दैहिक दैविक भौतिक तापा' के नामसे कथित है। सन्निपात स्वतंत्र ज्वर नहीं है, अपितु वात, पित्त, कफ तीनोंकी संघातिक विकृतिका परिणाम है। अतः ज्वर दो ही हैं।"]

१ (ग) 'करत फिरत बौराई' इति। अर्थात् जैसे मनुष्य उन्माद होनेपर बावला होकर अनुचित कर्म और सावधान होनेपर उचित कर्म करता है, वैसे ही मेरा मन जबतक सत्संगादि पाकर सावधान रहता है तबतक उचित सत्कर्म करता है, पर कुसंगादिमें पड़ जानेपर इन्द्रिय-सुखहेतु विषय-उन्मादवश अनुचित कर्म करने लगता है। (बै०)।—यह भाव बैजनाथजीने लिखा है। संभवतः सत्संग और कुसंग दोनों दशाओंमें मनकी प्रवृत्ति इसलिये दिखाई है कि आगे 'योगरत', 'कबहुँ दया अति', 'धर्मरत' भी कहा है।—वास्तवमें कभी

यह करना और फिर कभी वह (उसका उल्टा) करना यह भी बावलापन है। क्या बावलापन करता है, यह आगे कहते हैं—'कबहुँ०'।

टिप्पणी—२(क) 'कबहुँ जोगरत…' इति। योगके आठ अंगों, यम, नियम, आसन, प्रत्याहार, प्राणायाम, ध्यान, धारणा और समाधिके अभ्यासमें मनका लग जाना 'योगरत' होना है। इससे ब्रह्मचर्य कहा। 'भोगनिरत' अर्थात् अष्टभोग अथवा जितने भी विषयभोग हैं, विशेषतः काम-भोग, उनमें आसक्त हो जाता है। इससे विषयी या कामी होना कहा। विषय प्राप्त होनेपर उनसे पृथक् होनेपर विरह होता है। 'सठ हठि' दीपदेहली न्यायसे दोनों ओर लगता है। हठपूर्वक विषयासक्त होता और विरही होता है। क्योंकि शठ है। सत्शास्त्रों तथा उपदेशकोंका उपदेश नहीं मानता, अपनी ही करता है, यह हठ है। योगरत और भोगनिरत विरोधी वृत्तियाँ हैं। पुनः भाव कि मृत्युका स्मरण हो आनेपर योगमें प्रीति करता है। कभी मृत्युको भूल जाता है, अपनेको अजर अमर समझकर भोगमें तत्पर हो जाता है। कभी शठ मन हठसे वियोगवश होता है, अर्थात् स्त्री-पुत्रादिसे रुष्ट होकर उनको छोड़ देनेकी इच्छा करता है।

२ (ख) 'मोह बस द्रोह करत…' इति। अपने स्वरूपको भूलकर मैं-मोर आदिमें पड़ जाना मोह है। मोहके वश होनेसे मनुष्य दूसरोंसे वैर करता है, समझता है कि इसीने हमें हानि पहुँचाई, विषयप्राप्तिमे बाधक हुआ, इत्यादि। यथा 'करहि मोहबस द्रोह परावा।७।४०।६।' 'दया अति सोई'—भाव कि कथा सत्संग प्राप्त होनेपर कभी जीवोंपर अत्यन्त दया करने लगता है। द्रोह और दया विरोधी वृत्तियाँ हैं।

टिप्पणी—३ 'कबहुँ दीन…' इति। (क) 'दीन मतिहीन रंकतर' और 'भूप-अभिमानी', 'मूढ' और 'पंडित', 'विडंबरत' और 'धर्मरत ज्ञानी' विरोधी वृत्तियाँ हैं। (ख) संकटमें पड़ जानेपर किसी समर्थको देख दीन होकर रक्षाकी प्रार्थना करता है। अथवा, किसी वस्तुका नाश होनेपर एवं रोगसे पीड़ित होनेपर दीनता ग्रहण करता है। जब लोभसे लोलुप हो जाता है, तब इसे बुरे-भलेका विचार जाता रहता है। अथवा, स्वार्थवश होकर बुद्धिहीन हो जाता है। अर्थात् जिनसे उसका कहना उचित नहीं उनसे अपनी गरज (स्वार्थ) कह सुनाता है और अपमान होनेपर अपनी बुद्धिको बुरा-भला कहता

है। 'कबहुँ रंकतर' अर्थात् कभी कदाचित् कोई धर्मका काम आ पड़ा तो अपना पैसा खर्च न करना पड़े यह विचारकर 'रंकतर' बड़ा भारी कंगाल बन जाता है; दूसरोंसे कहता है कि सब मिलकर इसमें सहायता करो तो हो जाय। 'कबहुँ भूप अभिमानी'—अर्थात् "अपने शत्रुके विनाश अथवा परधनापहरण वा परस्त्रीगमनमें यदि किसीने सहायता की तो उसके लिये वह अभिमानी राजाके समान बनकर उससे कहता है कि तुम हमारा कार्य करो, तुम्हारी ओर जो ताकेगा मैं उसकी आँखें निकलवा लूँगा।" (वै०)। अथवा, जब कोई काम औरोंसे न हुआ और इसने कर दिया तब समझता है कि हमारे बराबर कौन है। (भ० स०)।

३ (ग) 'कबहुँ मूढ़ पंडित ···' इति। 'मूढ़' हो जाता है अर्थात् इन्द्रियसुखकी अत्यंत कामनावश होनेपर वह अपने स्वार्थसाधनमें नीति अनीतिका विचार नहीं करता, कर्त्तव्याकर्त्तव्यज्ञानरहित हो जाता है, दूसरोंका उपदेश नहीं सुनता। जगत्‌में पुजानेके लिए 'पंडित' बनकर कथा कहने लगता है। 'विडंबरत' का भाव शब्दार्थ और पद्यार्थमें आ गया। 'धर्मरत' अर्थात् संतोंका संग पाकर पूजा पाठ जप तप तीर्थ व्रत आदि सत्कर्म करता। ज्ञानी महात्माओंका संग होनेपर ज्ञानी बन जाता है, आत्मस्वरूपके विचारमें लगता है। (वै०)। पुनः भाव कि पुजानेके लिए ऊपर दिखावेका आडंबर करता है। कभी स्वर्ग प्राप्तिके विचारसे धर्म करने लगता। कभी आत्माका स्वरूप सुनकर अपनेको ब्रह्म कहने लगता है। (भ० स०)।

सू० शुक्लजी लिखते हैं—सन्निपात होनेपर मनुष्य बावला हो जाता है, वरंच ऐसी दशामें भी सत्व, रज, तमकी प्रवृत्ति हुआ करती है, इसीसे बेहोशीमे भी कभी ज्ञान कथता, कभी बहादुरीकी डींट हाँकता, कभी रोता-धोता या घोर बेहोश हो चुप रहता है। इसी तरह मनको जन्म, स्थिति, मरणका सन्निपात है। सत्व, रज, तम इसे क्षण-क्षणमें सदैव नचाते रहते हैं; इसीसे यह शान्त नहीं होता। जब सत्वगुणकी आवृत्ति होती तो योग, वैराग्य, ज्ञान, दया, धर्म आदिमें लगता। रजोगुणकी प्रवृत्तिमें धन, स्त्री, शत्रुताका रूप ही हो जाता है और तमोगुणके दबानेपर महागरीब, निर्बुद्धि, विरहमे कातर हो रोता है। निदान संसृतिरूप सन्निपातसे यह मन क्षण-क्षणमें भाँति-भाँतिके स्वाँग बदलता रहता है।

टिप्पणी—४ 'कबहुँ देख जग धनमय···' इति। (क) 'धनमय' देखता है। अर्थात् अत्यन्त लोभी बन जाता है, सर्वत्र इसे धनही धन सूझने लगता है; कैसे मिले यही धुन रहती है। [धनिकोंको ही ढूँढ़ता-फिरता है। (वै०)] 'रिपुमय' देखता है अर्थात् क्रोधी बन जाता है। भाव कि जब धनकी प्राप्तिमें बाधा पड़ी अथवा धन प्राप्त होकर निकल गया, तब संसारभरको शत्रुमय देखने लगता है, सभी पर अत्यन्त क्रोध करने लगता है। 'नारिमय भासै' अर्थात् कामी बन जाता है, लज्जा भय सब गँवा बैठता है। इसका मन 'स्त्री'-मय होता है, स्त्रीपर ही दृष्टि रहती है। इत्यादि।—इस चरणमें काम, क्रोध और लोभ तीनोंके अत्यंत वश होना कहा।

४ (ख) 'संसृति संनिपात···' इति। ज्वरमें वात, पित्त, कफ तीनोंके विगड़नेसे सन्निपात होता है। वैसेही काम, क्रोध और लोभ इन तीनोंके एक साथ शरीरमें प्रीति करनेसे जो सन्निपात होता है वही 'संसृति सन्निपात' नामसे यहाँ कहा गया।—'प्रीति करहिं जौं तीनिउ भाई। उपजइ सन्यपात दुखदाई ॥७।१२१।३१।'

४ ग) 'दारुन दुख विनु हरि कृपा न नासै' इति। वात, पित्त, कफ इनमेंसे प्रत्येक असाध्य नहीं है। ये तीनों जब एक साथ अधिक बिगड़ते हैं तब जो सन्निपात होता है वह नितान्त असाध्य हो जाता है, फिर वह वैद्यके वशका नहीं रह जाता, भगवान् ही कृपा करें तो भले ही रोगी जी जाय, नहीं तो नहीं। इसके विपरीत काम, क्रोध और लोभमेंसे तो प्रत्येक स्वयं असाध्य है, प्रत्येक जीवका नाश करनेको समर्थ है; यथा 'एक व्याधि बस नर मरहिं ए असाधि बहु व्याधि। ७।१२१।'; और जब ये तीनों असाध्य रोग एक साथ आ गए तब इनकी असाध्यताका कहना ही क्या? भगवान् ही कृपा करें तो यह संसृति सन्निपात जा सकता है, अन्यथा नहीं। यथा 'जाने ते छीजहिं कछु पापी। नास न पावहिं जन परितापी॥ विषय कुपथ्य पाइ अंकुरे। मुनिहु हृदय का नर बापुरे॥ रामकृपा नासहिं सब रोगा ।७।१२२।३-५।'

☞इसीसे इनके सन्निपातको 'दारुण दुख' कहा, इसी तरह पद ६३ में काम, क्रोध और लोभ इन तीनोंके संघातको 'दारुण दुख' कहा है। यथा 'लोभ ग्राह दनुजेस क्रोध कुरुराज बंधु खल मार। तुलसिदास प्रभु यह दारुन दुख भंजहु राम उदार।'

प्रस्तुत पदमें बताया कि बिना हरि-कृपाके यह रोग नहीं जाता और पद ६३ में कृपाके लिए प्रार्थना की है।

टिप्पणी—५ (क) 'संजम जप तप नेम धरम व्रत बहु भेषज…' इति। इसी तरह मानसमें कुछ भेषज गिनाकर कहा है, यथा 'नेम धरम आचार तप ज्ञान जग्य जप दान। भेषज पुनि कोटिन्ह नहि रोग जाहिं हरिजान ॥ ७।१२१ ॥' मानसमें 'कोटिन्ह' है, वही यहाँ 'बहु' से जनाया। भाव यह कि संयम, जप, तप आदि जो गिनाए इतने ही नहीं, किन्तु अगणित उपाय कामादिके निर्मूल करनेके कहे गये हैं, पर इनसे ये रोग जाते नहीं।*

५ (ख) 'भवरोग रामपद पेमहीन नहिं जाई' इति।—ऊपर कहा कि 'बिनु हरि कृपा न नासै', अब बताते हैं कि रामकृपा होती है, तब क्या होता है। रामकृपा होनेसे श्रीराम-चरणकमलोंमें अनुराग होता है और अनुराग होनेपर मानसरोगोंका नाश होता है जो जन्म-मरणके कारण हैं। यहाँ ऊपरके 'संसृति सन्निपात' को ही 'भवरोग' कहा है। भव=संसृति=संसारमें बारंबार जन्म लेना और मरना।

५ (ग) आगे पद १९४ में भी बहुतसे साधन गिनाकर कहा है कि रामप्रेम बिना समस्त साधनोंका नियम निष्फल होता है। यथा 'ज्ञान बिराग जोग जप तप मख जग मुदमग नहिं थोरे। राम-प्रेम-बिनु नेम जाय, जैसे मृग जल जलधि हिलोरे।'

बैजनाथजी—आत्माकी वृत्ति (मनकी प्रवृत्तियाँ) कर्म, ज्ञान आदिसे नहीं छूट पातीं। यदि जीवको श्रीरामजीमें अनुराग हो जाय, उसे सर्वत्र रघुनाथजी ही सूझने लगें, तो उसकी वृत्ति मिट जाती है। जैसे किसीकी मति अपने धन-धाम स्त्री आदिमें सहज ही लगी रहती है, पर यदि उसका प्रेम किसी अन्य (पर स्त्री आदि) में हो जाता है तो सबका स्नेह टूट जाता है, उसे बस एकमात्र अब उसीका संग सूझता है। जैसे कन्याका स्नेह माता-पितामें रहता

---

* प० पु० काशीखण्डान्तर्गत भागवतमाहात्म्यमे नारदजीके भी ऐसे ही वाक्य हैं। यथा 'अलं व्रतैरलं तीर्थैरलं योगैरलं मखैः। अलं ज्ञानकथालापैर्भक्तिरेकैव मुक्तिदा।२।२१।' अर्थात् व्रत, तीर्थ, योग, यज्ञ और ज्ञानचर्चा आदि साधनोंकी क्या आवश्यकता है, एकमात्र भक्ति ही मुक्ति देनेवाली है।

है, पर विवाह हो जानेपर उसका प्रेम पूर्णतया पतिमें लग जाता है। जैसे मृग नादके वश हो शरीरकी सुध भी भूल जाता है, इत्यादि। इसी तरह श्रीरामजीमें प्रेम हो जानेपर अन्य सब प्रवृत्तियाँ आप ही मिट जाती हैं।

नोट—२ "हृदये अष्टदले हंसात्मानं ध्यायेत्।···येनेदं व्याप्तम्। तस्याष्टधा वृत्तिर्भवति। पूर्वदले पुण्ये मतिः आग्नेये निद्रालस्यादयो भवन्ति याम्ये क्रूरे मतिः नैर्ऋते पापे मनीषा वारुण्यां क्रीडा वायव्ये गमनादौ बुद्धिः सौम्ये रतिप्रीतिः ईशाने द्रव्यादानं मध्ये वैराग्यं केसरे जाग्रदवस्था कर्णिकायां स्वप्नं लिङ्गे सुषुप्तिः पद्मत्यागे तुरीयं···"। (हंसोपनिषत्)।

हंसोपनिषत्के इस उद्धरणमें बताया है कि आत्माका ध्यान हृदयमें अष्टदल-कमलमें करना चाहिए। प्रत्येक दल आदिकी वृत्ति अलग-अलग है। आत्मा जब जिस स्थानमें (दल, मध्य, कर्णिका, केसर इत्यादिमें) जाता है, तब उसकी बुद्धि वा वृत्ति उसीके अनुकूल हो जाती है। उपनिषत्में जो वृत्तियाँ कमलके मध्य भाग, पश्चिम दल, उत्तर दल, दक्षिण दल, पूर्व दल, आग्नेय दल, नैर्ऋत्य दल, वायव्य दल, ईशान दल और केसरमें जानेपर उत्पन्न होती है, उन्हीं वृत्तियोंका उल्लेख विनयके प्रस्तुत पदमें हुआ है।

	कमलके भाग	उसमें रहनेपर आत्माकी वृत्ति	विनयमें उसके जोड़की वृत्ति
१	मध्य	वैराग्य	योगरत
२	वारुण्य (पश्चिमदल)	क्रीड़ा	भोगनिरत
३	सौम्य (उत्तर दल)	रतिप्रीति	हठि वियोग वस होई
४	दक्षिण दल	क्रूरमति	मोहवस द्रोह
५	पूर्व दल	पुण्यमति	दया अति सोई
६	आग्नेय दल	निद्रा आलस्य आदि	दीन मतिहीन रंकतर
७	नैर्ऋत्य दल	पाप	भूप अभिमानी
८	वायव्य दल	गमन	मूढ़ पंडित विडंबरत
९	ईशान दल	द्रव्यादान	धर्मरत ज्ञानी

१०	केसर	जाग्रदवस्था जिसमें इन्द्रियविषयवश लोकव्यवहारमे बुद्धि रहती है।	देख जग धनमय, रिपुमय, कबहुँ नारि-मय भासै।

☞ यह भाव वैजनाथजीने दिया है।

नोट—३ इस पदमें मनको बहुरूपी बनाया है। इसके अनेक रूप-रंग हैं। मनकी प्रवृत्तियाँ जाग्रत् अवस्था ही मे नहीं, वरन् स्वप्नमें भी अपना खेल खेला करती है। यही अवस्था संसारकी भी है।—'सपने होइ भिखारि नृप रंक नाकपति होइ। जागे लाभ न हानि कछु तिमि प्रपंच जिय जोइ॥' (दो० ह०)

नोट—४ इस पदमें इस एक जन्ममें जो मनकी प्रवृत्ति हो रही है, वह कही गई और उसकी निवृत्तिका एकमात्र उपाय रामपद-प्रेम बताया। अगले पदमें मनकी इस प्रवृत्तिका कारण-विशेष कहकर फिर भी इसी औषधकी पुष्टि करते है।

श्रीसीतारामचन्द्रार्पणमस्तु।

८२

मोह जनित मल लाग विविध विधि कोटिहु जतन न जाई।
जनम जनम अभ्यास निरत चित अधिक अधिक लपटाई[1] ॥१॥
नयन मलिन पर-नारि निरखि मन मलिन विषय सँग लागें[2]।
हृदय मलिन वासना मान मद जीव सहज सुख त्यागें[2] ॥२॥
परनिंदा सुनि श्रवन मलिन भये वचन दोष पर गायें[2]।
सब प्रकार मल भार लाग निज नाथ चरन बिसरायें[2] ॥३॥

१ लपटाई—रा०, ह०, ५१, ७४, वे०, श्रा०। अधिकाई—भा०, प्र०, ज०। २ रा० मे 'लागें, त्यागें, गायें, बिसरायें'—है। अनुस्वार लगने से अर्थ होता है—लगनेसे, त्यागनेसे, गानेसे, बिसरानेसे। यथा 'गुप्तरूप अवतरेउ प्रभु गएँ जान सब कोइ। १।४८।'

तुलसिदास ब्रत दान ज्ञान तप सुद्धि[3] हेतु श्रुति गावै।
रामचंद्र[4] अनुराग-नीर बिनु मल[5] अति नास न पावै ॥४॥

शब्दार्थ—जनित=उत्पन्न; पैदा हुआ। मल=मैल, पाप, विकार। लाग=लगा हुआ है। अभ्यास=आदत, बारंबार किसी कामको करना 'अभ्यास' कहलाता है; मश्क। मलिन=दूषित, गँदला।

पद्यार्थ—मोहसे उत्पन्न अनेक प्रकारका मैल (जो) लगा हुआ है, (वह) करोड़ों यत्न करनेपर भी नहीं जाता। (कारण कि) जन्म-जन्मान्तरके अभ्याससे चित्त उसीमें लगा हुआ है; इसीसे (छूटनेके बदले) वह अधिकसे अधिक लपटता जाता है। (आगे मलका स्वरूप लिखते हैं—) ।१। पराई स्त्रीको देखकर नेत्र दूषित हुए और विषयोंके साथ लगनेसे मन दूषित हो गया। कामनाओं और मान-मदसे हृदय, तथा स्वाभाविक सुखका त्याग करनेसे जीव मलिन हो गए। २। पर-निन्दा सुननेसे कान और पराया दोष कथन करनेसे वचन मलिन हो गए। अपने सच्चे स्वामी (श्रीरामचन्द्रजी) के चरणोंको भुला देनेसे सब प्रकारसे मलका भार (बोझ, समूह वा ढेर) आ लगा। ३। तुलसीदासजी कहते हैं कि शुद्धिके लिए श्रुतियाँ व्रत, दान, ज्ञान और तप (उपाय) बताती हैं, परन्तु श्रीरामचन्द्रानुरागरूपी जलके बिना (वा, हे श्रीरामचन्द्रजी! आपके अनुरागरूपी जलके बिना) यह अतिशय मल समूल नाशको नहीं प्राप्त हो सकता। ४।

नोट—१ पिछले पदमें भवरोगका रामपदप्रेम-बिना निर्मूल होना असम्भव बताया। अब इस पदमें भवरोगको मलरूप वर्णन करके स्पष्ट करते हैं। तात्पर्य कि इन आचरणोंने मनको मलिन किया है। (भ० स०)।

टिप्पणी—१ (क) 'मोह जनित मल लाग…' इति। जितने भी पाप होते हैं उनका मूल 'मोह' है, यथा 'करहिं मोह बस नर अघ

---

३ सुद्ध—भा०, वे०, प्र०, डु०, वै०। सुद्धि—रा०, ह०, ज०, ५१, ७४, मु०, भ०, दी०, वि०, पो०, ४ रामचद्र—रा०, भा०, वे०, प्र०, ज०। रामचरन—ह०, ५१, ७४, आ०। ५ मल अति—रा०, ह०, ७४, ५१, आ०। अति मल—भा०। कलिमल—वे०, प्र०, ज०।

नाना। स्वारथरत परलोक नसाना ।७।४१।४', इसीसे प्रथम मोहको कहकर तब उससे जो मल उत्पन्न हुए उन्हें कहते हैं। 'कोटिहु जतन न जाई'—'कोटिहु' जतनसे पूर्वपदकथित 'संजम जप तप नेम व्रत' और इस पदमें आगे कहे हुए 'दान, ज्ञान' तथा अन्य अनेक साधन सूचित कर दिये। कोटि उपायोंसे भी मल नहीं धुलता। यथा 'सुख हित कोटि उपाय निरंतर करत न पाय पिराने। सदा मलीन पंथके जल ज्यों कबहुँ न हृदय थिराने ।२३५।' इन अनेक यत्नोंसे भी नहीं जानेका कारण आगे लिखते हैं। (ख) 'जनम-जनम अभ्यास…' इति। जबसे जीव मायाके योगसे हरिसे पृथक् हुआ, तभीसे यह अपना स्वरूप भूल देहाभिमानी हो गया। पंच विषयोंमें सुख मानने लगा। झूठेको सच्चा और सच्चेको झूठा मानने लगा, यही मोह है। विषयासक्ति ही विविध योनियोंमें जन्मका कारण है। मायावश अपना स्वरूप भूल मोहमें पड़कर इन्द्रियविषयसुखभोगमें आसक्त होनेसे प्रथम जन्म मिला। इस जन्ममें पूर्वाभ्यासवश फिर उसी मोहव्यापार इन्द्रियविषयसुखमें लगा, जिससे हृदयमें मल और बढ़ा और मरने पर पुनर्जन्म हुआ। इसी प्रकार जन्म-पर-जन्म होते गये और प्रत्येक जन्ममें पूर्व विषयाभ्यासके कारण मलकी एक-एक पर्त और जमती गई। यथा 'विषय वारि मन मीन भिन्न नहिं होत कबहुँ पल एक। ताते सहिय विपति अति दारुन जनमत जोनि अनेक। १०२।', 'सुख हित कोटि उपाय निरंतर करत न पायँ पिराने। सदा मलीन पंथके जल ज्यों कबहुँ न हृदय थिराने। २३५।' चित्तका जन्म-जन्मका अभ्यास पड़ता चला आ रहा है, इसीसे वह उसीमें निरत है। अनेकों जन्मोंका कचड़ा-कूड़ा जमा हो गया है। यथा 'जनम कोटिको कँदैलो हद हृदय०। १५१ (६)।

☞'मल' से अभ्यन्तर मलिनतासे तात्पर्य है। मलिन होनेसे पापमय होना अभिप्रेत है।

टिप्पणी—२ 'नयन मलिन पर-नारि निरखि…' इति। (क) नेत्रोंका परस्त्रीको देखना आगे कहा है, यथा 'अंजन केससिखा जुबती तहँ लोचन सलभ पठावौं ।१४२(२)।' और यहाँ देखनेका फल कहा कि नेत्र मलिन हो गए। 'निरखि' कहकर जनाया कि देखना भी पापी बना देता है। प्रायः प्रथम नेत्र देखते हैं, तब मन चलायमान होता है; यथा 'जासु बिलोकि अलौकिक सोभा। सहज पुनीत

मोर मन छोभा । १।२३१।३' तब उससे मिलनेकी और फिर रतिकी इच्छा होती है। इस तरह दर्शन ही परदाररत बनाकर पापमय बना देता है। यथा 'परद्रोही परदाररत परधन पर अपवाद। ते नर पाँवर पापमय देह धरे मनुजाद। ७।३९।' इसीसे विभीषणजीने पर-स्त्रीके दर्शनको चौथके चन्द्रदर्शनके समान त्याज्य कहा है। यथा 'जो आपन चाहइ कल्याना। सुजसु सुमति सुभ गति सुख नाना। सो पर नारि लिलारु गोसाईं। तजउ चौथिके चंद कि नाईं ।५।३८।५-६।' दर्शनमात्रसे सुयश, सुमति, शुभगति, सुख और कल्याणका नाश हो जाता है।–'निरखना' ही इतना बड़ा पाप है। परतियगामीकी सद्गति हो ही नहीं सकती। यथा 'सुभ गति पाव कि परत्रियगामी। ७।११२।४।', 'मृतो नरकमभ्येति हीयतेऽत्रापि चायुषः। परदाररतिः पुंसामिह चामुत्र भीतिदा। वि० पु० ३। ११।१२४।' (अर्थात् परदाररति दोनों लोकोंमे भयदायक है। इहलोकमें परतियगामीकी आयु क्षीण हो जाती है और मरनेपर उसे नरक होता है), 'नारीणां योनिसेवा हि योनिसंकटकारिणी। प० पु० स्वर्ग० ६१।३५।' (स्त्री-योनिसेवन योनिसंकटमें डालनेवाला है। बारंबार योनिमें गिरना पड़ता और यातना भोगनी पड़ती है)। परस्त्रीपर कुदृष्टि डालना अथवा उसे देखकर मनमें क्षोभ होना पाप है। इसीसे श्रीरामजीने कहा है— 'मोहि अतिसय प्रतीति मन केरी। जेहि सपनेहु परनारि न हेरी। १।२३१।६।' महर्षि और्वने भी सगर महाराजसे इसीसे कहा है कि परस्त्रीसे वाणीसे तो क्या, मनसे भी कभी उसके पास न जाय, यथा 'परदारान्न गच्छेच्च मनसापि कथञ्चन। वि०पु०३।११।१२३।' प०पु०पा० १० में श्रीरामजीने श्रीशत्रुघ्नजीसे कहा है कि 'परस्त्रीको तलवारकी धार समझकर उनका परित्याग करनेसे सुयशसे सुशोभित ऐश्वर्य तथा योगियोंके परम धामकी प्राप्ति हो सकती है।' प० पु० स्वर्ग खण्ड अ० ६१ में स्त्रियोंका संग त्याग करनेके सम्बन्धमें २४ श्लोक हैं।

२ (ख) 'मन मलिन बिषय संग लागे' इति। विषयको पाकर कामक्रोधादि जितने भी मानसरोग हैं वे सब एक-एक करके मनमें अंकुरित हो जाते हैं और उसे मलिन कर देते हैं। इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयोंमें विचरा करती हैं। मन जब इन्द्रियोंके विषयको विभागपूर्वक ग्रहण करनेमें लग जाता है, तब मनुष्यकी प्रकृति संसर्ग-

रहित आत्माकी ओर प्रवृत्त प्रज्ञा (बुद्धि) नष्ट हो जाती है, मन उसे विषयोंकी ओर प्रवृत्त कर देता है। यथा 'इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते। तदस्य हरति प्रज्ञां'' । गीता २।६७।', 'दर्शन-स्पर्शसंश्लेपविश्लेपश्रवणादपि। अप्रतिक्रियमात्मैव हन्यते विषयैर्दृढम्।' (यतीन्द्रप्रवणप्रभाव) अर्थात् प्रतिकाररहित विषय रूप विषके दर्शन, स्पर्श, विशेष संयोग, वियोग और श्रवण मात्रसे सुनिश्चित ही अवि-नाशी आत्मतत्वका विनाश हो सकता है (जीव संसारी बन सकता है)।

वेदान्तभूषणजीका मत है कि यहाँ 'ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्ग-स्तेपूपजायते। गीता २।६२' के अनुसार 'संग' का अर्थ 'आसक्ति' होगा। इस तरह 'विषय संग लागे'=विषयोंमे आसक्त होनेसे।

२ (ग) 'हृदय मलिन बासना मान मद' इति। हृदय प्रायः चतुष्टय अन्तःकरण मन, बुद्धि, चित्त और अहंकारका नाम है। पर यहाँ चित्त और मनको ऊपर कह आये। इससे यहाँ 'हृदय' से बुद्धि और अहंकारका ग्रहण होगा। ऊपर (ख)—मे बता आये कि मन विषयोंसे मलिन होकर आत्मविषयक बुद्धिको विचलित करके विषय-विषयक बना देता है। प्रस्तुत विनयमे उसीको गोस्वामीजीने और स्पष्ट कर दिया है। मन बुद्धिमे विषयभोग-वासना उत्पन्न कर देता है, बस यही बुद्धिके नाशका मूल है। कामनानुसार विषयोंकी प्राप्ति न होनेसे क्रोध, क्रोधसे संमोह (विवेकशून्यता), उससे स्मृतिका नाश और स्मृतिनाशसे बुद्धिका नाश। (गीता २।६२-६३)। वासनाकी गणना नहीं हो सकती। दो-चारका उल्लेख गोस्वामीजीने किया है। 'बहु बासना विविध कंचुक भूषन लोभादि भरयो। चर अरु अचर गगन जल थलमें कौन स्वांग न करयो।६१।', 'कोउ भल कहहु देउ कछु कोऊ असि बासना न उर ते जाई। ११६ (२)।' गृह, सुत, वित, दारा आदिकी वासना प्रायः सभी को होती है। 'बासनावृंद' ४६ (४ क), 'बासना बल्लि खरकंटकाकुल ५६ (२ख) देखिए।

मान, मद होनेसे अहंकार मलिन हो गया। जो अहंकार प्रभुका किंकर होनेका चाहिये था; यथा 'अस अभिमान जाइ जनि भोरे। मैं सेवक रघुपति पति मोरे। ३।११।२१।', 'जौं तेहि आजु बधें बिनु आवौं। तौ रघुपति सेवक न कहावौं। ६।५४।१३।', 'आजु राम सेवक जसु लेऊँ। २।२३०।३।'; वह अभिमान छोड़कर प्राकृत विषय

का अभिमानी हो गया। पुनः भाव कि हृदय भगवान्के निवास-का स्थान है। भगवान् हमारे हृदयमें बसें, इस विचारसे उसको अत्यन्त निर्मल बनाये रखना चाहिये, सो न करके उसमें वासना, मान, मद आदिको बसाया है, जो मलिन वस्तुएँ हैं; अतएव इनसे हृदय मलिन हो गया। यथा 'करहु हृदय अति बिमल बसहिं हरि कहि-कहि सबहि सिखावों। हों निज उर अभिमान मोह मद खल-मंडली बसावों ॥१४२।'

२ (घ 'जीव सहज सुख त्यागें मलिन' इति। जीव ईश्वरांश और स्वाभाविक ही सुखराशि है। परन्तु जड़ मायाके प्रलोभनमें आकर उसने उससे गठबंधन कर लिया। उसके वशमें पड़कर वह अपने स्वरूप तथा सहज सुखको भूल गया, अपनेको देह अथवा देहको अपना मानकर इन्द्रियविषयभोगको ही सुख मानने लगा, पूर्णतया संसारी हो गया।—यही जीवका मलिन होना है। यथा 'ईश्वर अंस जीव अबिनासी। चेतन अमल सहज सुखरासी॥ सो माया बस भयउ गुसाईं। बँध्यो कीर मरकटकी नाईं॥ जड़ चेतनहि ग्रंथि परि गई। जदपि मृषा छूटत कठिनई॥ तब ते जीव भयउ संसारी। छूट न ग्रंथि न होइ सुखारी।···जीव हृदय तम मोह बिसेषी। ग्रंथि छूट किमि परइ न देखी। ७।११७।२-७।', 'आनंदसिंधु मध्य तव बासा।···मृगभ्रमबारि सत्य जल जानी। तहँ तू मगन भयो सुख मानी॥···निर्म्मल निरंजन निर्विकार सुख तैं परिहरयो॥ निष्काज राज बिहाइ नृप इव स्वपन कारागृह परयो॥ तैं निज कर्मडोरि दृढ़ कीन्ही। अपनेहि करनि गाँठि हठि दीन्ही॥ ताही तें परबस परयो अभागे। ताको फल गर्भवास दुख आगे॥ १३६।'—यही सब मलिनता है।

टिप्पणी—३ 'पर निंदा सुनि श्रवन··' इति। (क) रसना भग-वान्का गुणगान करनेके लिये मिली और श्रवण गुणगान सुननेके लिये। रसना और श्रवणको गुणगान-श्रवणमें लगाना ही उनकी सार्थकता है। सो न करके इनको परदोषकथन तथा श्रवणमें लगा देनेसे ये मलिन होकर नरकमें डालनेवाले होते हैं। यथा 'श्रवनन्हि को फलु कथा तुम्हारी, यह समुझौ समुझावों। तिन्ह श्रवनन्हि पर दोष निरंतर सुनिसुनि भरि-भरि तावों॥ जेहि रसना गुन गाइ तिहारे

बिनु प्रयास सुख पावों। तेहि मुख पर-अपवाद भेक ज्यों रटि-रटि जनम नसावों। १४२।'

पुनः भाव कि परदोषदर्शन भी पाप है, इसीसे संतगुणमें 'सपनेहु नहि देखहि पर-दोषा' ऐसा कहा; और मैं तो दोषदर्शनकी कौन कहे उन्हें प्रेमसे सुनता भी हूँ और कहता भी हूँ, जो महापाप और खलोंके लक्षण हैं। यथा 'परनिंदा सम अघ न गरीसा। ७।१२१।२२।', 'बंदौं खल जस सेष सरोपा। सहस बदन बरनइ परदोषा॥ पुनि प्रनवौं पृथुराज समाना। पर अघ सुनइ सहस दस काना। १।४।८-६।'

३ (ख) 'सब प्रकार मल भार लाग···' इति। यहाँ तक मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार और तीन प्रधान ज्ञानेन्द्रिय नेत्र, श्रवण और रसनाका मल कहा गया। यह सब मोहजनित मल है। 'मोहजनित मल लाग विविध विधि' उपक्रम है और 'सब प्रकार मल भार लाग' उपसंहार है। 'सब प्रकार' अर्थात् जो ऊपर कह आये तथा शेष ज्ञानेन्द्रिय तथा कर्मेन्द्रियोंमे भी जो मल लगा है, वह सब मिलकर एक पूरा बोझ हो गया है। इस सबका मुख्य कारण 'निज नाथ चरणका बिस्मरण' है। भगवान् ही अपने 'निज नाथ' है, यथा 'निज हित नाथ पिता गुर हरि सो हरषि हृदय नहि आन्यो। ८८।' निज नाथको भुला दिया है, यह अन्यत्र भी कहा है; यथा 'मो कहँ नाथ बूझिये यह गति सुख निधान निज पति बिसरायो। २४३।', 'जानि-पहिचानि मैं बिसारे हौं कृपा निधान। ७५८।', इत्यादि।

अपने स्वामीको भुला देनेसे मलभार लगा, इस कथनसे यह भी जनाया कि इनके स्मरणसे मलभार छूटता है और जीव विना श्रमके भवपार हो जाता है। अतएव उनको कभी भी न भुलावे।—यही उपदेश मनको आगे पद ८५ में स्वयं ग्रंथकार करते है। यथा "सुनु सठ सदा रंकके धन ज्यों छिन-छिन प्रभुहि सँभारहि॥···जो बिनु जोग जग्य व्रत संजम गयो चहै भव पारहि। तौ जनि तुलसिदास निसि बासर हरिपद कमल बिसारहि॥"

४ (क) 'व्रत दान ज्ञान तप सुद्धि हेतु श्रुति गावै।···' इति। व्रत दान आदि उपाय शुद्धिके कहे गए है, फिर भी बिना रामानुराग-रूपी जलके ये मल धुलते नहीं।—इस कथनका भाव यह है कि यदि ये उपाय श्रीरामप्रेम-प्राप्तिके लिये किये जावें और उनसे 'तव पद

पंकज प्रीति निरंतर। सब साधन कर यह फल सुंदर।' प्राप्त हो, प्रेम-भक्ति उत्पन्न हो, तब हृदय आदिका मल धुल सकता है; अन्यथा ये साधन स्वयं मलरूप हैं। यथा "छूटइ मल कि मलहि के धोए। घृत कि पाव कोउ बारि बिलोए॥ प्रेम भगति जल बिनु रघुराई। अभिअंतर मल कबहुँ न जाई। ७।४६।"

श्रीसूतजीने भी कहा है कि 'पुरुषोंका सर्वोत्तम धर्म वही है जिससे भक्ति उत्पन्न हो। भली प्रकार अनुष्ठान किया हुआ भी धर्म यदि भगवत्कथामें प्रेम न उत्पन्न करे तो वह केवल श्रममात्र है;—'स वै पुंसां परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे।...धर्मः स्वनुष्ठितः पुंसां विष्वक्सेनकथासु यः। नोत्पादयेद्यदि रतिं श्रम एव हि केवलम्।' (भा० १।२।६;८)।

[श्री कान्तशरणजी लिखते हैं कि 'प्रायश्चित्तमें व्रत, दान और तप आदि कहे गये है। जीवात्माकी शुद्धि आत्मज्ञानसे होती है।'

वियोगीजी लिखते हैं कि "मलको छुड़ानेके लिये जो-जो उपाय करते है, उनमें अभिमान आ जानेसे वह भ्रष्ट हो जाता है, और ऐसा होनेसे मल और भी पक्का हो जाता है। सुलझना तो दूर रहा और भी उलझन होती जाती है।"

वैजनाथजीका मत है कि "अन्य युगोंमें जीव कर्म और ज्ञान आदि द्वारा कुछ शुद्ध होते रहे, सूक्ष्म पापरूप मल छूट जाता था। परन्तु अब कलिमे कराल पापरूप महामल लग गया है, यह उनसे नहीं छूट सकता, क्योंकि कलिमे कर्म-ज्ञानादि साधन परिपूर्ण निबह नहीं सकते। अतएव उन उपायोंके करनेका अब कोई प्रयोजन नहीं, श्री रघुनाथजीके चरणोंमें अनुराग करके इस मलको धो डाले।"]—टि० ४ (घ) भी देखिए।

४ (ख) 'रामचंद्र अनुराग-नीर...' इति। भा० एकादश स्कंधमें चित्त तथा अन्तःकरणकी शुद्धिके संबंधमें लिखा है कि जब भगवान्‌के चरणकमलोंको प्राप्त करनेकी इच्छासे तीव्र भक्ति की जाती है, तब वह भक्ति ही अग्नि की भाँति गुण और कर्मोंसे उत्पन्न हुए चित्तके सारे मलोंको जला डालती है।—'यर्ह्यब्जनाभचरणैषणयोरुभक्त्या चेतोमलानि विधमेद् गुणकर्मजानि। तस्मिन् विशुद्ध उपलभ्यत आत्मतत्त्वं...।३।४०।' वह भक्ति कैसी होनी चाहिए जिससे चित्त (हृदय) का मल दूर होता है और वह शुद्ध समझा

जाय ? इसपर भगवान् कहते हैं कि जबतक शरीरमें रोमांच न हो, चित्त पिघलकर गद्‍गद न हो जाय, नेत्रोंसे आनन्दके आँसू न निकलने लगें तथा अन्तरङ्ग और वहिरङ्ग भक्तिकी बाढ़में चित्त डूबने-उतराने न लगे, तबतक इसका शुद्ध होना कैसे कहा जाय ?—'कथं विना रोमहर्षं द्रवता चेतसा विना। विनाऽऽनन्दाश्रुकलया शुध्येद् भक्त्या विनाऽऽशयः। १४ २३।' फिर आगे भगवान् कहते हैं कि जिसकी वाणी गद्‍गद हो, चित्त द्रवित हो, एक क्षणके लिये भी अश्रुओंका ताँता न टूटता हो, जो कभी हँसता, कभी लज्जा छोड़कर गाने लगता तो कभी नाचने लगता—ऐसा प्रेमी अपनेको ही नहीं वरन सारे संसारको पवित्र कर देता है।—उपर्युक्त भगवान्का वाक्य ही 'अनुराग-नीर' की व्याख्या है। इससे आत्मा कर्म-वासनाओंको त्यागकर प्रभुको प्राप्त हो जाता है अर्थात् उसका भवरोग नष्ट हो जाता है। —'आत्मा च कर्मानुशयं विधूय मद्भक्तियोगेन भजत्यथो माम् ॥ भा० ११।१४।२५।"

४ (ग) 'रामचंद्र' शब्द देकर अनुरागका स्वरूप भी कह दिया। पूर्व याचना कर आये हैं—'रामचंद्र चंद्र तू चकोर मोहि कीजै'। यहाँ 'रामचंद्र अनुराग' से चन्द्र-चकोरका-सा अनुराग जनाया, ऐसा जब अनुराग हो तब मल-भारका समूल नाश हो जाय।

४ घ) 'मल अति नास···' इति। अति दीपदेहली है। 'मल भार लाग' यही अतिमल है। 'अति नास न पावै' अर्थात् अन्य उपायोंसे पूर्णतया नाश नहीं होता। जैसे मल शरीरपर लगा हो तो वह पोछ देने आदिसे पूर्णतया नहीं जाता और जलसे धोनेसे उसका निशान भी नहीं रह जाता। वैसे ही वासना, मान, मद आदि योग, यज्ञ, जप, तप आदि साधनोंसे समूल नष्ट नहीं होते, सूक्ष्मरूपसे बने रहते हैं, अवसर पाकर फिर प्रकट हो जाते हैं।—'नास न पावहि जन परितापी। विषय कुपथ्य पाइ अंकुरे।···।२।१२२।'

☞श्री भगवत्पार्षदोंके वाक्य इस संबंधमें प्रमाण हैं। वे कहते हैं—'महर्षियोंने पापोंकी न्यूनाधिकताको जानकर बड़े और छोटे पापोंके लिये क्रमशः बड़े और छोटे प्रायश्चित्त बताये हैं। उन तप, दान और जप आदि प्रायश्चित्तोंसे केवल वे पापमात्र ही नष्ट होते हैं, पापीका पापदूषित चित्त नहीं शुद्ध होता, परन्तु भगवान्के चरणोंकी सेवासे वह भी शुद्ध हो जाता है। यथा 'गुरूणां च लघूनां च गुरूणि च लघूनि

च। प्रायश्चित्तानि पापानां ज्ञात्वोक्तानि महर्षिभिः॥ तैस्तान्यघानि पूयन्ते तपोदानजपादिभिः। नाधर्मजं तद्धृदयं तदपीशाङ्घ्रिसेवया। भा०६।२।१६-१७' जिस प्रायश्चित्तके करनेपर चित्त फिर भी असन्मार्ग की ओर दौड़े वह चित्तकी आत्यन्तिक शुद्धि करनेवाला नहीं है,-"नैकान्तिकं तद्धि कृतेऽपि निष्कृते मनः पुनर्धावति चेदसत्पथे। श्लो० १२।"—अतएव कहा कि 'व्रत दान ...' से 'मल अति नास न पावै।'

श्रीसीतारामचन्द्रार्पणमस्तु।

८३ राग जयति श्री

कछु ह्वै न आइ गयो जनम जाय।
अति दुर्लभ तनु पाइ कपट तजि भजे न राम मन-बचन[1] काय॥१॥
लरिकाई बीती[2] अचेत चित चंचलता चौगुनी[3] चाय।
जौबन जर[4] जुवती कुपथ्य करि भयो त्रिदोष भरे[5] मदन बाय॥२॥
मध्य वयस धन हेतु गँवाई कृषी बनिज नाना उपाय।
राम-बिमुख सुख लह्यो न सपनेहुँ निसि बासर तयो तिहुँ[6] ताय
सेये नहि सीतपति सेवक साधु सुमति भले[7] भगति भाय।
सुने न पुलकि तन कहे न मुदित मन किये जे[8] चरित रघुबंस राय।

१ वचन मन—भा०, ह०, प्र०। मन वचन—रा०, वे०, ज०, ५१, ७४, आ०। २ वीती—रा०, ह०, ५१, ७४, आ०। बीत्यो—भा०, वे०, ज०। ३ चौगुने—रा०, ह०, ५१, वि०, पो०। चौगुनी—भा०, वे०, मु०, डु०, वै०, दी०। चौगुनो—१५, ज०। ४ जर—रा०, ह०, दी०, श्री० श०। ज्वर—भा०, वे०, वै०, मु०, डु०, ७४। जुर—वि०, पो०। ५ भरे—रा०, ह०, ५१। भरि—भा०, वे०, डु०, वै०, दी०, वि०, भ०। भर—मु०। ६ तिहुँ—रा०, ह०, प्र०, ७४, मु०, भ०। तिहूँ—भा०, वे०, वै०, दी०, वि०। ७ भले—रा०, ह०, ५१, ज०, दी०, भ०। भलि—भा०, वे०, वै०, वि०, मु०, प्र०, ७४। ८ जो—७४, ज०, १५।

अब सोचत मनि बिनु भुअंग[9] ज्यों बिकल अंग दले जरा घाय[10]
सिर धुनि धुनि पछितात मीजि कर कोउ न मीत हित दुसह दाय
जिन्ह लगि निज परलोक बिगार्‌यो ते लजात होत ठाढ़े ठायं॥।
तुलसी अजहुँ[11] सुमिर रघुनाथहि तर्‌यो गयंदु जाके एक[12] नायं।

शब्दार्थ—कछु है न आई=कुछ न हो आया=कुछ करते बन न पड़ा; हमसे कुछ हुआ नहीं; कुछ कर-धर न लिया; किसी योग्य न हुए।=कुछ लाभ न उठाया। हो आना=हो सकना; बन पड़ना। जाय (फा० जाया=खोया हुआ, बेकार)=व्यर्थ; वृथा; निष्फल; बेकार। यथा 'जाय जीव बिनु देह सुहाई। २।१७८।६।', 'बिनु हरि भगति जाय जप जोगा।२।१७८।५।', 'तात जाय जिय करहु गलानी। ईस अधीन जीव गति जानी। २।२६३।५।' काय=शरीर; देह; तन। लरिकाई=लड़कपन; बाल्यावस्था। यथा 'तात कहउँ कछु करउँ ढिठाई। अनुचित छमब जानि लरिकाई। ७।४५।६।' बीती=बीत गई; समाप्त वा खतम हो गई। अचेत=अज्ञान; नासमझ; यथा 'समुझी नहि तसि बालपन तब अति रहेउँ अचेत। १।३०।' चंचलता =अस्थिरता; चपलता; नटखटी; शरारत। चौगुना=चारगुणा= बहुत बढ़ा हुआ; अधिक। चाय (चाव, चाह)=उमंग, उत्साह, आनंद। चौगुने चाय=चित्तमें अधिक उत्साह और प्रसन्नता। जुवती (युवती)=जवान स्त्री। जोबन (यौवन)=युवा अवस्था; अवस्था का वह भाग जो बाल्यावस्थाके उपरान्त आरंभ होती है और जिसकी समाप्तिपर वृद्धावस्था आती है। युवा अवस्था प्रायः १६ से ४० वर्ष तक मानी जाती है; कोई-कोई ६० वर्ष तक मानते हैं। पूर्ण युवावस्था उस समय समझनी चाहिए, जबसे शरीरकी बाढ और रक्तका बनना आदि रुक जाता

---

९ भुअग—रा०, ह०, पो०। भुजंग—प्रायः औरोमे। १० घाय—रा०, भा०, वे०, ह०, मु०, दी०, श्री० श०। घाय—वै०, भ०, वि०, पो०, ७४। ॐ रा० मे इस पदके सब अन्तराओं मे तुकान्त मे 'यं' है। प्रायः औरोमे 'य' है। कुछमे 'ाय' है। ११ अजहुँ सुमिर—रा०। अजहुँ सुमिरि—भ०, दी०, वि०, मु०, ह०, ५१, ज०। अजहुँ सुमिरु—७४। सुमिरु अजहुँ—भा०, वे०, १५। १२ अर्द्ध—दी०। (परन्तु यह पाठ हमको अभी तक कही नही मिला)।

है। कुपथ्य=वह आहार-विहार जो स्वास्थ्य के लिए हानिकारक हो। पथ्य=वह हलका और शीघ्र पचनेवाला खाना जो रोगीके लिये लाभदायक हो। उचित आहार; संयम। त्रिदोष=वात, पित्त और कफजनित रोग। वैद्यकमें वात, पित्त और कफको (जो प्रत्येक मनुष्यके शरीरमें रहते हैं) 'दोष' कहा है, क्योंकि इनके कुपित होनेसे शरीरमें विकार अथवा व्याधि उत्पन्न हो जाती है। सदन=काम। वाय (वायु)=बाई; वातका कोप जो प्रायः सन्निपात होनेपर होता है और जिसमें लोग बकते-झकते हैं। 'मध्य वयस' [मध्य=बीचका अर्थात् बाल्य और वृद्धा अवस्थाओंके बीच का। वयस (व्यस्)=बीता हुआ जीवनकाल; अवस्था]—सुश्रुतके अनुसार १६ वर्षसे ७० वर्ष तककी अवस्था। यहाँ दासकोसमझमें 'मध्यवयस' से यौवन कालका मध्य भाग। प्रथम भाग युवतीके प्रेम पागलपनमें बीता, परिवार बढ़ा तब नाना उपाय पेट भरनेके किए गए।—यह अर्थ 'वयसवाला' शब्दके प्रयोगके अनुसार निकलता है, जिसका अर्थ 'युवक' है। दीवानी जवानी और वृद्धावस्थाके बीचका काल। गँवाना=खोना, बिताना। कृषि=खेती, किसानी। वनिज (वाणिज्य)=व्यापार, वस्तुओंका बेचना-खरीदना। लह्यो=पाया। तयो=संतप्त होता रहा, जला किया। ताय=ताव; ताप। सेये=सेवा की। सेना=सेवा करना। भाय=भावसे, प्रेमसे। भुअंग=सर्प। यथा 'काम भुअंग डसत जब जाही। विषय नींब कटु लगति न ताही। १२७।' दले=कुचले; पीसे; चूर-चूर, शिथिल और जर्जर कर दिया। घाय (सं० घात)=आघात, चोट, आक्रमण। मीजना=मलना। दाय=दाँव; अवसर। भट्टजीने इसका अर्थ 'दावानल' किया है जिसे वि० ह० आदिने भी अपनाया है। ठाँय (ठाँव)=समीप, निकट; स्थान, ठिकाना। ठाढ़े=खड़े। लजाना=किसी बुरे व्यवहारका ध्यान करके वृत्तियोंके संकोचका अनुभव होना। =शरमाना। अजहुँ=अब भी। नाय=नाम।

पद्यार्थ—कुछ भी (परमार्थ साधन) न बन पड़ा, जीवन व्यर्थ चला गया। अत्यन्त कठिनतासे प्राप्त होनेवाला मनुष्य शरीर पाकर (भी) मन, वचन, तन (अर्थात् कर्म) से कपट-छल छोड़कर श्रीरामचन्द्रजीका भजन न किया। १। लड़कपन अज्ञान वा नासमझीमें गया, चित्तमें (अवस्थाकी अपेक्षा) बहुत बढ़ी-चढ़ी

चपलता और बढ़े-चढ़े उमंग थे✽। यौवनरूपी ज्वरमें युवती-(-प्रसंग) रूपी कुपथ्यसे त्रिदोष हो गया और कामदेवरूपी बाई (शरीरमें) भर गई‡। २। धनके निमित्त (अर्थात् धनके उपार्जनमें, धन कमानेमें) खेती-किसानी और क्रय-विक्रय व्यापार आदि अनेक उपायोंमें मध्य वयस् गँवा दिया। (परन्तु) श्रीरामजीसे विमुख होनेसे (अर्थात् उनमें अनुराग न होनेसे वा उनसे उदासीन रहनेके कारण) स्वप्नमें भी सुख न पाया, रात-दिन तीनों तापोंसे जलता रहा। ३। श्रीसीतापति रघुनाथजीके सेवक शुद्ध-बुद्धिवाले साधुकी सेवा सुन्दर बुद्धि और अच्छे भक्तिभावसे भली प्रकार नहीं की†। रघुकुलश्रेष्ठ एवं रघुवंशी राजा श्रीरामचन्द्रजीने जो चरित किये, उन्हें न तो (प्रेमसे) पुलकित शरीर होकर सुना ही और न मनमें प्रसन्न होकर उन्हें गान किया (दूसरोंको सुनाया)। ४। बुढ़ापेके आक्रमणसे अंगोंके जर्जरित हो जानेपर अब, मणिहीन सर्पके समान व्याकुल होकर, सोच करता और हाथ मल-मलकर सिर पीट-पीटकर पछताता हूँ (पर) इस दुसह समयमें कोई मित्र या हितैषी नहीं (देख पड़ता)। ५। जिनके लिये अपना परलोक बिगाड़ा (अर्थात् अनेक प्रकारके पाप कमाकर जिनको पाला-पोसा

✽ अर्थान्तर—(१) चंचलता हीमे चौगुना चाव रहा। (ह०)। (२) कुमार किशोर अवस्था पाकर चित्तमे चंचलताकी चौगुनी चाव हुई। (रा० त० व०)।

‡ अर्थान्तर—१ युवतीरूपी कुपथ्य करके मदनरूपी वायुके भर जानेसे त्रिदोष हो गया। (पं० रा० कु०)।

२ रा० त० व०—त्रिदोष होनेपर बाई (सन्निपात) होती है, सो कामदेवरूपी वायु पूर्णरूपसे हो गया। जब वायु होती है, तब रोगीको भना-बुरा बोलनेका विचार नहीं रहता, वैसे ही यहाँ कर्तव्याकर्तव्यभ्रष्ट हो गया। (ह०)।

† टीकाकारो मे किसीने 'सेवक, साधु, सुमति' तीनकी, किसीने 'सेवक, साधु' दोकी और किसीने 'सेवक जो साधु' इस प्रकार एककी सेवाका अर्थ किया है.। किसीने 'सुमति'को साधुका विशेषण माना है और किसीने उसे 'सेये'के साथ लगाया है।

जिससे मुझे नरकमें पड़ना होगा) वे पास खड़े होते लजाते हैं। हे तुलसी! तू अब भी श्रीरघुनाथजीका स्मरण कर जिनके एक नामसे (अर्थात् एक बार नाम लेनेसे) गजेन्द्र तर गया। ६।

नोट—१ इस पद्मे अपने मिषसे विमुखोंको उपदेश करते हैं (रा०त०ब०, भ०स०)। कोई यहाँ मनको और कोई अपनी आत्मा को संबोधित करके कहना लिखते हैं। दोनों ही ठीक हैं।

टिप्पणी—१ (क) 'कछु ह्वै न आइ' कुछ बन न पड़ा। क्या होना चाहिये था जो न बन पड़ा?- यह स्वयं आगे कहते हैं कि 'अति दुर्लभ तनु पाइ कपट तजि भजे न राम मन बचन काय।', 'सेये नहि सीतापति सेवक साधु सुमति भले भगति भाय। सुने न पुलकि तन कहे न मुदित मन किये जे चरित रघुबंसराय।' अर्थात् श्रीरामजी का भजन मन-वचन-कर्मसे करना चाहिए था, श्रीरामजीके भक्त साधुओंकी सेवा करके उनसे प्रभुके चरित्र सुनना था और श्रोता पाकर चरितोंका कीर्तन करना चाहिये था, सो कुछ न बन पड़ा।

१ (ख) 'गयो जनम जाय' सारा जन्म व्यर्थ बीत गया। यदि कहो कि 'व्यर्थ क्यों गया? हमने भोगविलास तो किया है'; तो उस-पर कहते हैं कि श्रीरामजीका भजन छोड़ खेलकूद तथा स्त्री-प्रसंग एवं धन-धाममें आयु बिताना आयुका व्यर्थ खोना है।- यही सब आगे कहते हैं। पूरा पद २३४ 'जनम गयो बादिहि बर बीति।...' भी इसीकी व्याख्या है।

१ (ग) 'अति दुर्लभ तनु पाइ'—'मनुष्य-शरीर' को अति दुर्लभ कहा, क्योंकि देवताभी इसके लिए तरसते हैं। भवसे मुक्त होनेका साधन मनुष्य शरीरहीसे हो सकता है, अन्य समस्त योनियाँ केवल भोग-योनियाँ हैं। स्त्री, पुत्र, आदि तो श्वान, सूकर आदि योनियोंमें भी होते हैं, पर हरिभजन केवल मनुजतनमें ही होता है। चौरासी लक्ष योनियोंमें कोई भी ऐसी नहीं है जिससे जीव कोई साधन करके परमार्थकी कौन कहे, नर-तन ही पा जाय। यह तो करुणावरुणालय प्रभुकी कृपा-करुणासे कभी मिलता है। यथा 'कबहुँक करि करुना नरदेही। देत ईस बिनु हेतु सनेही॥ नर तनु भववारिधि कहँ बेरो। सनमुख मरुत अनुग्रह मेरो॥७।४४।६-७।' इसके समान कोई भी देह नहीं है, यथा 'नर तन सम नहि कवनिउ देही। जीव चराचर जाचत जेही॥ नरक स्वर्ग अपवर्ग निसेनी। ज्ञान बिराग भगति सुभ देनी॥

७।१२१।९-१०'; अतएव 'अति दुर्लभ' कहा। 'पाइ' से जनाया कि बड़े भाग्यसे प्रभुकी करुणासे मिला है, अपने पुरुषार्थसे नहीं।—'बड़े भाग मानुष तनु पावा। सुर दुर्लभ सब ग्रंथन्हि गावा ७।४३।७', 'भयो है सुगम तोको अमर अगम तन' ।८४।

१ (घ) 'कपट तजि भजे न राम···'।'इति। इससे जनाया कि नरतन का साफल्य तभी है, जब मन-कर्म-वचनसे रामभजन, रामचरणानुराग करके परमार्थ साध ले। यथा 'जो अनुराग न रामसनेही सों, तौ लह्यौ लाहु कहा नरदेही सों। १६४।', नहीं तो पछताना होगा जैसा आगे कहते हैं। पद १९८ में भी कहा है—'मन पछितैहै अवसर बीते।' दुर्लभ देह पाइ हरिपद भजु करम वचन अरु ही ते।।' भा० १०।६३।४१ में श्रीशिवजीके भी वाक्य हैं कि जो नरतन पाकर आपके चरण-कमलोंका भजन इन्द्रियोंको वशमें करके नहीं करता, उसका जीवन शोचनीय है और वह स्वयं अपने-आपको धोखा दे रहा है,—'देवदत्तमिमं लब्ध्वा नृलोकमजितेन्द्रियः। यो नाद्रियेत त्वत्पादौ स शोच्यो ह्यात्मवञ्चकः।।' स्त्री, पुत्र, धन, धाम और प्रतिष्ठा आदि स्वार्थ तथा धर्म और मोक्षरूपी परमार्थकी कामनायें रखकर भजन करना भी 'कपट' है। स्वार्थ-परमार्थ छोड़कर भजन करे। 'मन' से भजन करना यह है कि जैसे देह-गेह-सुत-वित आदि विषयोंमें मन लगा रहता है वैसेही सहज प्रेमसे प्रभुमें मन लग जाय। भगवान्का शरीरसे कैंकर्य करना 'कर्म वा तन' का भजन है। वाणी से भगवन्नाम, भगवद्यशका कीर्तन करना वचनका भजन है। पुनः 'भजे न राम···' का भाव कि परमार्थ कुछ न कमाया जो आगे काम देता। भजन न किया तो न सही, कुछ अनीति तो नहीं की, उसपर आगे कहते हैं—

२ (क) 'लरिकाई' बीती अचेत चित···'इति। आगे युवावस्थाका उल्लेख करके जनाया कि जन्मसे लेकर १६ वर्षकी अवस्थातकके समयको 'लरिकाई' कहा है। शैशव, कौमार, पौगंड और किशोर अवस्थायें 'लरिकाई' में ही कह दीं। शैशवावस्था माताके स्तन-पान तथा गोद, हिंडोला आदिमें बीत जाती है, यह अवस्था 'अचेत' अवस्था रहती है जिसमें किंचित् भी ज्ञान वा समझ नहीं होती। इसके आगे पौगंड और किशोरावस्थाओंमें मन चंचल रहता है, एक पर स्थिर नहीं रहता, उमंग उत्साह चौगुना बढ़ता है। इसीको आगे

पद २३४ में 'खेलत खात चल देना' कहा है। खेलने-खानेमें जाना लड़कपनका व्यर्थ जाना है। यथा 'जनम गयेउ वादिहि बर बीति। खेलत-खात लरिकपन गो चलि०।'

२ (ख) 'जोबन जर जुवती कुपथ्य…' इति। वैजनाथजी लिखते हैं कि—'युवावस्था प्राप्ति ही जीवका ज्वरग्रस्त होना है। कफ, पित्त और वातमेंसे किसी एकके प्रचंड होनेपर साधारण ज्वर और किन्हीं दो के प्रचंड होनेपर तीक्ष्ण ज्वर होता है। जब तीनों प्रचंड पड़ जाते हैं, तब सन्निपात होता है। यहाँ काम वात, कफ लोभ और पित्त क्रोध हैं। युवावस्था आनेपर भूषण, वस्त्र, भोजन, गंध, गान, नृत्य आदि भोगोंकी चाह ही 'लोभ' रूपी 'कफ'का प्रचंड पड़ना है। भोगोंकी प्राप्तिमें बाधा होनेपर बाधकपर क्रोधका होना पित्तका प्रचंड होना है। (यह विषम ज्वर हुआ, मनकी जलन ताप है, विषयासक्ति सिरकी पीडा है और कुछ भी अच्छा न लगना अंग-पीडा है)। —इस विषमज्वरमें सुंदर युवावस्थाकी स्त्रीरूपी शीतलवायु छातीमें आके लगी, इस कुपथ्यको पाकर कामरूपी वात भर गया, विशेष कामासक्तिसे त्रिदोष हो गया। विचारहीन आचरण सन्निपातकी बेहोशी है, कामवार्ता उन्माद है और परस्त्रियोंकी प्राप्तिके लिये इधर-उधर घूमना-फिरना उठ-उठकर भागना है।"—इस प्रकार युवावस्था व्यर्थ बीत गई। ☞इसीको पद २३४ में 'जोवन जुवतिन्ह लियो जीति' कहा है।

सू० शुक्लजी लिखते हैं—"वात, पित्त और कफमेंसे पित्त और कफ पंगु हैं, शरीरमें इनको हिलने-चलनेकी शक्ति नहीं है। वात ही प्रबल है, जिधर चाहती है, इन्हें ले जाती है। इसी तरह काम, क्रोध और लोभमें कामदेव मुख्य है, क्योंकि क्रोध और लोभ इसीसे होते हैं; इसीलिये इस पदमें केवल कामरूपी वातको त्रिदोष माना है। युवावस्थामें जब यह विगड़ता है, तो स्त्रीरूप कुपथ्यका सेवन करके लोभ और क्रोधको इधर-उधर दौड़ाता विषयोंके लिये व्यापारमें फँस युवावस्थाको व्यर्थ खो देता है।"

टिप्पणी—३ (क) 'मध्य बयस धन हेतु…' इति। वैजनाथजी लिखते हैं कि ज्वर उतरनेपर भी कफ बढ़ा रहता है, इसी तरह यौवनरूपी ज्वरके जानेपर लोभ बढ़ा ही रहता है।" इसीसे खेती-किसानी वाणिज्य-व्यापार आदि अनेक उपाय धन बटोरनेके करते

हुए यह अवस्था भी बीत गई। 'मध्य वयस'—शब्दार्थमें देखिए। शरीरकी नौ अवस्थाएँ कही गई हैं—गर्भाधान (गर्भमें प्रवेश), गर्भ-वृद्धि, जन्म, बाल्यावस्था, कुमार अवस्था, युवावस्था, मध्य वयस (अधेड़ अवस्था, अवस्थाका मध्य), बुढ़ापा और मृत्यु।—'निषेकगर्भजन्मानि बाल्यकौमारयौवनम्। वयोमध्यं जरा मृत्युरित्यवस्थास्तनोर्नव। भा० ११।२२।४६।' वि०पु० में भी मध्यंअवस्थाका उल्लेख आया है; यथा 'जातमात्रश्च म्रियते बालभावेऽथ यौवने। मध्यम वा वयः प्राप्य वार्द्धके वाथ वा मृतिः।६।५।५२।' (जो उत्पन्न हुआ है वह जन्मते ही, बाल्यावस्थामें, युवावस्थामें, मध्यम अवस्थामें अथवा जराग्रस्त होनेपर अवश्य मर जाता है।

३(ख) 'राम विमुख सुख लह्यो न···' इति। 'रामविमुख' कहकर जनाया कि ऊपर जो कुछ कहा यह सब 'रामविमुखता' है। रामभजन न करके इतनी अवस्था खेलने, खाने, भोगविलास, स्त्रीप्रसंग आदिमें खो दी। रामजीका भजन न करनेसे धन आदिका संग्रह करनेमें परिश्रम ही परिश्रम हुआ, कभी भी सुख न मिला। सदा त्रितापसे जलता रहा। यथा 'रोग वियोग सोक श्रम संकुल बडि वय वृथा अतीति।२३४।', 'हरिपद विमुख काहू न लह्यो सुख सठ यह समुझु सवेरो।८७।' (पद ८७ में विमुखको सुख न मिलनेपर रवि, शशि और गंगा तीन समर्थोंके उदाहरण दिये हैं कि हरिसे बिछुड़नेपर इन्हें दिनरात भ्रमते, बहते ही बीतता है), 'जतन अनेक किये सुख कारन हरिपद बिमुख सदा दुख पायो। अब थाक्यो जलहीन नाव ज्यों देखत बिपति जाल जग छायो।२४३।' (बैजनाथजी 'सुख लह्यो न सपनेहु' का भाव यह लिखते हैं कि सोते हैं तो समझते हैं कि सोतेमें सुखकी नींद सोयेंगे, सो भी नहीं होता। सोतेमें स्वप्नमें अपनेको शत्रु, व्याघ्र, सर्प, पिशाचादिसे घिरा देखता हूँ)।

टिप्पणी—४ 'सेये नहिं सीतापति सेवक···' इति। (क) भाव कि सुरदुर्लभ नरतन पाकर श्रीसीतापति सगुण भगवान् रामके सेवकोंकी सेवा प्रेमपूर्वक करनी चाहिए थी, उनकी सेवासे वे रामचरित सुनाते जिससे मोह-का नाश हो जाता और फिर श्रीरामपदमें प्रेम होता यथा 'प्रथम भगति संतन्ह कर संगा। दूसरि रति मम कथा प्रसंगा।७।३५।', 'बिनु सतसंग न हरिकथा तेहि

विनु मोह न भाग। मोह गए बिनु रामपद होइ न दृढ़ अनुराग। ७।६१।', 'शुश्रूषोः श्रद्धधानस्य वासुदेवकथारुचिः। स्यान्महत्सेवया विप्राः पुण्यतीर्थनिषेवणात्। भा० १।२।१६।' अर्थात् सुननेकी इच्छा-वाले श्रद्धालु पुरुषको महापुरुषो की सेवा करने और पुण्यतीर्थमें रहनेसे भगवान् वासुदेवकी कथामें रुचि हो जाती है। महापुरुषों की सेवा मुक्तिका द्वार है—'महत्सेवां द्वारमाहुर्विमुक्तेः। भा० ५।५ २।'

☞'सेये नहि सीतापति सेवक'में भाव यह है कि उनकी सेवा करता तो जन्म सफल हो जाता; क्योंकि श्रीरामजीको सेवक अत्यन्त प्रिय हैं, उसकी सेवासे उनको सुख होता है, वे प्रसन्न होते हैं, सेवा करनेवालेपर अनुकूल रहते हैं। यथा 'रामहि सेवक परम पिआरा॥ मानत सुख सेवक-सेवकाई। २।२१६।', 'सीतापति सेवक सेवकाई। कामधेनु सय सरिस सुहाई। २।२६३।१।', इत्यादि। सेवककी सेवाका महत्व ४० (४ ग) में दिखाया गया है। और भाव आगे टि० ४ ग में देखिए।

[४ (ख) 'सेवक साधु सुमति···'के लोगोंने भिन्न-भिन्न अर्थ किये हैं।–(१) सीतापतिके सेवक जो साधु हैं उनकी सेवा सुन्दर बुद्धि और अच्छे भक्ति-भावसे न की। (पं० रा० कु०)। (२) सुंदर बुद्धिवाले साधु (अर्थात् जो साधु सदा श्रवण, कीर्तन, स्मरण, सेवन, अर्चन और वन्दन आदि साधनोंमें बराबर लगे रहते हैं) जो सीता-पतिके सेवक हैं उनकी सेवा भली प्रकार भक्तिभावसे (अर्थात् उनको 'भक्त भक्ति भगवंत गुरु चतुर नाम वपु एक' ऐसा समझकर प्रेम-पूर्वक सेवक भावसे) नहीं की। (वै०)। (३) सीतापतिके सेवकों (भक्तों) एवं शुद्ध बुद्धिवाले (वा ज्ञानी) सन्तोंकी सेवा··। (पां०, वि० टी०, भ०)।—इस अर्थमें भाव यह है कि जो भी श्रीरामोपासक गृहस्थ वा विरक्त भक्त हों उनकी सेवा करनेसे कभी शुद्ध बुद्धिवाले सन्त भी मिल जाते हैं तो उनकी प्रेमपूर्वक सेवाका अवसर मिलनेसे उनके संगसे मोह दूर होकर रामपदमें प्रेम हो जाता; सो मैंने किया ही नहीं। (४) 'श्रीरामके भक्त, साधुओं और ज्ञानियोंकी सेवा··।' (दी०)]

४ (ग) 'सुने न पुलकि तन कहे न मुदित मन ··' इति। श्रीरामजीके चरित सुनने एवं कहनेमें अर्थात् श्रवण और कीर्तन

दोनोंमें आनन्दित होना चाहिए, यह उत्तम श्रोता-वक्ताकी रीति बताई। चरित-श्रवण किस प्रकार होना चाहिए यह कविने अन्यत्र बताया है। यथा—

हृदय सो कुलिस समान, जो न द्रवहि हरिगुन सुनत।
कर न रामगुन गान, जीह सो दादुर जीह सम॥ दो० ४३।
स्रवै न सलिल सनेह, तुलसी सुनि रघुबीर जस।
ते नैना जनि देहु, राम करहु बरु आँधरो॥ दो० ४४।
रहै न जल भरि पूरि, राम सुजस सुनि रावरो।
तिन्ह आँखिन्हमें धूरि, भरि-भरि मूठी मेलिए। दो० ४५॥

'कुलिस कठोर निठुर सोइ छाती।
सुनि हरि चरित न जो हरषाती॥ १।११३।७।',
'कहत सुनत हरषहि पुलकाहीं।
ते सुकृती मन मुदित नहाहीं। १।४१।६।'

पुनः 'सुने न ··' का भाव कि श्रीरघुनाथजीके गुणोंके श्रवण-कीर्तनसे प्रेम होता है, यथा 'कहे न सुने गुनगन रघुबरके भइ न रामपद प्रीति। २३४।'

पुन· 'सीतापति सेवक साधु की सेवा न की, न गुण सुने' इत्यादि कहकर जनाया कि मैं निज अभिमान मोह ईर्ष्यावश उनका आदर न करता था। यथा 'राग रोप इरिषा बिमोह बस रुची न साधु समीति। कहे न सुने···। २३४।', 'निज अभिमान मोह इरिषा बस तिन्हहि न आदरिये। १८६।'

[बैजनाथजीका मत है कि 'सेये नहिं सीतापति सेवक०' यह युवावस्थाके योग्य काम था, सो न किया। और 'सुने न पुलकि तन०' यह मध्य वयसमें उचित था, क्योंकि तब मन और तन दोनों कुछ स्थिर होते हैं; सो यह भी न किया।]

४ (घ) 'रघुबंस राय'का भाव कि प्रायः सभी रघुवंशी उदार, शरणपाल, प्रणतपाल, ब्रह्मण्य, शूरवीर आदि दिव्य-गुण-विशिष्ट हुये हैं। रघु, हरिश्चन्द्र, दिलीप, आदि सभीके चरित्र सुनने-कहने योग्य हैं और श्रीरामजी तो इन सबोंके सिरमौर हैं, इनके जन्म कर्म चरितसे तो रघुवंश परम धन्य हो गया। ये समस्त रघुवंशियोंसे श्रेष्ठ हैं; यथा 'इक्ष्वाकुभ्योऽपि सर्वेभ्यो ह्यतिरिक्तो विशाम्पते। वाल्मी० २।२।२८।'

टिप्पणी—५ 'अब सोचत मनि बिनु भुअंग ज्यों··' इति। (क) इस पदमें 'लरिकाई बीती' से लेकर 'तयो तिहुँ ताप' तक क्या किया सो कहा और फिर 'सेये नहि सीतापति' से लेकर 'रघुबंशराय' तक क्या करना चाहिए था जो नहीं किया, यह बताया। अब न करने योग्य कर्मके करने और करने योग्यके न करनेका क्या परिणाम हुआ, यह कहते हैं। (ख) 'अब सोचत'—अब अर्थात् वृद्धावस्था प्राप्त होनेपर। वृद्धावस्थामें सब अंग दलित हो जाते हैं; यथा 'देखत ही आई बिरुधाई।···सो प्रगट तन जर्जर जरावस व्याधि सूल सतावई। सिर कंप इंद्रिय सक्ति प्रतिहत बचन काहु न भावई।' और सभी निरादर करने लगते हैं, यथा 'गृहपालहू तें अति निरादर खान-पान न पावई।१३६ (८)।' ऐसी दशामें जो व्याकुलता होती है उसको मणिहीन सर्पकी व्याकुलतासे उपमित किया है। मणि छिन जानेपर वह छटपटाता है और मरणप्राय हो जाता है। यथा 'मनि लियें फनि जियें व्याकुल बिहाल रे। ६७।'

५ (ख) 'सिर धुनि-धुनि पछितात··' इति। नरतन पाकर परलोक न बना लेनेवालेकी यही दशा होती है। यथा 'साधनधाम मोच्छ कर द्वारा। पाइ न जेहि परलोक सँवारा॥ सो परत्र दुख पावइ सिर धुनि-धुनि पछिताइ। कालहि कर्महि ईश्वरहि मिथ्या दोष लगाइ। ७।४३।' सिर पीटना और हाथ मलना यह पश्चात्ताप करनेका एक स्वाभाविक ढंग है, पछताते हुए प्रायः लोग ऐसा करते हैं। दोनों कर्मोंसे अपने भाग्यको दोष देते हैं कि हमारे इस भाग्यका बुरा हो जिसने यह फल दिया, हाथ मलते हैं कि हाय! अवसर चूक गया, अब क्या करें!

[वैजनाथजी लिखते हैं कि हाथोंको मलते हैं कि इन हाथोंसे मैंने भगवदर्चनादि न किये और सिर पीटते हैं कि इससे भगवान्‌को प्रणाम आदि नहीं किये, अब यमलोकमें कौन सहाय होगा!]

५ (ग) 'कोउ न मीत हित दुसह दाय' इति। पछतानेका यह कारण है। इस समय अपनी दशा, अपनी विवशता, अपना निरादर और उधर यमसाँसतिके भयका स्मरण इत्यादि सब सिर धुनने आदिके कारण हे। यही पछतावा उपक्रममें है—'कछु ह्वै न आइ गयो जनम जाय'। यथा 'हृदय दहत पछिताय अनल अब सुनत दुसह भव भीति। २३४।' इस दुःसह अवसरपर कोई मित्र

वा हितैषी सहायक नहीं देख पड़ता। समान शील और तुल्य अवस्थावाला 'मित्र' और उपदेश करके भला करनेवाला 'हित' है। अथवा, हितको मीतका विशेषण मान लें। अन्त समय यमसाँसतिका दृश्य क० ७।५०-५३ में इस प्रकार वर्णित है—

"जबै जमराज रजायस तें मोहि लै चलिहै भट बाँधि नटैया।
तात न मातु न स्वामि सखा सुत बंधु बिसाल बिपत्ति बँटैया॥
साँसति घोर पुकारत आरत कौन सुनै चहुँ ओर डटैया।
एक कृपाल तहाँ तुलसी दसरत्थको नंदनु बंदि कटैया॥क० ७ ५१।"
"जहाँ जमजातना घोर नदी भट कोटि जलच्चर दंत टेवैया।
जहँ धार भयंकर वार न पार न बोहित नाव न नीक खेवैया॥
तुलसी जहँ मातु पिता न सखा नहिं कोउ कहूँ अवलंब देवैया।
तहाँ बिनु कारन राम कृपाल बिसाल भुजा गहि काढि लेवैया॥५२।"

पुनः, 'कोउ न मीत हित०'का भाव कि मैंने बहुत मित्र और हितू बनाये थे, पर वे स्वार्थके साथी निकले, दुःखमें कोई पास नहीं फटकता। अब पछताता हूँ कि मैं अब समझा कि श्रीरघुनाथजी ही सच्चे मित्र हैं, सो मैं उनसे सदा विमुख रहा। यथा—'स्वारथ हित भूतल भरे मन मेचक तन सेत॥ करि बीत्यो, अब करतु हैं, करिबे हित मीत अपार। कबहुँ न कोउ रघुबीर सों नेह निबाहनिहार॥१९०।', 'सुहृद-समाज दगाबाजिहिको सौदासूतु, जब जाको काज तब मिलै पाँय परि सो।२६४।' पुनः भाव कि धर्म, विवेक, सत्य, श्रीरामजीका नाम तथा उनका भरोसा आदि विपत्तिकालके मित्र हैं, यथा 'तुलसी असमयके सखा धीरज धरम विवेक। साहित साहस सत्यव्रत राम-भरोसा एक। दो० ४४७।', 'तुलसी रामनाम सम मित्र न आन।' बरवै ६७,—सो मैंने इनको न अपनाया। अतएव अब पछताना ही हाथ लग रहा है।

टिप्पणी—६ 'जिन्ह लगि निज परलोक···' इति। (क) यह दशा तो नित्य घर-घर देखनेमें आती है कि शरीर शिथिल पड़ जानेपर तथा रोगग्रस्त हो जानेपर तो पुत्र आदि यह चाहते हैं कि किसी प्रकार यह मरे, उसके मल-मूत्र करनेपर उसकी सफाई करना-कराना तो दूर रहा, उसके पास भी नहीं जाते। यदि उसके पास धन हुआ तो उसे भी हड़प लेते हैं, उसकी सेवा नहीं करते। श्रीमद्भागवतमें श्रीकपिलदेवजी-ने भी कहा है कि स्त्री-पुत्रादि अपने पालन-पोषणमें असमर्थ देखकर

उसका अब पूर्वका-सा आदर नहीं करते, जैसे किसान बूढ़े बैलका। (भा० ३।३०।१३)।

आगे विनयमें भी कहा है—'ज्यों मुख मुकुर बिलोकिये अरु चित न रहै अनुहारि। त्यों सेवतहुँ निरापने मातु पिता सुत नारि॥ दै दै सुमन तिल बासिकै अरु खरि परिहरि रस लेत। स्वारथहित भूतल भरे मन मेचक तन सेत। १९०।', 'अवनि रवनि धन धाम, को न इन्हहि अपनायो। काके भये गये संग काके, सब सनेह छल छायो। २००।', 'जातें निरय निकाय निरंतर सो इन्ह तोहि सिखायो।१९९।' (अर्थात् इनके बहकानेमें आकर मैंने परलोक बिगाड़ा)।

६ (ख) 'तुलसी अजहुँ सुमिरु···' भाव कि अब भी कुछ गया नहीं, अब भी बिगड़ी सुधर सकती है। पलभरमें सुधर जायगी, जैसे गजेन्द्रकी सुधर गई। यथा 'अजहुँ जानि जिय मानि हारि हिय होइ पलक महँ नीको। सुमिरु सनेह सहित हित रामहिं मानु मतो तुलसीको।१६४।', 'बिगरी जनम अनेककी सुधरै अबहीं आजु। होहि रामको, राम जपु, तुलसी तजि कुसमाज। दो० २२।'—यह आश्वासन है। अतएव यह पद सप्त भूमिकाओंमेंसे आश्वासन-भूमिका का है।

६ (ग) गजेन्द्रकी कथा।—त्रिकूटाचल पर्वतकी एक गुफामें भगवान् वरुणका ऋतुमत नामक उद्यान है जिसके चारों ओर वृक्षोंके झुण्ड शोभा दे रहे थे। वहीं एक बड़ा विशाल सरोवर था। उस पर्वतके घोर वनमें बहुत हथिनियोंके सहित एक गजेन्द्र निवास करता था जो बड़े-बड़े शक्तिशाली हाथियोंका सरदार था। एक दिन वह अपनी हथिनियोंके साथ वनको रौंदता हुआ उसी पर्वतपर विचर रहा था। मदके कारण उसके नेत्र विह्वल हो रहे थे। बहुत कड़ी धूपके कारण वह व्याकुल हो गया। वह साथियों सहित प्याससे संतप्त होकर जलकी खोजमें फिर रहा था कि उसे दूर हीसे कमलके परागसे सुवासित वायुकी सुगन्ध मिली, जिसके सहारे वह उसी सरोवरपर पहुँचा, और स्नान कर श्रम मिटा प्यास बुझाई। फिर उसमें गृहस्थोंकी भाँति क्रीड़ा करने लगा। जिस समय वह इतना उन्मत्त हो रहा था उसी समय एक बलवान् ग्राहने क्रोधमें भरकर उसका पैर पकड़ लिया। हाथी और हथिनियोंने शक्तिभर सहायता की, पर वे गजेन्द्रको बाहर निकालनेमें असमर्थ ही रहे। गजेन्द्र और ग्राह अपनी-अपनी पूरी शक्ति लगाकर

भिडे हुए थे, कभी गजेन्द्र ग्राहको बाहर खींच लाता तो कभी ग्राह गजेन्द्रको भीतर खीच ले जाता। इस प्रकार एक हजार वर्ष बीत गए। अन्तमें गजेन्द्रका उत्साह, बल तथा शक्ति क्षीण हो गई और ग्राहका बल, उत्साह, शक्ति बढ़ गई। गजेन्द्रके प्राण संकटमें पड़ गए, वह अपनेको छुड़ानेमें सर्वथा असमर्थ हो गया। बहुत देरतक अपने छुटकारेके उपायपर विचार करता हुआ वह इस निर्णयपर पहुँचा— 'जब मेरे बराबरवाले हाथी भी मुझे न छुड़ा सके तब ये बेचारी हथिनियाँ कब छुड़ा सकती हैं। ग्राहका मुझे ग्रस लेना विधाताकी फाँसी है। अतएव अब मैं सम्पूर्ण विश्वके एकमात्र आश्रय परब्रह्मकी शरण लेता हूँ, जो प्रचण्ड कालरूपी सर्पसे भयभीत की रक्षा करता है तथा मृत्यु भी जिसके भयसे दौड़ता रहता है।—(भा० ८।२) यथा—

"इत्थं गजेन्द्रः स यदाऽऽप सङ्कटं प्राणस्य देही विवशो यदृच्छया।
अपारयन्नात्मविमोक्षणे चिरं दध्याविमां बुद्धिमथाभ्यपद्यत ॥३१॥
न मामिमे ज्ञातय आतुरं गजाः कुतः करिण्यः प्रभवन्ति मोचितुम्।
ग्राहेण पाशेन विधातुरावृतोऽप्यहं च तं यामि परं परायणम् ॥३२॥
यः कश्चनेशो बलिनोऽन्तकोरगात्प्रचण्डवेगादभिधावतो भृशम्।
भीतं प्रपन्नं परिपाति यद्भयान्मृत्युः प्रधावत्यरणं तमीमहि ॥३३॥"

ऐसा निश्चय कर वह पूर्व जन्ममें सीखे हुए श्रेष्ठ स्तोत्रके द्वारा स्तुति करने लगा। गजेन्द्रने किसी देव-विशेषका नाम न लेकर स्तुति की। इसलिये भिन्न-भिन्न नाम और रूपको अपना स्वरूप माननेवाले ब्रह्मादि देवता उसकी रक्षा करने न आये। सर्वदेवस्वरूप, सर्वात्मा भगवान् स्वयं ही वहाँ छुड़ानेको प्रकट हो गए। (भा०८।३।३०)। भगवान् शीघ्रतापूर्वक गरुड़पर चढ़के चल दिये। भगवान्को चक्र लिये आते देख, उसने सूँड़मे एक सुंदर कमलका पुष्प लेकर (जो उस सरोवरमे खिले हुए थे) सूँड़को ऊपर उठाकर बड़े कष्टके साथ पुकारकर कहा—'नारायण! जगद्गुरो! भगवन्! आपको मेरा नमस्कार है।— "सोऽन्तः सरस्युरुबलेन गृहीत आर्तो दृष्ट्वा गरुत्मति हरिं ख उपात्तचक्रम्। उत्क्षिप्य साम्बुजकरं गिरमाह कृच्छ्रान्नारायणाखिलगुरो भगवन्नमस्ते ।भा०८।३।३२।"

पुकारतेके साथ भगवान् गरुड़को छोड़ तत्काल वहाँ पहुँचे और दोनोंको सरोवरसे निकाल ग्राहका मुँह चक्रसे फाड़कर गजको छुड़ा

दिया। भगवान्का स्पर्श होते ही गजेन्द्रके अज्ञानबंधन कट गए और वह भगवान्का-सा चतुर्भुजरूप हो गया, अर्थात् उसे सारूप्य मुक्ति प्राप्त हुई। भगवान् उसे अपना पार्षद बनाकर अपने साथ ही ले गये। ग्राह देवल ऋषिके शापसे मुक्त हो हूहू-नामक गंधर्व बन गया। (भा०८।४।६,१३,३)।

गजेन्द्रके पूर्व जन्मकी कथा इस प्रकार है—
गजेन्द्र पाण्ड्य देशका राजा था, उसका नाम इन्द्रद्युम्न था, वह भगवान्‌के व्रत करनेमें तत्पर रहता था। एकबार मलयाचलपर आश्रम बनाकर जटा धारण कर स्थिर चित्तसे तप करते हुए स्नान करके मौन धारण किये हुए प्रभुका पूजन कर रहा था। दैवयोगसे महर्षि अगस्त्य शिष्यों सहित वहाँ आ पहुँचे। उसने उठकर मुनिका पूजन-सत्कार नहीं किया, एकान्तमें मौन ही बैठा रहा। इसपर ब्राह्मणापमान समझ ऋषिने शाप दे दिया कि यह हाथीकी तरह स्तब्ध रहता है, अतः हाथी हो जाय।—'विप्रावमन्ता विशतां तमोऽन्धं यथा गजः स्तब्धमतिः स एव।भा०८।४।१०।' इन्द्रद्युम्न गजेन्द्र हुआ, परन्तु भगवान्की सेवाके प्रभावसे गजयोनिमें भी उसे भगवान्का स्मरण बना रहा।

नोट—२ लाला भगवानदीनजीने 'तय्यो गयंद जाके अर्द्ध नायँ' पाठ दिया है और लिखा है कि "किसी-किसी प्रतिमें 'तय्यो गयंद जाके एक नायँ' पाठ भी मिला है। पर हमें वही पाठ अच्छा लगता है, क्योंकि अनेक कवियोंने यह भाव वर्णन किया है—'रकार वारि मध्यमें मकार पार पै कढ़ी'। हाथीने 'रा' का उच्चारणमात्र कर पाया था कि उसका उद्धार हो गया—भाव यह कि आधे नाममें मुक्तिदायक गुण है, तो पूरा नाम कैसा होगा, सो सहज ही समझा जा सकता है।" श्रीकान्त शरणजीने भी यह पाठ रक्खा है।

किस पोथीमें 'अर्द्धनायँ' पाठ है, यह उन्होंने नहीं लिखा है और इस दीनको यह पाठ कहीं और देखनेमे नहीं आया। इसलिये उसके अर्थपर लिखनेका कोई प्रयोजन नहीं समझ पड़ता।

श्रीसीतारामचन्द्रार्पणमस्तु

८४ (राग जयति श्री—भा०)

तौ[1] तू पछितैहै[2] मन मीजि हाथ ।
भयेहै सुगम तोकों अमर अगम तन,समुझि[3] धौं कत खोवत अकाथ ।१।
सुख साधन हरि विमुख वृथा जैसे श्रम फल घृत हित मथें पाथ ।
यह विचारि तजि कुपथ कुसंगति चलि[4] सुपंथ मिलि[5] भले साथ।२।
देखु रामसेवक सुनि[6] कीरति रटहि नाम करि गान गाथ ।
हृदय आनु धनुबानपानि प्रभु लसे मुनिपट कटि कसे भाथ ।३।
तुलसिदास परिहरि प्रपंच सब नाउ रामपद कमल माथ ।
जनि डरपहि तोसे अनेक खल अपनाये * जानकीनाथ ।।४।।

शब्दार्थ—मीजि = मलकर; यथा 'सिर धुनि-धुनि पछिताति मीजि कर ।८३।' सुगम = सुलभ, सहज वा आसानीसे प्राप्त। अमर = देवता । धो (धौं)—यह शब्द विधि, आदेश, आदि वाक्योंके पहले केवल जोर देनेके लिए उसी प्रकार आता है जिस प्रकार 'सोचिये तो', 'कर तो', 'समझ तो' आदि वाक्योंमें 'तो'। यथा 'जिमि भानु बिनु दिन, प्रान बिनु तनु चंद बिनु जिमि जामिनी। तिमि अवध तुलसीदास प्रभु बिनु समुझि धौं जिय भामिनी ।।२।५०।' कत (अव्यय है। सं० कुतः, कुतो)=क्यों; किस लिए। यथा 'कत सिख देइ हमहि कोउ माई। गाल करब केहिकर बल पाई ।२।१४।१।' अकाथ (अकृतार्थ) = अकारथ; व्यर्थ; बिना कृतार्थ किये हुए। श्रम = परिश्रम, थकावट। हित = लिये। मथे = मथनेसे। कुपथ = कुमार्ग। गाथ (गाथा)= कथा। = एक प्रकारकी ऐतिहासिक रचना जिसमें लोगोंके दान और यज्ञ आदिका वर्णन होता था। तुलसीदासने प्रायः 'कथा' अर्थमें इसका प्रयोग किया है। यथा 'नाम उधारे

१ तौ—७४ मे तथा मु० मे नही है। २ है—रा०, ह०, ५१, ज०, वै०, दु०, भ०, वि०। भा०, वे०, मु०, १५, ७४, दी० मे नही है। ३ समुझि—प्रायः सबमे। समुझ (न वयो)—७४।४ चलि—रा०, ह०, ५१, वै०, वि०, पो०, मु०। चलु—भा०, वे०, ज०, प्र०, दी०, ७४, भ०। ५ मिलि—रा०, ५१, श्रा०, ज०, १५। भिलु-भा०, वे०, ह०, ७४, भ०। ६ सुनि—रा०, ह०, ५१, दु०, वै०, मु०, वि०, पो०। सुनु—भा०, वे०, ज०, ७४, दी०। अपनाये हैं—रा०। अपनायउ—७४। अपनाये—भा० वे०, ह०, ५१, श्रा०, भ०।

अमित खल वेद विदित गुन गाथ । १ । २४ ।', 'कहौं राम गुन-गाथ भरद्वाज सादर सुनहु । १ । १२४ ।', 'देहि असीस जोहारि सब गावहि गुनगन-गाथ । १ । ३५१ ।' इत्यादि । आनना = ले आना; यथा 'आनहिं नृप दसरथहि बोलाई । १ । २८७ । १ ।', 'वेगि कुँअरि अब आनहु जाई । १ । ३२२ । २ ।', 'एक कलस भरि आनहि पानी । २।११५।१', 'निज अज्ञान राम पर आना ।१।५४।१।', 'कुल कलंक तेहि पाँवर आना । १ । २८४ । ३ ।' इत्यादि । धनु = धनुष । पानि (पाणि) = हाथ । लसे (लसना = शोभित होना) = सजे वा धारण किये हुए । मुनिपट = वल्कलवस्त्र । पट = वस्त्र । भाथ = तरकश । प्रपंच = माया - जाल, सांसारिक व्यवहारोंका विस्तार; आडंबर । नाउ (नाना = नमन करना, झुकाना) = झुका । माथ नाना = प्रणाम करना । माथ (माथा)=मस्तक, सिर । जनि=मत; नहीं । डरपना=डरना, भयभीत होना । यथा 'एकहि डर डरपत मन मोरा । प्रभु महिदेवश्राप अति घोरा ।१।१६६।' अपनाना = ग्रहण करना; शरणमें लेना; अपना बना लेना । यथा 'तुम्ह अपनायो तब जानिहौं जब मनु फिर परिहै । २६८।'

पद्यार्थ—तो (अर्थात् यदि तू मेरा उपदेश नहीं मानता, श्रीरघुनाथ-जीका भजन स्मरण नहीं करता तो) हे मन ! तू हाथ मल-मलकर पछतावेगा । देवताओंको भी दुर्लभ (मनुष्य-) शरीर तुझे सहज ही प्राप्त हो गया, भला समझ-विचार तो ! तू उसे क्यों व्यर्थ गँवा रहा है ? ।१। दुःखोंके हरनेवाले भगवान्‌से विमुख सुख (प्राप्ति) के साधन वैसेही व्यर्थ हैं जैसे घीके लिये पानीको मथनेका फल परिश्रम मात्र है (अर्थात् व्यर्थ है । उससे घी नहीं मिलता, उलटे श्रम होता है) । यह विचारकर कुमार्ग और कुसंगको छोड़कर सुमार्गपर चल और भलोंके साथ जा मिल । अर्थात् भले लोगों-का संग कर ।२। रामभक्तोंका दर्शन कर, (श्रीरामजी और उनके सेवकोंकी) कीर्ति सुन, नामकी रट लगा दे, कथा-कीर्तन कर और हाथोंमें धनुष-बाण धारण किये हुए, मुनियोंके-से वल्कल वस्त्र सजे तथा कमरमें तरकश कसे शोभित प्रभु श्रीरघुनाथजीको हृदय-में ले आ (अर्थात् हृदयमें धारण कर, बसा ले, यह ध्यान किया कर) । ३ । तुलसीदासजी कहते हैं कि सब मायाजाल छोड़कर श्रीरामजीके चरणकमलोंमें माथा नवा, डर मत (कि मैं तो महा

अधम हूँ, बड़ा खल हूँ, सदा उनसे विमुख रहा हूँ), श्रीजानकीपति रामचन्द्रजीने तुझ ऐसे अनेक खलोंको अपना लिया है ।४।

टिप्पणी—१ (क) 'मीजि हाथ', 'अमर अगम तन' और 'पछितैहै मीजि हाथ' पर पद ८३ टि० ५ (ख) और टि० १ (ग) में देखिए । 'भयो है सुगम' अर्थात् बिना किसी पुरुषार्थ एवं परिश्रमके मिला, प्रभुने करुणा करके तुझे अपनेसे ही दे दिया । (ख) 'समुझि धौं कत खोवत...'—भाव कि विचार करेगा तो तुझे स्वयं समझमें आ जायगा कि तू इसे व्यर्थ खो रहा है । 'व्यर्थ क्यों खोता है'—भाव कि यह विषय भोगोंमें बितानेकी चीज़ नहीं है, विषयभोगमें आयु बिताना नर-तनका व्यर्थ खोना है । यथा 'एहि तन कर फल बिषय न भाई । स्वर्गउ स्वल्प अंत दुखदाई ॥ नर तन पाइ बिषय मन देहीं । पलटि सुधा ते सठ बिष लेहीं ॥ ताहि कबहुँ भल कहइ न कोई । गुंजा ग्रहइ परसमनि खोई ।७।४४।१-३', 'ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते । आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः । गीता ५।२२।' (अर्थात् विषय और इन्द्रियोंके संसर्गसे होनेवाले जो भोग हैं, वे दुःखकी योनियाँ हैं—भविष्यमें दैहिक दैविक भौतिक दुःखोंको उत्पन्न करनेवाले हैं, और आदि-अन्तवाले हैं, अल्प काल तक ही ठहरते हैं । अतएव उन भोगोंके यथार्थ स्वरूपको जाननेवाले पुरुष उनमें नहीं रमते) ।—भाव कि तू भी यदि समझ ले, तो उनमें आयु न बितावेगा । भा० १।२।१० 'जीवस्य तत्त्वजिज्ञासा नार्थो यश्चेह कर्मभिः ।' में भी यही कहा है कि जीवनका लाभ तत्वजिज्ञासा (भगवत्तत्वके जाननेको शुद्ध इच्छा) ही है, अनेक प्रकारके कर्मोंद्वारा प्राप्त होनेवाले सांसारिक सुख इसके वास्तविक प्रयोजन नहीं हैं । संपूर्ण कर्म मनुष्यके जन्म-मरणरूप संसारके कारण हैं—'एवं नृणां क्रियायोगाः सर्वे संसृतिहेतव ।भा० १।५।३४'; अतः इनमें मन लगाना नरतनको व्यर्थ खोना है ।

२ (क) 'सुख साधन हरि बिमुख ' इति । रामविमुखके जितने भी सुख-साधन होते हैं, वे सब व्यर्थ हैं; यथा 'सो सुख करम धरम जरि जाऊ । जहँ न राम-पद-पंकज भाऊ ॥ जोग कुजोग ज्ञान अज्ञानू । जहँ नहि राम-पेम परधानू । २।२९१।' उनसे सुख नहीं मिल सकता, यथा 'कमठ पीठ जामहि बरु बारा । बंध्या सुत बरु काहुहि मारा ॥ फूलहि नभ बरु बहु बिधि फूला । जीव न लह सुख हरि प्रतिकूला ॥ तृषा

जाइ बरु मृगजल पाना। बरु जामहि सस सीस बिषाना॥ अंधकारु बरु रबिहि नसावै। राम बिमुख न जीव सुख पावै॥ हिम ते अनल प्रगट बरु होई। बिमुख राम सुख पाव न कोई ॥७।१२२।१५-१६।' (ख)—'जैसे श्रम फल घृत हित मथे पाथ।'—भुशुण्डीजीका भी यही सिद्धान्त है; यथा "बारि मथे घृत होइ बरु सिकता ते बरु तेल। बिनु हरिभजन न भव तरिअ यह सिद्धांत अपेल।७।१२२।' पानीको मथते-मथते हाथ में फफोले पड़ जायँ, पर घी उसमें है ही नहीं तब निकलेगा कहाँसे? इसी प्रकार विषयोंमें सुख है ही नही तब किसी भी साधनसे सुख कैसे मिल सकता है, वे तो दुःख उत्पन्न करनेवाले हैं। यथा 'विषय-वारि मन मीन भिन्न नहि होत कबहुँ पल एक। ताते सहिय विपति अति दारुन जनमत जोनि अनेक। १०२।' नारदजीने भी व्यासजीसे कहा है कि भगवान्‌का भजन न करनेवालोंको स्वधर्म पालन करनेसे भी कोई लाभ नहीं।—'को वार्थ आप्तोऽभजतां स्वधर्मतः। भा० १।५ १७।'

२ (ग) 'यह बिचारि' अर्थात् हरिभजनके विना जितने भी सुखके साधन हैं वे व्यर्थ हैं, उनसे स्वप्नमें भी सुख नहीं मिल सकता, उनमें लगनेसे जन्म व्यर्थ बीता जा रहा है—यह विचारकर। हरिविमुख करनेवाले जितने भी मार्ग हैं, वे सब 'कुपंथ' हैं और हरिसम्मुख करनेवाले जो साधन हैं वे सब 'सुपंथ' हैं। कामी, क्रोधी, लोभी आदि विषयोंमें रत हरिविमुख, जिस किसीके भी संगसे हरिविमुखता हो वह सब 'कुसंग' है। 'भले'—अर्थात् उत्तम धर्म आचरणवाले सज्जन पुरुष; सन्त-लक्षणयुक्त लोग।

☞ कुसंग किसी भी दशा में अच्छा नहीं है। धर्मपर दृष्टि रखनेवाले सत्पुरुषोंके संसर्गमे रहना सदा ही श्रेष्ठ है। इसीसे कुसंग-का त्याग और सत्पुरुषोंका संग करनेको कहा गया। श्वेत वस्त्रको जैसे रंगमें रँगा जाता है वह वैसा ही रूप धारण कर लेता है। उसी प्रकार जैसा संग किया जाता है वैसा ही रंग अपने ऊपर चढ़ता है। यदि कोई सज्जन, असज्जन, तपस्वी अथवा चोरका सेवन करता है तो वह उन्हीं-जैसा हो जाता है, उस पर उन्हींका रंग चढ़ता है। जैसे सूर्यका सामीप्य प्राप्त होनेसे उदयाचल पर्वतकी प्रत्येक वस्तु चमक उठती है, उसी प्रकार साधु पुरुषोंके निकट रहनेसे नीच वर्णका मनुष्य भी सद्‌गुणोंसे सुशोभित होने लगता है। (परा-

शर गीता)। श्रीवशिष्ठजीने भी कहा है कि "जीवात्मा दूसरेसे मिलकर उसीका समानवर्ती हो जाता है। वह शुद्ध पुरुषके संगसे विशुद्ध धर्मवाला, ज्ञानीके संगसे ज्ञानवान्, मोक्षधर्मसे युक्त पुरुषके संगसे मोक्ष-प्राप्त-योग्य, निर्मल अन्तःकरणवालेके संगसे निर्मलात्मा और अमित तेजस्वी हो जाता है।" (म० भा० शां० ३०८। २६-२९)। अतः कहते हैं—'तजि कुसंगति'''मिलि भले साथ।'

'तजि कुपथ कुसंगति' में प्रातिकूल्यस्यवर्जनम् और 'चलि सुपंथ "मिलि भले साथ' में 'आनुकूलस्य संकल्पः' शरणागति का उपदेश हुआ।

टिप्पणी—३ 'देखु रामसेवक''' इति। (क) ऊपर जो कहा था कि "चलि सुपंथ मिलि भले साथ' उसीकी व्याख्या करते हैं। रामसेवकका दर्शन तथा उनसे कीर्तिश्रवण 'सुपंथ' भी है और 'भलेका साथ' भी। ये रामसेवक वही हैं जिनकी चर्चा पूर्व कर आये हैं।—'सेये नहि सीतापति सेवक सुमति भले भगति भाय। ८६(४)।' सन्तके दर्शनसे पाप दूर होते हैं और नेत्र सफल होते हैं। यथा 'संत दरस जिमि पातक टरई।४।१७।६।', 'जेहि दरस परस समागमादिक पापरासि नसाइए। १३६।'

३ (ख) 'सुनि कीरति'''—हरियशश्रवण, हरिचरितकीर्तन तथा नामकीर्तन ये सभी पापोंका नाश करते और रामचरणानुरागी बना देते हैं। यथा 'कहहिं सुनहि अनुमोदन करहीं। ते गोदप इव भवनिधि तरहीं। ७।१२९।६।', 'जे एहि कथहि सनेह समेता। कहिहहिं सुनिहहिं समुझि सचेता॥ होइहहिं रामचरन अनुरागी। कलिमल रहित सुमंगल भागी॥१।१५।१०।११।', 'नाम लेत भवसिंधु सुखाहीं। १।२५।४।'

इस अन्तरामें जो कहा है, वही सिद्धान्तरूपसे मानसमें कहा गया है। यथा एहि कलिकाल न साधन दूजा। जोग जग्य जप तप व्रत पूजा॥ रामहि सुमिरिय गाइय रामहि। संतत सुनिय राम-गुन-ग्रामहि॥ ७।१३०।५-६।' 'रटहि' से जनाया कि जैसे विद्यार्थी धुन लगाकर घोखते हैं, वैसे ही उच्चस्वरसे रटो। वा, जैसे चातक रट लगाये रहता है। यथा 'चातक रटनि घटें घटि जाई। बढ़े प्रेम सब भाँति भलाई। २।२०५।' 'करि गान गाथ' में हरियशका वाणी द्वारा छन्दोबद्ध करनेका भाव भी है, और दूसरोंके बनाये हुए हरियश-काव्यका गान भी। नाम रटनेसे जिह्वा और गुणगाथ-गानसे वाणी

सफल होगी। क्योंकि यह हरियश वाक्य-विन्यास मनुष्योंके संपूर्ण पापोंका नाश करनेवाला होता है,—'तद्वाग्विसर्गो जनताघ-विप्लवो० । भा० १।५।११।'

कथा श्रवणका फल श्रीसूतजीने 'शृण्वतां स्वकथां कृष्णः पुण्य-श्रवणकीर्तनः । हृद्यन्तःस्थो ह्यभद्राणि विधुनोति सुहृत्सताम् ॥ ''' भगवत्युत्तमश्लोके भक्तिर्भवति नैष्ठिकी ॥ भा० १।२।१७-१८।'— यह कहा है। अर्थात् भगवान् कथा सुननेवालेके हृदयमें विराजमान होकर उसकी अशुभ वासनाओंको नष्ट कर देते हैं। '''तत्पश्चात् भगवान् उत्तमश्लोकमें उसको निश्चल प्रेमभक्ति उत्पन्न होती है।'

☞ स्मरण रहे कि जहाँ भगवान्का गुणगान होता है, भगवान् वहीं रहते हैं—'मद्भक्ता यत्र गायन्ति तत्र तिष्ठामि नारद।' (प० पु० उ० ६४।२३)।

३ (ग) 'हृदय आनु धनु ''' इति। यह ध्यान वनवासी श्रीरामका है। धनुष, बाण और तरकश धारण किये खलोंका नाश करने और भक्तों तथा गोविप्रादिका क्लेश हरनेमें तत्पर रूपका ध्यान बताया; क्योंकि कामादि खलमंडलीका नाश हृदयमें यह रूप सदा करता रहेगा। बाहरके खलोंको भगवान् स्वयं नष्ट करते हैं और उनका ध्यान हृदयके खलोंका नाश करेगा। यथा 'तब लगि हृदय बसत खल नाना। लोभ मोह मत्सर मद माना॥ जब लगि उर न बसत रघुनाथा। धरें चाप सायक कटि भाथा॥ ५।४७।१-२।' बटोही रूपके ध्यानका फल मानस में कहा है। यथा 'अजहुँ जासु उर सपनेहु काऊ। बसहु लषन सिय राम बटाऊ॥ रामधामपथ पाइहि सोई। जो पथ पाव कबहुँ मुनि कोई।२।१२४।'

भगवान्के निरन्तर ध्यानरूप खड्गसे युक्त विवेकी पुरुष कर्म-ग्रन्थिके बंधनको काट डालते हैं, यथा—'यदनुध्यासिना युक्ताः कर्मग्रन्थि निबन्धनम्। छिन्दन्ति कोविदाः '। भा०।१।२।१५।'; अतः ध्यान करनेको भी कहा।

३ (घ) यहाँ तक इन चरणोंमें सन्तदर्शन, कीर्ति-श्रवण, नाम-रटन, गाथ-गान और धनुर्धर रामजीका ध्यान तथा अगले चरण-मे प्रणाम ये कृत्य बताकर इनसे नेत्र, कान, जिह्वा, मुख, हृदय और शिर तथा शरीर-मात्रका साफल्य सूचित किया। यथा—

"जिन्ह हरिकथा सुनी नहि काना। श्रवनरंध्र अहिभवन समाना॥

नयनन्हि संत दरस नहिं देखा। लोचन मोरपंख कर लेखा॥
ते सिर कटु तुंबरि सम तूला। जे न नमत हरि गुरु पद मूला।
जिन्ह हरि भगति हृदय नहिं आनी। जीवत सव समान तेइ प्रानी।
जो नहिं करै राम गुन गाना। जीह सो दादुर जीह समाना।१।११३।"

धनुर्धर श्रीरामको हृदयमें बसाना हरिभक्ति है। प्रणाममें सारा शरीर भी आ जाता है।

॰ भा० २। ३। २०, २१, २२ उपर्युक्त उद्धरणसे मिलता-जुलता है। अन्यत्र भी कहा है। यथा 'सा जिह्वा रघुनाथस्य नामकीर्तनमादरात्। करोति विपरीता या फणिनो रसनासमा। प० पु० पा० १६।३६।' (महर्षि च्यवनजी कहते हैं—जिह्वा वही उत्तम है जो श्रीरघुनाथजीके नामोंका आदरके साथ कीर्तन करती है। जो इसके विपरीत आचरण करती है वह तो साँपकी जीभके समान है)। "न यद्वचश्चित्रपदं हरेर्यशो जगत्पवित्रं प्रगृणीत कर्हिचित्। तद्वायसं तीर्थमुशन्ति०' अर्थात् जिस विचित्र पदविन्यासवाली वाणीसे जगतको पवित्र करनेवाला हरियश किसी अंशमें नहीं गाया गया, वह काकतीर्थ माना जाता है। (भा० १।५।१०)।

श्रीमहात्मा भगवानसहायजीका मत है कि "प्रथम तुकमें 'सुपंथ चलि' से चरणोंका धर्म कह आये। 'हृदय' से मन, बुद्धि और चित्तके कर्म कहे। यद्यपि यहाँ प्रत्यक्ष रूपसे हाथोंका काम नहीं कहा, तथापि 'लसे मुनिपट कटि कसे भाथ' से जान पड़ता है कि 'भगवत्-शृङ्गारकी भावना करनी' हाथोंसे कहा।"

(नोट—येही सब कर्त्तव्य पद २०५ में भी बताये हैं। यथा 'श्रवन कथा, मुख नाम, हृदय हरि, सिर प्रनाम, सेवा कर, अनुसर।' —इस उद्धरणमें 'कर' भी है)।

३ (ङ) क्रमका भाव। सन्तदर्शनसे पातक दूर हुए, उनसे श्रीरामजीकी कथा-कीर्ति सुननेको मिली, नामकी महिमा मालूम हुई। तब नाम-कीर्त्तन तथा कथा-कीर्त्तनमें मन लगेगा। कथामें भगवान्के नख-शिख-वर्णन कहते-सुनते ध्यान हृदयमें बसेगा।

टिप्पणी—४ 'तुलसिदास परिहरि प्रपंच···' इति। (क) 'प्रपंच' की व्याख्या श्रीलक्ष्मणगीतामें इस प्रकार है—'जोग वियोग भोग भल मंदा। हित अनहित मध्यम भ्रमफंदा॥ जनम मरनु जहँ लगि जगजालू। संपति विपति करम अरु कालू॥ धरनि धाम धन पुर परिवारू।

सरग नरक जहँ लगि व्यवहारू ॥ देखिअ सुनिअ गुनिअ मन माहीं। मोहमूल परमारथ नाहीं ॥ सपने होइ भिखारि नृप रंक नाकपति होइ। जागे लाभ न हानि कछु तिमि प्रपंच जिय जोइ।२।६२।' स्त्री, पुत्र, माता-पिता, भाई-बंधु, मित्र, शत्रु, धन, धाम आदि समस्त विषय विलास 'प्रपंच' है। इसको कुसमाज भी कहा है; यथा 'सुत दार अगारु सखा परिवारु विलोकु महाकुसमाजहि रे। क० ७।३०।' इनकी ममताको छोड़कर 'भजु कोसलराजहि रे' ऐसा कहा है। वैसे ही यहाँ प्रपंचको त्यागकर श्रीरामपदकमलमें सिर झुकानेको अर्थात् प्रभुकी शरण होनेको कहा।

मानसमें भी कहा है-'जननी जनक बंधु सुत दारा। तनु धन भवन सुहृद परिवारा ॥ सबकै ममता ताग बटोरी। मम पद मनहिं बाँध बरि डोरी ॥५।४८।४-५।'—इससे भी जननी आदि प्रपंच सिद्ध होते हैं।

वैजनाथजीके मतानुसार 'प्रपंच'=पाँचों तत्व जो प्रकर्ष करके बलवान् हैं। पृथ्वी, जल, अग्नि, आकाश और पवनके सूक्ष्मरूप गंध, रस, रूप, शब्द और स्पर्श हैं जो क्रमशः नाक, जिह्वा, नेत्र, कान और त्वक् इन्द्रियोंके विषय हैं 'जिनमें लगनेसे काम, क्रोध और मोह उत्पन्न होकर जीवका नाश करते हैं।-यह सब 'प्रपंच' है।

४ (ख) 'नाउ राम पद कमल माथ' इति। केवल प्रणाम करनेको कहते हैं। भाव यह कि वे इतनेसे ही प्रसन्न होकर अपना लेते हैं। यह उनकी बान है, विरुद है। यथा 'राउरि रीति सुबानि बड़ाई। जगत बिदित निगमागम गाई ॥ कूर कुटिल खल कुमति कलंकी। नीच निसील निरीस निसंकी ॥ तेउ सुनि सरन सामुहे आए। सकृत प्रनामु किहे अपनाए।२।२६६।', 'त्यों न राम सुकृतज्ञ जे सकुचत सकृत प्रनाम किये हूँ। १७० (५)।', 'आगे परे पाहन कृपा, किरात कोलनी, कपीस निसिचरु अपनाए नाये माथ जू। क० ७।१६।'

४ (ग) 'जनि डरपहि'—यह आश्वासन है। जीवका उत्साह शरण जानेमें बढ़ाते हैं। 'अनेक खल अपनाये जानकीनाथ', यथा 'गज पिंगला अजामिल से खल गने धौं कवन। तुलसिदास प्रभु केहि न दीन्हि गति जानकीरवन।२१२।', 'दुखित देखि संतन्ह कह्यो, सोचै जिनि मन माहूँ। तोसे पसु पाँवर पातकी, परिहरे न सरन गये रघुबर ओर निबाहूँ ॥२७५॥'—इस उद्धरणमें 'तोसे अनेक खल' की

जगह 'तोसें पसु पावँर पातकी' और 'अपनाये' की जगह 'परिहरे न सरन गये' तथा 'रघुबर ओर निबाहूँ' है, यही यहाँ के 'खल' और 'अपनाये' का अर्थ वा व्याख्या है। यहाँ इतनेसे ही प्रयोजन है। 'जानकीनाथ' 'जानकीपति' 'जानकीश' के भाव पूर्व आ चुके हैं। ५१ (१ क), ७५ (१ क), ४३ (२ घ, ङ) देखिए।

४ (घ) यहाँ मनको आश्वासन दिया है। आगे विशेषतः पद २५३, २६७, २६८, २७२, २७३ में प्रभुसे अपनानेकी प्रार्थना की है।

४ (ङ) इन चरणोंके 'परिहरि प्रपंच' में 'प्रातिकूलस्य वर्जनं' और 'नाउ रामपद माथ...' में गोप्तृत्व वरणं' तथा 'रक्षिष्यतीति विश्वासः' शरणागतिका उपदेश मनको किया गया।

श्रीसीतारामचन्द्रार्पणमस्तु।

८५ (८३) राग धनाश्री

मन माधव[1] कों[2] नेकु निहारहि।

सुनु सठ सदा रंक के धन ज्यों छिनु-छिनु प्रभुहि सँभारहि।१।

सोभा-सील[3] - ज्ञान-गुन-मंदिर सुंदर परम उदारहि।

रंजन संत अखिल - अघ-गंजन भंजन विषय-विकारहि।२।

जौं[4] बिनु जोग जज्ञ व्रत संजम गयो[5] चहहि भव पारहि।

तौ जिनि[6] तुलसिदास निसि वासर हरि पद कमल विसारहि।३।

शब्दार्थ—नेकु=जरा; किंचित; तनिक। यथा 'पूछत सखहि सो ठाउँ देखाऊ। नेकु नयन मन जरनि जुड़ाऊ। २।१९८।६।' 'नेकु न संक सकुच मन माहीं। ३।२०।२१।' निहारना=देखना। सँभारना (सँभालना)=देख-रेख करना; इस प्रकार थामे या काबूमें रखना कि जाने न पावे।=स्मरण करते रहना। यथा 'बार-बार रघुबीर सँभारी।

१ माधव—६६, ५१, ७४, दी०, भा०, वे, वै०, वि०। मावौ—रा०, ह०, १५, डु०। माधो—ज०, भ०। २ को—६६, रा०, ७४। कह—ज०। को—प्रायः औरोंमे। कौं—भ०। ३ सिंधु—ह०। ४ जौ—६६, रा०, ७४। जो—ह०, ५१, ज०, १५, वै०। जौ - भा०, वे०, त्रि०। जौं—भ०। ५ चहहि—६६, रा०, ७४, आ०। चहै—भा०, वे०, प्र०, ज०, ह०, १५, वि०, भ०। ६ जिनि—६६, रा०, ७४। जनि—भा०, वे, ह०, ७४, ५१, १५, आ०।

तरकेउ पवनतनय बल भारी। सुं० १।६।', 'बुधि बल निसिचर परइ न पारयो। तव मारुतसुत प्रभु संभारयो। १।६४।८।' रंजन = प्रसन्न करने आनन्द देनेवाले। गंजन = नाशक। जिनि = मत।

पदार्थ—रे मन! माधव भगवान्‌को जरा देख (तो) ले। रे शठ! सुन। कंगालके धनकी नाईं सदा क्षण-क्षणपर प्रभुके स्मरणकी देख-रेख करता रह (अर्थात् उनकी सुरति हृदयसे जाने न पावे, बराबर बनी रहे) ।१। शोभा, शील, ज्ञान और गुणोंके निवास (एवं पूजाके स्थान), परम सुन्दर, सन्तोंको आनन्द देनेवाले, संपूर्ण पापोंके नाशक, विषय-विकारोंके नष्ट करनेवाले परम-उदार प्रभुको (क्षण क्षण सँभालहि) २। तुलसीदासजी कहते हैं कि जो तू बिना योग, यज्ञ, व्रत और संयमके भवसागरके पार जाना चाहता है, तो दिन-रात कभी क्लेशहरण भगवान्‌के चरणकमलोंको न भुलावे, अर्थात् सदा स्मरण करता रहे।३।

नोट—१ बैजनाथजीका मत है कि इस पदमें 'रक्षिष्यतीति विश्वासः' रक्षामें विश्वास शरणागतिका उपदेश मनको देते हैं।

टिप्पणी—१ (क) 'माधव' इति। मौन, ध्यान और योगसे भगवान्‌का बोध अथवा साक्षात्कार होता है, इसलिये 'माधव' उनका नाम है। यथा 'मौनाद्ध्यानाच्च योगाच्च विद्धि भारत माधवम्।' (म० भा० उद्योग० ७०।४)।

'नेकु निहारहि'—पिछले पदमें मनसे कहा था कि 'हृदय आनु धनुबानपानि प्रभु लसे मुनिपट कटि कसे भाथ', अब कहते हैं कि उतना न हो सके तो एक बार किंचित् दृष्टि उनपर डालकर देख तो ले। भाव कि इतने से नेत्र सफल हो जायँगे, एक बार जिन्होंने प्रभुको देखा, वे फिर उनके हो जाते हैं; मन फिर उन्हींके पास रह जाता है, बस जन्म सफल हो जाता है। यथा 'जिन देखे सखी! सतभायहु तें, तुलसी तिन्ह तौ मन फेरि न पाए। क० २।१४।', 'तुलसी कटि तून धरे धनु बान, अचानक दीठि परी तिरछौहैं। केहि भाँति कहौं सजनी! तोहि सों, मृदु मूरति द्वै निवसीं मन मोहैं। क० २।२५।', 'एकन्ह एक बोलि सिख देहीं। लोचन लाहु लेहु छन एही।२।११४।६।', 'समरथ धाइ बिलोकहिं जाई। प्रमुदित फिरहिं जनम फल पाई।'

१ (ख) 'सुनु सठ सदा रंक के धनु ज्यों' इति। 'सठ' संबोधनसे

ही जना दिया कि उपदेश जो पिछले पदमें दिया, उसे सुनी-अनसुनी कर दिया। इसीसे फिर उपदेश देना पड़ा। 'सदा रंक के धन०'— यहाँ मनको रंक अर्थात् दरिद्री वा कंगाल और प्रभुको धन कहनेका भाव कि एक बार भी दर्शन हो जानेसे मन ऐसा आनन्द-मग्न हो जाता है जैसे कंगालको, जिसे सदा पेटके लाले पडे रहते हैं, अचानक बहुत धन मिल जाने से प्रसन्नता होती है। यथा 'सजल बिलोचन पुलक सरीरा। सब भए मगन देखि दोउ बीरा॥ बरनि न जाइ दसा तिन्ह केरी। लहि जनु रंकन्ह सुरमनि ढेरी।२।११४।' रंकको धन दुर्लभ था, वैसेही मनको प्रभुका दर्शन परम दुर्लभ था। रंक जब धन पा जाता है तब उसे बडे यत्नसे गाड़कर रखता है और क्षण-क्षणपर उसे देखता रहता है जैसे परम लोभी अपने धनको देखता रहता है कि घट तो नहीं गया। निरन्तर उसका ध्यान धनमें रहता है। रंक और लोभीमे कुछ अन्तर है। सब लोभी रंक नही होते तथापि उनको धनका लोभ होता है। और, रंकके पास खानेको भी नहीं था उसे अचानक धन मिल जाने से वह प्रसन्न है, इसीसे वह बारंबार उसे सँभालता रहता है कि इससे बहुत दिन काम चलेगा। मानसमें 'लोभिहि प्रिय जिमि दाम' ऐसा प्रेम माँगा है (७।१३०)। और यहाँ मनको श्रीराम-रूपी धनको क्षण-क्षणपर सँभालते रहनेका उपदेश है। यह दोनोंमें अन्तर है।

१ (ग) 'छिनु-छिनु प्रभुहि सँभारहि'—भाव कि जो पूर्व हृदयमें धारण करनेको कहा था, वह प्रयोजन इस प्रकार सिद्ध हो जायगा। एक बार जो दर्शनसे रूप हृदयमें आया, उसीको बारंबार स्मरण करता रह, जितना दर्शन हृदयमे आया उसमे कमी न होने पावे, हृदयरूपी भवनसे विषय वा कामादि चोर उसे चुरा न ले जावें।

टिप्पणी—२ (क) 'सोभा सील ग्यान गुन मंदिर···' इति। यह सब 'प्रभु' का विशेषण है। जिन प्रभुको किंचित् देखकर पल-पल उन्हींमें सुरति लगाये रहनेको कहा, वे कैसे हैं यह बताते हैं। भाव यह कि उपास्यमे जो-जो गुण होने चाहिए, वे सब इनमें हैं। बता कौन गुण नहीं है?

२ (ख) शोभा-मंदिर प्रथम गुण कहा, क्योंकि दर्शनमें प्रथम शोभा ही का दर्शन होता है। इसीको देखकर दर्शकका मन हर जाता है, वह उसीमें डूब जाता है। यथा 'राम देखि मुनि देह बिसारी॥

भए मगन देखत मुख सोभा। जनु चकोर पूरन ससि लोभा। १।२०७।", 'भये सब सुखी देखि दोउ भ्राता। बारि बिलोचन पुलकित गाता॥ मूरति मधुर मनोहर देखी। भयेउ बिदेहु बिदेह बिसेखी॥१।२१५॥ विदेहजीपर सौंदर्यका प्रभाव ऐसा पड़ा कि यही गुण प्रथम उनके मुखसे निकला। यथा 'कहहु नाथ सुंदर दोउ बालक'। इसी तरह शोभा ही ने जनकपुरवासी मात्रका मन हर लिया। खरदूषण-राक्षसोंपर भी प्रभाव कैसा पड़ा। यथा "हम भरि जन्म सुनहु सब भाई। देखी नहिं असि सुंदरताई॥ जद्यपि भगिनी कीन्हि कुरूपा। बध लायक नहिं पुरुष अनूपा॥३।१६।" शोभा-मंदिर कहकर द्युति, कान्ति, लावण्य, सुन्दरता, रमणीकता, माधुरी तथा सुकुमारता आदि शोभाके सब अंगोंसे परिपूर्ण जनाया। 'शील-मंदिर'—शीलकी व्याख्या पूर्व आ चुकी है। इस गुणसे प्रभु दीन, मलीन, सब अंग-हीन, पतित, कुटिल आदि जीवोंको अपनाते हैं, ऐसे गये-बीते मनुष्य भी इस गुणके बलपर उनकी शरणमें जानेमें संकोच नहीं करते। 'सील समता भवन' ५५ (२ क) में भी देखिए। वहाँ अधिक लिखा गया है। 'ज्ञान-मंदिर' अर्थात् ज्ञानधाम हैं। शोभा और शील भी हो, पर यदि ज्ञान नहीं हो तो वह दूसरेका मोह कैसे हर सकेगा? अतएव ज्ञानमंदिर कहा।—ज्ञानधाम श्रीपति असुरारी। १।५१।२।'

'गुन-मंदिर' कहनेसे कृपा, दया, करुणा, भक्तवात्सल्य, शरण-पालता, सामर्थ्य, अनन्त ऐश्वर्यसंपन्न आदि समस्त दिव्य कल्याण गुण-सम्पन्न कह दिया। इन गुणोंसे प्रभु करुणा करके जीवपर अकारण कृपा करके अपनी ओर लाकर उसे शरणमें लेकर उसके समस्त पापरूपी मलोंको स्वयं दूर करते हैं, जैसे गौ तुरत जन्मे हुए वत्सको। इत्यादि। 'सुन्दर' से सर्वाङ्ग सुठौर जैसा अंग जो होना चाहिए वैसा ही होना जनाया। 'सहज सुंदर तन, सोभा अगनित काम। ७७ (१)।' देखिए। 'मंदिर' का दूसरा अर्थ 'पूजाका स्थान' है। 'शोभा···मंदिर' का भाव होगा कि मूर्तिमान शोभा, शील, ज्ञान और सद्गुणके पूजाके स्थान आप ही हैं, आप इनके भी पूज्य हैं। 'परम उदार' अर्थात् महादानि, उदारचूड़ामणि, अतुलित दानी। अपने तक को दे डालते हैं, इससे अधिक और क्या होगा? विशेष 'अतुलित दानि' ७७ (२ ङ), 'दान खड्ग सूरो' ८० (२ घ) देखिए।

२ (ग) 'रंजन संत'—स्मरण रहे कि 'संत' से ग्रन्थकारने उन्हीं

सत्पुरुषोंको कहा है, जिनमें मानस आदिमें कहे हुए संतलक्षण हैं। संत जैसे विभीषणजी, हनुमान्‌जी, अगस्त्यजी, सुतीक्ष्णजी इत्यादि। वैजनाथजीका भी मत है कि 'शुद्ध हृदयके शान्त स्वभाववाले संत जो शरणमें आते हैं, जैसे श्रीहनुमान्‌जी, उन्हींसे यहाँ तात्पर्य है। ऐसोंको परिपूर्ण आनंद देते हैं।

२ (घ) 'अखिल अघगंजन भंजन विषय विकारहि' इति। भाव कि जो महापापी आपके सम्मुख होता है, उसके संपूर्ण पापोंको तुरत नष्ट कर देते हैं, यथा 'सनमुख होइ जीव मोहि जबहीं। जनम कोटि अघ नासहिं तबहीं। ५।४४।२।'—यह तो शरणमें आते ही मात्र हो जाता है और यदि वह अनन्य भावसे भजन करनेका निश्चयकर भजन करने लगता है तब तो कहना ही क्या ?

वैजनाथजी 'अखिल अघगंजन' पर लिखते हैं कि "विमुख किसी भाँति भी सम्मुख आता है, जैसे रावणादि, तो उसके समग्र पापोंका नाशकर धाम देते हैं।"—किन्तु 'रावणादि' तो वस्तुतः शरणमें आये नहीं, सम्भवतः 'खरदूषन मोहि सम बलवंता। तिन्हहि को मारै बिनु भगवंता॥ सुररंजन भंजन महि भारा। जौ भगवंत लीन्ह अवतारा॥ तौ मैं जाइ बैरु हठि करऊँ। प्रभु सर प्रान तजे भव तरऊँ॥ होइहि भजन न तामस देहा। मन क्रम बचन मंत्र दृढ़ एहा॥ ३।२३।'—इन वचनोंको लेकर उसका सम्मुख होना कहा है। अथवा, वाल्मीकीयमें जो विभीषण शरणागतिके अवसरपर सुग्रीवजीके उत्तरमें श्रीरामजीने कहा है—"आनयैनं हरिश्रेष्ठ दत्तमस्याभयं मया। ३४। विभीषणो वा सुग्रीव यदि वा रावणः स्वयम्॥" (वाल्मी० ६।१८), यह विभीषण हो चाहे रावण स्वयं ही विभीषणके रूपमें क्यों न हो, मैं उसे अभय देता हूँ, तुम उसे ले आओ।—इसके आधारपर ऐसा कहा हो।

२ (ङ) 'भंजन विषय विकारहिं'—शब्द, रूप, रस, गंध और स्पर्श इन पाँच विषयोंमें सब विषय आ जाते हैं। 'विकार' अर्थात् राग, रोष, ईर्ष्या, मद, मोह आदि। इसमें षट् विकार एवं मन, कर्म, वचन तीनोंके विकार तथा पंचपर्वा अविद्याके विकार इत्यादि सब विकार आ गए। यथा 'दारुन पंचजनित विकार श्रीरघुबर हरे।७।१२०।', 'षट् बिकार जित अनघ अकामा।३।४५।७।', 'राग रोष इरिषा मद मोहू। जनि सपनेहु इन्ह के बस होऊ। सकल प्रकार बिकार बिहाई।२।७५।',

'मन वचन कर्म विकार तजि तव चरन हम अनुरागहीं ।७।१३।' 'विषय-विकार' को एक शब्द भी मान सकते हैं। शरणागत होने पर भी विषय विकार भजनमें बाधा करते हैं। प्रभु शरणागत के विषय-विकारोंका नाश करके साधु-समान बना लेते हैं। यथा 'तजि मद मोह कपट छल नाना। करउँ सद्य तेहि साधु-समाना ।५।४८।३।' विषयविकारके रहते भजन नहीं हो सकता, इसीसे आगे कहा है— "जो मन भज्यो-चहै हरिसुरतरु। तौ तजि विषय बिकार। काम क्रोध. अरु लोभ मोह मद राग द्वेष निसेष करि परिहरु। २०५।'

[वैजनाथजी लिखते हैं कि 'जो विषयी शरणमें आते हैं, जैसे केवट किरात आदि, उनके इन्द्रियविषयके विकारको, विषयकी चाहको तोड़कर अपना शुद्ध स्नेही बना लेते हैं।]

टिप्पणी—३ 'जौं बिनु जोग जज्ञ व्रत संजम···' इति। (क) इससे जनाया कि योग, यज्ञ, व्रत और संयमसे भी भव पार होता है। यथा 'कृतजुग त्रेता द्वापर पूजा मख अरु जोग। जो गति होइ सो कलि हरि नाम ते पावहिं लोग ।। ७।१०२ ।। कृतजुग सब जोगी विज्ञानी। करि हरि ध्यान तरहिं भव प्रानी ।। त्रेता विविध जग्य नर करहीं। प्रभुहि समर्पि कर्म भव तरहीं ।।' व्रत और संयम, योग और यज्ञ सभीमें करने पड़ते हैं। संयम योगका अंग भी है।—पर ये सब कष्टसाध्य हैं। यज्ञ धनके अधीन है। अतएव कहते हैं कि यदि बिना परिश्रम भव तरनेकी इच्छा हो तो मैं यह उपाय बताता हूँ, इसे कर, इसमें किंचित् भी शरीरको श्रम नहीं होनेका और फल योगयज्ञादिका मिल जाता है। वह यह है कि हरि-पद-कमलका स्मरण रातदिन बराबर बनाये रह। क्षणभर भी चिन्तन न छूटे।

३ (ख) यही उपदेश श्रीरामजीने सखाओं और सेवकोंको यत्र-तत्र दिया है। यथा 'कबहूँ काल न व्यापिहि तोही। सुमिरेसु भजेसु निरंतर मोही ।।७।८८।' (भुशुण्डिजी प्रति), 'जाहु भवन मम सुमिरन करेहू ।७।२०।' (निषादराजप्रति), 'निज निज गृह अब तुम्ह सब जाहू। सुमिरेहु मोहि डरपहु जनि काहू। लं० ११७।५।' (बानरोंसे)।; 'करेहु कल्प भरि राज तुम्ह मोहि सुमिरेहु मन माहिं। लं० ११५।' (विभीषणजी प्रति), 'अब गृह जाहु सखा सब भजेहु मोहि दृढ़ नेम ।७।१६।' (सब सखाओंसे)।

☞ निरन्तर स्मरण बना रहनेसे अन्त समय भी प्रभुका स्मरण हो

सकेगा, जिससे प्रभुकी प्राप्ति होगी। यथा 'अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम्। यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः। गीता ८।५', 'अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः। तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः। गीता ८।१४।'

महर्षि आरण्यकने भी कहा है—'जो मनुष्योंके स्मरण करने मात्रसे पर्वत-जैसे पापोंको भी नष्ट कर डालते हैं, उन भगवान्‌को छोड़कर मूढ़ मनुष्य योग-यज्ञ-व्रतादिके द्वारा क्लेश उठाते हैं। सकाम अथवा निष्काम योगीभी जिनका चिन्तन हृदयमें करते तथा जो मनुष्योंको मोक्ष प्रदान करनेवाले हैं, वे भगवान् श्रीराम स्मरण करने मात्रसे सारे पापोंको दूर कर देते हैं।'—'यो नरैः स्मृतमात्रोऽसौ हरते पापपर्वतम्। तं मुक्त्वा क्लिश्यते मूढो योगयागव्रतादिभिः॥ सकामैर्योगिभिर्वापि चिन्त्यते कामवर्जितैः। अपवर्गप्रदं नृणां स्मृतमात्राखिलाघहम्।' (प० पु० पा० ३५।३३-३४)। शिवजीने भी कहा है—'स्मर्तव्यः सततं विष्णुर्विस्मर्तव्यो न जातुचित्।' (प० प० उ० ७२। १००)।

श्रीसीतारामचन्द्रार्पणमस्तु।

८६

इहै कह्यो सुत[1] वेद चहूँ।
श्रीरघुबीर-चरन-चिंतन तजि नाहिंन[2] ठौर कहूँ॥ १
जाके चरन बिरंचि सेइ सिधि पाई संकरहूँ।
सुक सनकादि मुकुत[3] बिचरत तेउ भजन करत अजहूँ॥ २
जद्यपि परम चपल श्री[4] संतत थिर न रहति कतहूँ[5]।
हरि-पद-पंकज पाइ अचल भइ करम बचन मनहूँ॥ ३
करुनासिंधु भगत[6] चिंतामनि सोभा सेवतहूँ।

१ सुनु—ह०। ('सुत' पाठान्तर दिया है)। २ नाहिन—रा०, ५१, वै०, ७४, छु०, दी०, प्र०, त्रि०। नाहिन—ह०, वे०, मु०, १५, भ०, पो०। नाही—भा०। ३ मुकुत—रा०, ७४। मुक्त—भा०, वे०, ह०। मुकत—भ०। ४ श्रिय—रा०, ह०। श्री०—प्रायः औरोंमें। ५ कवहूँ—प्र०। ६ भक्त—प्र०, ज०, मु०, गौ०, भा०। भगत—रा०, दी०, वि०, पो०, भ०।

और सकल सुर असुर ईस सब[७] खाये[८] उरग छहूँ ॥४
सुरुचि कह्यो सोइ[९] सत्य तात अति परुष बचन जबहूँ।
तुलसिदास रघुनाथ बिमुख नहिं मिटै बिपति कबहूँ ॥५॥

शब्दार्थ—इहै=यही। चहूँ=चारों। चिंतन=बारंबार स्मरण; किसी बातको बार-बार मनमे लानेकी क्रिया; ध्यान। नाहिंन=नहीं ही। यथा 'नाहिन आवत और भरोसो। १०३।', 'नाहिन चरन रति ताहि तें सहौं बिपति। १६१।', 'नाहिन और कोउ सरन लायक दूजो श्रीरघुपति सम बिपति निवारन। २०६।' ठौर=विश्राम स्थान, ठिकाना; शरण; दृढ़ आश्रय। तजि=छोड़कर; के अतिरिक्त, के सिवा। सेइ=से-कर। सेना=आराधना या पूजा सेवा करना। 'सेवा' में भाव है निरंतर स्मरण का, जैसे कछुआ रेतमें रक्खे हुये अंडोंको स्मरण द्वारा दूरसे सेता है। सिधि (सिद्धि)=अलौकिक शक्ति या सम्पन्नता; कृतकार्यता। हूँ=भी। तेउ=वे भी। चपल= चंचल। श्री=लक्ष्मी। संतत=सदा। थिर=स्थिर। कतहूँ=कहीं भी। करुनासिंधु=करुणासागर; करुणानिधान। चिंतामणि-एक रत्न जिसकी प्राप्ति होनेपर उससे सारी दरिद्रता दूर होती है, जो कुछ भी इच्छा चित्तमें हो वह सब उससे पूरी होती है। भगत चिंता-मनि=भक्तोंकी इच्छाओंको पूर्ण करनेवाला। सेवतहूँ=सेवा करनेमें भी। उरग=सर्प। छहूँ=छओंने। उरग छहूँ-टिप्पणीमें व्याख्या दी गई है। सुरुचि=ध्रुवजीकी सौतेली माता; राजा उत्तानपादकी छोटी रानी। परुष=कठोर। जबहूँ=यद्यपि।

पद्यार्थ—(अम्बा श्रीसुनीतिजी अपने पुत्र ध्रुवको समझाते हुये कहती हैं—) हे पुत्र! चारों वेदोंने भी यही कहा है कि श्रीरघुवीर रामचन्द्रजीके चरण-चिन्तनको छोड़ (जीवके लिये) कहीं भी ठिकाना नहीं। (अर्थात् चरणोंका स्मरण-ध्यान ही एकमात्र विश्राम-स्थान वा आश्रय है)।१। जिन (श्रीरघुनाथजी) के चरणोंको सेकर ब्रह्मा और शङ्करजीने भी सिद्धि प्राप्त की। (अर्थात् कृतकार्य हुए,

७ बस—रा०, ह० (इसमे 'सव' को पाठान्तरमे दिया है)। सव—औरोमे
८ खायउ—७४। खायो—ज०। ९ सोइ—भा०, रा०, वे, ह०, आ०। सो—मु०, ७४।

सफल-मनोरथ हुए और अलौकिक शक्ति संपन्न हुए)। और, श्रीशुकदेवजी, श्रीसनक, श्रीसनन्दन, श्रीसनातन और श्रीसनत्कुमारजी जो जीवन्मुक्त होकर विचरते रहते हैं, वे भी आज दिन (अब भी) जिनका भजन करते हैं।२। यद्यपि लक्ष्मीजी सदासे परम चंचला हैं, कहीं भी स्थिर होकर सदा नहीं रहतीं, (तो भी) भगवान्के चरण-कमलको पाकर वे कर्म, वचन और मनसे भी अचल हो गईं।३। करुणाके समुद्र, भक्तोंके चिन्तामणि (मनोवांछित देनेवाले भगवान्) की सेवा करनेमें भी शोभा है। (भाव कि इसीसे इनकी सेवा सभी बड़े-बड़े देवता और श्रीशङ्करादि भी करते हैं। अन्य किसीकी सेवा करनेसे शोभा नहीं होती, किन्तु उससे अपनी नीचता प्रकट होती है)। और समस्त देवता, दैत्य-दानव-राक्षसादि असुर जितने भी ईश (ऐश्वर्यमान, समर्थ स्वामी) हैं, उन सबोंको छहों सर्पोंने निगल लिया है। (अर्थात् ये सब कालके मुखमें पड़े हुये हैं। एक सर्पके डसे तो बचना कठिन है, जहाँ छः-छः हों वहाँ बचना कब सम्भव है ?) ।४। हे तात ! यद्यपि वह वचन अत्यन्त कठोर है तो भी जो सुरुचिने कहा है वही सत्य है। तुलसीदासजी (सुनीतिजीके स्वरमें स्वर मिलाकर) कहते हैं कि रघुनाथ-विमुखकी विपत्ति कभी भी नहीं मिटती ॥ ५ ॥

नोट—१ पिछले पदमें गोस्वामीजीने मनको उपदेश दिया कि 'सदा रंकके धन ज्यों छिनु छिनु प्रभुहि सँभारहि', 'जनि निसि बासर हरि पदकमल बिसारहि'। अब कहते हैं कि चारों वेदोंने यही सिद्धान्त किया है, देख जो मैं तुझसे कह रहा हूँ यह ध्रुवकी माताने अपने नन्हें बालक ध्रुवको उपदेश दिया था। मैं कोई नई बात नहीं कह रहा हूँ। सत्ययुगमें यह उपदेश माता सुनीतिने दिया था, उसे सुन।

२—'ध्रुवजी' की कथा—स्वायम्भुव मनुके पुत्र उत्तानपादकी दो रानियाँ थीं। सुरुचि उनकी प्रेयसी पत्नी थी। सुनीतिमें उसका अधिक प्रेम न था। एक दिन जब राजा उत्तानपाद राज-सभामें बैठे हुये सुरुचिके पुत्र उत्तमको गोदमें लिये खिला रहे थे। उसी समय सुनीतिजीके पुत्र ध्रुव वस्त्राभूषणोंसे विभूषित होकर बालकोंके साथ वहाँ आये। राजाको प्रणाम किया और बड़े भाई उत्तमको पिताकी गोदमें बैठा देख वे भी गोदमें बैठनेको लालायित हुए। सुरुचिने यह देख बड़े कठोर वचन कहे कि तू मेरे कोखसे उत्पन्न न होने-

के कारण इस राजसिंहासन पर बैठनेका अधिकारी नहीं है। राज-सिंहासनकी इच्छा है तो जाकर परम पुरुषकी उपासना कर, तप करके उनकी कृपासे मेरे गर्भसे जन्म ले। —"तपसाऽऽराध्य पुरुषं तस्यैवानुग्रहेण मे। गर्भे त्वं साधयात्मानं यदीच्छसि नृपासनम्॥ भा० ४।८।१३।' राजा सुरुचिके वशीभूत थे, इससे उनने भी उचित अनुचित कुछ नहीं कहा। यथा 'अहो मे बत दौरात्म्यं स्त्रीजितस्योपधारय। योऽङ्कं प्रेम्णाऽऽरुरुक्षन्तं नाभ्यनन्दमसत्तमः। भा० ४।८।६७।'–(यह राजाने नारदजी से कहा है। अर्थात् मुझ स्त्रीपरवशकी दुरात्मा तो देखो, वह बालक प्रेमवश मेरी गोदमें चढ़ना चाहता था, किन्तु मुझ पापीने तनिक भी उसका मन न रक्खा)।

विमाताके दुर्वचनोंसे विद्ध होकर दण्डाहत सर्पके समान क्रोधसे दीर्घ निःश्वास लेता हुआ बालक ध्रुव अपनी माताके पास रोता हुआ आया। उसके ओठ फड़क रहे थे, वह सिसक-सिसककर रो रहा था। माताके पूछनेपर ध्रुवजीने सुरुचिके सब अपमानित वचन सुनाकर पूछा कि 'मैं और उत्तम दोनों समानरूपसे राजकुमार हैं, तब सुरुचि का पुत्र उत्तम क्यों उत्तम है और क्यों मैं अधम हूँ? राजसिंहासन क्यों उत्तमके योग्य है और क्यों मेरे योग्य नहीं?' (स्कंद पु० काशी खंड पू० अध्य० १८)।

सुनीतिजीने उत्तर दिया—वत्स! सुरुचिने जो कुछ कहा वह सत्य ही है।—'सत्यं सुरुच्याभिहितं भवान्मे ...। भा० ४।८।१८।' सुरुचि और उसके पुत्र उत्तमने पूर्वजन्ममें बड़ा भारी पुण्य किया है, इसीसे सुरुचिपर राजाका विशेष प्रेम है और उत्तम राजसिंहासनपर बैठनेका अधिकारी माना गया। बेटा! अपना पूर्वजन्मका कर्म ही मान और अपमानमें कारण होता है; अतः तुम इसके लिए शोक न करो। (स्कन्द पु०)। पूर्व जन्मोंमें जो कुछ तुमने किया है उसे दूर कौन कर सकता है? और जो नहीं किया, वह तुम्हें दे भी कौन सकता है? अतः तुम्हें खेद नहीं करना चाहिये, क्योंकि जिस मनुष्यको जितना मिलता है, वह अपनी उतनी ही पूँजीमें मग्न रहता है। यथा 'नोद्वेगस्तात कर्त्तव्यः कृतं यद्भवता पुरा। तत्कोऽपहर्त्तुं शक्नोति दातुं कश्चाकृतं त्वया॥ तत्त्वया नात्र कर्त्तव्यं दुःखं तद्वाक्यसम्भवम्॥ .. तथापि दुःखं न भवान् जर्त्तुमर्हति पुत्रक। यस्य यावत्स तेनैव स्वेन तुष्यति मानवः॥' (वि० पु० १।११।१७,१८,२२)। पुण्यसे राजासन

मिलता है। यदि तुझे राजसिंहासन पर बैठनेकी इच्छा है, तो विमाता ने जो यथार्थ बात कही है, उसीका द्वेषभाव छोड़कर पालन कर और श्रीअधोक्षज भगवान्के चरणकमलोंकी आराधना कर। देख, उन श्रीहरिके चरणकमलोंकी आराधना करनेसे श्रीब्रह्माजीको भी वह सर्वोत्तम पद प्राप्त हुआ है जिसको मुनिजन भी वन्दना करते हैं।—'आराधयाधोक्षजपादपद्मं यदीच्छसेऽध्यासनमुत्तमो यथा।१६। यस्याङ्घ्रिपद्मं परिचर्य विश्वविभावनायात्तगुणाभिपत्तेः। अजोऽध्यतिष्ठत्खलु पारमेष्ठ्यं पदं जितात्मश्वसनाभिवन्द्यम्।२०।' (भा० ४।८)। मुमुक्षु जिनके चरणकमलोंके मार्गकी निरन्तर खोज किया करते हैं, तू भी उन्हीं भक्तवत्सल हरिकी शरणमें जा।···हे पुत्र! मुझे तो उन कमलदललोचन हरिको छोड़कर और कोई भी तेरे दुःखको दूर करनेवाला दिखाई नहीं देता, जिन्हें अन्य ब्रह्मादिकसे ढूँढ़ी जानेवाली श्रीलक्ष्मीजी भी हाथमें कमल लिये हुये निरन्तर खोजा करती हैं। (भा० ४।८)। यथा, 'नान्यं ततः पद्मपलाशलोचनाद्दुःखच्छिदं ते मृगयामि कञ्चन। यो मृग्यते हस्तगृहीतपद्मया, श्रियेतरैरङ्ग विमृग्यमाणया। २३।' —इस प्रकार अपनी कामनाको पूर्ण करनेवाले माताके वचन सुनकर ध्रुवजीने अपने चित्तको शान्त किया और पिताके नगरसे निकलकर वनकी ओर चल दिये।

प्रस्तुत पदमें श्रीध्रुवजीकी कथाका इतना ही प्रसंग है।

टिप्पणी—१ (क) 'इहै' अर्थात् 'श्रीरघुबीर चरन चिंतन तजि नाहिन ठौर कहूँ' यह। 'कह्यो बेद चहूँ' अर्थात् चारों वेदोंने यही एक सिद्धान्त किया है। इससे जनाया कि जो सुनीतिजीने श्रीमद्भागवतमें अपने पुत्रसे कहा है वह चारों वेदोंका सिद्धान्त है। मानस में भुशुण्डिजीने भी यही कहा है। यथा 'श्रुति पुरान सब ग्रंथ कहाहीं। रघुपति भगति बिना सुख नाहीं॥···बिमुख राम सुख पाव न कोई॥···श्रुति सिद्धांत इहै उरगारी। राम भजिअ सब काज बिसारी। ७।१२२-१२३।' राज्याभिषेकके समय वेदोंने स्तुति करते हुए यही कहा है। यथा 'जे ज्ञान-मान-बिमत्त तव भवहरनि भक्ति न आदरी। ते पाइ सुरदुर्लभ पदादपि परत हम देखत हरी॥' और यह कहते हुये कि 'पदकंजद्वंद मुकुंद राम रमेस नित्य भजामहे', चरणानुरागका बर भी माँगा है। यथा 'मन बचन कर्म बिकार तजि तव चरन

हम अनुरागहीं ।७।१३।'—इस प्रकार वेदोंने अपना सिद्धान्त स्तुतिमें कह दिया।

१ (ख) 'श्रीरघुवीर चरन चिंतन तजि···' इति। 'श्रीरघुवीर'से पंचवीरता तथा संपूर्ण-श्री-युक्त श्रीरामजीको कहा। इससे सहज कृपाल, कोमल, दीनहित, दिनदानि, प्रीति पहचानकर भक्तपर स्नेह करनेवाले, इत्यादि जनाया। 'चरन चिंतन' पाद-सेवन भक्ति है। सेव्य-सेवक भाव इससे सूचित किया। स्कंदपुराणमें सप्तर्षिमेंसे श्रीअंगिराजीने भी ध्रुवजीसे कहा है कि जो भगवान्‌के चरणकमलोका भलीभाँति चिन्तन करता है, उसके लिए संपूर्ण संपदाओंका स्थान दूर नही है। 'चरन' और 'चितन'को अलग-अलग भी ले सकते हैं। 'चरण तजि' तथा 'चितन तजि' कहीं विश्राम नहीं मिल सकता। भगवान्‌के चरणोंकी शरण होकर उनका चिन्तन करे, नामस्मरण करे।—यही सप्तर्पिने ध्रुवजीको बताया है। यथा 'तिष्ठता गच्छता वापि स्वपता जाग्रता तथा। शयानेनोपविष्टेन जप्यो नारायणः सदा।' (स्क पु० का०पू०१६।१७), अर्थात् खडे होते, चलते, सोते, जागते, लेटे अथवा बैठे हुए सब समय भगवान्‌के नामका जप करना चाहिए।—इससे तुम शीघ्र ही मनोवाञ्छित सिद्धि प्राप्त कर लोगे।

१ (ग) 'तजि नाहिन ठौर कहूँ' अर्थात् चरणोंसे विमुखको कहीं विश्रामका स्थान नहीं। यथा 'सब जग ताहि अनलहु ते ताता। जो रघुबीर बिमुख सुनु भ्राता।३।२।८।'; इसीसे ग्रन्थकारने स्वयं भी बार-बार प्रार्थना करते हुए कहा है—'कहाँ जाउँ कासों कहौं और ठौर न मेरे।१४६।', 'जाउँ कहाँ तजि चरन तुम्हारे।' देव दनुज मुनि नाग मनुज सब माया बिबस बिचारे। तिन्ह के हाथ दास तुलसी प्रभु कहा अपनपौ हारे।१०१।', 'नाहिन और ठौर मो कहँ ताते हठि नातो लावत। राखु सरन उदारचूड़ामनि तुलसिदास गुन गावत ॥१८४।', 'जाउँ कहाँ ठौर है कहाँ देव दुखित दीनको।२७४।'

श्रीमद्भागवतमें 'आराधयाधोक्षजपादपद्मं।', 'नान्यं ततः पद्मपलाशलोचनाद्दुःखच्छिदं ते मृगयामि कञ्चन।' (उपर्युक्त)—यह जो सुनीतिजीने कहा है, वही यहाँ 'श्रीरघुवीर चरन··· ठौर कहूँ' से कहा गया है। देवर्षि नारदने भी ध्रुवजीसे कहा है—'बेटा! तेरी माताने तुझे जिस मार्गका उपदेश दिया है वही तेरा कल्याण करनेवाला है। तू भगवान् वासुदेवमे चित्त लगाकर उन्हींका भजन कर।'—

'जनन्याभिहितः पन्थाः स वै निःश्रेयसस्य ते। भगवान् वासुदेवस्तं भज तत्प्रवणात्मना। भा० ४।८।४०।'

२ (क) 'जाके चरन बिरंचि सेइ...' इति। ब्रह्माजीने चरणसेवा-कर सिद्धि पाई, यह सुनीतिजीने भागवतमें भी कहा है—'यस्याङ्घ्रि-पद्मं परिचर्य...' (उपर्युक्त)। शंकरजी भी चरणोंका ध्यान किया करते हैं; यथा 'हर-उर-सर-सरोज पद जेई। अहोभाग्य मैं देखिहउँ तेई।५।४२।८।', 'पद-पंकज सेवित संभु-उमा।६।११० छंद।' उन्होंने राज्या-भिषेकके समय चरणानुरागका वर भी माँग लिया है; यथा 'बार-बार बर माँगउँ हरषि देहु श्रीरंग। पदसरोज अनपायनी भगति सदा सतसंग।७।१४।' ब्रह्माजी सृष्टिरचयिता और सबके पितामह हुए। शंकरजीने संहारशक्ति पाई और काशीवासी जीवोंको मोक्षप्रदाता हुए। यथा 'जाके बल बिरंचि हरि ईसा। पालत सृजत हरत दस-सीसा।५।२१।५।', 'कासी मरत जंतु अवलोकी। जासु नाम बल करउँ बिसोकी।१।११९।१।', पुनश्च यथा 'युगकोटिसहस्राणि विष्णुमाराध्य पद्मभूः। प्रजापतिस्समभवत् लोकानामिति शुश्रुम।'' (ब्र० पु०), ''महा-देवः विश्वक्रतौ महात्मा हुत्वात्मानं देवदेवो बभूव।'' (पैङ्गी ब्राह्मण रहस्य)। अर्थात् मैंने ऐसा सुना है कि कमलयोनि ब्रह्माजी अर्बों युगोंतक विष्णु भगवान्‌की आराधना करके तब लोकरचनामें समर्थ हुए थे। महात्मा महादेवजी विश्वयज्ञमें अपनेको होम कर देनेपर देव-देव हुए।

'संकरहूँ' का भाव कि जिनकी चरणसेवा ब्रह्मा, इन्द्रादि लोकपाल आदि करते हैं, सिद्ध सनकादि, ब्रह्मा और विष्णु भी जिनके चरणों-की वन्दना करते हैं ऐसे समर्थ शंकरजी भी; यथा 'ब्रह्मेन्द्र चंद्रार्क वरुणाग्नि वसु मरुत जममर्च्य भवदंघ्रि सर्वेधिकारी। १०।', 'सिद्ध-सनकादि-जोगींद्र-वृंदारका-विष्णु-विधिवंद्य चरणारविंदं।१२।' (इन-में महिमाका वर्णन है। पूरे पद देखिए १० और १२)। जब ऐसे समर्थ शंकरजी भी श्रीरघुवीरजीके चरणको सदा हृदयमें सेते रहते हैं, तब भला इनसे बढ़कर उपासना योग्य सेव्य और कौन हो सकता है?

२ (ख) 'सुक सनकादि मुकुत...' इति। श्रीशुकदेवजी तथा श्रीसनकादिकजी आत्माराम और जीवन्मुक्त हैं, तब भी ये भजन करते हैं। यथा 'जीवनमुक्त ब्रह्मपर चरित सुनहिं तजि ध्यान।७।४२।' (यह श्रीसनकादिकजीके संबंधमें कहा गया है)। इन्होंने श्रीरामजीसे

अनपायिनी भक्ति का वरदान भी प्राप्त किया है। यथा 'प्रेम-भगति अनपायनी देहु हमहिं श्रीराम ॥ ७। ३४।' 'ब्रह्मभवन सनकादि गे अति अभीष्ट बर पाइ। ७।३५।' शुकसनकादि सभी आत्माराम मुनि रामनामके स्मरणसे ही ब्रह्मसुखका भोग करते हैं। यथा 'सुक सनकादि सिद्ध मुनि जोगी। नाम प्रसाद ब्रह्मसुख भोगी। १।२६।२।' शुकदेवजी तो ऐसे भक्त हुए कि पिताके पास रहकर उन्होंने श्रीमद्भागवत पढ़ा, उसीको सुनाकर उन्होंने परीक्षितमहाराजका उद्धार किया। श्रीसनकादिक सदा वैकुण्ठधाममें रहकर हरिकीर्तनमें तत्पर रहते हैं, हरिचर्चा ही उनका जीवनाधार है। उनके मुखमें सदा 'हरि शरणम्' यह वचन रहता है। यथा 'सदा वैकुण्ठनिलया हरिकीर्तनतत्पराः। लीलामृतरसोन्मत्ताः कथामात्रैकजीविनः॥ हरिः शरणमेवं हि नित्यं येषां मुखे वचः।' (प० पु० उ० १६०; श्रीमद्भागवत माहात्म्य २। ४७-४८)। 'सुक सनकादि ''अजहूँ' की जोड़में 'मुमुक्षुभिर्मृग्यपदाब्जपद्धतिम्' सुनीतिजीके भा० ४।८। २२ वाले अंशको ले सकते हैं। अर्थात् मुमुक्षुजन जिनके चरणकमलोंके मार्गकी निरन्तर खोज किया करते हैं। शुकादिकी जगह इससें 'मुमुक्षुभिः' है।

इनका उदाहारण देनेमें भाव यह है कि ये जीवन्मुक्त हैं, इनको सद्गतिके लिये कुछ करना नहीं है, इनको मुक्ति प्राप्त ही है, तो भी उनका निष्काम भजन किये विना इनसे रहा नही जाता; क्योंकि हरिमे गुणही ऐसे हैं। यथा 'कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थंभूतगुणो हरिः। भा० १।७।१०'; अतः तू भी उन्हीका भजन कर। ☞ इससे रामभजनकी उत्कृष्टता दिखाई और इसीको परम ध्येय बताया।

जिस प्रकार पित्तनाशके लिये पित्तग्रस्त मनुष्य मिश्रीका सेवन करता है, किन्तु पित्तका नाश हो जानेपर भी मिश्रीकी मधुरिमासे आकृष्ट होकर वह मिश्रीका भक्षण करता ही रहता है; उसी प्रकार अविद्या निवृत्तिके पश्चात मुक्त हो जानेपर भी भगवत् माधुर्यसे आकृष्ट होकर मुक्त लोग भगवद्भजन करते रहते हैं।

३ (क) 'जद्यपि परम चपल श्री संतत'' ' इति। इसकी जोड़में भागवतमें ये वाक्य हैं—'यो मृग्यते हस्तगृहीतपद्मया श्रियेतरैरङ्ग विमृग्यमाणया। भा० ४।८।२३।' (उपर्युक्त)। इसमें श्रीजीका श्रीहरिको खोजना कहा है, हरिपदप्राप्तिका उल्लेख इसमें नहीं है। उसका उल्लेख भा० ८।८।२४-२५ में है। क्षीरसागरमंथनसे जब वे निकलीं

और समस्त देवता, दैत्यों, ऋषियोंको देखती हुई वे भगवान् विष्णुके समीप आकर उनके कण्ठमें कमलोंकी माला डालकर अपने स्थानकी प्रतीक्षा करती हुई चुपचाप खड़ी हो गईं; तब भगवान्ने त्रिलोककी विभूतिरूपा श्रीलक्ष्मीजीको अपना वक्षःस्थलरूपी अचल पद दिया। यथा 'तस्याः श्रियस्त्रिजगतो जनको जनन्या वक्षो निवासमकरोत् परमं विभूतेः।···२५।' श्री (लक्ष्मी) चंचल हैं; यथा 'जाकें बिलोकत लोकप होत, विसोक लहैं सुरलोग सुठौरहि। सो कमला तजि चंचलता करि कोटि कला रिझवै सुरमौरहि। क० ७।२६।' मानसमें विष्णु-भगवान्का भी रामावतार लेना कहा है, उस सम्बंधसे यत्र-तत्र लक्ष्मीजीका अवतार श्रीसीताजीको मानकर वा श्री और सीताजीमें अभेद मानकर इसी भावसे कहा है 'रामपदारविंद रति करति सुभावहि खोइ। ७।२४।' (स्वभाव अर्थात् चपलता)। भगवान्ने सनकादिकजीसे स्वयं कहा है कि जिनके लेशमात्र कृपाकटाक्षके लिये ब्रह्मादि नाना प्रकारके नियमोंका पालन करते हैं वे लक्ष्मी मेरे बहुत उपराम रहनेपर भी मुझे एक क्षणके लिये भी नहीं छोड़तीं।—'न श्रीर्विरक्तमपि मां विजहाति यस्याः प्रेक्षालवार्थ इतरे नियमान्वहन्ति। भा० ३।१६।७।'

३ (ख) 'परम चपल' कहनेका भाव कि धन, धाम, संपत्ति, सौभाग्य, चाँदी, सोना, रुपया, अशरफी, रत्न आदि जो लक्ष्मीका ऐश्वर्य, विलास वा कटाक्षरूप है, वह कहीं स्थिर होकर नहीं ठहरता; आज कहीं तो कल कहीं। वही लक्ष्मी हरिपदको पाकर वहाँ स्थिर हो गईं। उन पदकमलोंकी सेवा पाकर कर्म और वचनसे ही नहीं किन्तु मनसे भी अचल हो गईं। अर्थात् मन लगाये हुए सदा चरणसेवामें रहती हैं, क्षणमात्रके लिये भी अलग नहीं होतीं। भाव कि हरिपद चंचलको भी अचल कर देनेवाले हैं, अतः उनके चरणोंका चिन्तन तुझे भी कर्त्तव्य है। (वै०)।

टिप्पणी—४ 'करुनासिंधु भगतचिंतामनि...' इति। (क) 'करुणा-सिंधु' से जनाया कि चाहे कैसा ही महापापी ही क्यों न हो, वह भी यदि दुःख पड़नेपर आर्त्त होकर नाम लेकर पुकारता है तो इस गुणके कारण प्रभु दुःख हरनेके लिये ऐसे दौड़ पड़ते हैं, जैसे गौ अपने छोटे वत्सके लिये दौड़ती है। यथा 'राम रामेति रामेति वदन्तं विकलं भवान्। यमदूतैरनुक्रान्तं वत्सं गौरिव धावनात् ॥' (वेदपादाभिः स्तोत्रे)।

'भगत-चितामनि' से जनाया कि जो अर्थार्थी भक्त हैं उनके समस्त मनोरथोंको देते हैं। (वै०)। (ख) 'सोभा सेवतहूँ', इनकी सेवा करनेमें भी शोभा है। भाव यह कि श्रीरामजीकी भक्ति करनेवाला ही सर्वज्ञ, गुणी, धर्मात्मा, नीतिकुशल, श्रुतिसिद्धान्तज्ञाता आदि माना जाता है। यथा 'सोइ सर्वज्ञ गुनी सोइ ज्ञाता। सोइ महिमंडित पंडित दाता॥ धर्मपरायन सोइ कुलत्राता। रामचरन जाकर मन राता॥ नीतिनिपुन सोइ परम सयाना। श्रुति सिद्धांत नीक तेहि जाना॥ सोइ कबि कोबिद सोइ रनधीरा। जो छल छाड़ि भजइ रघुबीरा॥...सो कुल धन्य उमा सुनु जगत पूज्य सुपुनीत। श्रीरघुबीर परायन जेहि नर उपज बिनीत।७।१२७।', 'सो सुकृती सुचिमंत सुसंत सुजान सुसील सिरोमनि स्वै। सुर तीरथ तासु मनावत आवत पावन होत हैं ता तनु छ्वै। गुनगेहु सनेह को भाजनु सो, सब ही सों उठाइ कहौं भुज द्वै। सतिभाय सदा छल छाड़ि सबै, तुलसी जो रहै रघबीरको ह्वै। क० ७।३४।'

पुनः श्रीरघुबीरकी सेवामें शोभा कहकर जनाया कि औरोंकी सेवासे शोभा न होकर न्यूनता, लघुता, नीचता होती है। श्रीरघुवीर-के द्वारपर विरुदावली द्वारा याचकको बुलाकर सम्मान किया जाता है, याचकता मिटा दी जाती है, वह संबंधी बना लिया जाता है और सर्वगुणसंपन्न मान लिया जाता है। देखिए शबरीजीको माता, गीधराजको पिता, बानरोंको तथा केवटको मित्र और खास माहली बना लिया गया। यह शोभा और किसकी सेवासे किसीको प्राप्त हुई? यथा 'सुमिरे कृपाल के मराल होत खूसरो।क० ७।१६।', 'तुलसी सुभाय कहै नाहीं कछु पच्छपात, कौने ईस किये कीस-भालु खास-माहली। रामही के द्वारे पै बुलाइ सनमानियत मोसे दीन दूबरे कपूत कूर काहली। क०७।२३।', 'गीध मानो गुरु कपि-भालु माने मीत कै, पुनीत गीत साके सब साहेब समत्थ के। क० ७।२४।' औरोंसे माँगनेमें हीनता है; क्योंकि वे स्वयं दूसरोंसे माँगा करते हैं और बहुत सेवा करानेपर भी दमड़ी ही देते हैं। यथा—'और भूप परख सुलाखि तौलि ताइ लेत', 'देहैं तो प्रसन्न ह्वै बड़ी बड़ाई बौंडिए।' (क०७।२४,२५)।

४ (ग) 'और सकल सुर...' इति। सकल सुरमें इन्द्रादि सभी देवता आ गए। 'सकल असुर'में समस्त दैत्य, दानव, राक्षस आदि सुरद्रोही आ गए। 'ईश'में अन्य सब समर्थ दाता आ गए। अथवा,

समस्त देवता और असुर जो समर्थ वा स्वामी हैं जैसे वरुण, कुबेर आदि अधिकारी लोकपाल दिक्पाल तथा रावण, बालि, हिरण्याक्ष, हिरण्यकशिप आदि। अथवा, समस्त देवताओंके स्वामी इन्द्र, असुरोंके स्वामी बलि, रावण आदि।

४ (घ) 'खाये उरग छहूँ' इति। छः सर्प कौन हैं, इसमें मतभेद है। 'उर्मि' का अर्थ है—'लहर'; 'पीड़ा वा दुःख'। सर्पके डसनेपर लहरें आती हैं, इस विचारसे कोई-कोई 'उरग छहूँ' से 'षडूर्मि' अर्थ करते हैं। षट् ऊर्मी ये हैं-(एक मतसे)-सर्दी, गर्मी, लोभ, मोह, भूख और प्यास। (दूसरे मतसे)-भूख, प्यास, जरा, मरण, शोक और मोह। दूसरे मतके पक्षमें तीन चार टीकाकार हैं। पं० रामकुमारजीने 'उरग छहूँ' का अर्थ 'क्षयरूपी सर्प' किया है। कोई-कोई सुख, दुःख, भूख, प्यास, जरा, मरण को; कोई शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध और मैथुनको; कोई प्राणीके छः परिणामरूपी षट् विकारों अर्थात् उत्पत्ति, शरीरवृद्धि, बालपन, प्रौढ़ता, वृद्धा और मृत्युको और कोई काम, क्रोध, लोभ, मद, मोह, मात्सर्यको छः सर्प मानते हैं। बहुमत अन्तिम छ विकारोके पक्षमे है। सबको इनने खाया है। यथा 'को न क्रोध निर-दह्यो, काम बस केहि नहि कीन्हो। को न लोभ दृढ़ फंद बाँधि त्रासन करि दीन्हो॥ कौन हृदय नहि लाग कठिन अति नारि नयन सर। लोचन जुत नहि अंध भयो श्री पाइ कौन नर॥ सुर नागलोक महि-मंडलहुँ को जु मोह कीन्हो जय न? कह तुलसिदास सो ऊबरै, जेहि राख रामु राजिवनयन॥क०७।११७॥'—इस उद्धरणमें मत्सर शब्द नहीं आया है। स्वर्गमें भी मत्सर रहता है, यथा 'तहूँ गये मद मोह लोभ अति सरगहुँ मिटत न सावत।१८५(४)।' असुरोंको सदा डाह रहता ही है। ☞इस उद्धरणसे यह सिद्ध हो गया कि श्रीरघुवीर अपने भक्तोंकी रक्षा इन छहोंसे करते हैं, उनमे ये विकार नहीं है।

टिप्पणी—५ 'सुरुचि कह्यो सोइ सत्य···' इति। (क) सुरुचिने जो तुमसे कहा वही सत्य है। भागवतमें भी कहा है—'सत्यं सुरुच्या-भिहितं' (उपर्युक्त)। सुरुचिने क्या कहा? परम पुरुषकी तपद्वारा उपासना करनेको कहा है। यथा 'तपसाऽऽराध्य पुरुषं०' (उपर्युक्त)। भाव कि उन्होंने यथार्थ कहा है; अतः तू द्वेष छोड़कर उन्हीं अधोक्षज भगवान्‌के चरणकमलोंको आराधना कर। यथा 'आराधयाधोक्षज-पादपद्मं' (उपर्युक्त)।

५ (ख) 'तात अति परुष वचन जबहूँ'—यह बात सत्य है फिर भी कठोर है, इसीसे प्यारका संबोधन करती हैं। 'तात' संबोधन भागवतमें भी किया है। यथा 'आतिष्ठ तत्तात'। भा०४।८।१६।'

सुरुचिने बडे गर्वमें आकर ईर्ष्यापूर्वक ध्रुवजीसे वचन कहे थे, यथा 'सेर्ष्यमाहातिगर्विता। भा०४।८।१०।'; इसीसे वे वचन 'अति परुष' हो गए, साधारणतः भी वे कठोर थे; किन्तु गर्व और ईर्ष्याने उन्हें अत्यन्त कठोर बना दिया। 'अति परुष' होनेका भाव कि वे हृदयको वेध डालनेवाले थे, (जिसको खेल-कूदमें मस्त रहनेवाली इस अवस्थामें 'क्या मान है क्या अपमान', इसका भास भी नहीं होता) उस बालकका भी हृदय इन दुर्वचनोंसे बिंध गया था और वह सर्पके समान क्रोधसे दीर्घ निःश्वास लेता हुआ अपनी माताके पास आया था।

'अति परुष' से यहाँ सुरुचिका पूरा वाक्य सूचित किया' जो ये हैं—"तू राज्यसिहासनपर चढ़नेका अधिकारी नहीं है, क्योंकि राजपुत्र होनेपर भी तुझे मैंने अपनी कोखमें नहीं धारण किया। तू अभी बालक है। तुझे मालूम नही कि तूने किसी और स्त्रीके गर्भसे जन्म लिया है; इसीलिये तू ऐसा दुर्लभ मनोरथ कर रहा है। यदि तुझे राजसिहासनकी इच्छा है तो तू तप करके परमपुरुषकी उपासना कर और उनकी कृपासे मेरे गर्भसे जन्म ले।" यदि जितना वाक्य यहाँ इस पदमें लिया गया है उतना ही लें, अर्थात् मनोरथके लिये भगवान्‌की आराधना कर, तो ४-५ वर्षके बालकको तपस्या करनेका उपदेश भी बड़ा कठोर है।

स्क० का० पू० में लिखा है कि "सुरुचिने ध्रुवजीको पिताकी गोदमें चढनेके लिये उत्सुक देखकर फटकारते हुए कहा—'ओ अभागिनीके पुत्र! क्या तू महाराजकी गोदमें बैठना चाहता है? इस सिंहासनपर बैठने योग्य पुण्य तूने नहीं किया है। यदि तेरा कुछ पुण्य होता तो तू एक अभागिनी स्त्रीके पेटसे कैसे पैदा होता?' मेरे परम सुन्दर उत्तम को देख ले। वह सौभाग्यवतीकी अच्छी कोखसे पैदा हुआ है। इसीलिये वह पृथ्वीपतिके अङ्कमें सम्मानपूर्वक बैठा हुआ है।"—ये वचन 'अत्यन्त कठोर' है। भगवत्पार्षदोंने कहा है कि 'राजसभाके बीचमें सुरुचिके द्वारा ध्रुवजीका इस प्रकार अपमान किया गया।

[बैजनाथजी लिखते है कि 'सुनीतिजीका जो उपदेश है, उसीको गोस्वामीजीने इस पदमें अपने मनके प्रति कहा है।' और 'सुरुचि

कह्यो सोइ सत्य तात०' का भावार्थ इस प्रकार कहा है—(क) 'तात' मनप्रति आदरका संबोधन है। 'सुरुचि कह्यो' अर्थात् जो मेरी रुचिमें आया, वही सुन्दर वचन मैंने कहा जो सब सत्य है, अतः सबको अंगीकार करना उचित है। जो मेरे वचनको अति कठोर विचार कर न मानै तो तुलसीदासजी उत्तर देते हैं कि रघुनाथजीसे विमुखकी विपत्ति कदापि नहीं मिटनेकी।" (ख) दूसरा अर्थ यह है कि "सुनीति अपने पुत्रसे कहती हैं कि सुरुचिने जो कहा कि तपस्या करके मेरे उदरसे जन्म लो तब पिताके अंकमे बैठनेकी इच्छा करो, यह सत्य है। इसमे गुप्त अर्थ यह है कि भगवान्‌के समीप भक्तिका आदर और मायाका अनादर है। जबतक जीव मायाका पुत्र बना है तबतक भगवत्पदकी इच्छा न करे, जब तपद्वारा शुद्ध होकर भक्तिका पुत्र हो तब भगवान्‌के अंकमें बैठनेकी इच्छा करे; ऐसा विचार कर हरिभजन करो, तुमको परमोच्चपद मिलेगा। यदि तुम ऐसा न समझकर सुरुचिके वचनको कठोर ही समझो, तो पिताके अंकमें क्या रक्खा है ? क्योंकि रघुनाथजीसे विमुख होकर यदि तुम पिताकी गोदमें भी बैठे तो भी जीवकी विपत्ति कभी न मिटेगी। अतः मेरा वचन मानकर हरिभजन करो जिससे तुम्हारा कल्याण हो।"]

५ (ग)—'रघुनाथविमुख नहि मिटै विपति कबहूँ' उपसंहार है, 'श्रीरघुबीरचरण चिंतन तजि नाहिंन ठौर कहूँ' उपक्रम है। दोनोंका भाव एक है। इस संसारकूपमें पड़े हुए विषयान्ध और फिर भी काल-रूप सर्पसे ग्रसित जीवको भगवान्‌के सिवा बचानेवाला कोई नहीं है; यथा 'संसारकूपे पतितं विषयैर्मुषितेक्षणम्। ग्रस्तं कालाहिनाऽऽत्मानं कोऽन्यस्त्रातुमधीश्वरः। भा० ।११।८।४१।', अतः कहा कि बिना रघुनाथके शरणके विपत्ति कभी नहीं मिटने की।

॥ श्रीसीतारामचन्द्रार्पणमस्तु ॥

८७ (८८)

सुनि[1] मन मूढ़ सिखावन मेरो।
हरिपदविमुख[2] 'काहूँ न लह्यो' सुखु सठ यह समुझु[3] सवेरो।१।

---

१ सुनि—६६, रा०, भ०। सुनु—प्रायः औरोंमे। २ काहू न लह्यो—६६ (काहूँ०), रा०, भा०, ह०, ङु०, वै०। काहु०—भ०। लह्यो न काहु—मु०, दी०, वि०, ५१, पो०, ७४। ३ समुझु—६६, भा०, वे०, ५१, ७४, भ०।

बिछुरे रबि[४] ससि मन नयननि तें पावत दुख बहुतेरो ।
भ्रमत श्रमित निसि दिवस गगन मों[५] तहुँ[६] रिपु राहु बड़ेरो ।२।
जद्यपि अति पुनीत सुरसरिता तिहुँ पुर सुजसु घनेरो ।
तजें चरन अजहूँ न मिटत नित बहिबो ताहू केरो ।३।
मिटै[७] न बिपति भजे बिनु रघुपति श्रुति संदेह निबेरो ।
तुलसिदास सब आस छाँड़ि करि होहि[८] रामको[९] चेरो ।४।

शब्दार्थ—सिखावन = शिक्षा; सीख । सवेरो (सवेरे) = सूर्योदय होते ही अर्थात् निश्चित समयके पूर्व ही । आयुके रहते । शीघ्र ही । बिछुरे (बिछुड़े)—बिछुड़ना = वियोग होना, अलग होना । नयननि—नयनका बहुवचन । बहुतेरो = बहुतसा; बहुत प्रकारसे । भ्रमत = भ्रमण करते, चक्कर लगाते । श्रमित = थके हुये; श्रान्त; परेशान । मों = में । तहुँ = वहाँ भी । बड़ेरो = बड़ा भारी । घनेरो = बहुत बड़ा; बहुत । यथा 'बन प्रदेस मुनिबास घनेरे ।२।२३६।१।' पुर = लोक; यथा 'निसिचर मारि तोहि लै जैहहिं । तिहुँ पुर नारदादि जसु गैहहि । ५।१६।५।' निबेरना = (बंधन) छुड़ाना । = निर्णय करना । = दूर करना; मिटाना; निबटा देना ।

पद्यार्थ—रे मूर्ख मन ! मेरी शिक्षा सुन । क्लेशके हरनेवाले भगवान्‌के चरणोंसे विमुख (होकर) किसीने सुख न पाया । रे शठ ! यह शीघ्र ही समझ ले ।१। सूर्य और चन्द्रमा नेत्र और मनसे अलग होनेसे बहुतेरा दुःख पाते हैं । (एक तो) दिनरात आकाशमें परेशान चक्कर लगाते रहते हैं (सो) वहाँ भी राहु (उनका) बड़ा भारी शत्रु है (उसके ग्रसनेका भय उन्हें सदा बना रहता है) ।

समुझ—मु०, वै०, वि०, पो० । समुझि—रा०, ह०, ज०, दी०, श्री० श० । ४ रबि ससि—६६, प्र०, ज०, भ० । ससि रबि—औरोंमे । ५ मो—६६, भ० । महुँ (वा 'महँ')—प्रायः औरोंमे । ६ तहुँ—६६, रा०, भ० । तहँ—प्रायः औरोंमे । ७ मिटै—६६, भा०, वे०, ह०, ७४, भ० । छुटै—रा०, आ०, पो० । ८ होहि—६६, रा०, दी०, ह०, ज०, १५, भ० । होहु—भा०, वे०, मु०, वि०, पो०, वै०, ५१ । ९ को—६६, रा०, भा०, ह०, प्र०, भ०, पो० । कर—५१, ७४, आ० ।

२। यद्यपि देवसरि गंगाजी अत्यन्त पवित्र है, तीनों लोकोंमे उनका भारी सुयश है (तथापि) भगवान्‌के चरणोंका त्याग करनेसे अवतक उनका भी नित्यका वहना नहीं मिटता। ३। श्रीरघुनाथजीका भजन किये विना दुःख नहीं मिट सकता—वेदोंने (इस विषयका) संदेह मिटा दिया है। तुलसीदासजी कहते हैं कि (जव श्रुतिसिद्धान्त है कि विना रामभजनके क्लेश नहीं मिटते तव उचित है कि) सव आशायें त्यागकर श्रीरामजीका गुलाम (सेवक) वन जा।४।

नोट—१ पद ८४ 'तौ तू पछितैहै मन...' मे मनको समझाया कि दुर्लभ शरीरको व्यर्थ हरिविमुख-साधनोंमे न खो, उनसे सुख न मिलेगा; अतः अनुकूलको ग्रहण कर, प्रतिकूलको छोड़ प्रभुकी शरण हो। न समझनेपर उसे पद ८५ में 'सठ' संवोधित-कर प्रभुके कुछ गुण कहकर भवतरणका सुगम उपाय वताया कि प्रभुकी ओर तनिक देख ले और उनके पदकमलोंको क्षणमात्र भी न भुला। फिर ८६ में वताया कि चारों वेदोंका यही सिद्धान्त है, श्रीसुनीतिजीने ध्रुवजीको यही वताया था जिसपर आरूढ़ होकर उन्होंने परम अविचल पद प्राप्त किया। अव इस पदमें पद ८४ मे जो कहा था कि हरिपदविमुख सुखसाधन व्यर्थ है और जो पद ८६ मे कहा था कि प्रभुपदचिन्तन विना कहीं आश्रय नहीं, कहीं विपत्ति मिट नहीं सकती, उन दोनों सिद्धान्तोंको एकत्र करके कहते हैं अर्थात् 'हरिपदविमुख काहू न लह्यो सुख' तथा 'मिटै न विपति भजे विनु रघुपति' दोनोंको क्रमसे कहते हैं। और स्पष्टरूपसे 'रामको चेरो' होनेका आदेश देते हैं। मुख्यतः जो पिछले पदके अंतिम चरणमे कहा गया, उसीको इस पदमे विशेष स्पष्ट करते हैं।

टिप्पणी—१ (क) 'मूढ़' और 'शठ'—क्योंकि ऐसा मोहमें पड़ा है कि विषयोंका संग नहीं छोड़ता, उपदेश नहीं सुनता। (ख) 'काहू न लह्यो सुख'—हरिपदविमुखको सुख नहीं मिलता। पद ८५ 'सुख साधन हरि-विमुख वृथा', तथा पद ८६ 'श्रीरघुवीरचरन चितन तजि नाहिंन ठौर' में विशेष लिखा जा चुका है। (ग) 'यह समुझु सवेरो'—भाव कि अभी कुछ गया नहीं, अव भी चेत जा, 'तुलसी अजहुँ सुमिरि रघुनाथहि तर्‌यो गयंद जाके एक नायँ।८३(६)।' मे देखिए। पुनः, भाव कि अव बुढ़ापा आ गया, अव भी समझ जा, इतने पर भी चेत जा, तो

सवेरा ही है, काम बन जायगा। यथा 'सो प्रगट तनु जरजर जराबस ब्याधि सूल सतावई। सिर कंप इंद्रियसक्ति प्रतिहत बचन काहु न भावई॥···ऐसिहु दसा न बिराग तहँ तृष्ना तरंग बढ़ावई॥··· अजहूँ बिचारु बिकार तजि भजु राम जन सुखदायकं॥ १३६ (८-६)।', 'जमके पहरू दुख रोग बियोग बिलोकतहू न बिरागहि रे॥ ममता बस तैं सब भूलि गयो भयो भोरु महाभय भागहि रे। जरठाइ-दिसा रवि-काल उयेउ, अजहूँ जड जीव न जागहि रे। क० ७।३१।'

[पुनः, 'सवेरो' अर्थात् पौरुषहीन होनेसे पहिले ही। (दु०, भ० स०)। वा, नरतनके जीवित रहते-रहते। (वै०)]

टिप्पणी—२ 'बिछुरे रवि ससि मन नयननि तें···' इति। (क) अब दिखाते हैं कि तुझ ऐसे विषयी हरिविमुख जीवोंकी तो बात ही क्या, जो बड़े-बडे जीव हैं वे भी प्रभुसे विमुख (पृथक्) होनेपर दुःखको प्राप्त हुये हैं।

२ (ख) सूर्यका जन्म भगवान्के नेत्रोंसे और चन्द्रमाका उनके मनसे कहा गया है। यथा 'चन्द्रमा मनसो जातश्चक्षोः सूर्यो अजायत।' (शु० यजुर्वेद अध्याय ३१, पुरुषसूक्त १२) ये दोनों लोकपाल भी हैं, जगत्का हित करते हैं, जगत्के जीवन हैं। यथा 'जग हित हेतु बिमल बिधु पूषन। १।२०।६।' सूर्योदय कर्मकाण्डका प्रचारक और चन्द्रमा अमृतमय किरणोंसे जगत्को जीवनदाता होता है, इत्यादि। ऐसे समर्थ होनेपर भी प्रभुसे बिछुड़ते ही वे दुःखमें पड़ गए, सदा आकाशमें भ्रमते रहते हैं, क्षणभर भी विश्राम नहीं पा सकते।—यह तो 'सुख न लह्यो' चरितार्थ हुआ। और, 'तहँ रिपु राहु बड़ेरो' से 'मिटै न बिपति' सिद्ध किया। राहु चन्द्रमा और सूर्य को ग्रसता रहता है। यथा 'ग्रसै राहु निज संधिहि पाई।१।२३८।१।', 'अजहुँ देत दुख रबि ससिहि सिर अवसेषित राहु।१।१७०।'

२ (ग) 'पावत दुख बहुतेरो' इति। वैजनाथजी लिखते हैं कि चन्द्रमा क्षीण-पीन है (घटता-बढ़ता है, यथा 'घटै बढ़ै बिरहिनि दुख-दाई। १।२३८।'), कलंकी है (यथा 'दिन मलीन सकलंक।१।२३७।' गुरुतियगामी होनेसे यह कलंकित हो गया, यथा 'ससि गुर-तिय-गामी ··।२।२४८।' इससे जनाया कि वह कामी हो गया, कामीको कलंक लगता ही है। यथा 'कामी पुनि कि रहहि अकलंका।७।११२।' ऐसा होनेसे शुभ गतिमें भी संदेह होगा, यथा 'सुभ गति पाव कि

परतियगामी ।७।११२।४।'—यह दुःख भी क्या कम है ?), और क्षयरोगग्रस्त है—[नक्षत्र नामकी दक्षकी २७ कन्याओंमेंसे (जो चन्द्रमाको व्याही थीं) वह रोहिणीमें अधिक प्रेम करता था। अन्य कन्याओंसे यह जानकर दक्षने यक्ष्मा रोग होनेका शाप दे दिया। इत्यादि। (म०भा० शल्य० ३५।४५—८४ में पूरी कथा है)] इसी प्रकार सूर्यको बिछुड़ते ही दुःख यह मिला कि विश्वकर्माने इन्हें खरादकर इनके बारह खण्ड कर दिये—(इसकी कथा पद्म पु० सृष्टि खंडमें है जो पद २ की टिप्पणी ३ (क) में लिखी गई है), हनुमानजीने जन्मते ही इनको ग्रास कर लिया, (जिससे नित्य भय लगा रहता है; यथा 'जाको बालविनोद समुझि दिन डरत दिवाकर भोर को। ३१(४)।', और दैत्योंका सदा भय रहता है। मन्देह नामके असुर सूर्योदय होते ही नित्य उनको घेर लेते हैं।)

२ (घ) 'भ्रमत श्रमित०'—दिनरात लगातार भ्रमण करते रहते हैं और शत्रुद्वारा संकटका भय रहनेसे सदा श्रमित (थके) रहते हैं, श्रम कभी नहीं छूटता।

टिप्पणी—३ 'जद्यपि अति पुनीत सुरसरिता···' इति। गंगाजीकी अत्यन्त पवित्रता, अत्यन्त महिमा और कीर्त्तिका उल्लेख गोस्वामीजीने पूर्व पद १७, १८, १९ और २० में किया है। विष्णुपद-मकरन्द होनेसे वे परम पुनीत हैं, त्रिपथगामिनी होकर तीनों लोकोंमें रहनेसे इनका सुयश तीनों लोकोंमे हो रहा है। इनके अवतरणकी कथायें पद १७ (१) टि० १ मे, अमित महिमाका उल्लेख पद १८ (५) टि० १० (क), पद १९ टि० ३ में देखिए। ऐसी समर्थ त्रिलोकको पवित्र करनेवाली और परम यशस्विनी होनेपर भी हरिपदसे बिछोह होनेपर ये भी सुखी नहीं हैं, दिनरात वहती ही रहती है, स्थिर एक क्षणको भी नहीं रह पातीं। (वैजनाथजी लिखते हैं कि जिनके दर्शन-मात्रसे महापातकी भी सद्गति पाते है ऐसी गंगाजी भी थिरता नहीं पातीं, और शवरी, गीध आदि नीच जातिवाले प्रभुपदकी शरणागत हो अचल हो गए)।

टिप्पणी—४ 'मिटै न बिपति भजे बिनु···' इति। (क) श्रुतियोंका यह निश्चित सिद्धान्त है कि विना रघुपतिके भजनके सुख नहीं हो सकता; यथा 'श्रुति पुरान सब संत कहाहीं। रघुपति भगति विना सुख नाहीं।७।१२२।१४।' अतएव हमारा क्या कर्तव्य है यह बताते हैं

कि 'सब आस छोड़ि करि होहि राम को चेरो' और सब आशा-भरोसा छोड़कर श्रीरामजीका भजन कर। इससे जनाया कि यह भी श्रुतिसिद्धान्त है। यथा 'श्रुति सिद्धांत इहै उरगारी। राम भजिअ सब काज बिसारी। ७।१२२।' आशा छोड़नेको कहते हैं, क्योंकि यही परम दुःख है एवं दुःखका कारण है, दूसरे इसके रहते भजन हो नहीं सकता। यथा 'आशा हि परमं दुःखं नैराश्यं परमं सुखम्। यथा संछिद्य कान्ताशां सुखं सुष्वाप पिङ्गला। भा० ११।८।४४।' (अर्थात् आशा ही परम दुःख है और आशारहित होना ही परम सुख है, जैसे पिंगला कान्ताशा छोड़नेपर ही सुखकी नींद ले सकी),* 'अब तुलसिहि दुख देत दयानिधि दारुन आस पिसाची।१६३।', 'जब लगि नहि निज हृदि प्रकास अरु विषय आस मन माही। तुलसिदास तब लगि जगजोनि भ्रमत सपनेहुँ सुख नाही।१२३।', 'मोर दास कहाइ नर आसा। करइ तो कहहु कहा बिस्वासा।७।४६।३।'—इसी तरह पूर्व 'त्यागि सब आस' नामजप करनेको कहा है—४६ (६ छ-ज) देखिए और आगे पद १०३ में 'और आस बिश्वास भरोसो हरौ' यह प्रार्थना भी की है।

४ (ख) भाव यह है कि अनन्य उपासनाकी रीतिपर प्रभु श्री-रघुनाथजीकी सेवा कर। यथा महारामायणे—"गुरुमन्त्रानुसारेण लयं ध्यानं जपं तथा। पाठं तीर्थं च संस्कारमिष्टं सर्वपरात्परम्॥ इष्टपूजां प्रकुर्याद्वै तत्कथां शृणुयात्पठेत्। तदिदं व्यापकं विश्वं कथ्यते साप्यु-पासना॥ न विधिर्न निषेधश्च प्रेमयुक्तं रघूत्तमे। इन्द्रियाणामभावः स्यात्सोनन्योपासकः स्मृतः॥" (अर्थात् गुरुदेवसे जिस इष्टका मंत्र प्राप्त हो उसी मंत्रके विधानानुसार लय, ध्यान, जप, पाठ, तीर्थ, संस्कार, इष्टनिष्ठा इष्टमें परात्परत्वकी भावना, इष्टपूजा, इष्टकथाश्रवण, इष्टचरित्रपाठ और समस्त विश्वको अपने इष्टसे व्याप्त मानना "उपा-सना" है। श्रीरामप्रेमातिरेकके कारण जिसकी इन्द्रियोंका अभाव हो जाय, अर्थात् 'तन दुख सुख नहि तेही'—की दशा हो जाय वह

---

* म० भा० शान्ति० १७४।६२ मे यही इन शब्दोमे कहा है – 'सुखं निराशः स्वपिति नैराश्यं परमं सुखम्। आशामनाशां कृत्वा हि सुखं स्वपिति पिंगला॥' (जिसे किसी प्रकारकी आशा नही है, वही सुखमे सोता है। आशाका न होना ही परम सुख है। आशाको निराशामे परिणत करके पिंगला सुखकी नींद सोने लगी।

अनन्योपासक है। उस दशामें उसपर विधिनिषेधका बंधन नहीं रह सकता।)। (वै०)। पद ६५ में उत्तम बड़भागी उपासकोंके लक्षण कविने स्वयं दिये हैं—मति, गति और रति तीनों श्रीरघुनाथमें ही लगी हों। ६५ (४ क-ख) देखिए।

४ (ग) 'सब आस' अर्थात् सुर, नर, मुनि, दनुज, दैत्य आदि प्राणीमात्रकी आशा, विषयसुखकी आशा, अर्थधर्मकामादिकी आशा, यहाँतक कि सब धर्मोंकी आशा छोड़कर श्रीरामजीका सेवक हो। यथा 'सर्व धर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज' (गीता), 'सेवक हित साहिब सेवकाई। करै सकल सुख लोभ बिहाई। २।२६८।४।', 'सहज सनेह स्वामि-सेवकाई। स्वारथ छल फल चारि बिहाई। २।३०१।३।', 'देह धरे कर यह फल भाई। भजिअ राम सब काम बिहाई। ४।२३।६।'

मिलान कीजिए—'अब नाथहि अनुरागु जागु जड़ त्यागु दुरासा जीतें। बुझै न काम अगिनि तुलसी कहुँ बिषय भोग बहु घी तें। १९८ (४)।' दुराशायें जबतक रहेंगी तबतक प्रभुमें अनुराग नहीं होनेका।

॥ श्रीसीतारामचन्द्रार्पणमस्तु ॥

८८

कबहूँ तो[1] मन बिश्राम न मान्यो।
निसि दिन भ्रमत बिसारि सहज सुख जहँ तहँ इंद्रिन्ह[2] तान्यो।१।
जदपि बिषय सँग सहे[3] दुसह दुख बिषम जाल अरुझान्यो।
तदपि न तजत मूढ़ ममता बस जानतहूँ नहिं जान्यो।२।
जनम अनेक किये नाना बिधि करम कीच चित सान्यो।
होइ न बिमल बिबेक-नीर बिनु बेद पुरान बखान्यो।३।
निज हित नाथ[4] पिता गुर हरि सों❀ हरषि हृदय नहि आन्यो।
तुलसिदास कब तृषा जाइ सर खनतहिं जनम सिरान्यो।४।

---

१ तो—रा०, ज०, श्री० श०। तौ—ह०, प्र०। भा०, वे०, ७४, आ० मे यह शब्द नही है। २ इद्रिन्ह—रा०, ७४। इंद्रिन—प्रायः औरोमे। ३ सहे—रा०, ५१, ७४, ज०, मु०, दी०। सहै—वै०, डु०,। सहत—ह०। सह्यो—भा०, वे०, वि०, पो०, प्र०, भ०। ४ मातु—ज०। ❀ सो हरषि—रा०, ह०, ५१, ७४, आ०, श्री० श०, भ० सो हरष—भा०, वे०, ज०।

शब्दार्थ—मान्यो = माना। मानना = स्वीकार करना; आदर करना। तान्यो = ताना हुआ। तानना = खींचकर पूरी लंबाईतक बढ़ाकर ले जाना। 'खीचना' और 'तानना' में यह अन्तर है कि ताननेमें वस्तुका स्थान नहीं बदलता, जैसे, खूँटेमें बँधी हुई रस्सी तानना। पर 'खीचना' किसी वस्तुको इस प्रकार बढ़ानेको भी कहते हैं जिसमें वह अपना स्थान बदलती है। जैसे, पंखा या गाड़ी खीचना। ताननेमें कुछ बल लगाने या जोरसे खीचनेका भी भाव है। जहँ-तहँ = जहाँ-तहाँ; जिधर देखो उधर ही। = इधर-उधर। यथा 'जहँ-तहँ गईं सकल मिलि सीता कर मन सोच।सुं०', 'जहँ-तहँ सोचहि नारि नर कृस तन राम वियोग।७ दो०।' अरुझाना = उलझना, उलझाना। अरुझान्यो = उलझा या उलझाया हुआ; फँसा-फँसाया। तदपि = तथापि; तो भी। कीच = कीचड़। सान्यो = साना हुआ। सानना = ओतप्रोत, लिप्त वा लीन करना। तृपा = प्यास। खनना = खोदना। सिराना = बीत जाना।

पद्यार्थ—कभी भी तो मनने विश्राम न स्वीकार किया। अपने सहजानन्द (स्वाभाविक सुख) को भुलाकर दिनरात इन्द्रियोंकी खींचातानीमें (अर्थात् समस्त इन्द्रियोंद्वारा अपनी-अपनी तरफ खींचा-खींचीमें) जहाँ-तहाँ चक्कर खाता फिरता है।१। यद्यपि विषयों-के संगसे कठिनतासे सहे जाने योग्य दुःख भोगे और कठिन जालमें उलझकर फँस गया, तो भी मूर्ख ममता-मोहवश उन्हें नहीं छोड़ता। जानकर भी (अर्थात् कष्ट भोगकर अनुभव कर लिया कि विषयोंमें पड़ा नहीं कि दुःख भोगना पड़ेगा) कुछ न जाना (अर्थात् अनजान बना है, फिर विषयोंके पीछे दौड़ने लगा, मानों यह मालूम नहीं है कि इनके संगसे भवदुःख भोगना पड़ेगा। जानबूझकर अपनेको धोखा दे रहा है)।२। अनेक जन्मोंमें अनेक प्रकारके कर्म किये, कर्मरूपी कीचड़में चित्तको सान दिया †अर्थात् उनमें लिप्त हो गया। बिना विवेक (अर्थात् सत्यासत्यके विचार) रूपी जलके (अब किसी भी प्रयत्नसे) वह निर्मल नहीं हो सकता।—ऐसा वेद और पुराणोंने कहा है।३। हरि ऐसे अपने सच्चे हितैषी, स्वामी, पिता और गुरु

† अर्थान्तर—१ 'अनेक जन्मार्जित विविध प्रकारके कर्मरूपी कीचमे तू लिप्त हो गया' (दीनजी)।

को हर्षपूर्वक हृदयमें न ले आया।‡ तुलसीदासजी कहते हैं कि तालाब खोदनेमें ही (सारा) जीवन बीत गया, प्यास (न जाने) कब बुझे।४।

नोट—१ ☞ पूर्वके पद ८४, ८५, ८७ में 'मन'को स्पष्ट संबोधित किया है। यथा 'तौ तू पछितैहै मन मीजि हाथ।८४।', 'मन माधवको नेकु निहारहि।८५।', 'सुनु मन मूढ़ सिखावन मेरो।८७।' परन्तु इस पदमें प्रत्यक्ष रूपसे संबोधन नहीं है। संभवतः दो टीकाकारोंको छोड़कर शेष सभीने इसे संबोधित करके अर्थ किया है। दासकी समझमें इस पदमें कवि अपने हृदयमें विचार कर रहे हैं। हृदयमें ऐसा विचार करके तब अगले पदमें प्रभुसे प्रार्थना करते हैं कि मन-को मना कर दीजिए, उसे मेरे वशमें कर दीजिए।

टिप्पणी—१ (क) 'कबहूँ मन विश्राम न मान्यो' इति। 'मान्यो' शब्दसे सूचित किया कि समझानेपर भी हठसे विश्रामके विरोधी विषयोंमें लगा है, चाहता तो उपदेशपर चलकर विश्राम प्राप्त कर लेता। जिन बातोंका उपदेश पिछले पदोंमें किया है वे सब विश्राम देनेवाले हैं, जैसे कि कथा-श्रवण-कथन, नामकीर्तन, धनुर्धारी श्रीरामका ध्यान, आशा छोड़कर रामभजन स्मरण, हरिविमुखताका त्याग आदि—इन्हींका उपदेश पद ८४ से ८७ तक किया है। इनसे विश्राम मिलता है; यथा—'सुनेउँ पुनीत राम-गुन-ग्रामा। तुम्हरी कृपा लहेउँ विश्रामा। ७।१२५।७।', 'एहि बिधि कहत रामगुनग्रामा। पावा अनिर्बाच्य बिश्रामा ५ ८।२।', 'विश्रामप्रद नाम कलि कलुष भंजन अनूपं। ४६ (६)।', 'तब लगि कुसल न जीव कहँ सपनेहुँ मन बिश्राम। जब लगि भजत न राम कहँ सोकधाम तजि काम। ५।४६। तब लगि हृदय बसत खल नाना। लोभ मोह मतसर मद माना॥ जब लगि उर न बसत रघुनाथा। धरे चाप सायक कटि भाथा॥', 'ताहि कि संपति सगुन सुभ सपनेहु मन बिश्राम। भूतद्रोहरत मोह बस रामबिमुख रति काम।६।७७।', 'जगदात्मा

‡ अर्थान्तर—१ अपने सच्चे हितैषी ''जो श्रीभगवान् हैं। (दीनजी)।

२—अपना कल्याण तो परम प्रभु, परम पिता और परम गुरुरूप हरिसे है, पर तूने उनको हुलसकर हृदयमे कभी धारण नहीं किया। (पो०)।

३—जैसा प्रेम अपने मित्र, पिता और गुरुके साथ किया जाता है, वैसा तूने प्रसन्न होकर कभी हृदयसे भगवान्के साथ नहीं किया। (वि० ह०)।

प्रानपति रामा। तासु विमुख किमि लह विश्रामा ।६।३४।६।', 'रामकृपा विनु सपनेहुँ जीव न लह विश्राम। ७।६०।' (रामकृपा भजन करनेसे होती है। यथा 'भजत कृपा करिहहि रघुराई। १।२००।६।')।— इत्यादि उपदेशों को ग्रहण न किया, इसीसे कहा कि तूने विश्राम स्वीकार न किया, विषयभोगको ही ग्रहण किया।

१ (ख) 'निसि दिन भ्रमत बिसारि सहज सुख' इति। जीव ईश्वरांश और 'चेतन अमल सहज-सुखरासी' है। इस अपने स्वरूपको भूल गया। इसीको पद १३६ में 'निर्म्मल निरंजन निर्विकार उदार सुख' और पद २४५ में 'शीतल मधुर पीयूष रूप' कहा है, यथा 'सीतल मधुर पियूष सहज सुख निकटहि रहत दूरि जनु खोयो। वहु भाँतिन श्रम करत मोह वस वृथहि मंद मति वारि विलोयो।' इसीको ब्रह्मपीयूष मधुर शीतल रस कहा है, जिसको भूल जानेसे दिनरात जीव विषयोंके पीछे-पीछे दौड़ता फिरता है। यथा 'ब्रह्म पियूष मधुर सीतल जौ पै मन से रस पावै। तौ कत मृगजलरूप बिषय कारन निसि बासर धावै। ११६ (३)।'—पूर्व भी इसपर लिखा जा चुका है।

१ (ग) 'जहँ-तहँ इंद्रिन्ह तान्यो' इति। प्रत्येक इन्द्रिय अपना-अपना विषय देखकर जीवको अपनी-अपनी ओर खींचा करती है। अर्थात् जब जिस विषयने जिस इन्द्रियको खींचा, तब मन भी उसीके साथ खिंच गया।

भगवान् दत्तात्रेयजीने भी ऐसा ही कहा है—'जिह्वैकतोऽमुमपकर्षति कर्हि तर्षा शिश्नोऽन्यतस्त्वगुदरं श्रवणं कुतश्चित्। घ्राणोऽन्यतश्चपलदृक क्व च कर्मशक्तिर्बह्व्यः सपत्न्य इव गेहपतिं लुनन्ति॥ भा० ११।६।२७।' अर्थात् जैसे बहुत-सी सौतें अपने एक पतिको अपनी-अपनी ओर खींचती हैं, वैसे ही जीवको जीभ एक ओर—स्वादिष्ट पदार्थों की ओर खींचती है तो प्यास दूसरी ओर—जलकी ओर, जननेन्द्रिय एक ओर—स्त्रीसंभोगकी ओर ले जाना चाहती है तो त्वचा, पेट और कान दूसरी ओर—कोमल स्पर्श, भोजन और मधुर शब्दकी ओर खींचने लगते हैं। नाक कहीं सुन्दर गंध सूँघनेके लिये ले जाना चाहती है तो चंचल नेत्र कहीं दूसरी ओर सुन्दर रूप देखनेके लिये। इस प्रकार सारी इन्द्रियाँ इसे सताती रहती है।

श्रीप्रह्लादजीने भी भगवान् नृसिंहकी स्तुति करते हुए यही बात

कही है—'जिह्वैकतोऽच्युत विकर्षति मावितृप्ता···। भा० ७।९।४०।' शेष श्लोक सब वही है।

'इन्द्रियोंकी खींचा-तानीमें दिनरात चक्कर काटता रहता है', कथनका भाव कि इसीमें सुख मान लिया है, जिसमें तीनों कालोंमें सुख नहीं; नहीं तो 'सहज सुख' को न भुला देता। यथा मृग-भ्रम-वारि सत्य जल जानी। तहँ तू मगन भयो सुख मानी। तहँ मगन मज्जसि पान करि त्रय-काल जल नाहीं जहाँ। निज सहज अनुभव रूप तव खल भूलि जनु आयो तहाँ। १३६ (२)।'

१ (घ) ☞ मिलान कीजिए—'इंद्रिय सकल विकल सदा निज निज सुभाउ रति। जे सुख संपति सरग नरक संतत संग लागी। हरि परिहरि सोइ जतन करत मन मोर अभागी।११०।'

टिप्पणी—२ (क) 'जदपि विषय संग सहे दुसह दुख··' इति। विषयसंगसे बहुत असह्य दुःख होता है—इसी शरीरमें रोग, वियोग, शोक, श्रम, अशान्ति इत्यादि सब इसीसे होते हैं और आगे बारबार विविध योनियोंमें जन्म-मरण होता भवप्रवाहमे बहते रहना पड़ता है जिसमें भी अत्यन्त कठिन दुःख होता है। यथा 'रोग बियोग सोक श्रम संकुल बड़ी बय बृथहि अतीत। २३४।', 'विषय बारि मन मीन भिन्न नहि होत कबहुँ पल एक। ताते सहिय बिपति अति दारुन जनमत जोनि अनेक। १०२ (२)', 'जनमत मरत दुसह दुख होई।७।१०९।७।'

[मेला आदिमें गाती हुई स्त्रियोंका शब्द कानसे सुन, पैरों द्वारा उनके निकट जा उनका रूप देख आसक्त हुआ, चलते हुए त्वचा-द्वारा उनका स्पर्श हुआ। मुखद्वारा उनसे बातचीत की।—इसीमे वृथा ही सुख मानकर स्नेहरूप कठिन जालमें फँसा। वियोग होनेपर दुःख हुआ, बैठे खड़े किसी प्रकार चैन नहीं। फिर जन्म, जरा, मरण, गर्भवास, दारिद्र्य आदि कर्मानुसार फल भोगना पड़े। (वै०)]

प्रह्लादजीने गृहस्थके मैथुनादि सुखोंको खुजलीके समान कहा है, जिसमे खुजलानेसे अधिकाधिक दुःख होता है। यथा "यन्मैथुनादि गृहमेधिसुखं हि तुच्छं कण्डूयनेन करयोरिव दुःखदुःखम्। तृप्यन्ति नेह कृपणा बहुदुःखभाजः ··। भा० ७-९-४५।' ये भोग तुच्छ हैं, फिर भी दुःख उठानेपर भी दीनजन इनसे तृप्त नहीं होते।

२ (ख) 'विषम जाल अरुझान्यो' इति। संसारके सभी व्यवहार जाल ही हैं; यथा 'जोग वियोग भोग भल मदा। हित अनहित मध्यम भ्रम फंदा॥ जनम मरन जहँ लगि जग जालू।...'इत्यादि। (२।६२)। पर स्नेह और ममत्व 'विषम जाल' है, इसका छूटना अत्यन्त कठिन होता है। देखिए, श्रीसुमित्राजी कैसी परम भक्त थीं, फिर भी श्रीलक्ष्मणजी डरे कि कहीं स्नेहवश ऐसा न हो कि वह रघुनाथजीके साथ जाने न दे। यथा 'एहि सनेह बस करब अकाजू॥ मागत बिदा सभय सकुचाहीं। जाइ संग बिधि कहिहि कि नाहीं।२।७३'; इसीसे आज्ञा पाते ही उनके चलनेको उत्प्रेक्षाद्वारा इस प्रकार कविने कहा है—'मातु चरन सिरु नाइ चले तुरत संकित हृदय। बागुर विषम तोराइ मनहु भाग मृगु भाग बस। २।७५।' 'बागुर बिषम'= विषम जाल। माता, पिता, भाई, बहिन, स्त्री, संतान, धन, धाम आदिमें जो ममत्व है, अपनपौ है, यह सब विषम जाल है।

२ (ग) 'तदपि न तजत मूढ़...' इति। यह अनुभव करके भी कि विषयसंगसे दुसह दुःख उठाने पड़े, तो भी विषयोंसे विरक्त नहीं होता, फिर भी चबायेको चबाता है, उसीके लिए दौड़ता है। अतः मूढ़ कहा। यथा 'लोलुप भ्रमत गृहपसु ज्यों जहँ-तहँ सिर पदत्रान बजै। तदपि अधम बिचरत तेहि मारग कबहुँ न मूढ़ लजै।८६।'

'जानतहूँ नहिं जान्यो'—जानते हुए भी अज्ञानी बना है। कुछ ऐसा ही अन्यत्र भी कहा है। यथा 'बंचक बिषय बिबिध तनु धरि अनुभये सुने अरु डीठे। यहु जानतहुँ हृदय अपने सपने न अघाइ-उबीठे।१६६।'

टिप्पणी—३ (क) 'जनम अनेक किये नाना...' इति। भा० ५।५ मे भगवान् ऋषभदेवजीने पुत्रोंसे कहा है कि जबतक मनुष्यको परमात्मतत्त्वके जाननेकी इच्छा नही होती तभीतक उसका अज्ञानवश सर्वत्र पराभव होता है, क्योंकि अज्ञानके कारण जबतक वह लौकिक-वैदिक क्रियाकलापोमे फँसा रहता है तबतक उसका चित्त कर्मवासनाओसे युक्त रहता है और इसीसे उसे शरीरबंधनकी प्राप्ति होती है। कर्मवासनाओंके वशीभूत हुआ चित्त मनुष्यको फिर कर्मोमे ही प्रवृत्त करता है। यथा "पराभवस्तावदबोधजातो यावन्न जिज्ञासत आत्मतत्त्वम्। यावत्क्रियास्तावदिदं मनो वै कर्मात्मकं येन शरीरबन्धः।५। एवं मनः कर्मवशं प्रयुङ्क्ते अविद्ययाऽऽत्मन्युपधीयमाने।'' ६।"—'करम कीच सान्यो'

का भाव इस उद्धरणसे स्पष्ट हो जाता है। अर्थात् कर्मवासनाओंसे युक्त कर्मवासनाओंके वशीभूत होनेसे चित्त फिर कर्मोंमें ही प्रवृत्त रहा।

३ (ख) पूर्व जो अनेक बार जन्म हुए, उनमें जो नाना प्रकारके कर्म किये वे ही कीच हैं, उनमें चित्त सना हुआ है, आशय यह है कि जिस फलकी वासनासे कर्म किया, चित्त उस फलकी वासना-रूप हो रहा है।

३ (ग) [☞ 'तदपि न तजत मूढ़ ममता बस' जो पिछले चरणमें कहा, उसका कारण इस चरणमें बताया कि जीव इंद्रियों और विषयोंके अधीन होकर नाना दुःख होनेपर भी उन विषयोंको नहीं छोड़ता, क्योंकि कर्म-कीचमें सना है। अहंकारपूर्वक जो कर्म किए हैं उन्हींमें चित्त सना है। (श्र० स०)।

जल और मिट्टीके मिलनेसे कीचड़ होता है। यहाँ कर्म मिट्टी है और सुखकी वासना जल है। परोक्ष सुखकी चाहसे तीर्थ व्रत दान आदि सवासिक सत्कर्म किये और प्रत्यक्ष सुखकी चाहसे परस्त्रीगमन, पर-धनहरण आदि असत्कर्म किये। इस तरह वासना सहित कर्मोंको चित्तमें साननेसे उनका फल-भोगरूप कीचड़ जीवमें लग गया। जैसा स्वभाव पड़ गया वैसा ही कर्म कर फल भोगता है। (वै०)]

३ (घ) 'होइ न विमल विवेक नीर बिनु···' इति। कीचड़को कीचड़से धोनेसे वह नहीं छूटता, किन्तु और लपट जाता है। यथा 'करम कीच जिय जानि सानि चित चाहत कुटिल मलहिं मल धोयो।२४५।', 'छूटहिं मल कि मलहि के धोए। घृत कि पाव कोउ बारि बिलोए। ७।४६।५।', 'अन्यस्तु कामहत आत्मरजः प्रमाष्टुमीहेत कर्म यत एव रजः पुनः स्यात्। भा० ६।३।३३।' (अर्थात् 'अन्य विषयलोलुप पुरुष अपने दोषका मार्जन करनेके लिए प्रायश्चितरूप कर्मोंमें ही प्रवृत्त होते हैं, जिनसे फिर दोषोंकी ही उत्पत्ति होती है।'—प्रायश्चित्तसे फिर दोषोंका होना कीचड़से कीचड़का न छूटना है)।

कीचड़ जलसे धोनेसे छूट जाता है। कर्म-कीच किस जलसे धुलता है, यह यहाँ बताते हैं—'विवेक नीर' से निर्मल हो जाता है। इससे यह भी जनाया कि कर्मकीचमें चित्तको सान देना अविवेक है। (भा० ५।५ उपर्युक्त देखिए)। सत् असत्के विचारको 'विवेक' कहते हैं। सत्यको झूठ और झूठेका सत्य समझ लेना अविवेक है।

जीव झूठे विषयोंमें सत्यकी बुद्धि करके ही सवासिक कर्मोंमें लगा हुआ है; यथा 'साँचो जान्यो झूठ कै, झूठे कहँ साँचो जानि। को न गयो, को न जात है, को न जैहै करि हित हानि।१६०।', 'जानत गरल अमिय विमोह वस, अमिय गनत करि आगि है। उलटी रीति प्रीति अपनेकी तजि प्रभुपद अनुरागिहै।२२४।'

भगवान् राम सत्य हैं, उनका भजन सत्य है, आत्मा सत्य है और सब स्वप्नवत् असत्य है। यथा 'यत्सत्त्वादमृषैव भाति सकलं रज्जौ यथाऽहेर्भ्रमः।', 'सत हरि भजन जगत सब सपना'। जो अहंका विषय नहीं है, उस प्रकृतिमें 'मैं-पन' का अभिमान कर लेनेसे मेरा मन विमूढ़ हो गया है, जिससे मैं आत्माके यथार्थ स्वरूपको भूल गया और गुणोंके द्वारा होनेवाले कर्मोंमें, 'मैं करनेवाला हूँ' ऐसा मानने लगा, मैं तो 'ईश्वर अंश, अविनाशी, चेतन अमल सहज सुखराशि' हूँ, देह नहीं हूँ, देह तो पंचभूतात्मक है, नश्वर है, यह तो कर्मानुसार फलभोगहेतु प्राप्त और नष्ट होता रहता है, इस देहके संबंधी समस्त व्यवहार भी असत्य हैं अनित्य हैं, भवसागरमें डालनेवाले हैं, संसारके समस्त विषय असत्य है, नश्वर हैं, इनमें सुख ढूँढ़ता रहा यह मेरी मूर्खता है, मोहवश होनेसे मैं इनसे सुख चाहता रहा, ये विषय और इन्द्रियोंके संयोग सुख-दुःख देनेवाले, उत्पत्ति-विनाशशील और अनित्य हैं, मैं इनके भुलावेमें मोहवश होनेसे पड़ गया—इत्यादि विचार 'विवेक' है, जिससे मोह दूर होकर कर्मवासनाओंका नाश होता है, श्रीरामजीके चरणोंमें अनुराग होता है, सब मल धुल जाता है। यथा 'होइ विवेकु मोह भ्रम भागा। तब रघुनाथ चरन अनुरागा।२।९३।५।', 'मोह गए बिनु रामपद होइ न दृढ़ अनुराग।७।६१।', 'रामचंद्र अनुराग नीर बिनु मल अति नास न पावै।८२।', 'प्रेमभगति-जल बिनु रघुराई। अभिअंतर मल कबहुँ न जाई।७।४९।६।' आत्मस्वरूप जान लेनेपर सवासिक कर्म फिर नहीं होते; यथा 'कर्म कि होहिं स्वरूपहि चीन्हे।७।११२।३।'—यही कर्म कीचका धुल जाना है।

☞मिलान कीजिए—'अनेकजन्मसाहस्रीं संसारपदवीं व्रजन्। मोहश्रमं प्रयातोऽसौ वासनारेणुकुण्ठितः॥ प्रक्षाल्यते यदा सोऽस्य रेणुर्ज्ञानोष्णवारिणा। तदा संसारपान्थस्य याति मोहश्रमश्शमम्।' (वि० पु० ६।७।१९-२०)। अर्थात् यह जीव अनेक सहस्र जन्मोंतक

सांसारिक भोगोंमें पड़े रहनेसे उन्हींकी वासनारूपी धूलिसे आच्छादित हो जानेके कारण केवल मोहरूपी श्रमको ही प्राप्त होता है। जिस समय ज्ञानरूपी गर्म जलसे उसकी वह धूलि धो दी जाती है तब इस संसार-पथके पथिकका मोहरूपी श्रम शान्त हो जाता है। 'विमल' को 'विवेक' का विशेषण भी देहलीदीपकन्यायसे मान सकते हैं। विमल ज्ञानको भी जल कहा गया है। यथा 'विमल ज्ञान जल जब सो नहाई। तब रह रामभगति उर छाई।७।१२२।११।'

[वैजनाथजी—रामप्रेमरूप निर्मल जलसे धोये विना जीवकी विवेकरूप विमलता नहीं होती।]

नोट—२ मनुजी कहते हैं—मुझे इष्टकी प्राप्ति हो और अनिष्टका निवारण हो जाय, इसीके लिये कर्मोंका अनुष्ठान आरंभ किया गया है। इष्ट और अनिष्ट दोनों ही मुझे प्राप्त न हों, इसके लिये ज्ञान-योगका उपदेश किया गया।—'इष्टं त्वनिष्टं च न मां भजेतेत्येतत्कृते ज्ञानविधिः प्रवृत्तः। म० भा० शान्ति० २०१।११।'—[यह 'ज्ञानविधि' प्रस्तुत पदका 'विवेक-नीर' है] वेदमें जो सकाम योगादि कर्मोंका विधान किया गया, वह उन्हीं मनुष्योंको अपने जालमें फँसाता है, जिनका मन भोगोंमें आसक्त है।—'कामात्मकांश्छन्दति कर्मयोग'। [यही 'किये नाना विधि करम कीच चित सान्यो' 'विषम जाल अरुझान्यो' से सूचित किया गया।]

टिप्पणी—४ (क) 'निज हित नाथ पिता गुर हरि सों···' इति। कर्मकीच न छूटनेका कारण बताते हैं कि अपने सच्चे हितकारी, स्वामी, पिता और गुरु जो हरि हैं, (यथा 'राम हैं मातु पिता गुरु बंधु औ संगी सखा सुत स्वामि सनेही। क० ७।३६।', 'तात मातु गुर सखा तू सब विधि हितु मेरो।७६(३)।'), उनको हर्षपूर्वक हृदयमें नहीं लाता। यदि वे हृदयमें आ जाते तो माया-मोह आप ही नष्ट हो जाते। यथा 'तब लगि हृदय बसत खल नाना। लोभ मोह मत्सर मद माना॥ जब लगि उर न बसत रघुनाथा।५।४७।', 'राम दूरि माया बढ़ति घटति जानि मन माहँ। दो० ६६।' हित अर्थात् सुहृद समान विश्वासपात्र हितैषी, नाथ अर्थात् स्वामी सरीखा सेवकका पोषण करनेवाला, पिता समान रक्षक और पुत्रवत्सल तथा गुरु समान अज्ञाननाशक इत्यादि हरिके समान दूसरा नहीं है।

[(ख) जैसे मित्रको हितकारी जानकर उसमें, रक्षक जानकर स्वामीमें, पालक-पोषक जानकर पितामें और विचित्र स्वार्थो विद्या तन्त्रादिकी शिक्षा प्राप्त करनेके कारण गुरुमें स्नेह करता है, वैसा ही स्नेह हरिसे हृदयमें नहीं लगाया; अर्थात् सबकी ममता-ताग बटोरकर दृढ़ स्नेह श्रीरघुनाथजीसे नहीं किया, जो अचल सुखकी सरिता है। (वै०)]

४ (ग) 'कब तृषा जाइ सर खनतहि जनम सिरान्यो' इति। प्रभुको हृदयमें नहीं लाता तब संसार कैसे जाय? इसीपर दृष्टान्त देते हैं कि यदि तालाब खोदने-खोदते ही जन्म बीत जाय तो प्यास कब जायगी। तात्पर्य कि ऐसे स्थलपर कि जहाँ जल नहीं है जैसे कि मरुभूमिमें, तो वहाँ यदि कोई तालाब और उसके कुएँ खोदे तो वहाँ खोदते-खोदते जन्म बीत भले ही जाय पर जल नहीं ही मिलेगा, इसी तरह विषयोंमें सुख है ही नहीं, तब विषयोंके लिये उपाय करते-करते जन्म ही बीत जायगा, उससे सुख कदापि नहीं प्राप्त होनेका। विषयोंसे सुख प्राप्तिके विचारसे उनके लिये साधन करना मरुभूमिमें सर खोदना है। सुख जल है। 'तृषा जाइ कब' प्यास कब जायगी, कभी तो नहीं; अर्थात् विषयोंसे सुख कब मिलेगा? कभी भी तो नहीं मिलनेका। हाँ, किसी भाग्यके उदयसे विवेक हो जाय, तो उससे विषय-वासनाका त्याग और भजनमें निष्ठा होगी, जिससे फिर संसार छूट जायगा, विषम जाल कट जायगा।

श्रीसीतारामचन्द्रार्पणमस्तु।

☞ पृष्ठ ६१२ तक श्रीशङ्कर मुद्रणालयमें छपा, ६१३ से प्रकाश प्रेसमें।

८९

मेरो मन हरि† हठ न तजै।
निसि दिन नाथ देउँ सिख बहु बिधि करत सुभाउ[1] निजै। १
ज्यों जुवती अनुभवति प्रसव अति दारुन दुख उपजै।
ह्वै अनुकूल बिसारि सूल सठ[2] पुनि[3] खल[4] पतिहि भजै॥ २

†हरि—रा०, ह०, ५१, ज०, डु०, दी०, रा० कु०। हरि जू—भा०, बे०, ७४, प्र०, वै०, वि०, पो०, भ०। शठ हरि—मु०। १ सुभाउ—रा०, ज०, १५, वि०, पो०, भ०। सुभाव—भा०, बे०, दी०। स्वभाव—मु०, वै०। २ सब—१५। सोई—ज०। सठ—अन्य सबों में। ३ फिरि—भा०। पुनि—अन्य सबों में। ४ खलु—७४, बक्सर।

लोलुप भ्रमत गृहप/गृहपसु[५] ज्यों जहँ तहँ सिर पदत्रान बजै।
तदपि अधम बिचरत तेहि मारग कबहुँ न मूढ़ लजै॥ ३
हौं[६] हार्‌यो करि जतन बिबिध बिधि अतिसय प्रबल अजै।
तुलसिदास बस होइ तबहिं जब प्रेरक प्रभु बरजै॥ ४

शब्दार्थ—अनुभवति=अनुभव करती है। अनुभव=परीक्षा द्वारा प्राप्त ज्ञान; तजरुबा; स्मृतिभिन्न ज्ञान। प्रसव=बच्चा जननेकी क्रिया। जनन। अनुकूल=प्रसन्न। सूल (शूल)=कष्ट; बर्छी वा त्रिशूल-छेदन-की-सी पीड़ा। भजै=भजती है अर्थात् सेवन (प्रेम एवं संभोग) करती है। लोलुप=लालचवश। 'गृहप' वा 'गृहपशु'=गृहका रक्षक कुत्ता। पदत्रान=पैरोंका रक्षक जूता। बजै=बजता है; तड़ तड़ पड़ता है। बजना=आघात वा प्रहार होना जिससे शब्द हो। 'जूती बजना' मुहावरा है अर्थात् मारा जाता है। अजै (अजेय)=किसी प्रकार न जीते जाने योग्य; वशमें न होनेवाला। बरजना (वर्जन)=रोकना; मना करना। प्रेरक=प्रेरणा करनेवाला।

पद्यार्थ—हे हरि! मेरा मन हठ नहीं छोड़ता। हे नाथ! मैं रात-दिन उसे बहुत प्रकार शिक्षा देता हूँ, (पर) यह अपनी ही टेव (के अनुकूल) करता है (अर्थात् अपना स्वभाव नहीं छोड़ता)। १। जैसे नवयौवना स्त्री अनुभव करती है कि बच्चा जननेमें अत्यन्त कठिन दुःख होता है, फिर भी उस प्रसव-पीड़ाको भुलाकर वह मूर्खा प्रसन्न होकर दुष्ट पतिका सेवन करती है। २। जैसे लालचवश कुत्ता जहाँ ही जाता है वहीं उसके सिरपर जूते बजते हैं, तौ भी वह नीच उसी मार्गपर चलता है, कभी भी वह मूढ़ लजाता नहीं। ३। अनेक प्रकारके यत्न करके मैं हार गया। (किन्तु) वह अत्यन्त भारी बलवान और अजेय है। तुलसीदासजी कहते है कि यह तभी वशमें हो सकता है, जब उरप्रेरक प्रभु आप उसे डाँटकर मना करें। ४।

नोट—१ मनको उपदेश देते-देते थक गए, वह नहीं मानता। अतएव अब भगवान्‌से प्रार्थना करते हुए अपना दुःख निवेदन करते हैं। दुःखके हरणकी प्रार्थना है। अतः 'हरि' संबोधन दिया। 'भक्तानां दुःखहरणाद्वर्णश्रैष्ट्याद्धरिः स्मृतः।' (अर्थात् भक्तोंके दुःख हरनेसे एवं अतिश्रेष्ठ अङ्ग-कान्ति श्याम सुन्दर वर्ण होनेसे भी भगवान्‌का नाम 'हरि' है)।

---

५ गृहपसु—रा०, वै०, ड़ु०, दी०, वि०, पो०, भ०। गृहप—भा०, वे०, ह०, मु०। ६ हौं—संवत् १६६६ और रा० में प्रायः 'हौं' ही लिपिशैली है।

टिप्पणी—१ (क) 'मन हठ न तजै' इति। 'हठ' विषय वासनाओं और उनके उपायोंका। हठ करता है, यथा '*भवसूल सोक अनेक जेहि तेहि पंथ तू हठि हठि चल्यो। १३६।*' (ख) 'निसिदिन नाथ देउँ सिख बहु बिधि…' इति। पूर्व पद ४५, ४६, ६३, ६५, ७० में शिक्षा दी थी कि कृपाल श्रीरामचन्द्रजीका भजन कर, सदा राम राम जप, भगवान्‌की छबिका अवलोकन कर, रामनामसे स्वाभाविक अनुराग कर, विषयोंका हठ छोड़कर राम-नाम-नवमेघका हठपूर्वक पपीहा बन जा, उपदेश न माननेका परिणाम भी बताया और रामभजनके लाभ बताए और अभी-अभी पद ८४, ८५, ८६, ८७ में समझाया है, इत्यादि। यही 'बहु बिधि' का सिखावन है। 'निसिदिन' अर्थात् निरंतर जब-जब यह विषयोंकी ओर जाता है, तब-तब बराबर सीख देता हूँ।

'नाथ' संबोधनसे जनाया कि जबतक मैंने आपको नाथ न जाना था तबतक अनाथकी तरह दुःख भोगता रहा, सो उचित था; पर अब तो आपका कहलाता हूँ, आपको नाथ समझता हूँ; अतः मनकी यह दुसह साँसति अब तो न होनी चाहिए। यथा—'उचित अनाथ होइ दुख भाजन भयो नाथ किंकर न हौं। अब रावरो कहाइ न बूझिये सरनपाल साँसति सहों। २२२।' आप अनाथोंके नाथ हैं, मुझ अनाथकी नाईं विषय-जालमें पड़े हुए की रक्षा करके मुझे सनाथ कीजिए। यथा 'नाथ तू अनाथको अनाथ, कौन मोसो। ७९।' 'हौं अनाथ प्रभु तुम अनाथ हित चित यह सुरति कबहुँ नहिं जाई। २४२।'—७९ (२ क, ख) देखिए।

१ (ग) 'करत सुभाउ निजै' इति। 'स्वभाव' अर्थात् जन्म-जन्मसे विषयोंकी ओर बराबर दौड़ने और उनमें दुःख देखते हुए भी उन्हींके लिये उपाय करनेका। यथा 'तुलसी मन परिहरत नहि घुरबिनिया की बानि। दो० १३।', 'जनम-जनम अभ्यास निरत चित अधिक-अधिक लपटाई। ८२।' मन स्वाभाविक ही विषयोंमे लिप्त हो रहा है। यथा 'जेहि सुभाय विषयन्हि लग्यो तेहि सहज नाथ सो नेह छाँड़ि छल करिहै। २६८।' स्मरण रहे कि मन लगातार अभ्यास किये हुए विषयोंके प्रति भी स्वभावसे चंचल है अर्थात् मनुष्योंके द्वारा एक जगह स्थापित न किया जा सकनेवाला यह मन मनुष्यको बलपूर्वक मथकर एक-एक विषयसे दूसरे-दूसरे विषयमे बिचरने लगता है।

[वैजनाथजी लिखते हैं कि—आत्मा ईश्वरके अंशसे और मन प्रकृतिके अंशसे है। आत्मरूप सँभालनेपर भी मन प्राकृत स्वभाव नहीं छोड़ता। विषयोंके संगमें पड़कर जब यह दुःख पाता है, तब मैं इसको धिक्कार-

कुत्ता जीभ लपलपाता हुआ टुकड़ेकी लालचसे इधर-उधर फिरता रहता है। जहाँ जाता है वहीं मारा जाता है; अथवा जहाँ-तहाँ उसके सिर-पर जूती बजती है; फिर भी वह उस मारको भूल जाता है और पुनः पुनः वहाँ टुकड़ेके लिए जाता और जूते खाता है।

वैसेही मेरा मन पुनः पुनः उन्हीं अनेक विषयोंके पीछे दौड़ता फिरता है। उनके पीछे जहाँ-तहाँ अपमानित होता रहता है; तब भी वह ऐसा निर्लज्ज है कि अपना हठ अपना स्वभाव, नहीं छोड़ता। कुत्ता तो अधम माना ही गया है, मन भी उसीके समान निर्लज्जतासे पुन-पुनः अपमान सहता है और हठ नहीं छोड़ता; अतएव उसे भी अधम कहा।

३ (ख) मनकी काम-लोलुपताका उल्लेख कविने स्वयं पद १५८ मे किया है। यथा—'काम लोलुप भ्रमत मन हरि भक्ति परिहरि तोरि॥ बहुत प्रीति पुजाइबे पर पूजिबे पर थोरि।···लोभ मनहिं नचाव कपि ज्यों गरे आसा डोरि।'

टिप्पणी—४ (क) 'हौं हार्यो···अतिसय प्रबल अजै' इति। मन बड़ा प्रबल और अजेय है। जितनी भी इंद्रियाँ हैं, वे सभी मनके वशमे है। मन किसी दूसरेके वशमें नहीं है। मन सब बलधारियोसे महा बलवान और भयंकर देवता है। 'भिक्षुगीता' मे ब्राह्मणने कहा है कि जो इसको वशमे कर ले, वह देवताओंका देवता है। मनरूपी शत्रु दुर्जय है, उसका वेग असह्य है, यह मार्मिक पीड़ा पहुँचानेवाला है। यथा "मनोवशेऽन्ये ह्यभवन् स्म देवा मनश्च नान्यस्य वशं समेति। भीष्मो हि देवः सहसः सहीयान युञ्ज्याद् वशे तं स हि देवदेवः। भा० ११।२३।४८। ···तं दुर्जयं शत्रुमसह्यवेगमरुन्तुदं···।"

राजा परीक्षितके पूछनेपर, कि आत्माराम महात्माओंको दैववश स्वतः ही प्राप्त हुई सिद्धियाँ किसी प्रकार क्लेशोंका कारण नहीं हो सकतीं, तब भगवान् ऋषभने उन्हें क्यों त्याग दिया ?', श्रीशुकदेवजीने कहा है कि 'महात्मा इस चंचल मनका विश्वास नहीं करते। इसमे विश्वास करने-से ही श्रीमहादेवजीका चिरकालका संचित तप (मोहनी रूपमें मोहित हो जानेसे) क्षीण हो गया था। यथा "यद्विश्रम्भाच्चिराच्चीर्णं चस्कन्द तप ऐश्वरम्। भा० ५।६।३।"—यह भी मनके अतिशय प्रबल और अजेय होने-का प्रमाण है। भगवान् शंकर भी मनको वशमे न रख सके तब और कौन समर्थ है जो उसे वशमे रख सके ? गीतामें भगवान्ने भी इसे दुर्निग्रह और चंचल कहा है।—'असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्। गीता।६।३५।'

४ (ख) 'बस होइ तबहिं जब प्रेरक प्रभु बरजै' इति। श्रीरामजी ही सबके प्रेरक हैं। यथा 'उर प्रेरक रघुबंस बिभूषन।७।११३।१', 'एक रचइ जग गुन बस जाके। प्रभु प्रेरित नहिं निज बल ताके। ३।१५।६' (जो माया सब जगको नचाती है वह भी प्रभुकी प्रेरणासे ही सब कुछ करती है), 'दोष निलय यह बिषय सोकप्रद कहत सत श्रुति टेरे। जानतहूं अनुराग तहाँ अति सो हरि तुम्हरेहि प्रेरे। १८७।' (इसमें प्रभुको ही मनका प्रेरक कह रहे है)। भाव यह है कि आप 'प्रभु' है, 'कर्त्तुमकर्त्तुं समर्थ' है, आप इसे प्रेरणा कर दे कि यह विषयोकी ओर न जाय वरंच आपके चरणोंमे लगे। आपकी आज्ञा अटल है, यथा 'प्रभु आज्ञा अपेल श्रुति गाई। ५।५६।'; बस इतनी कृपा कर देनेसे वह वशमे हो जायगा, उपदेश मानेगा, स्वभाव छोड़कर आपके चरणोंमे लगेगा।

श्रीसीतारामचन्द्रार्पणमस्तु।

६०

ऐसी मूढ़ता या मन की।
परिहरि रामभगति[1] सुरसरिता आस करत ओसकन की। १।
धूमसमूह निरखि चातक ज्यों तृषित जात[2] मति घन की।
नहिं तहँ सीतलता न पानि[3] पुनि हानि होति लोचन की॥ २॥
ज्यों गच काँच बिलोकि सेन[4] जड़ छाँहँ आपने तन की।
टूटत अति आतुर अहार बस छति बिसारि आनन की॥ ३॥
कहँ लों[5] कहौं कुचाल[6] कृपानिधि जानत हो गति जन की।
तुलसिदास प्रभु हरहु दुसह दुख करहु लाज निज पन की॥ ४॥

शब्दार्थ—या = इस। ओसकन = ओसकी बूँदें। ओस = हवामे मिली भाप जो रातकी सरदीसे जमकर और जलविन्दुके रूपमे हवासे अलग होकर पदार्थोंपर लग जाती है। धूम = धुँआ। तृषित = प्यासा। जात = जाता

१ रामभक्ति—रा०, भा०, बे०। २ जात—रा०, भा०, बे०, ह०। जानि—७४, ज०, प्र०, आ०। ३ पानि—रा०, ह०, ७४, प्र०, ज०, १५। ☞'पानि' पाठ से अनुप्रास और यमकालंकार होता है। वारि—भा०, बे०, आ०, ५१। ४ सेन—भा०, बे०, ह०, ज०, भ०। स्येन—मु०, ७४। स्वान—रा० (किसीने हाशिये पर 'सेन' बनाया है), ५१। ५ लों—रा०, ज०, ७४। लौ—प्रायः औरोंमे। ६ कुचालि—रा०, ह०, १५। कुचाल—भा०, बे०, प्र०, ५१, ७४; आ०।

है। मति घन की = घनकी बुद्धिसे; बादल समझकर। पानि = पानी; जल। गच काँच = शीशेकी गच। गच = पक्का फर्श। चूना सुर्खी आदिसे पिटी हुई जमीन। यथा 'महि बहुरंग रुचिर गच काँचा। जो बिलोकि मुनिवर मन नाँचा।' सेन (श्येन) = बाज। टूटना = किसी ओर एक बारगी वेगसे जाना = झपटना। यह मुहावरा है। आतुर = शीघ्रतासे; उतावली के साथ। यथा 'सर मज्जन करि आतुर आवहु। दीक्षा देउँ ज्ञान जेहिं पावहु। लं० ५६।' छति (क्षति) = हानि। अहार (आहार) = भोजन; यहाँ 'भूख' अर्थ होगा। आनन = मुख (यहाँ चोचसे तात्पर्य है)। लौं = तक। पन = प्रतिज्ञा; विरुद, प्रण। लाज वा लज्जा करना = किसी बातकी बड़ाईकी रक्षाका ध्यान करना; मर्यादाका विचार करना।

पद्यार्थ—इस मनकी मूर्खता ऐसी है कि रामभक्तिरूपी गंगाको छोड़कर ओसकी बूँदोंकी आशा करता है।१। जैसे धुँएका समूह देखकर प्यासा पपीहा उसमें घनकी बुद्धि करके, अर्थात् उसे बादल समझकर (उसके निकट) जाता है। (परन्तु) वहाँ न तो शीतलता है और न जल ही, तदनन्तर उलटे नेत्रोंकी हानि होती है।२। जैसे मूर्ख बाज शीशेकी गचमें अपने शरीरकी परछाहीं देखकर (उसे दूसरा पक्षी समझकर) भूखके वश अत्यन्त आतुरतासे अपने चोंचकी हानि (चोट) को भूलकर उस (प्रतिबिंब) पर टूट पड़ता है।३। हे दयासागर! मैं मनकी कुचालोंको कहाँतक कहूँ। आप तो मुझ सेवककी दशाको जानते ही हैं। हे मुझ तुलसीदासके प्रभु! (वा, तुलसीदासजी कहते हैं—हे प्रभो!) मेरे दुःसह दुःखको हरण कीजिए, अपने विरुदकी लज्जा करिये।४।

नोट—१ पिछले पदमें प्रभुसे मनके हठी चंचल कामलोलुप स्वभावकी शिकायत की। अब इस पदमें उसकी मूढ़ताके प्रकारका दिग्दर्शन कराते हैं।

टिप्पणी—१ 'परिहरि रामभगति सुरसरिता...' इति। (क) जैसे गंगाजी सामने बह रही हों, प्यासा उसको छोड़कर ओसकी बूँद जो घास आदिपर पड़ी है उनसे तृषा बुझाया चाहे तो वह मूढ़ नहीं तो क्या है? प्रायः ऐसा ही पद २४५ में कहा है, वहाँ भी मनकी मूढ़ताका प्रसंग है। यथा "मोहि मूढ़ मन बहुत बिगोयो।...तृषावंत सुरसरि बिहाय सठ फिरि-फिरि बिकल अकास निचोयो॥" वैसेही मेरा मन श्रीरामजीकी भक्तिको छोड़कर विषय-भोगरूपी ओस-कणसे विषयवासनाकी तृप्ति चाहता है। भक्तिको छोड़कर साधनोंमे लगता है, जिनसे कुछ लाभ नहीं होनेका; आयु उनमें व्यर्थ ही बीत जायगी। विषयकी आशा प्यास है, यथा 'आस पिआस मनोमलहारी।१।४३।२।'

१ (ख) रामभक्तिको गंगाकी उपमा देकर जनाया कि जो गुण गंगाजीमें हैं वे सब रामभक्तिमें हैं। गंगाजीके गुण पद १७-२० मे विस्तारसे कहे हैं। जैसे कि 'पापछालिका', सीतल त्रयतापहारि', 'सोभित ससि धवलधार भंजन भवभार भक्तिकल्पथालिका', 'बिहंग जल-थलचर सब सरिस पालिका', 'मोह महिष कालिका' (१७); 'जगदखिल पाविनी', 'मोह मद मदन पाथोज हिमजामिनी', 'विश्व अभिरामिनी'—(१८); 'हरति पाप त्रिविध ताप'—(१९); 'दुख दोष दुरित दाह दारिद दरनि' (२०)। इत्यादि। वस्तुतः रामभक्ति तो अनुपम है, उसकी कोई उपमा नहीं है। यथा 'भगति तात अनुपम सुखमूला।३।१६।४।' भक्तिके अगणित प्रकार हैं, जैसे कि नवधा, दशधा, प्रेमा, परा, इत्यादि। सुरसरि तो भगवान्के चरणसे स्पर्श किया हुआ जल है, तब उसकी असीम महिमा है, तब भगवानकी भक्तिका कहना ही क्या है? भक्तिके प्रतापसे भक्त तीर्थोंको भी पवित्र कर देते हैं। फिर भी उपमा कुछ न कुछ देनेमें सुरसरि आदिकी उपमा दी जाती है।

१ (ग) रामभक्तिकी महिमा, यथा 'बसइ गरुड़ जाके उर अंतर।··· *मोह दरिद्र निकट नहि आवा। लोभ बात नहि* ताहि बुझावा॥ प्रबल अविद्या तम मिटि जाई।' खल कामादि निकट नहि जाही। ब्यापहिं मानस रोग न भारी। ७।१२०।१-८।' नामजपरूपी भक्तिकी ही महिमा अमित है; हद है कि 'राम न सकहिं नाम गुन गाई'। नाम-महिमा मानसके बालकांडमे पाठक पढ़ ही चुके है। यहाँ गंगाजीके गुणोंकी जोड़मे कुछ उद्धरण दिये जाते है—'पाप पर्वत कठिन कुलिस रूपं·· नाम कलिकलुष भंजनमनूपं। ४६। (६)।'; 'भव भय भंजन नाम प्रतापू। १। २४।', 'नाम लेत भव सिंधु सुखाहीं। १। २५।', 'हरिधामपथि संबलं मूलमिदमेवमेकं। भक्ति-वैराग्य-विज्ञान-सम-दान-दम नाम आधीन साधनसनेकं। ४६ (७)।', 'पाई न केहि गति पतितपावन राम भजि सुनु सठ मना। गनिका अजामिल ब्याध गीध गजादि खल तारे घना।७।१३०।'; 'सेवक सुमिरत नाम सप्रीती। बिनु श्रम प्रबल मोह दल जीती।···'; 'तीरथ अमित कोटि सम पावन। नाम अखिल अघपूगनसावन। ७। ९२।', 'पतितपावन रामनाम सो न दूसरो।', 'राम नाम कलि अभिमत दाता। हित परलोक लोक पितु माता। १।२७।' (अतः विश्वमात्रको अभिराम देता है)। इत्यादि।

[वैजनाथजी—श्रीराम भक्तिरूपिणी गंगामे 'शीतल, अमल, पावन, प्यासहर्त्ता, पुष्टकर्ता गुण हैं, अर्थात् भक्ति लोक-परलोक सुखदायक है। उसको

छोड़कर लोकसुखरूप प्यास, बुझानेके लिए विषयरूप ओस-कणकी आशा करता है। भाव कि हरियश-श्रवण त्यागकर विषय-वार्तामें कान देता है।]

टिप्पणी—२ 'धूम समूह निरखि चातक···' इति। (क) धुएँके समूहको आकाशमें देखकर उसे मेघोंका समूह समझकर चातक स्वाति जलकी आशासे जाता है। पर धुएँसे न तो शीतलता होती है न जल, उसकी आशा व्यर्थ जाती है और उलटे धुआँ आँखोंमें लगनेसे आँखोंकी हानि होती है। भाव कि इसी प्रकार मेरा मन शांति प्राप्तिके लिए विषयोंकी ओर दौड़ता है, समझता है कि इनके सेवनसे मुझे सुख मिलेगा, किंतु उनसे सुखके बदले दुःख मिलता है।

[बैजनाथजीके मतानुसार भाव यह है कि 'इसी भाँति मेला देखकर लोग तीर्थको जाते हैं, तो वहाँ जीवको शांति और कल्याण तो कुछ हुआ नहीं, उलटे स्त्री आदिके रूप देख नेत्रोंमें विषय-विकार पड़नेसे पाप लग गया।]

२ (ख) भर्तृहरि नीतिशतकमें 'तृषित जात मति घन की' के भावका श्लोक—"रे रे चातक सावधान मनसा मित्र क्षणं श्रूयतामम्भोदा बहवो वसन्ति गगने सर्वेऽपि नतादृशाः। केचिद् वृष्टिभिरार्द्रयन्ति वसुधां गर्जन्ति केचिद् वृथा। यं यं पश्यसि तस्य तस्य पुरतो मा ब्रूहि दीनं वचः ॥४६॥" अर्थात् अरे चातक! सावधान मनसे क्षणमात्र मेरी बात सुनो। आकाशमें मेघ बहुत हैं, परंतु सभी ऐसे (उदार) नहीं हैं। कितने तो वर्षा करके पृथ्वीको पूर्ण तृप्त कर देते हैं और कितने व्यर्थ ही गर्जं करके चले जाते हैं। अतः हे मित्र! तुम जिस-जिसको देखो उसी-उसीके सामने दीनताके वाक्य मत कहा करो।

टिप्पणी—३ 'ज्यों गच काँच···' इति। काँचकी गचमें अपना प्रतिबिंब देखकर बाज समझता है कि कोई दूसरा पक्षी बैठा हुआ है, यह समझकर वह उसपर झपटता है कि चोंचसे उसे पकड़ लूँ। पर वहाँ पक्षी तो है नहीं, गचपर चोंच मारनेपर चोंचमें चोट लगती है, चोंच टूट जाती है। इसी तरह मेरा मन हानिकर विषयोंको भ्रमवश सुखकर मानकर विषय-सुखके लिए साधन करता है, जिससे केवल दुःखकी ही प्राप्ति होती है। विषयमें सुख होता ही नहीं, जैसे प्रतिबिंबका पक्षी केवल भ्रम है; वहाँ पक्षी कहाँ? (भ. स.)।

[बैजनाथजी—भाव कि इसी भाँति बाजार आदिमें जाति कुजाति योग्य भोजन सुन्दर देख जिह्वा द्वारा मन दौड़ता है। वह भोजन अयोग्य होनेसे छाया तुल्य है। फिर भी वह प्राप्त न हुआ। अयोग्यपर मनके चले जानेका पश्चात्ताप वृथा चोट लगना है। इसमें रस-विषयपर मनका जाना कहा गया।]

टिप्पणी—४ 'कहँ लौं कहौं कुचाल कृपानिधि…' इति। (क) भाव यह कि दो तीन प्रकारकी कुचालें कहीं, ऐसीही बहुत कुचालें इस मनकी है, कहकर पार नहीं पा सकता। अतएव इतनेसे ही आप समझ लें। आप मुझ सेवककी जो दशा हो रही है, वह सब जानते हैं। तात्पर्य कि आप सर्वज्ञ हैं, अन्तर्यामी हैं, आपसे बहुत कहनेकी आवश्यकता नहीं। यथा 'कहौं कहावौं का अब स्वामी। कृपा अंबुनिधि अंतरजामी।२।२६७।', 'साधु सुजान सुसाहिबहि बहुत कहब बड़ि खोरि॥'

४ (ख) 'हरहु दुसह दुख करहु लाज निज पन की' इति। 'शरणागतका भय हरण करना' प्रभुकी प्रतिज्ञा है, यथा 'मम पन सरनागत भय हारी।५।४३।८'; उसी प्रतिज्ञाकी ओर संकेत है कि आप उसकी रक्षा करें। भाव यह कि मेरा दुःख न हरनेसे आपका यश जाता रहेगा, आपको कलंक लगेगा, सब कहेंगे कि आप झूठे ही सत्यसंकल्प कहे जाते है। यथा 'चिंता यह मोंहि अपार। अपजस जनि होइ तुम्हार। १२५।'

श्रीसीतारामचन्द्रार्पणमस्तु।

९१

नाचत ही निसि दिवस मर्‍यो।
तब ही तें न भयो हरि थिर जबते जिव नाम धर्‍यो॥१
बहु-बासना बिबिध-कंचुक भूषन लोभादि भर्‍यो।
चर अरु अचर गगन जल थल में कौन[1] स्वाँगु[2] न कर्‍यो॥२
देव दनुज मुनि नाग मनुज नहिं जाचत कोउ उबर्‍यो।
मेरो दुसह दरिद्र दोष दुख काहू तो न हर्‍यो॥३
थके नयन पद पानि सुमति बल संग सकल बिछुर्‍यो।
अब रघुनाथ सरन आयो जन भव भय बिकल डर्‍यो॥४
जेहि गुन तें बस होहु रीझि करि 'मोहि सो सब[3]' बिसर्‍यो।
तुलसिदास निज भवन द्वार प्रभु दीजै रहन पर्‍यो॥५

शब्दार्थ—नाचत=दौड़-धूप करते; इधरसे-उधर मारे-मारे फिरते; (सुख-प्राप्तिके प्रयत्नमें) घूमते वा चक्कर लगाते। मर्‍यो=पच मरा।

१ कोन—रा०। २ स्वाँगु न—रा०, भा०, वे०, वै०, दी०। न स्वाँगु—मु०, वि०, पो०, भ०। ३ मोहि सो सब—रा०, भा०, वे०, ह०, ७४। सो मोहि सब—वै०, डु०, दी०, वि०, पो०, भ०। सो मो सब—मु०।

मरना=बहुत अधिक कष्ट उठाना वा दुःख सहना। यथा 'तुलसी तेहि सेवत कौन मरै ? रज ते लघु को करै मेरु तें भारे ?' (क० ७।१२)। =श्रम करते-करते विनष्ट हो जाना। धर्यो=धारण किया। धरना=धारण करना। कंचुक=वस्त्र। स्वाँग=रूप, वेष; नकल; मजाकका खेल वा तमाशा। उबर्यो=बचा। उबरना=बाकी बचना। थकना=काम न देना; अशक्त होना; परिश्रम करते-करते और परिश्रम करनेके योग्य न रहना। पानि (पाणि)=हाथ। सुमति=सुंदर शुद्ध बुद्धि। संग=संगी-साथी। =साथ।

पद्यार्थ—(अब अपने सम्बंधमें कहते हैं) हे हरि! जबसे जीवने नाम धारण किया, तभीसे (आज तक) दिनरात नाचता ही पच मरा, स्थिर न हुआ। अर्थात् भवप्रवाहके चक्करमें पड़ा रहा, कभी विश्राम न मिला।१। अनेक प्रकारकी बहुतसी (सब) वासनायेंरूपी वस्त्र और लोभ-मोह-मद-मान आदि रूपी आभूषणोंसे भरा-पूरा हो गया। चर और अचर, आकाश, जल और पृथिवीमे ऐसा कौन स्वाँग है जो मैंने न किया हो।२। देवता, दैत्य, मुनि, नाग और मनुष्य कोई मेरे माँगनेसे बाकी नहीं बचा (अर्थात् इनमें कोई ऐसा नहीं है जिससे मैंने याचना न की हो)। पर मेरा न सहने योग्य दारिद्र्य, दोष और दुःख किसीने भी तो न हरा।३। मेरे नेत्र, पैर, हाथ, सुन्दर शुद्ध बुद्धि और बल काम नहीं देते। सब साथी बिछुड़ गए। (सर्वत्रसे निराश होकर) अब, हे श्रीरघुनाथजी! यह दास भवभयसे व्याकुल और सभीत आपकी शरणमें आया है।४। जिस गुणसे रीझकर आप वशमें हो जाते हैं, मुझे वह सब भूल गया। हे प्रभो! मुझ तुलसी-दासको अपने महलके द्वारपर पड़ा रहने दीजिए।

टिप्पणी—१ 'नाचत हीं निसि दिवस मर्यो' इति। (क) पद ८६ और ९० में प्रभुसे अपने मनके हठ और मूढ़ताकी शिकायत करते हुए उसको डाँटने और दुसह दुःख हरण करनेकी प्रार्थना की। अब इस पदमें अपनेको (अपने सम्बन्धमें) कहते हैं। *'नाचत'* शब्द आदिमें देकर सूचित किया कि इस पदमें *'नाच' का रूपक* है। जगत् रंगमंच है, जीव यहाँ अनेक स्वाँग बना-बनाकर नृत्य करता है। मानसमें वाल्मीकिजीने प्रभुसे कुछ ऐसा ही कहा है; यथा—'जग पेखन तुम्ह देखनिहारे। बिधि हरि संभु नचावनिहारे। २।१२७।' नृत्य करनेवाला वस्त्र-भूषण धारण करके अनेक स्वाँग करता है—यह सब अंग आगे कहेंगे। (ख) 'नाचत हीं' अर्थात् अनेक योनियोंमे जन्म लेते, भव-प्रवाहमे चक्कर खाते, इन्द्रियोंकी खींचा खींचीमे कष्ट सहते, काल-कर्म-गुण-स्वभावके घेरेमे पड़े हुए, बार-बार जन्मते-

मरते। 'निसि दिवस' से जनाया कि निरन्तर भ्रमण करते बीता, क्षणभर भी विश्राम न मिला। यथा—'आकर चारि लच्छ चौरासी। जोनि भ्रमत यह जिव अबिनासी। फिरत सदा माया कर प्रेरा। काल कर्म सुभाव गुन घेरा। ७ ४४।' पूर्व भी कहा है—'निसि दिन भ्रमत बिसारि सहज सुख जहँ-तहँ इंद्रिन्ह तान्यो। ८८।' 'न भयो थिर' अर्थात् कभी विश्राम न मिला।

नोट—१ (क) 'जब ते जिव नाम धर्‌यो' इति। इसके अर्थ दो प्रकारसे होते है। एक—'जबसे जीवने नाम धारण किये'। दूसरा—"जबसे 'जीव' नाम धारण किया"।

प्रथम अर्थके अनुसार भाव यह है कि—(क) जीव, माया और ब्रह्म तीनो अनादिकालसे है। तीनो नित्य है। जीव 'भगवत्कैकर्यनिपुणः' हरिका दास था। संसारमे आकर मायाके फन्देमे पड़कर यह अपनेको ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, पिता, माता, पुत्र आदि, तथा गृहस्थ, विरक्त आदि कहने लगा। यही इसका नाम धारण करना है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, पिता, माता आदि सब नामवाला हो गया। इसीको यो भी कह सकते है कि अनादिकर्मरूपा अविद्यावेष्टनसे वेष्टित जीवने, जायमान होनेके भावको प्राप्त होकर तत्तद्‌देह सम्बन्धी नाम धारण किया। अर्थात् देहोंके *नामका अभिमानी हुआ।*

(ख) वेदान्तभूषणजी लिखते हैं—'*भगवद्दास्यातिरिक्त जीवका अन्य नाम नहीं, क्योंकि अनादिकालसे जीव भगवद्दास है।* प्रमाण यथा—

१—अरं दासो नु मीढुषे कराण्यहं देवाय भूर्णये ऽनागा। ऋ० ७।८६।७
२—प्र दै वो दासो अग्निर्देवाँ अच्छा न मज्मना। ऋ० ८।१०३।२
३—यो नो दास आर्यो वा…। ऋ० १०।३८।३
४—यस्यायं विश्व आर्यो दासः…। शुक्ल यजु० ३३।८२। ऋ० ८।५१।६
५—हवयं दास वरो अंसावपिग्ध : ऋ० १।१५८।५
६—असत्यं चिद् दासं मन्य मानम्। ऋ० २।११।२

वेद (मन्त्र संहिता) के इतने प्रमाण पर्याप्त होंगे। पूर्वाचार्यो महात्माओका भी सिद्धान्त देखिए—'नाहं विप्रो न च नरपतिर्नापिवैश्यो न शूद्रो, नाहं वर्णी न च गृहपतिर्नो वनस्थो यतिर्वा। किन्तु प्रोद्यन्निखिल परमानन्द-पूर्णोऽमृताब्धेः सीताभर्तुः पदकमलयोर्दासदासानुदासः।'

जीव सदासे भगवद्दास है। परन्तु जबसे इसने अपना ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वाणप्रस्थ, सन्यासी, साधु, देवता, मनुष्य आदि भिन्न-भिन्न नाम रख लिया, तबसे सर्वत्र भटकता रहता है, स्थिर

नहीं होता।—'होइ अचल जिमि जिव हरि पाई।' श्रीहरिकी प्राप्ति तो 'जाति विद्या महत्त्वं च रूपयौवनमेव च' के गर्वको सर्वथा त्यागकर, 'सेवक-सेव्य भाव बिनु भव न तरिय उरगारि' के अनुसार अपने आदि-रूप भगवान्‌के दास-भावको पुनः अपना लेनेमें ही है। गोस्वामीजी सर्वत्र यही उपदेश देते हैं—'तजि आस भो दास रघुप्पतिको।' (क०)। (वे० भू०)। ५८ (६ क) भी देखिये।

नोट २—दूसरे अर्थ—("जबसे "जीव' नाम धरा")—के सम्बन्धमें महानुभावोंके मत ये हैं—

(क) वेदान्तशिरोमणि श्रीरामानुजाचार्यजी लिखते हैं—'ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः। गीता १५।७।' (अर्थात् मेराही जीवरूप सनातन अंश…), "प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि। गीता १३।१९।' (प्रकृति और पुरुष इन दोनोंको ही तू अनादि जान), इत्यादि प्रमाणा-नुसार जीव अनादि है और इसका प्रकृतिसे सम्बन्ध भी तिल-तैल-दारु-वह्निवत् दुर्विवेचनीय है। प्रकृति (माया) के संसर्गसे ही जीवको ताप-त्रय आदि विविध दुःख सहने पड़ते हैं। जीव बँधा है अनादि कालसे और अज्ञानसे ही; छूटता है परमात्माके कृपापूर्वक छुड़ानेसे।

अनादि बन्धन होते हुए भी समझने-समझानेके लिए 'जब ते जिव नाम धर्‌यो' कहते हैं; अर्थात् अनादि मायामें बँधकर अपना 'जीव' नाम धराया—"ह्लादिन्यासंविदाश्लिष्टः सच्चिदानन्द ईश्वरः। स्वाऽविद्यासंवृतो जीवः संक्लेश निकराकरः।" (ना० पां० हयशीर्ष सं०)।

अर्थात् सच्चिदानन्द ईश्वर अपनी आह्लादिनी ज्ञानशक्तिसे युक्त रहता है और समूह क्लेशोंकी खानि अविद्या मायासे घिरकर जीव दुःख भोगता है। पुनश्च यथा—"विष्णुशक्तिः परा प्रोक्ता क्षेत्रज्ञाख्या तथापरा। अविद्या कर्मसंज्ञान्या तृतीया शक्तिरिष्यते ॥६१॥ यथा क्षेत्रज्ञ *शक्तिस्सा* (संज्ञा सा) वेष्टिता नृप सर्वगा। संसारतापानखिलानवाप्नोत्यति सन्ततान् ॥६२॥ तया तिरोहितत्वाच्च शक्तिः क्षेत्रज्ञसंज्ञिता। (वि० पु० ६।७)' अर्थात् विष्णुशक्ति परा है, क्षेत्रज्ञ नामक शक्ति अपरा है और कर्म नामकी तीसरी शक्ति अविद्या कहलाती है। हे राजन्! इस अविद्या शक्तिसे आवृत होकर वह सर्वगामिनी क्षेत्रज्ञ शक्ति सब प्रकारके अति विस्तृत कष्ट भोगा करती है। हे भूपाल! अविद्या शक्तिसे तिरोहित रहनेके कारण ही क्षेत्रज्ञ शक्ति (सम्पूर्ण प्राणियोंमें तारतम्यसे दिखलाई देती है।)

(ख) श्रीकान्तशरणजी लिखते है कि 'जीव' पदके दो प्रकारके अर्थ

होते हैं। एक तो जीवात्मा जो नित्य है। "दूसरा अर्थ प्राण धारण करना जीवत्व है, यथा 'जीवोऽसुधारणम्।' (अमरकोष); अर्थात् जीव और असुधारण ये दो प्राण धारणके नाम हैं। अतः जीवका अर्थ यहाँ 'प्राण धारण करनेवाला' यही लिया जायगा। जीवात्मा गर्भमें आनेपर जबसे प्राणयुक्त होता है, तभीसे यह चल होता है, माताके पेटमें कुछ चलने-फिरने लगता है। यहाँ भाव यह है कि जबसे यह पहले जन्ममें प्राण धारण करनेसे जीव-संज्ञक हुआ, तबसे चल हुआ। फिर अनन्त काल हो गये, कभी स्थिर नहीं हुआ।"

(ग) बैजनाथजी अर्थ करते हैं—'जबसे कारण-मायाके वश होकर आत्मरूप भूलकर जीव ऐसा नाम धरा गया।'

(घ) श्रीभगवान सहायजी—जबसे जीव नाम हुआ अर्थात् आपसे अलग होकर मायाके फन्देमें फँसा; यथा 'जिव जब ते हरिसे बिलगान्यो। तब ते देह गेह निज जान्यो।'

नोट—३ शब्दसागरमें 'जीव' के तीन अर्थ दिये हैं—(१) जीवात्मा। (२) प्राण। (३) जीवधारी इन्द्रियविशिष्ट शरीरी, जैसे—मनुष्य, पशु, पक्षी आदि।

जीव सुख-दुःख आदि तभी भोगता है, जब वह शरीरधारी होता है। अविद्यासे आवृत होकर अति संकुचित ज्ञान और ऐश्वर्यवाले तथा कर्मोंसे प्राप्त प्रकृतिके परिणामविशेष शरीरमें रहनेवाली मन सहित छः इन्द्रियोंका स्वामी यह जीव कर्मानुसार इन छहोंको इधर-उधर खींचता रहता है। गीता १५।६ मे भी कहा है कि श्रोत्र, नेत्र, त्वचा, रसना और घ्राण तथा मनको अधिष्ठान बनाकर, (अर्थात् अपने-अपने विषयोंकी वृत्तिके अनुकूल बनाकर) *वह जीवात्मा उन शब्दादि विषयोंका उपभोग करता है।*

इससे 'जब ते जिव नाम धर्‌यो' का अर्थ यह होगा कि 'जबसे इन्द्रिय-विशिष्ट शरीरी नाम धारण किया।'—(सम्पादक)।

टिप्पणी—२ 'बहु बासना बिबिध कंचुक…' इति। (क) अब नाचके स्वरूपका दिग्दर्शन कराते हुए नाचनेका सामान कहते हैं। नर्त्तक भूषण-वस्त्र धारण करता है, विविध प्रकारकी जो भववासनाये हैं, वेही मेरे वस्त्र हैं और लोभ आदि मेरे भूषण है जिनको मै भरपूर धारण किये हूँ।

पहले अभ्यास किये हुए विषयकी ही अन्तकालमें प्रतीति होती है। अन्तकालमें मनुष्य जिस-जिस भाव वा विषयका स्मरण करता हुआ शरीरका त्याग करता है, वह मरणके अनन्तर उसी-उसी भावको प्राप्त होता है, वैसेही आकारवाला बन जाता है। यथा 'यं यं वापि स्मरन् भावं

त्यजत्यन्ते कलेवरम्। तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः। गीता ८।६।'—इसीसे वासनाओंके अनुकूल जन्म-जन्ममें नया शरीर मिलता गया। अनादि कालसे अगणित बार शरीर विविध योनियोंमें मिले। वासना-शरीर होनेसे वासनाको वस्त्र कहा, वासनारूपी जामा प्रत्येक शरीरमें धारण किये हुए रहता हूँ।

'लोभादि' अर्थात् लोभ, मोह, मद, मत्सर आदि आभूषण हैं। आभूषण पहननेसे शोभा होती है, वैसेही लोभादिको ग्रहण करनेसे ही चौरासी लक्ष योनियोंमें भ्रमणकी शोभा है, जैसे भलेकी शोभा भलाईसे और नीचकी शोभा नीचतासे है, वैसे ही भवमें पड़े हुएकी शोभा लोभादिसे है। यथा 'भला भलाइहि पै लहै लहै निचाइहि नीच। सुधा सराहिय अमरता, गरल सराहिय मीचु।१।५।' जितने भी न करने योग्य कार्य हैं उन सबोंका कारण लोभ है—'सर्वेषामकार्याणां क्रियास्तथा' (म० भा० शान्ति १५८।११।) इसीसे 'लोभ' को कहकर और सबोंका 'आदि' शब्दसे जना दिया। २ (ख)—'चर अरु अचर गगन जल थल...' इति। नाचने-वाले अनेक स्वाँग करते या रचते हैं। चौरासी लक्ष योनियोंमें सभी चर और अचर जो नभ जल-थलमें हैं आ जाते हैं। यथा—'आकर चारि लच्छ चौरासी। जोनि भ्रमत यह जिव अबिनासी।७.४४।४।', 'आकर चारि लाख चौरासी। जाति जीव जल थल नभबासी।१।८।१।' चर प्राणधारी हैं जो चलते फिरते हैं, जैसे—मनुष्य, सुर, नाग, पशु, पक्षी, मकर, कच्छप आदि। अचर प्राणधारी नहीं हैं, चल-फिर नहीं सकते, जैसे पर्वत, पाषाण, वृक्ष आदि। 'कौन स्वाँग नहीं किया' का भाव कि सभी योनियोंमें जन्म लिया, सब रूप (स्वाँग) धारण किये।

टिप्पणी ३ (क) 'देव दनुज मुनि नाग मनुज···' इति। नाचनेवाला स्वाँग करता है, नाच कर चुकनेपर बखशीश माँगता है; वही अब कहते हैं कि मैंने इन सबोंसे याचना की। [नाचनेसे पूजा, जप, व्रत, हवन आदि भाव दरसाकर देह-सुख-हेतु, इन्द्रादि समस्त देवताओं, हिरण्याक्ष और बलि आदि समस्त दैत्यों-दानवों राक्षसोंसे, कश्यप आदि समस्त मुनियोंसे, अनन्तादि समस्त नागदेवोंसे, सहस्रबाहु आदि मनुष्योंसे कोई नहीं बचा जिससे मैंने अपने स्वार्थकी याचना न की हो। (वै०)]

३ (ख) 'मेरो दुसह दरिद्र दोष दुख···' इति। क्या याचना की, यह बताते हैं। दारिद्र्य-दोष-दुःख मिटानेकी याचना की। दारिद्र्य सबसे भारी दुःख है, यथा—'नहि दरिद्र सम दुख जग माहीं।७।१२१।१३।' अतः उसे प्रथम कहा। यहाँ भववासनायें ही दारिद्र्य हैं। ये नहीं छूटतीं, इसीसे भव-बन्धन जन्म-मरण-मात्ररूप दुःख होता है। आत्मजनित मानसिक भाव

जिसकी प्रेरणासे दुष्कर्ममें प्रवृत्ति होती है उसका नाम 'दोष' है। तेरह भारी दोष कहे गये हैं—५६ श० में देखिये। ये प्राणियोंके अत्यन्त प्रबल शत्रु माने गये हैं, जो सब ओरसे उन्हें घेरे रहते हैं। प्रमादमें पड़े हुए पुरुषको अत्यन्त पीडा देते हैं। इन्हीं सबको दुःख होता है—'एते प्रमत्तं पुरुषमप्रमत्तास्तुदन्ति च ...४। एभ्यः प्रवर्तते दुःखमेभ्यः पापं प्रवर्तते ।५।' (म० भा० शान्ति १६३।४–५)। इन्हींसे पापमें प्रवृत्ति होती है। ४८ (१ ख) भी देखिये।

'काहू तो न हर्यो'—सारांश यह कि देव-दनुज आदिसे और विषय तो मिले, पर दारिद्र्य आदि न मिटे, जन्म-मरणरूप नाचना कोई न छुड़ा सका। कारण कि वे सभी तो यही नाच नाच रहे हैं, सभी तो मायाके वश भव-प्रवाहमें बह रहे हैं। अन्यत्र भी प्रायः ऐसा ही कहा है। यथा—'सुर, मुनि, मनुज, दनुज, अहि, किन्नर मैं तनु धरि सिर काहि न नायो। जरत-फिरत त्रैताप पाप बस काहु न हरि करि कृपा जुड़ायो ॥२४३।' यहाँके 'नहि जाचत कोउ उबर्यो'की जगह 'सिर काहि न नायो' और 'दरिद्र दोष दुख' की जगह 'त्रैताप पाप' है। नाचनेवाला स्वाँग दिखाकर प्रणाम करता है, जिसका अर्थ है कि अब इनाम मिलना चाहिये।

देव-दनुज नर आदिके पास लोभसे जाना 'नाच' है। यथा 'कहा न कियो कहाँ न गयो सीस काहि न नायो।...हा-हा करि दीनता कही द्वार-द्वार बार-बार परी न छार मुँह बायो।...नाथ हाथ कछु नाहिं लग्यो लालच ललचायो। *साँच कहौं नाच कौन सो जो न मोहि लोभ लघु निलज नचायो ।२७६।*'

[लोभवश होना दरिद्रता, काम-क्रोधके वश होना अनेक दोष और उनका फल-भोग दुःख हैं। किसीने ऐसा दान न दिया कि नाचना छूट जाता। (वै०)]

रहीमने भी कहा है—'आनीता नटवन्मया तव पुरः श्रीकृष्ण या भूमिका, व्योमाकाश ख खाम्बराब्धिवसवस्त्वत्प्रीतयेऽद्यावधि। प्रीतो यद्यसि ताः समीक्ष्य भगवन् तद् वाञ्छितं देहि मे, नो चेद् ब्रूहि कदापि मानय पुनर्मामीदृशीं भूमिकाम् ॥'—"अर्थात् हे कृष्ण! आपके सामने मैंने अब तक जो ८४ लक्ष भूमिका उपस्थित की वह एकमात्र आपको प्रसन्न करनेके लिए ही है। उसे देखकर यदि आप प्रसन्न हो गये हो तो भगवन्! मुझे मनचाहा वरदान दीजिये और यदि न प्रसन्न हुए हों, तो कह दीजिये कि फिर ऐसी भूमिका न लाना।"

टिप्पणी—४ 'थके नयन पद पानि सुमति बल…' इति। (क) नृत्यमें नेत्र, चरण, हाथ और सुन्दर बुद्धि तथा बलका काम भी पूरा-पूरा पड़ता है। नेत्र कटाक्ष द्वारा हाव-भाव दिखाते हैं, चरणसे नृत्य होता है, हाथोंसे भाव बताये जाते हैं और सुमतिसे ताल-स्वर आदिको विचारते रहना पड़ता है, जिसमें कोई अंग ताल-विधानसे चूक न जाय। शरीरमें बल भी चाहिये। बल होगा तभी शरीरसे नाच होगा।

संसार-नाचमें नेत्र अपने विषय 'रास' के देखनेमें चचल रहे। विषयके पास पहुँचनेमें चरण चंचल रहे। विषय-व्यापारमें हाथ लगे। स्पर्श ग्रहण आदि हाथसे ही होता है। यथा 'नयन मलिन पर-नारि निरखि नरा', 'ज्यों चितई पर-नारि', 'चंचल चरन लोभ लगि लोलुप द्वार-द्वार जग बागे', 'चंदन-चंदबदनि भूषनपट ज्यों चहै पाँवर परस्यो'—(पद १७०)। इन सबोंके व्यापारमें बुद्धिसे काम लेना पड़ता है, नहीं तो विषयकी प्राप्ति न होगी। शरीरमें जबतक बल है, तभीतक विषय-व्यापार हो सकता है। संसार-नाच अनादि कालसे नाचते-नाचते अब 'थके नयन पद पानि सुमति बल' अर्थात् अब सब इन्द्रियों आदिने जवाब दे दिया, ये सब निर्बल हो गये।

४ (ख) 'संग सकल बिछुर्‌यो' इति। नाचनेवालेके साथ सारंगी, तबला आदि बजानेवाले होते हैं। संसार-नाचमें 'जननि जनक सुत दार बंधुजन भये बहुत जहँ-जहँ हौं जायो' ये सब तथा और भी देह-सम्बन्धी मित्र आदि संगी साथी हैं। इन सबोंने साथ छोड़ दिया। यथा 'अगुन अलायक आलसी जानि अधनु अनेरो। स्वारथ साथिन्ह तज्यो तिजराको सो टोटकु औचट उलटि न हेरो॥ …२७२।'

'थके नयन…बिछुर्‌यो' का भाव यह कि सब इन्द्रियों और शरीरके अशक्त हो जानेसे अब मैं इस योग्य भी नहीं रह गया कि मैं आपकी सेवा, पूजा, भजन आदि कुछ भी कर सकूँ; अतएव अब आपकी शरणमें आया हूँ।

४ (ग) 'भव-भय बिकल भर्‌यो' अर्थात् संसारके भयसे भयभीत हूँ, विकल हूँ। यथा—'हृदय दहन पछिताय-अनल अब सुनत दुसह भवभीति। तुलसी प्रभुते होइ सोइ कीजै समुझि बिरुदकी रीति। २३४।' प्रभु सभीत शरणमें आये हुएको शरणमें लेते हैं; यथा—'जौं सभीत आवा सरनाई। रखिहउँ ताहि प्रानकी नाई ।५।४४।८।' इसीसे अपना भव-भयसे डरा और व्याकुल होना कहा।

४ (घ) [बैजनाथजीने अर्थ किया है कि 'सुमतिके बलसे नेत्र, हाथ और पद थके।' भाव कि 'जबतक सुमतिका बल रहा तबतक नेत्र रूप

देखनेमें, हाथ विषय-व्यापारमें और चरण विषयके पास पहुँचनेके लिए चंचल रहे। अब सुमति उपजी तब उसके बलसे अब नेत्र आदि विषय-व्यापारसे थक गये, स्थिर हुए। जबतक नाचनेकी चादर रही तबतक राग-द्वेष, मानापमान, हर्ष-शोक आदि सफरदाइयोंका संग रहा, जब सुमतिके बल अचाह हुई, तब सब समाजियोंका संग छूट गया।']

टिप्पणी—५ 'जेहि गुन ते बस होहु...' इति। (क) श्रीरघुनाथजी जिस गुणसे वशमें होते हैं, यह स्वयं उन्होने यों बताया है—'बहुत कहउँ का कथा बढ़ाई *यहि आचरन बस्य मैं भाई* ॥ बैर न बिग्रह आस न त्रासा। सुखमय ताहि सदा सब आसा ॥ अनारंभ अनिकेत अमानी। अनघ अरोष दच्छ बिज्ञानी ॥ प्रीति सदा सज्जन संसर्गा। तृन सम बिषय स्वर्ग अपबर्गा ॥ भगति पच्छ हठ नहि सठताई। दुष्ट तर्क सब दूरि बहाई'। मम गुनग्राम नाम रत, गत ममता मद मोह। ताकर सुख सोइ जानइ परानंद संदोह। ७।४६।' प्रभु भक्तिसे, सेवासे, सहज प्रेमसे वश होते हैं, यथा 'निर्बान-दायक क्रोध जाकर भगति अबसहि बस करी ।३।२६।', 'सेवत बस सुमिरत सखा...। ४८।', 'तुलसी सहज सनेह राम बस, और सबै जलकी सी चिक-नाई ।२४०।' (ख) यदि भगवान् कहें कि तुम तो नाचनेवाले हो, नृत्यकलामें निपुण हो, जैसे तुम देव-दनुज आदिको रिझाते रहे, वैसेही हमको रिझाओ तब याचना करो, तो उसपर कहते हैं कि आप जिन गुणोंसे रीझते हैं वे गुण मैं भूल गया। *भूलनेका कारण जीवकी अल्पज्ञता है।* प्रभुसे अलग होकर मायाके वशमें पड़कर यह अपना स्वरूप भूल गया। यथा 'जिव जब ते हरि ते बिलगान्यो। तब ते देह गेह निज जान्यो। माया बस स्वरूप बिसरायो ।१३६।' इसके पूर्व वह अपना स्वरूप और प्रभुके गुणोंको जानता था। जीव और ईश्वरमें अनेक नाते हैं; ७६ (३ग, ४ख, नोट २) देखिये।

५ (ग) 'निज भवन-द्वार प्रभु दीजै रहन पर्‌यो' इति। भाव यह कि मुझमे आपको रिझानेवाले कोई गुण नहीं है, साथ ही इन्द्रियाँ, बुद्धि और बल सब अशक्त हो गए, कोई कैंकर्य भी नही कर सकता; पर मैं 'अब रघु-नाथ सरन आयो भव भय बिकल डर्‌यो', और आप शरणागतका कभी त्याग नहीं करते, शरणमें तो लेंगे ही; केवल मेरे योग्य स्थानका प्रश्न रहता है, सो मै बताता हूँ। मुझे आप शरणमें लेकर महलके द्वार ही पर पड़ा रहने दे। इतनेसे ही मेरा काम चल जायगा, मै संसार-नाचसे बच जाऊँगा। [भाव कि उत्तम सेवक होता, आपको रिझा सकता, तो समीप रहने योग्य होता। मै किसी कामका नहीं हूँ तब समीपस्थ होनेका अधि-कारी नही। श्रीभगवानसहायजी लिखते है कि 'भगवत-द्वार भगवत ही है। भगवत-द्वारपर पड़े रहनेसे आने-जानेवालोंके अच्छी तरह दर्शन होते रहेंगे।]

[(घ) श्रीकान्त शरणजी लिखते हैं—"शरण—शब्दका पर्यायी पद गृह है; यथा 'शरणं (गृहरक्षित्रोः)···' (अमरकोष); अर्थात् घर और रक्षा करनेवालेको शरण कहते हैं। अतः 'निज भवन द्वार' का तात्पर्य 'अपनी शरणागतिके आश्रित' है।"]

नोट—२ अन्यत्र भी कहा है—'ताते हौं बार-बार देव द्वार परि पुकार करत।१३४ (१)।', 'सोइ कीजै जेहि भाँति छाड़ि छल द्वार परो गुन गावौं।२३२।', 'बड़ो साईंद्रोही न बराबरी मेरीको कोऊ, नाथकी सपथ किये कहत करोरि हौं। दूरि कीजै *द्वारते* लबार लालची प्रपंची, सुधा सो सलिल सूकरी ज्यों गहडोरिहौं।···।२५८।', 'प्रनु करि हौं हठि आजु तें *रामद्वार* पर्‌यो हौं। तू मेरो यहु बिनु कहे उठिहौं न जनम भरि···।२६७(१)।', '*द्वार हौं भोर ही* को आजु।२१९।'—इन उद्धरणोंसे 'द्वार' का अर्थ स्पष्ट हो जाता है।'

॥ श्रीसीतारामचन्द्रार्पणमस्तु ॥

६२

माधो[1] जू[2] मो सम मंद न कोऊ।
जद्यपि मीन पतंग हीन-मति मोहि न[3] पूजहि[4] ओऊ।१।
रुचिर रूप आहार बस्य उन्ह[5] पावक लोह न जान्यो।
देखत बिपति बिषय न तजत हौं तातें अधिक अयान्यो[6]।२।
महामोह सरिता अपार महँ संतत फिरत बह्यो।
श्रीहरि चरन कमल नौका तजि फिरि फिरि फेन गह्यो।३।
अस्थि पुरातन[7] छुधित स्वान अति ज्यों भरि मुख पकरै[8]।
निज तालू[9] गत रुधिर पान करि[10] मन संतोष धरै।४।

---

१ माधो—रा०, ह०, ज०। माधौ—१५। माधव—भा०, वे०, ५१, प्र०, ७४, भ०। २ जू—भा०, वे०, ह०, आ०। ज्यू—रा०। जी—ज०। मु०, ७४ में नहीं है। ३ न—रा०, भा०, वे०, मु०। नहिं—आ०। ४ पूजहि—रा०, ह०, मु०, वै०। पूजहिं—दी०, श्री० श०। पूजै—भा०, वे०, ज०, प्र०, ह०, भ०। पूजैं—त्रि०, पो०। पूजइ—७४। ५ उन्ह—रा०, ७४, वै०, वि०, पो०। उन—ह०, ज०, दी०, मु०, भ०। ६ सयानो—रा०, ह०, प्र०। (जाने)—सयाने—ज०। अयान्यो (वा, अज्ञान्यो)—प्रायः और सबोंमें। ७ पुरातन—रा०, ह०, ५१, ७४, आ०। पुरानो—भा०, वे०, ज०, प्र०, भ०। ८ पकरै—धरै—रा०, ह०, ज०, ७४, भ०, वि०, पो०। पकर्‌यो—धर्‌यो—भा०, वे०, आ०। ९ तालुक—रा०। १० कृत—भा०, वे०, प्र०, श्री० श०। करि—अन्य सबोंमें।

परम कठिन भव ब्याल ग्रसित हौं त्रसित भयो अति भारी।
चाहत अभय भेक[11] सरनागत खगपति नाथ बिसारी।५।
जलचर बृंद जाल अंतरगत होत[12] समिटि एक पासा❀।
एकहि एक खात लालच बस नहि देखत निज नासा❀।६।
मेरे अघ सारद अनेक जुग गनत पार नहि पावै।
तुलसीदास[13] पतितपावन प्रभु यह भरोस जिय आवै।७।

शब्दार्थ—माधो=माधव=श्रीपति, श्रीरामजी। मो=मेरे, यथा—'मोविनु रहैं न मेरियै जारै छल छाती। १४७।' मन्द=बुद्धिहीन, मूर्ख। पूजहि (सं० पूर्य्यते)। पूजना=बराबर होना; पूरा पड़ना वा उतरना। ओऊ=वे भी। बस्य=वशीभूत होकर।=वशमें आने वा रहनेवाला। अयान्यो (अयाना)=अज्ञानी बुद्धिहीन। फेन=महीन महीन बुलबुलोंका वह गठा हुआ समूह जो पानी या और किसी द्रव पदार्थके खूब हिलने, सड़ने या खौलनेसे ऊपर दिखाई पड़ता है। अस्थि=हड्डी। पुरातन=पुरानी अर्थात् सूखी जिसमे मांस या रक्तका नाम भी नहीं है। छुधित (क्षुधित)=भूखा। श्वान=कुत्ता। तालू=मुँहके भीतरकी ऊपरी छत, जो ऊपरवाले दाँतोंकी पंक्तिसे लेकर छोटी जीभ या कौवे तक होती है। रुधिर=रक्त; खून। गत=प्राप्त; आया हुआ। तालूगत=तालूमें आया (निकला) हुआ। भेक=मेढक; दादुर। खगपति=गरुड़। अन्तरगत (अन्तर्गत)=भीतर आये हुए। समिटि=सिमटकर। सिमटना=बटुरना; एकत्र वा इकट्ठा होना। दूरतक फैली वा बिखरी हुई वस्तुओंका एकत्र होकर थोड़े स्थानमें आ जाना, उनका 'सिमटना' कहलाता है। एक पासा (एक पास)=एक ही जगह; पास-पास। आवै=आता है। आना=समाना, जमना।=किसी भावका उत्पन्न होना।

पद्यार्थ—श्रीपति श्रीरघुनाथजी! मेरे समान मूर्ख कोई भी नहीं है। यद्यपि मछली और पतिंगा बुद्धिहीन है, (तथापि) वे भी मेरी बराबरीमें पूरे नही उतरते।१। सुन्दर रूप और आहारके वशीभूत होकर उन्होंने (अर्थात पतिंगेने सुन्दर रूपके वश और मछलीने भूखके वश) अग्नि और लोहेको (अर्थात् पतिंगेने दीपककी जलती हुई लौको और

११ भेड़—रा०। १२ सिमिटि होत—भा०, वे०। होत समिटि (सिमिटि—ह०, ज०, आ०)—रा०, ७४, ह०, ज०, आ०। ❀ पास, नास—रा०, ज०। पासा, नासा—प्रायः औरों में। १३ तुलसी—प्र०, ज०।

मछलीने वंसीका जिसमें उसका आहार केंचुआ या आटा आदि लगा हुआ है) न जाना । (परन्तु) मैं तो विपयोंमें विपत्ति देखता हुआ भी विपयोंको नहीं छोड़ता, इस कारण मैं उनसे अधिक मन्दबुद्धि हूँ । २ । महामोह-रूपिणी अपार नदीमें मैं निरन्तर बहा-बहा फिरता रहा हूँ, (तो भी) क्लेश हरनेवाले श्रीरघुनाथजीके चरणकमलरूपी नावको छोड़कर मैं वारंवार फिर-फिरकर फेन (ही) को पकड़ता रहा ।३। जैसे अत्यन्त भूखका मारा कुत्ता पुरानी सूखी हुई हड्डीको भरमुँह पकड़ता है और अपने ही तालूसे निकले हुए रक्तको पी (चाट) कर मनमें सन्तोप धारण करता है (अर्थात् अपना ही खून पीकर सन्तुष्ट हो जाता है । वही मेरी दशा है) ।४। परम कठिन संसाररूपी सर्पसे ग्रसा हुआ मैं अत्यन्त भारी भयभीत हो गया हूँ (तो भी) गरुड़पति भगवान् आपको भुलाकर मैं मेढककी शरणमें जाकर अभय होना चाहता हूँ । ५ । (जैसे) जालके भीतर फँसे हुए जलके जीव (मछली आदि) सिमटकर एकत्र हो जाते हैं और एक-एकको लालचवश खाते हैं, (किन्तु) अपना नाश नहीं देखते (वैसीही मेरी दशा है) ।६। (यदि शारदा मेरे पापोंका लेखा किया चाहें तो) अनेकों युगों तक गिनते-गिनते भी शारदा मेरे पापोंका पार नहीं पा सकतीं । तुलसीदासजी कहते हैं कि प्रभु (आप) पतितोंको पावन करनेवाले हैं (वस) यही भरोसा मेरे हृदयमें आता है ।७।

टिप्पणी—१ 'माधोजू मोसम···' इति । (क) मौन, ध्यान और योगसे भगवान्का बोध अथवा साक्षात्कार होता है; इसलिए भगवान्का एक नाम 'माधव' है । ८५ (१ क) देखिए । 'मो सम मंद न कोऊ'—भाव कि मन्द तो और भी बहुत हैं, पर मेरे समान या मुझसे अधिक कोई भी नहीं है । (ख) मीन और पतिंगा बुद्धिहीन हैं, क्योंकि ये तिर्यक् योनिके जीव हैं । ये सब ज्ञानशून्य और तमोगुणविशिष्ट कहे गये हैं । इनके अन्तःकरणमें किसी प्रकार-की विचार-शक्ति या ज्ञान नहीं होता । इन्हें केवल सूँघकर ही पदार्थका ज्ञान होता है और ये केवल खाना-पीना ही जानते हैं । यथा—'अविदो भूरितमसो घ्राणज्ञा हृद्यवेदिनः । भा० ३ । १० । २० ।' और मैं मनुष्य हूँ । नरतन ज्ञाननिधान होता है । यथा 'ज्ञानभवन तन दिहेहु नाथ सोउ पायउ न मैं प्रभु जाना ।१२४।'. 'मानुप तन गुन ज्ञान निधाना ।२।२६४।४।' (ग) 'मोहि न पूजहिं कोऊ'—मेरी बराबरी नहीं कर सकते; यही आगे दिखाते हैं ।

टिप्पणी—२ 'रुचिर रूप आहार वस्य' इति । (क) पतिंगा जलते हुए दीपककी लौको देखकर उसके रूपपर आसक्त होकर उसपर जा गिरता है; वैसेही मैं देवमायारूपिणी स्त्रीके रूपको देखकर विलासोंके लोभसे

महामोहमें पड़ जाता हूँ। यहाँ तक तो पतिंगे और मुझमें समानता है। यथा 'दृष्ट्वा स्त्रियं देवमायां तद्भावैरजितेन्द्रियः। प्रलोभितः पतत्यन्धे तमस्यग्नौ पतङ्गवत्‌ भा० ११।८।७' जैसे पतिंगा दीपशिखापर गिरकर जल जाता है, वैसेही मूढ़ पुरुष मैं स्त्री, स्वर्ण, आभूषण और वस्त्र आदि मायारचित पदार्थोंका उपभोग करनेकी लालचसे अंधा हुआ नष्ट हो गया। यथा—'योषिद्धिरण्याभरणाम्बरादिद्रव्येषु मायारचितेषु मूढः। प्रलोभितात्मा ह्युपभोगबुद्ध्या पतङ्गवन्नश्यति नष्टदृष्टिः। भा० ११।८।८'—यहाँ तक पतिंगेमें अपनेसे समानता दिखाई। स्त्रीको दीपशिखाकी उपमा मानसमें भी दी है; यथा—'दीपसिखा सम जुबति-तन मन जनि होसि पतंग।३।४६।'

२ (ख) मछलीको फाँसनेके लिये शिकारी लोग एक लम्बी पतली छड़ीके एक सिरेपर डोरी बाँधते हैं, जिसके दूसरे सिरेपर अंकुशके आकारकी लोहेकी एक कँटिया बाँधते हैं। इसी कँटियोंमे चारा लपेटकर डोरीको जलमे फेंकते है। छड़ीको शिकारी पकड़े रहता है। जब मछली वह चारा खाने लगती है, तब वह काँटिया उसके गलेमे फँस जाती है और वह खींचकर निकाल ली जाती है। यही काँटिया 'बंसी' कहलाती है।

जीवात्माको जब विवेक होता है तब वह ऐसा ही विचार करने लगता है, जैसा इस पदमे प्रार्थी कर रहा है—'मो सम मंद न कोऊ।००'। वह सोचता है—'ओह! मैने यह क्या किया? जैसे मछली अज्ञानवश स्वयं ही जाकर जालमें फँस जाती है, इसी प्रकार मैं भी आज तक यहाँ इस प्राकृत शरीरका ही अनुसरण करता रहा' यथा 'किं मया कृतमेतावद् योऽहं कालमिमं जनम्। मत्स्यो जालं ह्यविज्ञानादनुवर्तितवानिह। म० भा० शान्ति० २०७।२३'

पुनः मछली आहारवश बंसीमे लपेटे हुए आहारको देखकर उसे मुँहमें भर लेती है, लोहेकी कँटिया उसके गलेमे फँस जाती है और उसका नाश होता है मछली जीभके स्वादकी लालचमे काँटेसे बिंधकर मरती है और देहाभिमानी पुरुष मैं रस-विषयसे मोहित हुआ अत्यन्त दुःख देनेवाली जीभके लोभसे मारा गया—यह हम दोनोंमे समानता है। यथा 'जिह्वयाऽतिप्रमाथिन्या जनो रसविमोहितः। मृत्युमृच्छत्यसद्बुद्धिर्मीनस्तु बडिशैर्यथा। भा० ११।८।१९'

२ (ग) 'उन्ह पावक लोह न जान्यो' और 'देखत बिपति बिषय न तजत हौं' कहकर मीन और पतंगसे अपनेको मंदतर दिखाया। मीनने यह न जाना था कि आहारके भीतर लोहेकी कँटिया है और पतिंगा यह नहीं जानता कि दीपकी लौमें अग्नि है और मैं तो देखता हूँ कि विषयमे विपत्ति

है, बारंबार इसका अनुभव किया है, यह अभी-अभी कह आये हैं। यथा 'जदपि विषय संग सहे दुसह दुख विषम जाल अरुझान्यो। तदपि न तजत मूढ़ ममता बस जानत हूँ नहिं जान्यो।८८(२)।', 'ज्यों जुवती अनुभवति प्रसव अति दारुन दुख उपजै।८६ (२)।' (विशेष वहीं देखिए)। देखता हुआ भी जान-बूझकर अपना नाश करता हूँ, अतः उनसे अधिक मन्द हूँ।

पुनः, 'विषय' से शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध पाँचों विषयोंका ग्रहण जनाया। इस तरह और भी अधिक मन्दतर सूचित किया। मछली रस-विषय और पतिंगा रूप-विषयपर अर्थात् एकही एक विषयपर साहित हुए और मैं तो पाँचो विषयोंमे लिप्त हूँ। [पाँचों विषयोमे लिप्त होना पद १७० मे दिखाया है -'ज्यो चितई परनारि' (रूप , 'सुने पातक प्रपंच' (शब्द), 'चंदन चंदवदनि भूषन पट ज्यो चह पाँवर परस्यो' (स्पर्श), 'ज्यो नासा सुगंध रस बस' (गंध), 'रसना षटरस रति मानी' (रस)]—इस प्रकार इसमें गरुड़पुराण आदि के—'कुरङ्गमातङ्गपतङ्ग-भृङ्गमीना हताः पंचभिरेव पंच। एकः प्रमादी स कथं न हन्यते यः सेवते पंचभिरेव पंच ॥' (गरुड़ पु० उत्तर २।१८, विवेकचूडामणि ७८। नारद पु० ४१।११५ में श्री सनत्कुमारका वचन है)—इस श्लोकका भाव है। अर्थात् हिरन, हाथी, पतिंगा, भृङ्ग और मीन ये पाँचो एकही एक विषयमे आसक्त होनेसे नष्ट हुए तब जो पाँचो विषयोंका सेवन करते हैं वे क्यो न नष्ट होगे। परमहंस मौनीजीने भी कहा है—'अलीगन मीन मृग सलभी विषय एक-एक पै मरते हैं। नतीजा क्यो न पावैं वे विषय पाँचो जो करते हैं।'

टिप्पणी—२ 'महामोह सरिता अपार···' इति। (क) विष्णुपुराणकी मुनिलालगुप्तकृत टीकामें पञ्चपर्वागत 'महामोह' का अर्थ 'भोगेच्छा' किया है। बैजनाथजी लिखते हैं कि 'इन्द्रिय-विषयवश देहाभिमानी हो ईश्वरको भूल जाना, संसारहीको सच्चा मान लेना' महामोह है। पूर्व पद ५६ में 'महामोह' की व्याख्या की गयी है कि *इन्द्रियोंका विषय लालसाओंकी पूर्ति करते करते मनुष्यका घोर अज्ञानान्धकारमें पडकर स्वरूप परस्वरूपको भूलकर देह-गेह आदिमें मै और मेरेपनका दुराग्रह करना 'महामोह' है।* महामोह संसार-चक्रसे निकलने नहीं देता जन्म-जन्म जीव इसीमे बहता फिरता है। इसका पार नहीं। महामोहग्रस्त व्यक्ति लोभवश कामनाओंसे तृप्त न होकर उपस्थ और जिह्वाके सुखोंको ही बड़ा मानता है और रेशमके कीड़ेके समान अपने बन्धनका ही सामान करता रहता है; तब वह संसारसे कैसे विरक्त हो सकता है? (यह प्रह्लादजीने दैत्य बालकोंसे

कहा है। भा० ७।६।१३); इसीसे 'महामोह' को 'अपार नदी' कहा। बहने-के सम्बन्ध से 'सरिता' शब्द दिया। *सरिता=जो सदा चलती रहती है।*

३ (ख) 'संतत फिरत बह्यो', यथा 'महामोह† मृगजल सरिता महँ बोर्‌यो हौं बारहि बार।१८८(३)।' इससे जनाया कि महामोहरूपी सरिता मृगतृष्णाजलसे भरी हुई है। विषयको मृगतृष्णाजल कहा ही गया है; यथा 'जौ संतोष सुधा निसि-बासर सपनेहुँ कबहुँक पावै। *तौ कत विषय बिलोकि झूठ जल मन कुरंग ज्यों धावै।* १६८ (२)।' अतएव विषय ही इसका जल है। 'संतत फिरत बह्यो' से जनाया कि यद्यपि भोग तुच्छ हैं और अत्यन्त दुःखद है, तौभी दुःख उठानेपर भी इससे तृप्ति नहीं होती। यथा 'यन्मै-थुनादि गृहमेधिसुखं हि तुच्छं कण्डूयनेन करयोरिव दुःखदुःखम्। तृप्यन्ति नेह कृपणा बहुदुःखभाज..."भा० ७।६।४५।' (अर्थात् गृहस्थके मैथुनादि सुख खुजलीके समान हैं। खुजलीमें खुजलानेसे अधिकाधिक दुःख ही बढ़ता है, वैसे ही ये भोग भी तुच्छ हैं। अनेकों दुःख उठानेपर भी दीन-जन इनसे तृप्त नहीं होते। पुनः, *सन्तत बहना कहनेसे भी महामोहकी अपारता सिद्ध हुई।*

३ (ग) 'श्रीहरिचरन कमल नौका..." इति। 'श्रीहरि' अर्थात् सम्यक् ऐश्वर्य सम्पन्न और जनके क्लेश हरनेवाले श्रीरामजी। 'श्री हरि'—पद यहाँ देकर स्मरण कराते हैं कि जिन्होंने मुझे गर्भमें ज्ञान दिया था और जिनसे मैंने प्रत्येक जन्मके पूर्व गर्भमे वचन दिया था कि अब आपका भजन करूँगा, ये-वे ही हैं। यथा '*श्रीहरि* संग तज्यो नहिं तेरो।..."परम कृपाल ज्ञान तोहि दीन्हो॥ पुनि बहुबिधि गलानि जिय मानी। अब जग जाइ भजौं चक्रपानी॥ १३६ (४-५)।'

भगवान्‌के चरणकमल भवसागर (जो महामोहका कार्य है) के लिये नौका है। यथा 'भवजलधि पोत चरनारविंद जानकीरमन आनंदकंद।६४।' 'तजि' से जनाया कि यह नाव पास ही दिखाई देती है, पर मैं उसको ग्रहण नहीं करता। जानता हूँ कि इसका सहारा ले लेनेसे पार हो जाऊँगा, फिर भी उसे छोड़कर फेनको ही पकड़ता हूँ। फेन तो पानीके बुलबुलोंका समूह ही है, फेनको पकड़नेसे वह फूटकर पानी ही हो जाता है। उसे पकड़नेसे मेरा बहना बन्द नहीं हो सकता, पर फिर भी उसीको पकड़ता हूँ। यहाँ बारम्बार अन्य साधनोंका करना, क्षणिक विषय-भोग-सुखके लिये दौड़ना फेनका पकड़ना है।—'दोषनिलय यह बिषय सोकप्रद कहत संत श्रुति टेरे। *जानत हूँ अनुराग तहाँ अति*..."।१८७।'—*यह महामोहकी*

† 'महाघोर' पाठ सं० १६६६ में है।

अपारता दिखाई। [स्वर्ग आदि सुख प्राप्तिके लिये सकामिक कर्म करना 'फेन' पकड़ना है। उससे तो नदीमें ही डूबते रहना पड़ेगा; क्योंकि पुण्य क्षीण होनेपर फिर संसारमें भ्रमना पड़ेगा। यथा 'क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति। गीता ९।२१।' (वै०)]

टिप्पणी—४ 'अस्थि पुरातन छुधित स्वान ··' इति। (क) पुरानी सूखी हड्डीमें मज्जा रक्त आदि कुछ नहीं होता, पर अत्यन्त भूखा कुत्ता उसमें इनका होना समझकर उसको भर-मुँह पकड़ लेता है। सूखी हड्डी बहुत कड़ी होनेसे उसकी रगड़से, (अथवा वैजनाथजीके मतसे मुँहमें भर लेनेसे उस हड्डीके गड़नेसे) उसके तालूसे रक्त निकल पड़ता है पर कुत्ता यह समझता है कि सूखी हड्डी जो चबा रहा हूँ उसीसे रुधिर निकला है, यह समझकर वह उसे चाटकर सन्तुष्ट होता है। वह यह नहीं समझता कि मैं अपना ही रक्त चाट रहा हूँ।—इस उदाहरणसे विषयोंकी तुच्छता वा असारता दिखाते हैं। शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध आदि विषय सूखी हड्डी हैं, इनमें सुख नहीं है। विषय-भोग तालूगत रुधिर है और विषय-भोगसे सुख मान लेना सन्तुष्ट होना है।

[वैजनाथजी—कामादि विकार तो अपनी इन्द्रियोंमें हैं, परन्तु भोगके समय मनुष्य स्त्री आदिमें सुख मानता है। भाव कि जैसे नपुंसक होनेपर स्त्री-विषय और अजीर्ण होनेपर षट्‌रस स्वादरहित हो जाते हैं, उनमें सुख नहीं रह जाता; वैसेही वैराग्य होनेपर सब विषय स्वादरहित, फीके वा सीठे लगते हैं। इसीसे उनको 'अस्थि पुरातन' कहा गया।

श्रीकान्तशरणजी लिखते हैं कि 'इस प्रसंगमें भी स्वर्ग आदि सुख ले सकते हैं, वह भी सुकृत फल भोग एवं इन्द्रिय-सुख ही है। अतः वह 'तालूगत रुधिर'के समान ही है। इसीसे स्वर्ग विभवको सूखे हाड़के समान कहा है—'सूख हाड़ लै भाग सठ स्वान···।१।१२५।']

५—'परम कठिन भव-व्याल ग्रसित···' इति। (क) अब अपनी और भी मूर्खता दिखाते हैं। भव-व्याल-ग्रसित होना पूर्व भी कह आये हैं। यथा *'ग्रसत भव-व्याल अति त्रास* तुलसीदास त्राहि श्रीराम उरगारिजान। ६१ (९) ' (ख) संसार-सर्प परम कठिन (कराल) है। शब्द, स्पर्श, रूप आदि विषय इस सर्पका विष है। गर्भवास, यम-साँसति, जन्म-मरण और तापत्रय इसकी अति-करालता है। इसने मुझे ग्रस लिया है, मुझे निगल न जाय इससे मैं अत्यन्त भयभीत हो गया हूँ। (वै०)। (ग) 'चाहत अभय भेक सरनागत ··' इति। सर्प गरुड़का भक्ष्य है, यदि गरुड़के स्वामीका स्मरण किया जाय, उनकी शरण जाय तो वे गरुड़को आज्ञा देकर उस

सर्पका नाश करके बचा लें। सो उनकी शरण न जाकर मैं मेढकको शरण जाकर अभय होनेकी इच्छा करता हूँ। मेढक तो स्वयं सर्पका भक्ष्य है, वह सर्पसे कब बचा सकता है, यह मैं भुला देता हूँ।—यह मेरा कैसा भारी अज्ञान है! यहाँ विषय-भोग-अवलम्ब भेक-शरणागति है। [वा, परिवारसे सुखकी आशा करना तथा देवादिकी सेवा-पूजा-उपासनासे रक्षा चाहना भेक-शरणागति है। पर ये स्वयं कालके कलवा हैं, भव-प्रवाहमें पड़े बहे जा रहे हैं, ये कब अभय कर सकते हैं। यथा 'और सकल सुर-असुर ईस सब खाए उरग छहूं ८।', 'भव प्रवाह संतत हम परे। ६।१०९।१०' (देववाक्य)। (दीनजी वै०)।

वीरकविजीने अर्थ किया है 'हे नाथ! गरुड़को भुलाकर मैं मेढककी शरण ...' अर्थात् उन्होंने 'नाथ' को 'खगपति' से अलग करके सम्बोधन माना है। परन्तु 'खगपतिनाथ' सरीखे संबोधन बहुत ठौर भव-व्यालसे रक्षाके सम्बन्धमें पूर्व भी आ चुके हैं।—'ग्रसत व्याल अति त्रास तुलसीदास श्रीराम उरगारिजानं। ६१ (६)।', 'देव बिषय सुख लालसा दंस मसकादि खल झिल्लि रूपादि सब सर्प स्वामी। तत्र आक्षिप्त तव बिषम माया नाथ अंध मैं मंद व्यालादगामी ५६ (७)।

वेदान्तभूषणजी वीरकविजीसे सहमत हैं वे कहते हैं कि "जान और गामी" 'नाथ'-शब्दके पर्य्यायमें कहीं नहीं आये हैं, अतः 'नाथ' स्वतन्त्र शब्द भी हो सकता है और स्वतन्त्र मानना भी उचित है। सर्प मेढकको खा जाता है और स्वयं गरुड़का आहार है। गरुड़ सर्पसे रक्षा कर सकते हैं। अतः 'खगपति नाथ' = गरुड़ ऐसा नाथ। यह समासित पद भी माना जा सकता है।"—[इस अर्थके समर्थनमें 'जसु पावन रावन नाग महा। खगनाथ जथा करि कोप गहा। ६।११०।' यह चौपाई प्रमाणमें दी जा सकती है। (संपादक)]

टिप्पणी—६ 'जलचरबृंद जाल अंतरगत ...' इति। (क) जब केवट आदि नदी आदिमें मछली आदिके लिए जाल फैलाते हैं, तो जालके फैलाव-तक जितने जलचर होते हैं, वे सब उस जालमें फँस जाते हैं। जाल समेटने-पर सब जलचर एकत्र हो जाते हैं और एक दूसरेको खाते हैं जलचरों-में बड़े छोटेको, बलवान् दुर्बलोंको और बलवान्‌भी एक-दूसरेको खा जाते हैं; यथा—'जलौकसां जले यद्वन्महान्तोऽदन्त्यणीयसः। दुर्बलान् बलिनो राजन् महान्तो बलिनो मिथः। भा० १।१५।२५।' 'मकर नक्र नाना झख व्याला। सत जोजन तन परम बिसाला। ऐसेउ एक तिन्हहिं जे खाहीं। एकन्ह के डर तेपि डेराहीं। ६।४।५-६।' जालमें पड़नेपर भी एक दूसरेको

खाते हैं, यह नहीं जानते कि उनकी मृत्यु उनके सिरपर नाच रही है। मछली तो जलसे निकालते ही मरेगी, शेषको मछवाहा शीघ्र मार डालेगा।—इसी तरह मेरा हाल है। मैं स्वयं कालके मुखमें हूँ, पर अपनेको अमर मानकर दूसरोंसे वैर-विरोध करता हूँ। अथवा, यों कहें कि हम सब कालरूपी मछवाहके जालमें पड़े हैं, एक दूसरेको खाये जाते हैं। यह जानते हुए कि हमभी शीघ्र ही कालके कवल होनेवाले है, हम एक-दूसरेसे वैर करते है, यह हमारा अत्यन्त अज्ञान वा मन्दता है। मिलान कीजिए— 'अभिमान विरोध अकारन ही ॥' लघुजीवन संबत पंच दसा। कल्पांत न नास गुमान असा। ७।१०२।'

६ (ख) [वैजनाथ जी—कालरूपी धीमरने मायाजाल फैलाया। सुर, नर, नाग, पशु, पक्षी, कीट, पतग, चराचर आदि सब जीव जलचर उस जालमें पड़े एकत्र है जो एक दूसरेको खाये जाते हैं। [भागवत १।१५।२४ में अर्जुनजीका वाक्य भी है कि जो लोग एक दूसरेका पालन करनेवाले है, वे ही एक दूसरेको मारभी डालते है; जैसे जलचर। यथा "मिथो निघ्नन्ति भूतानि भावयन्ति च यन्मिथः ॥' संसारमें प्रत्यक्ष देखनेमे आता है कि लोग धन आदिके लोभवश बाप, माँ, भाई, सुहृद्, पुत्र आदिको विष दे देते हैं] महाप्रलयमे तो सभीका नाश होता है, इसलिए संसार-सर्प-ग्रसित सभी हैं। अथवा, मेरे अन्तःकरणमें विवेक-सेना तथा अविवेक-सेना दोनों एकत्र है। विचार, धैर्य, सन्तोष, सत्य, शील, धर्म, वैराग्य, ब्रह्म-विद्या, क्षमा, तृप्ति, साधुता, श्रद्धा, ज्ञान आदि विवेक-सेना है। काम, क्रोध, लोभ, दंभ, मद, अधर्म, रति, हिंसा, तृष्णा आदि मोहकी सेना है। जब जीव हरि सम्मुख हुआ, तब विवेकदल एक-एक करके मोह सेनाको खा जाता है, जिससे जीवका कल्याण होता है। मेरा जीव हरिविमुख होकर लालचवश अपना नाश नहीं देखता, इसीसे मोहदल सबल होकर एक-एक करके विवेकसेनाको खाये जाता है।

टिप्पणी—७ 'मेरे अघ सारद अनेक जुग ...' इति। (क) 'मेरे अघ' से जनाया कि ऊपर जो कुछ कहा वह अपने सम्बन्धमे कहा है। 'अघ' से जनाया कि ऊपर जो मूर्खताए कही गई वे पाप हैं—अर्थात् विषयोंमें दुःख देखकर भी न छोड़ना, श्रीहरिचरणोंको छोड़ अन्य साधनोंमें लगना, अपनेही बल वीर्यको नष्ट करके अपनेको विषय-सुखकी प्राप्तिमें कृतार्थ मानना, भवजालमें पड़े हुओंकी उपासनासे अपनी भवजालसे रक्षाकी चाह करना, कालके पंजेमे पड़े हुए भी दूसरोंसे वैर-विरोध करना ये सब पाप है।

७ (ख) सारद अनेक युगों तक वर्णन करते हुए भी पार नहीं पा सकती। इस कथनसे जनाया कि मेरे अघ असंख्य हैं, यहाँ दो चार गिनाये हैं। क्योंकि 'जौं अपने अवगुन सब कहऊँ। बाढ़ै कथा पार नहिं लहऊँ। १।१२।५' विनयमें अन्यत्र भी इसी भावसे यों कहा है—'निगम सेष सारद निहोरि जौ अपने दोष कहावों। तौ न सिराहिं कलप सत लगि प्रभु कहा एक मुख गावों।१४२(६)।', 'कहिहै कौन कलुष मेरे कृत करम बचन अरु मनके। हारहि अमित सेष सारद श्रुति गिनत एक-एक छनकें।९६ (२)।' इत्यादि।

७ (ग) 'पतित-पावन प्रभु' इति। प्रभुके पतितपावन विरुदका आश्रय लेना था, इसीसे पहले अपनेको 'मेरे अघ सारद···पावै' कहकर पतित निश्चित किया, तब प्रभुको 'पतितपावन' कहा। यह नाता जोड़ा, यथा 'हौं प्रसिद्ध पातकी तू पाप पुंजहारी॥···तोहि मोहि नाते अनेक···।७९।' 'पतित पावन' प्रभुका बड़ा बाना है, यथा '*जासु पतितपावन बड़ बाना। गावहि कवि श्रुति संत पुराना।७।१३०।७।*'

७(घ) 'यह भरोस जिय आवै।' इति। मैं पतित हूँ और प्रभुका बाना है 'पतितोंको पावन' करना। इस अपने गुणसे प्रभु अवश्य भव-व्यालसे मेरी रक्षा करेंगे, यह मुझे पूर्ण विश्वास है।—यह 'रक्षिष्यतीतिविश्वासः' शरणागति है।

श्रीसीतारामचन्द्रार्पणमस्तु।

६३

कृपा सो धौं[1] कहाँ[2] बिसारी राम।

जेहि करुना सुनि श्रवन दीन-दुख धावत[3] है/हो तजि धाम।१।

नागराज निज बल बिचारि हिय हारि चरन चित दीन्ह।
आरत गिरा सुनत खगपति तजि चलत बिलंब न कीन्ह।२।
दितिसुत त्रास त्रसित निसि दिन प्रहलाद प्रतिज्ञा राखी।
अतुलित बल मृगराज-मनुज तनु दनुज हत्यो श्रुति साखी।३।

१ धौं—रा०, ह०, डु०, ५१, वै०, दी०, वि०, पो०। भा०, वे०, मु०, ज०, प्र०, ७४ में नहीं है। २ कहाँ—रा०, ह०, श्रा०। कहा—भा०, वे०, डु०, ७४, ज०। ३ धावत है—रा०। धावत हो (हौ) ह०, प्र०, ज०, ५१, ७४, श्रा०। आवत है—भा०। आवत हो—वे०।

भूप सदसि सब[4] नृप बिलोकि प्रभु राखु कह्यो नर नारी।
बसन पूरि अरि दर्प दूरि[5] करि भूरि कृपा दनुजारी।४।
एक एक रिपुतें[6] त्रासित जन तुम्ह राखे रघुबीर।
अब मोहि देत दुसह दुख बहु रिपु कस न हरहु भवभीर[7]।५।
लोभ ग्राह दनुजेस क्रोध कुरुराजबंधु खल मार।
तुलसिदास प्रभु यह दारुन दुख भंजहु राम उदार।६।

शब्दार्थ—धौं=न जाने; कौन जाने; मालूम नहीं। हे=थे। धाम=निवास स्थान। इसमें वैकुण्ठ, क्षीरसागर आदि सभी धामोंका समावेश है, जहाँ-जहाँसे भगवान् रक्षा करने आए। नागराज=गजराज; गजेन्द्र। हारि=थककर; शिथिल होकर; प्रयत्नमें निराश होकर और कुछ वश न चलनेपर। खगपति=पक्षिराज गरुड़जी। दिति=महर्षि कश्यपकी एक पत्नी जो दैत्योंकी माता है। दितिसुत=दितिका पुत्र हिरण्यकशिपु जो प्रह्लादजीका पिता था। प्रतिज्ञा=प्रण। मृगराज-मनुज=सिंह+मनुष्य=नृसिंहजी। दनुज=दैत्य हिरण्यकशिपु। साखी=साक्षी, गवाह। सदसि (सं० सदस्)=सभा; समाज। राखु=रक्षा कीजिए। नर—यह अर्जुनजीका एक नाम है। नरनारायणमेंसे नरके अवतार अर्जुन हुए। नर-नारी=द्रौपदीजी। पूरि=पूरा करके। पूरना=कमीको पूरा करना। दर्प=गर्व; घमंड। भूरि=बहुत अधिक; बड़ी भारी। दनुजारी=दैत्योंके शत्रु श्रीकृष्णरूपमें श्रीरामजी। त्रासित=त्रास दिये हुए, सताये कष्ट पहुँचाये गये; डराये हुए; भयभीत। जन=भक्त। राखना=रक्षा करना। भीर=भय; डर। दनुजेस=दैत्योंका राजा हिरण्यकशिपु। कुरुराजबन्धु=कौरवोंके राजा दुर्योधनका भाई दुःशासन। मार=काम।

पद्यार्थ—हे श्रीरामजी! (आपने अपनी) वह कृपा न जाने कहाँ भुला दी, जिस करुणा-कृपाके कारण आप दीनोंके संकट कानोंसे सुनकर अपना निवास-स्थान छोड़कर दौड़ पड़ते थे।१। गजेन्द्रने अपने सामर्थ्यको विचारकर हृदयमें हारकर (आपके) चरणोंमें चित्त दिया (अर्थात् आपकी शरण ताकी)। उसकी दुःख-भरी वाणी सुनते ही आपने गरुड़को छोड़कर चल पड़नेमें (किंचित् भी) विलंब न किया।२। हिरण्यकशिपुके त्राससे रात-दिन त्रस्त प्रह्लादकी

४ सब नृप—रा०, भा०, वे०, ५१, आ०। नृप बल—ह०, ७४, प्र०। ५ दूर—७४। ६ रिपु ते—भा०, वे०, दी०, वि०, मु०। तें रिपु—रा०, ५१, हु०, वै०। (इस पाठ में 'रिपुत्रासित' एक शब्द पढ़ा जायगा)। ७ भीर—रा०, भा०, वे०, प्र०, ज०, ७४। पीर—आ०।

प्रतिज्ञा आपने रख ली। अतुलित बलशाली नृसिंह शरीर धारणकर दैत्य हिरण्यकशिपुका वध किया। वेद (इसके) साक्षी हैं।३। राजाओंकी सभामें सब राजाओंकी ओर देखकर द्रौपदीने (जब) कहा—'प्रभो! मेरी रक्षा कीजिए। (तब) हे दैत्योंके नाशक! आपने ही उसके वस्त्रकी पूर्ति करके (वस्त्रमें व्याप्त होकर, वस्त्ररूप होकर) शत्रुके गर्वको मिटाकर उसपर भारी कृपा की थी।४। हे रघुवीर! (अब तक) एकही एक शत्रुसे सताये हुए भयभीत (उपर्युक्त एवं अन्य अनेक) भक्तोंकी आपने रक्षा की है। और इस समय तो मुझे बहुतसे शत्रु असह्य दुःख दे रहे हैं, तब आप मेरे इस भव-भयको क्यों नहीं हरण करते?।५। लोभरूपी ग्राह (मगर), क्रोधरूप हिरण्यकशिपु और कामदेवरूप दुष्ट दुःशासन (ये सब शत्रु मुझे दारुण दुःख दे रहे हैं)। हे प्रभो! हे उदार श्रीरामचन्द्रजी! (मुझ) तुलसीदासका यह दारुण दुःख दूर कीजिए।६।

नोट—१ इस भजनसे क्रम बदला है। ऊपर अपने ऊपर कहते आए और अब यहाँ भगवान्‌पर कहते हैं। (पं० रा० कु०)।

टिप्पणी—१ 'कृपा सो धौं...' इति। (क) 'कृपा सो' का सम्बन्ध आगे 'जेहि करुना' से है। 'सो' 'जो' (जेहि) का सम्बन्ध होता है। (ख) 'कहाँ बिसारी'—आगे कहते हैं 'कस न हरहु भव भीर'; उसी सम्बन्धसे यहाँ भुला देना कहा। भाव कि मुझ आर्त्तपर कृपा नहीं करते हो। इससे जान पड़ता है कि किसीका दुःख हरने गये थे, वहीं अपनी करुणा कृपाको भूल आये। कहाँ भूल आए? स्मरण करके उसे मँगा लीजिए। (ग) 'जेहि करुना···धावत हौ तजि धाम'—यह आपका साधारण स्वभाव है; यथा 'करुनामय रघुनाथ गोसाँई। वेगि पाइअहि पीर पराई। ७।८५।२।' सेवककी आर्त पुकार सुनकर अत्यन्त दुःखित हो जाते हैं, इसीसे दौड़ पड़ते हैं। यह स्वभाव कहकर आगे कुछ (तीन) उदाहरण देते हैं—गजके लिए 'चलत बिलंब न कीन्ह', प्रह्लादके लिए तुरंत खंभमें आ गए? द्रौपदीके लिए द्वारकासे वस्त्रमें आकर प्रविष्ट हो गए। (घ) 'तजि धाम'—आर्त सेवक जैसा विशेषण देकर पुकारता है, उसकी भावनाके अनुसार वहींसे प्रभु आते हैं। इसीलिए किसी एक धामका नाम नहीं लिया। प्रह्लादजी सर्वत्र प्रभुको देखते थे। उन्होंने खम्भेमें भी प्रभुका होना कहा। अतएव उनकी निष्ठाके अनुकूल वे खम्भेसे प्रकट हो गए। खम्भेमें निवास था, यह प्रमाणित कर दिया। द्रौपदीजीने द्वारकावासीको पुकारा—'गोविन्द द्वारकावासिन् कृष्ण गोपीजनप्रिय। म० भा० सभा० ६८।४१।' अतः उनकी भावनानुसार प्रभु द्वारकासे आए। गजेन्द्रने किसी देव-विशेषका नाम नहीं लिया इसलिए सर्वदेवमय भगवान् हरि ही वेदमय गरुड़पर सवार होकर जहाँ गजेन्द्र था वहाँको चल दिये।

२ 'नागराज निज बल बिचारि ···' इति । (क) जब गजराज १००० वर्ष तक ग्राहसे युद्ध करते-करते थक गया, उसके परिवारवाले तथा यूथके सब हाथी भी छुड़ा न सके, हारकर चले गए और गजराजके प्राण संकटमें पड़ गये; तब वह अपने बलाबलको विचार करने लगा कि 'जब मुझे मेरे बराबरके हाथी भी इस विपत्तिसे न उबार सके, तब ये बेचारी हथनियाँ कैसे छुड़ा सकती हैं? इसलिए दैव-पाशमें बँधा हुआ मैं उसी परब्रह्मकी शरण लेता हूँ जो कालसर्पसे भयभीत शरणागतकी रक्षा करते हैं। भा० ८।२।३२-३३।'—पूरी कथा तथा उद्धरित श्लोक ८३ (६ ग) 'तर्‍यो गयंद जाके एक नाय' की टिप्पणियोंमें देखिये ।—'अहं च तं यामि परं परायणम् । ३२।' आगे पद २१३ में भी 'बल' विचारकर शरण होना कहा है, यथा 'गज निज बल अवलोकि कमल गहि गयो जो सरन ।'

पुनः अपने बलका विचार यह कि मेरे घरबार साथी, प्रजा आदि सभीने मेरा साथ छोड़ दिया, मैं अकेला रह गया और वर्षों से खींचा-खींची करते थक गया । अब क्या कर सकता हूँ ? अब ग्राहसे लड़नेका मुझे सामर्थ्य नहीं, मेरा जो कुछ पुरुषार्थ था उसकी इति हो गई, अब पौरुषहीन हो गया, इससे पार नहीं पा सकता ।

२ (ख) 'आरत गिरा सुनत खगपति तजि···' इति । 'आर्त गिरा' सुनते ही प्रभुने देखा कि गजेन्द्र अत्यन्त पीड़ित है, गरुड़ यथासमय उस तक न पहुँचा सकेंगे, अतः वे गरुड़से एकदम उतरकर कूद पड़े, तत्काल वहाँ पहुँच गए; यथा 'तं वीक्ष्य पीडितमजः सहसावतीर्य सग्राहमाशु सरसः कृपयोज्जहार । भा० ८।३।३३।' और कृपापूर्वक दोनोंको सरसे निकाल लिया···।'

'चलत बिलंब न कीन्ह'—अन्यत्र भी कहा है, यथा 'सुमिरत सकृत सपदि आये प्रभु हन्यो दुसह उर दाह । १४४ ।', 'दीन बचन सुनि चले गरुड़ तजि सुनाभधरन । २१३।', 'सुमिरत सुलभ दास दुख सुनि हरि चलत तुरत पटपीत सँभार न । साखि पुरान निगम आगम सब जानत द्रुपदसुता अरु बारन ।२०६।'

श्रीभगवानसहायजी लिखते हैं कि 'खगपति तजि चलत···' मे भाव यह है कि गजेन्द्रका क्लेश जानकर यह आप भूल गए कि हम कौन हैं और हमें किस तरह चलना चाहिए, प्यादा-पा दौड़ पड़े । पुनः, भाव कि आपने विचारा कि गजेन्द्रके दुःखका जो दुःख मुझको है, वह गरुड़को नहीं, मैं उनसे शीघ्र पहुँचूँगा, अतएव प्यादा-पा चल दिये ।

टिप्पणी—३ 'दितिसुत त्रासत्रसित···' इति । (क) प्रह्लादजीको मार डालनेके लिए उसने प्रथम अपने राक्षसोंको आज्ञा दी । वे राक्षस भयंकर सिंहनाद करके वहाँ बैठे हुए प्रह्लादजीके सम्पूर्ण मर्मस्थानोंमें त्रिशूलसे प्रहार करने लगे,

किन्तु उनके सब प्रहार निष्फल हुए।—'आसीनं चाहनञ्छूलैः प्रह्लादं सर्वमर्मसु। भा० ७।५।४०।' इस प्रयासके निष्फल हो जानेपर दैत्यराज अति शंकितचित हुआ।—'प्रयासेऽपहते तस्मिन् दैत्येन्द्रः परिशङ्कितः। ४२।' फिर उसने और अनेक उपाय किये। दिग्गजोंसे रौंदवाया, विषधर सर्पोंसे डँसवाया, अभिचार कराया, पर्वतादिसे गिराया, अनेकों मायाओंका प्रयोग कराया, अँधेरी कोठरियोमे बन्द कराया, विष खिलाया-पिलाया, उपवास कराया, शीत, वायु, अग्नि और जलमे बिठाया, पर्वतोंके नीचे दबाया, इत्यादि जितने भी उपाय वधके उसे सूझे सब किये। (भा० ७।५।४३-४४)।

किसके द्वारा कौन उपाय किया गया, यह भी सुनिये। रसोइयों द्वारा भोजनके पदार्थोमे हालाहल विष खिलाया गया। प्रह्लादजी उसे भगवन्नामके उच्चारणसे अभिमंत्रित कर खा गए। वह विष पच गया। (वि०पु० १।१८।४-६) पुरोहितगणों द्वारा अभिचार कराया गया। उन्होंने कृत्या उत्पन्न की। उसने प्रकट होकर बड़े क्रोधसे प्रह्लादजीकी छातीमे त्रिशूलसे प्रहार किया, पर उनके वक्षःस्थलमे लगते ही वह तेजोमय त्रिशूल टूटकर पृथिवीपर गिरा और उसके टुकड़े-टुकड़े हो गये। उलटकर वह कृत्या पुरोहितोंको जलाने लगी, तब प्रह्लादने प्रार्थनाकर भगवान्से उनकी रक्षा करवाई। (श्लो० ३५-४४)।

यह प्रभाव देख हिरण्यकशिपुने प्रह्लादजीसे इसका कारण पूछा। प्रह्लादजीने उत्तरमे कहा कि जिसके हृदयमे श्रीअच्युत भगवान्का निवास होता है। उसके लिए यह सामान्य बात है—'प्रभाव एष सामान्यो यस्य यस्याच्युतो हृदि। वि० पु० १।१९।४।' अतः भगवान्को सर्वभूतमय जानकर सबको सबमें प्रीति करनी चाहिए। यह सुनकर उसने सेवकों द्वारा इनको सौ योजन ऊँचे पर्वतपरसे गिरवा दिया। पर उनका बाल बाँका न हुआ। तब परम मायावी शम्बरासुरसे अपनी मायाओं द्वारा मार डालनेको कहा। उसने बहुत-सी मायायें रचीं। प्रहलादजी मधुसूदन भगवान्का स्मरण करते रहे। सुदर्शन चक्रने आकर समस्त मायाओंको नष्ट कर डाला। तब दैत्यराजने वायुको आज्ञा दी कि उनको सुखा डाले। शरीरमे वायुका आवेश देख प्रह्लादजीने धरणीधर जनार्दनका स्मरण किया, उन्होंने भीषण वायुको पी लिया। (वि० पु० १।१९।१७-२४)।

विप्रचित्त, राहु और बलसे प्रह्लादको नागपाशमें बाँधकर समुद्रमें डालकर ऊपरसे सम्पूर्ण पर्वतोंसे ढक देनेकी आज्ञा दी। उन्होंने ऐसा ही किया। (१।१९।५२,५५,६२)। प्रह्लादजीने अच्युत भगवान्की स्तुति की। भगवान् विष्णुको अपनेसे अभिन्न चिन्तन करते-करते वे तन्मय हो गए। उनके शुद्ध अन्तःकरणसें ज्ञानस्वरूप श्रीविष्णु भगवान् विराजमान हुए। नागपाश क्षण भरमें टूट गया और वे जलसे बाहर निकल आए।

(१।२०।१,४,६) और फिर भगवानकी स्तुति करनेपर भगवानने दर्शन तथा वांछित वर दिये। (वि० पु०)।

३ (ख) 'प्रह्लाद प्रतिज्ञा राखी' इति। हिरण्यकशिपुके प्रश्न करनेपर कि 'मेरे कुपित होनेपर त्रिलोक काँप उठता है, तूने किसके बलसे इस प्रकार निर्भय होकर मेरी आज्ञाका उल्लंघन किया।' प्रह्लादजीने उत्तर दिया कि ब्रह्मादि समस्त चराचरको जिसने वशीभूत कर रक्खा है, वे भगवान ही मेरे तथा सभीके बल हैं। जो साधु पुरुष जितेन्द्रिय, बोधवान् और समदर्शी हैं, उनके तो अज्ञानजनित (कामादि) शत्रु भी नहीं रहते, तब अन्य (बाह्य शत्रु) तो रहही कैसे सकते हैं। 'न केवलं मे भवतश्च राजन्, स वै बलं बलिनां चापरेषाम्। परेऽवरेऽमी स्थिरजङ्गमा ये, ब्रह्मादयो येन वशं प्रणीताः॥ जितात्मनो ज्ञस्य समस्य देहिनां, साधोः स्वमोहप्रभवाः कुतः परे॥' (भा० ७।८।८,११)। उत्तर सुनकर उसने फिर पूछा कि मेरे सिवा जिस अन्य जगदीश्वरकी तू बात कहता है, बता वह कहाँ है? यदि सर्वत्र है तो इस खंभेमें क्यों नहीं दीखता?—'क्वासौ यदि स सर्वत्र कस्मात्स्तम्भे न दृश्यते। भा० ७.८।१३।' [प्रह्लादजीने उत्तर दिया कि वह सर्वत्र है और वह खम्भेमें भी दीखता तो है। यह सुनकर] वह बोला कि तू बहुत डींग हाँकता है, मैं तेरा सिर अभी धड़से अलग किये देता हूँ, वह तेरा हरि तुझे आकर बचावे तो सही। यह कह उसने सिंहासनसे कूदकर खम्भेमें बड़े जोरसे घूँसेका प्रहार किया।

दैत्यराजके—'यदि सर्वत्र है तो इस खंभेमें क्यों नहीं दीखता?' इस वाक्यसे स्पष्ट है कि प्रह्लादने विष्णुको सर्वत्र व्याप्त बताया था। पद्म पु० उत्तर खंडमें और भी स्पष्ट है। वहाँ हिरण्यकशिपुने कहा है—'तुमने मेरे सामने विष्णुकी श्रेष्ठताका भली भाँति वर्णन किया है। वे सब भूतोंमें व्यापक होनेके कारण विष्णु कहलाते हैं। जो सर्वव्यापी हैं, वेही परमेश्वर हैं। अतः तुम मुझे विष्णुकी सर्वव्यापकताको प्रत्यक्ष दिखाओ ...'। प्रह्लादने कहा—'भक्तिसे उनका दर्शन होता है। भक्तिके बिना वे नहीं दिखाई देते। रोष और मत्सर आदिके द्वारा श्रीहरिका दर्शन असम्भव है। देवता, पशु, पक्षी, मनुष्य तथा स्थावर समस्त छोटे-बड़े प्राणियोंमें वे व्याप्त हो रहे हैं।' यह सुनकर दैत्यराजने क्रोधमें भरकर कहा—'यदि विष्णु सर्वव्यापी और परम पुरुष हैं तो इस विषयमें अधिक प्रलाप करनेकी आवश्यकता नहीं। प्रत्यक्ष प्रमाण उपस्थित करो।*

* यथा—हिरण्यकशिपु-उवाच—'त्वया विष्णोःपरत्वं च सम्यगुक्तं ममाग्रतः। व्यापित्वात्सर्वभूतानां विष्णुरित्यभिधीयते। तस्य सर्वगतत्वं वै प्रत्यक्षं दर्शयस्व मे।' प्रह्लाद उवाच—'देवतिर्यङ्मनुष्येषु स्थावरेष्वपि जन्तुषु। व्याप्य तिष्ठति सर्वेषु क्षुद्रेष्वपि

उसे तुम इस खंभेमें दिखाओ। अन्यथा मै तुम्हारा बध कर डालूँगा।'—यह कहकर उसने तलवार खींच ली और प्रह्लादको मार डालनेके लिये उनकी छातीपर प्रहार करना चाहा। उसी समय खम्भेसे बड़े जोरका महान शब्द सुनाई पड़ा और खम्भेमेसे नृसिह रूपसे भगवान् प्रकट हो गए।

प्रह्लादजीके (उत्तरमें कहे हुये) उपर्युक्त वचनोंको ही 'प्रतिज्ञा' कहा है। इन्हीं वचनोंकी सत्यता एवं सम्पूर्ण प्राणियोंमें अपनी व्यापकता दिखानेके लिये भगवान् सभाके भीतर उसी खम्भेसे प्रकट हुए। यथा 'सत्यं विधातुं निजभृत्यभाषितं व्याप्तिं च भूतेष्वखिलेषु चात्मनः। अदृश्यतात्यद्भुतरूपमुद्वहन् स्तम्भे सभायां न मृगं न मानुषम्। भा० ७।८।१८।' 'रामकहाँ? सब ठाउँ हैं, खंभमें? हाँ, सुनि हाँक नृकेहरि जागे। क० ७।१२८।' 'पैज परे प्रह्लादहुको प्रगटे प्रभु पाहन तें, न हिये तें। क० ७।१२९।' (पैज शब्द प्रतिज्ञाका पर्याय है)।

३ (ग) 'अतुलित बल मृगराज मनुज तन···' इति। हिरण्यकशिपुने घोर तप करके ब्रह्माजीसे परम दुर्लभ ये वर प्राप्त किये—आपके रचे हुए किसी भी प्राणीसे मेरी मृत्यु न हो। भीतर बाहर दिनमे, रात्रिमें, आपके रचे हुए प्राणियोंके सिवा किसी और जीवसे, किसी भी अस्त्र-शस्त्रसे, पृथिवी या आकाशमें, मनुष्य या मृगसे एवं जीवित या मृतक प्राणीसे मेरी मृत्यु न हो तथा देवता, असुर या नागादिमेंसे भी मुझे कोई न मार सके। युद्धमे कोई भी मेरा सामना न कर सके, मैं सबका एक मात्र अधीश्वर होऊँ। इत्यादि। (भा०७।३।३५-३८)। 'भूतेभ्यस्त्वद्विसृष्टेभ्यो मृत्युर्मा भून्मम प्रभो। ३५। नान्तर्बहिर्दिवा नक्तमन्यस्मादपि चायुधैः। न भूमौ नाम्बरे मृत्युर्न नरैर्न मृगैरपि। ३६। व्यसुभिर्वासुमद्भिर्वा सुरासुरमहोरगैः। अप्रतिद्वन्द्वतां युद्धे ऐकपत्यं च देहिनाम्। ३७।' अतएव भगवान्को नर और सिह दोनोंका मिश्रित अद्भुत रूप धारण करना पड़ा। उसने वर माँगा था कि न मृग (पशु) से मरूँ, न किसी मनुष्यसे—'नरैर्न मृगैरपि'। यह रूप न तो नर ही था न सिह ही, यह दैत्यराजने स्वयं स्वीकार किया है। यथा 'नायं मृगो नापि नरो विचित्रमहो किमेतन्नृमृगेन्द्ररूपम्। भा० ७।८।१९।' (अहो! यह न मनुष्य ही है और न पशु ही; फिर यह नृसिहरूपधारी विचित्र जीव है कौन?)। भगवान् नृसिह ब्रह्माके रचे हुये नहीं है, न जीव हैं, इत्यादि।

'दनुज हत्यो' इति। वर था कि न भीतर मरे, न बाहर, न पृथिवीपर न आकाशमें। अतएव भगवान्ने उसे सभाके द्वारपर, अपनी जाँघोंपर गिराकर

महत्सु च।' हिरण्यकशिपुउवाच—'प्रत्यक्षं दर्शयस्वाद्य बहुभिः किं प्रलापितैः।' (प० पु० उ० २६५।७४-७५,८४,८७ पूना० सं०। २३८ वेंकटेश्वर सं०)।

अपने नखोंसे चीरडाला। (नख अस्त्र-शस्त्र नहीं हैं। द्वारकी चौखट न भीतर कही जाय न बाहर)।

३ (घ) 'श्रुति साखी' इति। ऋग्वेद सं० म० १ अ० २१ सू० १५४ यथा 'प्रतद्विष्णुः स्तवते वीर्येण मृगो न भीमः कुचरो गिरिष्ठाः।' अर्थात् हम इन नृसिंहरूपधारी भगवान् विष्णुकी स्तुति करते हैं; जिनका वीर्य (पराक्रम)—सत्कर्म अत्यन्त महान् है।

४ श्रीद्रौपदीजीकी कथा

श्रीयुधिष्ठिर महाराजके राजसूय यज्ञमें सभी देशोंके राजा, कौरवों और यादवोंका आगमन हुआ। राजसूययज्ञकी समाप्तिपर सब अपने-अपने स्थानोंको लौट गए। केवल दुर्योधन और शकुनि रह गए। (म० भा० सभा० ४६।३३) दुर्योधन मयदानव निर्मित सभाभवनका निरीक्षण करने लगे। निरीक्षण करते समय वे पग-पगपर भ्रमके कारण उपहासका पात्र बने। भीमसेन, अर्जुन, नकुल और सहदेव सभी उनकी दुरवस्था देख हँसे। स्त्रियों सहित द्रौपदी भी हँस रही थीं। (म० भा० सभा० ४७-७-११; ५०।२५,२६,३०,३३-३५)। दुर्योधन उस सभाभवनको तथा रक्षकों द्वारा किये गये अपने उपहासको और युधिष्ठिरजीके वैभवको देखकर निरन्तर सन्तप्त रहने लगा। वह युधिष्ठिरजीकी सारी लक्ष्मी हड़प करनेके लिए चिन्तित रहने लगा।* उसके मामा शकुनिने यह उपाय बताया कि 'युधिष्ठिरको जुएका खेल बहुत प्रिय है; किन्तु वे उसे खेलना नहीं जानते। तुम उनको द्यूतक्रीड़ाके लिये बुलाओ। मैं उनके राज्य तथा राज्यलक्ष्मीको जुएमें जीतकर तुमको प्राप्त करदूँगा। (म० भा० सभा० ४८।१६—२१; ४६।३७—४०)। धृतराष्ट्रने विदुरको भेजकर युधिष्ठिरजीको बुलाया और वे आये। दुर्योधनकी ओर से शकुनि पाँसा फेंकता था। जूएमें शकुनिके छलसे प्रत्येक दाँवपर युधिष्ठिरजी हारते ही गए। (अध्याय ६०, ६१)। यहाँ तक कि युधिष्ठिरजी अपना सारा धन, राज्य, भाइयों तथा द्रौपदी सहित अपनेको भी हार गए। (अ० ६५)। दुर्योधनने तुरत द्रौपदीको ले आनेकी आज्ञा दी। प्रथम विदुरको आज्ञा दी।

* 'श्रियं तथाऽऽगतां दृष्ट्वा ज्वलन्तीमिव पाण्डवे। अमर्षवशमापन्नो दह्यामि न तथोचितः।२६। अशक्तश्चैक एवाहं तामाहर्तुं नृपश्रियम्।…३५। सोऽहं श्रियं च तां दृष्ट्वा सभां तां च तथाविधाम्। रक्षिभिश्चावहासं तं परितप्ये यथाग्निना।३६।' (सभापर्व ४७)। अर्थात् पाण्डवको प्राप्त हुई उस प्रकाशमयी लक्ष्मीको देखकर मैं ईर्ष्यावश जल रहा हूँ। यद्यपि यह उचित नहीं है। मैं अकेला उस राज्यलक्ष्मीको हड़प लेनेमें असमर्थ हूँ। मै उस राज्यलक्ष्मीको, उस दिव्य सभाको तथा रक्षकों द्वारा किये हुये उपहासको देखकर निरन्तर संतप्त हो रहा हूँ मानों आगमें जलता होऊँ। (यह स्वयं दुर्योधनने शकुनिसे कहा है)।

तब उन्होंने बहुत फटकारा और यह भी कहा कि राजा युधिष्ठिर जब पहले अपनेको हारकर द्रौपदीको दाँवपर लगानेका अधिकार खो चुके थे, इस दशामें उन्होंने उसे दाँवपर रक्खा था; अतएव वह दासी नहीं हो सकती।—'न हि दासीत्वमापन्ना कृष्णा भवितुमर्हति। अनीशेन हि राज्ञैषा पणे न्यस्तेति मे मतिः।६६।४।' तब उसने प्रातिकामीको लानेके लिये भेजा और उसके बुलानेसे न आनेपर दुर्योधनने दुःशासनको भेजा। द्रौपदी उस समय रजस्वला होनेसे एकवस्त्रा थीं। दुःशासनसे यह कहनेपर भी कि मैं एकवस्त्रा हूँ, इस दशामें सभामे मुझे ले जाना अनुचित है—'एकं च वासो मम मन्दबुद्धे सभां नेतुं नार्हसि मामनार्य।६७।३२।' उसने एक न सुनी और उनके केश पकड़कर घसीटता हुआ सभामे ले गया। सभामे बैठे हुए द्रोणाचार्य, भीष्मपितामह, महात्माविदुर, धृतराष्ट्र तथा सभी कुरुवंशी बैठे हुए चुपचाप देखते रहे। द्रौपदीने सभामे प्रश्न किया—'राजाओ! आप लोग क्या समझते हैं? धर्मके अनुसार मैं जीती गई हूँ या नहीं? इस प्रश्नका सभी सभासद उत्तर दें।'—'इमं प्रश्नमिमे ब्रूत सर्वे एव सभासदः। जितां वाप्यजितां वा मां मन्यध्वे सर्वभूमिपाः।६७।४२।'

किसी सभासदने उत्तर न दिया, केवल भीष्मपितामहने कहा कि धर्मका स्वरूप अत्यन्त सूक्ष्म होनेके कारण मै तुम्हारे इस प्रश्नका ठीक-ठीक विवेचन नहीं कर पाता।—'न धर्मसौक्ष्म्यात् सुभगे विवेक्तुं शक्नोमि ते प्रश्नमिमं यथावत्। ६७।४७।' धृतराष्ट्रके एक पुत्र विकर्णने वारंवार सभी सभासदोंसे उत्तर देनेको कहा, पर किसीके उत्तर न देनेपर उसने अपना मत तो कह ही दिया कि मैं द्रौपदीको जीती हुई नहीं मानता। इसकी धर्मसङ्गत बातका कर्णने विरोध किया और दुःशासनसे द्रौपदीका वस्त्र-उतार लेनेको कहा। दुःशासन बलपूर्वक वस्त्र खींचने लगा तब महात्मा वसिष्ठजीकी पूर्वकालमें बताई हुई बात द्रौपदीको स्मरण हो आई कि भारी विपत्ति पड़नेपर भगवान् श्रीहरिका स्मरण करना चाहिए।—"महत्यापदि सम्प्राप्ते स्मर्तव्यो भगवान् हरिः।६८।४०।'

बस तुरत उनने भगवान्को रक्षाके लिये इन शब्दोंमे पुकारा—

"गोविन्द द्वारकावासिन् कृष्णगोपीजनप्रिय।४१।
कौरवैः परिभूता मां किं न जानासि केशव।
हे नाथ हे रमानाथ व्रजनाथार्तिनाशन।
कौरवार्णवमग्नां मामुद्धरस्व जनार्दन।४२।
कृष्ण कृष्ण महायोगिन् विश्वात्मन् विश्वभावन।
प्रपन्नां पाहि गोविन्द कुरुमध्येऽवसीदतीम्।४३।" (अध्य० ६८)

'हे गोविन्द! हे द्वारकावासी श्रीकृष्ण! हे गोपाङ्गनाओंके प्राणवल्लभ कृष्ण! कौरव मेरा अपमान कर रहे हैं, हे केशव! क्या आप यह नहीं जानते?

हे नाथ! हे रमानाथ! हे व्रजनाथ! हे संकटनाशन जनार्दन! मैं कौरवरूप समुद्रमें डूबी जा रही हूँ, मेरा उद्धार कीजिए। हे कृष्ण! कृष्ण! महायोगिन्! विश्वात्मन्! विश्वभावन्! गोविन्द! कौरवोंके बीचमें कष्ट पाती हुई मुझ शरणागत अबलाकी रक्षा कीजिये।'

इस तरह बारबार श्रीकृष्णजीका चिन्तनकर अंचलसे मुँहको ढककर वह जोर-जोर रोने लगी। करुण पुकार सुनते ही भगवान्का आसन हिल गया। वे शय्या और आसन छोड़कर पैदल दौड़ पड़े और अव्यक्त रूपसे उसके वस्त्रमें प्रवेश करके भाँति-भाँतिके सुन्दर वस्त्रों द्वारा द्रौपदीको आच्छादित कर लिया।

'याज्ञसेन्या वचः श्रुत्वा कृष्णो गह्वरितोऽभवत्।
त्यक्त्वा शय्याऽऽसनं पद्भ्यां कृपालुः कृपयाभ्यगात्॥...
ततस्तु धर्मोऽन्तरितो महात्मा समावृणोद् वै विविधैः सुवस्त्रैः।६८।४६।'

द्रौपदीके वस्त्र खींचे जाते समय भाँति-भाँतिके सैकड़ों रंग-बिरंग के वस्त्र प्रकट होते रहे।—'नानारागविरागाणि वसनान्यथ वै प्रभो। प्रादुर्भवन्ति शतशो धर्मस्य परिपालनात्।६८।४८।' जब सभामें वस्त्रोंका ढेर लग गया, तब दुःशासन थक-कर लज्जित हो चुप-चाप बैठ गया। 'यदा तु वाससां राशिः सभामध्ये समाचितः। ततो दुःशासनः श्रान्तो व्रीडितः समुपाविशत्।६८।५५।

टिप्पणी—४'भूप सदसि सब नृप बिलोकि...' इति। (क) यह सभा जिसमें जूएके लिये युधिष्ठिरजी बुलाये गये थे, एक कोस लंबी और एक कोस चौड़ी थी। इसका नाम 'तोरणस्फाटिक सभा' था। इस सभामें समस्त कुरुवंशी, कर्ण, भीष्मपितामह, द्रोणाचार्य, कृपाचार्य; गांधारराज शकुनि, राजा विविंशति, चित्र-सेन, राजासत्यव्रत, पुरुमित्र जय—(ये छः बड़े कपटी और धूर्त जुआरी राजा थे)। अश्वत्थामा, शल्य, जयद्रथ तथा और भी बहुतसे राजा उस सभामें थे। (महाभारत सभा पर्व ५८।१३,१४,२३-२६)। विकर्णके वाक्यसे भी सिद्ध है कि चारों दिशाओंसे आये हुये अनेक राजा भी सभामें उपस्थित थे। यथा 'ये त्वन्ये पृथिवीपालाः समेताः सर्वतो दिशः। काम क्रोधौ समुत्सृज्य ते ब्रुवन्तु यथामति। ६८।१५' (अर्थात् जो दूसरे राजा लोग चारों दिशाओंसे यहाँ पधारे हैं, वे सभी काम और क्रोधका त्यागकर अपनी बुद्धिके अनुसार द्रौपदीके प्रश्नका उत्तर दें)। आगे पद २१६ से भी बहुत राजाओंकी उपस्थिति कही है। यथा 'विपुल भूपति सदसि महँ नर-नारि कह्यो प्रभु पाहि।'—सबोंसे द्रौपदीजीने प्रश्न किया था। किसीने उत्तर न दिया। पाँचो पाण्डव धर्मपाशमें बँधे होनेसे कुछ न कर सके और सभासदोंका उत्तर न देना ही रक्षा करनेमें अपनी असमर्थता घोषित कर रहा है। अतएव सब ओरसे निराशा देख पड़ी।—यह सब भाव 'भूपसदसि सब नृप बिलोकि' से सूचित किया।

पुनः, 'बिलोकि' से जनाया कि द्रौपदीजीको प्रथम तो अपने पाँचों पति पाण्डवोंका ही भरोसा था कि वे मेरी रक्षा करेंगे, फिर यह समझकर कि ये अपनेको हार चुके हैं, धर्मपाशसे बँधे हुए यदि वे रक्षा न कर सकेंगे तो राजसभामें बैठे हुए धर्मधुरंधर भीष्मपितामह और द्रोणाचार्य आदि तो अवश्य ही रक्षा करेंगे।—इस विचारसे उन सबोंकी ओर देखा। कृष्ण गीतावलीमें इसको स्पष्ट कहा है। यथा 'कहा भयो कपट जुआ जो हौं हारी। समरधीर महावीर पाँचपति क्यों दैहैं मोहि होन उघारी॥ राजसभा सभासद समरथ भीषम द्रोन धर्मधुरधारी। अबला अनघ अनवसर अनुचित होति, हेरि करिहैं रखवारी॥६०॥'

४ (ख) 'प्रभु राखु कह्यो नर-नारी' इति। द्रौपदीको पहले तो अपनी बुद्धिमत्ताका बल था कि मेरे प्रश्नसे ही मेरी रक्षा हो जायगी। जब उससे कुछ न हुआ तब पाँचों पाण्डवोंके बलका आश्रय लिया; पर वहाँ भी निराशा हुई। तब सभासदोंका आश्रय लिया। उन्होंने भी रक्षा न की। तब अपने बलको बिचारा कि मैं अबला हूँ और दुःशासनके दसहजार हाथीका बल है, मैं उससे अपनी रक्षा कब कर सकती हूँ,—यह सोचते ही घबड़ाकर भारी व्याकुल हो उसने दोनों हाथ उठाकर अनाथनाथ आर्तजनपालकको रक्षाके लिये पुकारा। महाभारतमें जिस प्रकार द्रौपदीजीने शरणागति की वह ऊपर कथामें लिखा गया। तुलसीदासजी का मत है कि द्रौपदीजीने तीन बार 'त्राहि' वा 'पाहि' कहा।

यथा "सकुचि गात गोवति कमठी ज्यों हहरी हृदय बिकल भइ भारी।
अपनेनिको अपनो बिलोकि बल सकल आस बिस्वास बिसारी॥
हाथ उठाइ अनाथनाथ सो 'पाहि, पाहि प्रभु पाहि' पुकारी।" कृष्णगीतावली६०;
"त्राहि तीनि कह्यो द्रौपदी तुलसी राजसमाज। दो० १६६।"

'तीन त्राहि' का क्या फल हुआ यह आगे कहेंगे।

४ (ग) 'बसन पूरि अरि दर्प दूरि करि' इति। द्रौपदीजीके वस्त्रको उन्होंने इतना बढ़ाया कि दशहजार गजके बलवाला दुःशासन खींचते-खींचते थक गया। इतना काम तो प्रथम 'त्राहि' में ही कर दिया। वस्त्र कैसे बढ़ा? वैशम्पायनजीने जन्मेजयजीसे कहा है कि भगवान् कृष्ण अव्यक्त रूपसे द्रौपदीके वस्त्रमें प्रवेशकर गए थे। इसीको गोस्वामीजीने 'वस्त्रावतार' कहा है। यथा 'सभा सभासद निरखि पट पकरि उठायो हाथ। तुलसी कियो इगारहों बसन वेष जदुनाथ। दो० १६८।' प्रभु अनन्त है, अतः वस्त्र भी अनन्त हो गया। जैसे-जैसे दुःशासन अपने पूरे बलसे खींचता था, वैसेही वैसे वस्त्र बढ़ता ही जाता था।

तीन बार 'त्राहि' का फल तुलसीदासजीने इस प्रकार लिखा है—'प्रथम बढ़े पट, बिय बिकल, चहत चकित निज काज। दो० १६६।' अर्थात् पहली 'त्राहि' कहते ही वस्त्र बढ़ गया। दूसरीमें भगवान् बिकल हो उठे कि अब और क्या

किया जाय। तीसरीमें चकित होकर अपने दुष्टसंहाररूपी कार्यकी इच्छा करने लगे।

४ (घ) 'अरि दर्प दूरि करि'—वस्त्रावतारसे ही दुःशासनका गर्व नष्ट हो गया। उसका थककर लज्जित होकर चुपचाप बैठ जाना, उसके गर्वका चूर्ण हो जाना है।—'श्रान्तो व्रीडितः समुपाविशत्। म० भा० सभा० ६८।५५।' दुर्योधन का तथा उसके सब सहकारियोंका मुख मलिन हुआ। यथा 'सानुज सगन ससचिव सुजोधन भए मुख मलिन खाइ खल खाजी। कृष्ण गी० ६१।' अतएव 'अरिदर्प' कहा, केवल दुःशासनका ही गर्व नहीं, किन्तु उसके सब समाजका गर्व चूर्ण हो गया।

४ (ङ) 'भूरि कृपा दनुजारी'—भक्तके दुःखको हरनेके लिये एक विलक्षण अवतार ही ले लिया, वस्त्ररूप ही हो गए और उसकी रक्षा की। यह बड़ी भारी कृपा है। भगवान् अवतार तभी लेते हैं, जब अधम अभिमानी असुर ऐश्वर्य पाकर धर्मका नाश करते हैं। इस समय दुर्योधन द्वारा भारी अधर्म हो रहा था; अतएव धर्मकी रक्षाके लिये अवतार हुआ।

'दनुजारी' सम्बोधनसे जनाया कि दुर्योधनके साथी समाजी अधम अभिमानी असुर हैं। इन सब राजाओंका जन्म पृथिवीके भारके लिये ही था। यथा 'एवं नृपाणां क्षितिभारजन्मनां··· । भा० १।११।३४'। दैत्यसमूहोंसे पृथिवीके पीड़ित होनेपर उनका नाश करनेके लिये श्रीकृष्णका अवतार हुआ; यथा 'भूमेः सुरेतर-वरूथविमर्दितायाः··· । भा० २।७।२६।'

महाभारत वनपर्वान्तर्गत घोषयात्रा पर्वमें लिखा है कि जब गन्धर्वोंने दुर्योधन-को उसके सेवक मन्त्री, पुत्र, स्त्री आदि सहित बाँध लिया था, तब अर्जुन आदि पाण्डवोंने उनको बन्दीसे छुड़ाया। इससे उसको बहुत ग्लानि हुई और उसने किसीका कहा न मान आमरण अनशनका निश्चय किया। यह जानकर पातालवासी दैत्योंने कृत्या द्वारा दुर्योधनको पातालमें मँगाकर दुर्योधनको बताया कि हमने तपस्या द्वारा शंकरजीको प्रसन्नकर आपको प्राप्त किया है। आप मनुष्य नहीं हैं, दिव्य पुरुष हैं। आपकी सहायताके लिये बहुतसे वीर दानव क्षत्रिय योनिमें उत्पन्न हुए हैं। (२५२।६,८,१७)। अर्जुनको मारनेके लिये नरकासुरकी आत्मा कर्णके शरीरमें घुस गई है (श्लो० २०), और एक लाख दैत्य भी इस कामके लिये संशप्तक नामसे उपस्थित हैं। आप विषाद न करें। आपके नष्ट हो जानेसे तो हमारे पक्षका ही नाश हो जायगा। आपकी सहायता-के लिये अनेक असुर भीष्म, द्रोणाचार्य और कृपाचार्य आदिके शरीरोंमें प्रवेश करेंगे। इत्यादि—इससे स्पष्ट है कि दुर्योधनके भाई और सहायक राजागण

सब मनुष्यरूपधारी दानवादि है। भगवान् सबका नाश करेंगे। अतएव यहाँ 'दनुजारी'—पद दिया।

टिप्पणी—५ 'एक-एक रिपु तें त्रासित जन···' इति। (क) यहाँ तक तीन ही उदाहरण दिये; क्योंकि तीन ही रिपुओंसे अपनी रक्षाकी प्रार्थना करना है। इन तीनोंमें प्रत्येक भक्तका एक ही एक रिपु था। गजेन्द्रकी ग्राहसे, प्रह्लादकी हिरण्यकशिपुसे और द्रौपदीकी दुःशासनसे रक्षा की। (ख) 'मोहि देत दुसह दुख बहु रिपु···'—भाव कि एक ही शत्रुके त्रास देनेपर जिसने पुकारा उसकी रक्षा आपने की और मुझे तो बहुत शत्रु सता रहे हैं, असह्य दुःख दे रहे हैं, मैं कबसे पुकार कर रहा हूँ, मेरी रक्षा क्यों नहीं करते? पुनः, बहु रिपुसे रक्षा करनेका भाव कि जो यश आपको पृथक्-पृथक् व्यक्तियोंके उद्धारसे हुआ वह सबका सब एकत्र यहाँ एकही जगह मेरी रक्षासे प्राप्त हो जायगा। (भ० स०; ह्रु०)।

टिप्पणी—६ 'लोभ ग्राह दनुजेस क्रोध···' इति। (क) लोभ ग्राह है। ग्राह ग्रसता है, वैसेही लोभ मुझे ग्रस रहा है। क्रोध हिरण्यकशिपु है, जब देखो तब चिल्लाता और छाती जलाता रहता है। हिरण्यकशिपुका क्रोध प्रह्लादपर बारंबार हुआ है। यथा 'क्रोधान्धकारितमुखः प्राह दैतेयकिङ्करान्। वि० पु० १।१९।१०।', 'एतच्छ्रुत्वा तु कोपेन समुत्थाय वरासनात्। वि० पु० १।१९।५०।' (क्रोधपूर्वक सिंहासनसे उठकर प्रह्लादके वक्षस्थलमें लात मारी), 'हिरण्यकशिपू रुषा। अन्धीकृतात्मा··· । भा० ७।५।३३।' (क्रोधान्ध हो पुत्रको गोदसे पटक दिया), 'एवं दुरुक्तैर्मुहुरर्दयन्रुषा··· ।भा।७।८।१५।' (रोषपूर्वक पुत्रको बारंबार दुर्वचनोंसे पीड़ित किया)। इत्यादि। काम दुःशासन है, कामीको लज्जा नहीं होती। दुःशासनको लोगोंने बहुत धिक्कारा, पर वह निर्लज्ज था।

६ (ख) 'खल' दीपदेहलीन्यायसे बंधु और मार दोनोंका विशेषण है। दुःशासन तो खल था ही, यह कथासे विदित है। काम, क्रोध और लोभ तीनों अति प्रबल खल कहे गये हैं; यथा 'तात तीनि अति प्रबल खल काम क्रोध अरु लोभ। मुनि बिज्ञानधाम मन करहिं निमिष महुँ छोभ।३।३८।' इन सबोंमें काम सबसे अधिक है, इसीसे उसे प्रथम गिनाया है। गीतामें भी इसको 'महाशनो महापाप्मा' (गीता ३।३७। बहुत खानेवाला और महापापी) कहा है। वैसेही दुःशासन महादुष्ट महापापी है।

कामादिको रिपु और खल तथा उनसे अपना त्रासित होना कविने अन्यत्र भी कहा है। यथा 'लोभ मोह मद काम क्रोध रिपु फिरत रैनि दिन घेरे। तिन्हहि मिले मन भयउ कुपथ रत फिरै तिहारेहि फेरे।१८७।', 'तम मोह लोभ अहंकारा। मद क्रोध बोधरिपु मारा। अति करहिं उपद्रव नाथा। मर्दहिं मोहि

जानि अनाथा ।१२५।', 'मम हृदय कंज निवास करु कामादि खलदलगंजनं ।४५।'

६ (ग) [वैजनाथजीने लोभ आदिका रूपक इस प्रकार बाँधा है—लोभ ग्राह है, मन मत्त गजेन्द्र है, भवसिंधु सरोवर है। ग्राहने गजेन्द्रको सरोवरमें डुबाना चाहा और लोभ मनको भवसिंधुमें डुबाना चाहता है। भाव यह कि प्रथम तो मन मद अभिमानसे मतवाला रहा, अब धनादि बटोरनेकी चाहसे लोक-व्यवहारमें पड़ा। अतः भवसे भयभीत हो आपको पुकारता है।

क्रोध हिरण्यकशिपु है, शुद्ध चित्त प्रह्लाद हैं। भाव कि चित्त तो आपके चिन्तवनमें रहता है, परन्तु क्रोध अनेकोंसे ईर्ष्या-द्वेष उत्पन्न कराके चित्तको संकटमें डाल रहा है, अतः वह दुःखित होकर आपको पुकारता है।

काम दुःशासन है। बुद्धि द्रौपदी है। काम बुद्धिकी मर्यादा नष्ट करनेपर उतारू है। भाव कि बुद्धि तो सत विचारमें रहती है, किन्तु काम उसे परस्त्री आदिमें लगाकर नष्ट करना चाहता है।—यह मुझ तुलसीदासको दारुण दुःख है। (वै०)

श्री भगवान् सहायजी 'मनको गजेन्द्र, जीवको प्रह्लाद (क्योंकि जैसे दैत्यराजने प्रह्लादजीको अनेक दुःख दिये, पर उनको कुछ न हुआ, वैसेही जीव दुःख-सुखसे अलग है), और बुद्धिको द्रौपदी कहते हैं। (भ० स०)

पं० श्रीकान्तशरणजीने इस रूपकको और विस्तार दिया है।—त्रिधा अहंकार त्रिकूटाचल है। सत्व, रजस् और तमस् गुण उसके तीन शिखर हैं। उसके मध्यमें विषय-वारिपूर्ण हृदयरूपी सरोवर है। रजोगुणका विकाररूपी लोभ ग्राह है जो राजस अहंकार मनरूपी अभिमानी गजेन्द्रको पकड़े है। मुमुक्षुतासे हृदयमें इनका संग्राम हो रहा है। लोभ मनको निगल जाना चाहता है। सात्विक अहंकार चित्तरूपी प्रह्लादपर तमोगुणके विकाररूपी क्रोध हिरण्यकशिपुकी भाँति तरह-तरहसे दुःख देता है; यथा 'क्रोध पाप कर मूल।'

"चित्तका देवता जीव है। अतएव यहाँ प्रह्लाद रूपमें जीवकी ही व्यवस्था जाननी चाहिए।'

"बुद्धि द्रौपदी है। पाँचों ज्ञानेन्द्रियोंके द्वारा जीवात्माकी पारमार्थिक वृत्तियाँ इसके पाँचों पति हैं। जीवात्मस्वरूपमें रमण करना ही बुद्धिरूपी द्रौपदीका पातिव्रत्य है। बुद्धिको अन्य देवताओंकी ओर ले जानेवाला काम है, अतः यह काम शुद्ध बुद्धिकी मर्यादाका हरण करनेवाला है। यही दुःशासन रूप है।' इत्यादि।]

६ (घ) 'प्रभु यह दारुन दुख···' इति। 'प्रभु' संबोधनसे जनाया कि आप मेरा दुःख हरण करनेको समर्थ हैं। (ख) 'यह दारुन दुख'—ऊपर तीन उदाहरण दिये, किन्तु उनके संबधमे कहीं 'दुसह' 'दारुण' विशेषण नहीं दिया गया,

केवल 'त्रासित' कहा है। अपने दुःखको 'दुसह' और 'दारुन' विशेषण देकर अपने दुःखको इनसे अधिक जनाया। गजेन्द्र, प्रह्लाद और द्रौपदीको प्रत्यक्ष तनधारी जीवोंने सताया। तनधारीसे अतन सूक्ष्म अलक्ष्य कामादि अधिक भयंकर है। तनधारी तो एकही वार मारता है और कामादि तो भवके पंथ हैं, बारंबार मारते और अनेक योनियोंमें भ्रमण कराते हैं। तनधारीका नाश होता है, पर इनका नाश नहीं होता। यथा 'जाने ते छीजहि कछु पापी। नास न पावहि जन परितापी ।७।१२२।३।'

कामादि भवरोग हैं जो हृदयमें छिपे रहते हैं। इसीसे ऊपर 'हरहु भवभीर' कहा है। यहाँ अपनेको काम, क्रोध और लोभ तीनोंसे त्रस्त दिखाकर जनाया कि मुझे संसृति सन्निपात हो गया है। इन तीनोंके मेलसे ही यह सन्निपात होता है, जो दारुण दुःख कहा गया है। यथा 'कबहुँ देख जग धनमय रिपुमय कबहुँ नारिमय भासै। संसृतिसंनिपात दारुन दुख बिनु हरि कृपा न नासै। ८१(४)।' (धनमयसे लोभग्रस्त, रिपुमयसे क्रोधग्रस्त और नारिमय देखनेसे कामग्रस्त जनाया। तीनोंसे ग्रस्त होनेसे इसे सन्निपात कहा)।

६ (ङ) 'भंजहु राम उदार' इति। 'उदार' कहकर जनाया कि आप दान देनेमें पात्र-अपात्रका विचार न करके याचकमात्रको उसका वांछित पदार्थ देते हैं, मैं इस कृपाका पात्र हूँ या नहीं इसका विचार न करके आप मुझे इनसे अभय-दान दीजिए। मेरे इस दारुण दुःखको मिटाइये, यही दान मुझे चाहिए। यह भी जनाया कि आपके लिये यह दुःख दूर करना कोई बड़ी बात नहीं है।

श्रीसीतारामचन्द्रार्पणमस्तु।

६४

काहे तें हरि* मोहि बिसारो।
जानत निज महिमा मेरे अघ तदपि न नाथ सँभारो।१।
पतित-पुनीत दीन-हित असरन-सरन कहत श्रुति चारो।
हौं नहिं अधम सभीत दीन किधौं बेदन मृषा[1] पुकारो।२।
खग-गनिका गज ब्याध पाँति जहँ[2] तहँ[3] हौंहूं बैठारो।
अब केहि लाज कृपानिधान परसत पनवारो फारो[4]।३।

---

* यहाँ 'अब' रा० में अधिक है जो औरोंमें नहीं है। १ मृषा—रा०, ह०, ५१, ७४, ज०, आ०। वृथा—भा०, वे०, प्र०। २ रा० में 'जेहि' है, औरोंमें 'जहँ' या 'जहा' है। ३ तहाँ हौंहुँ—रा०। ४ टारो—भ०, दी० (यह पाठ हमें कहीं मिला नहीं, किस पोथीसे लिया है इसका पता नहीं दिया है)। फारो—अन्य सबोंमें।

जौं कलिकाल प्रबल अति होतो तुअ[5] निदेस ते न्यारो।
तौ हरि[6] रोष भरोस दोष गुन तेहि भजते[7] तजि गारो।४।
मसक विरंचि विरंचि मसक सम करहु प्रभाउ तुम्हारो।
यह सामर्थ्य[8] अछत मोहि त्यागहु नाथ तहाँ कछु चारो।५।
नाहिंन नरक परत मो कहुँ डर जद्यपि हौं अति हारो।
यह बड़ि त्रास दास तुलसी प्रभु नामहुँ पाप न जारो।६।

शब्दार्थ—बिसारो = भुला दिया एवं भुला रहे हो। सँभारो = सँभालते हो। सँभारना = दशा बिगड़नेसे बचाना; रक्षा करना; देख-रेख रखना। यथा—'करिये सँभार कोसलराय।२२०।', 'सेवकर सार सँभार गोसाईं। करबि जनक जननीकी नाईं।२।८०।६।' अशरण = जिसे कहीं शरण न हो; निराश्रय। शरण = शरण देनेवाले। पुकारो—पुकारना = घोषित करना; कहना। अर्थात् प्रशंसा करना। किधौं = या कि; अथवा। हूँ = भी। परसना (सं० परिवेषण) = खानेके पदार्थ किसीके सामने रखना। पनवारा = पत्तोंकी बनी हुई पत्तल जिस पर खानेके पदार्थ रखकर लोग भोजन करते हैं; पत्तल। पनवारा फारना = पत्तल फाड़ना, अर्थात् पंक्तिसे बाहर कर देना। तुअ = तुम्हारे; आपके। निदेस (निदेश) = आज्ञा, शासन, हुकूमत। न्यारा = पृथक्; अलग; बाहर। भजना = सेवा करना; आश्रित होना; नाम रटना। गारो (सं० गर्व वा गौरव से। प्राकृत—गारो) = गौरव; गर्व; यथा 'सुनि खग कहत अंब औंगी रहि, समुझि प्रेमपथ न्यारो, गए ते प्रभु पहुँचाइ फिरे पुनि करत करम गुन गारो।' (श० सा०)। = मान, प्रतिष्ठा, लज्जा। अछत = रहते हुए; उपस्थितिमें; यथा 'आपु अछत जुबराजपद रामहि देउ नरेस।'' 'परसु अछत देखौं जिअत बैरी भूपकिसोर।' चारो (चारा फारसी शब्द है) = उपाय, दवा, इलाज। हारो = थका हुआ; निराश। हारना = श्रान्त वा शिथिल होना; थक जाना; प्रयत्नमें निराश, लाचार वा विवश होकर बैठ जाना। जारो = जलाया। जारना = जलाना।

पद्यार्थ—हे हरि! (आपने) किस कारणसे मुझे भुला दिया है? अपनी महिमा और मेरे पापोंको आप जानते हैं, तो भी, हे नाथ! (आप मेरी) रक्षा नहीं करते।१। चारों वेद (आपको) पतितपावन, दीनहितकारी और अशरण-शरण कहते हैं (तो) क्या मैं अधम, (भव भयसे) डरा हुआ, और दीन नहीं

५ तुअ—रा०, ह०। तुव—५१, ७४, आ०। ६ हरि—रा०, भा०, वे०, ह०, ५१, वै०, दी०, वि०, पो०। तजि—७४। ७ भजते—रा०, आ०। भजतो—भा०, वे०, मु०। ४ समरथ आछत—भा०, वे०। सामर्थ्य अछत—अन्य सबोंमें।

हूँ, या कि वेदोंने झूठे ही (आपकी) प्रशंसा की है ? ।२। पक्षी (जटायु आदि), वेश्या (पिंगला आदि), गजेन्द्र, व्याध (जरा, वाल्मीकि आदि) की जहाँ पंक्ति है वहाँ आपने मुझे बिठाया । हे दयासागर ! अब किस लज्जासे परसते समय (मेरा) पत्तल फाड़ते हो ? ।३। यदि कलिकाल (आपसे) अत्यन्त बलवान् और आपके शासन एवं आज्ञासे बाहर होता, अर्थात् आपकी आज्ञामें न चलता होता, तो, हे हरि ! गौरव-गर्व-लज्जाको छोड़कर हम (उसके) रोष, भरोस, दोष और गुणोंको भजते* ।४। आप मच्छड़को सृष्टिरचयिता ब्रह्मा और ब्रह्माको मच्छड़ समान कर देते हैं,—यह आपका प्रभाव है । यह सामर्थ्य रहते हुए भी आप मेरा त्याग कर रहे हैं, तब हे नाथ ! इसका क्या कुछ इलाज है ? अर्थात् इसका कोई उपाय नहीं, मेरा कुछ भी इसमे वश नहीं, मै कर ही क्या सकता हूँ ।५। यद्यपि मैं अत्यन्त हार गया हूँ, तो भी नरकमें पड़नेका डर मुझे नहीं है ।† तुलसीदासजी कहते हैं कि बड़ा भारी डर (तो मुझे) यह है कि प्रभुके नामने भी तुलसीदासके पापोंको न जला पाया ।६।

नोट—१ इस पदमें 'रक्षिष्यतीतिविश्वासः' शरणागतिके अन्तर्गत 'मानमर्षता' भूमिकामें विनय करते हैं । (वै०) । इस पदमे बड़ा ही मधुर व्यंग्य है और इसकी ध्वनि पावनतामयी । (दीनजी) ।

टिप्पणी—१ 'काहे ते हरि मोहि बिसारो ।' इति । (क) पिछले पदमें भी कृपाका भुला देना कहा था, और दारुण दुःख हरनेकी प्रार्थना की थी । परन्तु कुछ सुनवाई नहीं हुई; अतः अब भुलानेका कारण पूछते है । 'हरि' संबोधनका भाव कि आप तो भक्तोंके क्लेश हरण करनेसे ही 'हरि' नामधारी हुए, अब मेरा क्लेश न हरनेसे यह नाम झूठा हो जायगा । (ख) 'जानत निज महिमा…'इति ।

---

* अर्थान्तर—हे हरि ! मै अपने गौरवको भूलकर, आपकी आशाको छोड़कर, कलियुगके प्रति जो क्रोध है तथा उसके गुण दोषको छोड़कर उसीका भजन करता अर्थात् पापपूर्ण पथपर चलता । (दीनजी) । (२) हम लोग तुम्हारी आशा छोड़ देते, तुम्हारा गुणगान भी न करते, और क्रोधकर उस बेचारेको जो भला-बुरा कहते हैं सो भी न कहते । बस सब झंझट छोड-छाड़कर उसका भजन करते । (वि० ह०)। (३) हे हरे ! हम आपका भरोसा और गुणगान छोड़कर तथा उसपर क्रोध करने तथा दोष लगानेका झंझट त्यागकर उसीका भजन करते । (पो०, श्री० श०) । (४) तो हे राम ! क्रोध, भरोसा, द्वेष गुण के झगड़े छोड़ उसे ही भजता । (सू० शु०) इन्होंने 'गारो' का अर्थ झगड़ा झंझट किया है । पोद्दारजीने भी 'झंझट' अर्थ किया है ।

† सूर्यदीन शुक्लजीका अर्थ—'यद्यपि नरकमें गिरनेका मुझे डर नहीं है, (क्योंकि) मैं बहुत हार गया हूँ (तो भी) यह बड़ा भारी दुःख है ।'

श्रीरामजीके रूप, नाम, गुण आदि सभीकी महिमा अनन्त है, कोई उसकी थाह नहीं पा सकता। यथा—'महिमा नाम रूप गुनगाथा। सकल अमित अनंत रघुनाथा।···निगम सेष सिव पार न पावहिं॥···तिमि रघुपति महिमा अवगाहा। तात कबहुँ कोउ पाव कि थाहा।७।९१।३,४,६।' इस पदमें आगे 'नामहु पाप न जार्यो' कहकर यहाँ 'निज महिमा' से विशेषकर नाम महिमाको सूचित किया है। नाम-महिमा प्रभु जानते हैं; यथा 'रामनामको प्रताप जानियत नीके आप।२५२।'

१ (ग) 'जानत मेरे अघ' क्योंकि सर्वज्ञ हैं, अन्तर्यामी हैं। यथा 'कपट करौं अंतरजामिहु सों अघ व्यापकहि दुरावों। ऐसे कुमति कुसेवक पर रघुपति न कियो मन बावों।१७१।' इससे सूचित हुआ कि यहाँ 'निज महिमा' से विशेषतः 'पापनशावन' 'पतितपावन' गुण वा शक्तिका स्मरण कराते हैं। पापनाशन महिमा, यथा 'तीरथ अमित कोटि सम पावन। नाम अखिल अघ पूग नसावन।७।९२।२।'

१ (घ) 'तदपि न नाथ सँभारो'—भाव कि महिमा जानते न होते, तो आपसे यह क्यों पूछता कि आपने मुझे क्यों भुला दिया? सामर्थ्य जानते हुए भी अपने विरुदका पालन आपने मेरे प्रति नहीं किया, यह आश्चर्य है।

टिप्पणी—२ (क) 'पतितपुनीत दीनहित असरनसरन···' इति। अब वेदों-की साक्षी देते हैं कि वेद आपकी यह महिमा, यह विरदावली घोषित करते हैं। यह सुनकर मैं शरणमें आया। यथा 'मैं हरि पतितपावन सुने। मैं पतित तुम्ह पतितपावन दोउ बानक बने।··दास तुलसी सरन आयो राखि ले आपने।१६०।' आप दीनोंका हित करते हैं, मैं दीन हूँ तब मुझे क्यों भुला दिया? यथा "कहँ लगि कहौं दीन अगनित जिन्हकी तुम बिपति निवारी। कलिमल ग्रसित दास तुलसी पर काहे कृपा बिसारी।१६६।', 'एहि दरबार दीन को आदर रीति सदा चलि आई। दीनदयाल दीन तुलसीकी काहुँ न सुरति कराई।१६५।' आप अशरणशरण हैं, मुझे कहीं शरण नहीं, कहीं ठिकाना नहीं, मुझे शरण दीजिए, अभय कीजिए। यथा 'असरनसरन बिरुद संभारी। मोहि जनि तजहु भगत हितकारी। ७।१८।३।', 'नाहिन और ठौर मोकहँ ताते हठि नातो लावत। राखु सरन उदार चूड़ामनि तुलसिदास गुन गावत।१८५।'

२ (ख) 'हौं नहि अधम सभीत दीन···' इति। पूर्वार्धमें जो तीन विरुद कहे उन्हींको लेकर बताते हैं कि मेरे आपसे सब नाते हैं। आप पतितपुनीत हैं, मैं अधम हूँ। आप अशरण-शरण है अर्थात् जो सभीत शरणमें आता है, उसे शरण देते हैं; यथा 'जौं सभीत आवा सरनाई। रखिहौं ताहि प्रानकी नाई।', 'अभयं सर्व-भूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं मम।', मैं सभीत हूँ। आप दीनहित हैं, मैं दीन हूँ। इतने नाते होते हुये भी मुझे आप क्यों भुला रहे हैं? भुलाना न चाहिए, यथा "तैं उदार,

मैं कृपन, पतित मैं, तैं पुनीत श्रुति गावै। बहुत नात रघुनाथ तोहि मोहि, अब न तजें बनि आवै। ११३ (३)।'; परन्तु आपने भुला दिया; इससे मुझे शंका होती है कि क्या मैं अधम, सभीत और दीन तीनों नहीं हूँ जिससे प्रभु अपने पतित-पुनीत आदि विरुदोंको प्रकट नहीं करते; पर मैं अधमता आदि गुण अपनेमें बराबर देख रहा हूँ; अतएव दूसरी शंका होती है कि फिर क्या वेदोंने झूठ कहा? क्या वेदोंके वाक्य खुशामद (चाटु, ठकुरसोहाती) के हैं, अर्थवाद हैं?—यह भी हो नहीं सकता। वेद ब्रह्मवाक्य हैं, अपौरुपेय हैं। यथा 'निगम निज वानी।६।१५।४।' सभी मतावलम्बी उन्हें शब्द प्रमाण मानते हैं। अतः वे असत्य हो नहीं सकते। [विशेष प्रमाण १२० (५ क) में देखिए]—तब यही प्रश्न होता है कि 'आपने क्यों भुला दिया?' मेरा यह प्रश्न अयोग्य नहीं है।*

३ (क) 'खग' इति। गृध्रराज श्रीजटायुजीकी कथा बहुत प्रसिद्ध है। रामचरितमानस अरण्यकाण्डमें पाठकोंने पढ़ा है। सक्षिप्त इस पदसे सम्बन्धित कथा यह है कि जब श्रीरघुनाथजीने पंचवटीमें निवास किया, तब गीधराजने अपनेको श्रीदशरथजीका सखा कहकर उनसे भेंटकर कहा कि मैं आपकी अनुपस्थितिमें सीताजीकी रखवाली करूँगा। रावणने जब सीताहरण किया, तब सीताजीका क्रन्दन सुनकर जटायु उनकी रक्षाके लिये रावणसे लड़े। रक्षामें अपने प्राण ही निछावर कर दिये। श्रीरामजीने उनकी दाह क्रिया की और उनको अपना धाम दिया। गीधको आमिषभोगी हिंसक होनेसे अधम कहा। यथा—'गीध अधम खग आमिप भोगी। गति दीन्ही जो जाचत जोगी। ।३।३३।२।',—'विहँगयोनि आमिप-आहार पर गीध कौन व्रतधारी।१६६।', 'गीध कौन दयाल जो बिधि रच्यो हिंसा सानि।२१५ (३)।' गीतावलीमें इनका चरित पढ़ने योग्य है। ४३(६) मे भी देखिए।

३ (ख) 'गणिका—पद्मपुराणमें गणिकाका प्रसंग श्रीरामनामके सम्बन्धमें आया है। सत्ययुगमें एक रघु नामक वैश्यकी जीवन्ती नामकी एक परम सुन्दरी कन्या थी। यह परशु नामक वैश्यकी नवयौवना स्त्री थी। युवावस्थामें ही यह विधवा होकर व्यभिचारमें प्रवृत्त हो गई। ससुराल और मायका दोनोंसे निकाल

---

* सू० शुक्लजी—वेद मिथ्या नहीं हैं, किन्तु (संभवतः आप सोचते होंगे कि) मैं पतित होनेपर भी पतित भाव नहीं रखता, इसीसे आप मुझे पतितोंमें नहीं लेते; परन्तु समझ देखिए तो मैं पतित होकर भी पतित भाव न लेनेसे पतितोंसे भी पतित हूँ, क्योंकि यह दोष अधिक है। तुम्हारा नाम दोषोंको भस्म करता है, इसपर मेरा विश्वास है। यदि इस दोषको नामने न भस्म किया व पतित भाव मुझमें न आया और आपने उद्धार न किया तो नामकी निर्बलता पर मुझे खेद होगा।

दी गई। तब वह किसी दूसर नगरमे जाकर वेश्या हो गई। यही वह गणिका है। इसके कोई सन्तान न था। इसने एक बार एक व्याधासे एक तोता मोल ले लिया और उसका पुत्रकी तरह पालन करने लगी। वह उसको 'राम, राम' पढ़ाया करती थी। दोनों साथ-साथ इस प्रकार रामनाम लते थे। फिर किसी समय वह वेश्या और वह शुक एकही समय मृत्युको प्राप्त हुए। यमदूत उसको पाशसे बाँधकर ले चले, वैसे ही भगवान्के पार्षद पहुँच गए और उन्होंने उसे यमदूतों से छुड़ा लिया। दोनों (गणिका और तोता) श्रीरामनामके प्रभावसे मुक्त हो गए। यथा 'रामनामप्रभावेण तौ गतौ धाम्नि सत्वरम्।' (प० पु० क्रियायोग-सारखंड अ० १५)।

गणिकाके अज्ञानकी कौन सीमा, जिसने क्षणिक सुखके लिये शतकोटि कल्पके दुःख पर ध्यान न दिया? उसे भी आपने अपना धाम दिया। यथा 'गज पिंगला अजामिलसे खल गने धौं कवन। तुलसिदास प्रभु केहि न दीन्ह गति जानकीरवन।२१२।'

श्रीमद्भागवत ११।८ में भी एक पिंगला नामकी वेश्याकी चर्चा भगवान् दत्तात्रेयने की है जिसके चरितसे उन्होंने उपदेश लिया। एक दिन वह किसी प्रेमीको अपने स्थानमे लानेकी इच्छासे खूब बन-ठनकर अपने घरके द्वारपर खड़ी रही। जो कोई पुरुष उस मार्गसे निकलता, उसे ही समझती कि बड़ा धन देकर रमण करनेवाला कोई नागरिक आ रहा है। परन्तु जब वह आगे निकल जाता तो सोचती कि अच्छा अब कोई दूसरा बहुत धन देनेवाला आता होगा। इस प्रकार दुराशावश खड़े-खड़े जागते-जागते उसे अर्धरात्रि बीत गई। धनकी दुराशासे उसका मुख सूख गया, चित व्याकुल हो गया और चिन्ताके कारण होनेवाला परमसुखकारक वैराग्य उसको उत्पन्न हो गया। वह सोचने लगी—'ओह! इस विदेहनगरीमे मैं ही एक ऐसी मूर्खा निकली कि अपने समीप ही रमण करनेवाले और नित्य रति और धनके देनेवाले प्रियतमको छोड़कर कामनापूर्तिमे असमर्थ तथा दुःख, शोक, भय मोह आदि देनेवाले, अस्थिमय टेढ़ेतिरछे बाँसों और थूनियोंसे बने हुए, त्वचा, रोम और नखोंसे आवृत, नाशवान् और मल-मूत्रसे भरे हुए, नवद्वारवाले घररूप देहोंको कान्त समझकर सेवन करने लगी। अब मैं सबके सुहृद्, प्रियतम, स्वामी, आत्मा, भवकूपमे पड़े हुए काल सर्पसे ग्रस्त जीवोंके रक्षकके ही हाथ बिककर लक्ष्मीजीके समान उन्हींके साथ रमण करूँगी। यह सोचकर वह शान्तिपूर्वक जाकर सो रही और भजनकर संसार सागरसे पार हो गई। (परन्तु यह कथा यहाँ विशेष संगत नहीं जँचती)।

यही कथा संक्षेपसे म० भा० शान्ति १७४। ५८-६२ में एक ब्राह्मणने राजा सेनजित्‌से कही है।

३ (ग) 'गज'—गजेन्द्रकी कथा 'तर्‌यो गयंद जाके एक नाय' प्रसंगमें ८३ (६ ग तथा पद ६३ के नागराज निज बल बिचारि' की व्याख्यामें आ चुकी है। यह बड़ा अभिमानी था। यथा 'पसु पाँवर अभिमानसिंधु गज ग्रस्यो आइ जब ग्राह। सुमिरत सकृत सपदि आये प्रभु हर्‌यो दुसह उर दाह। १४५ ३)।' गज-शरीर भीतर बाहर अज्ञानसे भरा हुआ होता है। गजेन्द्रने स्तुति करते हुए यह स्वीकार किया है। यथा 'जिजीविषे नाहमिहामुया किमन्तर्बहिश्चावृतयेभयोन्या। भा० ८।३।२५।' अर्थात् भीतर और बाहर अज्ञानसे भरे हुए इस हाथीके शरीरका मुझे क्या प्रयोजन है? ऐसे पशु, पामर, अभिमानीकी भी नाम लेते ही आपने सुध ली।

३ (घ 'व्याध' इति। 'व्याध' से 'बाल्मीकि' तथा 'जरा' और 'शबर' को ले सकते हैं। अध्यात्म रा० २।६में महर्षि बाल्मीकिजीने श्रीरामजीसे अपना वृत्तान्त यों कहा है—"मैं पूर्वकालमें किरातोंमें बालपनेसे पलकर युवा हुआ, केवल जन्ममात्रसे मैं विप्रपुत्र हूँ, शूद्रोंके आचारमें सदा रत रहा। शूद्रा स्त्रीसे मेरे बहुत पुत्र हुए। तदनन्तर चोरोंका संग होनेसे मैं चोर हुआ। नित्य ही धनुष-बाण लिये मैं जीवोंका घात करता था। एक समय भारी बनमें मैंने सात तेजस्वी मुनियोंको आते देखा, तो उनके पीछे 'खड़े रहो, खड़े रहो' कहता हुआ धाया। मुनियोंने मुझे देखकर पूछा कि 'हे द्विजाधम! तू क्यों दौड़ा आता है? मैंने कहा कि मेरे पुत्र, स्त्री आदि बहुत हैं, वे भूखे हैं। इसलिए आपके वस्त्र आदि लेने आ रहा हूँ। वे प्रसन्न मनसे बोले—तू घर जाकर सबसे एक-एक करके पूछ कि जो पाप तूने बटोरा है, इसको वे भी बटावेंगे कि नहीं? मैंने जाकर पूछा तो सबने यही उत्तर दिया कि हम तुम्हारे पापके भागी नहीं, वह पाप तो सब तुझको ही लगेगा, हम तो उससे प्राप्त हुए फलको ही भोगनेवाले हैं। ऐसे वचन सुन मुझे खेद और ग्लानि हुई, मुझे वैराग्य उत्पन्न हुआ। मुनियोंके पास आकर उनके पैरोंपर मैं डंडाकार गिर पड़ा और दीन बचन बोला—'हे मुनिश्रेष्ठ! मैं नरकरूप समुद्रमें आ पड़ा हूँ। मेरी रक्षा कीजिए।' मुनि बोले 'उठ, उठ। तेरा कल्याण हो…'। मुनि आपसमें विचार करने लगे कि यह अधम है, तो क्या, अब शरणमें आया है, रक्षा करना उचित है। फिर मुझे 'मरा, मरा' एकाग्र मनसे जपनेका उपदेश दिया।" उलटे नामके जपसे व्याधसे वे महर्षि बाल्मीकि हुए। श्रीरामजीने उनके आश्रमपर जाकर उन्हें दर्शन दिया। अन्यत्र भी कहा है—'महिमा उलटे नामकी मुनि कियो किरातो।१५१।',

'राम बिहाइ मरा जपते बिगरी सुधरी कवि कोकिलहूकी। क० ७।८६।'— ५७ (३ च) भी देखिए।

'खग'—भगवान् श्रीकृष्णके चरणके पद्म चिह्नको देखकर उसे हरिण का भ्रम हो गया। हरिण समझकर उसने उस चिह्नपर बाण चलाया। समीप आनेपर भगवान्को देखकर उसे बड़ा पश्चाताप हुआ। भगवान्ने उसे शांति प्रदान करते हुए सदेह स्वर्गको भेज दिया। यथा 'व्याध चित दै चरन मारयो मूढ़मति मृग जानि। सो सदेह स्वलोक पठयो प्रगट करि निज बानि।२१४।५।' इसके उद्धारसे दिखाया है कि प्रभु पामरोंपर कैसी प्रीति रखते हैं। 'शबर' की कथा १०६ (२ क) में लिखी जायगी।

टिप्पणी—३ (ङ) 'खग गनिका…पाँति तहँ हौंहू बैठारो' इति। भाव कि ये सब महापातकी थे, सो नाम लेनेसे सबकी सुधर गई, सबपर आपने कृपा की। यथा 'गनिका गज गीध अजामिलके गनि पातक पुंज सिराहिं न जू। लिये बारक नाम सुधाम दियो, जेहि धाम महामुनि जाहिं न जू। क० ७।७।' मैं भी अधम हूँ और नामका तथा आपके पतित-पुनीत बिरदका अवलम्ब है, अतएव मैं भी उसी पंक्तिवाला हुआ। आपके पतित-पावन आदि गुणोंने मुझे इन पतितोंकी पंक्तिमें बैठाया है। अर्थात् इन्हीं गुणों-को सुनकर मैं भी शरणमें आया हूँ। तब आप मेरी भव-भीर क्यों नहीं हरते ? मुझे क्यों नहीं शरणमें लेते ?

'कृपानिधान' का भी यही भाव है कि सबपर कृपा करके सबको अपनाया, अब मुझ गरीबका पत्तल फाड़ पंक्तिसे बाहर करते हो, तब कृपा-निधान आप कैसे कहे जायँगे ?

[बैजनाथजी—किस प्रकारसे मैं इनकी पंक्तिमें हूँ सो सुनिये। गीध मांसाहारी अधम पक्षी है। वह श्रीकिशोरीजीके लिए रावण द्वारा घायल हुआ। आपने उसको अपना लिया। वैसेही मैं भी अधम हूँ, जन्म भर भक्ष्य अभक्ष्य खाता रहा। आपकी कीर्तिका प्रचार करनेसे कलियुगने मुझे घायल किया, अतः शरणमें आये हुए मुझको शरण दीजिये। पुनः, गणिका देहेन्द्रिय द्वारा नृत्यगानादि अनेक कलाओंसे लोकको रिझाकर अपनी जीविका करती थी। वह उपदेश पाकर शुकके मिषसे आपका नाम स्मरण करती थी। आपने उसे अपनाया। वैसेही मैं भी अनेक कला करके लोकको रिझाता रहा (यथा, 'नाना वेष बनाइ दिवस निसि पर-वित जेहि तेहि जुगुति हरौं।१४१।', 'भगति बिराग ज्ञान साधन कहि बहुबिधि डहकत लोक फिरौं।१४१।')। गुरुसे उपदेश पाकर आपका नाम लेता हूँ। पुनः, गजराज-ने ग्राहसे ग्रस्त होनेपर आर्त होकर आपको पुकारा, आपने तुरत उसको अप-

नाया। वैसेही मैं संसाररूप ग्राहसे ग्रस्त आर्त हो पुकार रहा हूँ। पुनः, वाल्मीकिने जन्म भर हिंसा की, सप्तर्षिके सत्संगसे उल्टा नाम जपा, उसको भी आपने अपनाया। वैसेही मैंने भी जन्म भर महापाप किये। अब सज्जनोंके संगसे आपका नाम लेता हूँ। इस प्रकार मैं भी उनकी भाँति पतित, अनाथ, आर्त होनेसे उसी पंक्तिमें बैठा। आपका ही बैठाया हुआ हूँ, क्योंकि आपका वचन है—'सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते। अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं मम। वाल्मी० ६।१८।३३-३४'—इस श्रीवचनके अनुकूल मैं शरणागत उसी पंक्तिमें बैठा। मैं भी उसी पारसका अधिकारी हूँ। मुझे भी अपनाकर शरणमें लीजिये।

'अब केहि लाज · पनवारो फारो' इति। भाव कि खग, गणिका आदि मेरे ही समान थे। उनको अपनानेमें तो आपने कोई संकोच न किया, लजाये नहीं, तब मुझे अपनानेमें किस बातकी लज्जा लगती है? किसलिए मुझे पंक्तिसे निकालते हो। उनमे और मुझमें केवल इतनाही भेद है कि गीधादि त्रेता और सत्ययुग आदिमें हुए और मैं कलियुगमें हूँ। पर कलि-युग भी तो आपहीके शासनसे है। (वै०)

महात्मा भगवानसहायजी—भोजन परोसते समय किस लज्जासे मेरी पत्तल फाड़ते हो। यहाँ प्रभुकी प्राप्ति भोजन है, उसको पाकर पूर्ण अभिलाष (पूर्णकाम) होना तृप्ति है और संसार-रहित होना क्षुधाकी निवृत्ति है; सो उसका न पाना 'पत्तलका फाड़ना' है। पतित-पुनीत दीनहित आदि विरुदावलीकी मर्याद पत्तल है, इसी पत्तलपर उपर्युक्त सभी व्यक्तियोंने परोसा पाया था।]

टिप्पणी—४ 'जौ कलिकाल प्रबल अति ··' इति। (क) 'जौं' सन्दिग्ध पद देकर जनाया कि ऐसा है नहीं, कलियुग आपसे प्रबल नहीं है और जब आपसे प्रबल नहीं है, तब वह आपके शासनसे, आपकी आज्ञासे बाहर कब हो सकता है? वह तो एक प्राकृत चक्रवर्ती राजाहीके धमकानेसे सीधा हो गया था और उनकी आज्ञाका पालन करनेको तैयार हो गया था। यथा 'तन्मे धर्मभृतां श्रेष्ठ स्थानं निर्देष्टुमर्हसि। यत्रैव नियतो वत्स्य आति-ष्ठंस्तेऽनुशासनम्। भा० १।१७।३७' (अर्थात् हे धार्मिकोंमें श्रेष्ठ! आप मुझे वह स्थान बतलाइये जहाँ आपकी आज्ञाका पालन करते हुए मैं स्थिरता-पूर्वक रह सकूँ)। और आप तो अखिल ब्रह्माण्ड-नायक हैं। सभी आपकी आज्ञामें चलते हैं। यथा 'बिधि हरि हर ससि रबि दिसिपाला। माया जीव करम कुलि काला॥ अहिप महिप जहँ *लगि प्रभुताई*। जोग सिद्धि निगमा-गम गाई। करि बिचार जिय देखहु नीकें। *राम रजाइ सीस सबही कें*। २।२५४।६-८', 'काल करम जिव जाके हाथा। ६।६।६।' जो सबका स्वामी

होता है उसीकी उपासना की जाती है, इसीसे मैं आपकी शरण आया। यथा 'सकल विश्ववंदित सकल सुरसेवित आगम निगम कहैं रावरेई गुनग्राम। इहै जानिकै तौ तुलसी तिहारो जन भयो न्यारो कै गनिबो जहाँ गने गरीब गुलाम।७७ (३)।' यदि कलिकाल आपसे प्रबल होता, तो मै उसीकी उपासना करता।

४ (ख) 'रोष भरोस दोष गुन तेहि भजतो तजि गारो' इति। भाव कि अभीतक मैं आपका ही गुण गाता था। आपका सेवक कहलाता था, आप ऐसे स्वामीका दास कहाकर कलिकालका दास बनना लज्जाकी बात है, उससे अपने गौरवकी हानि है। आपकी सेवकाई बड़े गौरवकी बात है। ब्रह्मादिक इसके लिए लालायित रहते हैं। यथा 'सिव विरंचि सुर मुनि समुदाई। चाहत जासु चरन सेवकाई ॥६। २२ ।१।'—इस गौरव, गर्व तथा लज्जाको छोड़कर उसकी सेवा करता, उसके गुण गाता, उसीका आशा-भरोसा करता, उसके दोषों तथा रोषको भी भजता अर्थात् इनकी भी प्रशंसा ही करता, इनका गुण गाता।

[अथवा, "कलियुगके प्रति जो मेरा रोष है और उसमे जो गुण-दोष हैं उनको तथा अपने गौरवको और आपके गुण और भरोसेको छोड़कर उसीका भजन करता अर्थात् पापपूर्ण पथपर चलता।"—प्राय: अन्य टीकाकारोंने ऐसा अर्थ किया है। श्रीकान्तशरणजीने 'हरि' का अर्थ 'हरण कर' किया है। और सबोंने 'हरि' को सम्बोधन माना है।]

४ (ग) 'तेहि भजतो' कहकर जनाया कि यद्यपि कलियुग मुझे बहुत सता रहा है, श्रीरामचरित तथा रामनामका प्रचार करनेसे मुझे आँख दिखाता है, इत्यादि; तो भी मै आपके बलपर उसकी पर्वा नहीं करता। यथा "काम कोह लाइकै देखाइयत आँखि मोहि, एते मान अकसु कीबेको आपु आहि को। साहेब सुजान जिन्ह स्वानहूको पच्छु कियो, रामबोला नाम, हौं गुलाम राम साहिको। क० ७।१००।", "साँची कहौं कलिकाल कराल, मैं ढारो बिगारो तिहारो कहा है। कामको कोहको लोभको मोहको मोहि सो आनि प्रपंचु रहा है। हौं जगनायकु लायक आजु, पै मेरिओ टेव कुटेव महा है। जानकीनाथ बिना तुलसी जग दूसरे सों करिहो न हहा है ॥क० ७।१०१।", "भागीरथी जलु पान करो, अरु नाम द्वै रामके लेत निते हौं। मोको न लेनो न देनो कछू, कलि भूलि न रावरी ओर चितैहौ ॥क०७।१०२।"

टिप्पणी—५ 'मसक बिरंचि बिरंचि मसक…' इति। (क) ऊपर 'कलिकाल प्रबल अति' के साथ 'जौ' और 'होतो' सन्दिग्ध शब्द देकर सूचित किया था कि वह ऐसा प्रबल नहीं है कि आपकी आज्ञाका उल्लंघन कर

सकें। इसका निषेध करके अब प्रभुका बल कहते हैं कि आपका सामर्थ्य, प्रताप, महिमा यह है कि आप मच्छड़ (अत्यन्त तुच्छ जीव) को ब्रह्मा बना देते हैं और ब्रह्मा ऐसे सृष्टि-रचयिता महिमावाले जीवको मच्छड़ समान बना देते हैं। भाव यह कि यह प्रभाव किसी औरमें नहीं है, इसीसे सब आपकी ही उपासना करते है। यथा 'मसकहि करइ बिरंचि प्रभु अजहि मसक ते हीन। अस बिचारि तजि संसय रामहि भजहिं प्रवीन।७।१२२।' इस सामर्थ्यके आगे कलियुग क्या चीज है ?

५ (ख) 'यह सामर्थ्य अछत…' इति। भाव कि आपका यह सामर्थ्य है, अतः आपको कृपा करके कलिसे मेरी रक्षा करनी चाहिये। आप उसे बुलाकर डाँट देते कि तुलसीदासको न सता, तो सब काम बन जाता। मैं उसकी कुचालोंसे बहुत भयभीत हूँ, यदि आप मेरा त्याग करते है, तो मेरा वश ही क्या है ? नाथसे हाथ जोड़कर बिनती ही कर सकता हूँ। छातीपर पत्थर रखकर उसकी सहूँगा। यथा—"चित्रकूट गये मैं लखी कलिकी कुचाल सब, अब अपडरनि डर्‌यो हौं। माथ नाइ नाथ सों कहौं हाथ जोरि खर्‌यो हौं॥ चीन्हो चोर जिय मारिहै तुलसी सो कथा सुनि, प्रभु सों गुदरि निबर्‌यो हौं॥२६६॥", "निकट बोलि बलि बरजिये परिहरै ख्याल अब तुलसिदास जड़ जीको।२६५।", "मैं तो दियो छाती पबि, लियो कलिकाल दबि साँसति सहस परबस को न सहैगो।…तेरे मुँह फेरे मोसे कायर कपूत कूर लटे लट-पटेनिको कौन परिगहैगो॥२५६।"

वैजनाथजी—'नाथ तहां कछु चारो' का भाव कि यदि माता बच्चेका पालन न करना चाहे तो बच्चेका क्या बस है, केवल रोदन ही उसका बल है। वही आगे कहते हैं।

टिप्पणी ६—'नाहिंन नरक परत…' इति। (क) भाव कि काम क्रोध आदिके वश होनेसे नरकमे पड़ना होता है। यथा 'काम क्रोध मद लोभ सब नाथ नरक के पंथ।५।३८।', अतः मैं भी नरकमें पड़ूँगा। इसका मुझे डर नहीं है, क्योंकि नरकका मुझे अभ्यास हो गया है, न जाने कितनी बार नरक भोग आया हूँ। यथा "दै दै धका जमभट थके, टार्‌यो न टर्‌यो हौं। उदर दुसह साँसति सही बहु बार जनमि जग नरक निदरि निकर्‌यो हौं। २६७।' 'हौं हार्‌यो' का भाव कि नरक भोगते-भोगते थक गया हूँ।

[वैजनाथजी—भाव यह कि मै केवल अपनेही प्रयोजनके लिये नहीं कहता हूँ; कारण कि मुझ ऐसे असंख्यों जीव भवमें चक्कर खाते हुये नरकमें पड़े हैं; वैसेही मैं भी कर्मफल-भोग भोगनेको नरकमें पड़ूँगा, तो इसमें आश्चर्य क्या ? 'जद्यपि हौं अति हारो' का भाव कि वेद धर्म रीतिके अनुसार तो मैं

आपके समीप रहने योग्य नहीं, इसीसे मैं केवल कृपा-बलसे शरण चाहता हूँ। यदि आप शरणमें नहीं लेते तो अपने दुष्कर्मोंका फलरूप नरक भोगना ही पड़ेगा। इसका मुझे डर नहीं, क्योंकि नरक भोग लेनेपर तो शुद्ध शरणागतिके योग्य हो जाऊँगा, तब तो आपको शरणमें रखना ही होगा; अतएव नरकमें पड़नेसे मेरा कुछ बिगड़ता नहीं।]

६ (ख) 'यह बड़ि त्रास···' इति। नरकमें पड़नेका डर नहीं है, तो फिर बार-बार क्यों पुकार करते हो?—उसका उत्तर देते हैं कि मुझे डर है, चिन्ता है तो यह कि आपकी अपकीर्ति संसारमें हो जायगी। आपकी महिमा जो वेद गाते हैं कि 'जानि नाम अजानि लीन्हे नरक जमपुर मने। ।१६०।', यह मृषा हो जायगी। मैं आपका नाम रटता हूँ फिर भी नरकमें पड़ूँ, तो नामकी महिमा कहाँ रह जायगी? सब यही कहेंगे कि वेदादि सब झूठे ही प्रशंसा करते हैं। वेदवाक्यों को लोग अर्थवाद कहेंगे। स्वामीकी अपकीर्ति सेवक कैसे सह सकता है? इसीसे मै बारंबार अपनानेकी प्रार्थना करता हूँ, नहीं तो न करता। इसी भावसे अन्यत्र भी कहा है। यथा 'कह तुलसिदास सुनि राम। लूटहिं तसकर तव धाम। चिंता यह मोहि अपार। अपजस जनि होइ तुम्हार।१२५', 'तुलसी बिलोकि कलिकालकी करालता, कृपालको सुभाउ समुझत सकुचात हौं। लोक एक भाँतिको, त्रिलोकीनाथ लोकबस, आपनो न सोचु, स्वामी सोचहीं सुखात हौं। क०७।१२३।' सेवकका धर्म है कि अपने बसभर वही करे जिसमें स्वामीका सुयश हो, जिसमें स्वामीकी अपकीर्ति न होने पावे, वही मैंने किया, पुकारनेमें उठा न रक्खा, आगे आप मालिक हैं, जैसा उचित समझें करें।

श्रीसीतारामचन्द्रार्पणमस्तु।

६५

तऊ[1] न मेरे अघ औगुन[2] गनिहैं।
जो[3] जमराज काज सब परिहरि इहै ख्याल उर अनिहैं।१।
चलिहैं छूटि पुंज पापिन्ह के असमंजस जिय जनिहैं।
देखि खलल अधिकार 'सुप्रभु* सों मेरी भूरि भलाई' भनिहैं।२।

---

१ तऊ—रा०, भा०, वे०, आ०, प्र०। तउ—ह०, ५१,। तव—मु०। तौ—७४। २ औगुन—रा०, ह०, ज०। अवगुन—भा०, वे०, ७४, आ०। ३ जो—रा०, १५, ५१, मु०, वै०। जौ—भा०, वे, दी०, वि०। *प्रभू सों भूरि भलाई—मु०। प्रभुसों मेरी भूरि भलाई—वे०, ज०, प्र० (प्रभू), ५१ (प्रभू), आ० (प्रभू०)। सुप्रभुसों मेरी भूरि भलाई—भा०, ह०। सुप्रभुसों भूरि भलाई—७४। सुप्रभु मेरि भूरि

हँसि करिहैं परतीति भगत[4] की भगतसिरोमनि मनिहैं।
ज्यों त्यों तुलसिदास कोसलपति अपनायेहिं परि[5] बनिहैं।३।

शब्दार्थ—औगुन=अवगुण। तऊ=तो भी। काज=कार्य; काम। ख्याल (यह अर्बी शब्द है)=ध्यान, बिचार, भाव। अनिहैं=लावेंगे। 'आनना' क्रियासे 'आनिहै' शब्द बना। किन्तु छन्दके अनुरोधसे 'अनिहै' होगया है। पुंज=समूह। असमंजस=द्विविधा, आगापीछा; अड़चन; खलल (अर्बी शब्द है)=बाधा। भनिहैं=कहेंगे। भनना (सं० भणन) =कहना। परि=भली भाँति; निश्चय करके। बनिहै=बनेगा; निर्बाह वा निबटारा होगा; छुटकारा मिलेगा।=पड़ेगा। बनना=सँवारना।

नोट—१ 'तऊ' शब्द आदिमे देकर इस पदका सम्बन्ध पिछले पदसे जनाया। पुनः, दूसरे चरणके 'जो' से भी सम्बन्ध है। दोनों प्रकारसे अर्थ हो सकता है (पं० रामकुमार)।

पद्यार्थ—मुझे नरकमें जानेका डर नहीं है क्योंकि (मेरे नरक जानेपर) यदि यमराज (अपना) सब काम छोड़कर यही (अर्थात् केवल मेरे पापोंकी गणनाका ही) विचार (अपने) हृदयमे लायेंगे, तो भी वे मेरे पापो और अवगुणोको न गिनेगे*। १। (क्योंकि यदि वे गिनने लगेंगे, तो इस काममें उनको लगे हुये देख) पापियोके समूह छूटकर भाग चलेंगे। (जिससे) हृदयमे असमंजस उत्पन्न हो जायगा। अपने अधिकारमे बाधा देख वे अपने प्रभुसे मेरी वहुत-बहुत प्रशंसा करेंगे। २। (तब प्रभु) हँसकर अपने भक्त (यमराज) पर विश्वास कर लेंगे और मुझे भक्तशिरोमणि मान लेंगे। हे कोसलेश! जैसे-तैसे मुझ तुलसीदासको अपनानेपर ही आपको छुटकारा मिलेगा, अपनाते ही बन पड़ेगा। ३।

टिप्पणी—१ (क) 'तऊ न मेरे अघ···' इति। पिछले पदमें जो कहा था कि 'नाहिन नरक परत मो कहँ डर', उसका एक कारण कवि स्वयं

भलाइ—रा०।

४ भगति—रा०, ७४। भगत (वा 'भक्त')—प्रायः औरोंमें। ५ परि—रा०, भा०, बे०, ह०, ५१, प्र०, मु०। पर—७४, वै०, दी०, वि०, ना०, १५।

*इस अर्थमें प्राय. लोगोंने 'गनिहैं' का अर्थ 'गिन सकेंगे' किया है। किन्तु अर्थ उसका है 'गिनेंगे'। दूसरा अर्थ पं० रामकुमारजी एवं सूर्यदीन शुक्लने जो किया है वह यह है—(तो मेरे नरक जानेपर भी) (यमराज) मेरे अघ अवगुण न गिनेंगे। (क्योंकि) यदि यमराज यह खयाल हृदयमें लावेंगे। (तो) पापियोंके झुंड छूटके चल देंगे।

यहाँ कहते हैं कि नरकमें जानेपर भी मेरे अघ और अवगुणोंको यमराज न गिनेंगे। न गिननेका कारण आगेके चरणोंमें कहते हैं। (ख) 'जो जमराज काज सब···' इति। यमराजका काम है कि वे ब्रह्माण्डके समस्त पापियोंका लेखा करके उनको उनके दुष्कर्मोंके अनुकूल दण्ड दें। बिना हिसाब-किताब किये दण्ड नहीं दिया जा सकता। यदि वे सारे ब्रह्मांडके पापियोका लेखा छोड़कर मेरे ही पापों तथा अवगुणों (मन और वचनके विकारों) का लेखा करनेमे लग जायँगे, तो मेरे अघ-अवगुणोंकी तो सीमा ही नहीं है, उन्हें लेखा करते-करते युगके युग लग जायँगे और वे लेखा पूरा न कर सकेंगे। यथा—'मेरे अघ सारद अनेक जुग गनत पार नहिं पावै। ९२ (७)', 'निगम सेष सारद निहोरि जो अपने दोष कहावों। तौ न सिराहिं कलप सत लगि···।१४२।' इसपर आप कह सकते हैं कि युग भी बीत जायँ तो क्या हानि है, लेखा अवश्य करना होगा, तो उसपर हानि बतलाते हैं जिसे विचार कर यमराज लेखा न करेंगे। वह हानि यह है कि 'चलिहैं छूटि पुंज पापिन्ह के' जिससे उन्हें अपना अधिकार छिन जानेका भय उपस्थित हो जायगा।

(क) 'चलिहैं छूटि पुंज पापिन्हके···' इति। शास्त्रोंमें पापियोके लिए जहाँ नरक-भोगका विधान है, वहाँ उसके लिए समयका भी विधान है कि कितने दिन वह नरकमें रहकर यम साँसति सहेगा। जब यमराज मेरे पापो-के लेखा करनेमें फँस जायँगे, तब अन्य पापी-समूहोंके नरक-भोगका समय पूरा हो जानेसे वे तुरत छूटकर चल देंगे, उनको जो दण्ड नरकमे भोगना था, वह दण्ड बिना पाये ही वे छूट जायँगे। यमराज उनका निर्धारित समय बीत जानेपर उन्हें नरकमे रोक नहीं सकते। (ख) 'असमंजस जिय जनिहैं' इति। यमराजको यही अधिकार प्रभुने सौंपा है कि जो पापी नरकमे जायँ, वहाँ उनके पापोके अनुकूल लेखा करके उनको यातना-दण्ड दें। पापियोंके झुण्डके झुण्ड बिना दण्ड पाये छूट जानेका उत्तरदायित्व यमराज पर है। उनसे जवाब तलब होगा, (उत्तर माँगा जायगा), तब वे क्या उत्तर देंगे ? यदि कहें कि तुलसीदासके पापोंकी लेखामे लगे रहे, अबतक उनका लेखा नहीं हो सका, दूसरोंके लेखा करनेका अवकाश नहीं मिला। 'इतने कालतक तुमसे एक पापीका लेखा न हो सका। तब तुमसे ब्रह्माण्ड भरका लेखा कैसे होगा ? अतएव तुम इस पदवीके योग्य नहीं, यह अधिकार तुमसे छीना जाता है'—यह कहकर प्रभु अधिकारसे हटा देंगे। दूसरा अपराध यह होगा कि उनके अधिकारके सब कैदी बिना दण्ड पाये छूट गये, इससे भी इस अधिकारके अयोग्य सिद्ध हो जायँगे—दोनों प्रकारसे अधिकार छिन जानेका भय मानेंगे। 'देखि खलल अधिकार' का भाव भी इसमें आ गया।

२ (ग) 'मेरो भूरि भलाई भनिहैं' इति। सबको अधिकारका बड़ा लोभ होता है, अधिकार छिननेसे अपकीर्ति होती है। अतएव दोनों हालतो (दशाओं) में यमराज मेरा लेखा करनेसे अलग हो जायँगे, ऐसा ही करनेमें वे अपना भला समझेंगे, अपने अधिकार की रक्षा समझेंगे। बस वे यही चाहेंगे कि जैसे-तैसे बिना लेखाकेही यह हमारे यहाँ से छूट जावे, इसके झगड़े-झंझटसे हम किसी तरह बचें। परंतु, छूटना तो तबतक संभव नहीं, जबतक मेरी गणना भलोंमें, पुण्यात्माओंमे न की जाय। अतएव वे मेरी भूरि-भूरि प्रशंसा करेंगे। 'सुप्रभु' के 'सु' का अर्थ दासकी समझमें यहाँ 'स्व' है। अर्थात् अपने स्वामी।

२ (घ) क्या 'भूरि भलाई' कहेंगे? यह कि यह तो अनेक जन्मोंसे सुकृत करता आया है, पाप तो इसमे एक भी नहीं है। यदि प्रभु कहें कि इस जन्ममें ही इसने अनेक पाप किये है; तो उसपर सत्शास्त्रोंका प्रमाण देकर मुझे निष्पाप सिद्ध करेंगे। जैसे—आपके नामका अमित प्रभाव है, कोई भी इतना पाप कर ही नहीं सकता जितना एक नाममें पाप भस्म कर देनेकी शक्ति है। यथा—'न तादृशं महाभाग पापं लोकेषु विश्रुतम्। यादृशं विप्रशार्दूल रामनाम्ना विदह्यते। श्रीरामनामसामर्थ्यमतुलं विद्यते द्विज। नहि पापात्मकस्तावत्पापं कर्तुं क्षमः क्षितौ॥' (६६ (५ क) देखिये), और तुलसीदास तो जबसे आपकी शरण हुआ, तबसे निरन्तर रामनाम रटता और आपके गुणोंका प्रचार करता है। नाम निरन्तर जपनेसे इसके सब कल्मष ही नहीं धुल गये वरन् सभी यज्ञ, दान, तप आदि सभी पुण्य कर्मोंके करनेका फल भी इसको प्राप्त हो गया। यथा—'तेपुस्तपस्ते जुहुवुः सस्नुरार्या ब्रह्मानूचुर्नाम गृणन्ति ये ते। भा० ३।३३।७' (अर्थात् जो भद्रपुरुष आपका नाम उच्चारण करते हैं, वास्तवमें उन्हींने तप किया है, उन्हींने हवन किया है, उन्हींने सब तीर्थोंमे स्नान किया है और वे ही सच्चे वेदपाठी हैं)। विशेष पद ४६ (८ क-ख) मे देखिये। अतएव इसके समान इस कालमे कोई सुकृती नहीं है। फिर आपका विरुद है कि 'सनमुख होइ जीव मोहिं जबहीं। जन्म कोटि अघ नासहि तबहीं ।५।४४।', 'अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं मम।'

[वेद पुराण द्वारा नामका और आपके वचन द्वारा शरणागतिका प्रभाव विदित है। वही नाम जपता हुआ तुलसीदास आपकी शरण है। आप चाहे इसे पापी बनाकर दंड दें, चाहे धर्मात्मा बनाकर रक्षा करें। मै उसके पापका लिखनेवाला कौन? रामदासको मैं दण्ड दूँ तो फिर भला मेरे लिए रक्षाका ठिकाना कहाँ सम्भव है? वेदों-पुराणोंको झूठा कर दीजिए तभी इसको

हमसे दण्ड कराइये। नहीं तो नाम बलसे यह निष्पाप है। इसने जितने सुकृत किये वे निष्काम किये हैं। निष्काम होनेसे स्वर्गादिमें भी यह नहीं भेजा जा सकता। लोकमें समस्त नेह-नातोंसे रहित होनेसे यह उत्तम सुकृती है। अतः आपके अपनाने योग्य है, कलियुगसे सभीत है, इसे अवश्य अभय कीजिए। (वै०)]

३ (क) 'हँसि करिहहि परतीति···' इति। क्यों हँसेंगे? हँसी इससे आयेगी कि प्रभु अन्तर्यामी है, सबके हृदयकी जानते हैं। वे जान गए कि इस पापीने यमराजको भी हरा दिया, इसीसे इस पापीके कारण बहुत झूठ बोले, वेद-पुराण शास्त्रादिके प्रमाणोंसे उसे निष्पाप और बड़ा सुकृती सिद्ध किया। 'परतीति भगतकी'—यमराज (धर्मराज) द्वादशप्रधान महाभागवतोंमें हैं, जो भगवान्‌के परम गुह्य, पवित्र और दुर्बोध भागवत धर्मके विषयमें कुछ जानते है जिसके जान लेनेपर मनुष्य अमरपद प्राप्त कर लेता है। धर्मराजने अजामिलोपाख्यानमे यह अपने दूतोंसे स्वयं कहा है। यथा 'स्वयम्भूर्नारदः शम्भुः कुमारः कपिलो मनुः। प्रह्लादो जनको भीष्मो बलिर्वैयासकिर्वयम्। भा० ६।३।२०। द्वादशैते विजानीमो धर्मं भागवतं भटाः। गुह्यं विशुद्धं दुर्बोधं यं ज्ञात्वामृतमश्नुते। २१।' श्रीनाभाजीने भी ये द्वादश नाम गिनाकर इनको 'अन्तरंग अनुचर हरिजूके' कहा है। धर्मराजजीने नाम तथा भक्ति आदिकी महिमा दूतोंसे इस उपाख्यानके सम्बन्धसे कही है। अतएव परम भागवतके वचनपर विश्वास कर लेंगे कि तुलसीदास भक्त है, निष्पाप है, शरण योग्य है। उनसे प्रभु कहेंगे कि तुमने बहुत अच्छा धर्म-निरूपण किया है।

[श्रीकान्तशरणजी लिखते हैं—प्रभु हँसेंगे कि यमराज इससे 'हारकर इसके पक्ष-पोषक हो गए। अतएव इसको ग्रहणकर मैं पतितपावन बाना प्राप्त करूँ, यह अच्छा संयोग लग गया, यथा 'लहि नाथ हौं रघुनाथ बानो पतित-पावन पाइकै। दुहुँ ओर लाहु अघाइ तुलसी तीसरेहु गुन गाइकै। गी० ३।१७।२।' वियोगीहरिजी तथा भट्टजी 'करिहहिं प्रतीति भगत की' का अर्थ करते हैं कि 'मुझपर विश्वास कर लेंगे (क्योंकि जब यमराजकी सिफारिश पहुँच गई, तब और सबूत क्या चाहिए ?']

३ (ख) 'भगत सिरोमनि मनिहैं' इति। भगवान् जब किसीको अपना लेते हैं तो उसे भक्तशिरोमणि बना देते हैं। जैसे—(१) पिता दशरथ महाराजकी क्रिया आदि न की और गृध्रराजको पिण्डदान दिया, श्राद्ध आदि किया। गृध्रराजने स्वयं कहा है—'महाराज सुकृती-समाज-सब-ऊपर आजु कियो हौ॥ श्रवन बचन, मुख नाम, रूप चख, राम-उछंग लियो हौं। तुलसी मो समान बड़भागी को कहि सकै बियो हौं। गी० ३।१४।' (२) शबरीजीको अप-

नाया। ऋषीश्वरों-मुनियोंको छोड़कर शबरीके आश्रममें गए, उसके दिये बेर खाए। उसके चरण-स्पर्शसे सरोवरका जल शुद्ध कराकर ऋषियोंको नीचा दिखाया। उसे भक्तशिरोमणि बना दिया। (३) युधिष्ठिरजीके यज्ञकी पूर्ति बाल्मिकि श्वपच द्वारा दिखाकर श्वपचको समस्त ऋषीश्वरों आदिपर बड़ाई दी। (४) बाल्मीकि व्याधासे महर्षि हो गए, आदिकवि हुए, संसारमें उनके रामायणको सर्वमान्य करा दिया, उनके आश्रममें प्रभु स्वयं गए। इत्यादि। भक्तशिरोमणि बना देनेका भाव यह कि इनका स्मरण करनेसे लोग तर जाते हैं। यथा "उपल केवट कीस भालु निसिचर सबरि गीध सम दम दया दान हीने। नाम लिये राम किये परम पावन सकल, नर तरत तिनके गुनगान कीने। १०६ (२)।"

इसी प्रकार यमराजकी बातपर विश्वास करके मुझे भी तब आप अपनाकर भक्तशिरोमणि मान लेंगे। व्यंग्य इसमें यह है कि जब आपको अन्तमें अपनाना पड़ेगा ही, तब इतना झंझट करनेसे क्या लाभ? अभी अपना लीजिए।

३ (ग) 'ज्यों त्यों तुलसिदास ···' इति। 'ज्यों-त्यो' के अर्थ होते हैं— 'किसी न किसी प्रकार', 'किसी ढंग या ढबसे', 'झंझट और बखेड़ेके साथ'; 'अरुचिके साथ'। इस तरह भाव यह है कि चाहे आप सीधे-सीधे अपना लें, चाहे अरुचिके साथ झंझट और बखेड़ा बहुत कराके अपनाइये। नरक भेजियेगा तो जो ऊपर कह आये हैं, इतना सब झंझट होगा और आखिरको यमराज हार मानकर मेरी जब प्रशंसा करेंगे तब आपको बरबस अपनाना ही पड़ेगा। बिना अपनाये छुटकारा मिलनेका नहीं, तब तो उचित यही है कि आप तुरंत अभी अपना लीजिए।

३ (घ) 'कोसलपति' अपनानेके संबंधसे संबोधित किया। आप कोशल देशके स्वामी हैं। आप कोशलवासी प्रजावर्गको ही नहीं किन्तु वहाँ के समस्त जीव जन्तुओंको भी अपने साथ अपने धामको ले गए। वे सब आपके भक्त थे, इसी नातेसे आप उन्हें अपने धामको ले गए। मैं भी आपका दास हूँ। कीड़े-मकोड़ोंसे गया-बीता नहीं हूँ; अतः जैसे बने मुझे भी अपनाइए।

श्रीशुकदेवजीने जहाँ पुरवासियोंको निज धाम ले जाना कहा है, वहाँपर 'कोशल' शब्दका प्रयोग किया है। यथा 'भजेत रामं मनुजाकृतिं हरिं य उत्तराननयत्कोसलान्दिवमिति। भा० ५।१६।८।' (अर्थात् नररूप हरि भगवान् रामको जो संपूर्ण कोशलवासियोंको अपने धामको ले गये थे, अनन्य भावसे भजना चाहिए); अतएव 'कोशलपति' का यह भाव लिया जा सकता है।

सू० शुक्लजी—मुझे नरकका डर नहीं है, क्योंकि आखिर यमराजके कहनेपर आप मुझे भक्तशिरोमणि मानेंगे। भक्तका यह निरभिमान भाव है।

श्रीसीतारामचन्द्रार्पणमस्तु।

९६

जौं[1] पै[2] जिय धरिहौ औगुन[3] जन के।
तौ क्यों कटत सुकृत-नख तें मोपै बिपुल बृंद अघ बन के। १।
कहिहै कौन कलुष मेरे कृत करम बचन अरु मन के।
हारहिं[4] अमित[5] सेष सारद श्रुति गनत[6] एक एक छन के।२।
जो[7] चित चढ़ै नाम महिमा निज गुनगन पावन पन के।
तौ[8] तुलसिहि तारिहो बिप्र ज्यों दसन तोरि जमगन के। ३।

शब्दार्थ—जौं पै = यदि निश्चय ही। जिय = जीमे; हृदयमें। धरना = रखना; (हृदयमे) लाना, ग्रहण करना, ठहरने देना वा विचार करना। मो पै = मुझसे। क्यों = किस प्रकार; कैसे। बिपुल = बहुत। कृत = किये हुये। कलुप = पाप। चढ़ै—चढ़ना (चित्तमे) जमना वा बैठ जाना। दशन = दाँत। जम-गन = यमके गण = यमदूत। तारना = उद्धार करना; भवपार करना।

पद्यार्थ—यदि आप निश्चय ही (मुझ) दासके अवगुणोंको (अपने) हृदयमें ठहरने देंगे, तो (भला) मुझसे (अपने) पुण्यरूपी नखसे पापरूपी वनके बहुतसे झुंड कैसे कट सकते हैं?। १। कर्म, वचन और मनसे किये हुये मेरे पापोंको कौन कह सकेगा? एक-एक क्षणके (पापोंको) गिनते-गिनते असंख्यों शेष, शारदा और श्रुतियाँ (वा, वेद) हार जायँगे। २। यदि आपके चित्तमें अपने नामकी महिमा और अपने पावन प्रणके गुणगण बैठ जायँ (अर्थात् उनका स्मरण करें, उनको ध्यानमें लावें), तो आप तुलसीदासको भी यमदूतोंके दाँत तोड़कर वैसेही तार देंगे, जैसे विप्र (अजामिल) को (तारा था)।३।

टिप्पणी—१ (क) 'जौं पै' संदेह वाचक शब्द देकर जनाया कि आप ऐसा करनेका निश्चय करेंगे इसमें मुझे संदेह है। कारण कि वेद पुराण आदि सभी कहते है कि आप जनके अवगुण देखकर भी भूल जाते हैं। यथा 'जनगुन अलप गनत सुमेरु करि, अवगुन कोटि बिलोकि बिसारन।...साखि पुरान

१ जौं—रा०, ७४। जौ—ह०, दी०, पो०। जो—भा०, वे०, ५१, वै०, मु०, वि०, भ०। २ पै—७४, मु० में नहीं है। ३ औगुन—रा०, ह०, ज०, १५। अवगुन—प्रायः औरोंमें। ४ हारहिं—रा०, ह०, ५१, डु०, १५, मु०, ७४, वै०, दी०, पो०। हरिहैं—भा०, वे०, वि०, भ०। हरिहहि—ज०। ५ कोटि—७४। ६ गिनत—मु०, ७४, वै०, दी०, वि०, पो०, भ०। गनत—रा०, भा०, वे०, इत्यादि। ७ जो—रा०, मु०, वै०, पो०, भ०। जौ—तौ—भा०, वे०, ह०। (जौं), ७४ (जौं)। ८ तौ–भ०

निगम आगम सब जानत द्रुपदसुता अरु बारन। २०६।' भक्तशिरोमणि श्री-भरतजी भी वनवासकी अवधिके अन्तिम दिन इसी गुणका अवलंब ले रहे थे। यथा 'जौं करनी समुझै प्रभु मोरी। नहिं निस्तार कलपसत कोरी॥ जन अवगुन प्रभु मान न काऊ। दीनबंधु अति मृदुल सुभाऊ।७।१।५-६।' श्रीरघु-नाथजीका यह स्वभाव है, इसका स्मरण कविने अंबा श्रीजानकीजीको उनसे विनय करते हुये दिलाया है। यथा-'सरल प्रकृति आपु जानिऔ करुनानिधान की। निज गुन अरिकृत अनहितो दासदोष सुरति चित रहति न दिये दानकी। ४२।'—अतएव मुझे तो यही विश्वास है कि आप अवगुणोंपर ध्यान न देंगे। फिर भी यदि मेरे दुर्भाग्यवश आप किसी कारणसे मेरे अवगुणोंपर ध्यान देंगे ही तो सुनिये (इसपर आगे कहते हैं···)।

['जौपै ··'—यदि आप निश्चय ही मेरे पापोपर दृष्टि करेंगे अर्थात् कहें कि हम कुछ न करेंगे, तू सुकृत करके अपने पापोंको धोकर मन वचन कर्मसे शुद्ध होकर आ, तब हम शरणमे रक्खेंगे, तो उसपर कहते हैं। (वै०)]

१ (ख) 'तौ क्यो कटत सुकृत नखते···' इति। सारांश इसका यह है कि मेरा पुण्य तो नाखुनके बराबर है अर्थात् बहुत अल्प है, नहींके बराबर है जैसे इतने बड़े शरीरमें छोटासा नख। और मेरे पापोंके बन तो समूहके समूह है। नखसे तो एक पतली डाल भी नहीं कट सकती, वैसेही मेरे अल्प पुण्यसे एक छोटासे छोटा पाप भी नही मिट सकता। तब सुकृतके बलपर मैं आपकी दयाका पात्र कब हो सकता हूँ? भाव कि पापोका मिटाना मेरे मानका नहीं है।

[☞ वियोगीजी लिखते हैं कि "यह बड़ी ही सुन्दर कल्पना है। नखसे वनका काट डालना गोसाईंजी सरीखे महाकवियोंको ही सूझ सकता है।"

बैजनाथजीने 'सुकृत नख ··' का रूपक विस्तारसे दिया है। वह इस प्रकार है—प्रत्यक्ष वृक्षोंके बनको काटनेमें इतनी सामग्री चाहिए।—धनी, बढ़ई, मजदूर, लकड़हारे, कुल्हाड़ी, फड़ुहा, कुदाल इत्यादि। धनी रुपया लगाता है, बढ़ई आदिकी सहायतासे वनके वृक्षोको काटता है। बढ़ई वृक्षों-को आरासे काटता है, लकड़हारे कुल्हाड़ीसे काटते है। मजदूर फड़ुहा और कुदालसे वृक्षकी जड़ें खोदते हैं। तब वनकी भूमि साफ होती है। मेरी देहा-न्तररूप भूमिकामें पापरूपी वृक्षोंका अत्यन्त सघन बड़ा भारी वन है। सुकृती धनी चाहिए सो मेरे पास सुकृतरूपी धन नहीं है, श्रद्धा-धर्मरूप बढ़ई, सत्कर्मरूपा कुल्हाड़ी, विवेक वैराग्य-योग आदि परिश्रमी (मजदूर) और शम-दम-नियम-यमादि फड़ुहा कुदाली इन सबोंसे रहित हूँ। मेरे पास केवल सुगम रीति नित्यकर्म मात्र किंचित् सुकृतरूपी नखधार है।]

१ (ग) 'विपुल बृंद अघ बनके' इति। पापरूपी वनके समूह कैसे हो गए? जबसे हरिसे पृथक् हुआ अर्थात् अनादि कालसे बराबर सकामिक कर्म तथा पाप करता आया। असंख्यों कल्प बीत गए। जब-जब प्रभुने कृपा कर-करके मनुज-योनिमें जन्म दिया, तब तब बराबर पाप किये। प्रत्येक जन्ममें मेरे पापोंका एक-एक वन तैयार होता गया। अनेक जन्म हुए। यथा 'जोनि बहु जन्मि किये कर्म खल विविध विधि अधम आचरन कछु हृदय नहिं धरहुगे। २११।' अतः अनेक वन होगए। [दीनजीने 'बिटप बृंद' पाठ दिया है' किन्तु यह पाठ हमें कहीं मिला नहीं।]

२ (क) 'कहिहै कौन' अर्थात् कोई भी कहनेको समर्थ नहीं है।

(ख) 'कलुष मेरे कृत करम वचन अरु मनके' इति। पाप स्थूल, सूक्ष्म और अत्यन्त सूक्ष्म तीन प्रकारके होते हैं। जो स्थूल पाप नरककी प्राप्ति करानेवाले हैं, उनका अनुष्ठान मन, वाणी और कर्मोंके द्वारा होता है। इस प्रकार मन, कर्म और वचनसे होनेवाले बारह पाप हैं। फिर इनके भी अनेक भेद हैं। स्कं० पु० मा० कु० खण्ड अ० २६ में महापातकों और उपपातकोंका विस्तृत उल्लेख है।···श्रीरामजीने भी इन तीन प्रकारके पापोंका होना कहा है। यथा 'कायेन कुरुते पापं मनसा सम्प्रधार्य वा। अनृतं जिह्वया चाह त्रिविधं कर्मपातकम्। वाल्मी० २।१०९।२१' अर्थात् मनुष्य मनमें पहले पाप करनेका विचार करता है, फिर उस पाप कर्मको कर्तव्य समझकर जिह्वासे कहता है, तदनन्तर शरीरसे करता है। अतएव प्रत्येक पापकर्म तीन प्रकारके हैं। विशेष देखना हो तो मानस-पीयूष अ० १६७ (७) 'जे पातक उपपातक अहहीं। करम वचन मन भव कवि कहहीं।' में देखिए।

२ (ग) 'हारहिं अमित सेष ··छनके' इति। लव, निमेष और क्षणके परिमाणमें मतभेद है। भा० ३।११।७ में मैत्रेयजीने विदुरजीसे बताया है कि तीन 'लव' का एक 'निमेष' होता है और तीन निमेषका एक क्षण। यथा 'निमेषस्त्रिलवो ज्ञेय आम्नातस्ते त्रयः क्षणः' हिन्दी भाषामें क्षण, पल आदिसे प्रायः अत्यन्त अल्पकाल सूचित किया जाता है। [वैजनाथजी क्षणको पलका छठा भाग और श्रीकान्तशरणजी चौथा भाग लिखते हैं]

एक क्षणके पाप असंख्यों शेष शारदा आदि मिलकरभी गिनना चाहें तो पार नहीं पा सकते। भाव कि मेरे एक क्षणके पाप अमितसे भी अमित हैं।

☞ दीनजी—ऐसे वचनोंसे यह न समझना चाहिए कि गोस्वामीजी बड़े पापी थे। ये तो दीनताके उत्कर्षकी व्यंजना करनेवाले हृदयके उद्गार हैं।*

* सू० शुक्लजी—"प्रवृत्तिमार्गमें जीवका पापमय होना ही जीवत्व है। जीवमें यदि यह अभिमान आवे कि सतोगुणी हूँ, शुद्ध हूँ, ब्रह्मज्ञानी हूँ, भक्त हूँ, तो भी

३ 'जो चित चढ़ै नाम महिमा ···' इति। (क) 'जो चित चढ़ै' का भाव कि मेरे पापोंकी सीमा नहीं, मेरे सुकृत नहींके बराबर हैं; अतएव सुकृतोंसे पाप कट जायँगे,—इसका विचार तो स्वप्नमें भी न लाइए। हाँ, मुझे एक बातका विश्वास है, यदि आप उसपर ध्यान दें (आप सोचें कि आप कैसी महिमावाले हैं और आपके नामकी कैसी महिमा है) तो मेरी बन जाय। वह है आपके नामकी महिमा तथा आपके पावन प्रणके गुणगणोंकी महिमा। नाम-महिमा पिछले बहुतसे पदोंमें लिखी जा चुकी है। पद ४४ (१) 'नाम कलिका-मतरुसामसाली', 'सकल सौभाग्य सुखखानि वेदसारं।', 'संतजन कामधुकधेनु' से 'श्वपच खल भिल्ल यवनादि हरिलोकगत नाम बल' तक (पद ४६), 'सघन-तम घोर संसार भर सर्वरी नाम दिवसेस खर किरनमाली। ५५(३)।', 'घोर-भवनीरनिधि नाम निज नाव रे।६६ (१)।', 'राम सुमिरन सब बिधि ही को राज रे। ६७ (२)।', 'संबरु निसंबरीको सखा असहायको।'··· 'पतितपावन रामनाम सो न दूसरो। ६६ (१-५)।', 'कामतरु रामनाम जोइ-जोइ माँगि है। तुलसीदास स्वारथ परमारथ न खाँगिहै। ७०।', 'फलत सकल फल कामतरु नाम रे। ७१ (६)।' 'प्रनतपाल कृपाल पतितपावन नाम। ७७ (२)।' देखिए। गीतावलीमें भी कहा है—'नाम-प्रताप पतितपावन किये जे न अघाने अघ अनै।५।४०।'

यहाँ अगले चरणमें अजामिलका दृष्टान्त देते है, इसलिये यहाँ नाम-महिमा जो भगवत-पार्षदोंने यमदूतोंसे कही है, वह विशेष संगत है। पार्षदोंने कहा कि "संकेतसे, हँसीसे, गानके अलापको पूर्ण करनेके लिये अथवा अवहेलनासे भी लिया हुआ भगवान्‌का नाम मनुष्यके समस्त पापोंको नष्ट करनेवाला है; इसे महात्मा पुरुष जानते है। जो मनुष्य ऊँचेसे गिरने, मार्गमें फिसलने, अंग-भंग हो जाने, सर्पादिके डस लेने, ज्वरादिसे सन्तप्त होने अथवा डंडे आदिसे पीटे जानेके समय विवश होकर भी 'हरि' ऐसा कहता है वह यातनाका अधिकारी नहीं है। जैसे अग्नि ईंधनको जला डालता है, वैसेही जाने वा बिना जाने लिया हुआ हरिका नाम पापोंको भस्म कर डालता है। औषधका गुण जाने बिना भी लेनेपर लाभ करता है, वैसेही उच्चारणमात्रसे नाम अपना फल करेगा।" यथा 'साङ्केत्यं पारिहास्यं वा स्तोभं हेलनमेव वा। बैकुण्ठनामग्रहणमशेषाघहरं विदुः।१४। पतितः स्खलितो भग्नः सन्दष्टस्तप्त आहतः। हरिरित्यवशेनाह पुमान्नार्हति यातनाम्।१५।···

यह घमण्डरूपी महापाप है; क्योंकि नीची दशामें रहते हुए ऊँची दशाका अभिमान कैसे? निवृत्ति मार्गमें-तो विषमताके सारे व्यवहार ही नष्ट हो जाते हैं, शुद्ध-अशुद्ध, पापी, पुण्यात्मा कहाँ।"

अज्ञानादथवा ज्ञानादुत्तमश्लोकनाम यत्। सङ्कीर्तितमघं पुंसो दहेदेधो यथा-नलः।१८।'' भा० ६।२)।

"अजामिलने विवश होकर श्रीहरिका मंगलमय नाम लिया है, उससे यह अपने करोड़ों जन्मोंके पापोंका प्रायश्चित कर चुका। चोर, मद्यप, मित्रद्रोही, ब्रह्महत्यारा, गुरुस्त्रीगामी, स्त्री, राजा, माता-पिता तथा गौकी हत्या करनेवाले एवं और भी जितने पापी हैं, उन सभी अपराधियोंके लिये भगवान्‌का नाम सबसे बड़ा प्रायश्चित्त है। (श्लोक ७,९,१०)"

३ (ख) 'निज गुनगन पावन पनके' इति। आप बाँहपगार उदारशिरोमणि, नतपालक हैं। इत्यादि आपके पावन प्रणके गुण हैं। यथा 'बाँहपगार उदार-सिरोमनि नतपालक पावनपनी। सुमन बरपि रघुबरगुन बरनत हरपि देव दुंदुभी हनी। गी० ५।३६।'

प्रभुके पावन प्रण, यथा 'कोटि विप्रबध लागहिं जाहू। आए सरन तजौं नहिं ताहू॥ सनमुख होइ जीव मोहि जबहीं। जनम कोटि अघ नासहिं तबहीं।५।४४।१-२।', 'जौं नर होइ चराचरद्रोही। आवै समय सरन तकि मोही॥ तजि मद मोह कपट छल नाना। करउँ सद्य तेहि साधु समाना। ५।४८।२-३।', 'सब बिधि हीन दीन अति जड़मति जाको कतहुँ न ठाऊँ। आयो सरन भजौं, न तजौं तिहि, यह जानत रिपिराऊ। गी० ५।४५।' वाल्मीकीय विभीषण शरणागतिवाले उद्धरण पूर्व कई बार आ चुके हैं।

[प्रणके अनुकूल दिव्य कल्याण गुणगण ये हैं—दया, कृपा, शील, वात्सल्य, करुणा, क्षमा, प्रणतपालकत्व, सौलभ्य, कृतज्ञता, उदारता, सौहार्द इत्यादि (वै०)]

३ (ग) 'तो तुलसिहि तारिहो ··' इति। (क) विप्र अजामिलकी कथा पद ५७ (३ क) में आ चुकी है। यमदूत जिस समय अजामिलको उसके अन्तःकरणमेंसे खींच रहे थे, उसी समय हरिके पार्षदोंने उनको बलपूर्वक रोका—'वारयामासुरोजसा। भा० ६।१।३१' और यमदूतोंके पूछनेपर कि इसके पापोंका प्रायश्चित कैसे हुआ, उन्होंने भगवन्नामका माहात्म्य बताकर उस ब्राह्मणको यमदूतोंके पाशसे छुड़ाकर मृत्युके मुखसे निकाला।—'तं याम्यपाशान्निर्मुच्य विप्रं मृत्योरमूमुचन्। भा० ६।२।२०।' श्रीमद्भागवतमें भी इस स्थानपर 'विप्र' शब्द है। यमदूतोंने यमराजसे स्वयं कहा है कि 'उन्होंने बलात्कारसे हमारे पाशोंको तोड़कर उसे छुड़ा दिया।—'व्यमोचयन् पातकिनं छित्त्वा पाशान्प्रसह्य ते। भा० ६।३।६।' अतएव 'बलात्कारसे पाशोंको तोड़कर छुड़ाना' ही यहाँ 'दसन तोरि जमगनके' है।'

'दाँव तोड़ना' मुहावरा है, जिसका अर्थ है 'परास्त करना, कठिन दण्ड

देना'। पार्षदोंने भागवत धर्मका अच्छी तरह विवेचनकर यमदूतोंको परास्त किया और दण्ड भी दिया था।

३ (घ) तुलसीदास और अजामिलका मिलान। अजामिलने अपनेको महाकपटी, पापी, निर्लज्ज और ब्रह्मतेजका नष्ट करनेवाला कहा है। यथा—'क चाहं कितवः पापो ब्रह्मघ्नो निरपत्रपः भा० ६।२।३४।' गोस्वामीजीने भी अपनेको ऐसा ही कहा है। यथा 'कपट करौं अंतरजामिहु ते अघ ब्यापकहि दुरावौं।१७१।', 'जे जनमें कलिकाल कराला।···कपट कलेवर कलिमल भाँड़े॥ तिन्ह महँ प्रथम रेख जग मोरी। १।१२।१-४।', 'एतेहुँ पर तुम्हरो कहावत लाज अँचई घोरि। *निलजता* पर रीझि रघुबर देहु तुलसिहि छोरि। १५८।', 'मेरे जाति-पाँति न' (क० ७।१०७), 'धूत कहौ अवधूत कहौ रजपूत कहौ जोलहा कहौ कोऊ। काहूकी बेटी से बेटा न ब्याहब, काहूकी जाति बिगार न सोऊ॥ क० ७।१०६।', 'जातिके, सुजातिके, कुजातिके पेटागिबस, खाए टूक सबके, बिदित बात दुनी सो। क० ७।७२।' अजामिलने पुत्रमे चित्त लगाया जिसका नारायण नाम था—'मति चकार तनये बाले नारायणाह्वये। भा० ६।१।२७।', 'सुतहित नाम लेत भवनिधि तरि गयो अजामिल सो खलो। गी० ५।४२।', 'नामु लिये पूतको पुनीत कियो पातकीसु।क० ७।१८।' और गोस्वामीजी अपने सम्बन्धमें कहते हैं कि मैं पेटरूपी पुत्रमे चित्त रखकर नाम लेता हूँ। यथा 'नामकी ओट पेट भरत हौं पै कहावत चेरो। २७२।', 'पेट प्रिय पूत हित रामनाम लेतु है। क० ७।८२।' पापी तो इसी पदसे स्पष्ट है।

श्रीसीतारामचन्द्रार्पणमस्तु।

९७

जो पै[1] हरि 'जनके* अवगुन' गहते।
तौ सुरपति कुरुराज बालि सों कत हठि बैर बिसहते। १।
जौं जप जाग[2] जोग ब्रत बरजित केवल प्रेम न चहते।
तौ कत सुर मुनिवर बिहाय ब्रज गोप गेह बसि रहते। २।
जौ जहँ तहँ पन राखि भगतको भजन प्रभाउ[3] न कहते।
तौ कलि कठिन करम मारग जड़ हम[4] केहि भाँति निबहते। ३।

१ पै—मु० और ७४ मे नहीं है। * 'जनके अवगुन' पाठ प्रायः सबमें है। 'जन को अंगु न' पाठ रा० में है। पद २३६ में भी इससे मिलता-जुलता पाठ है—'जाको हरि दृढ़ करि अंगु कर्‍यो'। २ जोग जाग—ज०, ७४। जग्य जोग—वैं०, दी०। जाग जोग—रा०, भा०, वे०, मु०, वि०, पो०। ३ प्रभाउ—रा०, ह०, ७४, ज०, पो०। प्रभाव—भा०, वे०, श्रा०। ४ हम—रा०, ह०, ५१, ७४, श्रा०, श्री० श०। हौ—भा०, वे०।

जो सुत हित लिये[५] नाम अजामिलके अघ अमित न दहते।
तौ जम भट सासति-हर हमसे वृषभ खोजि खोजि[६] नहते। ४।
जो[७] जग विदित पतितपावन अति बाँकुर बिरद न बहते।
तो बहु कलप कुटिल तुलसी से सपनेहुँ[८] सुगति न लहते। ५।

शब्दार्थ—गहना = ग्रहण करना; ध्यान देना; हृदयमें लाना। सुरपति = देवराज इन्द्र। कुरुराज = दुर्योधन। 'कुरु'—एक चन्द्रवंशी राजा थे, जिनके पुत्र पाण्डु और धृतराष्ट्र थे। पाण्डुके पुत्र पाण्डव कहलाए और धृतराष्ट्रके कौरव। कत = क्यों; किस लिये। हठि = हठ करके; जबरदस्ती। बिसहना = मोल लेना; जान बूझकर अपने साथ लगाना। जाग = यज्ञ। बरजित (वर्जित) = छोड़ा हुआ, निषेध किया हुआ। पर यहाँ अर्थ होगा—'निषिद्ध या त्याज्य ठहराकर; छोड़कर'। अथवा, 'जप...बरजित' को 'प्रेम' का विशेषण मानकर अर्थ करले—'प्रेम जिसमें जपादिका निषेध वा त्याग हो', अर्थात् जपादि रहित। बिहाय = छोड़कर। गोप = ग्वाला; अहीर। गोकुलके मुखिया 'नन्द-जी'। गेह = गृह, घर। निबहना = निर्वाह होना; पार पाना; बराबर रक्षा होना। हित = लिये; निमित्त। दहना = जलाना। जमभट = यमदूत। हर (हल)—यह खेतीका मुख्य औजार है, जो सात आठ हाथ लंबे लट्ठेके रूपमें होता है, जिसके एक छोरपर दो ढाई हाथकी लकड़ीका टेढ़ा टुकड़ा आड़े बलमें जड़ा रहता है, जिसमें जमीन खोदनेवाला लोहेका फाल ठाँका रहता है। नहना (सं० नद्ध = बँधा या जुड़ा हुआ) = जोतना, नाधना; लगाना। यथा 'पसु लौं पसुपाल ईस बाँधत छोरत नहत। १३३।' हलमें जोतना या नाधना मुहावरा है। रस्सीके द्वारा बैलको हल, गाड़ी वा दूसरी किसी वस्तुके साथ जोड़ना वा बाँधना, जिसे उन्हें खींचकर ले जाना होता है, 'नहना' कहलाता है। किसीसे जबरदस्ती कोई काम लेना 'नहना' है। वृषभ = बैल। खोजना = ढूँढ़ना। बाँकुर = बाँके, अनोखे, कुशल। बहना = धारण करना। यथा 'छोनीमें न छाँड्यो छप्यो छोनिपको छौना छोटो छोनिपछपन बाँको बिरुद बहुत हौं। क० १।१८।' यह संस्कृत भाषाके 'वहन' शब्दसे बना है जिसका अर्थ है, 'सिरपर लादकर ले चलना'।

पद्यार्थ—यदि निश्चय ही हरि अपने दासोंके अवगुणोंपर ध्यान देते, तो इन्द्र, दुर्योधन और बालिसे क्यों हठ करके वैर मोल लेते? । १ । यदि जप,

५ लिये—रा०, ना०, १५,५१, पो०। लिए—ह०। लिय—भा०, वे०, आ०। ६ कर—मु०। ७ जो—रा०, १५, मु०, वै०, पो०, सू० शु०। जौं—भा०, वे०। जौ—दी०, वि०। ८ सपनेहूँ—रा०

यज्ञ, योग और व्रतको छोड़कर केवल प्रेम न चाहते, तो देवताओं और मुनि-वरोंको छोड़कर वे व्रजमे गोप (नंदजी) के घर क्यों बसकर रहते ? । २ । यदि वे जहाँ-तहाँ अपने भक्तोंकी प्रतिज्ञाकी रक्षा करके भजनका प्रभाव न बखानते, तो कठिन कलिकालमें हम ऐसे मूर्खोंका निर्वाह कठिन कर्म मार्गमें किस प्रकार होता ? । ३ । यदि पुत्रके संकेतसे लिये हुये नामसे अजामिलके असंख्यो पाप न भस्म कर दिये होते, तो यमदूत हम सरीखे बैलोंको खोज-खोजकर यमयातनारूपी हलमें नाधते । ४ । यदि जगत्प्रसिद्ध अत्यन्त बॉका 'पतितपावन' बाना न धारण करते, तो तुलसी-ऐसे कुटिल (जीव) अनेक कल्पोंतक स्वप्नमें भी सद्गति न पाते । ५ ।

नोट—१ पिछले पदमें गोस्वामीजीने प्रार्थना की थी कि यदि आप मुझ दासके अवगुणोपर ध्यान देंगे तो मेरा ठिकाना नहीं, मैं अपने अति स्वल्प सुकृतसे पापोंको धो नहीं सकता । अतएव अवगुणको हृदयमें न लाकर अपने नाम आदिकी महिमाको चित्तमे धारण कीजिए । प्रस्तुत पदका संबंध उस पदसे है । इस पदमें अपना विश्वास तथा अनुभव कहते हैं कि आप कभी भी जनके अवगुणपर ध्यान नहीं देते । और, इस पद भरमें उदाहरण देकर इसी सिद्धान्तकी पुष्टि करते हैं । पुनः, यों भी कह सकते हैं कि यदि पिछली प्रार्थनापर प्रभु कहें कि हम अवगुणपर अवश्य ध्यान देते हैं तो इस-पर कहते हैं कि 'जौ पै जनके अवगुन गहते' । (वियोगीजी लिखते हैं कि "इस पदमें गोसाईंजीको निश्चय हो गया है कि हमारे स्वामी कभी भक्तोंके अवगुणोंपर ध्यान नहीं देते ।) 'जन' तो सभी भक्त हैं, पर जो अनन्य-गतिक हैं, उन्हींसे प्रायः यहाँ तात्पर्य है ।

१ (क) 'सुरपति सो हठि बैर' की कथा—

एक समयकी बात है कि नारदजी इन्द्रके यहाँसे एक कल्पवृक्षका फूल लेकर श्रीकृष्णजीके पास आये और वह फूल उनको अर्पण किया । वह फूल श्रीकृष्णजीने रुक्मिणीजीको दिया । बिलासी नारद सत्यभामाजीके पास आये और उनसे कहा कि तुम कहा करती हो कि भगवान् तुम्हें सबसे अधिक चाहते हैं, पर यह बात असत्य है । देखो, मुझे इन्द्रने एक कल्पवृक्षका फूल दिया था जो मैने भगवान्को दिया । उन्होंने तुमको न देकर रुक्मिणीजीको दे दिया । बस, सत्यभामाजी मान कर बैठीं । भगवान्को कारण ज्ञात होनेपर उन्होंने कहा कि तुम कहो तो मैं कल्पवृक्ष ही तुम्हारे लिए ला दूँ । तब वे प्रसन्न हुईं ।

इधर भौमासुर (नरकासुर) के अत्याचारसे पीड़ित हो इन्द्र श्रीकृष्णजी-के पास सत्यभामाजीके महलमें आया और उनसे प्रार्थना की कि माता अदि-

तिका अमृतस्रावी कुंडल वह ले गया और मेरा ऐरावत हाथी लेनेको है।'''
भगवान् सत्यभामा सहित नरकासुरको मारने चल दिये और उसका मस्तक जाकर काट डाला। तब पृथिवीने आकर कुंडल आदि श्रीकृष्णको दिये। श्रीकृष्णजीने अदितिजीके पास आ प्रणाम कर उनको कुंडल दे दिया। (भा० १०।५९।२,२१,२३। वि० पु० ५।२९।१९)। अदितिने उनकी स्तुति की और देवराजने आदर-सत्कारके साथ श्रीकृष्णजीका पूजन किया।

आगे इन्द्रसे वैरका प्रसंग इस तरह आया कि इन्द्रने पूजन तो किया किंतु कल्पवृक्षके फूलोंसे अलंकृता शचीने सत्यभामाको मानुषी समझकर वे पुष्प न दिये:—'शची च सत्यभामायै पारिजातस्य पुष्पकम्। न ददौ मानुषीं मत्वा स्वयं पुष्पैरलङ्कृता। वि० पु० ५।३०।२६।' पूजनके पश्चात् भगवान् उद्यानोंको देखने लगे, तो वहाँ अत्युत्तम पारिजात वृक्षको देखकर सत्यभामाने कहा— आपने कई वार मुझसे यह प्रिय वाक्य कहा है—'हे सत्ये! मुझे तू जितनी प्यारी है, उतनी न जाम्बवती है और न रुक्मिणी ही।' यदि आपका यह वचन सत्य है कि 'तुम ही मेरी अत्यन्त प्रिया हो', तो मेरे गृहोद्यानमें लगानेके लिए इस वृक्षको ले चलिये। मेरी ऐसी इच्छा है कि मैं अपने केश-कलापोंमें पारिजात पुष्प गूँथकर अपनी अन्य सपत्नियोंमें सुशोभित होऊँ। (वि० पु० ५।३०।३४-३७)। सत्यभामाके इस प्रकार कहनेपर श्रीहरिने हँसते हुए उस पारिजात-वृक्षको गरुड़पर रख लिया। नन्दनवनके रक्षकोंने रोका, कहा कि "यह वृक्ष शचीकी सम्पत्ति है, इसे लेकर भला कौन सकुशल जा सकता है। देवराज इस वृक्षका वदला चुकानेके लिये अवश्य ही वज्र लेकर उद्यत होंगे। समस्त देवताओंके साथ रार बढ़ानेसे आपका कोई लाभ नहीं।—'तदलं सकलैर्देवैर्विग्रहेण तवाच्युत। वि० पु० ५।३०।४४।''

रक्षकोंके वचन सुनकर सत्यभामाने अति क्रुद्ध होकर बहुत कड़े वचन कहे और कहा कि मेरे वचन जाकर शचीसे कह दो। वे वचन ये हैं— "शची अथवा इन्द्र ही इस पारिजातके कौन होते हैं? जैसे समुद्रमंथनसे उत्पन्न हुए मदिरा, चन्द्रमा और लक्ष्मीका सब लोग समानतासे भोग करते हैं, वैसे ही पारिजात भी सभीकी सम्पत्ति है। यदि पतिके बाहुबलसे गर्विता होकर शचीने ही इसपर अपना अधिकार जमा रक्खा है तो उससे कहना कि सत्यभामा उस वृक्षको हरण कराकर लिये जाती है, तुम्हें क्षमा करनेकी आवश्यकता नहीं है। यदि तुम अपने पतिको अत्यन्त प्यारी हो और वे तुम्हारे वशीभूत हैं, तो मेरे पतिको पारिजात हरण करनेसे रोकें। मैं तुम्हारे पति शक्रको जानती हूँ और यह भी जानती हूँ कि देवताओंके स्वामी हैं, *तथापि मैं मानवी ही तुम्हारे* इस पारिजात वृक्षको लिये जाती हूँ।—"पारिजातं तथाप्येनं मानुषी हारयामि ते। वि० पु० ५।३०।५१।''

शचीके हुसकानेसे इन्द्र देवसेना और लोकपालों सहित वृक्षको छुड़ानेके लिये उद्यत हुआ। मधुसूदनने सबको परास्त किया और इन्द्रका वज्र छीन लिया। तब इन्द्रको भागते हुए देख सत्यभामाने बहुत कठोर व्यंग वैमनस्य बढ़ानेवाली युक्तियोंका प्रयोग किया और पारिजातके लिये इतनी छेड़-छाड़का कारण बताया कि 'अपने पतिके बाहुबलसे अत्यन्त गर्विता शचीने अपने घर जानेपर भी मुझे कुछ अधिक सम्मानकी दृष्टिसे नहीं देखा था। इसलिये मैंने भी अपने पतिका गौरव प्रकट करनेके लिये ही तुमसे यह लड़ाई ठानी थी। अब तुम वृक्षको ले जाओ, मुझे उसकी आवश्यकता नहीं। (वि० पु० ५।३०।७४-७५)। इन्द्र लज्जित हुआ, श्रीकृष्णजीकी स्तुति की। तब श्रीकृष्णजीने कहा कि "हम मरणधर्मा मनुष्य है। आप इस वृक्षको इसके योग्य स्थान (नन्दनवन) को ले जाइए। मैंने तो इसे सत्यभामाकी बात रखनेके लिये ही ले लिया था। और यह अपना वज्र भी लीजिए। इन्द्रने कहा कि आप इस वृक्षको द्वारकापुरी ले जाइये, जिस समय आप मर्त्यलोक छोड़ देंगे, उस समय यह भूलोकमे नहीं रहेगा। (वि० पु० ५।३१।७)। भगवान् उसे द्वारकामें ले आए और गृहोद्यानमें लगा दिया।

१ (ख) सत्यभामामें क्या अवगुण था जिसपर श्रीकृष्णजीने ध्यान नहीं दिया? उत्तर—पहली कथाके अनुसार सत्यभामामे रुक्मिणीजीके प्रति ईर्ष्याका होना और ईर्ष्यावश मान करना और अपने प्रणयके बलपर कल्पवृक्षके लिये हठ करना अनुचित था।

दूसरी कथाके अनुसार सत्यभामामें ये दोष देखे गए कि वे शची द्वारा अपना वैसा ही सम्मान चाहती थीं, जैसा इन्द्रने श्रीकृष्णजीका किया था। मनुष्य कल्पवृक्षके फूलोंका अधिकारा नहीं है, अतः मानुषी समझकर यदि शचीने उसके फूल सत्यभामाको नहीं दिये, तो इसमें बिगड़नेकी कौन बात थी? पारिजात समुद्र-मंथनपर इन्द्रको दिया गया था, अतः वह उनकी संपत्ति थी, दूसरेकी संपत्ति बिना उसकी आज्ञाके छीन लेनेकी चाह अन्याय है।

बैजनाथजीका मत है कि जिन भगवान्से इन्द्रादि सभी याचना करते हैं उनकी पत्नी होकर, तुच्छ देवताओंसे उनकी वस्तुकी चाह करना भारी दोष है। प्रभु तो गोलोकके स्वामी है। उनकी पत्नी गोलोक-स्वामिनी होकर नश्वर कल्पवृक्षकी चाह करे। वे तो कहनेसे गोलोकके दिव्य पुष्प मँगा देते जिनको शचीने स्वप्नमें भी न देखा होगा। गोलोकका दिव्य पुष्प शचीको उदारता पूर्वक देकर वे शचीका मानमर्दन कर सकती थीं। व्यर्थमें ही उन्होने हठ करके लड़ाई ठनवाई।

इस प्रसंगमें 'हठि बैर बिसाहना' यही है कि इन्द्रने श्रीकृष्णजीका कुछ

बिगाड़ा न था। उसने तो उनकी पूजा की थी। किन्तु सत्यभामाका प्रिय करनेके लिये ही उन्होंने इन्द्रसे वैर किया; यह श्रीकृष्णजीने स्वयं इन्द्रसे कहा है। यथा 'गृहीतोऽयं मया शक्र सत्यावचनकारणात्। वि० पु० ५।३१।३।' (मैंने तो इसे सत्यभामाकी बात रखनेके लिये ही ले लिया था)।

१ (ग) 'कुरुराज सों हठि बैर…' की कथा—

कुरुराज—पुरुवंशमें राजा ऋक्षके पुत्र संवरण थे। ये बड़े सूर्यभक्त और तेजस्वी थे। सूर्यपुत्री 'तपती' जो सावित्रीकी छोटी बहिन थी, उसे वसिष्ठजी की प्रार्थनासे सूर्यने उनको दे दी। उसीके पुत्र 'कुरु' हुए, जिनसे कुरुवंश चला। (यह कथा आदि पर्वमें चित्ररथने पाण्डवोंसे कही है)। (१७१।२६, १७२।२२,४८।)

पाण्डव श्रीकृष्णजीकी बुआ (फूफी, पिताकी बहिन) के पुत्र थे। सब पाण्डव और उनकी माता तथा पत्नी द्रौपदी श्रीकृष्णजीके अनन्य भक्त थे। पाण्डवोंमें क्या अवगुण थे जो प्रभुने नहीं देखे ? उत्तर—पाण्डवोंकी उत्पत्ति दूषित थी। लड़कपनमें भीमसेन दुर्योधन और उसके भाइयोंके साथ बहुत दुष्टता करते थे। एकही स्त्रीके पाँचों पाण्डव पति थे। मयदानवरचित सभामें भीमसेन आदि पाण्डवोंने दुर्योधनकी खिल्ली उड़ाई, उनका बड़ा अपमान किया; द्रौपदी भी उनपर हँसी थीं। हँसीमे व्यंग्य था कि अंधेका पुत्र अंधा हुआ ही चाहे। जुआ खेलना भारी दोष है, पर युधिष्ठिरजी इसे दोष जानते हुये भी खेले, यही नहीं, उन्होंने भाइयों और द्रौपदीको भी दाँवपर लगाया। महाभारतकी जड़ मयरचित सभामें दुर्योधनकी हँसी ही है। प्रथम अपराध पाण्डवोंकी ओरसे हुआ। भगवान्ने अवगुणोंपर ध्यान न दिया। उपर्युक्त अन्याय जो दुर्योधनके साथ हुए, उन्हींका बदला चुकानेके विचारसे दुर्योधनने पाण्डवोंको नीचा दिखाने एवं मार डालनेके अगणित उपाय रचे, श्रीकृष्णजीने सर्वत्र पाण्डवोंकी रक्षा की। विशेष 'सुधौं कहा जो न कियो सुयोधन अबुध आपने मान जरै। १३७(४)।' में लिखा गया है; क्योंकि वहीं इसका प्रसंग तथा उचित स्थान है।

१ (घ) 'बालि सों हठि बैर०' की कथा—

बालि और सुग्रीवके वैरकी कथा प्रायः सभी जानते है। संक्षिप्त कथा यह है कि ये दोनों सगे भाई थे। एकबार मायावीकी ललकार सुन बालिने उसका पीछा किया, वह भारी गुहामें घुस गया, तब सुग्रीवको द्वारपर बिठाकर और पन्द्रह दिन प्रतीक्षा करनेको कहकर बालि गुहामें घुसा। एक मास बीतनेपर उसमें से रक्तकी धार निकली और असुरोंके शब्द सुनाई पड़े। तब यह समझकर कि बालि मारा गया, कहीं ऐसा न हो कि मायावी अब

मुझे आकर मारे, सुग्रीवने भारी शिलासे गुहाका मुँह बंद कर दिया और किष्किंधा लौट आया। मंत्रियोंने इन्हें राजा बना दिया। ये भाईकी पत्नीके भी पति बन गए। बालि मायावीको मारकर शिलाको बड़े परिश्रमसे हटाकर गुहासे बाहर निकला। सुग्रीवको वहाँ न पाकर किष्किंधा आया तो सुग्रीव-को राजा बना बैठा पाया। यह समझकर कि सुग्रीवने शिला इसीलिये लगा दी थी कि बालि इसके भीतर ही मर जाय, मैं राजा हो जाऊँ, उसने सुग्रीवको मारकर निकाल दिया और 'हरि लीन्हेसि सरबस अरु नारी। ४।६।११।' इतनाही नहीं, किन्तु सुग्रीवको मार डालनेके लिये बराबर प्रयत्न करता रहा। सुग्रीवने श्रीरामजीसे कहा है—'ताके भय रघुबीर कृपाला। सकल भुवन मैं फिरेउँ बिहाला॥ इहाँ साप बस आवत नाहीं। तदपि सभीत रहउँ मन माहीं।'

बालिके राज्यका अधिकारी अंगद उसका पुत्र था। सुग्रीवको चाहिये था कि अंगदको राजा बनाते। दूसरे सुग्रीवने बड़े भाईकी पत्नीको अपनी पत्नी बना लिया यह अधर्म किया। बैजनाथजी लिखते हैं कि 'यदि सुग्रीवके गुण अवगुण विचारकर न्याय करते तो सुग्रीवसे कहते कि वह तुम्हारा बड़ा भाई था, तुम उसको रणमें छोड़कर अलग क्यो रह गए? उसके जीने मरने-की पूरी जाँच किये विना तुमने राज्य आदि क्यों ग्रहण कर लिया? इसमें प्रथमतः तुम्हारा ही दोष है, तभी तो उसने तुम्हारा सर्वस्व और स्त्री हर ली। हम कैसे तुम्हारा पक्ष लेकर उसको निरपराध मारें? इत्यादि।'

श्रीरामजीकी शरणमे सुग्रीव आ चुका था। उससे मित्रता करनेके लिये श्रीशबरीजी, श्रीशरभंगजी तथा श्रीहनुमान्‌जीने कहा था। वे उसको मित्र बना चुके थे। उनका दुःख सुनकर उन्होने प्रतिज्ञा कर ली थी कि मैं बालिको एक ही बाणसे मार डालूँगा। अतएव उन्होने बालिकी गालियाँ सुनकर और कलंक लेकर भी मित्रका दुःख दूर किया। हठात् वैर लेना यह है कि न्याय-अन्यायका विचार शरणागतकी रक्षा करनेमें न किया। साथ ही यह भी स्मरण रहे कि प्रभुके बलकी परीक्षा कर लेनेपर उसने जब प्रभुको पहचाना तब उसका चित्त वैरसे उपरत हो गया, वह बालिको परम हित समझने लगा कि उसकी कृपासे प्रभुकी प्राप्ति मुझे हुई। परन्तु श्रीरामजीने कहा कि मैं प्रतिज्ञा जो कर चुका वह अब व्यर्थ नहीं हो सकती। 'हठि' में यह भी भाव ले सकते है।

टिप्पणी—२ 'जौं जप जाग जोग···' इति। (क) श्रीरामजीको प्रेम प्यारा है जिसमे भी हो, वे प्रेमसे वशमें हो जाते हैं। यथा 'रामहि केवल प्रेम पिआरा। जानि लेउ जो जाननिहारा।२।१३७।१।', 'भगति अवसहिं बस

करी ।३।२६ छन्द ।' जप, यज्ञ आदि करनेवालोंपर वे वैसी कृपा कभी नहीं करते, जैसी वे प्रेमविभोरोंपर करते हैं। यथा 'मुनि जेहि ध्यान न पावहिं नेति-नेति कह वेद। कृपासिंधु सोइ कपिन्ह सन करत अनेक विनोद। उमा जोग जप दान तप नाना मख व्रत नेम। राम कृपा नहिं करहिं तसि जसि निष्केवल प्रेम। ६।११६'—(पूर्व भी इसपर लिखा जा चुका है)।

२ (ख) 'तौ कत सुर मुनिवर विहाय···' इति। सुर और मुनिवरका नाम यहाँ दिया, क्योंकि जप, यज्ञ आदि करनेवालोंमें मुख्य ये ही हैं। अतएव यदि जप, यज्ञ आदिसे रीझते होते तो देवताओं और मुनीश्वरोंके यहाँ ही अवतार लिया करते। गोप (ग्वाले) जप, योग आदि क्या जानें? गोप तो उन्हें अपना बन्धु ही मानते थे। यथा 'किमस्माकं विचारेण बान्धवोऽसि नमोऽस्तु ते। वि० पु० ५।१३।८।' भगवान्‌की अनुपम बाललीला देखकर उन्होंने स्वयं कहा है—'कहाँ आपकी यह अनुपम बाललीला, *कहाँ निन्दित गोपजाति* और कहाँ ये दिव्य कर्म? यह सब क्या है? कृपया हमें बतलाइए।' यथा 'बालक्रीडेयमतुला गोपालत्वं जुगुप्सितम्। दिव्यं च भवतः कर्म किमेतत्तात कथ्यताम्। वि० पु० ५।१३।३।' इसपर भगवान्‌ने प्रणयकोपयुक्त होकर कहा कि मैं आपके बान्धवरूपसे ही उत्पन्न हुआ हूँ, आपको इस विषयमें और कुछ विचार न करना चाहिए। यथा 'नाहं देवो न गन्धर्वो न यक्षो न च दानवः। अहं वो बान्धवो जातो नैतच्चिन्त्यमितोऽन्यथा। वि० पु० ५।१३।१२।'—'गोपगेह' का भाव उद्धृत श्लोकमें है कि कहाँ भगवान् और कहाँ एक निन्दितजाति!

भगवान इनके प्रेमवश हो अवतार लेकर इनके यहाँ रहे। यथा 'तुलसी प्रभु प्रेमवस्य मनुजरूपधारी। बालकेलि लीलारस व्रजजनहितकारी। कृ०गी०।'*

टिप्पणी—३ 'जहँ तहँ पन राखि···' इति। (क) भक्तोंकी प्रतिज्ञाकी रक्षा अनेक बार की है। यथा 'दितिसुत-त्रास त्रसित निसि-दिन प्रह्लाद प्रतिज्ञा राखी। ९३ (३)।' (खम्भमेंसे प्रकट होकर उनकी बात सत्य की कि प्रभु सर्वत्र है)। भीमसेन, अर्जुन और द्रौपदीने जो प्रतिज्ञायें कीं, उन सबकी श्रीकृष्णजीने रक्षा की, उनको पूरा कराया। महाभारतमें यह विस्तारसे है। भीष्मपितामहकी प्रतिज्ञा, कि मैं भगवान्‌को अस्त्र ग्रहण करवाऊँगा, भगवान्‌ने रक्खी। कलियुगमें ऐसे उदाहरण बहुत हैं जो भक्तमालोंमें वर्णित हैं।

---

* सूर्यदीन शुक्लजी लिखते हैं कि "जिसका प्रेम परमात्मामें है, उसमें दोष कहाँ? व जिसका मन दोषोंमें है वह भक्त कैसे? जप, यज्ञ, योग ये चित्तको निर्मल करते हैं, फिर परमात्मामें पराभक्ति होती है, इसलिये इनकी निन्दा नहीं है, किन्तु भक्तिकी बड़ाई है। बड़े बड़े मुनीश्वर व देवगण ही गोप हुए हैं। भक्तके भजन करनेका यह भाव है (कि) जबतक अहंकार निर्मूल नहीं होता, भगवान्‌के दर्शन दूर हैं।"

३ (ख) 'भजन प्रभाउ न कहते' इति। भाव कि प्रतिज्ञाकी रक्षा करके दिखाया है कि इन्होंने हमारा भजन किया, हमारी भक्ति की, हमसे प्रेम किया, इनके प्रेमके वश हो हमने इनके प्रणकी रक्षा की। इसी तरह जो भी भक्ति करेगा, उसकी हम बराबर रक्षा करेंगे। हम प्रेमके ही भूखे हैं। उच्च-कुल, वर्ण, आश्रम, विद्या, धन, योग, यज्ञ, ज्ञान, तप, व्रत, शौच आदिकी चाह हमें नहीं और न ये हमें वशमें करनेको समर्थ हैं। यथा 'नालं द्विजत्वं देवत्वमृषित्वं वासुरात्मजाः। प्रीणनाय मुकुन्दस्य न वृत्तं न बहुज्ञता॥ न दानं न तपो नेज्या न शौचं न व्रतानि च। प्रीयतेऽमलया भक्त्या हरिरन्यद्विडम्ब-नम्॥ भा० ७।७।५१-५२।' (प्रह्लादजी दैत्यबालकोंसे कहते हैं—) भगवान् मुकुन्दको प्रसन्न करनेमें ब्राह्मणत्व, देवत्व, ऋषित्व, सदाचार, बहुज्ञता, अथवा दान, तप, यज्ञ, शौच एवं व्रत आदि कोई भी समर्थ नहीं हैं; वे तो केवल विशुद्ध भक्तिसे ही प्रसन्न होते हैं, उसके सिवा और सब विडम्बनामात्र है।

३ (ग) 'तौ कलि कठिन करम मारग ' इति। कर्ममार्ग बड़ा कठिन है। कलिकालमे तो कर्म किसी प्रकार निबह नहीं सकते, कविने इसकी व्याख्या पद १५५ मे स्वयं यों की है।—'व्रत तीरथ तप सुनि सहमत पचि मरै करै तन छाम को। करमजाल कलिकाल कठिन आधीन सुसाधित दाम को॥ ज्ञान बिराग जोग जपको भय लोभ मोह कोह काम को।' 'जड़' कर्म और हम दोनोंके साथ है। कर्म जड़ माने गये हैं। 'हम ऐसे जड़ (मूर्ख) जीव कर्मकाण्डमें कैसे निबहते' का भाव कि यदि जप, तप, योग, यज्ञ आदि कर्मकांडसे ही उद्धार होता, तो हम सरीखे मूर्ख जीवोंकी सद्गति हो ही न सकती; इसीसे प्रभुने भक्तोंकी रक्षा कर-करके दृढ़ सिद्धान्त कर दिया है कि कोई भी नीचसे नीच हमारा भजन करके हमे प्रसन्न कर सकता है, हमे केवल अपना प्रेम दो और कुछ नहीं चाहिए।

वसिष्ठजीने 'कर्ममार्ग' क्या है, इसका विस्तृत वर्णन श्रीकराल जनकसे किया है जो म० भा० शां० ३०३।५ ३० में है।—"फलकी आशासे बँधा हुआ मनुष्य कभी पृथ्वीपर सोता, कभी मेंढकको तरह हाथ पैर सिकोड़कर शयन करता, कभी बीरासनसे बैठता, कभी खुले आकाश मे। कभी चीर वल्कल, कभी मूँजकी मेखला बाँधे कोपीन लगाये, कभी नंग-धड़ंग, कभी रेशमीवस्त्र और कभी मृगचर्म पहने फिरता। इत्यादि। कभी विचित्र-विचित्र भोजनोका स्वाद लेता, रत्न आभूषण धारण करता। कभी एक समय, कभी दो दिनपर, कभी छः सात आठ दस दिनपर भोजन करता। कभी फलपर रहता, कभी महीनों उपवास करता, इत्यादि। इस *प्रकार सिद्धि पानेकी अभि-लाषासे वह नाना प्रकारके कठोर नियमोंका सेवन करता है।* कभी चान्द्रायण-

व्रतका अनुष्टान करता, अनेक प्रकारके धार्मिक चिह्न धारण करता, कभी चारों आश्रमोंके मार्गपर चलता और कभी विपरीत पथका भी आश्रय लेता है। कभी नाना प्रकारके उपाश्रमों तथा भाँति-भाँतिके पाखण्डोंको अपनाता है। कभी एकान्तमें शिलाखण्डोंकी छायामें, कभी झरनोंके समीप, कभी नदी-तटपर, कभी निर्जन वनमें कभी देवमंदिरमें कभी पर्वतगुफा आदि में निवासकर वहाँ नाना प्रकारके जप, व्रत, नियम, तप, यज्ञ तथा अन्य भाँति-भाँतिके कर्मोंका अनुष्टान करता है। कभी दान करता है। अज्ञानवश अपनेमें सत्व, रज, तम गुणों और धर्म, अर्थ एवं कामका अभिमान करता है। कभी स्वाहा, कभी स्वधा, कभी वषट्कार और कभी नमस्कारमें प्रवृत्त होता, कभी यज्ञ करता कराता, वेद पढ़ता-पढ़ाता, इत्यादि।—इसीको 'शुभा-शुभ कर्म-मार्ग' कहा है। 'शुभाशुभमयं सर्वमेतदाहुः क्रियापथम्। श्लो० ३०।'

टिप्पणी—४ 'जो सुत हित लिये नाम अजामिल…' इति। (क) अजामिलने अपने पुत्र नारायणके संकेतसे नाम लिया, भगवत्-पार्षदोंने उसको यमपाशसे यह कहकर छुड़ा दिया कि संकेतसे भी नामोच्चारणसे उसके समस्त पाप कट गए। पूरी कथा और प्रमाण पूर्व पद ५७ (३), ६६ (३) में आ चुके हैं। यदि संकेतसे लिये हुए नामकी महिमा अजामिलके मिष न प्रकट की होती, तो हमें साँसति सहनी पड़ती। (ख) 'तौ जमभट…' इति। 'तौ' का भाव कि एक अजामिलोपाख्यानसे हम ऐसे जीवोंको बड़ा विश्वास और बल है कि हमें यमसाँसति न सहनी पड़ेगी। (ग) 'सासति हर हमसे वृषभ…' इति। वैजनाथजीने इसका रूपक यह बाँधा है—'बैलपर घी, चीनी लदी है, पर वह उसका स्वाद एवं प्रभाव नहीं जानता। इसी तरह हम रामनाम आदि ऊपरहीसे कहते हैं, हृदयमें उसका स्वाद और प्रभाव नहीं है, भीतर तो विषय-रूप भूसाही खाते पागुर करते रहते हैं (पूर्व बताया गया है कि पेटके लिये नाम लेते हैं, जैसे अजामिलने अपने बेटेके लिए नाम लिया था)। ऐसे अज्ञ और झूठे भक्तोंको यमके दूत ढूँढ़-ढूँढ़कर यम-साँसतिरूपी हलमें जोतते अर्थात् नरकोंमें डालकर यातना करते। अजामिल प्रसंगसे डर गए हैं, अतः झूठेहू नाम लेनेसे यमदूत निकट नहीं आते।"—मिलान कीजिए—'जानि नाम अजानि लीन्हें नरक जमपुर मने।१६०।', 'नाम बल क्यों बसौ जम-नगर नेरे।२१०।'

टिप्पणी—५ 'जगविदित पतितपावन…' इति। (क) पद २१० में कहा है—'पतितपावन प्रनतपाल असरनसरन बाँकुरे बिरुद बिरुदैत केहि केरे।' तीन बाँके विरुदोंका उल्लेख वहाँ है। उनमेंसे 'पतितपावन' बाना सबसे श्रेष्ठ बाना है, यह दिखानेके लिये वहाँ उसे 'अति बाँकुर बिरुद' कहा। वेद पुराण

सन्तों और कवियोने भी इसे बड़ा बाना कहा है। यथा 'जासु पतितपावन बड़ बाना। गावहिं कवि श्रुति संत पुराना ।७।१३०।७।', इसीसे 'जग विदित' कहा।

५ (ख) 'तो बहु कलप कुटिल तुलसीसे…' इति। इससे जनाया कि पापी कुटिल होते है। मन कर्म वचनसे पातकोंमें रत ऐसे कुटिल जीवोंको अनेकों कल्पोतक नरक भोगना पड़ता है, सद्गति नहीं मिलती; परन्तु पतितपावन विरुदसे ऐसे कुटिल भी तर जाते है। यथा 'रघुपति बिपति दवन। परम कृपाल प्रनत प्रतिपालक *पतितपवन*॥ क्रूर *कुटिल* कुलहीन दीन अति मलिन जवन। सुमिरत नाम राम पठये सब अपने भवन ।२१२।'

श्रीसीतारामचन्द्रार्पणमस्तु

६८ (८६)

ऐसी[1] हरि करत दास पर प्रीति†।
निज प्रभुता बिसारि जनके बस होत सदा यह रीति† ।१।
जेहि[2] बाँधे सुर असुर नाग नर प्रबल करमकी डोरि[3]।
सोइ[4] अविछिन्न ब्रह्म जसोमति[5] बाँध्यो[6] हठि सकत न छोरि[3] ।२।
जाकी माया बस बिरंचि सिव नाचत पार न पायो।
करतल ताल बजाइ ग्वाल जुवतिन्ह सोइ[7] नाच[8] नचायो ।३।
बिश्वंभर श्रीपति त्रिभुवनपति वेद बिदित यह लीख।
बलि सों कछु न चली प्रभुता बरु होइ द्विज माँगी भीख ।४।

---

१ ऐसी—६६, ज०। असि—७४। ऐसी—भा०, ह०, आ०। अस—मु०। ऐसे—वे०। पैसी—रा०। †प्रीती-रीती—ह०, डु०, दी०। २ जिन्ह—ह०, ७४। जिन—५१, आ०। जेहि—६६, रा०, भा०, वे०, ज०। ३ डोरि-छोरि—६६, रा०, १५, वै०, सू० शु०, भ०। डोरी छोरी—भा०, वे०, ह०, ७४, डु०, मु०, दी०, वि०। ४ सो—मु०। सोई—वि०। ५ जसुमति—भा०, वे०, आ०, ह०, ७४, ५१, ज०। यशुमतिने—मु०। जसोमति—६६, रा०। ६ हठि बाँध्यो—७४, वै०, वि०, पो०। बाँध्यो हठि—६६, रा०, भा०, वे०, ह०, डु०, दी०, ज०, प्र०। बाँध्यो—मु० ('हठि' नहीं है)। ७ तेहि—दी०। सो—मु०। ८ नाच—६६, आ०, ५१। नाथु—रा०। नाथ—भा०, वे०, ७४। ह० ने 'नाच' को पाठान्तरमें दिया है।

जाको नाम लयें[9] छूटत भव[10] जनम मरन दुख भार।
अंबरीष हित लागि कृपानिधि सोइ जनम्यो[11] दस बार❀ ।५।
जोग बिराग ध्यान जप तप करि जेहि खोजत मुनि ज्ञानी।
बानर भालु चपल पसु पाँवर नाथ तहाँ रति मानी।६।
लोकपाल जम काल पवन रवि ससि सब आज्ञाकारी।
तुलसिदास प्रभु उग्रसेनके द्वार बेत कर धारी।७।

शब्दार्थ—प्रभुता (प्रभुत्व)=सामर्थ्य, बड़प्पन, स्वामित्व। ईशता। रीति=स्वभाव, नियम। डोरि (डोरी)=रस्सी; बंधन, पाश, जाल। अवि-छिन्न (अविच्छिन्न)=अखण्ड; अटूट। जसोमति (यशोमति, यशुमति)= यशोदाजी जो नन्दजी की पत्नी थीं और जिन्होंने श्रीकृष्णजीको पाला था। छोरि—छोड़ना=बंधन अलग करना, छुड़ाना, खोलना। पार=अन्त। नाचना=चक्कर खाना, हैरान परेशान होना, मारे-मारे फिरना। नाच= नृत्य। अंगोंकी वह गति जो हृदयोल्लासके कारण मनमानी अथवा संगीतके मेलमें ताल स्वरके अनुसार और हाव-भावयुक्त हो। 'नाच नचाना' मुहावरा भी है, अर्थ है—'जैसा चाहना वैसा काम कराना वा करनेके लिये विवश करके तंग करना'। करतल=हथेली। करतल ताल—पद ४८ में 'उड़त अघ विहंग सुनि ताल करतालिका' में तथा इसके शब्दार्थमें देखिए। ग्वाल— अहीर। विश्वंभर—सारे विश्वका पालन वा भरण-पोषण करनेवाला। श्रीपति—समस्त ऐश्वर्यके स्वामी; समस्त ऐश्वर्यकी अधिष्ठात्री श्रीजीके पति। लीख—हिं० श० सा० में दिया हुआ अर्थ यहाँ नहीं बैठता। प्राचीन टीका-कारोंने इसका अर्थ 'लिपि; लिखावट; लिखा हुआ' किया है। दीनजीने 'लीक, लकीर, पक्की बात' अर्थ किया है। वेदविदित यह लीख=यह लिपि वा लिखा हुआ वेदोंमें विदित है। (पं० रा० कु०, डु०)।=यह पक्की बात वेदोंमें विदित है। (दीनजी)। अर्थात् यह प्रमाण है, प्रामाणिक बात है (कपोल-

९ लयें—६६। लियें—रा०। लिये—आ०, ह०, ५१, ७४, ज०, प्र०। लेत— भा०, वे०। १० बहु—भा०, वे०, ज०, प्र०। भव—६६, रा०, ह०, ७४, आ०। ११ जनमे—डु०, वि०, वै०, पो०।

❀ यहाँ तक सं० १६६६ का पाठ है जिसपर पन्ना ४७ समाप्त होता है। आगेके पन्ने ४८, ४९, ५०, ५१ और ५२ पोथीमें नहीं हैं। पन्ना ५३ इस प्रकार प्रारम्भ होता है—"रहौं सब तजि रघुबीर भरोसे तेरे। तुलसिदास यह बिपति बागुरा तुम्हसों बनिहि निबेरें ॥१०२॥"

कल्पित नहीं है)। बरु = बरन; बल्कि; प्रत्युत। भीख = भिक्षा। अंबरीष—अयोध्याजीके एक सूर्यवंशी राजा जो रामायणके अनुसार प्रशुश्रक और महाभारत, भागवत तथा हरिवंशके अनुसार नाभागके पुत्र थे और जो इक्ष्वाकु-महाराजसे २८ वीं पीढ़ीमें हुए। दुर्वासाजीने इनको शाप देकर जो फल पाया वह जगत्प्रसिद्ध है। चपल = चंचल। बेंत-करधारी = चोबदार (बने)। 'उग्रसेन' की कथा टिप्पणीमें दी जायगी।

पद्यार्थ—श्रीहरि अपने दासपर ऐसा प्रेम करते हैं कि अपनी प्रभुता भूलकर भक्तके वश हो जाते हैं। सदासे उनकी यह रीति है। १। जिसने सुर, असुर, नागदेवों और मनुष्योंको अत्यन्त बलवती कर्म डोरीमें बाँध रक्खा है, उसी अखण्ड ब्रह्मको यशोदाजीने हठपूर्वक बाँध दिया और वे उसे खोल न सके। २। जिसकी मायाके वश होकर ब्रह्मा और शिवजीने नाचते-नाचते उसका पार न पाया, उसीको ग्वालिनोंने हथेलीसे ताल बजा-बजाकर नाच नचाया। ३। वेदोंमें यह बात प्रसिद्ध है कि (हरि) विश्वभरका भरण-पोषण करनेवाले, श्रीपति और तीनों लोकोंके स्वामी है, (परन्तु) राजा बलिसे उनकी कुछ भी प्रभुता न चली, ब्राह्मण बनकर उनसे भीख माँगना पड़ी। ४। जिनका नाम लेनेसे संसारके जन्म-मरणरूपी दुःखोंका भार छूट जाता है वही कृपासिंधु अम्बरीषके हितार्थ (उनके प्रेमके कारण) दस बार जन्मे (अवतार ग्रहण किया)। ५। ज्ञानी मुनि योग, वैराग्य, ध्यान, जप और तप करके जिसे खोजते रहते है, उसी नाथने बानर और रीछ (सरीखे) चंचल और नीच पशुओंसे प्रेम किया।६। तुलसीदासजी कहते है कि लोकपाल, यम, काल, पवन, सूर्य और चन्द्रमा सभी जिसकी आज्ञामें चलते हैं, वही प्रभु उग्रसेनके द्वारपर चोबदार (द्वारपाल) बने।७।

टिप्पणी—१ (क) 'ऐसी हरि करत दास···' इति। पिछले पदमें यह सिद्धान्त किया कि भगवान् अपने जनके अवगुणोंपर दृष्टि नहीं देते। अब इस पदमें बताते है कि इतना ही नही है, वे दासपर प्रीति भी करते है और कैसी प्रीति करते है कि अपनी ईश्वरता भुला देते है, दासके वशीभूत हो जाते है।

भगवान्‌को सेवक बहुत प्रिय है, यह उन्होंने स्वयं बानर भालु आदि सखाओं तथा भुशुण्डीजीसे कहा है। यथा 'सबके प्रिय सेवक यह नीती। मोरे अधिक दासपर प्रीती।७।१६।८', 'तिन्ह ते पुनि मोहि प्रिय निज दासा। जेहि गति मोरि न दूसरि आसा। पुनि-पुनि सत्य कहउँ तोहि पाहीं। मोहि सेवक सम प्रिय कोउ नाही।७।८६।', 'तिन्ह महँ जो परिहरि मद माया। भजै मोहि मन बच अरु काया। पुरुष नपुंसक नारि वा जीव चराचर कोइ।

सर्वभाव भज कपट तजि मोहि परम प्रिय सोइ ।७।८७।' (इन उद्धरणोंमें यह भी बताया है कि वह दास कैसा होना चाहिए ।)

१ (ख) 'निज प्रभुता बिसारि' इति । अपनी ईश्वरताको भुला देते हैं अर्थात् उसके साथ माधुर्य लीला करते हैं । वानर, भालुओं, केवट और राक्षसोंको सखा बनाया, उनके ऋणी बने । सुग्रीवके लिये वालिकी गाली सही । केवटके अटपट बचन सुने । नागपाशमें बँधे । अर्जुनके सारथी बने । युधिष्ठिरकी यज्ञमें जूठी पत्तलें उठाईं, दूत बने । और क्या कही जाय, मीन, शूकर, नृसिंह, कमठ रूप धारण किये । इत्यादि । यदि प्रभुत्वका विचार रखते तो भला ईश्वर ऐसा कब करेगा ? दशरथ, वसुदेव आदिके पुत्र बने, कपटी वामन बने,—क्या यह ईश्वर करता ?

१ (ग) 'जनके बस होत' अर्थात् दास जैसा चाहता या कहता वैसा ही करते हैं, उसमें किंचित् भी संकोच नहीं करते कि विपक्षी क्या कहेगा ? प्रभुने स्वयं यह बात सखाओंसे कही है । यथा 'सुनहु सखा कपिपति लंकापति तुम्ह सन कौन दुराउ ।···जिन्हके हौं हित सब प्रकार चित नाहिंन और उपाउ। तिन्हहिं लागि धरि देह करौं सब, *डरौं न सुजस नसाउ* । गी० ५।४५।'

१ (घ) 'सदा यह रीति' अर्थात् सत्ययुग, त्रेता और द्वापर सभी युगो और कालोंमें भी यह रीति बरती गई है । पूर्वके तीनों युगोंके उदाहरण कवि स्वयं आगे देते हैं ।

टिप्पणी—२ (क) 'जेहि बाँधे···करमकी डोरि' इति । कर्ममें सब बँधे हैं । कर्म संचित, प्रारब्ध और क्रियमान तीन प्रकारके होते हैं । कर्मोंका फल सबको भोगना पड़ता है । यथा 'निज कृत कर्म भोग सब भ्राता ।२।९२।', 'सुभ अरु असुभ करम अनुहारी । ईस देइ फल हृदय बिचारी ।२।७७।७', 'करम प्रधान विश्व करि राखा । जो जस करइ सो तस फल चाखा ।२।२१९।४' (विश्वमें *सुर, असुर, नाग, नर सभी आ गए*) । बिना भोगे छुटकारा न होना ही 'बंधन' है जो 'प्रबल' है ।

प्रभु संपूर्ण जगत्को ब्राह्मणादि नामोंके द्वारा विधिनिषेध आदि सूत्ररूप नियमोंके अधीन करके कर्म कराते रहते हैं, जैसे नट कठपुतलीको अपने वशमें करके नचाता है । इस प्रकार मनुजीने स्तुति करते हुए भगवान्से कहा है । यथा "स ईश्वरस्त्वं य इदं वशेऽनयन्नाम्ना यथा दारुमयी नरः स्त्रियम् ॥ भा० ५ । १८ । २६ ।' म० भा० शान्ति २०१ में मनुजीने बृहस्पतिजीसे कहा है कि, जैसे मछली जलके बहावके साथ बह जाती है, उसी प्रकार मनुष्य पहलेके किये हुये कर्मका अनुसरण करता है । उसे उस कर्मप्रवाहमें बहना पड़ता है ।—'मत्स्यो यथा स्रोत इवाभिपाती तथा कृतं पूर्वमुपैति

कर्म। श्लो० २४।' परन्तु कर्मोंके फलकी प्राप्ति जो उनका फल भोगनेके लिये प्राप्त शरीरमें होती है, वह दैवाधीन है। (श्लो० २०)। इसीसे कहा—'जेहि बाँधे'।

कर्म किये बिना जीवसे रहा नहीं जाता और कर्म बिना भोगे छूटते नहीं। यथा मिताक्षरायाम् 'नाऽभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि। अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्मशुभाशुभम्॥' (वै०)। यह ठीक है कि लोकमें रहनेवाला कोई भी मनुष्य किसी भी समय बिना कर्म किये रह नहीं सकता; क्योंकि 'हम कुछ भी न करेंगे' इस प्रकार निश्चय कर बैठनेवाले सभी मनुष्योंको पूर्व-कृतकर्मानुसार बढ़े हुये प्रकृतिजन्य सत्व, रज, तम गुणोंके द्वारा बाध्य होकर बरबस अपनी-अपनी योग्यताके अनुसार कर्मोंमें प्रवृत्त होना पड़ता है। यह सिद्धान्त भगवान्ने गीतामें कर दिया है।—"न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्। कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः। गीता ३।५।" ब्रह्मा, शिव, मनु, प्रह्लाद, बलि आदि महापुरुषोंके मतमें सब कार्य भगवान्की ही प्रेरणासे होते हैं—'कृत्यमस्ति गदाभृता। भा० ४।२१।२६।'

२ (ख) 'सोइ अविछिन्न ब्रह्म' इति। श्रीमद्भागवतमें इस स्थलपर ये वाक्य कहे हैं—"जिसमें न बाहर है न भीतर, न आदि है और न अन्त, जो जगत्के पहिले भी था और पीछे भी रहेगा। जो इस जगत्के भीतर तो है ही, बाहरी रूपोंमें भी है, और जो जगत्के रूपमें भी स्वयं वही है; यही नहीं समस्त इन्द्रियोंसे परे अव्यक्त है, उन्हें मनुष्य तनधारी पुत्र समझा।"—"न चान्तर्न बहिर्यस्य न पूर्वं नापि चापरम्। पूर्वापरं बहिश्चान्तर्जगतो यो जगच्च यः। भा० १०।९।१३। तं मत्वाऽऽत्मजमव्यक्तं मर्त्यलिङ्गमधोक्षजम्।...१४।" गोस्वामीजीने इस भावको 'अविच्छिन्न ब्रह्म' से सूचित किया है। इसमें जो अव्यक्त ब्रह्मके गुण कहे हैं वे सब भी 'अविच्छिन्न' शब्दसे यहाँ कहे गए।

२ (ग)—'जसोमति बाँध्यो हठि सकत न छोरि' इति। एक दिन जब यशोदाजी स्वयं दही मथ रही थीं, उसी समय बालक श्रीकृष्णजी दूध पीनेकी इच्छासे वहाँ आए और नेती पकड़कर उन्हें दही मथनेसे रोक दिया। माता उन्हें गोदमें उठाकर स्नेहसे दूध पिलाने लगी। इतनेमें चूल्हेपर चढ़े हुए दूधमें उफान आया हुआ देख, वे बिना पूर्ण दूध पिलाये ही श्रीकृष्णजीको गोदसे उतारकर वहीं छोड़कर शीघ्रतासे दूध उतारनेको दौड़कर चल दीं। श्रीकृष्णजी कुपित हो गए, उनके लाल-लाल होंठ फड़कने लगे। उन्होंने पत्थरसे मट्ठेकी मटकी फोड़ डाली और दूसरे घरमें जाकर मक्खन खाने लगे। दूधको चूल्हेपरसे उतारकर यशोदाजी लौटीं तो मटकी टूटी पाई और बालक कृष्णको वहाँ न पाया। वे समझ गईं कि यह उसीका काम है। फिर औंधे ऊखलपर बैठे हुए छींकेपर रक्खे हुए मक्खनको लेकर बन्दरोंको देते और चोरी करते हुए चकित

नेत्र पुत्रको देखकर वे उन्हें पकड़नेके लिये धीरे-धीरे पीछेसे आईं। छड़ी लिये हुए माताको आते देख भगवान जल्दीसे भयभीत-सरीखे होकर ऊखलपरसे उठकर दौड़े। यशोदाजी उनके पीछे-पीछे दौड़ीं और बड़ी कठिनाईसे उनको पकड़ पायीं। हाथ पकड़कर वे पुत्रको धमकाने लगीं। पुत्रको रोते और भयभीत समझकर उन्होंने छड़ी तो छोड़ दी, पर प्राकृत बालककी भाँति उनको रस्सी द्वारा ऊखलमें बाँधने लगीं। (भगवान कृष्णने तब कौतुक किया कि) जिस रस्सीसे वे बाँधती थीं वह दो अंगुल छोटी पड़ गई, तब उन्होंने उसमें दूसरी रस्सी जोड़ी। वह भी दो अंगुल छोटी हो गई, तब तीसरी रस्सी जोड़ी, इत्यादि। इस प्रकार कितनी ही रस्सियाँ वे जोड़ती गईं पर प्रत्येक बार दो अंगुलकी कमी रहती गई। घरकी सब रस्सियाँ लग गईं पर वे न बँध सके। तब माता तथा अन्य गोपियाँ उनकी ओर देखकर हँसने लगीं और विस्मित हुईं। (भा० १०।९।९–१७)।

जब श्रीकृष्णजीने देखा कि माता थक गईं, श्रमके कारण पसीना आ गया और उनकी वेणीसे फूलमाल खिसक पड़ी है, तब वे कृपा करके आपही रस्सीसे बँध गए।—'स्वमातुः स्विन्नगात्राया विस्रस्तकबरस्रजः। दृष्ट्वा परिश्रमं कृष्णः कृपयाऽऽसीत् स्वबन्धने। भा० १०।९।१८।'

२ (घ) 'बाँध्यो हठि'—रस्सी छोटी पड़ती गई, पर उन्होंने हठ न छोड़ा, दूसरी तीसरी चौथी इत्यादि रस्सियाँ जोड़ती ही गईं कि बिना बाँधे न छोड़ूँगी। यही 'हठि बाँधना' है।

२ (ङ) 'सकत न छोरि'—भगवान् जबसे बँधे तबसे बँधे ही रहे। जब ऊखलमें बँधे-बँधे धीरे-धीरे यमलार्जुन वृक्षोंके पास पहुँचकर उन्होंने उनका उद्धार किया, और वृक्षोंके गिरनेके शब्दसे वज्रपातकी आशंकासे भयभीत हो नन्द आदि गोप वहाँ आए, तब रस्सीसे बँधे हुए और ऊखलको घसीटते हुए अपने पुत्रको देखकर नन्दजीने मुसकराते हुए उन्हें छोड़ दिया। अपनेसे वे न छूटे थे। (भा० १०।११।१,६)।

नोट—१ इस चरितसे भगवान्ने अपनी भक्तवश्यताका परिचय दिया है, यह मत स्वयं शुकदेवजीका है; यथा 'एवं सन्दर्शिता ह्यङ्ग हरिणा भृत्यवश्यता। स्ववशेनापि कृष्णेन यस्येदं सेश्वरं वशे।भा० १०।९।१९।' (अर्थात् ब्रह्मा, शिव, लोकपाल आदि सहित यह जगत् जिनके अधीन है, उन्होंने स्वतन्त्र होते हुये भी इस प्रकार बँधकर संसारको यह बात दिखला दी कि मैं प्रेमी भक्तके वश में हूँ)।

इसीसे गोस्वामीजीने कहा कि 'निज प्रभुता बिसारि जनके बस होत'। सूर-

दासजी भी कहते हैं—'असुर सँहारन भक्तहि तारन, पावन पतित कहावत बाने। सूरदास प्रभु भाव भक्तिके अतिहित जसुमति हाथ बिकाने ॥'

इस चरितके सम्बन्धमें उन्होंने यह भी कहा है कि मुक्ति देनेवाले भगवान्ने बन्धनमें बँधकर अपनी माता यशोदापर वह कृपा की—उन्हें वह प्रसाद दिया—जो उनके पुत्र ब्रह्माजी, आत्मस्वरूप शंकरजी और अर्धाङ्गिनी लक्ष्मीजी को भी कभी नहीं प्राप्त हुआ। भगवान् श्रीकृष्णजीकी प्राप्ति भक्तोंके लिये जैसी सुलभ है उतनी सुलभ किसी भी प्राणीको नहीं है, यहाँ तक कि आत्मस्वरूप तत्वज्ञानियोंको भी नहीं है। (श्लोक २०, २१) यथा—'नेमं विरिञ्चो न भवो न श्रीरप्यङ्गसंश्रया। प्रसादं लेभिरे गोपी यत्तत्प्राप विमुक्तिदात् ।२० नायं सुखापो भगवान्देहिनां गोपिकासुतः। ज्ञानिनां चात्मभूतानां यथा भक्तिमतामिह ।२१।'

इसमें 'ऐसी करत दासपर प्रीति' का भाव निहित है। यह इस चरितसे उपदेश हम सबोंको दिया गया है।

नोट—२ 'जेहि बाँधे...करमकी डोरि' कहकर 'सोइ ..जसोमति बाँध्यो...' कहनेका भाव कि सुर-असुर आदि कर्मबन्धनमें पड़े रह जाते हैं और प्रेमी भक्त तो निरन्तर प्रभुके ही ध्यानमें रहता है, इससे उसकी कर्मग्रन्थि आप ही कट जाती है। यथा 'यदनुध्यासिना युक्ताः कर्मग्रन्थिनिबन्धनम्। छिन्दन्ति...। भा० १।२।१५।' भगवान् सभी गोकुलवासी गोपोंको पुण्यकर्मसे रहित होनेपर भी वैकुण्ठ ले जायँगे। यह ब्रह्माजीने नारदजीसे कहा है। यथा 'लोके विकुण्ठ उपनेष्यति गोकुलं स्म। भा० २।७।३१।'

टिप्पणी—३ (क) 'जाकी माया बस बिरंचि सिव'—ब्रह्मा और शिव सबसे बड़े हैं, एक सृष्टि रचयिता हैं दूसरे संहारकर्त्ता हैं। अतएव इन्हीं दो प्रधानोंको कहकर जनाया कि जब ये ही मायाके वशमें हैं, तब और तुच्छ जीव किस गिनतीमें हैं। यथा 'सिव बिरंचि कहुँ मोहइ को है बपुरा आन ।७।६२।' ये सभी प्रभुकी मायाके वश हैं, यथा 'यन्मायावशवर्ति विश्वमखिलं ब्रह्मादिदेवासुरा ।१ मं० श्लो० ६।', 'नाहं...न वामदेवः...तन्मायया मोहित०। (भा० २।६।३६।)' (ख) 'नाचत'—ब्रह्मादिक सभीको मायाने नचाया है। ब्रह्माजीने स्वयं इस बातको स्वीकार किया है; यथा—'मनमहुँ करइ बिचार बिधाता। माया बस कबि कोबिद ज्ञाता ॥ हरि मायाकर अमित प्रभावा। बिपुल बार जेहि मोहि नचावा ।७।६०।३-४।' [ब्रह्माजीने गोवत्स तथा ग्वाल बालकोंका हरण किया। शिवजी मोहिनी रूप देख कामवश हुए। (वै०)]

३(ग) 'पार न पायो' अर्थात् मायाके प्रभावका अन्त न जान पाया तथा मायाको पार न कर पाये। यथा 'नान्तं विदाम्यहममी मुनयोऽग्रजास्ते मायाबलस्य पुरुषस्य कुतोऽपरे ये। भा० २।७।४१।' अर्थात् उन महापराक्रमी पुराण-

पुरुषकी मायाके प्रभावका अन्त तो मैं (ब्रह्मा) और तुम्हारे अग्रज सनकादि भी नहीं जानते, फिर औरोंका तो कहना ही क्या? । भा० २।६।३६ में शिवजीका भी न जानना कहा है । यथा 'नाहं न यूयं यदृतां गतिं विदुर्न वामदेवः किमुतापरे सुराः । तन्मायया मोहितबुद्धयस्त्विदं…' । 'शिव विरंचि पार नहीं पा सके' कहकर गोपियोंके परवश हो नाच नाचना कहनेसे सूचित हुआ कि प्रेमी भक्त मायाका पार पा जाते हैं, उससे तर जाते हैं । गीतामें भी भगवान्ने यही बात "दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया । मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते । ७।१४।' मे कही है । (अर्थात् मेरी दैवी माया दुस्तर है । जो मेरी शरण ग्रहण कर लेते हैं, वे इस मायासे तर जाते हैं) । अभिप्राय यह है कि भक्त मायाका त्याग करके मेरी ही उपासना करता है । श्रीमद्भागवतमे ब्रह्माजीने नारदजीसे बताया है कि निष्कपट होकर सब प्रकार उन्हींके चरणोंका आश्रय लेनेसे जिनपर भगवान् स्वयं दया करते हैं, वे ही उनकी दुस्तर मायाको पारकर जाते हैं । (भा० २।७।४२।) । भा० २।४।१६ में श्रीशुकदेवजी कहते हैं कि उनके स्वरूपको ब्रह्मा और शिवजी आदि निष्कपट भक्त भी आश्चर्यवत् देखते हैं—'अजशङ्करादिभिर्वितर्क्यलिङ्गो भगवान्… ।'

३ (घ) 'करतल ताल बजाइ…' इति । भा० १०।११ में यशोदा द्वारा रस्सीसे बाँधा जाना तथा नन्द द्वारा रस्सीका खोला जाना कहकर यह चरित इस प्रकार वर्णन किया है—भगवान्की एकसे एक बढ़कर अनेकों लीलायें हैं । कभी-कभी गोपियोंके फुसलानेसे साधारण बालकोंके समान नाचने लगते । कभी भोले-भाले अनजान बालककी तरह गाने लगते । कहाँतक कहूँ वे उनके हाथकी कठपुतली हो गये थे । कभी उनकी आज्ञासे पीढ़ा ले आते, तो कभी दुसेरी आदि तौलनेके बटखरे उठा लाते । कभी खड़ाऊँ ले आते, तो कभी अपने प्रेमी भक्तोंको आनन्दित करनेके लिये पहलवानोंकी तरह ताल ठोकने लगते । इस प्रकार सर्वशक्तिमान् भगवान् ब्रजवासियोंको आनन्दित करते । यथा 'गोपीभिः स्तोभितोऽनृत्यद्भगवान् बालवत्क्वचित् । उद्गायति क्वचिन्मुग्धस्तद्वशो दारुयन्त्रवत् । भा० १०।११।७। बिभर्ति क्वचिदाज्ञप्तः पीठकोन्मानपादुकम् । बाहुक्षेपं च कुरुते स्वानां च प्रीतिमावहन् ।८।' इसमें जो कुछ कहा गया है, यह सब 'नाच नचायो' का भाव है ।

इस चरितसे भी भगवान्ने यही दिखलाया कि मैं भक्तके वशमें हूँ । यथा 'दर्शयंस्तद्विदां लोक आत्मनो भृत्यवश्यताम् । ब्रजस्योवाह वै हर्षं भगवान् बालचेष्टितैः । श्लोक ९।' अर्थात् संसारमें जो लोग उनके रहस्यके ज्ञाता हैं उनको यह दिखलानेके लिये कि मैं अपने भक्तोंके वशमें हूँ, भगवान् अपनी

बाललीलाओंसे व्रजवासियोंको आनन्दित करते थे।—अतएव गोस्वामीजीने 'जनके बस होत' की पुष्टिमें इसका उदाहरण दिया।

टिप्पणी—४ (क) 'बिसम्भर श्रीपति त्रिभुवनपति…' इति। भाव कि जो विश्वभरका भरण-पोषण करते हैं, उनका भरण-पोषण कोई क्या करेगा? सब कुछ तो उसीका दिया हुआ है, उसे कोई क्या देगा? जो लक्ष्मीपति हैं, स्वयं लक्ष्मी जिसके चरणोंकी दासी है और जिसको लक्ष्मीकी भी चाह नहीं, ऐसे महान् ऐश्वर्यमान पूर्णकामको भला किसीसे माँगनेकी आवश्यकता क्या? जो तीनों लोकोंका स्वामी है, भला भिक्षुक बनना क्या उसको शोभा देता है? कदापि नहीं।

४ (ख) 'वेद विदित यह लीख' इति। अर्थात् यह ऐश्वर्य वेदोंमें प्रसिद्ध है। वेदोंके द्वारा सब जानते हैं कि ये विश्वम्भर हैं, श्रीपति हैं और त्रिभुवन-मात्रके स्वामी हैं। श्रीकृष्णजी श्रीमन्नारायणके अवतार हैं, यह ४३ (१ङ) में दिखाया जा चुका है। पद ५२ में भी इन्हें परब्रह्म कह आये हैं, यथा 'भूमिभर-भारहर प्रगट परमात्मा ब्रह्म नररूपधर भक्तहेतू।' अतः वेदोंमें ब्रह्म श्रीमन्नारायणका ऐश्वर्य जो कहा है, वह उनके अवतारमें भी है। पुनश्च यथा—'अर्धमात्रात्मकः कृष्णो यस्मिन्विश्वं प्रतिष्ठितम्। कृष्णात्मिका जगत्कर्त्री मूलप्रकृती रुक्मिणी। व्रजस्त्रीजनसम्भूतः श्रुतिभ्यो ब्रह्मसङ्गतः।' (गोपालोत्तर-तापिन्युपनिषत् ।२।१२-१४)।

४ (ग) 'बलि सों कछु न चली' इति। भाव कि राजा बलि परम भागवत थे। हाँ, दैत्यराज होनेके नाते देवताओंसे वैर था। 'भगवान्ने ईश्वर, यज्ञेश्वर एवं पूर्ण होकर भी कृपणकी भाँति बलिसे तीन डग पृथ्वी क्यों माँगी और प्रयोजन सिद्ध होनेपर उन्हें बाँधा क्यों?'—यह प्रश्न परीक्षित महाराजने श्रीशुकदेवजीसे किया था और उसका उत्तर उन्होंने दिया है। (भा० ८।१५)।

बलिके प्राण और लक्ष्मी इन्द्रने हरण कर लिये, तब शुक्राचार्यने उन्हें जिला दिया और भृगुवंशियोंमे श्रेष्ठ महाप्रभावशाली ब्राह्मणों द्वारा शुक्राचार्यने प्रसन्न होकर 'विश्वजित्' नामक यज्ञ महाभिषेककी रीतिसे अभिषेक करके कराया। होमाग्निसे रथ, घोड़े, ध्वजा, दिव्य धनुष, अक्षय तरकश और दिव्य कवच प्रकट हुए। प्रह्लादजीने कभी न मुरझानेवाली माला पहिनाई, शुक्राचार्यने शंख दिया। इन सबोंसे सुसज्जित हो, ब्राह्मणों तथा प्रह्लादजीसे आज्ञा ले उनको प्रणामकर वे सेना सहित इन्द्रपुरी पहुँचे।

बृहस्पतिसे पूछनेपर इन्द्रको उन्होने यह संमति दी कि देवताओं सहित स्वर्ग को छोड़कर भाग जाओ; ब्रह्मवादी भृगुवंशी ब्राह्मणोंने इसे अपना तेज

दिया है इस समय परमेश्वरके अतिरिक्त कोई भी वलिके सामने ठहर नहीं सकता। (श्लोक २८, २९)। वलि स्वर्गपति हो गए।

अदितिने अपने पुत्रों देवताओंके खोये हुए वैभवकी पुनः प्राप्ति तथा असुरोंके संहारकी कामनासे भगवान्‌को प्रसन्न करनेके लिए पयोव्रत किया। भगवान् प्रकट हुए और बोले कि तुम्हारी कामनायें मैं जानता हूँ; परन्तु उस असुरपतिका जीतना अभी बहुत कठिन है; क्योंकि उसपर दैव और ब्राह्मण अनुकूल हैं, इस समय *उनपर वल दिखलानेसे कुछ फल न होगा।* फिर भी मैं कोई न कोई उपाय सोचूंगा। यथा "प्रायोऽधुना तेऽसुरयूथनाथा अपारणीया इति देवि मे मतिः। यत्तेऽनुकूलेश्वरविप्रगुप्ता न विक्रमस्तत्र सुखं ददाति। भा० ८।१७।१६। अथाप्युपायो मम देवि चिन्त्यः सन्तोषितस्य व्रतचर्ययया ते। १७।"

राजा वलि प्रह्लादजीके पौत्र थे। धर्मात्मा तथा दानी थे। भगवान्‌के भक्त थे। अतएव भक्तसे लड़ते कैसे? इसलिए वामनरूपसे अदितिके गर्भसे प्रकट हुए। यज्ञोपवीत संस्कार होनेपर समाचार मिला कि वलि भृगुवंशी ब्राह्मणों द्वारा यज्ञ करा रहे हैं। अतएव ये वलिके यज्ञमे पहुँचे। वलि तथा वामनजीकी कथा पद ५२ (५) 'छलन वलि कपट वटुरूप वामन…' में दी गई है।

४ (घ) अब राजा वलिकी भक्तिका दिग्दर्शन कीजिए। वलिका बंधन होने पर वलिने जो कुछ कहा है, वह उनकी परम भक्ति प्रकट कर रहा है। वे कहते हैं—"मुझे नरकमें पड़ने, राज्योंसे च्युत होने, पाशमें बँधने, अपार दुःखमें पड़ने, मेरे पास फूटी कौड़ीभी न रहने तथा आप जो भी घोर दण्ड मुझे दें उसका मुझे किंचित्‌भी भय नहीं। मैं डरता हूँ तो असत्य और अपनी अपकीर्तिसे। पूजनीय योग्यतम महापुरुषों द्वारा दिया हुआ दण्ड तो जीवमात्रके लिए अत्यन्त वांछनीय है; क्योंकि ऐसा दण्ड तो माता, पिता, भाई और सुहृदभी मोहवश नहीं दे पाते। आप परोक्षरूपसे अवश्य हम दैत्योंके परम पूज्य गुरु हैं; क्योंकि आप विविध प्रकारके मदोंसे अन्धे हम लोगोंको राज्यलक्ष्मी और प्रभुतासे भ्रष्ट करके नेत्र प्रदान करते हैं।…आपने मुझे जो *दण्ड दिया है, वास्तवमें वह दण्ड नहीं है, वरन् आपका परम अनुग्रह है। वास्तवमें मै इस कृपाका पात्र नहीं हूँ।* आपने मुझे अपने भक्त प्रह्लादका पौत्र जानकर यह अनुग्रह किया है।…आप यद्यपि मेरे भी शत्रु हैं, फिरभी *विधाताने बलात् मेरा ऐश्वर्य लक्ष्मी हरकर मुझे आपके निकट पहुँचा दिया,* (अच्छा ही हुआ) क्योंकि ऐश्वर्य लक्ष्मीके कारण जीवकी बुद्धि जड़ हो जाती है और वह यह नहीं समझ पाता कि मेरा यह जीवन मृत्युके पंजेमें पड़ा हुआ और अनित्य है।" (भा० ८।२२।३-११)।

वामन भगवान्‌ने स्वयं बलिकी प्रशंसा ब्रह्मासे इस प्रकार की है—"बलि दानवों और दैत्योंमें अग्रगण्य और उनकी कीर्ति बढ़ानेवाला है। इसने मेरी उस मायाको जीत लिया, जिसपर विजय पाना अत्यन्त कठिन है। *क्योंकि इतना कष्ट पाने पर भी यह मोहित नहीं हुआ।* इसका धन छीन लिया गया, राजपदसे च्युत हुआ, तरह-तरह के आक्षेप इसपर किये गये, शत्रुद्वारा बाँधा गया, भाई-बन्धुओंने त्याग दिया, अनेक यातनायें भोगनी पड़ी, गुरुनेभी तिरस्कार किया और शाप तक दे डाला; तथापि इस सत्यवादी दृढ़व्रतीने अपना धर्म अपनी प्रतिज्ञा नहीं छोड़ी। मैंने इससे छलभरी बातें कीं, मनमें छल रखकर धर्मका उपदेश किया, परन्तु इसने सत्यको न छोड़ा। अतः (मैं इसपर परम प्रसन्न हूँ) मैं इसे वह स्थान दे रहा हूं जो बड़े बड़े देवताओंको भी दुर्लभ है।" (श्लोक २८–३१)।

बलिकी इस भक्तिसे प्रभु उनके ऐसे वश हुए कि वर-पर-वर देते चले गये। प्रभुने बलिसे कहा कि "तुम सुतल लोकमें जाओ। वहाँ आधि, व्याधि, खेद, निद्रा, तन्द्रा, बाहरी या भीतरी शत्रुओंसे पराजय तथा किसीभी प्रकार-का उपद्रव नही है, जिसकी चाह स्वर्गके देवताभी करते है। लोकपालभी तुम्हारा पराजय न कर सकेंगे। मै तुम्हारी, तुम्हारे अनुचरों और भोग-सामग्रीकी सब प्रकारके विघ्नोंसे रक्षा करूँगा। तुम मुझे सदा अपने पासही देखोगे। दानव और दैत्योंके संसर्गसे तुम्हारा जो कुछ आसुरभाव होगा, वह मेरे प्रभावसे नष्ट हो जायगा।" (श्लोक ३२–३६)।

जो अनुग्रह बलिपर हुआ (कि भगवान् उनके द्वारपाल हुए, इत्यादि) ऐसा अनुग्रह ब्रह्मा, शिव और लक्ष्मीको भी नही प्राप्त हुआ। यथा 'नेमं विरिञ्चो लभते प्रसादं न श्रीर्न शर्वः किमुतापरे ते। यन्नोऽसुराणामसि दुर्ग-पालो विश्वाभिवन्द्यैरपि वन्दिताङ्घ्रिः। भा० ८।२३।६।'—यह प्रह्लादजीने कहा है और राजा बलिने भी ऐसा ही स्वयं कहा है।

☞ यद्यपि यहाँ इसका प्रसंग नहीं है फिर भी स्कं० पु० में इनकी कथा बड़ी सुन्दर है, बिना लिखे जी नहीं मानता। अतः संक्षेपमें लिखता हूँ।—'सम्पूर्ण चराचर जगत्‌को भगवान्‌ने दो ही पगोंसे माप लिया। फिर उस विराट् स्वरूपको छोड़कर पुनः वामन ब्रह्मचारीके रूपमें अपने आसनपर विराजमान होकर उन्होंने बलिकी पत्नी विन्ध्यावलीसे पूछा—'देवि ! तुम्हारे पतिके द्वारा आज मुझे तीन पग पृथ्वी मिलनी चाहिये। इसकी पूर्ति कहाँसे होगी ?' उनने उत्तर दिया—"आप समस्त लोकोंके एकमात्र स्वामी हैं। आपने अपना भारी डग बढ़ाकर यह त्रिलोकी माप ली है।···भला हम जैसे लोग आपको क्या दे सकते हैं ? इसलिए इस समय मैं जो निवेदन करती हूँ

उसके अनुसार कार्य कीजिये। मेरे स्वामीने इस समय तीन पग भूमि देनेकी प्रतिज्ञा की थी। उसके अनुसार मेरे पूज्य पतिदेव तीनों पगोंके लिए स्थान इस प्रकार दे रहे हैं—प्रभो! देवेश्वर आप अपना पहला पग मेरे मस्तकपर रखिये। जगत्पते! दूसरे पग मेरे इस बालकके मस्तकपर स्थापित कीजिये तथा जगन्नाथ! अपना तीसरा पग मेरे पतिके मस्तकपर रख दीजिये। केशव! इस प्रकार से ये तीन पग मैं आपको दूँगी।"

भगवान् बड़े प्रसन्न हुए और बलिसे बोले—'मैं तुम्हारा कौन-सा कार्य करूँ?...तुम इच्छानुसार वर माँगो। मैं तुम्हारी सम्पूर्ण इच्छायें पूर्ण किये देता हूँ।' यह कहकर बलिको बन्धनसे मुक्त कर दिया और उन्हें छातीसे लगा लिया। बलि इस प्रकार बोले—'प्रभो! आपने ही इस सम्पूर्ण चराचर जगत्‌को उत्पन्न किया है। *अतः आपके चरणारविन्दोंके सिवा दूसरी कोई वस्तु मैं नहीं चाहता।* आपके चरण कमलोंमें मेरी भक्ति बनी रहे। देवेश्वर! वह *सनातन भक्ति बराबर निरन्तर बढ़ती रहे।*' भगवानने सुतल लोकमें जानेकी आज्ञा दी, तब वे बोले—'देव देव! आप ही बताइये, वहाँ मेरा क्या काम है? मैं तो आपके पास ही रहूँगा।' तब भगवान्‌ने अत्यन्त कृपाल होकर कहा—"राजन्! मैं सदा तुम्हारे समीप रहूँगा। असुरश्रेष्ठ! तुम खेद न करो, मेरी बात सुनो। *मैं सुतल लोकमें तुम्हारा द्वारपाल होकर रहूँगा।* मेरे इस वचनको तुम वरदान समझो। आज मैं तुम्हारे लिए वरदायक होकर उपस्थित हूँ। *अपने वैकुण्ठवासी पार्षदोंके साथ तुम्हारे घरमें निवास करूँगा।*'—'ऐसी हरि करत दास पर प्रीति।' देखिये, कैसा प्रेम इन शब्दोंमें भरा हुआ है! (स्कंद पु० मा० के० १६)।

४ (ङ) 'माँगी भीख'—किस प्रकार भीख माँगी सो सुनिये—यज्ञमें पहुँचकर वामनजीने सामवेदकी ऋचाओंका विधिपूर्वक गान किया। सामगानके अनन्तर वे इस प्रकार बोले—"राजन्! दैत्यराज हिरण्यकशिपुके पुत्र प्रह्लादजी हुए, जो बड़े तेजस्वी, जितेन्द्रिय तथा विष्णुभक्त हैं, जिन्होंने दैत्यराजकी सभामें तेजस्वी भगवान् नृसिंहको प्रकट किया था, महाभाग! उन्हीं प्रह्लादके पुत्र तुम्हारे पिताजी थे, जिन्होने स्वयं ही अपना मस्तक दान करके इन्द्रको सन्तुष्ट किया था। राजन्! तुम उन्हीं महात्माके पुत्र हो। तुमने बड़े उत्तम यशका विस्तार किया है। तुम्हारे यशरूपी महान् दीपककी ज्योतिमें सम्पूर्ण देवता पतंगोंके समान दग्ध हो गये हैं। तुमने इन्द्रको भी जीत लिया है, इसमें संशय नहीं है। सुव्रत! मैं तुम्हारे सब चरित सुन चुका हूँ। तुम बड़े मनस्वी हो तथा तीनों लोकोंमें अधिकसे अधिक दान करनेवाले दाताके रूपमें तुम्हारी ख्याति है। तथापि मेरे लिए तुम्हें तीन पग पृथ्वी

देनी चाहिये।'... 'दैत्यराज ! स्वयं चलते समय मेरे तीन पगोंसे जितनी पृथ्वी मापी जाय, उतनी ही मुझे दीजिये।' (स्क० मा० के० १८-१६)।

राजा बलि विधि-विधानके ज्ञाता थे। उन्होंने विधिपूर्वक ब्रह्मचारीके चरण पखारकर संकल्पके साथ वामनजीको पृथ्वी दान की।

'निज प्रभुता बिसारि जनके वश होत का' यह कैसा उत्कृष्ट-उदाहरण है !!!

टिप्पणी—५ 'जाको नाम लयें छूटत भव...' इति। (क) नाम लेनेसे भव और उसके क्लेश छूट जाते हैं। यह बहुतेरे पदोंमे दिखाया गया है। यथा 'भवपास असि-निसित हरिनाम जपु दास तुलसी। ४६ (६)।', 'घोर भवनीर-निधि नाम निज नाव रे। ६६(१)।', 'सेतु भवसागरको। ६६(४)।', 'साधन फल श्रुतिसार नाम तव भवसरिता कहँ बेरो।१४३ (५)', इत्यादि। पुनश्च 'कृत्वापि पातकं घोरं कृष्णनाम्ना विमुच्यते' अर्थात् भयंकर पाप करके भी मनुष्य श्रीकृष्ण नामके उच्चारणसे मुक्त हो जाता है। (प० पु० स्वर्ग ५०।२३)

५(ख) 'अंबरीप हित लागि कृपानिधि सोइ' इति। अम्बरीष महाराजके बदले दश बार जन्म लेनेमें 'कृपानिधि' विशेषण देकर जनाया कि इनपर समुद्रवत् कृपा की, जिस कृपाकी थाह नहीं। अवतारोंका मुख्य कारण कृपा ही है। अम्बरीपको दिया हुआ शाप अपने ऊपर ले लिया, कैसी बड़ी कृपा है !

५(ग) 'सोइ जनम्यो दस बार' इति। जो कथा बाबू शिवप्रकाश एवं वैजनाथजीने दी है, वही प्रायः अन्य टीकाकारोंने ग्रहण की है। परन्तु मैंने पं० श्रीरामवल्लभाशरणजीसे सुना था कि यह राजा परम अनन्य वैष्णव थे। एक बारकी कथा है कि इनको कहीं बाहर जाना पड़ा था, जहाँ म्लेच्छ ही म्लेच्छ थे। इन्हें कोई पवित्र स्थान पूजाके लिये न मिला। बहुत खोज करनेपर एक शिवाला मिला। अतः इस पवित्र स्थानपर उन्होंने पूजाका प्रबन्ध किया। अनन्यताके कारण उनके चित्तमें फिर यह ख्याल उठनेपर कि 'यहाँ जो पूजा की जायगी, वह शिवजीको भी पहुंचेगी', उन्होंने एक पर्दा डाल दिया। यह देख श्रीशिवजी कुपित होकर प्रकट हो गए और क्रोधावेशमें उन्होंने शाप दे दिया कि तेरा एक सहस्र बार जन्म होगा। राजाने दीनता-पूर्वक शापको अंगीकार कर लिया। उसी समय भगवान् भी प्रकट हो गए और बोले कि हमारा अनन्य भक्त एक बार भी जन्म न लेगा। उसके बदले हम स्वयं अवतीर्ण होंगे। यह सुनकर शिवजी बोले कि ऐसा न हो। आप दश बार अवतार ले।

वैजनाथजी लिखते हैं कि दुर्वासा पुराणमें लिखा है कि द्वादशीके दिन राजाके यहाँ जब दुर्वासाजी आये और उनको भोजनका निमन्त्रण दिया गया। वे स्नान ध्यानको गए। द्वादशी उस दिन थोड़ी थी। राजाने एकादशी

व्रत किया था। व्रतका पारण द्वादशीके भीतर करना शास्त्राज्ञा है। राजाने ब्राह्मणोंके कहनेसे चरणामृत ले लिया'। दुर्वासाजी तब आये और यह जानकर उन्होंने राजाको शाप दिया कि 'तुझे यह घमण्ड है कि मैं इसी जन्ममें मुक्त हो जाऊँगा, सो यह बात नहीं होनेकी। तुझे नर, पशु और जलचरादिमें दश बार जन्म लेना पड़ेगा।' शाप देकर तब कृत्यानल प्रकट की। चक्रने रक्षा की और दुर्वासाका पीछा करनेपर जब वे वैकुण्ठ पहुँचे, तब भगवान्ने कहा कि तुमने जो शाप राजाको दिया, सो उसका जन्म तो एक बार भी न होगा, तुम्हारा वचन प्रमाण करनेके लिये हम दश जन्म लेंगे।

वे० शि० श्रीरामानुजाचार्यने मुझे बताया कि नृसिंह पुराणमें कथा इस प्रकार है—'अम्बरीषजी अमरकंटक पर्वत प्रदेशके जंगलमे शिकार खेलने गए। सायंकाल होनेपर सन्ध्यावन्दनके लिये वे नर्मदा तटपर गए। संध्यार्थ जल अंजलीमे लेनेपर बाणलिंग (नर्मदेश्वर) प्रकट हुए। अनन्यता भंग भयसे उन्होने वह जल नदीमे विसर्जन कर दिया। फिर जल लिया तो फिर उसमें नर्मदेश्वर प्रकट हो गए। उसे भी उन्होने नदीमें छोड़ दिया। दस बार उन्होंने जल लिया, दशों बार शिवलिंग उसमे आया। तब शंकरजी प्रकट होकर बोले कि तुमने दस बार हमारा अनादर किया, अतः तुम्हें दस हजार बार तन्म लेकर हमारा आराधन करना होगा, तब इसका प्रायश्चित होगा।

घबड़ाकर आर्त होकर राजाने प्रभुका ध्यान किया। विष्णु भगवान् प्रकट होकर बोले—'शंकरजी! राजा हमारा अनन्य भक्त है। इसको इसी शरीरके अन्तमे मै मोक्ष दूँगा। इसके बदलेमे हम दश हजार जन्म लेकर आपका आराधन करेंगे।' शंकरजी बोले—'नाथ! इनके दश हजार जन्मके बराबर आपका दशावतार होगा। आप दशावतार धारण करके हमारी लिंगमूर्तिकी अर्चना करेंगे, जिससे रुद्र प्रार्चनाका विस्तार होगा।[नृसिंह पुराणमे किस जगह यह कथा है इसका पता उन्होंने नहीं लिखा है। स्कंद पुराण वैष्णव खण्ड कार्तिक महात्म्यमें—'तथाऽऽम्बरीषवाक्येन जातो गर्भे स्वयं किल।२८।१६।' यह श्लोक इस सम्बन्धका है।]

☞ इस चरितसे भक्तवात्सल्य गुणका विकाश होता है।

भट्टजी एवं श्रीभगवान्सहायजी लिखते हैं कि दूसरा अर्थ इस प्रकार कर सकते हैं कि जैसे भगवान्ने ऊधवजीसे कहा था कि मेरा अवतार तुम्हारे वास्ते है अर्थात् सब भक्तोंके लिये है। इसी प्रकार 'अम्बरीष हित' का तात्पर्य है कि आर्तभक्तके निमित्त दस अवतार धारण किये। (परन्तु जब अम्बरीष के लिये दस अवतारका प्रमाण मिलता है, तब इस अर्थका प्रयोजन नहीं रह जाता। सम्भवतः यह भाव डुमरावकी टीकाका है)।

टिप्पणी—६ 'जोग बिराग ध्यान जप तप करि....' इति। (क) भाव यह कि ज्ञानी मुनि प्रभुकी खोजके निमित्त योग, वैराग्य, ध्यान, जप और तप करते हैं। इतना करनेपर भी कहीं कभी किसीको प्रभुताका साक्षात्कार होता है, सो भी केवल ध्यानमें स्वप्नमें ही, साक्षात् नहीं। यथा 'जिति पवन मन गो निरस करि मुनि ध्यान कबहुँक पावहीं। ४।१० छंद १।', 'देवः कृपापरवश द्विजवेषधारी प्रत्यक्षतां शिवगुरुं गत आत्तनिद्रम्।' (शंकर दि० २।५१) अर्थात् वे निद्रामान थे, उन्हें ब्राह्मण वेषसे भगवान्‌ने स्वप्नमें आदेश दिया। 'जिति पवन' योग है, 'मन गो निरस करि' विराग है। पुनश्च यथा 'पश्यन्ति यं योगी जतन करि करत मन गो बस सदा। ३।३२ छंद ४।'—इसमें भी बहुत यत्न करनेपर योगनिष्ठको ध्यानमें ही दिखाई देना कहा है। ध्यान निर्मल मनसे करते हैं, यथा 'मुनि धीर योगी सिद्ध संतत बिमल मन जेहि ध्यावहीं। १।५१ छंद।' जप तपभी मुनि उन्हींके लिए करते हैं, इसीसे महर्षि अत्रिजी प्रभुसे कहते हैं कि 'मन ज्ञान गुन गोतीत प्रभु मैं दीख जप तप का किये। ३।६ छंद।'

६ (ख) 'बानर भालु चपल पसु पाँवर....' इति। वानर भालु चंचल पशु और पामर थे। यथा 'कहहु कवन मैं परम कुलीना। कपि चंचल सबही बिधि हीना। ५।७।७', 'मैं पाँवर पसु कपि अति कामी। ४।२१।३।' कहाँ तो मनको वशमें किये हुए ज्ञानी मुनि और कहाँ चंचल पामर पशु! धरती आकाशका अन्तर। पर प्रभुने वानरोंमें प्रेम पाया, इससे उनके वश हो गये। यथा 'को साहिब किये मीत *प्रीति* कहा कि निसिचर कपि भील भालु।१५४।'　　उनकी स्त्रियें

६ (ग) इससे श्रीशुकदेवजीके मतसे भगवंत शिक्षा दे रहे हैं कि 'उत्तम कुलमें जन्म, सुन्दरता, वाक्‌चातुरी, बुद्धि और आकृति—इनमेंसे कोई भी गुण उन (भगवान्) को प्रसन्न करनेका कारण नहीं है। यह बात दिखानेके लिए ही उन लक्ष्मणाग्रज भगवान् श्रीरामने उपर्युक्त गुणोंसे रहित होनेपर भी वानरोंसे मित्रता की। अतः देवता, असुर, वानर और मनुष्य इनमेंसे कोई भी क्यों न हो, उसे चाहिए कि उत्तम कृतज्ञशिरोमणि नररूप हरि भगवान् रामको जो सम्पूर्ण कोसलवासियोंको अपने साथ विमानपर चढ़ाकर स्वर्गसे भी ऊपर अपने निज धामको ले गये थे, अनन्य भावसे भजे। भा० ५।१९।७-८ यथा—

"न जन्म नूनं महतो न सौभगं न वाङ् न बुद्धिर्नाकृतिस्तोषहेतुः।
तैर्यद्विसृष्टानपि नो वनौकसश्चकार सख्ये बत लक्ष्मणाग्रजः॥

सुरोऽसुरो वाप्यथ वानरो नरः सर्वात्मना यः सुकृतज्ञमुत्तमम्।
भजेत रामं मनुजाकृतिं हरिं, य उत्तराननयत्कोसलान्दिवमिति ॥"
६७ (३ ख) भी देखिए।

टिप्पणी—७ 'लोकपाल जम काल···' इति। (क) यमराज, काल, पवन, सूर्य, चन्द्र, वरुण, कुबेर और अग्निदेव ये आठो लोकपाल कहे जाते हैं, यथा 'रवि ससि पवन बरुन धनधारी। अगिनिकाल जम सब अधिकारी।१।१८२। १०।' 'ससि' के पश्चात् 'सब' विशेषणसे वरुण, कुबेर और अग्निका ग्रहण हो जाता है। परन्तु यहाँ 'लोकपाल' शब्द भी है, प्रायः समस्त टीकाकारोंने इसको यम काल आदिसे पृथक् माना है और ऐसा मानना उचित भी है। यहाँ 'लोकपाल' से त्रिदेव (विधि, हरि, हर) का ग्रहण होगा। क्योंकि इनको भी अन्यत्र आज्ञाकारी कहा है। यथा 'विधि हरि हर ससि रवि दिसि-पाला। माया जीव करम कुलि काला। अहिप महिप जहँ लगि प्रभुताई।··· राम रजाइ सीस सब ही के २।२५४।६-८।' (यह वसिष्ठवाक्य है) अमरकोषमें भी त्रिदेवको लोकेश कहा है—यथा 'हिरण्यगर्भो लोकेशः स्वयम्भूश्च-
तुराननः।' इन्द्रो वह्निः पितृपतिर्नैर्ऋतो वरुणो मरुत्। कुबेर ईशः
पतयः पूर्वादीनां दिशां क्रमात्।'

इससे ज्ञात होता है कि इन्द्र, अग्नि, यम, वरुण और कुबेर आदि दिशाओंके स्वामी (दिक्पाल) हैं और ब्रह्मा-शिवादि लोकपाल है—'ब्रह्मा-दयो लोकनाथाः। भा० ८।२१।५।' पं० जा० ना० शर्मा लिखते हैं कि गणेश, ब्रह्मा, शिव, दुर्गा औ[illegible]। इसके व[illegible]पाल हैं।

७ (ख) लोकप[illegible]रजी बोले[illegible]आज्ञाकारी होना इस प्रसंगमें कहा गया है। यह भी सहेतुक है। क[illegible] उग्रसेनजीको यदुवंशियोंका राजा बनाकर श्रीकृष्णजीने उनसे कहा था कि 'मुझ दासके रहते हुए राजाओंकी तो क्या, [illegible]प देवताओंको भी आज्ञा दे सकते हैं।'—'मयि भृत्ये स्थिते देवानाज्ञा-पयतु किं नृपैः' (वि० पु० ५।२१।१२)। इतना ही नहीं किन्तु उपर्युक्त वाक्य को प्रमाण कर दिखाया। उन्होंने तुरत वायुदेवका स्मरण किया और वे वहाँ उसी समय आकर उपस्थित हो गये। तब भगवान्ने उनसे कहा कि "हे वायो! तुम इन्द्रके पास जाओ और उनसे कहो कि—'हे वासव! व्यर्थ गर्व छोड़कर तुम उग्रसेनको अपनी सुधर्मा नामकी सभा दो। यह सर्वोत्तम रत्न राजाहीके योग्य है, इसमे यादवोंका विराजमान होना उपयुक्त है।" इन्द्रने तुरत वह 'दिव्य सभा' दे दी। यथा 'गच्छेदं ब्रूहि वायो त्वमलं गर्वेण वासव। दीयतामुग्रसेनाय सुधर्मा भवता सभा॥श्लो० १४। कृष्णो ब्रवीति राजार्हमेतद्रत्न-मनुत्तमम्। सुधर्माख्यसभा युक्तमस्यां यदुभिरासितुम् ।१५।'—इसमें लोक-

पाल वायुदेव और इन्द्रको आज्ञा देना और उनका आज्ञाकारी होना स्पष्ट दिखा दिया है।

पद्म पु० उत्तरखण्डमें सुधर्मा सभावाला प्रसंग कालयवन वध तथा जरासन्धके भग जाने और भगवान् कृष्णके सेना सहित द्वारका पहुँच जानेके पश्चात् आया है। 'इन्द्रने वायुदेवको द्वारका भेजा और विश्वकर्माकी बनाई हुई सुधर्मा नामक देवसभाको प्रेमपूर्वक श्रीकृष्णको भेंट कर दिया।'

७ (ग) 'उग्रसेनके द्वार···' इति। मथुरा यदुवंशियोंकी राजधानी थी। शूरसेन प्राचीन कालमें राजा थे। वे माथुरमण्डल तथा शूरसेनमण्डलका राज्य शासन करते थे। एक बार शूरसेनके पुत्र वसुदेवजी अपनी नवविवाहिता पत्नीके साथ घर जानेके लिए रथपर बैठे। उग्रसेनका पुत्र कंस अपनी बहिन देवकीके प्रेमसे रथ हाँकनेके लिए रथपर बैठा। रास्तेमें उसे आकाशवाणी हुई कि जिसे तू पहुँचाने जा रहा है उस तेरी बहिनके आठवें गर्भका बालक तुझे मार डालेगा। यह सुनते ही तलवार निकालकर वह देवकीको मार डालनेको उद्यत हुआ। वसुदेवजीके समझानेपर कि आपको इससे तो कोई भय है नहीं, भय है पुत्रोंसे, सो इसके पुत्रको मैं लाकर आपको सौंप दूँगा, कंसने मारनेका विचार छोड़ दिया। पहला पुत्र जो पैदा हुआ, उसे उन्होंने लाकर कंसको दिया। कंस वसुदेवको वचनके पालनमें दृढ़ पाकर प्रसन्न हुआ और कहा कि आप इसे ले जायँ, मुझे इससे भय नहीं, आठवीं सन्तानसे भय है। वे लेकर लौट गए। कंसकी इस शांतिको देवताओंके अनुकूल न देखकर नारदजीने आकर कंससे कहा कि नन्दादि गोप और यशोदा आदि गोपियाँ तथा यदुवंशी और उनकी स्त्रियां आदिके वंशोंमें देवता अवतरित हो रहे हैं, दैत्योंके विनाशका यह उपाय रचा गया है। यह कहकर वे चले गये। कंसने तुरत वसुदेव और देवकीको बेड़ियाँ डालकर कारागारमें बन्द कर दिया। और यदु, भोज और अन्धक वंशियोंके राजा अपने पिता उग्रसेनको भी पैरोंमें बेड़ियाँ डालकर कारागारमे बन्दकर स्वयं शासन करने लगा। (भा० १०।१)।

कंस और उसके भाइयों तथा साथियोंका वध करके भगवान्ने अपने माता-पिता श्रीवसुदेव-देवकीजीको बन्धनसे छुड़ाया। (भा० १०।४४)। माता-पिताको सान्त्वना देकर अपने नाना उग्रसेनको (बन्धनसे मुक्तकर) यदुवंशियोंका राजा बना दिया। और उनसे कहा—"महाराज हम आपकी प्रजा हैं। आप हम लोगोंपर शासन करें। ययातिका शाप होनेसे यदुवंशी राजसिंहासनपर नहीं बैठ सकते। *मैं स्वयंसेवक बनकर आपकी सेवा करता रहूँगा*, तब और राजाओंका तो कहना ही क्या, देवगण भी भेंट लाकर आपको

अर्पण करेंगे।' यथा "मातामहं तूग्रसेनं यदूनामकरोन्नृपम् ॥भा०१०।४५।१२। आह चास्मान् महाराज प्रजाश्चाज्ञप्तुमर्हसि। ययातिशापाद्यदुभिर्नासितव्यं नृपासने ॥१३। *मयि भृत्य उपासीने* भवतो विबुधादयः। बलिं हरन्त्यवनताः किमुतान्ये नराधिपाः।१४।" 'मयि भृत्य उपासीने'—में 'वेतकरधारी' का भाव आ गया। जैसे बलिके द्वारपाल वामनजी बने, वैसे ही उग्रसेनके द्वारपाल उनके प्रेमके वश श्रीकृष्णजी बने।

७ (घ) 'तुलसिदास प्रभु··· ' इति। (क) लोकपाल आदि आपकी आज्ञाका पालन करते हैं। यह प्रभुता है, अतः 'प्रभु' कहा। ऐसे प्रभुत्ववाले होकर उग्रसेनके द्वारपाल बने, उनके प्रेमसे। उग्रसेनके पैरोंमे बेड़ियाँ पड़ीं; वे कारागारमें डाल दिये गये, राज्य पुत्रने छीन लिया। यह सब कष्ट 'उन्हें' झेलने पड़े। क्यों ? इसलिए कि उनके वंश तथा सम्बन्धियोंमे देवगण तथा भगवान् स्वयं नरराजरूपोमे प्रकट हुए दैत्योंका संहार करनेके लिए, नरदेह धारण कर उत्पन्न होंगे। जैसा उपर्युक्त कथासे स्पष्ट है। 'लोकपाल... आज्ञाकारी'; यथा—'बलिं हरद्भिश्चिरलोकपालैः किरीट कोट्येडितपादपीठः।भा०३।२।२१।' अर्थात् चिरकालीन लोकपालगण नाना प्रकारकी पूजा सामग्रियाँ अर्पणकर अपने मुकुटोके अग्रभागसे उनके पादपीठकी वन्दना करते थे।

७ (ङ) वेतकरधारी' द्वारपाल बने, ऐसा स्पष्ट उल्लेख श्रीमद्भागवत और विष्णुपुराण तथा पद्मपुराणमें नहीं है। किस ग्रन्थसे है, इसका उल्लेख किसी टीकाकारने भी नहीं किया। उपर्युक्त भा० १०।४५।१२–१४ के अनुसार तो सेवक बनकर रहना और उनकी भुजाओंके आश्रित उग्रसेनका सब सुख भोग करना तथा दर्शनसे आनन्दित रहना ही अभिप्रेत है। हाँ, भा० ३।२।२२ मे उद्धवजीने विदुरजीसे कहा है कि "वे (भगवान् कृष्ण) ही राजसिंहासनपर बैठे हुए उग्रसेनके सामने *स्वयं खड़े होकर जो यों निवेदन करते थे कि 'देव ! सुनिये, इसपर विचार कीजिए' उनका वह दासभाव* हम भृत्योंको बड़ा खिन्न कर देता था।"—'तत्तस्य कैङ्कर्यमलं भृतान्नो विग्लापयत्यङ्ग यदुग्रसेनम्। तिष्ठन्निषण्णं परमेष्ठिधिष्ण्ये न्यबोधयद्देव विधारयेति।'—यह उद्धरण तुलसीदासजीके वाक्यके कुछ विशेष निकट पहुँच जाता है। या यों कहें कि गोस्वामीजीने 'द्वार वेतकरधारी।' शब्दोंसे वहाँका भाव स्पष्ट कर दिया है।

११ सू० शुक्रजी—'यह पराभक्ति का महात्म्य है। जैसे-जैसे प्रेमको दृढ़ करता हुआ भक्त परमात्माको स्वाधीन करता है वैसे ही वैसे भावनासे स्वाधीन

होता है और अभेद भावनासे तनमय हो जाता है। इसमे विषय वैराग्यसे अभ्यास द्वारा भावनाका दृढ होना ही मुख्य कारण है।

श्रीसीतारामचन्द्रार्पणमस्तु।

६६ (८५)

विरुदु[1] गरीब निवाजु[2] राम को।
गावत वेद पुरान संभु सुक प्रगट प्रभाउ[3] नाम को।१
ध्रुव प्रहलाद बिभीषन 'कपि*[4] जदुपति पंडव' सुदाम को।
लोक सुजस परलोक सुगति इन्हमै[5] को हो[6] राम काम को।२
गनिका कोल किरात आदिकवि इन्ह[7] तें अधिक बाम को।
[बाजिमेध कब कियो अजामिल गज गायक[8] कब साम को]३
छली मलीन हीन सबहीं अंग तुलसी सो[9] छीन छाम को।
नाम नरेस प्रताप प्रबल जग जुग जुग चलत[10] चाम को।४।

शब्दार्थ—गरीबनिवाज=गरीबों (दीनों) पर कृपा करनेवाले।७८ (६क), ८० (३ ग) देखिए। 'जदुपति' (यदुपति)=यदुवंशियोंके राजा उग्रसेन जिनपर भगवान्‌का प्रेम पिछले पदमें कहा गया है। वीर कविजीने 'ययाति' अर्थ किया है। यदुवंश ययातिके पुत्र यदुसे (जो देवयानीके गर्भसे उत्पन्न

१ बिरुदु—६६। बिरद—औरोंमें। २ निवाजु—६६, रा०। निवाज—प्रायः औरोंमे। ३ प्रभाउ—६६, रा०, पो०। प्रभाव—भा०, वे०, आ०, ५१, ७४।

* ४ कपि जदुपति पंडव—६६, रा०, ह०। कपि जदुपति पाडव—भा०। कपिपति जदुपति पाडव—वे०। कपिपति जड़ पतंग पाडव—५१, आ०। ५ मै—६६। में—आ०। ६ हो—६६, रा० (किसीने 'हो' का 'है' बनाया है)। हौ—ह०। हौ—दी०। है—भा०, वे०, ५१, ७४, आ०। ७ नृग—६६। इन्ह—अन्य सबोंमें। [ ] कोष्ठकान्तर्गत अन्तरा सं० १६६६ की पोथीमें छूटा हुआ है। इससे पाठका निश्चय करना कठिन है। ८ गायक कब—ह०, प्र०, ७४, ज०। गाये कब—भा०, वे०, ५१, डु०, मु०। गायो कब—दी०, वि०, पो०। रा० में 'गायकु ब'। शीशेसे देखनेसे जान पड़ता है कि 'न' को किसीने 'ब' बनाया है और 'कु' पर चिह्न देकर हाशिये पर 'क २' लिखकर 'गायकु कब' पाठ किया है। उकारकी मात्राभी दूसरेके हाथकी ही जान पड़ती है। इस पदका पाठ रा० और ह० से अधिक मिलता है, अतएव हम ह० का पाठ 'गायक कब' ले रहे हैं। ९ ऐसो—दी०। मु० में० 'सो' नहीं है। १० चलत—६६, रा०, ह०, ज०, मु०, डु०, वै०, च०। चालत—भा०, वे०,प्र०, ७४,दी०, वि०, पो०।

हुआ था) चला है; इससे 'ययाति' अर्थ ठीक नहीं जँचता । प्रायः 'यदुपति' शब्द श्रीकृष्णका वाचक माना जाता है, पर यह अर्थभी यहाँ संगत नहीं है। पंडव=पाण्डव । सुदाम=सुदामाजी । ये एक दरिद्र ब्राह्मण थे, जो श्रीकृष्णजीके सहपाठी और परम सखा तथा भक्त थे । हो = था (व्रजभाषा) । वाम = प्रतिकूल; कुमार्गगामी; खोटा । बाजिमेध = अश्वमेध यज्ञ । एक बड़ा यज्ञ जिसमे घोड़ेके मस्तकपर जयपत्र बाँधकर उसे भूमण्डलमे घूमनेके लिए छोड़ देते थे । इसकी रक्षाके लिए किसी वीर पुरुषको नियुक्त कर देते थे, जो सेना लेकर उसके पीछे पीछे चलता था । जिस किसी राजाको अश्वमेध करनेवालेका आधिपत्य स्वीकार नहीं होता था, वह उस घोड़ेको बाँध लेता और सेनासे युद्ध करता था । सेना अश्व बाँधनेवालेको पराजित तथा घोड़ेको छुड़ाकर आगे बढ़ती थी ' इस प्रकार जब वह घोड़ा सम्पूर्ण भूमण्डलमे घूमकर लौटता था, तब उसको मार कर उसकी चर्बीसे हवन किया जाता । यह यज्ञ केवल बड़े प्रतापी राजा करते थे; सालभरमें समाप्त होता था । सो=समान । हीन=रहित ।=नीच । छीन (क्षीण)=दुबला । छाम (क्षाम)=निकम्मा । (पं० रा० कु०) । छीन छाम=दुबले-पतले; मन्द; सुकृतहीन । अंग=साधन ।=प्रकार । चामको = चमड़ेका (सिक्का) । चलना=व्यवहारमें आना; लेन-देनके काममें आना; प्रचार पाना ।

पद्यार्थ—"गरीब निवाज" श्रीरामजीका बाना है । वेद, पुराण, शंकरजी तथा शुकदेवजी (यही) गाते हैं । (उनके) नामका प्रभाव (तो) प्रत्यक्ष ही है (सभीको विदित है) । १ । ध्रुवजी, प्रह्लादजी, विभीषणजी, सुग्रीव आदि वानर, यदुपति, पांडव और सुदामाजीको उन्होंने इस लोकमे सुयश और परलोकमे सद्गति दी (परन्तु) इनमेंसे श्रीरामजीके कामका (भला) कौन था ? (कोईभी तो नहीं) ।२। गणिका, कोल, भील और आदिकवि वाल्मीकि इनसे बढ़कर कुमार्गगामी कौन था ? अजामिलने कब अश्वमेधयज्ञ किया था और गजेन्द्र सामवेदका गायक कब था ? (कभी तो नहीं) । ३ । तुलसीदासके समान छल करनेवाला, मनका मैला, सब प्रकारसे नीच एवं सभी परमार्थ साधनोंसे रहित और दुबला-पतला (सुकृतहीन) कौन है ? (परन्तु) श्रीरामनामरूपी राजाके प्रबल प्रतापसे संसारमे युग-युगोंसे (अर्थात् अगणित युगोंसे प्रत्येक युगमें) चमड़ेका सिक्का चल रहा है। (अर्थात् हमारे ऐसे पापियोंको नाम युग-युगमें कृतार्थ करता चला आ रहा है) । ४ ।

टिप्पणी—१ (क) 'बिरुद गरीबनिवाजु रामको' इति । गरीब और

गरीब-निवाज दोनोंकी व्याख्या पूर्व हो चुकी है। 'तू गरीबको निवाज हौं। गरीब तेरो ।७८ (६) ।' 'न्यारो कै गनिबो जहाँ गने गरीब गुलाम ।७७ (३) ।' गरीब वे हैं जिनके पास न धन है, न कोई आधार है और न जिनको किसीका भरोसा है। 'गरीबनिवाज' श्रीरामजीका बाना है। यथा 'बालि बली बलसालि दलि, सखा कीन्ह कपिराज। तुलसी राम कृपालुको विरुद गरीबनिवाज। दो० १५८।' विरुद (बाना) का भाव कि कैसा भी दीन, हीन, मलिन, निराश्रय जो आपकी शरणमें आता है उसको आप निहाल कर देते हैं। यह आपका सहज स्वभाव है। लोकमे सुयश देते हैं और शरीरान्तपर सद्गति देते हैं।

१(ख) 'गावत वेद पुरान संभु सुक' को दीपदेहलीन्यायसे दोनों ओर ले सकते हैं। अर्थ होगा कि 'ये सब गरीबनिवाज विरुदको गाते हैं और रामजी के नामके प्रत्यक्ष प्रभावको गाते हैं।' गरीबविाज विरुद यह गाते है कि अमुक-अमुक कैसे गरीब थे, उनको श्रीरामजीने अपना लिया। कवि स्वयं आगे नाम गिनाते हैं। ऐसे ही नामके प्रभावको बखान करते हैं। पुनः 'प्रगट प्रभाउ नामको' अर्थात् नामका प्रभाव तो लोकमें प्रत्यक्ष है, सब जानते है। यथा "उलटा नाम जपत जग जाना। बालमीकि भए ब्रह्म समाना॥ श्वपच सबर खस जमन जड़ पॉवर कोल किरात। रामु कहत पावन परम होत *भुवन बिख्यात* ।२।१९४। नहिं अचिरिजु जुग-जुग चलि आई। केहि न दीन्हि रघुबीर बड़ाई। रामनाम महिमा सुर कहहीं।", 'आभीर जमन किरात खस श्वपचादि अति अघरूप जे। कहि नाम वारक तेपि पावन होहिं राम नमामि ते ।७।१३०।' यह वेदादिका सिद्धान्त है। यथा 'सर्ववेदेतिहासानां सारार्थोऽयमिति स्फुटम्। यद्रामनामस्मरणं क्रियते पाप-तारकम्। प० पु० पा० ३७।५१।' यह श्रीआरण्यकमुनिका वाक्य है।

२ 'ध्रुव प्रह्लाद बिभीषन कपि जदुपति पंडव सुदाम को।…' इति। (क) 'ध्रुव' की कथा पद ८६ नोट २ में, प्रह्लादकी ५२ (४घ), ५७(३) और ६३ (३ख) में दी जा चुकी है। विभीषणजी और कपि सुग्रीव आदिकी कथा रामचरित-मानससे सब जानते हैं। विभीषणजीका कुछ प्रसंग 'जीव भवदंघ्रि सेवक बिभीषन बसत मध्य दुष्टाटवी ग्रसित चिंता।' ५८(६) में आया है। यदुपति-उग्रसेन हैं, इनका प्रसंग 'तुलसिदास प्रभु उग्रसेन के द्वार बेंत करधारी। ९८(७)।' में आ चुका है। पांडवोंका प्रसंग पद १०६ 'पंडुसुत सुद्धता लेस कैसो' में दिया जायगा। युधिष्ठिर, भीमसेन, अर्जुन (ये तीनों कुन्तीके पुत्र हैं), नकुल और सहदेव (युधिष्ठिरकी विमाता माद्रीजीके पुत्र) हैं। ये पाँचों पाण्डुके पुत्र होनेसे पांडव कहलाए। सुदामाजीका परिचय शब्दार्थमें दिया

गया है। ये ऐसे गरीब थे कि घरमें लंघन हुआ करते थे, स्त्रीने जब श्रीकृष्ण जीके दर्शनको जानेका हठ किया, तो भेंट ले जानेको इनके घर एक मूठी चावल भी न था। पर थे ये भक्त और अकिंचन। शेष कथा आगे 'लै चिउरा निधि दई सुदामहिं जद्यपि बाल मिताई।१६३ (३)।' में दी जायगी।

२ (ख) 'इन्हमे को हो राम कामु को' इति। ध्रुवजीकी विमाता तथा पिता ने इनका तिरस्कार किया और सुनीति माताने भी श्रीभगवतशरण जाने तथा तपका उपदेश किया। उस बाल्यावस्थामें निराधार निराश्रय व वनको गए। यही इनकी गरीबी है। प्रह्लादजी तो बाल्यावस्थाहीसे 'दितिसुत-त्रास त्रसित' थे, पिताका सदैव इनपर कोप रहता था। वह इनके वधपर तुला था। राज्यमें कोई भी इनका सहायक न था। विभीषणजीको रावणने लात मारकर निकाल दिया था, तीनों लोकोंमें रावणसे इनको रक्षा करनेवाला कोई न था। सुग्रीव तो 'बालि-त्रास व्याकुल दिन राती। तनु बहु व्रन चिंता जर छाती।' था, ऐसे शोच-संकटमें पड़े हुएको कोई शरण देनेवाला न था। यदुपति कारागारमें पड़े थे, उनके पुत्र कंसने ही उनको राज्यसे उतारकर कैद कर रक्खा था। पाण्डवोंपर जो-जो विपत्तियाँ पड़ी उनका उल्लेख कुछ 'भूप सदसि सब नृप बिलोकि'' ।९३ (४)।' में हुआ; शेष आगे 'सुधो कहा जो न कियो सुजोधन''' ।१३७(४)।' में दी गई है। ये सब स्वयं अत्यन्त दीन हो रहे थे, ये भला भगवान्के किस काममें आ सकते थे? सभी स्वयं पीड़ित रहे। भगवान्ने इनकी गरीबीको देखकर इनपर कृपा की। क्योंकि उनका बाना है 'गरीबोंपर कृपा करना।'

२(ग) 'लोक सुजस परलोक सुगति' इति। क्या कृपा की सो बताते हैं। वे क्या लेकर आये और उनको मिला क्या? वे केवल दीनता (गरीबी) लेकर आये थे और कुछ तो उनके पास था ही नहीं। मिला, सो सुनिये। भा० ४।९।१९-२५ में ध्रुवजीको प्रभुने वर दिया कि "तेरे पिता तुझे राज्य देकर जब वनको चले जायँगे तब तू छत्तीस हजार वर्षतक बिना इन्द्रियशक्तिका ह्रास हुए धर्म-में स्थित रहकर पृथिवीका शासन करेगा। तू मुझ यज्ञमूर्तिका बड़ी-बड़ी दक्षिणावाले यज्ञोंसे यजन करेगा और यहाँ नाना प्रकारके उत्तम भोग भोग-कर अन्तकालमें मेरा स्मरण करेगा। तब तू सम्पूर्ण लोकोंसे वन्दनीय और सप्तर्षिलोकसे भी ऊपर मेरे निजधामको जायगा जहाँ पहुँचनेपर फिर संसार-में नहीं लौटना होता।—'ततो गन्तासि मत्स्थानं सर्वलोकनमस्कृतम्। उपरि-ष्टादृषिभ्यस्त्वं यतो नावर्तते गतः। श्लो० २५।' इस तेजोमय ध्रुवलोकमें ग्रह, नक्षत्र और तारागणरूप ज्योतिश्चक्र स्थित हैं। नक्षत्रगण एवं धर्म, अग्नि, कश्यप और शुक्र आदि वनवासी मुनिगण इसकी प्रदक्षिणा करते हुए घूमा करते हैं।

(भा० ४।६।२२,२४,२५,२०,२१) ।"—मानसमें भी कहा है—'ध्रुव सगलानि जपेउ हरि नाऊँ। पायउ अचल अनूपम ठाऊँ ।१।२६।५।'

प्रह्लादजी—ये निष्काम भक्त थे। इन्हें लौकिक पारलौकिक किसी प्रकारके भोगोंकी कामना नहीं थी। तो भी भगवान्‌ने आज्ञा दी कि इस मन्वन्तरकी समाप्तितक इस लोकमें दैत्येश्वरोंके सम्पूर्ण भोग भोगो··· कालक्रमसे शरीर छूटनेपर देवलोकमें गाई जानेवाली अपनी पवित्र कीर्तिका विस्तारकर सब प्रकारके कर्म बन्धनसे मुक्त हो अन्तमें मुझे ही प्राप्त हो जाओगे। (भा० ७।१०।११।१३)। लोकमें सुयश और भी मिला। प्रभुने आशीर्वाद दिया कि 'जो तुम्हारा अनुकरण करेंगे, वे मेरे भक्त हो जायँगे। निश्चय ही, तुम मेरे सम्पूर्ण भक्तोंमें आदर्शस्वरूप हो।'—'भवान्मे खलु भक्तानां सर्वेषां प्रतिरूपधृक्। भा० ७।१०।२१।' नाम जपत प्रभु कीन्ह प्रसादू। भगत-सिरोमनि भे प्रहलादू। १।२६।४।', 'सेवक एक तें एक अनेक भए तुलसी तिहुँ ताप न डाढ़े। प्रेम बदौं प्रहलादहिं को, जिन्ह पाहन तें परमेश्वर काढ़े। क० ७।१२७।'—यह सब सुयश है। वे द्वादश महाभागवतोंमें गिने गये हैं।

विभीषणजी—ये हरिवल्लभोंमें गिने गये हैं। इनको एक कल्पतक लंकाका राज्य भोगनेको मिला और अन्तमें रामधाम। यथा 'दससीस-विरोध सभीत विभीषन भूप कियो जग लीक रही। क० ७।१०।', 'करेहु कलप भरि राज तुम्ह मोहि सुमिरेहु मन माहि। पुनि मम धाम पाइहहु जहाँ संत सब जाहिं।६।११५।' प्रभुने इनको सखा बानया।

कपि सुग्रीव—इनको किष्किन्धाका राज्य मिला। प्रभुके सखा हुए और अन्तमें प्रभु इनको अपने साथ अपने धामको ले गए। सुग्रीव अंगदको राज्य देकर श्रीरामजीके साथ जानेके लिये अयोध्या आये। श्रीरामजीने उनसे कहा—"सखे मैं तुम्हारे बिना देवलोक और महान् परमपद या परमधाममें भी नहीं जा सकता।" (वाल्मी० ७।१०८।२३,२५)।

जाम्बवान्, अंगद, नीलादि सब वानरोंको प्रभुने सखा करके माना। इन सबको अपना-सा सुयश दिया। यथा 'मोहि सहित सुभ कीरति तुम्हारी परम प्रीति जो गाइहैं। संसारसिंधु अपार पार प्रयास बिनु नर पाइहैं। ६।१०५।' सभी कपि दीन थे, इसीसे उन्हें प्रभुने अपनाया। यथा 'दीन जानि कपि किये सनाथा। ६।११७।८।'

यदुपति श्रीउग्रसेन—इनको यदुवंशियोंका राजा बनाया, स्वयं द्वारपाल बने, जिससे इन्द्रादि भी इनकी आज्ञामें रहते थे। श्रीकृष्ण-लीला-संवरण तक ये रहे। फिर परलोकको गए।

गया है। ये ऐसे गरीब थे कि घरमें लंघन हुआ करते थे, स्त्रीने जब श्रीकृष्ण जीके दर्शनको जानेका हठ किया, तो भेंट ले जानेको इनके घर एक मूठी चावल भी न था। पर थे ये भक्त और अकिंचन। शेष कथा आगे 'ले चिउरा निधि दई सुदामहिं जद्यपि बाल मिताई।१६२ (३)।' में दी जायगी।

२ (ख) 'इन्हमे को हो राम कामु को' इति। ध्रुवजीकी विमाता तथा पिता ने इनका तिरस्कार किया और सुनीति माताने भी श्रीभगवतशरण जाने तथा तपका उपदेश किया। उस बाल्यावस्थामे निराधार निराश्रय वनको गए। यही इनकी गरीबी है। प्रह्लादजी तो बाल्यावस्थाहीसे 'दितिसुत-त्रास त्रसित' थे, पिताका सदैव इनपर कोप रहता था। वह इनके वधपर तुला था। राज्यसे कोई भी इनका सहायक न था। विभीषणजीको रावणने लात मारकर निकाल दिया था, तीनों लोकोंमें रावणसे इनकी रक्षा करनेवाला कोई न था। सुग्रीव तो 'बालि-त्रास व्याकुल दिन राती। तनु बहु व्रन चिंता जर छाती।' था, ऐसे शोच-संकटमें पड़े हुएको कोई शरण देनेवाला न था। यदुपति कारागारमें पड़े थे, उनके पुत्र कंसने ही उनको राज्यसे उतारकर कैद कर रक्खा था। पाण्डवोंपर जो-जो विपत्तियाँ पड़ीं उनका उल्लेख कुछ 'भूप सदसि सब नृप बिलोकि··· ।६३ (४)।' में हुआ; शेष आगे 'सुधा कहा जो न कियो सुजोधन··· ।१३७(४)।' में दी गई है। ये सब स्वयं अत्यन्त दीन हो रहे थे, वे भला भगवान्‌के किस काममें आ सकते थे? सभी स्वयं पीड़ित रहे। भगवान्‌ने इनकी गरीबीको देखकर इनपर कृपा की। क्योंकि उनका बाना है 'गरीबोंपर कृपा करना।'

२(ग) 'लोक सुजस परलोक सुगति' इति। क्या कृपा की सो बताते हैं। वे क्या लेकर आये और उनको मिला क्या? वे केवल दीनता (गरीबी) लेकर आये थे और कुछ तो उनके पास था ही नहीं। मिला, सो सुनिये। भा० ४।९।१९-२५ में ध्रुवजीको प्रभुने वर दिया कि "तेरे पिता तुझे राज्य देकर जब वनको चले जायँगे तब तू छत्तीस हजार वर्षतक बिना इन्द्रियशक्तिका ह्रास हुए धर्म-में स्थित रहकर पृथिवीका शासन करेगा। तू मुझ यज्ञमूर्तिका बड़ी-बड़ी दक्षिणावाले यज्ञोंसे यजन करेगा और यहाँ नाना प्रकारके उत्तम भोग भोग-कर अन्तकालमे मेरा स्मरण करेगा। तब तू सम्पूर्ण लोकोंसे वन्दनीय और सप्तर्षिलोकसे भी ऊपर मेरे निजधामको जायगा जहाँ पहुँचनेपर फिर संसार-में नहीं लौटना होता।—'ततो गन्तासि मत्स्थानं सर्वलोकनमस्कृतम्। उपरिष्टादृषिभ्यस्त्वं यतो नावर्तते गतः। श्लो० २५।' इस तेजोमय ध्रुवलोकमें ग्रह, नक्षत्र और तारागणरूप ज्योतिश्चक्र स्थित हैं। नक्षत्रगण एवं धर्म, अग्नि, कश्यप और शुक्र आदि वनवासी मुनिगण इसकी प्रदक्षिणा करते हुए घूमा करते हैं।

(भा० ४।६।२२,२४,२५,२०,२१) ।"—मानसमें भी कहा है—'ध्रुव सगलानि जपेउ हरि नाऊँ। पायउ अचल अनूपम ठाऊँ ।१।२६।५।'

प्रह्लादजी—ये निष्काम भक्त थे। इन्हें लौकिक पारलौकिक किसी प्रकारके भोगोंकी कामना नहीं थी। तो भी भगवान्‌ने आज्ञा दी कि इस मन्वन्तरकी समाप्तितक इस लोकमें दैत्येश्वरोंके सम्पूर्ण भोग भोगो''' कालक्रमसे शरीर छूटनेपर देवलोकमें गाई जानेवाली अपनी पवित्र कीर्ति-का विस्तारकर सब प्रकारके कर्म बन्धनसे मुक्त हो अन्तमें मुझे ही प्राप्त हो जाओगे। (भा० ७।१०।११।१३)। लोकमें सुयश और भी मिला। प्रभुने आशीर्वाद दिया कि 'जो तुम्हारा अनुकरण करेंगे, वे मेरे भक्त हो जायँगे। निश्चय ही, तुम मेरे सम्पूर्ण भक्तोंमें आदर्शस्वरूप हो।'—'भवान्मे खलु भक्तानां सर्वेषां प्रतिरूपधृक्। भा० ७।१०।२१।' नाम जपत प्रभु कीन्ह प्रसादू। भगत-सिरोमनि भे प्रहलादू। १।२६।४।', 'सेवक एक तें एक अनेक भए तुलसी तिहुँ ताप न डाढ़े। प्रेम बदौं प्रहलादहि को, जिन्ह पाहन तें परमेश्वर काढ़े। क० ७।१२७।'—यह सब सुयश है। वे द्वादश महाभागवतोंमें गिने गये हैं।

विभीषणजी—ये हरिवल्लभोंमें गिने गये हैं। इनको एक कल्पतक लंकाका राज्य भोगनेको मिला और अन्तमें रामधाम। यथा 'दससीस-विरोध सभीत विभीषन भूप कियो जग लीक रही। क० ७।१०।', 'करेहु कलप भरि राज तुम्ह मोहि सुमिरेहु मन माहि। पुनि मम धाम पाइहहु जहाँ संत सब जाहि।६।११५।' प्रभुने इनको सखा बानया।

कपि सुग्रीव—इनको किष्किन्धाका राज्य मिला। प्रभुके सखा हुए और अन्तमें प्रभु इनको अपने साथ अपने धामको ले गए। सुग्रीव अंगदको राज्य देकर श्रीरामजीके साथ जानेके लिये अयोध्या आये। श्रीरामजीने उनसे कहा—"सखे मैं तुम्हारे बिना देवलोक और महान् परमपद या परमधाममें भी नहीं जा सकता।" (वाल्मी० ७।१०८।२३,२५)।

जाम्बवान्, अंगद, नीलादि सब वानरोंको प्रभुने सखा करके माना। इन सबको अपना-सा सुयश दिया। यथा 'मोहि सहित सुभ कीरति तुम्हारी परम प्रीति जो गाइहैं। संसारसिंधु अपार पार प्रयास बिनु नर पाइहैं। ६।१०५।' सभी कपि दीन थे, इसीसे उन्हें प्रभुने अपनाया। यथा 'दीन जानि कपि किये सनाथा। ६।११७।८।'

यदुपति श्रीउग्रसेन—इनको यदुवंशियोंका राजा वनाया, स्वयं द्वारपाल बने, जिससे इन्द्रादि भी इनकी आज्ञामें रहते थे। श्रीकृष्ण-लीला-संवरण तक ये रहे। फिर परलोकको गए।

पाण्डव—भगवान्‌ने इनकी रक्षा पग-पग पर की। इनकी सारी प्रतिज्ञाओंकी रक्षा की। महाभारतमें इनके सभी शत्रु मारे गये और ये विजयी हो चक्रवर्ती राजा हुए। कथायें प्रायः लोग जानते हैं। लोकमें इनकी कीर्ति अब भी फैली हुई है। यथा 'सु धौं कहा जो न कियो सुजोधन अबुध आपने मान जरै। प्रभु प्रसाद सौभाग्य विजै जस पंडुतनै बरिआइ बरै। १३७ (४)।'– विशेष रक्षाकी कथायें १३७ (४) में दी गई हैं। अन्तमें सबकी सद्‌गति हुई, महाभारत महाप्रस्थानिक और स्वर्गारोहण पर्व हो इस सम्बंधके हैं। भा० १।१५ में भी कुछ प्रसंग वर्णित हैं जिनमें श्रीकृष्णजीने रक्षा की है। पाण्डवोंने भगवान्‌के स्वरूपमें एकाग्रचित्त हो अपने शुद्ध आत्मस्वरूपसे वह गति प्राप्त की जो विषयासक्त असत् पुरुषोंके लिये अत्यन्त दुर्लभ है। यथा "तस्मिन्नारायणपदे एकान्तमतयो गतिम्। ४७। अवापुर्दुरवापां ते असद्भिर्विषयात्मभिः। विधूतकल्मषाः स्थानं विरजेनात्मनैव हि। ४८। भा० १।१५)।

श्रीसुदामाजी—इनको लोकमें सुयश मिला। श्रीकृष्णजीके अन्तःपुरकी स्त्रियाँ अत्यन्त विस्मित हो आपसमें कहने लगीं—'इस मैले कुचैले निर्धन, निन्दनीय और निकृष्ट भिखमंगेने ऐसा कौन-सा पुण्य किया है जिससे त्रिलोकीमें सबसे बड़े भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं इसका आदर-सत्कार कर रहे हैं। देखो तो सही, इन्होंने अपने पलंगपर सेवा करती हुई स्वयं श्रीरुक्मिणीजीको छोड़कर इस ब्राह्मणको अपने बड़े भाई बलरामके समान हृदयसे लगाया है।' एक मुट्ठी च्यूड़ा खाकर भगवान्‌ने उनको इस लोकमें तथा मरनेके बाद परलोकमें भी समस्त संपत्तियोंकी समृद्धि प्राप्त कर दी। घरको लौटते समय कुछ दूर तक भगवान् उन्हें पहुँचाने गए और विनय आदिसे उनको संतुष्ट कर नमस्कारकर लौट आए। प्रत्यक्षरूपसे सुदामाजीको कुछ न दिया। पर जब वे अपने घरके निकट पहुँचे तो देखा कि वहाँ तो मानों इन्द्रपुरी ही बसी है। वे बड़े सोचमें पड़ गए। ब्राह्मणीने जब आकर उन्हें प्रणाम किया और प्रेमसे महलमें ले गई, तब उन्होंने सोचा कि इस ऐश्वर्यका कारण श्रीकृष्णके कृपाकटाक्षके अतिरिक्त और कुछ नहीं है। यह सब उनकी करुणाकी देन है। (भा० १०।८१।३३)। सम्पत्ति पानेपर भी वे त्यागपूर्वक अनासक्तभावसे अपनी पत्नीके साथ भगवत्प्रसादस्वरूप विषयोंको ग्रहण करने लगे और दिनोंदिन उनकी प्रेमभक्ति बढ़ती गई। ब्राह्मण सुदामाने देख लिया कि भगवान् यद्यपि अजित और स्वतन्त्र हैं, तो भी वे अपने सेवकोंके अधीन हो जाते हैं। वे उनके ध्यानमें तन्मय हो गए, उनकी अविद्याकी गाँठ कट गई और

उन्होंने सन्तोंके एकमात्र आश्रय भगवान्के धामको प्राप्त किया। यथा—"एवं स विप्रो भगवत्सुहृत्तदा दृष्ट्वा स्वभृत्यैरजितं पराजितम्। तद्ध्यानवेगोद्ग्रथितात्मबन्धनस्तद्धाम लेभेऽचिरतः सतां गतिम्। भा० १०।८१।४०।'

टिप्पणी—३ 'गनिका कोल किरात आदिकवि ···' इति। (क) एक गणिका वैश्य जातिकी थी, जो विधवा होनेपर व्यभिचार करते-करते वेश्या हो गई थी। दूसरी एक पिंगला नामकी वेश्या थी। दोनोंकी कथा पद ६४ (३) में आ चुकी है।

(ख) कोल किरातोंने स्वयं अपनी वामताका वर्णन किया है; यथा "हम जड़ जीव जीवगनघाती। कुटिल कुचाली कुमति कुजाती॥ पाप करत निसि बासर जाहीं। नहि पट कटि नहि पेट अघाहीं॥ सपनेहु धरमबुद्धि कस काऊ। २।२५१।४-७।"

(ग) आदिकवि श्रीवाल्मीकिजीकी वामताकी कथा पद ५७ (३ च) तथा ६४ (३) में 'व्याध' वाली कथा है। पूर्व ये व्याधा हो गए थे, न जाने कितनी ब्रह्महत्या तथा जीवहत्या की थी।

(घ) 'इन्ह तें अधिक बाम को' अर्थात् इनसे बढ़कर वाममार्गी, कुटिल स्वभाववाला कोई नहीं था। सं० १६६६ की प्रतिलिपिमें 'इन्ह' की जगह 'नृग' पाठ है। 'नृग'-पाठसे सात-सातकी गिनती गरीबों और नामसे तर जानेवाले दोनोंमें हो जाती है। परन्तु 'नृग' बाम था इसमें संदेह होता है। अन्य सभी प्रतिलिपियोंमें 'इन्ह' पाठ है। संभव है कि कविने ही पीछे 'इन्ह' पाठ शुद्ध किया हो। हमने भी 'इन्ह' पाठ समीचीन समझ कर लिया है।

३ (ङ) 'बाजिमेध कब कियो अजामिल' इति। भाव कि अजामिलने तो मरते दमतक पाप ही किये थे। पापोंके प्रायश्चित्तके लिये कभी अश्वमेध यज्ञ नहीं किया था। इसी तरह आगे पद १०६ में भी ऐसा ही कहा है। यथा 'कौन धौं सोमजाजी अजामिल अधम··· ।' यज्ञ पापोंके प्रायश्चित्तके लिये किये जाते हैं। अश्वमेध यज्ञसे पापका नष्ट होना वाल्मीकिजीने भी कहा है। यथा "धूमगन्धं वपायास्तु जिघ्रति स्म नराधिपः। यथाकालं यथान्यायं निर्णुदन् पापमात्मनः। वाल्मी० १।१४।३७।" अर्थात् राजा दशरथने हवनके धूमकी गन्ध समयपर विधानके अनुसार सूँघी, जिससे राजाके पाप दूर हुए।

३ (च) 'गज गायक कब साम को' इति। सामवेदके गानसे पाप दूर होते हैं। सामवेदोंके सम्बन्धमें भगवान्के वाक्य हैं—'वेदानां सामवेदोऽस्मि। गीता १०।२२।' (ऋक्, यजु., साम और अथर्व इन चारों वेदोंमें

श्रेष्ठ जो सामवेद है, वह मैं हूँ। जब वे ही सामवेद हैं, तब सामगानसे पाप नष्ट होनेमें आश्चर्य क्या ?), 'वेदेषु सामवेदश्च प्रशस्तः सर्वकर्मसु।' (ब्रह्मवैवर्त श्रीकृष्णजन्म खंड उ० ७७।२। अर्थात् वेदोंमें सामवेद सभी कर्मोंमें सर्वोत्तम है)। पुनश्च 'सामानि कूष्माण्डानि पावमान्यः सावित्री चेति पावनानि।' (वशिष्ट धर्मसूक्त २२।८। अर्थात् गायत्री और सामवेद परम पवित्र हैं), 'साम्नां वा सरहस्यानां सर्वपापैः प्रमुच्यते।' (सामवेदकी ब्राह्मणसंहिताके पाठसे सम्पूर्ण पाप छूट जाते हैं। मनुस्मृति ११।२६२), 'ज्येष्ठ साम्नामन्यतमं ·· पावमानानि' (पवित्र करनेवालोंमें सामवेद सर्वोत्तम है। गौतम धर्म-सूत्र ३।१।१२)।

इसने सामका गान नहीं किया, तब तरा कैसे ? नाम लेनेसे ही तो। यथा 'तऱ्यो गयन्द जाके एक नाँय।८३ (६)।'

३ (छ) गणिका, कोल-किरात, आदिकवि, अजामिल और गज ये उदाहरण 'प्रगट प्रभाउ नामको' के दिये। अन्यत्र भी नामके प्रसंगमें प्रायः इनके नाम देते हैं। यथा 'सो धौं को जो नाम-लाज ते नहिं राख्यो रघु-बीर।···वेद विदित जग विदित अजामिल विप्रबंधु अघधाम। घोर जमा-लय जात निवाऱ्यो सुत हित सुमिरत नाम॥ पसु पाँवर अभिमानसिंधु गज ग्रस्यो आइ जब ग्राह। सुमिरत सकृत सपदि आये प्रभु हऱ्यो दुसह उर दाह॥ व्याध निषाध गीध गनिकादिक अगनित अवगुनमूल। नाम ओट ते राम सबनि की दूर करी सब सूल।१४४।'—इस उद्धरणमें 'गीध' का नाम अधिक है। व्याध आदिकवि थे ही कोल-किरात निषाद एवं उसके परिजन और प्रजा हैं, यह कोल-किरातोंने स्वयं अवधवासियोंसे कहा है। यथा 'कोल-किरात भिल्ल बनवासी।···राम कृपाल निषाद नेवाजा। परिजन प्रजउ चहिअ जस राजा।२।२५०।१,८।' अजामिलकी कथा पद ५७ (३ झ) तथा ६७ (४ क-ख) में आ चुकी है। गजेन्द्रकी कथा पद ५७ (३ छ), ८३ (६ ग) तथा ६४ (३ मे दी गई है।

टिप्पणी—४ 'छली मलीन हीन सब ही अंग तुलसी···' इति। (क) छली हूँ, यथा 'रामको कहाइ दासु दगाबाज पुनी सो। क०७।७२।', 'मेरे जान जबते हौं जीव ह्वै जनम्यो जग, तब ते बेसाह्यो दाम लोह कोह काम को। मन तिन्हही की सेवा तिनही सो भाउ नीको, वचन बनाइ कहौं 'हौं गुलाम रामको। क० ७।७०।', 'वंचक भगत कहाइ राम के। किंकर कंचन कोह काम के॥ तिन्ह महँ प्रथम रेख जग मोरी। १।१२।३-४।'

(ख) 'मलीन हीन सब ही अंग' अर्थात् मन वचनसे मलिन हूँ और सब प्रकार हीन हूँ तथा सब साधनोंसे हीन हूँ। यथा 'सब अंग

हीन, सब साधन बिहीन, मन बचन मलीन, हीन कुल करतूति हौं। बुधि बलहीन, भाव-भगति-बिहीन, हीन गुन, ज्ञानहीन, हीन भाग हूँ बिभूति हौं ॥ क० ७।६६।' (इसमें योगके अंगोंसे, साधनोंसे, कुल करतूतिसे, बुद्धिबलसे, भाव-भक्तिसे, गुण और ज्ञानसे तथा भाग्य और विभूतिसे हीन कहा है—यह सब 'हीन सबही अंग' के भावमें ले सकते हैं। पद ४१ के 'दीन सब अंग हीन छीन मलीन···' में भी व्याख्या आ चुकी है। पाठक वहाँ भी देखें। मन कुमनोरथोंसे, विषयासक्तिसे मलिन है, और वचन असत्य भाषण, परनिन्दा आदिसे मलिन हैं। यथा 'मन मलिन बिषय संग लागे।', 'परनिंदा सुनि श्रवन मलिन भे बचन दोष-पर गाए।' (पद ८२), '··कुमनोरथ मलिन मन पर-अपवाद मिथ्यावाद बानी हुई। २५२।' [पुनः, सकल अंग अर्थात् धर्मके अंग (पूजा, जप आदि) ज्ञानके अंग विवेक वैराग्य आदि, योगके अंग यम नियम आदि और भक्तिके अंग श्रवण कीर्तन आदि इत्यादि सब अंगोंसे हीन। (वै०)। अर्थात् कर्म-ज्ञान-उपासना काण्डत्रय-रहित।]

४ (ग) 'तुलसी सो छीन छामको' इति। अर्थात् मेरे समान गणिका, अजामिल, गज आदि कोई भी नहीं हैं, मैं इन सबोंसे अधिक अधम हूँ, मंद और सुकृतहीन हूँ। यथा 'तुलसी अधिक अधमाईहू अजामिल ते, ताहूसे सहाय कलि कपटनिकेतु है। क०७।८२।,' विनयके उपर्युक्त उद्धृत पद १४४ में अजामिल, गज, गणिका आदिको गिनाकर तब कहा है कि 'नाम ओट ते राम सबनि की दूरि करी सब सूल। केहि आचरन घाटि हौं तिन्ह तें रघुकुलभूषन भूप।' वही भाव यहाँ है कि मैं उनसे सब आचरणोंमें अधिक हूँ, उनको आपने जैसे-कैसेहू नामकी ओटसे ही तारा, अतः उसी नातेसे मेरी भव-भीर भी हरिये। यथा "का कियो जोगु अजामिल जू, गनिका कबही मति पेम पगाई। व्याध को साधुपनो कहिए, अपराध अगाधनि में ही जनाई॥ करुनाकर की करुना करुना हित, नाम सुहेत जो देत दगाई। काहे को खीझिअ, रीझिअ पै तुलसिहुँ सों है, बलि सोइ सगाई। क० ७।९३।'

४ (घ) 'नाम नरेस प्रताप प्रबल···' इति। भाव यह कि प्रभुका प्रताप बलवान है, पर प्रभुके नामका प्रताप प्रबल है, अधिक बलवान है। यथा 'नाथहू न अपनायो, लोक झूठी ह्वै परी पै, प्रभुहू तें प्रबल प्रतापु प्रभु नाम को। क० ७।७०।', 'राम तें अधिक नाम करतब जेहि किये नगर-गत गामो। भए बजाइ दाहिने जो जपि तुलसिदास से बामो। २२८।' इस कथनसे जनाते हैं कि मुझे आपके नामका पूर्ण भरोसा है। मानसमें

भी नामको रामजीसे बड़ा कहा और सिद्ध किया है (बालकांड दोहा २३ से २६ तक)। पुनश्च यथा 'नामु राम रावरो सयानो किधौं बावरो, जो करत गिरि तें गरु तृन तें तनकको। क० ७।७३।' भगवान्‌ने अपने नाममें अपनेसे अधिक शक्ति स्थापित कर दी है। यथा 'स्वयं नारायणो देवः स्वनाम्नि जगतां गुरुः। आत्मनोऽभ्यधिकां शक्तिं स्थापयामास सुव्रताः। प० पु० स्वर्ग ५०।२४।'—ये श्रीसूतजीने उत्तम व्रतका पालन करनेवाले शौनक आदि महर्षियोंसे कहा है।

४ (ङ) 'जुग जुग चलत चाम को' इति। भाव यह है कि श्रीरामनामके प्रतापसे नीचसे नीच कुटिलशिरोमणि अधमाधम प्रत्येक युगमें अपनाये गए हैं, अतएव मुझे पूर्ण विश्वास है कि उसी प्रतापके बलसे मेरा भी उद्धार होगा, मुझपर भी गरीबनिवाज कृपा करेंगे। ऊपर जो उदाहरण दिये हैं उनमेंसे ध्रुवजी, गज, अजामिल और गणिका सत्ययुगके थे; प्रह्लादजी सत्ययुग और त्रेतायुगकी संधिमें हुए, उस संधिमें ही हिरण्यकशिपुका वध हुआ; सुग्रीव आदि कपि, विभीषण, कोल, किरात और आदिकवि त्रेतामें हुए और यदुपति, पाण्डव और सुदामाजी द्वापरके हैं। कलियुगमें तो नामके प्रभावसे तरनेके उदाहरण भक्तमालोंमें भरे पड़े हैं, रह गया तुलसीदासजीने अपना नामही प्रकट रूपसे दिया है कि दूसरोंकी बात ही क्या, मैं जैसा हूँ सब जानते हैं, नामसे मैं क्या हो गया सो प्रकट प्रमाण देख लो। यथा 'रामनाम महिमाकरै कामभूरुह आको। साखी बेद पुरान हैं तुलसी तन ताको।१५२।', 'मन मलीन कलि किलविषी होत सुनत जासु कृत काज। सो तुलसी कियो आपनो रघुबीर गरीबनेवाज। १६१।; 'औरनि की कहा चली, एकै बात भले भली, रामनाम लिये तुलसीहू से तरत।२५१।'', 'मंदमति कुटिल खलतिलकु तुलसी सरिस, भयो न तिहुँ लोक तिहुँ काल कोऊ। नाम की कानि पहिचानि पन आपनो, ग्रसत कलिकाल (व्याल) राख्यो सरन सोऊ। १०६।', 'रामनाम को प्रभाउ पाउ महिमा प्रतापु, तुलसी सो जग मनिअत महामुनी सो। क० ७।७२।' इत्यादि।

'युग युग', यथा 'खग मृग सबर निसाचर सबकी पूँजी बिनु बाढ़ी सई॥ जुग जुग कोटि कोटि करतब करनी न कछू बरनी नई। रामभजन महिमा हुलसी हिय तुलसीहू की बनि गई। गी० ५।३७।', 'उलटा नाम जपत जग जाना। बालमीकि भए ब्रह्म समाना। स्वपच सबर खस जमन जड़ पाँवर कोल किरात। राम कहत पावन परम होत भुवन विख्यात। २।१६४। नहि अचिरिजु जुग जुग चलि आई। केहि न दीन्हि रघुबीर बड़ाई॥'

४ (च) 'चलत चाम को' इति। कवितावलीमें भी कहा है—'रामराज सुनिअत राजनीति की अवधि, नाम राम रावरो तौ चाम की चलाई है। क० ७।७४।' 'चाम का चलाना' मुहावरा है। ऐसा प्रसिद्ध है कि निजाम नामक एक भिश्तीने हुमायूँ बादशाहको डूबनेसे बचाया था और इसके बदलेमें उसने आधे दिनकी बादशाही पाई थी। उसी आधे दिनके राज्यमें उसने चमड़ेके सिक्के चलाये थे। तबसे यह मुहावरा हो गया है 'अपनी जबरदस्तीके भरोसे कोई काम करनेका'। इसीसे नामके प्रतापको प्रबल कहा। कैसाही महापापी क्यों न हो, जो नाम-नरेशकी ओट लेता है उसको वे अपना लेते हैं। अजामिलके प्रसंगमें इनका प्राबल्य प्रकट है। यवनका प्रसंग भी ऐसा ही है। जो बात नही हो सकती, उसको कर देना यह 'चामका सिक्का चलाना' है।

चमड़ेका सिक्का चलनेसे चमड़ा भी सोनेके मूल्यका हो गया। गोस्वामी-जीके पूर्व चमड़ेका सिक्का चल चुका था, इससे उन्होंने उसका दृष्टान्त दिया। यदि वे आज होते तो सम्भवतः 'कागजके सिक्के' की चर्चा करते।

[वैजनाथजी लिखते हैं कि "सिक्का प्रायः सोना, चाँदी, ताँबा (या पीतल) का चलता है। वैसे ही उपासना, ज्ञान और कर्म तीन सिक्के वेदोंमें प्रमाण हैं। उपासना सोनेका, ज्ञान चाँदीका और कर्मकांड ताँबेका सिक्का है। ये ही सदा चलते हैं। कर्म-ज्ञान-उपासनारहित ऊँच नीच, कैसा भी पापी पतित हो श्रीरामनामका स्मरण करते ही वह सर्वोच्च गतिको प्राप्त हो जाता है—यह चामका सिक्का है जो नाम-नरेशका चल रहा है।"]

सू० शुक्ल—भगवान्में दृढ़ विश्वास लाना ही कल्याणकारी है, क्योंकि जीव कभी निर्दोष नहीं हो सकता। भक्तको अपनी जीवत्वदशा देखते हुये भगवच्छरण होनेमें पार मिलता है।

श्रीसीतारामचन्द्रार्पणमस्तु।

१०० (८४)

सुनत[1] सीतापति सील सुभाउ।
मोद न मन तन पुलक नयन जलु सो नर खेह[2] खर खाउ॥ १॥

---

१ सुनत—६६, रा०, भा०, वे०, ह०, ज०, ७४। सुनि—प्र०, ५१, श्रा०। २ खेह खर—६६, रा०, मु०, ५१। खेहहि—ह०, भा०, वे०, प्र०। खेहर—७४, श्रा०। डु० मे अर्थ 'खेह खर' का है, इससे जान पड़ता है कि मूल अशुद्ध छपा है। बक्सर रामदासकी प्रतिलिपिमे 'खेह खर' ही है।

सिसुपन तें पितु मातु बंधु प्रिय/गुर* सेवक सचिव सखाउ।
कहत राम विधु वदन रिसौंहों[4] सपनेहुँ लख्यो न काउ ॥ २ ॥

खेलत संग अनुज बालक नित जुगवत अनट अपाउ।
जितें[5] हारि चुचुकारि दुलारत देत देवावत[6] दाउ ॥ ३ ॥

सिला साप[7] संताप विगत भइ परसत पावन पाउ।
दई सुगति सो[8] न हेरि हरषु[9] हियं चरन छुए को[10] पछिताउ ॥ ४ ॥

भवधनु भंजि निदरि भूपति भृगुनाथ खाइ गये[11] ताउ।
छमि अपराध छमाइ पायं परि इतो[12] न अनत समाउ ॥ ५ ॥

कह्यो राजु बनु दियो नारि-बस गरि गलानि गयो[13] राउ।
ता कुमातु को मन जुगवत[14] ज्यों निज तन मरम कुघाउ ॥ ६ ॥

कपि सेवा बस भये कनौड़े[15] कह्यो पवनसुत आउ।
दीवे[16] कों न कछू रिनियाँ हों, धनिक तूं[17] पत्र लिखाउ ॥ ७ ॥

अपनाये सुग्रीव विभीषन तज्यो[18] न तिन्ह छल छाउ।
भरत-सभा सनमानि सराहत होत न हृदय अघाउ ॥ ८ ॥

---

* ६६ मे 'प्रिय' है, अन्य सबोमे 'गुर' या 'गुरु' है। ४ रिसोहो ६६। रिसोहो—रा०। रिसौहौ—ह०। रिसौहैं—भा०, वे०, ७४, मु०, दी०। रिसोहैं—वि०, पो०। रिसौंहैं—वै०, ५१। ५—जितें—६६, रा०। जीति—भा०, वे०, प्र०, ह०, ७४, ज०, १५, श्रा०। ६ देवावत—६६। दिवावत—प्राय: औरोमे। ७ श्राप—ज०, प्र०। ८ सु—मु०, दी०। ९ हरपु—६६, रा०। हरप—दी०, पो०। हर्ष—मु०, वै०, हर्षि—वि०। १० को—मु०, वै०, [illegible] मे नही है, प्राय और सबोमे है। ११ गए—दी०, रा०। गे—वै०। गये—६६, भा०, वे०, मु०, वि०। १२ इतो—६६, रा०, ७४, वै०। इतौ - भा०, वे०, ह०, दी०, वि०, पो०। एतो—ज०। १३ गयो—६६, रा०, ह०, प्र०, ७४, दी०, पो०। गये—भा०, वे०, मु०, ज०। गे—वै०, वि०। गे—डु०। १४ जोगवत—रा०, ह०, ७४, ज०, पो०। जुगवत—६६, भा०, मा०, वे०। १५ कनोडे—६६, रा०, मु०। कनौडे—प्राय: औरोमे। १६ दीवे को—६६, रा०। दीवे को—मु०, वै०, ५१। देवेको—भा०, वे०, दी०, वि०। १७ तु—वै०, दो०, वि०। तू—मु०। १८ तिन्ह न तज्यो—औरोमे।

निज करुना करतूति भगत पर चपत चलत चरचाउ।
सकृत प्रनाम प्रनत जस बरनत सुनत कहत फिरि[१९] गाउ ॥ ९ ॥
समुझि समुझि गुनग्राम राम के उर अनुराग बढ़ाउ।
तुलसिदास अनायास[२०] राम पद पाइहै[२१] पेम[२२] पसाउ ॥१०॥

शब्दार्थ—सील (शील)—पद १५, ४२, ६१। ☞ यह पूरा पद 'शील' का उदाहरण है। खेह (सं० क्षार। पं० खेह)=धूल, राख, मट्टी। खेह खाना=धूल फाँकना; खाक छानना; दुर्दशाग्रस्त होना। यथा 'सोई रघुनाथ कपि साथ पाथनाथु बाँधि, आयो नाथ भागे ते खिरिरि खेह खाहिगो। क० ६।२३' खर=तृण, घास। खर खाना=पशुके समान बनना या हो जाना। गदहेके समान होना। खाउ=खाय, खावे, खाता रहे। सिसुपन (शिशुपन)=बचपन। रिसौंहों=रिस (रोष) युक्त, क्रोधसूचक। यथा 'माषे लषन कुटिल भइँ भौंहैं। रदपट फरकत नयन रिसौंहैं।' लख्यो=देखा। काउ (काऊ। सं० कदा)=कभी; यथा 'हिम तेहि निकट जाइ नहिं काऊ। १।६०।७।'—'कोई' और 'किंचित् भी' अर्थ इस शब्दके होते हैं। जुगवत—यह शब्द इस पदमें दो बार आया है, पृथक् पृथक् अर्थों में।—(१) मनमें न लाना; कुछ ख्याल न करना; जाने देना। (२) मनुहार करना; लिहाज करना; सँभाले रहना। अनट (अनृत =अत्याचार)=अनीति, अन्याय, उपद्रव। अपाउ—यह शब्द और 'करिये सँभार कोसलराय। अकनि याके कठिन करतब अमित अनय अपाय' का 'अपाय' शब्द एक ही जान पड़ते हैं।=अनरीति, अन्यथाचार।=अनाचार नटखटपना, शरारत—(दीनजी)।=नुकसान, हानि—(वि०)। जितें=जीतने पर। चुचुकारना=पुचकारना=प्यारसे चुंबनके ऐसा शब्द मुँहसे निकालकर बोलना।=पुचकारना, प्यार दिखाना। दुलारना (सं० दुर्लालन)=प्रेमके कारण बच्चों या प्रेमपात्रोंको प्रसन्न करनेके लिये उनके साथ अनेक प्रकारकी चेष्टायें करना जैसे कि विलक्षण सम्बोधनोंसे पुकारना, शरीरपर हाथ फेरना, चूमना इत्यादि। =लाड़ प्यार करना। यथा 'मातु दुलारहिं कहि प्रिय ललना।' देवावत=दिलाते

१९ फिरि—६६, रा०, श्रा०। फिर—५१, ७४, ह०। २० अनायास—६६, रा०। अनयास—भा०, वे०, ह०, ५१, ७४, श्रा०। २१ पाइहै—६६, रा०, दी०, डु०, पो०, १५। पैहै—वे०। पइहै—भा०, वे०, प्र०, ह०, ५१, ७४, वि०, मु०। २२ पेम—६६, रा०। प्रेम—प्राय: औरोंमें।

हैं। दाउ (दाँव)=खेलमें प्रत्येक खेलाड़ीके खेलनेका समय जो एक दूसरे-के पीछे क्रमसे आता है।=खेलनेकी वारी; चाल। दाँव देना=खेलमें हारनेपर नियत दंड भोगना। दाँव दिलाना=हारनेवालेसे नियत दंड भोगवाना, जीतका पाँसा या कौड़ी दिलाना। सिला (शिला)=पाषाण (अहल्या)। शाप-संताप—'शाप बस मुनि बधू मुक्तकृत। ५०(४)।', 'सापबस मुनि बधू पापहारी। ४३(३)।' मे देखिए। परसत=स्पर्श करते ही। पाउ=पाँव; पैर। भवधनु=शिवजीका धनुष। निदरना=निरादर करना, मान-मर्दन करना, तिरस्कार करना। ताउ=ताव।=वह गर्मी जो किसी वस्तु-को तपाने या पकानेके लिये पहुँचाई जाय। 'ताव खा जाना' का साधारण अर्थ है 'तेज आँचके कारण आवश्यकतासे बहुत अधिक गर्म हो जाना या जल जाना। यहाँ भाव है 'अत्यन्त क्रोधयुक्त होना; क्रोधमे उबल पड़ना; लाल पीले होना' ।--यह मुहावरा है। इतो=इतना। यथा 'मेरे जान इन्हें बोलिबे कारन चतुर जनक ठयो ठाठ इतोरी। गी० १।७१।' अनन=अन्यत्र। समाउ=समाई, गुंजाइश अर्थात् सहनशीलता। गरना =गलना एवं गड़ना।=मनस्तापको प्राप्त होना; लज्जा आदिसे दृष्टि नीची करना। एवं मुखका सूख जाना। ग्लानि लज्जा आदिसे गड़ना भी मुहावरा है। ग्लानि=मनकी एक वृत्ति जिसमें किसी अपने कार्यकी बुराई या दोष आदिको देखकर अनुत्साह, अरुचि और खिन्नता उत्पन्न होती है। यहाँ दशरथजीके सम्बंधसे 'गरना' शब्दके 'गलना' और 'गड़ना' दोनों अर्थ अभिप्रेत हैं, क्योंकि इस ग्लानिसे ही शरीरपात हुआ। मरम (मर्म)--शरीरका वह स्थान जहाँ आघात पहुँचनेसे बहुत वेदना या मृत्यु होती है। 'दुष्ट रावन कुंभकरन पाकारिजित मर्मभित्...। २६(५)।' देखिए। कुघाउ=कुत्सित घाव। कनौड़े, कनौड=उपकृत. दबैल, एहसानमन्द। दीबेको=देनेको (देनेयोग्य)। रिनिया=ऋणी; जिसने कर्ज (उधार) लिया हो। धनिक=धनी; महाजन: उधार (कर्ज वा ऋण) देने-वाला। पत्र=दस्तावेज, सरखत इत्यादि। वह कागज जिसपर किसी खास मामलेके प्रमाणस्वरूप सनद या सबूतके लिये कुछ लिखा जाय। अपनाना=शरण में लेना, ग्रहण करना। 'छल छाउ'=छलकी छाया।= छलबाजी। अघाउ=तृप्ति, सन्तोष। चपत—चपना (सं० चपन=कूटना, कुचलना)=दबना; सकुचा जाना। चरचाउ=चर्चा भी। चर्चा=बात-चीत। चर्चा चलना=बात छिड़ना। अनायास=बिना परिश्रमके; सहज ही। पेम=प्रेम। पसाउ=प्रसाद। यथा 'सपनेहु साँचेहु मोहि पर जौं हर गौरि पसाउ।'

पद्यार्थ—श्रीसीपापति रामचन्द्रजीका शील स्वभाव सुनते ही जिसके मनमें आनन्द, शरीरमें पुलक (रोमांच) और नेत्रोंमें जल (प्रेमाश्रु) नहीं होता, वह मनुष्य धूल और घास खाता रहे ।१। बचपनसे ही (श्रीरामजीके) पिता, माता, भाई, प्रिय (वा, गुरु), सेवक, मन्त्री और सखा सभी कहते हैं कि बचपनसे लेकर कभी भी किसीने स्वप्नमें भी श्रीरामचन्द्रजीके मुखचन्द्र-को क्रोधयुक्त नहीं देखा ।२। अपने छोटे भाइयों तथा अन्य बालकोंके साथ खेलतेमें वे सदा उनके अन्याय और नटखटपनेको जुगवते रहते थे (अर्थात् देखकर सह लेते थे, कभी उसको मनमें नहीं लाते थे)। जीतनेपर भी हार-कर (अर्थात् अपने साथियोंको संकोच न हो, इसलिये अपनी हार मान लिया करते थे) साथियोंको चुचुकारकर उनका दुलार-प्यार करते, (उनको स्वयं) दाँव देते और दूसरोंसे दाँव दिलाते थे ।३। (उनके) पवित्र चरणका स्पर्श होते ही पाषाण अहल्या शाप और सन्तापसे मुक्त हो गई। उसको सद्गति दी, यह देखकर उनके हृदयमें हर्ष नहीं हुआ, (प्रत्युत ऋषिपत्नीको) चरणसे स्पर्श करनेका पश्चात्ताप हुआ ।४। शिवचापको तोड़कर राजाओंका मानमर्दन किया। परशुरामजी ताव खा गए। उनका अपराध क्षमाकर और उनके चरणोंपर पड़कर (श्रीलक्ष्मणजीका तथा अपना) अपराध क्षमा कराया—इतनी सहनशीलता अन्यत्र किसीमें नहीं (देखी-सुनी जाती) ।५। राजा (दशरथ महाराज) ने राज्य देनेको कहा, परन्तु स्त्रीके वशीभूत होकर उन्होंने वनवास दे दिया और इसी ग्लानिमें वे गड़ एवं गल गए (ऐसी) उस कुत्सित माता (कैकेयी) के मनको ऐसे जोगवते रहते थे जैसे अपने शरीरके मर्मस्थानके कुत्सित घावको (लोग सावधानतापूर्वक देखते रहते हैं) ।६। कपि श्रीहनुमान्जीकी सेवाके वश (उनके) बड़े उपकृत हुए और (उनसे) कहा कि "हे पवनसुत ! (मेरे पास) आओ। तुम्हें देनेको (अर्थात् देनेके योग्य मेरे पास) कुछ भी नहीं है। मैं तेरा ऋणी हूँ, तू मेरा महाजन है। मुझसे सरखत लिखा ले ।७। सुग्रीव और विभीषणजीको (श्रीरामजीने) अपनाया, पर उन्होंने छलकी छाया भी नहीं छोड़ी। (तथापि) श्रीभरतजी-की सभामे उनका सम्मान करके उनकी प्रशंसा करते हुए (श्रीरामजीके) हृदयमें तृप्ति नहीं होती ।८। भक्तोंपर किये हुए अपनी करुणा और उपकार-की चर्चा चलतेही सकुचाने लगते हैं। प्रणतके एक बार प्रणाम करनेका यश कोई वर्णन करता है तो उसे सुनते हैं (एवं एक बार प्रणाम करनेपर आप प्रणतका यश वर्णन करते हैं,सुनते हैं) और कहते हैं कि फिर उसका यशोगान करो ।९। तुलसीदासजी (अपने मनसे) कहते हैं कि श्रीरामजीके गुणोंके समूहोंको समझ-समझकर हृदयमें अनुराग बढ़ा, प्रेमके प्रसादसे तू

विना परिश्रमके श्रीरामजीके चरणोंको प्राप्त कर लेगा। एवं तू श्रीरामचरण-के प्रेमका प्रसाद अनायास पा जायगा* ।१०।

नोट—१ इस पूरे पदमें 'शील' का वर्णन है। अतः शील क्या है? शीलवान्में क्या गुण होते हैं? इत्यादिको जान लेना चाहिए। पुरुषोंमें शीलको सर्वोत्तम आचरणीय धर्म, सबसे प्रधान गुण वा श्रेय बताया गया है। ब्राह्मणरूपधारी इन्द्रने प्रह्लादसे यही प्रश्न किया था। यथा 'ब्राह्मणस्त्व-ब्रवीद् राजन् यस्मिन् काले त्वणो भवेत्। तदोपादेष्टुमिच्छामि यदाचर्य-मनुत्तमम्॥'' (जब आपको अवसर मिले, उसी समय मैं आपसे सर्वोत्तम आचरणीय धर्मका उपदेश ग्रहण करना चाहता हूँ। म० भा० शान्ति० १२४।३०)। त्रिलोकीका राज्य भी इसी शीलसे प्राप्त हो जाता है।

प्रह्लादजीने उत्तरमें बताया है—१ 'मैं राजा हूँ' इस अभिमानमें आकर कभी ब्राह्मणोंकी निन्दा नहीं करता। मैं संयमपूर्वक वे जो नीति बताते हैं उसे सुनता और शिरोधार्य करता हूँ। २ यथाशक्ति ब्राह्मणोंकी सेवा करता हूँ। ३ किसीके दोष नहीं देखता। ४ धर्ममें मन लगाता हूँ। ५ क्रोधको जीतकर मन और इन्द्रियोंको वशमे किये रहता हूँ। (श्लोक ३४-३८)।—इतना ही श्रेय है।—'एतावच्छ्रेय इत्याह प्रह्लादो ''। श्लो० ३६।'

इसीको धृतराष्ट्रने दुर्योधनसे इस प्रकार बताया है—''मन वाणी और क्रियाद्वारा किसी भी प्राणीसे द्रोह न करना, सबपर दया करना और यथा-शक्ति देना—यह 'शील' कहलाता है जिसकी सब लोग प्रशंसा करते हैं। अपना जो भी पुरुषार्थ और कर्म दूसरोंके लिये हितकर न हो अथवा जिसके करनेमें संकोचका अनुभव होता हो, उसे कभी न करना चाहिए। जो कर्म जिस प्रकार करनेसे भरी सभामें मनुष्यकी प्रशंसा हो, उसे उसी प्रकार करना चाहिए।''—यह थोड़ेमें तुम्हें शीलका स्वरूप बताया गया। यथा 'अद्रोहः सर्वभूतेषु कर्मणा मनसा गिरा। अनुग्रहश्च दानं च शीलमेतत् प्रशस्यते॥ यदन्येषां हितं न स्यादात्मनः कर्म पौरुषम्। अपत्रपेत वा येन न तत् कुर्यात् कथंचन॥ तत्तु कर्म तथा कुर्याद् येन श्लाघ्येत संसदि। शीलं समासेनैतत् ते कथितं कुरुसत्तम॥' श्लो० ६६-६८)।

* (१) तू रामचरणके प्रेमका प्रसाद अनायास पा जायगा, अर्थात् तुझमे श्रीरामजीके चरणोमे प्रेम हो जायगा। (पं० रा० कु०)। (२) ऐसे कोमलहृदय श्री-रामजीके गुणसमूहोको समझ-समझकर मेरे हृदयमे प्रेमकी बाढ आ गई है। हे तुलसी-दास! इस प्रेमानन्दके कारण तू अनायास ही श्रीरामजीके चरणकमलोको प्राप्त करेगा।'' (पो०; वि०)।

लक्ष्मीने प्रह्लादसे कहा है कि तुमने शीलके द्वारा ही तीनों लोकोंपर विजय पाई थी। धर्म, सत्य, सदाचार, बल और मैं (लक्ष्मी) ये सब सदा शीलके आधारपर रहते हैं। शील ही इन सबकी जड़ है। इसमें संशय नहीं है। यथा 'शीलेन हि त्रयो लोकास्त्वया धर्मज्ञ निर्जिताः।··६१। धर्मः सत्यं तथा वृत्तं बलं चैव तथाप्यहम्। शीलमूला महाप्राज्ञ सदा नास्त्यत्र संशयः।६२।'

इस पदमे शीलके जो उदाहरण दिये है, उनमे उपर्युक्त सब लक्षण देख पड़ेंगे।

२ पिछले पदमें श्रीरघुनन्दनजीके गरीबनिवाज आदि विरुद कहे। अब जीवको उपदेश करते हैं और शील-स्वभावका प्रमाण देते हैं। (भ० स०)। यहाँ श्रीरामचन्द्रजीके अनन्त शीलका दिग्दर्शन कराया गया है। (दीनजी)। पद ५५ मे आपको 'शील-समता-भवन' कह भी आये हैं और यहाँ उदाहरण देकर उसे प्रमाणित करते हैं।

टिप्पणी—१ 'सुनत सीतापति सील···' इति। (क) 'सीतापति' का भाव कि 'जासु अंस उपजहिं गुनखानी। अगनित लच्छि उमा ब्रह्मानी॥ भृकुटि बिलास जासु जग होई। राम बाम दिसि सीता सोई॥ १।१४८।३-४।' जिन सीताजीका ऐसा ऐश्वर्य है उनके ये पति हैं, ऐसे महिमावान होने पर भी उनमें अत्यन्त शील है। कवितावली के "ईसन के ईस, महाराजन के महाराज, देवनके देव, देव! प्रानहु के प्रान हौ। कालहू के काल महाभूतनके महाभूत, कर्महू के करम निदानके निदान हौ॥ निगम को अगम, सुगम तुलसीहू से को, एते मान सीलसिंधु, करुनानिधान हौ। महिमा अपार काहू बोलको न पारावार, बड़ी साहबीमें नाथ, बड़े सावधान हौ। ७।१२६।"—इस कवित्तमें भी यही भाव है।

१ (ख) 'मोद न मन तन पुलक···' इति। शीलके वर्णन करनेमें एवं शील देखकर तो यह दशा लोगोंकी हुई है। यथा 'बरनि राम गुन सील सुभाऊ। बोले प्रेम पुलक मुनिराऊ। २।१०।१।', 'कहत रामगुन-सील-सुभाऊ। सजल नयन पुलकेउ मुनिराऊ। २।१७१।७।'—विषयरसरूखे मनवाले मुनिकी यह दशा शील देखकर एवं वर्णन करनेमें हो जाती है, तब यदि साधारण जीवोंकी न हो तो उनका जीवन व्यर्थ है।—पर यहाँ गोस्वामीजी कहते हैं कि 'सुनत' यह दशा होनी चाहिए। वक्ताके मनमें हर्ष, तनमें पुलक आदि देखकर श्रोतामें भी यह भाव आना चाहिए। यदि श्रोतामें ये भाव न उत्पन्न हों तो 'सो नर···'।

१ (ग) 'सो नर खेह खर खाउ' इति। उसे धूल फाँकने और घास खानेको मिलेगी। अर्थात् उसका जीवन व्यर्थ गया और उसे पशुके

समान ही समझना चाहिए। [वह गली-गली धूल फाँकता फिरे अर्थात् अनेक योनियोंमें कर्मोंके वश दुःख भोगता फिरेगा, कभी सुखी न होगा। (वै०)। 'खर' शब्दका अर्थ 'गर्दभ, गदहा' भी है। इस प्रकार इसका अर्थ यह भी होता है कि वह घास खानेवाला गर्दभ है। (भ० स०)]

टिप्पणी—२ 'सिसुपन तें पितु मातु···' इति। (क) 'शिशुपन' से जनाया कि यह स्वभाव जन्मसे है, शास्त्रादिके पढ़ने या संग आदिसे नहीं बना है। जिन्हें स्वभाव देखनेको मिला है, उनके नाम क्रमशः देते हैं। सर्वप्रथम माता-पिताको विशेष रूपसे यह अवसर मिला, क्योंकि इनकी गोद आदिमें रहे। फिर लक्ष्मणजीको, क्योंकि ये बचपनसे उनके पास रहा करते थे जैसा 'बारेहि ते निज हित पति जानी। लछिमन रामचरन रति मानी। १।१९८।३।' से प्रकट है। अब शिशुपनमें ही आँगनमें खेलने-योग्य हुये तब सभी भाइयोंको शील-स्वभाव देखनेमें आया। श्रीभरतजी-ने स्वयं कहा है—'मैं जानउँ निज नाथ सुभाऊ। अपराधिहु पर कोह न काऊ॥ मो पर कृपा सनेहु बिसेषी। खेलत खुनिस न कबहूँ देखी॥ सिसुपन तें परिहरेउँ न संगू। कबहुँ न कीन्ह मोर मन भंगू॥ मैं प्रभु कृपा रीति जियँ जोही। हारेहु खेल जितावहि मोही। २।२६०।५-८।' तत्पश्चात् प्रिय सेवकोंका नंबर आता है। यथा 'बालचरित हरि बहु बिधि कीन्हा। अति अनंद दासन्ह कहँ दीन्हा। १।२०३।१।', श्रीभुशुण्डीजी भी प्रिय सेवकोंमें हैं, (यथा 'मन बच क्रम मोहि निज जन जाना। ७।११३।३।', 'यह मम भगत कर्म मन बानी। ७।११४।६।'), जो प्रभुके स्वभावको जानते हैं। यथा 'सुनहु सखा निज कहउँ सुभाऊ। जान भुसुंडि संभु गिरि-जाऊ। ५।४८।१।' ये भी शिशुपनसे स्वभाव देखे हुये हैं। ['गुरु' पाठ लें तो गुरु तो सर्वज्ञ हैं, इनका ऐश्वर्य जानते हैं, जन्म आदि संस्कार इनके द्वारा हुये, झाड़-फूँकके लिये जब-तब बुलाये जाते थे और विशेष-रूपसे तो विद्याध्ययनके लिये चारों भाई उनके आश्रममें रहे तब स्वभाव देखा। युवराज बनाये जानेके संबंधित चरित्रों तथा वनवास होनेपर कई बार इन्होंने शील स्वभाव देखा है।] जब बाहर निकलने लगे, सभामें पिताके साथ आने लगे, तब मंत्रियोंको विशेष अवसर स्वभाव जाननेका मिला। वाल्मीकीयमें मंत्रियोंने राजासे इनके गुण वर्णन किये हैं। उन्होंने भी इन्हें शीलवान् कहा है—'धर्मज्ञः सत्यसन्धश्च शीलवाननसूयकः। वाल्मी० २।२।३१।' हाँ सुमन्त्रजी बराबर महलमें जाते थे, इनको शिशुपनसे ही स्वभाव देखनेमें आया। बालसखाके वचन सुनिये, वे तो "करत परसपर राम बड़ाई॥ को रघुबीर सरिस संसारा। सील सनेह निबाहनि-

हारा ॥' सेवक हम स्वामी सियनाहू । होउ नात यह ओर निबाहू । २।२४।'

२ (ख) 'कहत राम बिधु बदन रिसोंहों ' इति । शील स्वभावके प्रमाणमें इतने लोगोंको गिनाया । क्योंकि ये देखा हुआ कहते हैं । "शील' का अर्थ ही है कि किसीपर रुष्ट नहीं होते, सबका आदर लिहाज़ (संकोच) करते हैं, सबसे प्रिय बोलते हैं, किसीको अनमना नहीं होने देते, इत्यादि । श्रीभरतजी उनके शील स्वभाव शृङ्गवेरपुरमें गुहजीसे इस प्रकार कह रहे हैं—'राम जनमि जगु कीन्ह उजागर । रूप सील सुख सब गुन सागर ॥ पुरजन परिजन गुरु पितु माता । राम सुभाव सबहि सुखदाता ॥ बैरिउ राम बड़ाई करहीं । बोलनि मिलनि बिनय मन हरहीं ॥ २।२००।५-७।" सबही सुखदाता होवा और बोलने मिलने विनयसे सबका मनहरना सिद्ध करता है कि किसीपर रुष्ट न होते थे । रनवासकी सब माताओंके भी वाक्य हैं—'न क्रुध्यत्यभिशस्तोऽपि क्रोधनीयानि वर्जयन् । क्रुद्धान् प्रसादयन् सर्वान् सम दुःखः क गच्छति । वाल्मी· २।४१।३; २०।४।' अर्थात् 'जो किसीके द्वारा झूठा कलंक लगाये जानेपर भी क्रोध नहीं करते थे, क्रोध दिलानेवाली बातें नहीं कहते थे और रूठे हुए सभी लोगोंको मनाकर प्रसन्न कर लेते थे, वे दूसरोंके दुःखमें समवेदना प्रकट करनेवाले राम कहाँ जा रहे हैं ?' आबाल वृद्ध सभी पुरवासियोंका कथन है कि श्रीराम सदा प्रिय वचन बोलते थे,—'सततं प्रियवादिनम्' (वाल्मी० २।४०।२५) । सबके प्रेमपात्र थे—'प्रियमिक्ष्वाकुनन्दनम्' (श्लो० २७) । कौशल्या अंबाने भी 'सर्वभूत प्रियंवदः', 'लोके रामाभिरामस्त्वं' (वाल्मी० २।२४।२,५) । कहा है । पिता श्रीदशरथजी भी कहते हैं—'न किंचिदाहाहितमप्रियं वचो न वेत्ति रामः परुषाणि भाषितुम् ।', 'न स्मराम्यप्रियं वाक्यं लोकस्य प्रियवादिनः' (वाल्मी० २।१२।१०८,३२), अर्थात् 'श्रीराम कभी किसीसे कोई अहितकारक पर अप्रिय वचन नहीं कहते । वे कटु वचन बोलना जानते ही नहीं । (रिसमें कठोर वचन बोले जाते हैं, जब क्रोध करते ही नहीं तब कटु वचन कैसे निकलें ?) । श्रीराम सबसे प्रिय बोलते हैं । उन्होंने कभी किसीको अप्रिय वचन कहा हो, ऐसा मुझे याद नहीं पड़ता । पुनश्च, 'राज सुनाइ दीन्ह बनबासू । सुनि मन भयउ न हरषु हरासू ।२।१४८।', 'कश्च प्रव्राज्यमानो वा नासुयेत् पितरं सुतः । वाल्मी० २।६४।६५।' अर्थात् जिसे घरसे निकाल दिया जाय वह पुत्र पिताको कोसे तक नहीं, ऐसा कौन पुत्र होगा ?

२ (ग) एक भाव इसका यह भी कहा जाता है कि पिता-माता आदिकी यह लालसा ही रह गई कि इनकी शृङ्गारादि सब प्रकारकी सुखकी

झाँकी तो हुई, किन्तु उस मुखचन्द्रकी कभी क्रोधभरी छविकी झाँकी स्वप्नमें भी देखनेको नहीं मिली। (भ० स०)

टिप्पणी—३ 'खेलत संग अनुज बालक नित…' इति। (क) शील स्वभावका दूसरा प्रमाण खेलका देते हैं। खेलमें औरोंकी तो बात ही क्या, सगे भाइयोंमें बिगाड़ हो जाता है, वे आपसमें लड़ने लगते हैं, यह साधारण नियम है। अतएव इसको कहा। भाव कि इस बाल्यावस्थामें भी श्रीरघुनाथजीका स्वभाव भाइयों तथा प्रजाके बालकोंके साथ ऐसा सुशील रहा कि खेलमें भी कभी किसीको उदास वा अप्रसन्न नहीं होने देते थे। (ख)-सवेरा हुआ कि बालकवृन्द सखागण राजद्वारपर आकर आपको खेलनेको ले जाया करते। चौराहों, घाटों, गलियों, बागीचों आदि-में प्रायः खेलने जाते, वनमें मृगया खेलने जाते, इत्यादि। यथा 'खेलन चलिये आनंदकंद। सखा प्रिय नृपद्वार ठाढ़े विपुल बालकबृंद। गी० १।३८।', 'खेलत चौहट घाट बीथी बाटिकनि प्रभु सिव सुप्रेम-मानस मरालु। गी० १।४०।', 'सुभग सकल अंग अनुज बालक संग…। खेलत अवधखोरि गोली भौंरा चक डोरि। गी० १।४१।' किस तरह खेलते थे उसका एक नमूना भी गीतावलीमें पद ४३ में दिया है, और उसमें शील दिखाया है। यथा "राम लषन एक ओर, भरत रिपुदवन लाल इक ओर भए। सरजुतीर सम सुखद भूमिथल, गनि-गनि गोइयाँ बाँटि लये॥ कंदुक केलि कुसल हय चढ़ि-चढ़ि, मन कसि-कसि ठोंकि ठोंकि खये। कर कमलनि विचित्र चौगानैं, खेलन लगे खेल रिझये॥…एक लै बढ़त, एक फेरत, सब प्रेम-प्रमोद-विनोदमये। एक कहत भइ हारि रामजू की, एक कहत भइया भरत जये॥ प्रभु बकसत गज बाजि बसन मनि जय धुनि गगन निसान हये। हारे हरष होत हिय भरतहि जिते सकुच सिर नयन नए। तुलसी सुमिरि सुभाव सील सुकृती तेइ जे एहि रंग रए। गी० १।४३।'

'बालक'—ये प्रायः सब राजकुमार उसी कुलके (अर्थात् रघुवंशी) होते थे, एवं प्रायः बराबरके होते थे। यथा 'तिन्ह सब छयल भये असवारा। भरत सरिस वय राजकुमारा॥ सब सुंदर सब भूषनधारी। कर सर चाप तून कटि भारी॥ छरे छबीले छयल सब सूर सुजान नवीन।१।२९८।'

३ (ग) 'जुगवत अनट अपाउ' इति। भाव कि जब कोई सखा अपने साथ अन्याय तथा नटखटपन करता तो उसपर ध्यान नहीं देते थे। (ऐसा अर्थ पं० रामकुमारजी, दीनजी तथा भगवानसहायने किया है। वैजनाथ-जी, वियोगीजी, भट्टजीने 'जुगवत' का अर्थ 'देखते रहते थे' किया है। श० सा० कोशमें पं० रामकुमारजी-वाला अर्थ है। वैजनाथजीने 'अपाउ'

का अर्थ 'दाँव न पाना' लिखा है। अर्थात् दूसरा दाँव न पावे ऐसी नट-खटी करते थे)।

३ (घ) 'जितें हारि चुचुकारि···' इति। भाव कि प्रभुका दाँव जब पड़ता है, वे जीतते हैं, तब भी दूसरे किसीको उदास देखते तो कहते कि नहीं, हम नहीं जीते, अमुक सखा वा भाई जीते हैं, हम हार गए। इस प्रकार अपनेसे ही अपनी हार मान लेते हैं। इतना ही नहीं वरन् उसका मन रखने, उसको प्रसन्न करनेके लिये उसको पुचकारकर उसका दुलार करते और उसकी उदासी दूर करनेके लिये, स्वयं उसे दाँव देते थे कि लो तुम्हारी बारी है, तुम्हारा दॉव है, तुम खेलो। 'देवावत दाउ' का भाव कि यदि किसीने दूसरेके साथ अन्याय किया तो वे उस अन्यायको न होने देते थे, जिसका दॉव है उसको दिला देते थे। [बैजनाथजी लिखते हैं कि 'प्रभु स्वयं जीतकर भरतजीके गुइयोंको दाँव देते थे। और स्वयं हारकर अपने गुइयोंको भरतजीसे दाँव दिलाते थे'] इससे आपका सौहार्द दिखाया।

टिप्पणी—४ 'सिला साप संताप बिगत···' इति। (क) अहल्याको गौतमजीने पाषाण होनेका शाप दिया था। इन्द्रके साथ रति करनेसे शाप मिला। अपने पापसे फिर वह बहुत सन्तप्त रही। श्रीरामके चरणस्पर्शसे पाप और शाप दोनों मिट गए। यथा 'परसत पद पावन सोक नसावन प्रगट भई तपपुंज सही।', 'सोइ पदपंकज जेहि पूजत अज मम सिर धरेउ कृपाल हरी।' (१।२११ छंद), 'प्रबल पाप पतिसाप दुसह दव दारुन जरनि जरी। गी० १।५५।' (ख) 'दई सुगति' इति। पाषाणसे पुनः दिव्यरूप अहल्याका हो गया और वह पतिलोकको प्राप्त हुई, गौतमजी स्वयं आकर साथ ले गए। यथा 'जो अति मन भावा सो बरु पावा गै पतिलोक अनंद भरी। १।२११ छंद।', 'तुलसी ह्वै बिसोक पतिलोकहि प्रभु गुन गनत गई। गी० १।५५।', 'संस्तूय रघुनाथं सा पत्या सह गता पुनः।' (सत्योपाख्यान), 'रामके प्रताप गुरु गौतम खसम भए रावरेहू सतानंद भए पूत माय के। गी० १।६५।'

४ (ग) 'सो न हेरि हरष हिय···' इति। गुरुकी आज्ञा होनेसे पाषाण-को पदसे स्पर्श करके अहल्याको सद्गति दी, इसका हर्ष किंचित् भी प्रभु-को न हुआ; प्रत्युत मनमें बहुत ग्लानि हुई कि क्षत्रिय होकर हमने ऋषि-पत्नीको चरणसे स्पर्श किया। हर्ष न होनेका प्रत्यक्ष उल्लेख मानसमें नहीं है और न गीतावली आदिमें; पर प्रसंगसे चित्तका उदास होना, मनमें हर्ष-का न होना पाया जाता है। अहल्योद्धार करके चलते समय कविने 'चले

राम लछिमन मुनि संगा। १।२१२।१।' ऐसा कहा है। मानस-पीयूषमें इस-पर शंका की गई है कि "जहाँ-जहाँ चलना कहा गया है, वहाँ-वहाँ हर्ष भी लिखा गया है; यथा 'हरषि चले मुनिभय हरन।१।२०५।', 'हरषि चले मुनिवर के साथा', 'हरषि चले मुनिबृंद सहाया'; पर यहाँ 'चले' के साथ 'हरषि' शब्द नहीं है, यह क्यों ?" और इसका समाधान यह किया गया है कि 'अहल्या ब्राह्मणी और ऋषिपत्नी है। उसको चरणसे स्पर्श करना पड़ा। आपका मर्यादा-पुरुषोत्तम अवतार है। क्षत्रिय होनेसे आपके मनमें इसकी बडी ग्लानि है। आप सोचते हैं कि हमसे बड़ा अपराध हुआ, इससे मनमें बड़ा पश्चात्ताप हो रहा है, हृदयमें हर्ष नहीं है। (विनयके इस पदका प्रमाण दिया गया है) जो पश्चात्ताप हुआ वह शोच 'जगपावनि गंगा' को देखकर जाता रहा। 'जगपावनि' का भाव कि हमारा यह पाप गंगाजीके स्नानसे नष्ट हो जायगा, क्योंकि ये जगपावनी हैं, हम पवित्र हो जायँगे। यह भाव माधुर्यमें है।"—(मानस-पीयूष)।

टिप्पणी—५ (क) 'भव धनु भंजि निदरि भूपति' इति। जनकमहा-राजके धनुर्यज्ञमें देवता, दैत्य, मनुष्य सभी राजा समस्त द्वीपोंके आये थे। यथा 'दीप दीपके भूपति नाना। आए सुनि हम जो पनु ठाना॥ देव दनुज धरि मनुज सरीरा। बिपुल बीर आए रनधीरा।१।२५१।' ये सब बड़े मानी भट थे; यथा 'सुनि पन सकल भूप अभिलाषे। भट मानी अतिसय मन माषे।१।२५०।५।' उनसे जब धनुष टसकाये भी न टसका. यथा 'डगै न संभु सरासन कैसें। कामी बचनु सती मनु जैसें॥ सब नृप भये जोग उपहासी।१।२५१।'; तब श्रीरामजीने उसी धनुषको अत्यन्त लाघवतासे उठाया और क्षणभरमें अनायास तोड़ डाला; यथा 'भंजेउ चाप प्रयास बिनु जिमि गज पंकज नाल।१।२६१।' अतएव समस्त राजाओंका मानमर्दन होगया—'श्रीहत भए भूप धनु टूटे।१।२६३।५।'—विशेष पूर्व 'भंजि भवचाप दलि दाप भूपावली सहित भृगुनाथ नत माथ भारी।४३ (३)।' में लिखा जा चुका है।

५ (ख) 'भृगुनाथ खाइ गये ताउ। छमि अपराध····' इति। शिव-चापको टूटा देख परशुरामजीको ताव आ गया था, यथा 'देखे चाप-खंड महि डारे॥ अति रिस बोले बचन कठोरा। कहु जड़ जनक धनुष कै तोरा॥ बेगि देखाउ मूढ़ न त आजू। उलटौं महि जहँ लहि तव राजू। १।२७०।' यह क्रोध आगे श्रीलक्ष्मणजीके उत्तरप्रत्युत्तरसे बढ़ता ही गया। यथा 'भृगुपति सुनि-सुनि निरभय बानी। रिस तन जरै होइ बल हानी। १।२७८।६।' जब लक्ष्मणजीसे वचनोंही वचनोंमे पराजित हुए, कुछ

उनसे न चली, तब उनके क्रोधकी धारा उधरसे पलटकर श्रीरामजीकी ओर आई। श्रीरामजी बड़े विनीत, किन्तु उनको अपने-धर्मपर लानेवाले, वचनहीसे उनका समाधान करते रहे, तब भी उन्होंने इनको भी दुर्वचन कहे। अन्तमें यहाँतक कह डाला कि 'मोर प्रभाव विदित नहि तोरे। बोलसि निदरि विप्रके भोरें॥ भंजेउ चापु दापु बड़ बाढ़ा॥ अहमिति मनहु जीति जग ठाढ़ा।१।२८३।५-६।' इसके उत्तरमें श्रीरामजीने जो 'मृदु गूढ़' वचन कहे, उससे उनके हृदयकी आँखें खुलीं, मोह दूर हुआ, उन्होंने श्रीरामजीका प्रभाव जाना और प्रेमसे प्रफुल्लित हो उन्होंने उनकी स्तुति की, दोनों भाइयोंसे क्षमा माँगी। यथा "जौं हम निदरहि विप्र बदि सत्य सुनहु भृगुनाथ। तौ अस को जग सुभटु जेहि भय बस नावहिं माथ।१।२८३। बिप्रबंस कै असि प्रभुताई। अभय होइ जो तुम्हहि डेराई॥ सुनि मृदु गूढ़ बचन रघुपति के। उघरे पटल परसुधर मतिके॥'''जाना राम प्रभाउ तब प्रेम प्रफुल्लित गात। जोरि पानि बोले बचन हृदय न प्रेमु अमात। २८४।''' अनुचित बहुत कहेउँ अज्ञाता॥ छमहु छमामंदिर दोउ भ्राता।"—श्रीरामजीने क्षमा कर दिया, यह 'क्षमामंदिर' विशेषण तथा आगेके 'कहि जय जय जय रघुकुलकेतू। भृगुपति गये बनहि तप हेतू।' से सूचित कर दिया गया है।❀

५ (ग) 'छमाइ पार्य परि' इति। श्रीरामजीने प्रथम तो श्रीलक्ष्मणजी-का (उत्तरप्रत्युत्तर करना रूपी) अपराध क्षमा कराया। यथा 'नासु जान पै तुम्हहि न चीन्हा। वंश सुभाय उतरु तेंहि दीन्हा॥'' छमहु चूक अन-जानत केरी। चहिअ विप्र उर कृपा घनेरी।१।२८२।' फिर यद्यपि स्वयं कोई अपराध किया न था, धनुप अवश्य तोड़ा था, इसे अपना अपराध मानकर (यथा 'तेहि नाहीं कछु काज बिगारा। अपराधी मैं नाथ तुम्हारा॥ कृपा कोप बध बँधब गोसाईं। मो पर करिअ दास की नाईं।१।२७६।', छुअतहि टूट पिनाक पुराना। मैं केहि हेतु करौं अभिमाना।१।२८३।'),

❀ बैजनाथजी लिखते हैं कि "प्रथम तो गुरुका धनुष तोड डाला, यह जानकर 'ताव खा गए' अर्थात् (क्रोधसे) बेसुध हो प्रभुको अनेक दुर्वचन कहे (यह परशु-रामजीने स्वयं स्वीकार किया है, यथा 'अनुचित बहुत कहेउँ अज्ञाता।')। पुन: जब निज धनुष देकर जान पाए कि ये परब्रह्म हैं, तब पश्चात्तापका ताव खा गए, तात्पर्य कि हमने बड़ा भारी अपराध किया, यह कैसे क्षमा होगा, इस पश्चात्तापसे उनका हृदय दग्ध होने लगा, प्रभुने अपराधको क्षमा कर उनके हृदयको शीतल कर दिया।"

दोनोंका अपराध क्षमा करनेकी प्रार्थना की।* यथा 'सब प्रकार हम तुम्ह सन हारे। छमहु विप्र अपराध हमारे। १।२८२।८।' [श्रीरघुनाथजीके 'अनजानत केरी' शब्दोंके प्रमाणपर परशुरामजीने क्षमाकी प्रार्थना की थी—'अनुचित बहुत कहेउँ अज्ञाता'।]

'पायँ परि' का भाव 'राम कहेउ रिस तजिअ मुनीसा। कर कुठारु आगे यह सीसा। जेहि रिस जाइ करिअ सोइ स्वामी। मोहि जानिअ आपन अनुगामी॥ प्रभुहि सेवकहिं समरु कस'''।१।२८१।' हमहि तुम्हहि सरिबरि कसि नाथा। कहहु न कहाँ चरन कहँ माथा। १।२८२।५।'—इन चरणोंसे लक्षित होता है।

५ (घ) 'इतो न अनत समाउ' अर्थात् इतनी क्षमाकी समाई अन्यत्र किसीमें नहीं हो सकती। तात्पर्य कि इतना पुरुषार्थ, इतना सामर्थ्य रहते हुए भी इस प्रकारकी क्षमा एकमात्र श्रीरघुनाथजीहीमें है। कैसे-कैसे कटु वचन सुनते गये फिर भी अपनेसे एक भी कटु वचन न बोले, विनती ही करते गए। सब अपराधोंको क्षमा करके उलटे स्वयं उनके पाँवमें पड़े और अपने दोनोंके अपराध क्षमा कराये। 'न अनत' से जनाया कि त्रिदेवों एवं अन्य अवतारोंमें भी इतनी क्षमा नहीं है; तब मनुष्यकी तो बात ही क्या!

टिप्पणी—६ (क) 'कह्यो राजु बनु दियो नारि बस' इति। वृद्धावस्था देख राजाने गुरु तथा मंत्रियोंकी सम्मतिसे श्रीरामजीको युवराज बनानेकी घोषणा की और गुरुजीको श्रीरामजीके पास उचित शिक्षा देनेको भेजा। वसिष्ठजीने जाकर ये वचन कहे—'भूप सजेउ अभिषेक समाजू। चाहत तुम्हहि देन जुवराजू॥ २।१०।२।''। अतः 'कह्यो राजु' कहा। राज कहा और वन दिया, यह स्वयं राजाने स्वीकार किया है, यथा 'राज सुनाइ दीन्ह बनवासू। सुनि मन भयउ न हरषु हरासू। २।१४६।'। 'नारिबस'—भाव कि राजाका कैकेयीपर सबसे अधिक प्रेम था, अतएव वे संध्या हो जानेपर उसीके महलमें गये। उसे कोपभवनमें सुनकर सूख गए। उसने अपने थाती दो वर माँगे और जब राजाने श्रीरामजीकी शपथ करके वर देनेकी प्रतिज्ञा कर ली, तब उसने 'रामको चौदह वर्षका वनवास हो' यह वर माँगा। राजा शपथपूर्वक प्रतिज्ञा कर चुके थे, अतएव वरको टाल न सकते थे। इसीसे 'नारिबस' वन देना कहा।

* वैजनाथजी तथा उनके अनुयायियोंने लक्ष्मणजीका अपराध क्षमा कराना ही लिखा है।

६ (ख) 'गरि गलानि गयो राउ' इति। राजाको इसकी बड़ी ग्लानि हुई, उसीमें गड़के वे गल गए, उनका मरण हो गया। यथा 'कवने अवसर का भयउ गयउँ नारि बिस्वास। जोग सिद्धि फल समय जिमि जतिहि अविद्या नास। २।२६।', 'तोर कलंक मोर पछिताऊ। मुएहुँ न मिटिहि न जाइहि काऊ। २।३६।५।' अयोध्याकांड दो० १४६, तथा १५५ में ग्लानि और मरण दिखाया गया है। उसी भावको गीतावलीमें यों कहा है—

'मुएहु न मिटैगो मेरो मानसिक पछिताउ। नारि बस न बिचारि कीन्हों काज सोचत राउ॥ तिलक को बोल्यो दियो बन चौगुनो चित चाउ। हृदय दाड़िम ज्यों न बिदर्यो समुझि सील सुभाउ॥ सीय रघुबर लषन बिनु भय भभरि भगी न आउ। मोहि बूझि न परत यातें कौन कठिन कुघाउ॥ सुनि सुमंत कि आनि सुंदर सुवन सहित जिआउ। दास तुलसी नतरु मोको मरन अमिय पिआउ। २।५७।'

राज देन कहि बोलि नारि बस मैं जो कह्यो बन जान।
आयसु सिर धरि चले हरषि हिय कानन भवन समान॥
ऐसे सुत के बिरह अवधि लौं जो राखौं यह प्रान।
तौ मिटि जाइ प्रीति की परमिति अजस सुनौं निज कान॥
राम गए अजहूँ हौं जीवत समुझत हिय अकुलान।
तुलसिदास तनु तजि रघुपति हित कियो प्रेम परवान ॥५९।'

'राम सनेह सोक-संकुल तनु बिकल मनु लीन। टूटि तारो गगनमग ज्यों होत छिन छिन छीन।५८।' में 'गरि' का भाव है। क्षण-क्षण शोक-स्नेहके कारण घुलते जाते हैं।

वाल्मीकीयमें राजाके वाक्योंसे जो उन्होंने केकयी, कौशल्याजी और सुमंत आदिसे कहे हैं, उनसे भी ग्लानिका यही कारण स्पष्ट है।—मैंने श्रीरामको राज्य देनेकी बात भरी सभामें घोषित की है, (अब सभासदों द्वारा मेरा उपहास होगा)। मैंने जो श्रीराम ऐसे पुत्रके साथ यह बर्ताव किया यह मेरे योग्य नहीं था। मैंने केकयीके कहनेमें आकर वृद्ध पुरुषोंके साथ बैठकर इस विषयमें परामर्शभी नही किया। सुहृदों, मन्त्रियों और वेदवेत्ताओंसे सलाह लिये बिना मैंने मोहवश केवल एक स्त्रीकी इच्छा पूर्ण करनेके लिये सहसा यह अनर्थ कार्य कर डाला है।—'न सुहृद्भिर्न चामात्यैर्मन्त्रयित्वा सनैगमैः। मयायमर्थः सम्मोहात् स्त्रीहेतोः सहसा कृतः। वाल्मी० २।५९।१९।'—(वाल्मी० २।१२।२१; २।६४-६५)। श्रीराम, सीता और लक्ष्मण मेरे ही अपराधसे वनके दुःख भोगेंगे। इत्यादि। इन्हीं कारणोंसे वे लज्जित थे। वे अपनेको अक्षम्य अपराधी और सब लोगोंका

धिक्कारपात्र मानते थे। कैकयीसे उन्होंने कहा भी है कि तेरे कारण संसारमें पापाचारीकी भाँति मुझे निश्चयही अपयश, तिरस्कार और समस्त प्राणियोंसे अवहेलना प्राप्त होगी।—'अकीर्तिश्चातुला लोके ध्रुवः परिभवश्च मे। सर्वभूतेषु चावज्ञा यथा पापकृतस्तथा।' (वाल्मी० २।१२। ८७,६४)।

६ (ग) 'ता कुमातुको मन जुगवत'" इति। भला कोई माता अपने पुत्रको वन देगी? पर इसने राज्यको हाथसे वरवस छीनकर ऐसे पुत्रको कि जिसपर उसका सबसे अधिक प्रेम था वन भेज दिया। अतः कुमातु कहा। पुनः, इसने वनका हठकर अपने पतिके प्राण लिये, पतिके दीन विनयको भी इसने ठुकरा दिया। यथा 'गहि पद विनय कीन्ह वैठारी।··· मागु माथ अवहीं देउँ तोही। राम विरह जनि मारसि मोही। २।३४।', इसके उत्तरमें उसके ये वचन थे—"'छाडहु वचन कि धीरज धरहू। जनि अवला जिमि करुना करहू॥ तनु तिय तनय धामु धनु धरनी। सत्यसंध कहुँ तृन सम वरनी। २।३५।'—ये मर्मभेदी वचन सुनकर पतिने उसे त्याग दिया, यथा 'अब तोहि नीक लाग करु सोई। लोचन ओट वैठु मुँह गोई॥ जव लगि जिऔं कहौं कर जोरी। तव लगि जनि कछु कहसि वहोरी। २।३६।' ऐसी पति-प्रतिकूला पतिघातिनी होनेसे 'कुमातु' कहा (लड़कोंके पिताको इसने मारा)। भरतजीने भी इसे 'कुमातु' कहा है। यथा 'मोहि कुमातु समेत विहाई। २।१८१।' और फिर जन्मभर उससे नहीं बोले। यथा 'तजे पिता प्रहलाद, विभीषन वंधु भरत महतारी। १७४ (३)।', 'कैकेयी जौलों जिअति रही। तौलों वात मातु सों मुँह भरि भरत न भूलि कही। गी० ७।३७।' अतएव 'कुमातु' कहा।

६ (घ) 'मन जुगवत' इति। प्रथम तो जब श्रीरामजी कोपभवनमें गए और पिताकी दशा देख उससे दुःखका कारण पूछा और उसने वरदानको क्लेशका कारण बताया, तब उन्होंने उसके मनको प्रसन्न करनेवाली बातें कहीं। अपनेको वनवासके वरसे वड़भागी कहते हुये उसमें लाभ भी बताया; यथा 'मुनिगन मिलनु विसेपि वन सवहि भाँति हित मोर। तेहि महँ पितु आयसु वहुरि संमत जननी तोरि। २।४१।' फिर जब कौशल्या मातासे विदा होकर आये तब उसने 'मुनिपट भूषण' आदि सामने रखकर कहा कि राजा तो तुम्हें वन जानेको न कहेंगे, तुम्हारे जो मनमें आवे सो करो, उनके वरको मानो या न मानो। तब श्रीरामजीने सुखही माना और तुरत वनसाज सजा लिया—'राम जननि-सिख सुनि सुख पावा। २।७६।' जब श्रीभरतजी सब माताओं तथा पुरवासियों सहित चित्रकूट गए, तब

श्रीरामजी सब माताओंको छोड़कर सर्वप्रथम कैकेयीजीसे मिले और उनका प्रबोध किया; यथा 'प्रथम राम भेंटी कैकेई। सरल सुभाय भगति मति भेई॥ पग परि कीन्ह प्रबोध बहोरी। काल करम बिधि सिर धरि खोरी। २।२४४।' कैकेयीजीको बहुत ग्लानि है, यह समझकर उनके संकोच-को वारंबार मिटाते हैं। चित्रकूटसे विदा होते समयभी उन्हींसे सर्वप्रथम मिले, तब और माताओंसे। यथा 'भरत-मातुपद बंदि प्रभु सुचि सनेह मिलि भेंटि। बिदा कीन्ह सजि पालकी सकुच सोच सब मेटि॥ २।३१९।'' करि प्रबोध सब मातु चढ़ाईं।' वनसे लौटनेपर प्रभु जब महलको चले तबभी वे प्रथम कैकेयीजीके ही महलमें गए। यथा 'प्रभु जानी कैकई लजानी। प्रथम तासु गृह गए भवानी॥' और 'ताहि प्रबोधि बहुत सुख दीन्हा। ७। १०।१-२।' प० पु० पातालखंडमें शेषजीने वात्स्यायनजीसे बताया है कि "वनसे लौटनेपर श्रीराम सर्वप्रथम माता केकयीके घरमें गए। कैकेयी लज्जाके भारसे दबी हुई थी, अतः श्रीरामचन्द्रजीको सामने देखकर भी वह कुछ न बोली। वारंवार गहरी चिन्तामें डूबने लगी। सूर्यकुलकेतु श्री-रामने माताको लज्जित देखकर उन्हें विनययुक्त वचनोंद्वारा सान्त्वना देते हुए कहा—'माँ! मैंने वनमें जाकर तुम्हारी आज्ञाका पूर्णरूपसे पालन किया है। अब बताओ, तुम्हारी आज्ञासे इस समय कौन-सा कार्य करूँ? श्रीरामकी यह बात सुनकर भी कैकेयी अपने मुँहको ऊपर न उठा सकी, वह धीरे-धीरे बोली—बेटा राम! तुम निष्पाप हो। अब तुम अपने महलमें जाओ।'" (संक्षिप्त प० पु० पृ० ४०५)।—माता केकयीकी आज्ञा होनेपर ही वे अन्य माताओं तथा अपने महलमें गए।—यह तो हुआ माता कैकेयीके मनको 'जुगवना'। परन्तु इतनाही नहीं, उन्होंने और भी उनके लिये बहुत कुछ किया, सो सुनिये।

श्रीभरतजीसे भी श्रीरामजीने कहा था कि 'माता केकयीने कामनासे या लोभवश तुम्हारे लिये जो कुछ किया है, उसको मनमें न लाना और उनके प्रति सदा वैसाही बर्ताव करना जैसा अपनी पूजनीया माताके प्रति करना उचित है।—'कामाद् वा तात लोभाद् वा मात्रा तुभ्यमिदं कृतम्। न तन्मनसि कर्तव्यं वर्तितव्यं च मातृवत्। वाल्मी. २।११२।१९।' सभामें सबके सामने उन्होंने माता केकयीको निर्दोष बताया है; यथा 'दोसु देहिं जननिहि जड़ तेई। जिन्ह गुर साधु सभा नहिं सेई। २।२६३। ८।' श्रीभरतजीको यह आदेश देनेपर भी श्रीरामजीको संतोष न हुआ, क्योंकि वे श्रीभरतजीका अपने प्रति गूढ़ गाढ़ प्रेम जानते थे। वे जानते थे कि भरत मातासे बोलेंगे भी नहीं, उनके अनुगामी शत्रुघ्न भी कहीं वैसा न

करें, अतः उन्होंने चित्रकूटसे शत्रुघ्नको विदा करते समय अपनी और श्रीसीताजीकी शपथ दी कि माता कैकेयीजीकी रक्षा करना, उनपर क्रोध मत करना। यथा 'शत्रुघ्नं च परिष्वज्य वचनं चेदमब्रवीत्। मातरं रक्ष कैकेयीं मा रोषं कुरु तां प्रति॥ २७। मया च सीतया चैव शप्तोऽसि'' (वाल्मी० २।११२)। रावणवध हो जानेपर जब पिताजी देवताओंके साथ लंकामें आए, तब श्रीरामजीने उनसे प्रार्थना की कि आप कैकेयीजी और भरतजीपर प्रसन्न हों, आपने जो कहा था कि 'मैं पुत्र सहित तेरा त्याग करता हूँ' यह शाप उनके लिये यथार्थ न हो—"कुरु प्रसादं धर्मज्ञ कैकेय्या भरतस्य च॥ सपुत्रां त्वां त्यजामीति यदुक्ता केकयी त्वया। स शापः केकयीं घोरः सपुत्रां न स्पृशेत्प्रभो। वाल्मी० ६।११९।२५-२६।" इसपर राजाने कहा कि जैसा तुम चाहते हो ऐसा ही होगा—'स तथेति'। वनसे लौटनेपर श्रीरघुनाथजी माता कैकेयीको उसी तरह अपनी मातासे अधिक मानते रहे जैसे वन जानेके पूर्व माना करते थे। उनका प्रेम बचपनसे अन्ततक एकरस बना रहा और श्रीरामरुख देखकर श्रीसीता-लक्ष्मण-शत्रुघ्नजीने भी प्रेमका निर्वाह किया। यथा 'मानी राम अधिक जननीसे, जननिहुँ गँस न गही। सीय लषन रिपुदवन राम-रुख लखि सबकी निबही। गी० ७।३७।'

६ (ङ) 'ज्यों निज तन मरम कुघाउ' इति। मर्म=मर्मस्थान। मर्म वह नाजुक (कोमल) स्थान है जहाँ चोट लगनेसे बड़ी वेदना होती है, प्रायः यहाँके घावसे मृत्यु हो जाती है। प्रकृतिके विचारसे मर्मोंकी संख्या इस प्रकार है—मांसमर्म ११, अस्थिमर्म ८, संधिमर्म २०, स्नायुमर्म २७; शिरामर्म ४१। स्थानके विचारसे संख्या इस प्रकार है—पैरोंमें २२, भुजाओंमें २२, उर और कुक्षमें १२, पृष्ठमें १४, ग्रीवा और ऊर्ध्व भागमें ३७। परिणामके विचारसे संख्या यह है—सद्यः प्राणहर १६, कालान्तर मारक ३३, वैकल्पकारक ४४, रुजकारक ८, विशल्पघ्न ३,। (श० सा०)।— इसीसे मर्मस्थानमें 'जब कोई कुत्सित घाव होता है तो बड़ी सावधानता-से उसकी देख-रेख, रक्षा की जाती है, उसमें फिर कोई चोट न पहुँचने पावे इत्यादि पर बराबर रोगीको ध्यान रखना पड़ता है। वैसेही श्रीरामजी कैकेयीके मनको बराबर देखते, उसका मनुहार करते रहते थे, जिसमें उसको दुःख वा ग्लानि फिर न होने पावे।

टिप्पणी—७ (क) 'कपि सेवा बस भये कनोड़े' 'इति। सीता-शोधके लिये हनुमान्‌जी अंगद जाम्बवान् आदिके साथ भेजे गये थे। इन्होंने श्रीसीताजीको संदेश ही नहीं दिया वरन् उनको ढारस भी दिया, फिर

लंकाको जलाया, प्रायः आधी सेना रावणकी मार डाली, वहाँका समाचार लाये, इत्यादि। जाम्बवान्‌जीने प्रभुसे कहा है कि 'नाथ पवनसुत कीन्हि जो करनी। सहसहुँ मुख न जाइ सो बरनी। ५।३०।५।' श्रीसीताजीका समाचार सुनकर प्रभुने हनुमान्‌जीसे कहा—"सुनु कपि तोहि समान उपकारी।। नहिं कोउ सुर नर मुनि तनुधारी। प्रति उपकार करौं का तोरा। सनमुख होइ न सकत मनमोरा।। सुनु सुत तोहि उरिन मैं नाहीं। देखेउँ करि बिचार मन माहीं।। पुनि पुनि कपिहि चितव सुरत्राता। लोचन नीर पुलक अति गाता। ५।३२।५-८।"—यही 'कनौड़े' होना है। एहसान ऐसा लद गया कि 'सनमुख होत न मन मोरा।'

इसके पश्चात् फिर लंकामें द्रोणाचलसे रात-की-रातमें ही संजीवनी लाकर लक्ष्मणजीको जिलाया, भरतजी आदिको समाचार दिया, इत्यादि और भी कठिन सेवायें हुईं। तब भी कृतज्ञ हुए हैं, उस समय विशेष कथनका अवसर न था, इससे कविने 'हरषि राम भेंटेउ हनुमाना। अति कृतज्ञ प्रभु परम सुजाना। ६।६१।१।' इतनाही लिखा; किन्तु नाटककारने उसी स्थलपर श्रीरामजीका यह कथन लिखा है—"एकैकस्योपकारस्य प्राणान्दास्यामि ते कपे। प्रत्यक्षं क्रियमाणस्य शेषस्य ऋणिनो वयम्।। ३५। अङ्गेष्वेव जरां यातु यत्त्वयोपकृतं कपे। भवान्प्रत्युपकारार्थमापत्सु लभतां पदम्।। ३६।' (हनु० ना० १३) अर्थात् हे वानर! प्रत्यक्ष तुम्हारे किये हुये एक-एक उपकारके बदले मैं प्राणदान कर दूँ और शेष जो तुमने उपकार किये हैं उनके हम ऋणी हैं (अर्थात् लक्ष्मणजीके प्राणदानके प्रत्युपकारमें तो मैं तुम्हें प्राण दे दूँ, और समुद्रलंघनादिके प्रत्युपकार करनेमें मैं असमर्थ हूँ। इस कारण मैं ऋणी हूँ)। हे कपि! जो उपकार तुमने किये हैं, वह हमारे शरीरमें ही जीर्ण हो जायँ और तुम्हारे प्रत्युपकारके लिये आपत्तियोंमें स्थान न पावें। (अर्थात् तुम्हारे देहमें कभी आपत्ति ही न आवे कि हम उन उपकारोंका प्रत्युपकार करें)।—(कितना उच्च आदर्श है!!!)।

यही श्लोक कुछ हेरफेरसे वाल्मीकीय उत्तराकांडमें बिदाईके समय सर्ग ४० श्लोक २३-२४ में आया है।

७ (ख)—'कह्यो पवनसुत आउ' से जनाया कि हनुमान्‌जी कुछ दूर बैठे थे, वहाँसे अपने निकट बुलाकर कहा। 'धनिक तूं पत्र लिखाउ' का भाव कि जिसके पास कुछ देनेको नहीं होता, वह महाजनकी बहीमें अपना नाम लिखा देता है, अथवा दस्तावेज आदि लिख देता है कि मैं इतना ऋणी हूँ। इससे बात पक्की मानी जाती है और वह ऋण पुत्र आदिपर

भी लागू रहता है। तात्पर्य कि हम, हमारा परिवार, सन्तान आदि सभीपर यह ऋण रहेगा, सभी तुम्हारे अधीन रहेंगे। मिलान कीजिये— 'साँची सेवकाई हनुमान की सुजानराय, रिनियाँ कहाए हौं, बिकाने ताके हाथ जू। क० ७।१६।'*

टिप्पणी ८—'अपनाये सुग्रीव बिभीषन···' इति। (क) 'अपनाये' अर्थात् शरणमें रख लिया। यथा 'राम सुकंठ बिभीषन दोऊ। राखे सरन जान सब कोऊ॥ १।७५।१।'

८ (ख) 'तज्यो न तिन्ह छल छाउ', उन्होंने छलकी छाया न छोड़ी। सुग्रीवने कहा था कि 'सुख संपति परिवार बड़ाई। सब परिहरि करिहौं सेवकाई।४।७। १६।', पर राज्य मिल जानेपर वे अपनी तथा बड़े भाईकी स्त्रीमें ऐसे आसक्त हो गए कि अपनी प्रतिज्ञाको भूल ही गए। यथा 'सुग्रीवहु सुधि मोरि बिसारी। पावा राज कोस पुर नारी।४।१८।४।' विभीषणजी जब शरणमें आये तब कहा था कि 'उर कछु प्रथम बासना रही। प्रभुपद-प्रीति-सरित सो बही।५।४६।६।', किन्तु पीछे राज्य पानेपर बड़े भाईकी स्त्रीके प्रेममें फँसकर उन्होंने उसे अपनी स्त्री बना लिया, पिछला सब ज्ञान भूल गए। [वै०, दीनजी, वि० ने इसीको छलकी छाया माना है। भगवानसहायजीका मत है कि शरणागत होनेपर जो उन्हें न करना चाहिये था (भाईकी स्त्रीका ग्रहण करना) सो किया,—यही छल-छाया है]।

८ (ग) 'भरत सभा सनमानि···' इति। भरतजी भक्तशिरोमणि हैं, उनके समान पुण्यश्लोक दूसरा नहीं, उनके प्रेमकी थाह कोई नहीं पा सका। यथा 'भगतसिरोमनि भरत तें जनि डरपहु सुरपाल।२।२१६।', 'सुनहु लषन भल भरत सरीसा। बिधिप्रपंच महँ सुना न दीसा।२।२३१।', 'तीनि काल तिभुअन मत मोरें। पुन्यसिलोक तात तर तोरें।२।२६३।', 'अगम सनेह भरत रघुबर को। जहँ न जाइ मन बिधि हरिहर को।२।२४१।५।'— ऐसे परम भागवत भरतजीकी सभामें उनके समक्ष सुग्रीवादिकी बड़ाई की। 'सभा' से यहाँ तात्पर्य है उस समाजसे जो प्रभुकी अगवानी कर रहे थे, जिसमें गुरु वसिष्ठादि भी थे। वसिष्ठजीको संबोधितकर प्रभुने कहा है—'ए सब सखा सुनहु मुनि मेरे। भए समर सागर कहँ बेरे॥

* वैजनाथजीका मत है कि ऋणपत्र लिखानेका हेतु यह है कि जीवकी वृत्ति एक सी नही रहती, अतएव ऋणपत्र पासमे रहनेसे जब कभी हनुमान्‌जीको कोई इच्छा होगी तब उनका मनोरथ पूर्ण किया जायगा।

मम हित लागि जन्म इन्ह हारे। भरतहु ते मोहि अधिक पिआरे।७।८।
७-८।'—इनकी बड़ाई आगे इनकी बिदाईके समयभी की है, परंतु 'भरत-सभा' में बड़ाई यही है। कवितावलीमें भी भरत-सभामें सराहना कहा है। यथा 'सेवक सराहे कपिनायकु बिभीषनु भरतसभा सादर सनेह सुरधुनीमें। क० ७।२१।'

देखिए 'जेहि अघ बधेउ ब्याध जिमि बाली। फिरि सुकंठ सोइ कीन्हि कुचाली॥ सोइ करतूति बिभीषन केरी।' फिरभी शरणागतके अपराधपर प्रभु ध्यान नहीं देते। उन्होंने न तो सुग्रीवहीको त्यागा और न विभीषणको, उनपर पूर्ववत् प्रेम बनाये रहे।

वाल्मीकिजी भी लिखते हैं—'सख्यं च रामः सुग्रीवे प्रभावं चानिलात्मजे। वानराणां च तत् कर्म ह्याचचक्षेऽथ मन्त्रिणाम्॥ श्रुत्वा च विस्मयं जग्मुरयोध्यापुरवासिनः। वानराणां च तत् कर्म राक्षसानां च तद् बलम्। विभीषणस्य संयोगमाचचक्षेऽथ मन्त्रिणाम्।६।१२८।' अर्थात् श्रीरामचन्द्रजी अपने मंत्रियोंसे सुग्रीवकी मित्रता, हनुमान्‌जीके प्रभाव तथा अन्य वानरोंके अद्भुत पराक्रमकी चर्चा करते जा रहे थे। वानरोंके पुरुषार्थ और राक्षसोंके बलकी बातें सुनकर अयोध्यावासियोंको बड़ा विस्मय हुआ। श्रीरामने विभीषणसे मिलनका प्रसंगभी अपने मंत्रियोंको बताया। (श्लो० ३६-४०)।

८ (घ) 'सराहत होत न हृदय अघाउ' इति। मानसमें तो इतना ही कहा है कि 'ते भरतहि भेंटत सनमानें। राजसभा रघुबीर बखानें।१।२६।८।' पर यहाँ 'होत न अघाउ' से यह जना दिया कि सराहनेसे जी नहीं भरता, अतएव बारंबार सराहते हैं। ☞इससे जनाया कि श्रीरामजी कृतज्ञ-शिरोमणि हैं।

टिप्पणी ६—निज करुना करतूति भगत पर ···' इति। (क) 'भगत' से गज, गीध, वानर, निशाचर, दैत्य मनुष्य आदि सभीको कह दिया। गज, गीध, प्रह्लाद, द्रौपदी, सुदामा आदि पर जो करुणा हुई और उनके दुःख हरण करनेमें जो आपने करणी की, उसका उल्लेख पूर्व पदोंमें आ चुका है। किसीके भी साथ की-हुई भक्तवत्सलताकी चर्चा कोई आपके सामने करता है तो आप सकुचा जाते हैं, अपनी करणीको तो आप कुछ गिनते ही नहीं। इत्यादि। पिछले अन्तरामें सुग्रीव और विभीषणके उदाहरण आये हैं, अतएव इन दोनोंपर जो 'करुणा करतूति' हुई उसका किंचित् उल्लेख किया जाता है। सुग्रीवने जब अपना दुःख कहा कि वालिने मेरा सर्वस्व और स्त्रीको हर लिया और उसके डरसे मैं समस्त लोकोंमें

फिरा। यहाँ शापवश वह आ नहीं सकता 'तदपि सभीत रहउँ मन माही।' तब तुरंत आपको करुणा आई और आपने प्रतिज्ञा की—'सुनु सुग्रीव मारिहउँ बालिहि एकहि बान', और फिर बालिका वधकर सुग्रीवको राजा बनाया। विभीषणजीको रावणने लात मारकर निकाल दिया, वे शरणमें आए। उनको प्रणाम करते देख—'उठे उमँगि आनंद प्रेम परिपूरन बिरद बिचारि कै। भयो बिदेह बिभीषन उत, इत प्रभु अपनपौ बिसारि कै। भली-भाँति भावते भरत ज्यों भेंट्यो भुजा पसारि कै॥ सादर सबहि मिलाइ समाजहि निपट निकट बैठारि कै। बूझत छेम कुसल सप्रेम अपनाइ भरोसे भारि कै॥ गी० ५।३६।', 'करुनाकरकी करुना भई। मिटी मीचु, लहि लंक संक गई'''। गी० ५।३७।'—अन्तमें इनको कल्पभर राज्य और तत्पश्चात् अपना धाम दिया।—यह 'करुणा करतूति' है।

ऐसे ही सबपर करुणा करतूत की। यथा 'कौसिक सिला जनक संकट हरि भृगुपति की टारी टई। खग मृग सबर निसाचर सबकी पूँजी बिनु बाढ़ी सई॥ जुग-जुग कोटि कोटि करतब, करनी न कछू बरनी नई। गी० ५।३७।' पर प्रभु अपने गुणकी चर्चासे सकुचा जाते हैं और सेवकके गुणको बहुत मानकर प्रेमसे सुना करते हैं। यथा 'जन-गुन-रज गिरि गनि, सकुचत निज गुन-गिरि रज परमानु हैं। ''चरचा चलति बिभीषनकी, सोइ सुनत सुचित दै कान हैं। गी० ५।३५।'

६ (ख) 'सकृत प्रनाम प्रनत जस बरनत'''' इति। विभीषणजीने आकर प्रणाम ही तो किया था, उसीसे प्रसन्न हो गए थे। यथा 'एक प्रनाम प्रसन्न राम भए। गी० ५।४१।', 'नमित पद रावनानुज निवाजा।४३ (७)।' उनका यश ध्यान देकर सुनते हैं यह ऊपर दिखाया गया है। पुनः, सुग्रीव-विभीषणका सम्मान कहकर अब 'सकृत प्रनाम प्रनत जस''' कहनेका भाव कि सुग्रीव विभीषणने तो सीता-शोध तथा सीता-प्राप्तिमें कुछ सेवा भी की थी तब उनकी प्रशंसा तो उचित ही है, किन्तु प्रभु तो उसका भी यश वर्णन करते और बार-बार सुनते हैं, जो केवल एक बार भी आपको प्रणाम करता है। यथा 'सकृत नतमात्र कहें पाहि पाता। ४४ (६)।'

पं० रामकुमारजी इस प्रकार अर्थ करते हैं कि "जो कोई प्रणतके एक बार प्रणाम करनेका यश वर्णन करता है तो उसको सुनते हैं और कहते हैं कि फिर वर्णन करो।"

श्रीरामजीको किया हुआ प्रणाम महामहिमाकी खान है, उससे सब प्रकारके मङ्गलरूप मणियोंका प्रादुर्भाव होता है। रामप्रणाम कल्पतरुरूप

है। यथा 'राम-प्रनाम महामहिमा खनि, सकल सुमंगल मनि जनी। गी० ५।३६।', 'मंगलमूल प्रनाम जासु जग, मूल अमंगल के खनै। गी० ५।४०।', 'प्रभुपदप्रेम प्रनाम कामतरु सद्य बिभीषनको फलो। गी० ७।४२।' प्रणामका तात्पर्य है अभिमान छोड़कर शरणमें जाना। इसी भावको दरसानेके लिये प्रणामकी महामहिमा कहकर फिर गोस्वामीजीने कहा है कि "होइ भलो ऐसे ही अजहुँ गये राम सरन परिहरि मनी। भुजा उठाइ साखि संकर करि, कसम खाइ तुलसी भनी। गी० ५।३६।"

६ (ग) कहत फिरि गाउ' में 'होत न हृदय अघाउ' का ही भाव है कि सुननेसे तृप्ति नहीं होती, इसीसे बार-बार सुनते हैं। यह भी शील है, वे इस प्रकार अपने भक्तोंका यश संसारमें फैला देते हैं।

टिप्पणी १०—'समुझि समुझि गुनग्राम रामके···' इति। (क) यहाँ श्रीरामजीमे अनुराग उपजाने तथा उसकी वृद्धिका उपाय बताते हैं कि गुणग्रामोंको बारंबार सुनो और समझो तो श्रीरामजीके चरणोंमें दिनों दिन अनुराग बढ़ता जायगा।

१० (ख) 'समुझि समुझि' दो बार कहकर जनाया कि बारंबार गुणोंका स्मरण करके उनको समझना चाहिए, समझनेसे वे हृदयमें जमेंगे, जैसे-जैसे वे हृदयमें जमेंगे वैसे-वैसे प्रेम भी बढ़ता जायगा।

१० (ग) 'अनायास रामपद पाइहै प्रेम-पसाउ' इति। श्रीरामचरणके प्रेमका प्रसाद अनायास प्राप्त होगा, श्रीरामपदमें प्रेम होगा। गुणग्रामको केवल स्मरण करना और समझना इतना ही तो करना है, इसमें न जप है न तप, न यज्ञ योग दान व्रत उपवास इत्यादि कुछ भी शारीरिक परिश्रम नहीं करना है। बैठे, लेटे, खड़े, चलते-फिरते किसी भी अवस्थामें स्मरण हो सकता है। अतः 'अनायास पाइहै' कहा। (पं० रा० कु०)।

नोट ३—वैजनाथजी लिखते हैं कि "मनुष्यमें शील गुणके होनेपर उसके अन्तर्गत और भी अनेक गुण आ जाते हैं; इसीसे पदके प्रारम्भमें प्रथम प्रधान गुण 'शील' को कहा। (आगे उसके अन्तर्गत गुणोंको कहते हैं)। रिस-भरा मुख किसीने नहीं देखा, यह कहकर श्रीरामजीकी अखण्ड ज्ञानानन्दस्वरूप जनाया। खेलमें बालकोंके मन रखनेमें सौहार्द गुण दिखाया। अहल्योद्धारमें हर्ष न होकर चरणस्पर्शका पश्चात्ताप होना कृपामय अनुक्रोश गुण है। शिवचाप तोड़नेमें बल, परशुराम-प्रसंगमें क्षमा, कैकेयीके मनुहारमें आर्यवगुण, हनुमान्जीके ऋणी होनेमें कृतज्ञता और सुग्रीव-विभीषणके सम्मानमें जनगुणग्राहकता गुण दिखाये हैं।

इस पूरे पदका सिंहावलोकन, दिग्दर्शन वा सारांश—

(१) श्रीरामजीके मुखको कभी किसीने रिसयुक्त नहीं देखा। इससे जनाया कि 'राम सहज आनंदनिधानू' हैं, शान्त और सुखराशि हैं; इसीसे क्रोध उनमें छू भी नहीं गया। (२) 'खेलत संग अनुज बालक''' में बालकोंके अनट अपाय सह लेने तथा उनका दुलार करनेमें सौहाद गुण स्पष्ट है। इससे समझना चाहिए कि सारे जगत्‌के पिता प्रभु हैं, वे हमारे अनट अपायपर कभी ध्यान न देकर हमारा प्रतिपालन अवश्य करेंगे। हमें कभी उदास न होने देंगे, मायासे हारे हुए हम शरणागतोंकी जीत रक्खेंगे। (३) 'सिला साप संताप''' में कारणरहित कृपालुता दिखाई; यथा 'अस प्रभु दीनबंधु हरि कारनरहित दयाल।१।२११।' (यह कविने अहल्योद्धारके प्रसंगमें ही कहा है। (४) भवधनु भंजि निदरि भूपति' से श्रीरघुनाथजीके बाहुबलको अप्रमेय, अथाह दिखाया। तीनों लोकोंके मानी वीर भटोंसे जो न हुआ वह इन्होंने कर दिखाया—सागर रघुबर बाहुबल।१।२६१।' इससे समझना चाहिए कि वे हमारी रक्षाके लिये सर्वसमर्थ हैं। 'भृगुनाथ खाइ गये ताउ''' में अत्यन्त सहनशीलता और क्षमा गुण दिखाया। इससे समझना चाहिए कि परशुरामजीके परम कटुवाक्यपर भी प्रभुने क्रोध न कर क्षमा ही की, तब हमारे अपराधोंको क्यों न क्षमा करेंगे? हम बुरा-भला भी कह डालते हैं, उसे क्यों न सहेंगे? (५) 'कह्यो राज बनु दियो''' में समझना चाहिए कि श्रीरामजी आदिसे अन्त तक एकरस प्रेमको निवाहते हैं। देखिए वनका वरदान माँगनेके पूर्व प्रभुका जैसा प्रेम कैकेयी-मातामें था, वनवासके पश्चात् उसमें न्यूनता नहीं आई, प्रत्युत पूर्वसे अब अधिक प्रेम उनपर है। यह शील स्वभाव शरणागति करानेमें उच्च कोटिका है। इससे प्रभु दिखाते हैं कि भक्तसे कैसा भी अपराध क्यों न हो जाय, हम उसकी ओरसे अपना प्रेम हटाते नहीं। (६) 'कपि सेवा बस भये कनोड़े''' से दिखाया कि हमारी कोई किंचित् भी सेवा करता है तो हम उसके बड़े कृतज्ञ होते हैं, उसकी सेवाको बहुत मान लेते हैं। अतएव हमें उनका भजन करना चाहिए। यथा 'सर्वात्मना यः सुकृतज्ञमुत्तमम्। भजेत रामं मनुजाकृति हरिं'''। भा० ५।१९।८।' (७—'अपनाये सुग्रीव-विभीषन''' इस उदाहरणसे दिखाया कि 'रहति न प्रभु चित चूक किये की। करत सुरति सय बार हिए की॥ जेहि अघ बधेउ ब्याध जिमि बाली। फिरि सुकंठ सोइ कीन्हि कुचाली॥ सोइ करतूति बिभीषन केरी। सपनेहु सो न राम हिय हेरी॥ ते भरतहि भेंटत सनमानें। राजसभा रघुबीर बखानें॥

१।२६।५-८।', 'कीस निसाचरकी करनी न सुनी, न बिलोकी, न चित्त रही है। राम सदा सरनागतकी अनखौहीं अनैसी सुभाय सही है। क० ७।६।' अतएव हम भी यदि शरणमें जायँगे तो हमारे अपराध कभी मनमें न लायेंगे।

श्रीसीतारामचन्द्रार्पणमस्तु।

(१०१)

जाउँ कहाँ तजि चरन तुम्हारे[1]।
काको नाम पतितपावन जग केहि अति दीन पिआरे ॥१॥
कौने[2] देव बराइ[3] बिरुद हित हठि हठि अधम उधारे।
खग मृग ब्याध पषान बिटप जड़ जवन[3] कवनसुर तारे ॥२॥
देव दनुज मुनि नाग मनुज सब माया बिबस बिचारे।
तिन्ह के हाथ दास तुलसी प्रभु कहा अपनपौ हारे ॥३॥

शब्दार्थ—काको=किसका। बराइ=चुन-चुनकर; छाँट-छाँटकर। यथा 'आसिष आयसु पाइ कपि सीय चरन सिर नाइ। तुलसी रावन बाग फल खात बराइ-बराइ। रामाज्ञा० ३।२१।' बिरुद हित=विरदके लिये; विरदकी लज्जा रखनेके लिये; बानेकी लाजसे। जवन=यवन; एक म्लेच्छ जाति। बिचारे (बेचारे)=दीन गरीब। कहा=कैसे, क्या। अपनपौ=आत्मगौरव; प्रतिष्ठा, मानमर्यादा। अपनपौ हारना=अपना आत्मगौरव, अर्थात् अपनेको, उनके वश कर देना, उनके गुलाम बनना; उनकी शरणमें जाकर प्रतिष्ठा खो देना। हारना=गँवाना, खो देना, दे देना।

पद्यार्थ—हे प्रभो! आपके चरणोंको छोड़कर कहाँ जाऊँ? संसारमें 'पतितपावन' (पतितोंको पवित्र करनेवाला) नाम किसका है? अत्यन्त दीन किसको अति प्रिय है?।१। किस देवताने अपने बानेकी लाजसे चुन-चुनकर हठ कर-करके नीच पापियोंका उद्धार किया है? किस देवताने

१ तुम्हारे—रा०, भा०, वे०, आ०। तिहारे—ङ०, ज०, ७४। २ कौन देव बरिआई—भा०, वे०, प्र० (ह०,—बरिआइ)। कवन देव बरिआइ—७४। कौने देव बराइ—रा०, वै०, ५१, ज०, वि०, मु० (बराय—भ०, दीन)। ३ जमन—भा०, वे०। जवन—रा०, ह०, ५१, ७४, आ०।

पच्ची (गृध्रराज जटायु), पशु (वानर भालु आदि), व्याध (वाल्मीकि, जरा, शबर आदि), पाषाण (अहल्या आदि), जड़ वृक्षों (दण्डकारण्य तथा मार्गके वृक्ष एवं सप्तताल और यमलार्जुन आदि), और जड़ जीव यवनको तारा है ? । २। देवता, दैत्य, मुनि, नागदेव और मनुष्य बिचारे सभी तो मायाके विशेष वशमें (वशीभूत) हैं। हे प्रभो ! तुलसीदास उनके हाथ आत्मगौरव क्या गँवावे [एवं उनके हाथ अपनपौ हारनेसे क्या लाभ है ? (प० रा० कु०)]

नोट—१ पद ७६ में प्रार्थना की थी कि जैसे वने वैसे मुझे आपके चरणोंकी शरण प्राप्त होवे, यथा 'तोहि मोहि नाते अनेक मानिये जो भावै । ज्यों-त्यों तुलसी कृपाल चरन सरन पावै ।' फिर मनको चरण-शरणागतिके लिये दृढ़ करनेके हेतु उपदेश भी दिया है कि 'जिनि हरिपद कमल विसारहि' (८५), 'श्रीरघुवीर चरनचिंतन तजि नाहिंन ठौर कहूँ' (८६), 'हरिपदविमुख काहू न लह्यो सुख'''। तुलसिदास सब आस छाड़ि करि होहि रामको चेरो । ८७'; अब प्रस्तुत पदमें बताते हैं कि मैंने आपके चरण पकड़ लिये हैं। क्योंकि चरणविमुखको कहीं ठिकाना नहीं,—यह पद ८६ में सुरुचिवाक्यका प्रमाण दे आये हैं। ८६ (१ ग) देखिए।

नोट—२ जब जीव यह जान लेता है कि श्रीरामही मेरे स्वामी हैं और मैं स्वतः उनका दास हूँ, श्रीहरिचरणोंसे अधिक कुछभी सार नहीं है, तब वह यही चाहता है और ऐसी ही प्रार्थना करता है। वह कहता है—देवेश ! इस जन्ममें तथा जन्मान्तरोमें भी आपके चरणकमलोंको छोड़कर दूसरा कोई मेरे कल्याणका साधन नहीं है जिससे मुझे सद्गति प्राप्त हो—मेरे लिये तो सब कुछ आपके चरण ही हैं।'—"त्वत्पादकमलादन्यन्न मे जन्मान्तरेष्वपि निमित्तं कुशलस्यास्ति येन गच्छामि सद्गतिम् ॥" (ब्रह्मतंत्र)। अतः इस भावको लिये हुए कहते हैं—'जाउँ कहाँ'''।

टिप्पणी—१ जाउँ कहाँ''' इति। (क) 'जाउँ कहाँ' अर्थात् आपको छोड़ दूसरा ठिकाना मेरे लिये नहीं है। (ख) 'चरण तुम्हारे'—अर्थात् आपकी शरण, आपकी शरणागति। भाव यह कि मुझे एकमात्र आपके चरण कमलोंका ही आशा-भरोसा है। (ग) 'जाउँ कहाँ तजि चरन तुम्हारे'—पुनः भाव कि यदि आपका-सा कोई हो, आपकी शरण छोड़ कोई दूसरा ठिकाना हो, तो आप बतलायें, मेरी समझमें तो कोई दूसरा ठिकाना नहीं है, अतएव मैं आपके चरण छोड़ नहीं सकता। यथा 'तो सों प्रभु जौं पै कहुँ कोउ होतो। तौ सहि निपट निरादर निसि दिन रटि लटि ऐसो घटि कोतो ।१६१।', 'परिहरि पाँव काहि अनुरागौं ॥ सुखद

सुप्रभु तुम्ह सों जगमाहीं। श्रवन नयन मन गोचर नाहीं॥···जौ पै कहुँ कोउ बूझत बातो। तौ तुलसी बिनु मोल बिकातो।१७७।' 'आपु से कहुँ सौंपिये मोहि जौं पै अतिहि घिनात। दास तुलसी और बिधि क्यों चरन परिहरि जात।२१७।'

'तजि' से जनाया कि मैं इन चरणोंको पकड़ चुका हूँ, सब आशा-भरोसा त्यागकर इनकी शरण ले चुका हूँ, खूब सोच-समझकर इन चरणोंके आश्रित हुआ (जैसा आगे दिखाते हैं), अतएव अब छोड़ूँगा नहीं। आगे भी कहा है—'जौ तुम्ह त्यागो राम हौं तो नहिं त्यागों। परिहरि पाँय काहि अनुरागों। १७७।'

(घ) 'काको नाम पतितपावन···।' इति। यथा 'काहि ममता दीनपर, काको पतितपावन नाम।' २१७ (२), 'दास तुलसी दीन पर एक राम ही के प्रीति। २१६।' 'अति प्यारे' का भाव कि दीनोंपर आपका बड़ा ममत्व रहता है, दूसरोंको नहीं। पुनः, भाव कि औरोंको दीन प्यारे हैं, यथा 'सकत न देखि दीन कर जोरें। ६।' (श्रीशंकरजी), और आपको 'अति प्यारे' हैं।

टिप्पणी २—'कौने देव बराइ बिरुद हित···' इति। (क) 'कौने देव' से प्रश्नका उत्तर सूचित हुआ। अर्थात् यदि आप कहें कि बहुतेरे देवता हैं, उनकी शरण क्यों नहीं जाते ? तो उत्तरमें स्वयं प्रश्न करते हैं कि आप ही बतावें, ऐसा कौन देवता है जिसने हठपूर्वक अधमोंका उद्धार किया हो ? क्या और कोई देवता ऐसा है जिसने पशु, पक्षी, पाषाण, वृक्ष, व्याध और यवन जड़-जीवोंका उद्धार किया हो ? मेरे जानमें तो कोई ऐसा है नहीं, ऐसे पतित जड़-जीवोंके उद्धार करनेका बाना धारण करनेवाले एक आप ही हैं। श्रीभरतजीने भी कहा है—'को कृपाल बिनु पालिहै बिरिदावलि बरजोर।२।२९९।'

इसी प्रकार गीतावलीमें भी विभीषणजीने कहा है। यथा 'कहहु कौन सुर सिला तारि पुनि केवट मीत कियो। कौने गीध अधमको पितु ज्यों निज कर पिंड दियो॥ कौन देव सबरीके फल करि भोजन सलिल पियो। बालित्रास-बारिधि बूड़त कपि केहि गहि बाँह लियो॥ ५।४६।' यह कहकर सिद्ध किया है कि 'नाहिन भजिबे जोग बियो।' अर्थात् और कोई ऐसा नहीं है जिसके चरणोंकी शरण ली जाय। एकमात्र आप ही ऐसे हैं।

२ (ख) 'बराइ' का भाव कि व्याध, यवन, पाषाण आदि सब छँटे-छँटाये अति अधम पतित हैं, इनसे बढ़कर अधम कोई न होगा।

अजामिल और शबरके प्रसंग हठात् उद्धार करनेके हैं। दोनोंमें भगवत्पार्षदोंने आकर यमदूतोंको मार भगाया है। ☞ भागवतदासजीके 'बरिआई' पाठका भाव 'हठि हठि' में है ही। उसमें 'बराइ' का भाव नही हैं; प्रत्युत 'बराइ' में 'बरिआई' का भी भाव आ जाता है। पर 'हठि हठि' में तो स्पष्ट 'बरिआई' का भाव है। इसलिये भी 'बराइ' पाठ समीचीन है। 'बराइ और हठि हठि' से यह भी सूचित किया कि प्रायः आपने स्वयं जा-जाकर इनका उद्धार किया। गीध, वानर, पाषाण और विटपके पास स्वयं जाकर उनका उद्धार किया, यह सभी जानते हैं। वाल्मीकिका उद्धार ऋषियोंद्वारा किया, फिर स्वयं उनके दर्शनको गए, यह बड़ाई दी। जराके समीप स्वयं गये। यवनका नामाभाससे उद्धार किया, यह केवल वानेकी प्रतिष्ठा रखनेके लिये।

२ (ग) 'खग मृग व्याध···' इति। इनकी चर्चा पूर्व कई पदोंमें आ चुकी है। खगसे गीधराज जटायु; मृगसे सुग्रीवादि वानर भालु तथा गजेंद्र; व्याधसे वाल्मीकि, शवर और जरा; पाषाणसे अहल्या, विटपसे सप्तताल, दण्डकारण्यके वृक्ष तथा यमलार्जुन आदि और यवनसे, मरते समय हराम शब्द जिसके मुखसे निकला था, उस म्लेच्छका ग्रहण होगा। व्याध, गज, गीधकी कथायें पद ५७ (३ च), ८३ (६ ग), ६३ (२), ६४ (३ घ) में; पाषाण, पशु और विटपकी 'पाहन पसु विटप बिहंग अपने करि लीन्हे। पद ७८ (५)।' में और यवनका प्रसंग '···यवनादि हरिलोक गत। ४६ (६ घ) तथा ५७ (३ ट) में देखिए। (घ) 'जड़' इति। इसका अन्वय कोई विटपके और कोई यवनके साथ तथा कोई सबके साथ करते हैं और कोई इसे सबसे अलग एक नाम मानते हैं। इसे सबका विशेषण भी मान सकते हैं, क्योंकि कुटिल, कायर, खल, कलिमलपीन जीव आत्मघाती होते हैं, उन्हें अपना हित अनहित कुछ नहीं सूझता। ऐसे मोहग्रस्त जीव 'जड़' कहे गये हैं। यथा 'जे जड़ जीव कुटिल कायर खल केवल कलिमल साने। २३५।'

पाषाण और वृक्ष तो प्रत्यक्ष जड़ हैं ही। व्याध और यवन विवेक-शून्य महापापी थे ही। कोल किरात आदि व्याधोंने स्वयं कहा है कि 'हम जड़ जीव जीवगन घाती। कुटिल कुचाली कुमति कुजाती॥ पाप करत निसि बासर जाही। २।२५१।' दंडकारण्यमें जानेपर वहाँके सारे वृक्ष हरे-भरे हो गए; यथा 'दंडक पुहुमि पॉय परसि पुनीत भई, उकठे बिटप लागे फूलन फरन। २५७।' 'दंडक बिपिनि धन्य कृत' ४३ (४ च) देखिए।

३ 'देव दनुज मुनि नाग मनुज...' इति। (क) देव-दनुजादि सभी मायाके विशेष वश हैं, इसीसे उनको 'बेचारे' कहा, वे स्वयं भवमें पडे चक्कर खा रहे हैं, दीन हैं, तब दूसरेका दुःख वे क्या छुड़ायेंगे। यथा 'और सकल सुर असुर ईस सब खाये उरग छहूँ।' ८६ (४) में विशेष प्रमाण देखिए। आगे कहा भी है कि मैं इनकी शरण गया था, पर किसीने दुःख न हरण किया। यथा 'सुर मुनि मनुज दनुज अहि किन्नर मैं तन धरि सिर काहि न नायो। जरत फिरत त्रयताप पापबस काहु न हरि करि कृपा जुड़ायो। २४३।' पूर्व भी कह आये हैं—'देव दनुज मुनि नाग मनुज नहिं जाचत कोउ उबन्यो। मेरो दुसह दरिद्र दोष दुख काहू तो न हन्यो। ६१ (३)।'—अतएव उनको असमर्थ पाकर अब 'बेचारे' कहा। पुनः, देवसे स्वर्गवासी, दनुज और नागसे पातालवासी, मुनि और मनुजसे मर्त्यलोकवासी सभी जीवोंको मायाके वशीभूत दिखाया। यथा 'यन्मायावशवर्तिविश्वमखिलं ब्रह्मादि देवासुरा। बाल० मं० श्लो०।'

३ (ख) 'तिन्हके हाथ कहा अपनपौ हारे' इति। देवादिका हो जाना, उनकी शरण जाना, उनसे याचना करना उनके हाथ 'अपनपौ हारना' है, अपनी प्रतिष्ठा खोना है, क्योंकि वे तो स्वयं असमर्थ हैं। यथा 'इहै समुझि सुनि रहौं मौन ही कहि भ्रम कहा गवावों। २३२ (२)।' देवताओंको 'मायाविवश बिचारे' कहकर 'उनके हाथ अपनपौ क्या हारे' कहनेका भाव कि मैं भी उन्हींके समान मायाके वश दीन हूँ। अतएव उनकी बराबरीका हूँ। बराबरवालेसे माँगना लज्जाकी बात है, अतएव कहते हैं कि क्या अपनपौ हारूँ। (भ० स०)

३ (ग) यहाँ तक पाँच चरणोंमें देव, दनुज आदिको सब प्रकार असमर्थ दिखाकर शरण्य होनेके अयोग्य सिद्ध किया और श्रीरामजीको 'प्रभु' संबोधितकर सूचित किया कि एकमात्र आप ही सर्वलोकशरण्य हैं; यथा 'सर्वलोकशरण्याय राघवाय महात्मने। वाल्मी० ६।१७।१७।'; अतएव कहा कि 'जाउँ कहाँ तजि चरन तुम्हारे।'

सू० शुक्लजी—इस पदसे यह शिक्षा मिलती है कि भगवान्‌के जिस रूप व नाममें चित्त लगे उसीमें अभ्यास करता हुआ पूरा विश्वास करे; कैसे ही विघ्न हों कदापि न छोड़े।

श्रीसीतारामचन्द्रार्पणमस्तु।

१०२

हरि[1] तुम्ह बहुत अनुग्रह कीन्हो[2] ।
-धाम विबुध-दुर्लभ तन मोहि कृपा करि दीन्हो[2] ।
ु[3] मुख कहि जाइ[4] न प्रभु के एक एक उपकार ।
नाथ कछु और माँगिहौं दीजो परम उदार । २
वारि मन मीन भिन्न नहिं होत कबहुँ पल एक ।
ते सहिअ[6] विपति अति दारुन जनमत* जोनि अनेक । ३
डोरि बंसी पद अंकुस परम प्रेम मृदु चारो ।
बेधि बेधि[7] हरहु मेरो दुख[8] कौतुक राम[9] तुम्हारो । ४
ते बिदित उपाय सकल सुर केहि केहि दीन निहोरै ।
ादास येहि[10] जीव मोह रजु जेहिं[11] बाँध्यो[12] सोइ छोरै ।५।

ब्दार्थ—साधन धाम=साधनोंका घर। अर्थात् मनुष्य शरीर अर्थ, काम, मोक्ष, स्वार्थ और परमार्थ सभी पुरुषार्थोंका साधक है। यथा ाग मानुष तनु पावा। सुर दुर्लभ सब ग्रंथन्हि गावा॥ साधनधाम कर द्वारा। ७।४३।७-८।', 'दुर्लभं मानुषं जन्म तदप्यध्रुवमर्थदम्।

प्रभु—प्र०। २ कीन्ही, दीन्ही—वे०। ३ कोटिन्ह—प्र०,। कोटिव—ह०। —रा०, भा०, वे०, श्रा०, ७४। ४ जाहि—रा०। जाहिं—वै०। जाय—ह०। ोन। जात—वे०, ज०, प्र०, वि०। जाइ—भा०, डु० (जाइँ), मु०, ७४। —रा० ह०, ७४। दीजे—भा०, वे०, श्रा०। ५ ताहि—रा०। ता—५१, ा०। तेहि—भा०, वे, ज०, ह०, प्र०, भ०। ६ सहिअ—रा०। सहिय—५१, ०, डु०, वै०, दीन। सहौं—भा०, वे०, ह०, भ०, प्र०। *यहाँ प्राचीन मे बहुत मतभेद है। ५१, डु०, ७४, श्रा० मे 'जनमत जोनि' पाठ है। रा० म जौनि' हैं। एव भा० वे० मे० 'जन्म कुजोनि' है। ह० मे 'जनमि कुजोनि' हे ानमत जोनि' को पाठान्तर लिखा है। ७ बिधे—रा०। बिधै—प्र०। वेधि—प्रायः । ८ मन—ह०। ज० मे 'मेरो दुख' के बदले 'करुनानिधि' है। ९ राम—रा० ा०, ७४, डु०, श्रा०। नाथ—ह०, ज०। १० येहि—रा०। यहि—औरोमे। हैं—रा०। जेहि—भा०, वे०, ह०, ५१, मु०। जोइ—प्र०, ७४, वै०, भ०, वि०, न। १२ बाधइ—७४।

भा० ७।६।१।' अर्थात् यह मनुष्य देह अत्यन्त दुर्लभ है, पर अनित्य होनेपर भी यह पुरुषार्थका साधक है) । बंसी (बंशी)=मछली फँसानेका एक औजार । इसमें एक लंबी पतली छड़ीके एक सिरेपर डोरी बँधी होती है और दूसरे सिरेपर अंकुशके आकारकी लोहेकी एक कँटिया बँधी रहती है, जिसमें चारा लपेटकर डोरीको जलमें फेंकते हैं। छड़ीको शिकारी पकड़े रहता है। जब मछली वह चारा खाने लगती है, तब वह कँटिया उसके गलेमें फँस जाती है और वह खींचकर निकाली जाती है। अंकुश=श्रीरघुनाथजीके दक्षिण पदकमलमें स्वस्तीक चिह्नके पास उसके दाहिने कल्पवृक्षके नीचे अनामिकाके सम्मुख यह चिह्न है, जिसका रंग श्याम है। यह हाथीको वशमें रखनेवाले दोमुँहा भालेके आकारका होता है, जिसका एक फल झुका होता है। इस रेखाके ध्यानसे मन-मतंग वशमें होता है। वेधना=भेदन करना, छेदना।

पद्यार्थ—हे हरि ! आपने (मुझपर) बहुत कृपा की। मुझे आपने कृपा करके देवताओंको भी दुर्लभ साधनधाम (मनुष्य) शरीर दिया ।१। हे प्रभो ! यद्यपि आपका एक-एक उपकार भी करोड़ों मुखोंसे भी नहीं कहा जा सकता, तथापि, हे नाथ ! मैं आपसे कुछ और भी माँगूँगा, हे परम उदार ! आप उसे दीजिये*। २। मनरूपी मछली विषयरूपी जलसे एक पल भी कभी अलग नहीं होता, इसीसे मैं अत्यन्त कठिन दुःख सहता हूँ, अनेक योनियोंमें जन्म लेता रहता हूँ†। ३। (मन मछली-को विषयरूपी जलसे बाहर निकालनेका उपाय बताते हैं कि—) कृपा डोरी हो, चरणचिह्न अंकुश वंशी (कँटिया) हो और परम प्रेम कोमल चारा हो, इस प्रकार (अर्थात् कृपारूपी डोरीसे परमप्रेमरूपी कोमल चारा लगी हुई अंकुश चिह्नरूपी वंशीको बाँधकर मेरे मनरूपी मीनको)

---

*अर्थान्तर—आप तो बडे ही उदार हृदय हैं, मुझे अवश्य दीजिए।—(दीन, वि०, भ०)।

†'जनमि कुजोनि अनेक' पाठसे अर्थ होगा कि 'अनेक कुत्सित (तिर्यक् आदि) योनियोमे जन्म लेकर अत्यन्त दारुण दुःख सहता हूँ।' 'कुजोनि' मे जन्म अन्यत्र विनयमे नही याद आता। योनियोमे जन्म अन्यत्र भी है, यथा 'जोनि बहु जन्मि किये कर्म खल विविध विधि । २११ (२)।', 'जनम अनेक बिवेकहीन बहु जोनि भ्रमत नहिं हार्‌यो। २०२।', 'बहु जोनि जनम जरा -बिपति मतिमंद हरि जान्यो नही १३७ (१)।' इत्यादि। 'अनेक' मे सब प्रकारकी योनियाँ आ जाती हैं। अतएव हमने विशेष मतको ही ग्रहण किया है।

बेधकर मेरा दुःख हर लीजिए। हे श्रीरामजी ! यह आपके लिये एक कौतुक (दिलबहलावका खेल) होगा। ४। (यों तो) वेदोंमें समस्त देवता उपाय (रूपमें) प्रसिद्ध हैं।‡ (पर) यह दीन किस-किसका निहोरा करता फिरे। तुलसीदासजी कहते हैं कि इस जीवको जिसने मोहरूपी रस्सीसे बाँधा है, वही इसको छोड़ेगा। दूसरा छोड़नेको समर्थ नहीं है)। ५।

टिप्पणी—१ (क) 'हरि तुम्ह बहुत अनुग्रह कीन्हों' इति। पिछले पदमें जो कहा था 'जाउँ कहाँ तजि चरन तुम्हारे' इत्यादि, उसी संबंधमें और भी कारण अब बताते हुए प्रार्थना करते हैं। नरतन देना 'भारी अनुग्रह' है, क्योंकि यह देवताओंको भी दुर्लभ है—'सुरदुर्लभ सब ग्रंथन्हि गावा। ७।४३।७।' दूसरे यह कि जीव ८४ लक्ष योनियोंमें माया काल, कर्म, गुण, स्वभावके घेरेमें पड़ा हुआ अनादिकालसे भ्रमता चला आ रहा है। ये सब योनियाँ भोग-योनियाँ हैं। इनमें केवल पाप पुण्यका भोगमात्र होता है। नरशरीरसे अन्य किसी शरीरमें पुरुषार्थका सामर्थ्य नही है और जीव अपने कर्मसे मनुष्य शरीर पानेका अधिकारी नहीं हो सकता। भगवान् अपने करुणा-गुणसे इसे नरतन देते हैं। यथा 'आकर चारि लच्छ चौरासी। जोनि भ्रमत यह जिव अबिनासी॥ फिरत सदा माया कर प्रेरा। काल कर्म सुभाव गुन घेरा॥ कबहुँक करि करुना नरदेही। देत ईस बिनु हेतु सनेही॥ ७। ४४। ४-६।', 'जीवे दुःखाकुले तस्य कृपा काप्युपजायते।' (पंचरात्र), अर्थात् जीवको व्याकुल देखकर ईश्वर कृपा करके कभी शरीर दे देते हैं। 'दुःखाकुल जीव' के चौरासी-भ्रमण-क्लेशके हरनेके लिये कृपा करनेसे 'हरि' संबोधन दिया।

१ (ख) 'साधन धाम···' इति। भाव कि नरतनसे ही स्वर्ग, नरक और अपवर्ग तथा अर्थ, धर्म, काम और मोक्षके साधन हो सकते हैं। कर्म, ज्ञान, उपासना, योग, यज्ञ, दान आदि सब मनुष्य शरीरसे ही बन सकते हैं। मनुष्यजीवन इतना पूर्ण है कि उसमें भजनके लिये कोई भी असुविधा नहीं है।—यहाँ 'साधन' से मोक्षके साधन ही अभिप्रेत हैं। कुछका उल्लेख कविने पद २०२ में किया है। यथा "काज कहा नरतनु धरि सार्‍यो। पर-उपकार सार श्रुतिको सो तो धोखेहुं मैं न बिचार्‍यो॥ द्वैतमूल, भय सूल सोक फल, भव तरु टरइ न टार्‍यो। रामभजन तीछन

‡ प्राय. पूर्वके टीकाकारो पं० रामकुमारजी, बैजनाथजी, भट्टजी, दीनजी, वियोगी-जी आदिने अर्थ किया है कि—"छूटनेके उपाय श्रुतिमे विदित हैं और देवता सब हैं (छोड़नेके लिये) पर यह दीन किस किसका विहोरा ले और कौन-कौन उपाय करे।"

कुठार लेइ सो नहिं काटि निवार्‍यो ॥ संसय सिंधु नाम-बोहित भजि निज आत्मा न तार्‍यो ।···सम दम दया दीन-पालन सीतल हियं हरि न सँभार्‍यो ॥···।" भाव कि नरतनसे ये साधन करने चाहिए। 'विबुध दुर्लभ तन' और 'कृपा करि दीन्हें' के भाव ऊपर (क) में आ चुके हैं।—८३ (१ ग, घ) भी देखिए।

टिप्पणी—२ 'कोटिहु मुख कहि जाइ न···' इति। (क) 'कोटिहु' का भाव कि मेरे तो एक ही मुख है, तब मैं कैसे कह सकूँगा। पुनः भाव कि सरस्वती सबकी जिह्वापर बैठकर कहलाया करती है, यदि वह करोड़ों पुरुषों-की जिह्वापर बैठकर एक-एक उपकारको कहलावे तो भी वह पार न पावेगी।

२ (ख) 'एक-एक उपकार' इति। यथा 'दियो सुकुल जन्म, सरीर सुंदर हेतु जो फल चारि को। यहु भरतखंड समीप सुरसरि, थल भलो, संगति भलो॥ १३५।', 'तैं निज कर्म जाल जहँ घेरो। श्रीहरि संग तज्यो नहिं तेरो। बहु बिधि प्रतिपालन प्रभु कीन्हों। परम कृपाल ज्ञान तोहि दीन्हों। १३६।', 'गरभवास दस मास पालि पितु-मातु-रूप हित कीन्हों। जड़हिं बिवेक सुसील खलहि अपराधिहिं आदरु दीन्हों॥ कपट करौं अंतरजामिहुँ सों अघ ब्यापकहि दुरावौं। ऐसे कुमति कुसेवकपर रघुपति न कियो मन बावौं॥ उदरु भरौं किंकरु कहाइ बेंच्यो बिषयन्ह हाथ हियो है। मोहिसे बंचक को कृपाल छल छाड़ि कै छोह कियो है॥ पल-पलके उपकार रावरे जानि बूझि सुनि नीकें। भिद्यो न कुलिसहु तें कठोरु चित कबहुँ प्रेम सिय पीकें॥···एतेहुपर हित करत नाथ मेरो करि आयो अरु करिहैं। तुलसी अपनी ओर जानियत प्रभुहि कनौडोइ भरिहैं। १७१।', इत्यादि।

२ (ग) 'तदपि नाथ कछु और माँगिहौं'—भाव कि उपर्युक्त सब तो आपने अपनेसे ही कृपा करके दिया, अब मैं कुछ अपनेसे माँगता हूँ, उसे भी दीजिए। श्रीसुतीक्ष्णजीने भी कहा है। 'प्रभु जो दीन्ह सो बर मैं पावा। अब सो देहु मोहि जो भावा। ३। ११।' 'कछु' का भाव कि आपने तो बहुत दिया है अपनी ओरसे, मैं तो 'कुछ' ही माँगता हूँ, अतः आप इसे मेरे माँगनेसे दें। योग मिला, क्षेम चाहते हैं। इसीसे 'परम उदार' विशेषण देते हैं।

२ (घ) 'परम उदार' से जनाया कि याचकके बारंबार माँगनेपर भी उकताते नहीं वरंच प्रसन्न होते हैं और देते जाते हैं।—'जासु कृपा नहिं कृपा अघाती', ऐसा उदार दूसरा नहीं। यथा 'एकै दानिसिरोमनि साँचो। जेइ जाँच्यो सोइ जाचकता बस फिरि बहु नाच न नाच्यो। १६३।'

टिप्पणी—३ 'विषय-वारि मन-मीन'…' इति। (क) शब्दादि विषयों-को जलकी उपमा दी, इसीसे मनको मछली कहा। मछली जलमें डूबती उतराती हुई उसीमें सुख मानती है, यथा 'सुखी मीन जे नीर अगाधा ४।१७।१।' वैसे ही मेरा मन विषयोंमें डूबा (आसक्त) रहता है, क्षणभर भी बाहर नहीं हो सकता। इनसे कभी तृप्ति नहीं होती। ६२ (३ ख) देखिए।

'विषय वारि…' में यह भी भाव ले सकते हैं कि जैसे मछली पानी-को ही अपने जीवनका मूल समझकर एक जलाशयसे दूसरे जलाशयको जाती है, उसी तरह मैं भी मोहवश एक शरीरसे दूसरे शरीरमें भटकता रहा हूँ। जैसे मत्स्य अज्ञानवश अपनेको जलसे भिन्न नहीं समझता, उसी प्रकार मैं भी अपनी अज्ञताके कारण इस प्राकृत शरीरसे अपनेको भिन्न नहीं समझता। यथा 'अहमेव हि सम्मोहादन्यमन्यं जनाज्जनम्। मत्स्यो यथोदकज्ञानादनुवर्तितवानहम्'॥ मत्स्योऽन्यत्वं यथाज्ञानादुदकान्नाभि-मन्यते। आत्मानं तद्वदज्ञानादन्यत्वं नैव वेद्म्यहम्।' (म. भा. शान्ति, ३०७।२४–२५।'

३ (ख) 'ताहि ते सहिअ बिपति…' इति। विषयसंगसे अनेक दुसह दुःख होते हैं और जीव इसे जानता भी है, यथा 'जदपि बिषय संग सहे दुसह दुख बिषम जाल अरुझान्यो। तदपि न तजत मूढ़ ममताबस, जानत हूँ नहि जान्यो।८८(२)।', 'देखत बिपति बिषय न तजत हौं ताते अधिक अजान्यो। ६२ (२)।'—विशेष ८८ (२क-ग), ६२ (२ग) देखिए।

३ (ग) 'जनमत जोनि अनेक' इति। विषयासक्त मनही जन्म-मरण संसारचक्रका कारण है। यथा 'नायं जनो मे सुखदुःखहेतुर्न देवताऽऽत्मा ग्रहकर्मकाला। मनः परं कारणमामनन्ति संसारचक्रं परिवर्तयेद्यत्॥ भा. ११।२३।४३।' (अर्थात् मनुष्य, देवता, आत्मा, ग्रह, कर्म या काल कोई भी मेरे सुख-दुःखका कारण नहीं है, वरन् एक मनही है जो संसारचक्रमें भ्रमण कराता है। ४३। अत्यन्त बलवान् मन गुणोंकी वृत्तियाँ उत्पन्न करता है, गुणोंसे सात्त्विक राजस तामस कर्म होते हैं और कर्मानुसार ही जन्म होते हैं।…), 'पाँचइ पाँच परसरस सब्द गंध अरु रूप। इन्ह कर कहा न कीजिए बहुरि परब भवकूप। २०३ (६)।'

टिप्पणी—४ (क) 'कृपा डोरि बंसी पद अंकुस ' इति। मन-मीनको विषयोंसे छुड़ानेका उपाय बताते हैं। मछली अपनेसे बाहर कभी नहीं निकलेगी, मछवाह ही चारा कँटियामें लगाकर उसके सामने फेंकता है जिससे वह चाराके लोभमें पड़कर फँस जाती है और जबरदस्ती बाहर

निकाल ली जाती है। यहाँ प्रभु मछवाह हैं। डोर जिसमें कँटिया बाँधी जाती है—यही प्रभुकी कृपा है, अंकुश-चिह्न कँटिया है और परम प्रेम मृदु चारा है। बिना डोरीके मछली बाहर निकाली नहीं जा सकती, कँटिया और चारा सब उसीके संबंधसे काम करते हैं। वैसेही हरिकृपा मनको विषयसंगसे उपरत करनेमें मुख्य है। कृपा होनेपर ही अंकुश चिह्नमें परमप्रेम होगा, और उससे मन विषयोंसे विरक्त हो जायगा।※

[वैजनाथजी लिखते हैं—"प्रीतिकी उमंगको प्रेम कहते हैं। इसकी विह्वल दृष्टि है। जबतक मन बूड़ै-उतराय तब तककी दशाका नाम 'प्रेम' है। जब मन एकरस बूड़ा रहै तब 'परम प्रेम' कहा जायगा। परमप्रेम= अनुराग। यह प्रेमकी बारहवीं 'संतृप्त' दशा है। यथा 'साधन शून्य लिये शरणागत नैन रँगे अनुराग नशा है। भूतल व्योम जलानल पावक भीतर बाहर रूप बसा है॥ चिन्तवना हम बुद्धिमयी मधु ज्यों मखिया मन जाइ फँसा है। बैजसुनाथ सदा रस एकहि या विधि सों संतृप्त दसा है॥']

'परम प्रेम मृदु चारो' इति। प्रेम बड़ा कोमल है तब 'परम प्रेम' की कोमलताका क्या कहना! इसीसे उसको 'मृदु चारा' कहा। मिलान कीजिए—'परम प्रेममय मृदु मसि कीन्ही। चारु चित्त भीती लिखि लीन्ही। १।२३५।३।' चारा यदि कोमल न हो, तो मछली कँटियामें शीघ्र फँस न पायगी। कोमल होनेपर उसे खाते ही मछली तुरत फँस जाती है। इसीसे 'मृदु' विशेषण दिया।

४ (ख) 'एहि बिधि बेधि ' इति। मछली कँटियासे विधकर जलसे निकलते ही मर जाती है। वैसेही परमप्रेमसे अंकुशका ध्यान करनेसे मन विषयवारिसे निकलकर मर जायगा, अर्थात् विषयविमुख हो जायगा। विषयोंसे विमुख हो जानेसे 'विपति अति दारुन जनमत जोनि अनेक'-रूपी दुःख, जो ऊपर कह आये हैं वह मिट जायँगे।

४ (ग) 'कौतुक राम तुम्हारो' इति। जिस कृपाकी याचना कर रहे हैं, उसे 'कौतुक' कहकर जनाया कि इसमें आपको किंचित् परिश्रम वा कष्ट नहीं होनेका, प्रत्युत दिलबहलाव होगा, मनोरंजन होगा, और मेरा काम बन जायेगा। 'कौतुक' के सम्बंधसे 'राम' संबोधन दिया। राम 'रमु

※श्रीकान्तशरणजीका मत है कि प्रभुके "एक चरणमे 'वंशी' है, दूसरेमे अंकुश' है। दोनो चिह्नोको ग्रंथकारने इस रूपकमे लिया है। 'कृपा डोरि' ने दोनोको जोड़ा है।" उन्होने अर्थ यह किया है—'अपने चरणके वंशी चिह्नको वंशी एवं अंकुशचिह्नको वंशीका काँटा बनाइए।"

क्रीडायाम्' धातुसे बनता है। कौतुक=क्रीड़ा। श्रीरामजीको कौतुक प्रिय है, फिर वे राजा हैं, राजाओंको खेल तमाशा अच्छा लगता है, इसीसे उनको 'परम कौतुकी' भी कहा गया है। यथा 'हँसे राम श्री अनुज समेता। परम कौतुकी कृपानिकेता।६।११६।८।'

टिप्पणी—५ 'है श्रुति विदित उपाय···' इति। आगे पद १६२ में भी कहा है—'वेद विदित साधन सबै सुनियत दायक फल चारि। रामप्रेम बिनु जानिबो जैसे सर-सरिता बिनु बारि॥ नाना पथ निरबानके नाना विधान बहु भाँति।', इसीसे यहाँ 'परम प्रेम' माँगते हैं। मोह छुड़ानेमें 'है श्रुति विदित उपाय सकल सुर' कहते हैं। उदाहरणमे सरस्वतीरहस्योपनिषद्, गणपत्युपनिषत्, त्रिपुरोपनिषत्, गणेशधर्म-शीर्ष, गरुडोपनिषत्, हयग्रीवोपनिषत्, सूर्योपनिषत् और सावित्र्युपनिषत् आदिको ले सकते हैं। इनमें इन-इन देवताओंकी ही प्रायः सभी मंत्रोंमें उपादेयता और उपायता बतलाई गई है। इसी तरह संहिताके सूक्त मंत्रोंमें इन्द्र, वरुण, कुबेर, मित्र, अग्नि और यम आदि भी उपाय कहे गए हैं। अतः 'श्रुति विदित' कहा।

५ (ख) 'जीव मोह रजु जेहि बाँध्यो सोइ छोरै' इति। ईश्वर कर्मफलदाता है। जीव भी अनादि है और उसके कर्म भी अनादि हैं। ये दोनों 'बीजाङ्कुरन्याय' से अनादि सिद्ध हैं। सदासे ही अङ्कुरका कारण बीज और बीजका कारण अंकुर होता चला आया है। इसी भाँति जन्मका कारण पूर्वार्जित कर्म और उसका भी कारण पूर्वजन्म, यह कर्म अनादि कालसे चला आता है और ईश्वरभी अनादिकालसे तत्तत् कर्मोंका फल देता चला आता है। इसीसे ईश्वरका जीवको बाँधना, 'जेहि बाँध्यो', कहा गया। यथा 'जेहि बाँधे सुर असुर नाग नर प्रबल करम की डोरी।९८।'

जीव शुभाशुभ कर्म मोहवश करता है। अहंकारसे विमोहित जीव अपनेको कर्त्ता मान लेता है। कर्तृत्वाभिमानी होनेसे ही वह बंधनमें पड़ता है। इसीसे 'मोहरज्जु' से बाँधना कहा। स्वस्वरूप ज्ञान होनेपर कर्म (बंधनकारक) नहीं होता। यथा 'कर्म कि होहिं स्वरूपहि चीन्हे। ७।११२।३।' जीव मायाके वश होकर मोहमें पड़ गया।

'सोइ छोरै'—ईश्वर ही मोहसे छुड़ाकर जीवको मोक्ष दे सकता है, जीव अपने पुरुषार्थसे बंधन नहीं काट सकता। अन्यत्रभी कहा है—'नाथ जीव तव माया मोहा॥ सो निस्तरइ तुम्हारेहिं छोहा।४।३।२।, 'तुलसिदास प्रभु मोह शृंखला छूटिहि तुम्हरेहिं छोरें।११४।', 'काल कर्म गति अगति जीव कै सब हरि हाथ तुम्हारें।११२।'

॥ श्रीसीतारामचन्द्रार्पणमस्तु ॥

१०३ (राग धनाश्री)

यह[1] बिनती रघुबीर गुसाईं।
और आस बिस्वास भरोसो हरो[2] जिय की जड़ताई। १
चहौं न सुगति सुमति संपति कछु रिधि सिधि बिपुल बड़ाई।
हेतु रहित अनुराग नाथ[4] पद बढ़ो[5] अनुदिन अधिकाई। २
कुटिल करम लै मोहि[6] जाय जहँ जहँ[7] अपनी बरिआई।
तहँ तहँ जिनि[8] छिन छोह छाड़िए कमठ अंड की नाईं। ३
है[9] जग में जहँ लौं[10] या तन की प्रीति प्रतीति सगाई।
ते सब तुलसिदास प्रभु 'ही[11]सों होहु' समिटि[12] एक ठाईं। ४

शब्दार्थ—और=अन्य वा दूसरेका। आस=आशा। जिय—पूर्व प्रसंग ('तुलसिदास यह जीव मोह रजु जेहि बाँध्यो सोइ छोरै') के संबंधसे इसका अर्थ 'जीव' है और साधारण अर्थ 'मन' है। 'जीव' अर्थमें कई पदोंमे आया है। यथा 'जिय जब तें हरि तें बिलगान्यो। १३६।', 'राम राम जपि जीय सदा सानुराग रे। ६७।', 'राम राम राम जीय जौं लौं तू न जपिहैं। ६८।' जड़ताई=अज्ञान, मूर्खता। चहना=इच्छा करना; देखना; चाह करना। (टि० २ क भी देखिए)। रिधि (ऋद्धि)=समृद्धि; बढ़ती। ऋद्धि-सिद्धि=समृद्धि और सफलता। ६६ (श०) देखिए।

१ इह—रा०, डु०, मु०। इहै—ह०। यह—औरोमे। २—हरो जिय की—रा०, भा०, वे०, बक्सर, ह०, ७४। हरो जीव—वै०। हरौ जीव—दीन, वि०, डु०। हरु जिय की—मु०, भ०, ५१। ३—चहो—रा०, भा०, वे०, मु०, डु०। चहौ—वै०, दीन, भ०, वि०। ४ नाथ—रा०, भा०, वे०, ह०, ७४, प्र०, ज०। राम—५१, आ०। ५ वढो—रा०, भा०, वे०, बक्सर, भ०, डु०। वढै—वै०, वि०। वढौ—दीन, श्री० श०। वढ—मु०। ६ लै मोहि जाय—रा०, ज०, ह० (जाइ)। लै जाय (जाइ—भ०, वि०, ह०)। मोहिं—भा०, वे०, मु०, दीन, ७४। ७ तहँ—रा०, मु०। ८ जिनि—रा०, दीन, भ०। जिन—डु०। जनि—भा०, वे०, मु०, वै०, ह०, ७४, वि०। ९ है—रा०, भा०, वे०। यह—मु०, वै०, भ० (यहि), दीन (यहि)। या—वि०। १० लो—रा०। लौ—ह०। लगि—प्रायः औरोमे। ११ ही सो होहु—रा०, मु०, दीन, ५१, ज० (होउ)। ही सो होहिं—वै०, भ०, वि०, ह०, ७४, डु०। सो मेरी होहि—भा०, वे०। १२ समिटि—रा०, ७४। सिमिटि—प्रायः औरोमे।

सिधि (सिद्धि)=अष्ट सिद्धियाँ ।—पद १ 'सिद्धि सदन गजबदन विनायक' में देखिए। विपुल=बहुत, अधिक, बड़ी। हेतु=कारण। अनुदिन=प्रत्येक दिन; दिनों दिन। 'अनु' उपसर्ग यहाँ 'प्रत्येक' अर्थका संयोग करता है। बढ़ो=बढ़ै। जैसे—'सीताराम चरन रति मोरें। अनुदिन बढ़उ अनुग्रह तोरें।२।२०५।२।'; 'लोग कहउ गुर साहिब द्रोही २।२०५।१।' में 'कहउ'=कहें; बसहु=बसैं ('बसहु राम सिय मानस मोरें। ११'); 'सुनि खल छल बल कोटि कियो बस होहु न भगत उदार। १८८।' में होहु=होते, होहि; 'सो कृपाल मोहि तोहि पर सदा रहउ अनुकूल।७। १२४।' में रहउ=रहें; 'होहु समिटि एकठाई' में भी 'होहु=होवे, होहि। इत्यादि। कुटिल=खोटे, प्रतिकूल। बरिआई=जबरदस्ती, बलात्। यथा 'चल न विप्रकुल सन बरिआई १।१६५।' जिनि=नहीं, मत, न। छिन (क्षण) =कालका बहुत छोटा भाग।=किंचत् वा थोड़ी देर भी। छोह=प्रेम, दया, अनुग्रह। कमठ=कछुआ। अंड=अंडा।—बच्चोंका, दूध न पिलानेवाले (मादा) जन्तुओंके गर्भाशयसे उत्पन्न, गोल पिंड जिसमेंसे पीछेसे उस जीवके अनुरूप बच्चा बनकर निकलता है। 'कमठ अंड की नाईं'—कछुएके विषयमें यह प्रसिद्ध है कि वह अंडेपर या उसके पास बैठकर उसे नहीं सेता, जैसा और अण्डजोंमें पाया जाता है। देखा जाता है कि वह रेतमे अण्डेको दबा देता है। जहाँ भी रहता है वहींसे उस अंडेपर सुरति लगाये रहता है। सुरतिमात्रसे अंडा पुष्ट होता जाता है और समयपर फूटकर उसमें से बच्चा पैदा होता है। नाईं=समान; तरह। प्रतीति=विश्वास। सगाई=संबंध। होहु=हो जावें। ठाईं=ठौर, ठिकाना, स्थान।=पास।

पद्यार्थ—हे रघुवीर! हे गोसाईं! (आपसे मेरी) यही विनती है कि इस जीवकी 'दूसरोंकी आशा, विश्वास और भरोसा'-रूपी मूर्खताको हर लीजिये। १। शुभ गति, सद्बुद्धि, धन-ऐश्वर्य, ऋद्धि-सिद्धि और बहुत बड़ी बड़ाई आदि कुछ भी मैं न चाहूँ (इनकी चाह न करूँ। इनकी ओर मैं देखूँ भी नहीं।)। हे नाथ! आपके चरणोंमें मेरा कारणरहित (निष्काम) प्रेम दिनोंदिन अधिकताके साथ (अधिकसे अधिक) बढ़ता रहे। २। (मेरा) कुटिल कर्म अपने बलसे मुझे लेकर जहाँ-जहाँ जाय वहाँ-वहाँ मुझपर आप (अपनी) कृपा कमठ-अंडकी तरह क्षण भरके लिये भी न छोड़ियेगा। ३। हे तुलसीदासके प्रभु! (वा तुलसीदासजी कहते हैं कि हे प्रभो!) जगत्में जहाँ तक इस शरीरका प्रेम, विश्वास और संबंध है, वह सब सिमिटकर एक ठिकाने आपसे ही हो जाय। ४।

नोट—१ अब षट् शरणागतिमेंसे 'आनुकूलस्य संकल्पः' अर्थात् हरिके अनुकूल आचरण-ग्रहणका संकल्परूप शरणागति द्वारा विनय करते हैं। इस शरणागतिकी व्याख्या यह है—"नाम रूप लीला सुरति धामबास सत्संग। स्वाति सलिल श्रीराममन चातक प्रीति अभंग॥" (वै०)।

टिप्पणी—१ 'यह बिनती रघुबीर···' इति। (क) पिछले पदमें प्रभुके उपकारोंके प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट की थी। इस पदमें अपना अभीष्ट स्पष्ट करते हैं। 'रघुबीर' पंचवीरतायुक्त जनाते हुए यहाँ दयावीरता गुणको लेकर 'रघुबीर' संबोधित किया, आगे 'जिनि छिन छोह छाड़िए' यह प्रार्थना करेंगे। गुसाईं (गोसाईं) = ('गो' इन्द्रिय, गौ, पृथ्वी आदि) के स्वामी। = सबके स्वामी। गोसाईं कहकर जनाया कि आपके समान दूसरा स्वामी नहीं है। यथा 'स्वामि गोसाँइहि सरिस गोसाईं। २।२९८।' अतएव मैं आपसे बिनती करता हूँ। पिछले पदमें कह ही आये हैं कि 'हैं श्रुति बिदित उपाय सकल सुर केहि केहि दीन निहोरै।'

१ (ख) 'और आस बिस्वास भरोसो···' इति। 'और' से अन्य देवता, दनुज, मुनि, नाग, मनुष्य, जप-योग-यज्ञ तप-तीर्थ-व्रत आदि समस्त साधन, अन्य देवादिकोंके मंत्र, यन्त्र, तंत्र आदि सूचित किये। इनमें से किसीसे भी आशा, किसीका भी विश्वास तथा किसीका भी भरोसा न करना चाहिए। क्योंकि औरोंकी आशा करनेसे अपने इष्टमें विश्वासकी कमी पाई जाती है, यथा 'मोर दास कहाइ नर आसा। करइ तौ कहहु कहा बिस्वासा। ७।४६।३।'

भगवान्की शरण होकर फिर औरका आशा-भरोसा-विश्वास करना कपट है, कपट रहते हुये प्रभु नहीं अपनाते। यथा 'मोहि कपट छल छिद्र न भावा।' अनन्योपाय तथा निष्कपट प्रीतिवाला दास प्रभुको प्रिय होता है। यथा 'सर्व भाव भज कपट तजि मोहि परम प्रिय सोइ। ७।८७', 'नहि कोऊ प्रिय मोहि दास सम कपट-प्रीति बहि जाउ। गी० ५।४५।' अतएव गोस्वामीजी और आशा-भरोसा-विश्वासका हरण करनेकी प्रार्थना करते हैं।

पद ४६ में रामनामकी महिमा बताकर मनको उपदेश दिया कि 'त्यागि सब आस संत्रास ··नाम जपु'। उपदेश नहीं माना तब पद ८७ में पुनः कहा—'सुनि मन मूढ़ सिखावन मेरो' और समझाया कि 'छुटै न बिपति भजे बिन रघुपति', अतः 'सब आस छाँड़ि करि होहि राम को चेरो'। फिर भी न माननेपर प्रभुसे प्रार्थना की कि आप इसे डाँट दें।—'तुलसिदास बस होइ तबहि जब प्रेरक प्रभु बरजै। ८९' पिछले पदमें प्रार्थना की

थी कि 'विषय वारि मन मीन भिन्न नहिं होत कबहुँ पल एक'।—इसके संबंधसे 'और आस' से सांसारिक समस्त विषयोंकी आशाके हर लेनेकी प्रार्थना यहाँ सूचित की। इसीको आगे 'चहो न सुगति सुमति संपति कछु रिधि-सिधि विपुल बड़ाई' से और स्पष्ट कर दिया है। प्रभुके चरणोंकी आशा, विश्वास और भरोसाके अतिरिक्त जितनी भी अन्य आशायें आदि हैं उन सबोंके हरण करनेकी प्रार्थना है। क्योंकि आशा ही मनुष्यको उद्यमशील बनाती है, देवताओं, राजाओं, दैत्यों और धनियोंके पास तथा वनों, पर्वतों आदिमें घुमाती रहती है। इसका वार-पार नहीं। आशा ही परम दुःख है। जबतक यह बनी रहती है तबतक जीवको सुख कहाँ? सदा भवप्रवाहमें बहते रहना पड़ता है।—विशेष ४६ (६ छ, ज), ८७ (४ क, ग) में देखिए। यही आगे भी कहा है। यथा 'पावैं सदा सुख हरिकृपा संसार आसा तजि रहै।१३६।'

१ (ग) प्रथम मनुष्यको आशा (अप्राप्त अभिलषित वस्तुके पानेकी इच्छा तथा किंचित् निश्चय) उत्पन्न होती है। तब विश्वास और विश्वासके पश्चात् भरोसा। विश्वास वह धारणा है जो मनमें किसी व्यक्तिके प्रति उसका सद्भाव, हितैषिता, सत्यता, दृढ़ता आदि अथवा किसी सिद्धान्त आदिकी सत्यता अथवा उत्तमताका ज्ञान होनेके कारण होती है। अर्थात् विश्वास=किसीके गुणों आदिका निश्चय होनेपर उसके प्रति उत्पन्न होनेवाला मनका भाव। स्मरण रहे कि विषय या सिद्धान्तकी सत्यताका पूरा-पूरा प्रमाण न मिलने परभी उसकी सत्यताके संबंधमें भी ऐसी धारणा हुआ करती है। विश्वास होने पर तब भरोसा किया जाता है। भरोसा=आश्रय वा आसरा। अतएव आशा, विश्वास और भरोसा क्रमसे कहे। विश्वास-भरोसा यह कि इसका आश्रय लेनेसे हमारा कल्याण होगा।

[बैजनाथजी "अन्य कर्मादिकी आशा, मंत्र-तंत्रादिमें विश्वास और अन्य देवादिका भरोसा" ऐसा भाव लिखते हैं] ये सब शरणागतिके प्रतिकूल हैं।

टिप्पणी—२ 'चहों न सुगति...' इति। (क) सभी टीकाकारोंने 'चहों' का अर्थ 'चाहता' किया है। दासकी क्षुद्रबुद्धिमें तो यह साधारण अर्थ है। गोस्वामीजी विनय कर रहे हैं। 'और आस विश्वास भरोसो हरो जियकी जड़ताई।' से पद्यान्ततक प्रत्येक चरणमें प्रार्थना है। वे प्रभुसे प्रार्थना करते हैं कि जीवकी जड़ता हर लीजिये, सुगति-सुमति आदिकी चाह भी मेरे मनमें उत्पन्न न हो, एवं मैं इनकी ओर भूलकर भी न देखूँ। चहों=चाहूँ, चाह करूँ।=देखूँ। यथा 'सखी सीय मुख पुनि पुनि चाही। गान करहिं निज सुकृत सराही।१।३४६।५।'—ये अर्थ दासको विशेष समीचीन

जान पड़ते हैं। (ख) 'सुगति'से सब प्रकारकी सद्गति जना दी। कैवल्य मोक्ष, सालोक्य, सारूप्य, सार्ष्टि और सामीप्य मुक्तियाँ। स्वर्गवास आदि-को भी कुछ लोग सद्गतिमें लेते हैं। 'सुमति' अर्थात् शुद्ध सद्बुद्धि।— (वैजनाथजी इससे 'विद्या आदि' और वियोगीजी 'ज्ञान'को लेते हैं)। आगे 'हेतु रहित अनुराग' माँगते हैं; अतः यहाँ 'सुमति'से प्रतिभा वा धार्मिक आदि उत्तम बुद्धिको ले सकते हैं, 'हेतुरहित अनुराग'के अतिरिक्त अन्य प्रकारकी सद्बुद्धिका ही यहाँ ग्रहण होगा। 'संपत्ति'—धन, ऐश्वर्य। 'बड़ाई' अर्थात् जिससे लोकमें कीर्ति फैले, प्रशंसा हो। इनसे प्रायः सब प्रकारकी कामनायें जना दीं। ये सब श्रीरामभक्तिके बाधक हैं। इसीसे भक्त इनसे भागते हैं। यथा 'सुख-संपति परिवार बड़ाई। सब परिहरि करिहउँ सेवकाई॥ ए सब राम भगति के बाधक। कहहिं संत तव पद अव-राधक॥ अब प्रभु कृपा करहु एहि भाँती। सब तजि भजन करउँ दिन राती॥ ४।७।१६,१७,२१।', 'धरम नीति उपदेसिअ ताही। कीरति भूति सुगति प्रिय जाही।', 'मैं सिसु प्रभु सनेह प्रतिपाला' (ये श्रीलक्ष्मणजीके वचन हैं)। प्रभुके प्रेमी कीर्ति, विभूति, सुगति कुछ नहीं चाहते और न धर्मकी चाह करें। प्रह्लादजीने भी यही वर माँगा है कि मेरे हृदयमें किसी प्रकारकी कामनाओंका अंकुर न जमे।—'कामानां हृद्यसंरोहं भवतस्तु वृणे वरम्। भा० ७।१०।७।'—अतएव इन समस्त चाहनाओंकी निवृत्ति कराके आगे 'हेतुरहित अनुराग' माँगते हैं।

२ (ग) 'हेतु रहित अनुराग नाथ पद' इति। अहैतुकी भक्ति क्या है, यह भगवान् कपिलने माता देवहूतिजीसे यों बतलाया है—'देवानां गुणलिङ्गानामानुश्रविककर्मणाम्। सत्त्व एवैकमनसो वृत्तिः स्वाभाविकी तु या। ३२। अनिमित्ता भागवती भक्तिः सिद्धेर्गरीयसी।' (भा० ३।२५।)। अर्थात् जिसका चित्त एकमात्र भगवान्में लग गया है, ऐसे मनुष्यकी वेद-विहित समस्त कर्म करनेवाली तथा विषयोंका ज्ञान करानेवाली इन्द्रियों और उनके अधिष्ठाता देवताओंकी जो सत्त्वमूर्ति श्रीहरिके प्रति स्वाभाविकी प्रवृत्ति है वह भगवान्की 'अहैतुकी' भक्ति है। साराश कि जिन इन्द्रियोसे शब्दादि विषयोका अनुभव होता है, उनकी भगवान्मे स्वाभाविकी प्रवृत्तिको 'अहैतकी भक्ति' कहते हैं। हेतुरहित=अहैतुकी; अनिमित्ता, निष्काम, सहज स्वाभाव-को। यह मुक्तिसे भी श्रेष्ठ है। यह भक्ति शीघ्र कर्म-संस्कारके भण्डाररूप लिङ्ग शरीरको भी भस्म कर देती है।

हेतु रहित अनुरागी तत्सुख सुखी होता है। भगवान्को जिस प्रकार सुख मिले

उसीमें वह सुख मानता है। ऐसे अनुरागी श्रीहनुमान्‌जी, श्रीभरतजी, गोपिकावृन्दजी आदि हैं। —ऐसे ही अनुरागकी याचना गोस्वामीजी यहाँ कर रहे हैं।

२ (घ) 'बढ़ो अनुदिन अधिकाई' अर्थात् दिन दूनी रात चौगुणी बढ़े, कभी बढ़ी हुईसे घटे नहीं, किन्तु उससे बढ़ती जाय।

२ (ङ) नवयोगेश्वरोंमेंसे हरिने निमि महाराजके पूछनेपर उत्तम वैष्णवोंके लक्षण जो बताये हैं, उनमें ये भी लक्षण हैं जिनकी चाह इस पदमें की गई है।—"त्रिभुवनविभवहेतवेऽप्यकुण्ठस्मृतिरजितात्मसुरादिभिर्विमृग्यात्। न चलति भगवत्पदारविन्दाल्लवनिमिषार्धमपि यः स वैष्णवाग्र्यः। भा० ११।२।५३।" अर्थात् 'जिनका चित्त भगवान्‌के उन चारु चरणकमलोंमें ही लगा रहता है जिनको निरन्तर ध्यानपूर्वक खोजनेपर भी देवता नहीं पा सकते, जो त्रिलोकीके संपूर्ण वैभवका लोभ दिखानेपर भी उसकी उपेक्षा करके आधे क्षण या आधे निमेषके लिये भी भगवच्चरणचिन्तनको नहीं छोड़ते वे वैष्णवोंमें श्रेष्ठ हैं।'—उनकी धारणा है कि हरिचरणोंसे अधिक कुछ भी सार नहीं है। अतः वह केवल 'हेतु रहित अनुराग रामपद' के अतिरिक्त कभी कुछ नहीं चाहता।

टिप्पणी ३—'कुटिल कर्म लै मोहि जाय ···' इति। (क) मनुष्यके कर्म सदा उसके साथ रहते हैं। कभी उसको छोड़ते नहीं। उसको साथ लेकर अनेक योनियोंमें जाते हैं। कर्मोंके कारण ही सबका जन्म होता है और कर्म ही उनकी शुभाशुभ गतियोंके साधन हैं। यथा 'कर्मणा जायते सर्वं कर्मैव गतिसाधनम्। वि० पु० १।१८।३२।' इसीसे कहा कि 'लै मोहि जाय' मुझे लेकर जाय।

मनुजीने भी कहा है कि 'जैसे मछली जलके प्रवाहके साथ बह जाती है, उसी प्रकार मनुष्य पहिलेके किये हुये कर्मोंका अनुसरण करता है। उसे उस कर्म-प्रवाहमें बहना पड़ता है।'—'मत्स्यो यथा स्रोत इवाभिपाती तथा कृतं पूर्वमुपैति कर्म। म० भा० शान्ति० २०१।२४।' फलकी इच्छा रखनेवाला मनुष्य कर्मके फलमें आसक्त हो जैसे-जैसे गुणवाला—सात्त्विक, राजस या तामस—कर्म करता है, वैसेही-वैसे गुणोंसे प्रेरित होकर इसे उस कर्मका शुभाशुभ फल भोगना पड़ता है।—'यथा यथा कर्मगुणं फलार्थी करोत्ययं कर्मफले निविष्टः। तथा तथायं गुणसम्प्रयुक्तः शुभाशुभं कर्मफलं भुनक्ति। श्लो० २३।'

जीव सदा कर्मोंके अधीन रहता है। वह शुभ कर्मोंके अनुष्ठानसे देवता होता है, शुभ अशुभ दोनोंके सम्मिश्रणसे मनुष्यजन्म पाता है और केवल अशुभ कर्मोंसे पशु-पक्षी आदि नीच योनियोंमें जन्म लेता है।—'शुभैर्लभति

देवत्वं व्यामिश्रैर्जन्म मानुषम्। अशुभैश्चाप्यधो जन्म कर्मभिर्लभतेऽवशः। म० भा० शान्ति ३२६।२५।' 'कुटिल' से शुभाशुभमिश्रित और अशुभ दोनों प्रकारके कर्मोंको ले सकते हैं

३ (ख) 'जहँ जहँ अपनी बरिआई' इति। कर्म विविध प्रकारके होते हैं। -५६ (२ख), ६८ (२क) देखिए। कर्मोंके अनुसार ही चौरासी लक्ष योनियोंमेंसे किसीमें जन्म मिलता है। मनुष्य नहीं जानता कि किस योनि-में जन्म मिलेगा; 'कर्मणो गहना गतिः' कर्मकी गति कठिन है, विधाता ही जानते हैं, जो कर्मका फल देते हैं। यथा-'कठिन करम गति जान बिधाता। जो सुभ असुभ सकल फल दाता।२।२८२।४।' इसीसे किसी योनिका नियम नहीं किया, 'जहँ जहँ' कहा। ऐसा ही औरोंने भी कहा है। यथा 'जेहि जेहिं जोनि करम बस भ्रमहीं। तहँ तहँ ईस देउ यह हमहीं॥ सेवक हम स्वामी सिय-नाहू। होउ नात यह ओर निबाहू।२।२४।५-६' (बालसखा), 'जेहि जोनि जन्मौं कर्मबस तहँ राम पद अनुरागऊँ।४।१० छं०।' (बालि), 'नाथ योनिसहस्रेषु येषु येषु व्रजाम्यहम्। तेषु तेष्वच्युतो भक्तिरच्युतास्तु सदा त्वयि। वि॰ पु. १।२०।१८।' (अर्थात् प्रह्लादजी कहते है कि 'सहस्रों योनियों-में से मैं जिस जिसमें भी जाऊँ, उसी-उसीमें, हे अच्युत! आपमें मेरी सदा अक्षुण्ण भक्ति रहे'।)

निष्काम प्रेमकी याचना की है। इसीसे कुटिल कर्मोंके लिये क्षमा अथवा नाशकी प्रार्थना न करके उनको भोग लेनेमें ही प्रसन्नता प्रकट की। और, इसीसे 'जो जस करै सो तस फल चाखा' नियमके अनुसार योनियोंमें जन्म स्वीकार किया।

३ (ग) 'तहँ तहँ जिनि छिन छोह छाड़िये' इति। और सब तो भोग-योनियाँ हैं; एकमात्र मनुष्ययोनि ही साधन-योनि है जिससे जीवका उद्धार हो सकता है। इस योनिमें भगवान् गर्भमें जीवको ज्ञान देते हैं और वह भजनकी प्रतिज्ञा करता है; परन्तु जन्मके समय जो उसे कष्ट होता है उससे वह सब ज्ञान भूल जाता है और मायारूपी नारि तो प्रारंभसे ही उसे घेर लेती है। तब भोग-योनियोंकी तो बात ही क्या? अतएव प्रार्थना करते हैं—'तहँ तहँ…'। तात्पर्य कि मैं तो मायावश होनेसे स्वाभाविकही आपको भूल जाऊँगा, पर आप मुझे क्षणभर भी न बिसरावे, अपनी कृपा, दया, ममत्व निरन्तर बनाये रक्खे।

३ (घ) 'कमठ अंड की नाईं' इति। ना. पां० पद्मभू संहितामें भगवान् कहते भी है—'दर्शनात् स्मरणात् स्पर्शान्मीनकूर्मविहङ्गमाः। पालयन्ति यथा तोकान् तथाऽहं कमलोद्भव॥' अर्थात् मछली अपने बच्चोंको देखकर

ही पालन करती है, कछुआ अपने अंडे बच्चोंको स्मृति शक्ति (स्मरण) मात्रसे ही पालता रहता है तथा पक्षी अपने अंडोंको स्पर्श (सेंक) से पालन करता है। हे ब्रह्माजी ! इसी प्रकार मैं भी अपने भक्तोंको कभी देखकर, कभी स्मरणकर और कभी स्पर्शकर उन्हें पुष्ट करता रहता हूँ-पालन करता हूँ।* 'कमठ अंड' का दृष्टान्त मानसमें भी आया है। यथा 'रामहि बंधु सोच दिन राती। अंडन्हि कमठ हृदय जेहि भाँती।२।७।८।'

३ (ङ) प्रभु जीवके साथ अन्तर्यामी एवं साक्षीरूपसे सदा रहते हैं और छल छोड़कर स्मरण करनेसे कृपा करते ही हैं। यथा 'दूरि न सो हितू हेरि हिये ही है। छलहि छाँड़ि सुमिरे छोह किये ही है। १३५।' किन्तु यहाँ जो प्रार्थना है वह यह है कि मैं कदाचित् आपको भूल जाऊँ, आपका स्मरण न कर सकूँ तो भी आप छोह निरंतर बनाये रखिएगा। छोह बनाये रखनेसे मेरा उद्धार हो ही जायगा। यथा 'नाथ जीव तव माया मोहा। सो निस्तरइ तुम्हारेहि छोहा। ४।३।२।'

पुनः भाव कि मनुजयोनि छोड़ अन्य सब भोग-योनियाँ हैं, उनमें ज्ञान नहीं होता और मनुष्य शरीरमें ज्ञान होता है, यथा 'मानुष तनु गुन ज्ञान निधाना। २।२६४।४।' कुटिल कर्मोंके कारण संभव है कि मनुष्य शरीर न मिले, तब तो स्वाभाविक ही मैं आपको भूल जाऊँगा। अतएव 'कमठ अंड की नाईं' कृपा बनाये रखनेको कहा। अंडा जड़ है, उसका अवलंब कछुवेकी सुध-सुरतिपर ही है। कछुएको उसकी सुरत बिसर जाय तो वह मर जाय। वैसेही मुझको एकमात्र आपकी कृपाका ही अवलम्ब है। यदि क्षणभर भी कृपा भुला देंगे तो मैं कहींका न रह जाऊँगा। पुनः भाव कि जैसे कमठके सुरति बनाये रखनेसे समयपर बच्चा निकलकर

* 'चित्तसम्बोधनम्' में श्रीमदात्मानन्दस्वामीजी भी लिखते हैं—"यथा मत्स्यमहिला दर्शनेन, कूर्मसहधर्मिणी ध्यानेन, पक्षिपक्ष्मनाक्षी च संस्पर्शनात्मीयं शिशुं पालयति, तथा सज्जनोऽपि स्वममाश्रितं पापतापाकुलं दीनजनं दर्शनस्पर्शनादिभिरुपदेशेन च रक्षयति स्नेहवात्सल्यचेतसा।" अर्थात् जैसे मछली केवल दर्शनसे, कछुवी केवल ध्यानसे, चिड़िया केवल स्पर्श करके अपने बच्चोंको पालती है। अर्थात् मछलीकी माँ अपने बच्चेपर दृष्टि डालती रहती है, मादा कच्छप अपने अण्डेका ध्यान करती रहती है और चिड़िया अपने अण्डेका सेवन करके स्पर्श करती रहती है। इस प्रकार दर्शन, ध्यान और स्पर्शसे उनके बच्चोंका पालन होता है। वैसेही सन्त भी पाप-तापसे व्याकुल अपने आश्रित दीन व्यक्तिको प्रेमपूर्वक अपना दर्शन देकर चरणके स्पर्श-दान आदि और अपने उपदेशके द्वारा रक्षा करते हैं।

माताके पास पहुँचा जाता है, ऐसेही कृपा बराबर बनाये रहनेसे मैं आपको प्राप्त हो जाऊँगा।

टिप्पणी—४ 'है जगमें जहँ लों या तन ···' इति। (क) शरीरधारीका बहुतोंमें प्रेम, बहुतोंमें विश्वास और बहुतोंसे संबंध हो जाता है। यथा 'सुत की प्रीति प्रतीति मीत की···। २६८।' प्रीति, प्रतीति, सम्बंध होनेसे ममत्व हो जाता है। मनुष्य नाना प्रकारके स्नेह-बंधनोंमें बँधे हैं, अतः वे सदा विषयोंकी आसक्तिसे घिरे रहते हैं। तेली लोग तेलके लिये जैसे तिलोंको कोल्हूमें पेरते हैं, उसी प्रकारसे स्नेहके कारण सबलोग अज्ञानजनित क्लेशोंद्वारा सृष्टिचक्रमें पिस रहे हैं। इसीसे प्रथम प्रीतिको समेटकर अपनेमें लगा लेनेकी प्रार्थना की।

प्रतीति और संबंधको भी संसारसे हटाना आवश्यक है। क्योंकि यदि हमारा विश्वास किसी देवता, नर, या साधनमें लगा रहेगा तो हम अवश्य कभी न कभी उधर झुककर हरिविमुख हो जायँगे। संबंध भी बड़ा भारी बंधन है। देवर्षि नारद-का कथन है कि जैसे रेशमका कीड़ा अपनेही शरीरसे उत्पन्न हुए तन्तुओं द्वारा अपने आपको आच्छादित कर लेता है, उसी प्रकार मनुष्य मोहवश अपनेहीसे उत्पन्न संबंधके बंधनोंद्वारा अपने आपको बाँधता जाता है। रेशमका कीड़ा अपने संग्रह दोषके कारण बन्धनमें पड़ता है। यथा 'संवेष्ट्यमानं बहुभिर्मोहात् तन्तुभिरात्मजैः। कोषकार इवात्मानं वेष्टयन्··· २८।' 'कृमिर्हि कोषकारस्तु बध्यते स परिग्रहात्। २६।' (म० भा० शान्ति० ३२६)। मनुष्य जिस-जिस विषयमें निश्चयको पहुँच जाता है, उसे अभीष्ट सिद्धिका विश्वास हो जाता है, उसीको कर्तव्य समझता है। इसलिये अन्य समस्त विषयोंमेंसे विश्वासका हट जाना आवश्यक है।

श्रीभगवद्वचनामृत है—"जननी जनक बंधु सुत दारा। तनु धनु भवन सुहृद परिवारा॥ सब कै ममता ताग बटोरी। मम पद मनहि बाँध बरि डोरी॥ ··अस सज्जन मम उर बस कैसें। लोभी हृदय बसत धन जैसें। ५।४८।"—इसीका लक्ष्य लेकर प्रार्थना करते हैं कि संसारमें जहाँ-जहाँ मेरा ममत्व हो वह सब वहाँ-वहाँसे हटकर आपमें मेरी प्रीति, प्रतीति और संबंध हो जाय। सब प्रकारके नाते, सब प्रकारके प्रेम और सब विश्वास एकमात्र आपमें ही मेरे हों। तात्पर्य कि आपही मेरे सर्वस्व हों। 'सर्वस्वं मे रामचन्द्रो'। (श्रीरामरक्षास्तोत्र)।

[बैजनाथजी—यद्यपि प्रीति, प्रतीति और सगाई विचार करनेसे सम्बंधमात्रमें घटित दिखाई देती है तथापि किसीमें एक वस्तुकी विशेषता

होती है। जैसे स्त्री, पुत्र, पौत्र, लघु बंधु, मित्र आदिमें प्रीति विशेप तथ माता, पिता, ज्येष्ठ बंधु, गुरु, राजा आदिमें प्रतीति विशेष और फूफू, भगिनि पुत्री, नाना, श्वसुर आदिके परिवारमें सगाई विशेष होती है।]

४ (ख) यह प्रार्थना क्यों की? इससे जनाया कि संसारका ममत्व भगवत्कृपासे ही छूट सकता है। संसारका ममत्व छूटनेपर भी, यदि भगवान्में प्रेम न हुआ तो वह भी भवबंधन छुडा नहीं सकता अतः वह सब प्रभुमें लग जाय—यह प्रार्थना की। सब प्रीति-प्रतीति सगाई एकमात्र प्रभुमें लग जानेसे प्रभु उसका क्षण-क्षण स्मरण करते हैं जैसे लोभी धनका। यथा 'सुनु सठ सदा रंक के धन ज्यों छिन छिन प्रभुहि सँभारहि। ८५।'—यह प्रार्थना ऊपरकी 'जिनि छिन छोह छाड़िए कमठ अंड की नाईं' इस प्रार्थनामें सहायक होगी, अतएव 'हे जगमे''''एक ठाईं' यह प्रार्थना भी की गई।

उपक्रममें 'और आस विश्वास भरोसो हरहु', वैसेही उपसंहारमें 'प्रीति प्रतीति सगाई प्रभुही सों होहु समिटि एकठाईं।' कहा।

सु० शुक्लजी—भजनका तात्पर्य कि "देहनिर्वाहके लिये संसारी कार्य विना आसक्तिके करते हुए भी परमात्मामें ध्यान रहनेसे परमानंदकी प्राप्ति होती है।

श्रीसीतारामचन्द्रार्पणमस्तु।

१०४ (८६)

जानकिजीवन[1] की बलि जैहौं।
चितु[2] कहै राम-सीय[3]-पद परिहरि अब न कहूँ चलि जैहौं॥१॥
उपजी उर परतीति [4]सपनेहूँ सुखु प्रभु[5]-बिमुख न पैहौं।
मन समेत या तन के बासिन्ह इहै सिखावन दैहौं॥२॥
श्रवनन्हि और कथा नहि सुनिहौं रसना औरु न गैहौं।
रोकिहौं नयन बिलोकत औरहि[6] सीसु ईस ही नैहौं॥३॥

१ जानकि—६६, रा०, मु०। जानकी—भा०, वे०, ह०, ७४, आ०। २ मन—७४। ३ राम सिय—रा०। सीयराम—७४। सियराम—प्र०। रामसीय—औरोमे। ४ परतीति सपनेहुँ—६६, रा०, भ०, प्र० (प्रतीति)। प्रतीति सप्नेहु—भा०, वे०। प्रतीति सपनेहुँ—ह०, ७४। ५ प्रभु—६६, रा०, भ०। प्रभु पद—प्रायः औरोंमे। ६ औरन—भा०, वे०, भ०, प्र०। औरहि—६६, रा०, मु० (औरहिं)।

नातो नेहु नाथ सों करि सब नाते[७] नेह बहैहौं।
है[८] छरु भारु ताहि तुलसी जग जाको दासु कहैहौं ॥४॥

शब्दार्थ—'बलि जैहौं'—बलि जाऊँ, बलिहारी जाऊँ, बलैयाँ लूँ, कुर्बान (निछावर) हो जाऊँ, इत्यादि मुहावरे हैं। सुन्दरता, शील, शोभा, स्वभाव आदि देखकर मोहित वा प्रसन्न होकर एवं प्रेम, भक्ति, श्रद्धा आदिके कारण लोग ऐसा कहा करते हैं कि मैं बलि जाता हूँ, तुम्हारे ऊपर अपनेको निछावर करता हूँ। चितु (चित्त)—संकल्प-विकल्पात्मक वृत्तिको मन, निश्चयात्मक वृत्तिको बुद्धि और इन्हीं दोनोंके अन्तर्गत अनुसंधानात्मक (चेष्टा, विचार, प्रयत्न या खोज करनेवाली) वृत्तिको 'चित्त' कहते हैं। चलि जैहौं = चलकर जाऊँगा। 'जाना' क्रियाका प्रयोग संयोगिक क्रियाके रूपमें प्रायः सब क्रियाओंके साथ केवल पूर्णता आदिका बोध करानेके लिये होता है। जैसे, चला जाना, खा जाना, आ जाना इत्यादि। पैहौं = पाऊँगा। बासिन्ह = बसने वा रहनेवाले। 'सिखावनु' = शिक्षा, उपदेश। रसना = जिह्वा। नाता = दो या कई मनुष्योंके बीच वह स्वभाव जो एकही कुलमें उत्पन्न होने या विवाह आदिके कारण होता है। बहैहौं = बहा दूँगा; तोड़ दूँगा। छरुभारु (सं० सार-भार) = प्रबंध वा कार्यका बोझा। कार्यभार, सार संभार। यथा 'देस कोष परिजन परिवारू। गुरपद्रजहिं लाग छरभारू।२।३१५।', 'लखि अपने सिर सब छरुभारू। कहि न सकहिं कछु करहिं बिचारू। २।२६०।२।' = उत्तरदायित्वका बोझा। (दीनजी)।

पद्यार्थ—मैं श्रीजानकीजी तथा श्रीजानकीजीके जीवन (प्राणनाथ श्रीरामजी) की बलिहारी जाऊँगा (उनपर अपनेको, अपने मन, तन, धनको, न्योछावर कर दूँगा)। (मेरा) चित्त (यही) कहता है कि श्रीरामजी तथा श्रीसीताजीके चरणोंको छोड़कर अब कहीं न चला जाऊँगा।१। मेरे हृदयमें विश्वास उत्पन्न हो गया है कि प्रभुसे विमुख होकर मैं स्वप्नमें भी सुख नही पाऊँगा। (इसलिये) मन समेत इस शरीरके (सभी) निवासियोंको यही उपदेश दूँगा।२। कानोंसे (श्री-सीतारामजीके अतिरिक्त और किसीकी एवं) और कोई कथा-वार्ता नहीं सुनूँगा, जिह्वासे और कुछ (एवं और किसीका गुण) गान न करूँगा। नेत्रोंको और किसीको देखनेसे रोकूँगा। अपने ईश (समर्थ स्वामी श्रीजानकीजीवन) को ही मस्तक नवाऊँगा।३। अपने स्वामीसे

७ बाते—६६, भ०, रा०, भा०, ह०। नातो—७४, ज०, प्र०, भा०। ८ है—६६, रा०, भ०। यह—भा०, वे०, ह० (एहि), भा०।

नाता और प्रेम करके (अन्य) सभी नातों और स्नेहोंको वहा दूँगा। तुलसीदासजी कहते हैं कि जगत्में जिसका मैं दास कहलाऊँगा, सारा सार-सँभाल उसीपर है। ४।

वियोगीजी—यह तथा अगला पद १०५ दोनों ही बड़े उत्तम हैं। इनमें विरति, आत्मनिवेदन, अनन्यता और मनोराज्यका बड़ा ही सुन्दर संमिश्रण हुआ है। अनन्यताका तो इनमे साम्राज्य ही है। देखनेसे जान पड़ता है कि भक्तने अपने इष्टदेवके आगे कलेजा चीरकर रख दिया है।

वैजनाथजी—अब हरि-प्रतिकूलाचरणत्याग (अर्थात् षट्शरणागति-मेंसे 'प्रातिकूलस्य वर्जनम्') शरणागतिकी दृष्टिसे प्रार्थना करते हैं। प्रति-कूल धर्म; यथा 'मद कुसंग पर-दार-धन-द्रोह मान जनि भूल। धर्म राम-प्रतिकूल ये अमी त्याग विष तूल।'

नोट—१ (क) षट् शरणागतिके श्लोक हम यहाँ एक साथ पाठकों-की जानकारीके लिये प्रामाणिक ग्रन्थसे उद्धृत किये देते हैं।—"अनु-कूलस्य संकल्पः प्रतिकूलस्य वर्जनम्। रक्षिष्यतीति विश्वासो गोप्तृत्ववरणं तथा॥ आत्मनिक्षेप कार्पण्ये षड्विधा शरणागतिः॥ रक्षिष्यतीति विश्वासः तत्सेवैक प्रयोजनः। वरिवस्या तत्परः स्यात् सा एव शरणा-गतिः।' (ब्रह्माण्ड पु० उत्तर भाग, ललितोपाख्यान ४१।७६-७७; ७४)।

अहिर्बुध्न्यसंहितामे श्लोकका आरम्भ इस प्रकार है—'षोढा हि वेद-विदुषो वदन्त्येनं महामुने। आनुकूल्यस्य सङ्कल्प प्रातिकूल्यस्य वर्जनम्॥…' (३७।२८)। उपर्युक्त षट् शरणागतिकी व्याख्या इस प्रकार है—(१) अनुकूलताका संकल्प। अर्थात् मैं भगवान्के अनुकूल रहूँगा। भगवान्के विधानमें अपना हित मानूँगा, वे जैसे रक्खें उसीमें प्रसन्न रहूँगा। एवं यह विचार बनाये रखना कि भगवान् सदा मेरे अनुकूल अर्थात सुखकर होंगे, यह भी 'आनकूल्यस्य संकल्पः' में आ गया। (२) प्रतिकूलताका त्याग। अर्थात् कोई कर्म जो भगवान्के प्रतिकूल हों उन्हें नहीं करना। भगवान् मेरे प्रतिकूल हैं—ऐसे विचारका त्याग। तात्पर्य कि उनके कठोर विधानोंमें भी उनके प्रति दुर्भाव न लाना। सदा यह विचार रखना कि वे मेरे प्रतिकूल नहीं, वे मेरे प्रतिकूलों दुःख-दोषोंका उपशम करेंगे।—ये दोनों ही विचार 'प्रातिकूल्यस्य वर्जनम्' में आ गए। (३) भगवान् मेरी रक्षा अवश्य करेंगे यह दृढ़ विश्वास रखना। 'रक्षा करेंगे या नहीं'—इस प्रकारके संशयात्मक विचार कभी हृदयमें नहीं उठने पावें। यह 'रक्षिष्य-तीति विश्वासो' शरणागति है। (४) केवल रक्षामें विश्वास ही नहीं, अपितु भगवान्को रक्षक बना लेना। अर्थात जैसे वधू वरको पतिके रूपमें

वरण करती है, वैसे ही भक्तका भगवान्‌को गोप्ताके रूपमें वरण करना, 'एकमात्र रक्षक आप ही हैं', इस भावसे उनको स्वीकार करना 'गोप्तृत्व-वरणं' शरणागति है। (५) दैन्यसहित कैङ्कर्य, मनमें दीनता और नम्रताका भाव, अपने कर्म-कर्तृत्वाभिमानका सर्वतः परित्याग, भगवान्‌की ही सर्वस्वतामें निष्ठा, सब कुछ भगवान्‌का ही है, मेरा कुछ नहीं ऐसी दृढ़ धारणा तथा भगवान् ही मेरे परम धन हैं ऐसी बुद्धि—अकिञ्चनताका भाव 'कार्पण्य' है। (६) "अपना कहलाने योग्य जो कुछ भी है—देह, इन्द्रिय, चैतन्य आदि, उसको भगवान्‌के पूर्णतया अर्पण कर देना जैसा कि श्रीयामुनाचार्यने किया था—'वपुरादिषु योऽपि कोऽपि वा गुणतोऽसानि यथातथाविधः। तदहं तव पादपद्मयोरहमद्यैव मया समर्पितः॥' अर्थात् हे प्रभो! 'अहम्' पदसे अनेक विद्वान् अनेक अर्थ लेते हैं। शरीरात्मवादी कहते हैं कि शरीर ही 'अहम्' है और चैतन्यवादी कहते हैं कि 'अहम्' शरीरसे भिन्न एक चेतन द्रव्य है इत्यादि; इसी प्रकार 'अहम्' के गुणोंमें भी वे परस्पर एकमत नहीं हैं। 'अहम्' का स्वरूप जो कुछ भी हो, उसके गुण जो कुछ भी हों, मैंने तो उस 'अहम्' को ही आज आपके चरण-कमलोंमें समर्पण कर दिया है।'—यही 'आत्मनिक्षेप' शरणागति है। (पं० कृष्णदत्त भारद्वाज)।

ब्रह्माण्डपुराणके उपर्युक्त अध्याय ४१ के श्लोक ७४ में 'शरणागति' की व्याख्या इस प्रकार है—'रक्षिष्यतीति विश्वासः तत्सेवैक प्रयोजनः। वरिवस्या तत्पर. स्यात् सा एव शरणागतिः॥'—अर्थात् रक्षा-विश्वास-सहित भक्ति सेवामें तत्पर रहना 'शरणागति' है। वरिवस्या=सेवा; सुश्रूषा। मानसमें विभीषण-शरणागति-प्रसंगमें विभीषणजीके विचारों—'देखिहौं जाइ ''सेवक सुखदाता।' इन नयनन्हि अब जाइ।', 'निसि-चरबंस जनम'''नाथ दसानन कर मैं भ्राता। सहज पाप प्रिय''।', 'सुजस''सरन सुखद रघुबीर'—में षट् शरणागतिकी अच्छी व्याख्या हो जाती है।

नोट १ (ख)—पद २०० में प्रभु (श्रीसीतापति) के शील स्वभाव सुनकर मुग्ध हुए और मनको उपदेश किया कि 'समुझि समुझि गुनग्राम राम के उर अनुराग बढ़ाउ। तुलसिदास अनायास रामपद पाइहै प्रेम पसाउ।' प्रेम-प्रसाद मिला तब पद १०१ मे कह उठे 'जाउँ कहाँ तजि चरन तुम्हारे?' कोई और शरणागतिके योग्य नहीं है, यह विश्वास दिखाया। फिर पद १०२ में 'और आस विश्वास भरोसो हरो' यह प्रार्थना की। मानों प्रभुने प्रार्थना स्वीकार कर ली, यह इससे—भासित होता है कि

चित्तमें ऐसा उमंग उत्साह होने लगा जैसा आगे कहते हैं। अतः कृतार्थ हो गए, अपनेको प्रभुपर निछावर करनेको तैयार हो गए, उद्गार रुका नहीं, कह ही उठे 'जानकिजीवनकी बलि जैहौं।'

☞ इस पदसे प्रकट कर दिया कि तुलसीदासजी युगलसरकार श्री-सीतारामजीके उपासक हैं।

टिप्पणी—१ (क) 'जानकि-जीवन' का साधारण अर्थ है—'श्री-जानकीजीके प्राण वा प्राणपति' श्रीरामजी; यथा 'जानकीजीवन जग-जीवन जगतहित जगदीस रघुनाथ राजीवलोचन राम। ७७।' श्रीजानकी-जीने कहा भी है—'राखिअ अवध जो अवधि लगि रहत न जनिअहिं प्रान। २।६६।' परन्तु दूसरे ही चरणमें 'राम-सीय-पद परिहरि अब न कहूँ चलि जैहौं' का मनोराज्य एवं प्रतिज्ञा वर्णित है। अतः उसके अनुरोधसे श्रीजानकीजी तथा श्रीजानकीजीवन दोनोंका अर्थ किया गया। (ख) 'बलि जैहौं'—शब्दार्थ ऊपर दिया गया। कैसे बलि जाऊँगा इसीको आगे पूरे पदमें कहते हैं। (ग) 'चितु कहै रामसीयपद···' इति। चित्त कहता है अर्थात् उसमें यह उत्साह हो रहा है, यह उमंग बढ़ रही है। 'राम-सीय-पद' से जनाया कि युगल सरकार श्रीसीतारामजीकी उपासना हृदयमें है; क्योंकि वे कहनेमात्रको दो हैं पर हैं अभिन्न और एकही। दोनोंका नित्य संयोग है। 'परिहरि अब' से जनाया कि अबतक यह इन चरणोंको छोड़कर इधर-उधर विषयोंमें चला जाया करता रहा है; यथा 'मोहजनित मल लाग बिबिध बिधि कोटिहु जतन न जाई। जनम जनम अभ्यास निरत चित अधिक अधिक लपटाई। ८२।' जब-जब दूसरी जगह सुख मिलनेकी प्रतीति होती है, तब यह वहाँ चला जाता है। इसका जाना मन तथा इन्द्रियों द्वारा देखा जाता है। 'अब न कहूँ चलि जैहौं' से संकल्पका उत्साह दिखाया। अब कहीं न जाऊँगा अर्थात् अनन्यगतिक होकर प्रभुके चरणोंमें ही सदा लगा रहूँगा। 'क्यों न जाऊँगा' इसका कारण आगे कहते हैं—'उपजी उर परतीति···'। क्या जानकर चरणोंमें ही लगनेका उत्साह हुआ?—यह पद २४३ में कहा है। यथा "इहै जानि चरनन्हि चित लायो। नाहिन नाथ अकारन को हितु तुम्ह समान पुरान श्रुति गायो॥ ···।"—यह चित्तद्वारा बलि जाना हुआ।

टिप्पणी—२ (क) 'उपजी उर परतीति···' इति। रामविमुख, रामपदविमुख दोनों एकही बातें हैं। यह तो पहलेसे जानते थे कि रामविमुखको स्वप्नमें भी सुख नही मिलता तभी तो मनको उपदेश किया करते थे। यथा 'सुनि मन मूढ़ सिखावन मेरो। हरिपदबिमुख काहूँ

न लह्यो सुखु सठ यह समुझु सबेरो।' ।८७।'—(यह पूरा पद इसी विषय पर है), 'श्रीरघुबीरचरन-चिंतन तजि नाहिन ठौर कहूँ ॥' तुलसिदास रघुनाथ बिमुख नहि मिटै बिपति कबहूँ ॥ ८६।' अनुभव भी इस सिद्धान्तका हो चुका है; तभी तो कह आये हैं कि "कछु ह्वै न आइ गयो जनम जाय।'''रामबिमुख सुख लह्यो न सपनेहु, निसि बासर तयो तिहूँ ताय। ८३।"—परन्तु बुद्धिमें विश्वास अब तक न हुआ, विश्वास अब उत्पन्न हुआ कि निश्चय ही विमुख होकर सुख कभी कहीभी नहीं मिलेगा। अतएव 'उपजी उर परतीति' कहते हैं। रामपदविमुखता क्या है, यह उपर्युक्त पद ८२ व ८६ में कह आये हैं। रघुनाथजीकी शरण न ग्रहण करना, उनका चिन्तन, भजन आदि न करनाही विमुखता है; यह 'श्रीरघुबीर चरन चितन तजि नाहिन ठौर कहूँ' कहकर 'तुलसिदास रघुनाथ बिमुख नहि मिटै बिपति कबहूँ' कहनेसे तथा 'हरिपदबिमुख काहू न लह्यो सुख' कहकर 'तुलसिदास सब आस छाड़ि करि होहि रामको चेरो।' कहनेसे सूचित हो गया।— यह बुद्धिका बलि देना हुआ।

२ (ख) 'मन समेत या तन के बासिन्ह''' इति। मन इन्द्रियोंका राजा है। इन्द्रिय आदि सब मनके वशमें हैं—"मनोवशेऽन्ये ह्यभवन्'। भा० ११।२३।४८।' मनही स्थूल सृष्टिका धारण करनेवाला है, स्थूल सृष्टिका आधारभूत है। यथा 'व्यक्तात्मकं मनः।' (म० भा० शा० २३२।२।)। मनकी गति दूरतक है तथा वह अनेक प्रकारसे गमनागमन करता है। वह प्रार्थना और संशयवृत्तिशाली है। यथा 'दूरगं बहुधागामि प्रार्थनासंशयात्मकम्। म० भा० शा० २३२।३।' यह नाना प्रकारकी सृष्टि करता है— "मनः सृष्टिं विकुरुते' (म० भा० शा० २३२।४)। सारे दृश्यमान पदार्थ मनके विकारमात्र है, कर्मवासनाके साथ कर्मकी चिन्ता करनेसे मनसे नाना प्रकारके कर्म उत्पन्न होते हैं। यथा 'दृश्यमाना विनार्थेन न दृश्यन्ते मनोभवाः। कर्मभिर्ध्यायतो नानाकर्माणि मनसोऽभवन्। भा० ६।१५।२४।' मन ही मनुष्यके बंधन और मोक्षका कारण है; विषयका संग करनेसे वह बंधनकारी और विषयविमुख होनेसे मोक्षकारक होता है।—'मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः। बन्धाय विषयासङ्गि मुक्त्यै निर्विषयं मनः।' (वि० पु० ६।७।२८)। इत्यादि कारणोंसे 'मन समेत' सबको शिक्षा देनेको कहा गया।

'या तनके बासिन्ह' इति। शरीरमें चित्त और मनके अतिरिक्त बुद्धि, अहंकार, दश इन्द्रियाँ, इन्द्रियोंके देवता आदि भी रहते हैं। परन्तु यहाँ

विशेषकर इन्द्रियोंको ही तनके वासी कहा है, क्योंकि इन्हींके नाम आगे देते हैं।

२ (ग) 'इहै सिखावन दैहौं' इति। 'इहै' अर्थात् "सीयरामपद परिहरि अब न कहूँ चलि' जाना", यही शिक्षा दूँगा। इससे जनाया कि ये सब प्रभुसे विमुख रहे हैं। यथा 'कबहूँ मन बिश्राम न मान्यो। निसि दिन भ्रमत बिसारि सहज सुख, जहँ तहँ इन्द्रिन्ह तान्यो।···८८।' विषय बारि मन मीन भिन्न नहि होत कबहुँ पल एक।१०२।', इत्यादि।—यह मनकी विमुखता पूर्व कह आये हैं। इसी प्रकार श्रवण, रसना और नेत्रोंकी विमुखता भी पूर्व कही है; यथा 'नयन मलिन पर नारि निरखि मन मलिन बिषय सँग लागे।···पर निंदा सुनि श्रवन मलिन भये वचन दोष पर गाये सब प्रकार मल भार लाग निज नाथ चरन बिसराये।८२।' शीश भी प्रभुके प्रणामसे विमुख था, इसीसे पूर्व मनको उपदेश देते हुये कहा था कि 'परिहरि प्रपंच सब नाउ रामपदकमल माथ।८४।'

टिप्पणी—३ (क) 'श्रवनन्हि और कथा नहि सुनिहौं···' इति। 'कानोंसे और कथा नहीं सुनूँगा' इससे सूचित किया कि कानोंको सार्थकता सफलता श्रीसीतारामजीके चरित्र सुननेमें ही है। इसी प्रकार रसना, नेत्र और शीशका साफल्य क्रमशः प्रभुके गुणगान तथा नामरटन आदिसे, प्रभुके दर्शन और प्रभुको प्रणाम करनेसे ही है। यथा 'देखु राम सेवक, सुनि कीरति, रटहि नाम करि गान गाथ। 'नाउ रामपदकमल माथ।८४।' 'भक्ति भक्त भगवंत गुरु चतुर नाम बपु एक'—इस नियमसे भक्त एवं गुरुका दर्शन भी रामदर्शनके समान फलप्रद है।

प० पु० स्वर्ग खण्डमें भगवान्‌के भजन एवं नामकीर्तनको महिमा-प्रसंगमें श्रीसूतजीने भी कहा है कि "मनुष्यके वे ही पैर सफल हैं जो भगवान्‌की ओर बढ़ते हैं। वेही हाथ धन्य कहे गये हैं जो भगवान्‌की पूजामें संलग्न रहते हैं। जो मस्तक भगवान्‌के आगे झुकता हो, वही उत्तम अंग है। वही जिह्वा श्रेष्ठ है जो भगवान्‌की स्तुति करती है। रोएँभी वेही सार्थक हैं जो भगवान्‌का नाम लेनेपर खड़े हो जाते हों।"। यथा 'तस्य पादौ तु सफलौ तदर्थगतिशालिनौ ॥२७॥ तावेव धन्यावाख्यातौ यौ तु पूजाकरौ करौ उत्तमाङ्गमुत्तमाङ्गं तद्धरौ नम्रमेव यत्। २८। सा जिह्वा या हरिं स्तौति तन्मनस्तत्पदानुगम्। तानि लोमानि चोच्यन्ते यानि तन्नाम्नि चोत्थितम्।२९।' (अ० ५०)। इसी प्रकार भा० २।३ में श्रीशौनकजीने यह बताते हुए कि कौन श्रवण, जिह्वा, शिर आदि अंग व्यर्थ हैं एक प्रकारसे यह भी बता दिया है कि इन अंगोंको सफलता

उसीमें थी जो वे नहीं करते।—'उरुक्रमविक्रमान्ये न श्रण्वतः कर्णपुटे नरस्य' (कान हरिकथा नहीं श्रवण करते), 'जिह्वा''न चोपगायत्युरुगाय-गाथाः' (जिह्वा हरिकथाका गान नहीं करती), 'उत्तमाङ्गं न नमेन्मुकुन्दम्' (शिर जो भगवान् के आगे नहीं झुकते), 'नयने विष्णोर्न निरीक्षतो ये' (नेत्र जो भगवान्‌का दर्शन नहीं करते)। (२।३।२०-२२)।—प्रार्थी कहता है कि जो न करनेसे ये निन्दित थे, वह इन अंगोंसे करके अब इनको सार्थक करूँगा।

यहाँ तक हमने पूर्व पदोंके उदाहरण दिये, क्योंकि 'अब न कहूँ चलि जैहौं' से पूर्वकी विमुखता सूचित की है। श्रवण आदिका क्या फल (कर्तव्य) है और हमने इनसे क्या कर्म किये, ये कविने स्वयं पद १४२ में यों कहे हैं—'जानतहूँ हरिरूप चराचर, मैं हठि नयन न लावौं। अंजनकेस-सिखा जुवती तहँ लोचन सलभ पठावौं॥ श्रवनन्हि को फल कथा तुम्हारी यह समुझौं समुझावौं। तिन्ह श्रवनन्हि परदोष निरंतर सुनि सुनि भरि-भरि तावौं॥ जेहि रसना गुन गाइ तिहारे बिनु प्रयास सुख पावौं। तेहि मुख पर अपवाद भेक-ज्यों रटि रटि जनम नसावौं॥'

आगे पद १७० में भी सब अंगोंका प्रभु-पद-विमुख होना कहा है। वहाँ भी नेत्रोंका पर-नारियोंको घूरना, श्रवणोंका 'घर-घरके पातक प्रपंचोंको सुनना, रसनाका षट्‌रसमें अनुरक्त होना तथा शरीरसे कुदेवों कुठाकुरोंको सेवा करना—(शीशसे उनको प्रणाम करना 'बपु' से सेवा हुई), इत्यादि कहा गया है। अंतमें 'सकल अंग पद-बिमुख' कहकर इन कर्मोंको विमुखता सूचित किया है।—यह मन समेत शरीरमें रहनेवाले सबोंका बलि हुआ।

नोट—२ 'और कथा', 'औरु न गैहौं' तथा 'बिलोकत औरहि' से श्रीरघुनाथजीकी ही कथा, उन्हींके नाम-यशका कीर्तन तथा उन्हींका दर्शन ऐसा अर्थ होता है। पर यह न भूलना चाहिए कि उन्होने भगवान् लक्ष्मीपति श्रीविष्णु, श्रीमन्नारायण, श्रीविन्दुमाधव, श्रीनर-नारायण अर्चाविग्रह, दशो मुख्य अवतारो आदिको श्रीरघुनाथके ही रूप मानकर वन्दना इसी ग्रंथमे की—है; तथा विविध अवतारो वा भगवद्रूपोद्वारा जो चरित्र हुये तथा उनमे जो गुण प्रकट हुये उनको श्रीरघुनाथ-जीके ही गुण मानकर उनको इस ग्रन्थमें स्थान दिया है। उन्होंने 'श्रीकृष्णगीतावली' भी लिखी है, जो बड़ा अनूठा काव्य है। श्रीपार्वती-मंगलकी रचना भी उन्हींकी है। सन्तों और भक्तोंकी महिमाका भी गान किया है। मानसमें भी उन्होंने कहा है—'नयनन्हि संत दरस नहिं देखा। लोचन मोरपंख कर लेखा॥ ते सिर कटु तुंबरि समतूला। जे न नमत

हरि गुर पदमूला ॥ १।११३।३-४ ।' तथा 'पूजनीय प्रिय परम जहाँ तें । सब मानिअहि राम के नाते ॥ २।७४।७ ।'

साथ ही साथ उनकी अनन्यता भी देखी और सुनी गई है कि सब भगवद्रूपोंको रामरूप मानते हुए भी, वे अपने इष्ट श्रीरामरूपमें कैसे अनन्य थे—यह मथुरा वृन्दावनवाले चरित्रसे स्पष्ट है। सब ये दोहे जानते हैं—'कहा कहौं छवि आज की भले बने हो नाथ। तुलसी मस्तक जब नवै धनुष बान लो हाथ॥ मुरली मुकुट दुराइ के धर्‍यो धनुष शर हाथ। तुलसी लखि रुचि दास की नाथ भये रघुनाथ॥'

लाला भगवानदीनजी लिखते हैं कि इस पदमें अनन्यता तथा आत्म-निवेदनका सिद्धान्त प्रतिपादित किया है। इससे यह न समझना चाहिए कि गोस्वामीजीने और देवताओंकी वंदनाका निषेध किया है। उन्होंने हरिमय संसारको वन्दनीय माना है और हरिविमुखको उपेक्षणीय। मानसमें उन्होंने लिखा है—'सीयराममय सब जग जानी। करउँ प्रनाम जोरि जुग पानी॥' (दीनजी)। वियोगीजी भी यह शंका उठाकर कि "क्या गोसाईंजीने, सिवा रामचन्द्रजीके औरोंकी ओर देखना तथा उन्हें प्रणाम करना निषिद्ध माना है?" उसका समाधान इन शब्दोंमें किया है—'अवश्य! जो भगवद्विमुख हैं उनके लिये ऐसा कहा गया है, किन्तु जो हरिभक्त हैं, गुरुजन हैं, उनके लिये ऐसा कदापि नहीं समझना चाहिए। हरिमय संसार गोसाईंजीकी दृष्टिमें वन्दनीय है और हरिविमुख ब्रह्मा भी निन्द्य और उपेक्षणीय है।"

नोट—३ इस पदमें मनोराज्य कहकर श्रीरामजीके भजनकी रीति बताई है। इसीको भक्ति, ज्ञान, वैराग्य और हरितोषणव्रत आगे कहा है। यथा 'जौं मन भज्यो चहै हरि सुरतरु। तौ तजि विषय विकार सार भजु, अजहूँ ते जो मैं कहौं सोई करु॥ ''श्रवन कथा, मुख नाम, हृदय हरि, सिर प्रनाम, सेवा कर अनुसरु। नयनन्हि निरखि कृपासमुद्र हरि अगजग-रूप भूप सीतावरु॥ इहै भगति वैराग्य ज्ञान यह हरितोषन यह सुभ व्रत अनुसरु। २०५।'

नोट—४ इस पदमें जो मनोराज्य वर्णित है वह प्रेमाभक्तिका लक्षण है। प्रेमाभक्ति निरोधस्वरूपा है, उसमें प्रियतमके प्रति अनन्यता और प्रतिकूल विषयोंमें उदासीनता होती है। यथा 'सा निरोधरूपत्वात्।', 'तस्मिन्ननन्यता तद्विरोधिषूदासीनता च।' (नारद भक्तिसूत्र ७,९)। 'श्रवनन्हि और कथा''ईसही नेहौ' ये दोनो लक्षण स्पष्ट हैं। आगे 'नातो नेहु राम सों करि' में प्रियतमके अनुकूल आचरणरूपी लक्षणका ग्रहण दिखाया है।

टिप्पणी—४ 'नातो नेहु नाथ सों करि···' इति । (क) यही अनन्यता श्रीलक्ष्मणजीकी है । यथा 'गुर पितु मातु न जानउँ काहू । कहउँ सुभाउ नाथ पतिआहू ॥ जहँ लगि जगत सनेह सगाई । प्रीति प्रतीति निगम निजु गाई ॥ मोरे सबइ एक तुम्ह स्वामी । दीनबंधु उर अंतरजामी । २।७२।४-६।' श्रीअवधवासियोंने भी कहा है—'जननि जनक गुर बंधु हमारे । कृपानिधान प्रान ते प्यारे ॥ तनु धन धाम राम हितकारी । सब बिधि तुम्ह प्रनतारति हारी । ७।४७।२-३ ।'

इस पदमें श्रीबुधकौशिकमुनिविरचित श्रीरामरक्षास्तोत्रके—

"माता रामो मत्पिता रामचन्द्रः स्वामी रामो मत्सखा रामचन्द्रः ।
सर्वस्वं मे रामचन्द्रो दयालुर्नान्यं जाने नैव जाने न जाने । ३० ।"

(अर्थात् श्रीरामही मेरी माता है, श्रीरामचन्द्र ही मेरे पिता हैं, श्रीराम ही स्वामी हैं और श्रीरामचन्द्र ही मेरे सखा हैं । दयामय श्रीरामचन्द्र ही मेरे सर्वस्व हैं, सब कुछ हैं । उनके सिवा और किसीको मैं नहीं जानता—बिल्कुल नहीं जानता)—इस श्लोकका तथा महर्षि वाल्मीकिजीके 'स्वामि सखा पितु मातु गुर जिन्ह के सब तुम्ह तात । २।१३० ।' और श्रीरामजीके श्रीवचनामृत 'जननी जनक बंधु सुत दारा । तनु धन भवन सुहृद परिवारा ॥ सबकै ममता ताग बटोरी । मम पद मनहि बाँधि बरि डोरी । ५।४८ ।', 'गुर पितु मातु बंधु पति देवा । सब मो कहँ जानइ दृढ़ सेवा । ३।१६।१० ।' का भाव है ।

कवितावलीमें सुत, दारा, परिवार और सखा आदिको महाकुसमाज कहकर फिर श्रीरामजीको ही माता पिता आदि बताया है । यथा 'सुत दार अगारु सखा परिवारु बिलोकु महा कुसमाजहि रे । सबकी ममता तजि कै समता सजि संतसभा न बिराजहि रे । क० ७।३० ।' 'राम हैं मातु पिता गुरु बंधु औ संगी सखा सुत स्वामि सनेही । राम की सौंह भरोसो है राम को, राम रँग्यो रुचि राच्यो न केही । क० ७।३६ ।' इत्यादि ।

विनयमें भी कहा है—'सुत बनितादि जानि स्वारथरत न करु नेह सबही तें । अंतहु तोहि तजैंगे पामर तू न तजै अबही तें ॥ अब नाथहिं अनुरागु जागु जड़···। १९८ ।'

उपर्युक्त उद्धरणोंके अनुसार ही मनोराज्यमें उत्साह कर रहे हैं कि सब संबंध और सबका प्रेम समेटकर एक श्रीरामजीसे ही संबंध और सब प्रकारका प्रेम करूँगा । श्रीरामजीसे नाता-नेह कर-लेनेपर यदि औरोंमें भी ममत्व बना रहे तो वह नाता-नेह कपटका माना जायगा, सच्चा प्रेम नहीं

है। कपट प्रीतिको बहा देना होगा, तभी श्रीरामजीसे सच्चा नाता-नेह जुट सकता है, अन्यथा नहीं।

४ (ख) 'सब नाते नेह बहैहौं' कथनमें शंकायें होती हैं कि—'ऐसा करनेसे माता-पिता आदिके त्यागसे लौकिक धर्मसे दूषण आता है?', 'क्या इस संकल्पके करनेका सामर्थ्य तुममें है?' 'ऐसा करनेसे संसारमें बुराई होगी।' इत्यादि। इसीके उत्तरमें कहते हैं कि 'है छरुभारु ताहि ' '।

☞ मनुष्य इस पृथ्वीपर पितृऋण, देव-ऋण, ऋषिऋण और मनुष्य-ऋण इन चार ऋणोंसे युक्त होकर जन्म लेते हैं। इन सब ऋणोंको धर्मतः चुकाना चाहिए।—'ऋणैश्चतुर्भिः संयुक्ता जायन्ते मानवा भुवि। १७। पितृदेवर्षिमनुजैर्देयं तेभ्यश्च धर्मतः। म० भा० आदि० ११६।१८।' यज्ञोंद्वारा मनुष्य देवताओंको तृप्त करता है, स्वाध्याय और तपस्याद्वारा मुनियोंको संतोष दिलाता है। पुत्रोत्पादन और श्राद्धद्वारा पितरोंको तथा दयापूर्ण वर्तावद्वारा वह मनुष्योंको संतुष्ट करता है। जो मनुष्य यथासमय इन ऋणोंका ध्यान नहीं रखता, उसके लिये पुण्यलोक सुलभ नहीं होते। यह मर्यादा धर्मज्ञ पुरुषोंने स्थापित की है।—'एतानि तु यथाकालं यो न बुध्यति मानवः॥ न तस्य लोकाः सन्तीति धर्मविद्भिः प्रतिष्ठितम्। म० भा० आदि ११६।१८-१९।'

इस शास्त्रीय धर्मका उल्लंघन सब नाते-नेह तोड़ देनेमें दिखाया जाता है; पर वस्तुतः ऐसी बात है नहीं। भक्तके पिताकी एक्कीस पीढ़ियाँ पितरों सहित पवित्र हो जाती हैं। यथा 'त्रिःसप्तभिः पिता पूतः पितृभिः सह तेऽनघ। यत्साधोऽस्य गृहे जातो भवान्वै कुलपावनः। भा० ७।१०।१८।' (यह नृसिंह भगवान्‌ने प्रह्लादसे कहा है कि तुम्हारा पिता तो अपनी इक्कीस पीढ़ियोंके पितरोंसहित पवित्र हो गया, क्योंकि उसके यहाँ तुम जैसे कुलपावन पुत्रका जन्म हुआ है)।

श्रीमद्भागवतमें योगेश्वर करभाजनजीने निमिराजजीसे बताया है कि जो मनुष्य "मुझे यह करना बाकी है, वह करना आवश्यक है" इत्यादि कर्मवासनाओंका परित्याग करके सर्वात्मभावसे शरणागतवत्सल भगवान्‌की शरणमें आ गया है, वह देवताओं, ऋषियों, पितरों, प्राणियों और कुटुम्बियोंके ऋणसे उऋण हो जाता है; वह किसीके अधीन, किसीका सेवक, किसीके बंधनमें नहीं रहता।—'देवर्षिभूताप्तनृणां पितॄणां न किङ्करो नायमृणी च राजन्। सर्वात्मना यः शरणं शरण्यं गतो मुकुन्दं

परिहृत्य कर्तम् । भा० । ११।५।४१।'—इस प्रकार अनन्यगतिक भक्तका सब ऋणोसे छुटकारा हो जाता है, शरणागति उसके ऋणोको चुका देती है ।

४ (ग) पुनः यहाँ सब नाते-नेह बहानेकी बात कहते हैं; क्योंकि ये सब सांसारिक नाते जो हमने मान लिये हैं, ये सब झूठे हैं । वास्तवमें जैसा हम संसारको देख रहे हैं, ऐसा यह है नहीं । कहा भी है—'देह जीव जोगके सखा मृषा टाँचुन टाँचो । २७७।', 'जोरे नेह नाते नये फोकट फीके । देह के दाहक सबै गाहक जी के । १७६।' 'नये नये नेह अनुभये देह गेह बसि परिखें प्रपंची प्रेम परत उघरि सो ।।…२६४।', 'सब सनेह छल छायो', 'जग नभबाटिका रही है फलि फूलि रे । धुआँके-से धौर-हर देखि तू न भूलि रे ।६६।', "एवं दारा गृहा रायो विविधैश्वर्यसम्पदः ।२१। शब्दादयश्च विषयाश्चला राज्यविभूतयः । मही राज्यं बलं कोशो भृत्यामात्या सुहृज्जनाः । २२। सर्वेऽपि शूरसेनेमे शोकमोहभयार्तिदाः । गन्धर्वनगरप्रख्याः स्वप्नमायामनोरथाः । २३।" (भा० ६।१५) । अर्थात् हे शूरसेनेश ! इसी प्रकार ये स्त्री, धन, नाना प्रकारके ऐश्वर्य और संपत्ति, शब्दादि विषय, राज्यवैभव, पृथिवी, राज्य, सेना, कोश, भृत्य, अमात्य और सुहृद्गण—सभी चलायमान हैं । ये सभी गंधर्वनगर, स्वप्न, माया और मनः-कल्पित पदार्थोंके समान असत्य तथा शोक, मोह, भय और दुःखके देनेवाले हैं ।

जब ये सब नाते-नेह असत्य हैं, तब इनके ऋण भी असत्य हुये । इन नाते-नेहोंके त्यागसे तब हानि हो ही कैसे सकती है ? नाते-नेह मानने-पर ही धर्मोल्लंघन तथा ऋणोंका प्रश्न उठता है, अन्यथा नहीं ।

☞'सब नाते नेह बहैहौं' कहकर जनाया कि अन्य प्रयोजनसे रहित मैं सर्वाङ्गपूर्ण सर्वभावेन एकमात्र प्रभुकीही उपासना करूँगा, निरन्तर उन्हींका चिन्तन करूँगा । शरीरके योग-क्षेमकी भी चिन्ता न करूँगा ।

४ (घ) दूसरी शंकाका समाधान है कि प्रण मनुष्य करता है, निबाहनेवाले प्रभु हैं । हमारा कर्तव्य है 'उनके अनन्यगतिक शरण हो जाना', शेष कार्यका भार सरकार अपने ऊपर ले चुके हैं । यथा—'अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते । तेषां नित्याभियुक्तानां योग-क्षेमं वहाम्यहम् । गीता ९।२२।' अर्थात् भगवान् कहते हैं कि जो अनन्य-भावसे युक्त होकर मेरा निरन्तर चिन्तन करते हुये मेरी उपासना करते हैं, निरन्तर मुझमें स्थित उनका योगक्षेम मैं चलाता हूँ ।—'योगमें प्रभुकी प्राप्तिरूप योग एवं अन्य अप्राप्त वस्तुकी प्राप्ति और 'क्षेम' में अपुनरावृत्ति-

रूप क्षेम एवं अन्य प्राप्त वस्तुकी रक्षा दोनोंहीका भाव है। ये दोनों काम प्रभु स्वयं करते हैं।

श्रीयामुनाचार्यजीने भी कहा है—'पिता त्वं माता त्वं दयिततनयस्त्वं प्रिय सुहृत्त्वमेव त्वं मित्रं गुरुरपि गतिश्चाऽसि जगताम्। त्वदीयस्त्वद्भृत्यस्तव परिजनस्त्वद्गतिरहं प्रपन्नश्चेवं सत्यहमपि तवैवास्मि हि भरः।' (आलवन्दार ६०)। अर्थात् आपही सब जगत्के पिता हैं, आपही माता हैं, आपही प्रिय पुत्र हैं, आपही प्रिय सुहृद हैं, आपही मित्र हैं, गुरुभी आपही हैं, और सिद्ध उपाय भी आपही हैं, मैं आपका संबंधी भृत्य हूँ, परिजन हूँ और केवल आपहीको उपाय माननेवाला तथा आपका शरणागत हूँ। आपको ही मेरा भार है।

श्लोकमें 'पिता त्वं' से लेकर 'प्रपन्नश्चेवं' तक जो कहा है, यही सब 'नातो नेह नाथ सों करि···' का भाव है। 'है छरु भारु··जाको दास कहैहौं' में 'त्वदीयस्त्वद्भृत्यस्तव' और 'तवैवास्मि हि भरः' का भाव है।

४ (ङ) तीसरी शंकाका समाधान है कि ऐसे भक्तोंको कीर्ति-अपकीर्ति, मान-अपमान आदिकी पर्वा नहीं। इसके लिये पहलेही प्रार्थना कर चुके हैं कि 'चहौं न सुगति सुमति संपति कछु रिधि सिधि विपुल बड़ाई।'

४ (च) 'जा को दास कहैहौं' इति। 'दास' का भाव है कि और किसीका आशा-भरोसा न रखनेवाला। यथा 'मोर दास कहाइ नर आसा। करै तौ कहहु कहा विश्वासा। ७।३६।३।'

[सू० शुक्लजी— इस भजनका तात्पर्य यह है कि "दशों इन्द्रियोंको मनसे व मनको बुद्धिसे खींच स्वाधीनकर सारे व्यवहार भगवान्में ही करे। अर्थात् जो कुछ दिखलाई, सुनाई पड़ता है भगवद्रूपही समझकर व्यवहार करे।"]

श्रीसीतारामचन्द्रार्पणमस्तु।

१०५ (८७)

अब लौं[1] नसानी[2] अब न नसैहौं।
रामकृपा भव-निसा सिरानी जाग्यो[3] फिरि† न डसैहौं॥१॥

---

१. लौं—६६, रा०, ह०, ७४, ज०। लौ—म०, श्रा०। लौ—भा०, वे०। २. नसानो—६६। नसानी-प्राय. श्रीरोमे। ३. जाग्यो—६६, रा०। जाग्यो—भ०। जागेउ—ह०। जागे—भा०, वे०, प्र०, ७४, ज०, श्रा०। † पुनि—वि०।

पायो नामु चारु चिंतामनि उर-कर-तें न खसैहौं ।
स्यामरूप सुचि रुचिर कसौटी चित कंचनहि कसैहौं ॥२॥
परबस जानि हँस्यो हौं[४] इंद्रिन्ह निज[५] बस होइ न हसैहौं ।
मन मधुपहि[६] पनु कै[७] तुलसी रघुपति पद-कमल बसैहौं ॥३॥

शब्दार्थ—नसाना=नष्ट या खराब होना वा करना; बिगड़ना वा बिगाड़ना। नसैहौं=नष्ट होने दूँगा; बिगाड़ूँगा। निशा=रात्रि। डसाना=बिछाना। सिराना=बीत जाना, समाप्त होना। चितामणि—पुराणोंके अनुसार यह एक रत्न है जिससे जो अभिलाषा की जाय वह उसे पूर्ण करता है।=चिन्तित पदार्थका देनेवाला मणि। खसाना=गिराना। कसौटी=एक प्रकारका काला पत्थर जिसपर रगड़कर सोनेकी परख (परीक्षा) की जाती है। कंचन=सोना, स्वर्ण। कसाना=खोटा-खरा परखनेके लिये सोने आदि धातुओंको कसौटीपर घिसवाकर परीक्षा लेना।=जाँच कराना। हौं=मुझको; मुझे।

पद्यार्थ—अबतक मैंने बिगाड़ा सो बिगाड़ा (एवं अबतक मैं नष्ट हुआ सो हुआ) पर अब नष्ट नहीं होने दूँगा। श्रीरामकृपासे भवरूपी रात्रि बीत गई, मैं जाग गया, अब पुनः (बिछौना) न बिछाऊँगा। १। (श्रीराम) नामरूपी सुंदर चिन्तामणि पा गया, (उसे) हृदयरूपी हाथसे न गिराऊँगा। (श्रीरामजीके) पवित्र सुन्दर श्यामरूपरूपी सुन्दर पवित्र कसौटीपर (अपने) चित्तरूपी सोनेको कसाऊँगा। २। (अबतक मुझे) परवश (अर्थात् अपने वशमें) जानकर इन्द्रियोंने मुझे हँसा (अर्थात् मेरा उपहास किया सो किया परन्तु) अब अपने वश होकर (अर्था जितेन्द्रिय होकर उनसे) हँसी न कराऊँगा। तुलसीदासजी कहते हैं कि प्रतिज्ञा करके मैं मनरूपी भौंरेको श्रीरघुनाथजीके चरणकमलमें बसाऊँगा। ३।

नोट—१ वैजनाथजी लिखते हैं कि "अनन्यतासहित षट् शरणागति पूर्ण हुई।" (अर्थात् पिछले पदोंमें सब प्रकारसे श्रीरामजीकी शरणागति की। 'शरणागति' के सुखको देखकर (कि पूर्ण शरणागतिसे शरणागतका

४ हो—६६। हो—रा०, भ०। इन (इन्ह)—भा०, वे०, ह०, प्र०, आ०। निज—७४। ५. इन्ह—७४। ६—मधुकर—७४, मु०, वै०, दीन, वि०। ७ कै—६६, रा०, ह०, भ०। करि—भा०, वे०, ७८, आ०।

सारा 'छरु-भारु' प्रभुपर आ जाता है—'है छरु भारु ताहि तुलसी जग जाको दास कहैहौं') अब अपनी पूर्वकी भूलका पश्चात्ताप करते हैं कि 'अब लौं नसानो···'।'

२ 'अब लौं नसानो··पदकमल बसैहौं'—जीवको क्षण-क्षणप्रति ऐसा ही विचार करना चाहिए। यह पद पिछले पदके ही संबंधका है।

टिप्पणी—१ (क) 'अब लौं नसानो···' इति। भाव कि जो विगड़ी सो विगड़ी, जो आयु रामविमुखतामें मोहवश व्यर्थ बीत गई सो बीत गई, अब जो शेष थोड़ी-सी आयु रह गई है उतनेमें भी बन सकती है। यथा 'अजहुँ आपने रामके करतब समुझत हित होइ।' 'बिगरी जनम अनेक की सुधरत पल लगै न आधु। १६३।', 'तुलसी अजहुँ सुमिरि रघुनाथहि तऱ्यो गयंद जाके एक नायँ। ८३।' गई सो गई, उसका शोच अब न करके आगेके पलोंको न खोने दे। यथा 'बहुत गई थोड़ी रही नारायण अब चेत।', 'प्रभु कृतज्ञ सर्वज्ञ हैं परिहरु पाछिली गलानि। तुलसी तो सों राम सों कछु नई न जान पहिचानि। १६३।', 'अजहुँ जानि जिय मानि हारि हिय होइ पलक महँ नीको। सुमिरु सनेह सहित हित रामहि मानु मतो तुलसी को। १६४।', 'न करु बिलंब बिचारु चारु मति बरष पाछिलो सम अगिलो पलु। २४।'—अतएव प्रण करते हैं कि 'अब न नसैहौं।' अब शेष आयुको नष्ट न होने देंगे।

१ (ख) 'रामकृपा भवनिसा सिरानी···' इति। भव (संसार) रूपी रात्रिका बीतना तथा जीवका सोतेसे जागना श्रीरामकृपासे ही होता है। यथा 'जानकीस की कृपा जगावति सुजान जीव, जागि त्यागि मूढ़ता अनुराग श्रीहरे। ७४।' मोहवश देह-गेह आदिमें ममत्व होना, झूठे विषयोंमें सुखकी प्रतीत कर लेना इत्यादि भवनिशामें सोना है। विषयोंसे वैराग्य होना, श्रीरामजीमें अनुराग होना, इत्यादि भवरात्रिका सिराना और जीवका जागना है। यथा 'जानिअ तबहि जीव जग जागा। जब सब विषय बिलास बिरागा॥ होइ बिबेक मोह भ्रम भागा। तब रघुनाथ चरन अनुरागा।२।९३।'—विशेष पद ७३, ७४ में देखिए।

१ (ग) 'जाग्यो फिरि न डसैहौं' इति। सवेरा होना और श्रीजानकीश-की कृपासे जागना पूर्व कह आए; यथा 'अब प्रभात प्रगट', 'तुलसिदास प्रभु कृपाल निरखि जीव जन निहाल भंज्यो भवजाल परम मंगलाचरे।' (७४)। जागनेका फलस्वरूप ही तो पिछला पद है—'जानकीजीवन की बलि जैहौं।···' (पूरा पद १०४)। फिर बिछौना न बिछाऊँगा अर्थात् पुनः

सोनेका साज न सजूँगा। तात्पर्य कि संसारके माया-मोह-जालमें अब न पड़ूँगा।

[देहाभिमानरूपी शय्यापर सोता रहा, अब जागनेपर फिर देहाभिमानमें न पड़ूँगा। (वै०)]

टिप्पणी—२ (क) 'पायो नामु चारु चिंतामनि''' इति। 'पायो' से जनाया कि श्रीगुरुदेवजीने 'राम नाम' चितामणि दिया है। यथा 'गुरु कह्यो रामभजन नीको मोहू लागत राम राजडगरो सो॥ तुलसी बिनु परतीति प्रीति फिरि फिरि पचि मरै मरो सो। राम नाम बोहित भवसागर चाहै तरन तरो सो। १७३।', 'रामको गुलाम नाम रामबोला राम राख्यो, काम यहै नामद्वै कबहुँ कहत हौं। ७६।' नामको 'चारु चिंतामणि' कहा; क्योंकि प्राकृत चितामणि अर्थ, धर्म और काम ये तीन पदार्थ देता है और नाम चारों फलोंका दाता है।

श्रीरामजीके नाम, रूप, लीला और धाम चारों ही चिंतामणिरूप हैं। यथा 'पायो नाम चारु चिंतामनि', 'तुलसी चित चिंता न मिटै बिनु चिंतामनि पहिचाने। २३५।', 'रामचरित चिंतामनि चारू ।१।३२।१।', 'सब विधि पुरी मनोहर जानी। सकल सिद्धिप्रद मंगलखानी ।१।३५।५।' ('सिद्धिप्रद मंगलखानी' से चारों पदार्थकी देनेवाली जनाया) । रामभक्तिको भी 'चारु चिंतामणि' कहा है और रामनामप्रेम भी रामभक्ति ही है। यथा 'रामभगति चिंतामनि सुंदर ।७।१२०।२।'

२ (ख) 'उर कर तें न खसैहौं' इति। भाव कि चिंतामणि तो हाथसे गिर जाया करता है, पर नामरूपी चिन्तामणिको मैं हृदयरूपी 'कर' में रक्खूँगा जिसमेंसे वह गिरने न पावेगा। अर्थात् नामका स्मरण निरन्तर हृदयसे करता रहूँगा।

दूसरा अर्थ यह भी किया जाता है कि 'उर' और 'कर' से न गिराऊँगा अर्थात् हृदयसे भी स्मरण करूँगा और माला हाथमें लेकर भी जपूँगा।

२ (ग) 'स्यामरूप सुचि रुचिर कसौटी ''' इति। श्रीरामजी श्यामवर्ण हैं और कसौटी भी काली होती है, पर वह वैसी सुन्दर और पवित्र नहीं होती; इसीसे शुचि सुन्दर कसौटीसे उपमित किया। सोनेकी परखके लिये उसे कसौटी पर कसा जाता है, घिसकर देखा जाता है कि शुद्ध है या नहीं। वैसे ही मैं चित्तको श्यामरूपके ध्यानमें लगाकर उसकी परख करूँगा कि वह उसमें शुद्ध खरे सोनेकी तरह ठीक-ठीक उपट आया कि नहीं, जबतक ठीकसे उसमें लग न जायगा तबतक कसना न छोड़ूँगा।

[रामरूपमें लगे रहनेपर चित्तमें जो विषयवासना देख पड़ेगी उसको

दाग (मिलावट) समझकर उसको (ज्ञान, वैराग्य आदि रूपी अग्निमें) जलाकर शुद्धकर श्रीरामरूपमें लगाऊँगा। तब उसका खरापन जान पड़ेगा। ध्यानके समय विषयकी ओर न जायगा तब शुद्ध समझूँगा। (वै०, भ०, वि०)। श्रीकान्तशरणजी विषयरूपी दागको 'हेतु कृसानु भानु हिमकर को' रूपी नामसे फूँककर शुद्ध करना कहते हैं।

टिप्पणी—३ (क) 'परबस जानि हँस्यो हों इंद्रिन्ह···' इति। इन्द्रियाँ अपना-अपना विषय देखकर जीवके मनको अपनी-अपनी ओर खींचती रहती हैं। गोस्वामीजीके कथनका भाव यह है कि अबतक मेरी अतृप्त रसना मुझे एक ओर, त्वचा उदर कर्ण दूसरी ओर, घ्राण एवं नेत्र तीसरी ओर और कर्मेन्द्रियाँ और ही और दिशाओंको खींचती रहीं, मैं इन्द्रियों तथा विषयोंके वश रहा। यथा 'निसि दिन भ्रमत बिसारि सहज सुख जहँ-तहँ इंद्रिन्ह तान्यो। ८८ (१)।', 'उदर भरौं किंकरु कहाइ बेंच्यो बियन्ह हाथ हियो है। १७१।', 'लोभ मनहि नचाव कपि ज्यों गरे आसा डोरि। १५८।', 'जहँ जहँ जेहि जोनि जनम महि पताल बियत। तहँ तहँ तू बिषय सुखहि चहत लहत नियत। १३२।'—यह देखकर कि यह हमारे पूर्ण वशमें है, इन्द्रियाँ हमको हँसती रहीं कि देखो इसको हम कैसा मन-माना नाच नचाती हैं।

बैजनाथजी लिखते हैं कि "जैसे मंत्रियों आदिके वशमें हो जानेसे मूर्ख अज्ञानी राजाको वे मंत्री आदि लूटते और उस पर कूट करते, वैसेही जब जीव अचेत हो विषयोंमें पड़ा तब इन्द्रियाँ विषयसुखको भोगकर उस (जीव) का सहजस्वरूपरूपी धन लूट लेती हैं और जीवको हँसती हैं।"

३ (ख) 'निज बस होइ न हँसैहों' इति। अपने वश होकर अर्थात् इन्द्रियोंको अपने वशमें करके, इनकी स्वतंत्रता हरकर, इनके परतंत्र न रह-कर। इनका कहा न करूँगा। ऐसा करनेसे इनकी हँसी बंद हो जायगी।

श्रीरामकृपासे जब मनुष्यको विवेक उत्पन्न होता है, तब वह इसी तरह विचार करते हुए ग्लानि करता है। जैसे, श्रीमनुशतरूपाजीके चित्तमें विचार आए—'होइ न विषय बिराग भवन बसत भा चौथ पन। हृदय बहुत दुख लाग जनम गयउ हरि भगति बिनु। १।१४२।', इसी तरह एक हजार वर्ष स्त्रीके साथ विषयभोग करते हुए उसके अधीन बीत गए, तब राजा ययातिको अपना पतन सूझा और वे वैराग्ययुक्त हुए। वे सोचने लगे कि "मुझ कामीका धीर पुरुष सोच किया करते हैं।···मैंने हजार वर्ष तक लगातार विषयभोग किया, फिर भी उनमें नित्यप्रति तृष्णा ही बढ़ रही है। इसलिये अब मैं विषयतृष्णाको छोड़कर परब्रह्ममें मनको लगाऊँगा।"—

यही इन्द्रियोंसे अपनी हँसी न कराना हुआ। मन समेत ज्ञानेन्द्रियोंके विषय-सुखमें फँसे रहना ही इन्द्रियोंद्वारा उपहास किया जाना था।

३ (ग) 'मन मधुपहि पनु कै···' इति। मन बड़ा चंचल होता है। यह एक विषयपर बराबर ठहरता नहीं। इसी तरह भौंरा भी चंपा छोड़ प्रायः सभी पुष्पोंपर जाता है, सभीका रस लेता है, अतः मनको मधुपसे उपमित किया। और इसीसे प्रतिज्ञापूर्वक उसको बसाना कहते हैं। प्रण करनेसे उसका निर्वाह करना पड़ता है। प्रण होनेसे उसको हठपूर्वक दूसरी अर्थात् विषयोंकी तरफ जानेसे रोकूँगा, श्रीरघुपति पदकमलसे अलग न होने दूँगा। (वियोगीजीका मत है कि "भौंरा इधर-उधर दूसरे फूलों पर न जाकर प्रणपूर्वक अपनेको कमलकोशमें बसा लेता है"।)

☞ स्मरण रहे कि पूर्व पद १०२ में प्रार्थना कर आये हैं कि "विषय बारि मन मीन भिन्न नहि होत ···।···कृपाडोरि बंसी पद अंकुस···एहि विधि वेधि हरहु मेरो दुख।"—उसी बलपर यहाँकी प्रतिज्ञा है।

[सू० शुक्लजी--भजनका तात्पर्य यह है कि "अबसे मरनेतक जब सोचे सत्संग व सच्छास्त्रद्वारा भगवान्को जानकर प्रेमसे नित्य भावना करे। जो व्यवहार इन्द्रियोंद्वारा ग्रहण होता है रात्रिका स्वप्न ही है किन्तु ज्ञानद्वारा सत् चित् आनन्द, प्रिय, अद्वितीय भावका आनाही जागना है। उसी चिन्तामणि श्यामसुन्दर चिदात्मा राममें चित्तको अहंत्वको निकालके लगाना ही निर्मल सोनेको कसौटीमें कसना है।"]

श्रीसीतारामचन्द्रार्पणमस्तु।

१०६ (५२) रागु रामकरी

महाराज रामादर्‍यो[1] धन्य सोई।

गरुअ गुणरासि सर्वज्ञ सुकृती सूर[2] सीलनिधि साधु तेहि सम न कोई।१।

'उपल[3] केवट कीस' भालु निसिचर सबर[4] गीध सम-दम-दया-दान-हीने।

नाम लियें रामु किए परम पावन सकल, तरत नर[5] तिन्हके गुनगान कीन्हे२

---

१ राम आदर्‍यो—प्र०, १५। २ सूर—६६, रा०, ह०, वे०, ५१, आ०। सुघर—भा०, ७४, प्र०। ३ उपल केवट कीस—६६, रा०, ७४, ज०, आ०। कीस केवट उपल—भा०, वे०, ह०, प्र०। ४ सबर—६६, रा०। सबरि—औरोंमें। ५ तरत नर—६६, रा०, भा०, वे०, भ०, १५, दीन। नर तरत—मु०, बै०, वि०, ड०।

व्याध अपराध की साध राखी कोन , पिंगला[6] कोन* मति भगति भेई ।
कोनु* धों सोमजाजी अजामिल अधम, कोनु* गजराज हो[7] वाजपेई ।३।
पंडुसुत[8] गोपिका विदुर कुवरी सबको[9] सोधु[10] कियें सुद्धता लेसु कैसो ।
प्रेम लखि कृष्ण करे[11] आपने तिन्ह[12] को अब[13]
सुजस संसार हरिहर को जैसो ।।४।।
कोल खल[14] भिल्ल जवनादि खसे[15] राम्रु कहें,[16]
नीच ह्वै ऊँच पद कैं[17] न पायो ।
दीन-दुख-दमन श्रीरमन करुनाभवन, पतितपावन विरुद वेद गायो ।।५।।
मंदमति कुटिल खलतिलकु तुलसीसरिस[18],
भयो[19] न तिहुँलोक तिहुँ काल कोऊ[20] ।
नाम की कानि पहिचानि पन[21] आपनो, ग्रसत
कलिकाल[22] राख्यो[23] सरन सोऊ[20] ।६।

---

* ६६ मे 'कोन' (कोनु) है । प्राय रा० मे भी ऐसा ही है । औरोमे 'कौन' है ।
६ पिंगला—६६, ५१,७४, प्र०, डु०, वै०, मु०, दीन । पिंगलै—रा०, भा०, वे०, वि०, भ०, ह० । ७ हो—६६, रा०, भ०, ज० । धौ—भा०, वे०, ह०, आ० । ८ पंडुसुत—६६, रा०, भ०, दीन । पाडुसुत—आ० । ९ सबको ६६, रा० भ० । सबहि—भा०, वे०, ७४, आ० । सबहिं—ह० । १० सोधु किये (कियें—६६)—रा०,७४ (किय), दीन, ह०, मु०, ज० । सोध लिए—भा०, भ० । सोधि लिये—वे० । शुद्ध किये—वै०, वि० । ११ करे—६६, भ० । किये—प्राय: औरोमे । १२ तिन्ह—६६, रा०, भ०, डु० । तिनहु—भा०, वे०, ५१, मु० । तिनहुँ—वै०, दीन, वि० । १३—अव—६६, रा०, भ०, डु०, ज० । औरोमे 'अव' नही है । १४ खल—६६, रा०, मु० । खस—आ० । १५ खसे—६६ । खसे (खसँ)—रा० । खस—ह०, मु०, ७४ । खल—प्राय: औरोमे । खग—प्र०, १५ । १६ कहे—६६, रा०, भ० (कहे) । कहि—प्राय: औरोमे । १७ कैं—६६, (भा०, वे०,—कै) । के—ह०, ज०, डु० । को—प्राय: औरोमे । १८ सहस—भा०, वे० । १९ भयो—६६, रा०, ज० । भौ—मु०, वै०, भ०, डु० । भो—दीन, वि० । भा—भा०, वे० । २० कोऊ, सोऊ—६६, रा०, आ०, ७४, ज० । कोई, सोई—भा०, वे०, ह०, प्र० । २१ पन—६६, रा०, भा०, ह०, प्र०, ज०, भ० । जन—मु०, वै०, दीन, वि०, ७४, डु० । २२ कलिकाल—६६, भ० । कलिव्याल—प्रायः औरोमे २३ राख्यो—६६, रा०, वै०, भ०, वि०, भा०, वे० । रखु—मु०, बक्सर । राखो-दीन ।

शब्दार्थ—रामादर्‍यो=राम आदर्‍यो। आदरना=आदर करना, मानना, बड़ाई देना। धन्य=सुकृती, पुण्यवान, प्रशंसाके योग्य। गरुअ=भारी; यथा 'नृप भुजबल विधु सिवधनु राहू। गरुअ कठोर बिदित सब काहू। १।२५०।१।'; =गौरववाला; महत्ववाला, महिमावान। सूर (शूर)=वीर। साधु=महात्मा। शान्त, सुशील, परोपकारी, सदाचारी, सद्गुणी पुरुष।=सज्जन। उपल=पत्थर; अहल्या। केवट=क्षत्रिय पिता और वैश्या मातासे उत्पन्न एक वर्णसंकर जाति, जिसके लोग नाव चलानेका काम करते हैं।=गुह निषादराज। कीस (कीश)=बंदर। सवर (शबर)—यह एक जंगली या पहाड़ी जाति है, जो दक्षिणमें पाई जाती है। शूद्र तथा भीलसे उत्पन्न संतान। शबर नामका एक व्याधा भी था। सम (शम)=अन्तःकरणका निग्रह; शान्ति। दम=बाह्येन्द्रियोंका निग्रह। दया=स्वार्थरहित कृपा। साध=प्रबल इच्छा; कामना। (श० सा०)।=कमी, कसर। (वि०)। राखी=रख छोड़ी, पूर्ण नहीं होने दी; बचा रक्खी। पिंगला—इसकी कथा पद ९४ (३ ख) 'खग गनिका गज व्याध पाँति जहँ तहँ हौंहू बैठारो।' में दी जा चुकी है। कोनु=कौन। भेई—भेना=भिगोना, डुबोना, तर करना। सोमजाजी (सोमयाजी)=सोम यज्ञ करनेवाला। सोम—प्राचीन-कालकी एक लताका नाम है जिसके रसको प्राचीन वैदिक ऋषि पान करते थे। यह रस देवताओंको चढ़ाया जाता था और अग्निमें इसकी आहुति दी जाती थी। यह यज्ञकी आत्मा और अमृत कहा गया है। अजामिलकी कथा ५७ (३ झ) में आ चुकी है। राजराज—कथा ५७ (३ छ), ८२ (६ ग), ९३ (२ क-ख) में आ चुकी है। हो=था। यथा 'लोक सुजस परलोक सुगति इन्हमें को हो राम काम को। ९९।' बाजपेई (वाजपेयी)=वह जिसने वाजपेय यज्ञ किया हो। सप्तश्रौतयज्ञोंमेंसे 'वाजपेय' पाँचवाँ यज्ञ है।=बड़ा कुलीन पुरुष। पंडुसुत=राजा पाण्डुके पुत्र युधिष्ठिर, भीमसेन, अर्जुन, नकुल और सहदेव।=पाण्डव।

गोपिका—व्रजकी गोपजातीय वे स्त्रियाँ या कन्यायें जो श्रीकृष्णजीके साथ प्रेम रखती थीं और जिन्होंने उनके साथ बालक्रीड़ायें तथा अन्य लीलायें की थीं। विदुर—ये दासी-पुत्र थे। कौरवोंके सुप्रसिद्ध मंत्री थे, जो राजनीति, धर्मनीति और अर्थनीतिमें बहुत निपुण थे। एकबार चोरके धोखेमें माण्डव्य ऋषि सूलीपर चढ़ाये गये थे पर मरे नहीं, यह आश्चर्य सुनकर राजा उन्हें देखने गया तो पहिचाना कि ये तो माण्डव्य ऋषि हैं। उनके चरणोंपर गिरकर क्षमा माँगी। महर्षिने कहा कि राजन्! तुम्हारा दोष नहीं, मैं अभी जाकर धर्मराजसे उत्तर माँगता हूँ कि बिना

पापके शूलीपर क्यों चढ़ाया गया। धर्मराजने कहा कि पूर्व एक जन्ममें पाँच वर्षकी अवस्थामें आपने एक पतिंगेको काँटेसे छेदा था। महर्षिने कहा कि अबोध बालकका अपराध शास्त्र नहीं गिनता। तूने तीन बार मुझ ब्राह्मणको शूलीपर चढ़वाया। तूने यह ब्राह्मणवधका तीन बार पाप किया। अतः जा तू तीन कुलमें जन्म ले—राजकुलमें, दासी-कुलमें और चाण्डाल कुलमें। अतः धर्मराज युधिष्ठिर, विदुर और मूक चांडाल या वाल्मीकि श्वपच हुए। महाभारतमें कथा है कि जब सत्यवतीने अपनी पुत्रवधू अंबिकाको दूसरी बार कृष्णद्वैपायनके साथ नियोग करनेकी आज्ञा दी, तब उसने कृष्णद्वैपायनकी आकृति आदिसे भयभीत होकर एक सुन्दरी दासीको अपने कपड़े आदि पहनाकर उनके पास भेज दिया। जिससे विदुरजीका जन्म हुआ। ये बहुत बड़े पंडित, बुद्धिमान, शान्त और दूरदर्शी थे और पाण्डवोंके बडे पक्षपाती थे, क्योंकि ये पहले राजा पाण्डुके मंत्री थे। भारी-भारी विपत्तियोंसे इनने पाण्डवोंकी रक्षा की। ये धृतराष्ट्रके छोटे भाई तथा मंत्री भी थे। 'विदुरनीति' इनकी प्रसिद्ध है। भगवान् कृष्णमें इनका और इनकी धर्मपत्नीका ऐसा परमोत्कृष्ट प्रेम था कि दुर्योधनके विविध पक्वान्नका निरादरकर उन्होंने इनका दिया साग-भाजी बड़े स्वादसे पाया।

'कुबरी'—यह कंसकी एक दासी थी, जिसकी पीठमें कूबड़ था। यह तीन जगहसे टेढ़ी थी। इसका 'त्रिवक्रा' एवं कुब्जा नाम था। इसके हाथका घिसा चन्दन कंसको प्रिय था। उन्हींके लिये चन्दन घिसे लिये जाती थी। भगवान्ने इसे चन्दन लिये जाती देख कहा कि यह चन्दन मेरे लगा दे तो तेरा कल्याण होगा। भगवान्के रूप माधुर्य, हास्य आदिसे मोहित हो उसने वह चन्दन उनको भेंटकर नाभिसे ऊपर उनके सारे शरीरमें लेपन कर दिया, जिससे उनकी शोभा बढ़ गई। भगवान्ने इसके फलस्वरूप प्रथम तो उसको समान अंगोंयुक्त सुंदर स्त्री बना दिया और फिर उसकी प्रार्थना पर उसे अपना लिया।

सोधु (शोध) = खोज, छानबीन, जाँच। किये = करने पर। शुद्धता-लेश = नाममात्रकी भी शुद्धता वा पवित्रता। लेश = संसर्ग, लगाव, संबंध। = चिह्न। = अणुमात्र। कैसा = (निषेधात्मक प्रश्नरूपमें) किस प्रकारका? किसी प्रकारका नहीं। करे = किये। कोल—स्कन्दपुराणके हिमवत्खण्डमें लिखा है कि 'कोल' एक म्लेच्छ जाति थी जो हिमालयमें शिकार करते घूमती थी। पद्मपुराणमें लिखा है कि जब यवन, पह्लव, कोलि, सर्प आदि सगरके भयसे वसिष्ठजीकी शरण आये, तब उन्होंने

उनका सिर आदि मुँड़ाकर उन्हें केवल संस्कारभ्रष्ट कर दिया। ब्रह्मवैवर्त पु० में कोलको लेट पुरुष और तीवर स्त्रीसे उत्पन्न एक वर्णसंकर जाति लिखा है। आजकल जो कोल नामकी एक जंगली जाति है, वह आर्य्योंसे स्वतंत्र एक आदिम जाति जान पड़ती है और छोटा नागपुरसे लेकर मिरजापुरके जंगलों तक फैली हुई है—यह शब्दसागर कोषका मत है।

खस—गढ़वाल और उसके उत्तरवर्त्ती प्रान्तमें रहनेवाली व्रात्य क्षत्रियसे उत्पन्न एक प्राचीन जाति जो इस समय नेपाल और काश्मीरमें पाये जाते हैं। ये अपनेको क्षत्रिय बतलाते हैं। ये खासिया भी कहलाते हैं।

भिल्ल (भील)—एक प्रसिद्ध जंगली जाति जो बहुत प्राचीन कालसे राजपूताना, सिंध और मध्य भारतके जंगलों तथा पहाड़ोंमें पाई जाती है। इस जातिके लोग बहुत वीर और तीर चलानेमें सिद्धहस्त होते हैं। ये क्रूर, भीषण और अत्याचारी होनेपर भी सीधे, सच्चे और स्वामिभक्त होते हैं। पुराणोंमें इन्हें ब्राह्मणकन्या और तीवर पुरुषसे उत्पन्न संकर माना गया है।

यवन—पद ४६ (६ घ), ५७ (३ ट) में देखिये।

खलतिलक=दुष्ट शिरोमणि। कानि=मर्यादा। पन=प्रण।

पहिचानना=किसी वस्तुकी विशेषताको जानना।

पद्यार्थ—राजाधिराज श्रीरामचन्द्रजीने जिसका आदर किया, वह ही धन्य है। उसके समान कोई भी महिमावान, गुणोंका भांडार, सर्वज्ञ, पुण्यवान, शूरबीर, शीलनिधान और साधु नहीं है।१। श्रीरामचन्द्रजीने पापाण (अहल्या), केवट (गुह आदि), वानर-भालु, निशाचर, शवर, और गृध्रराज (जटायु) सब शम-दम-दया-दानविहीनोंको नाम लेने मात्रसे परम पवित्र बना दिया। मनुष्य उन लोगोंका गुणगान करनेसे तर जाते हैं।२। व्याधने किस अपराधकी कामना बचा रक्खी? पिंगलाने कौन अपनी बुद्धिको भक्तिमें डुबा रक्खा था? अधर्मी पापी अजामिल भला कौन सोमयाज्ञी (सोमयज्ञ करनेवाला) था? और गजेन्द्र कौन वाजपेई था?।३। पाण्डुपुत्रों, गोपियों, विदुर और कुबरी इन सबोंका पता लगाने जाँच करनेसे इनमें शुद्धताका किंचित् भी लगाव क्या किसी प्रकारका था? किसी प्रकारका भी तो न था। (परन्तु) श्रीकृष्णजीने उनका प्रेम देखकर उनको अपना बना लिया। अब संसारमें उनका सुन्दर यश हरि और हरके समान (छा रहा है)।४। नीच होते हुए भी कोल, भील, यवन और खस आदि खलोंमेंसे किसने 'राम' (नाम) उच्चारणकर ऊँचा पद नहीं पाया? (सभीने तो पाया)। (महाराज श्रीराम) दीनदुखदमन (दीन दुखियोंका दुःख मिटानेवाले), श्रीपति, करुणाके स्थान और पतित-

पावन (हैं यह) विरुदावली वेदोंने गाई है ।५। (प्रत्यक्ष प्रमाण देखिए-) तीनों लोकों और तीनों कालोंमें (जिस मुझ) तुलसीदासका-सा मन्दबुद्धि, कुटिल और खलोंमें शिरोमणि कोई भी नहीं हुआ (न है और न होगा), कलिकालद्वारा ग्रास किये जाते हुए उस (तुलसीदास) को भी अपने नामकी मर्यादा (की रक्षाके लिये) और अपनी प्रतिज्ञाकी विशेषताको जानकर शरणमें रख लिया ।६।

नोट—१ यह पद भी पद १०४-१०५ से संबंधित है। 'श्रीजानकीजीवनकी बलि जैहों', 'नातो नेह नाथ सों करि सब नाते नेह बहैहों' और 'अब न नसैहों', 'मन मधुपहि पनुकै रघुपतिपदकमल बसैहों'—यह क्यों? इससे क्या लाभ?—यह प्रस्तुत पदमें बताते हैं। इससे श्रीरामजीका आदरपात्र बनूँगा।

२ इस पदसे मिलते-जुलते पद ये हैं—'जाको हरि दृढ़ करि अंगु कर्‌यो।··' (२३६), 'सोइ सुकृती सुचि साँचो जाहि तुम्ह रीझे।···' (२४०) तथा ' 'विभीषन कपि जदुपति पंडव' ' गज गायो कब नाम को। ६६ (२-३)।'

टिप्पणी—१ (क) 'महाराज राम'—इस पदमें नीचों, अकुलीनों और अन्त्यजों आदिका अपनाना कहा गया है। अतः प्रारंभमें 'महाराज' विशेषण देकर उनपर लांछनका निराकरण किया। 'महाराज' होनेसे सर्वसमर्थ हैं, उनमें इनको अपनानेसे दोष नहीं लग सकता। यथा 'प्रभु समर्थ कोसलपुर राजा। जो कछु करहिं उन्हहि सब छाजा ।३।१७।', 'समरथ कहुँ नहि दोषु गोसाईं। रवि पावक सुरसरि की नाईं ।१।६६।'

['महाराज'से लौकिक और 'राम'से पारलौकिक बड़प्पन दिखाया। बड़ेही औरोंको बड़ा बना सकते हैं। यथा 'बड़ो गहे ते होत बड़ ज्यों बावनकर दंड। श्रीप्रभुके सँग सों बढ़ो, गयो अखिल ब्रह्मंड। दो० १३२।'—(श्री० श०)]

१ (ख) 'आदर्‌यो धन्य सोई'—अपना लेना, शरणमें लेना, उनकी रक्षा करना, शत्रुओंसे निर्भय करना, सज्जनसमाजमें उनकी प्रशंसा करना, इत्यादि, सब आदर देना है। 'धन्य सोई' अर्थात् वही प्रशंसाके योग्य है, कृतार्थ है। इसीकी व्याख्या आगे पद भरमें है।

१ (ग) 'गरुअ गुणरासि···साधु तेहि सम न कोई' इति। भाव यह कि महाराजके आदर करनेसे गुरुता, गुण, ज्ञान, सुकृत, वीरता, शील और साधुता न होने, एवं हल्का, गुणहीन, अज्ञ, अधम, कायर, क्रोधी और असाधु होनेपर भी वह परम गौरववाला, गुणोंका भांडार आदि माना

जाता है। यथा 'जाको हरि दृढ़ करि अंगु कर्यो। सोइ वसु सील पुनीत बेदविद बिद्या गुनन्हि भर्यो। २३६।', 'सोइ सुकृती सुचि साँचो···।२४०।'

१ (घ) यहाँ श्रीरामद्वारा आदरित लोगोंके संबंधमें कहा गया। वैसेही जो श्रीरामजीका हो जाता है उसमें भी ये गुण कहे गए हैं। यथा 'सोइ सर्वज्ञ गुनी सोइ ज्ञाता। सोइ महिमंडित पंडित दाता॥ धर्मपरायन सोइ ··' से लेकर 'छल छाँड़ि भजै रघुबीरा।' तक।७।१२७।१-४।', 'सो सुकृती सुचिमंत सुसंत, सुजान सुसीलसिरोमनि स्वै। ··सतिभाय सदा छल छाड़ि सबै, तुलसी जो रहै रघुबीरको ह्वै।क०७।३४।'—इन उद्धरणोंके सर्वज्ञ, गुणी, महिमंडित पंडित, सुकृती, सुसंत, सुशीलशिरोमणि क्रमशः प्रस्तुत पदके सर्वज्ञ, गुणराशि, गरुअ और सूर, सुकृती, साधु और शील-निधि हैं। इससे यह सूचित किया कि जो छल छोडकर श्रीरामचरणरत हो जाता है वह इस दरबारमे आदर पाता है।

टिप्पणी—२ (क) 'उपल केवट···समदमदयादानहीने' इति। 'उपल' को प्रथम कहकर जनाया कि केवट आदि चेतन जीव होते हुये भी जड़के समानही थे। 'जड़' शमदमादि करही नहीं सकता। केवट, भालु, निशिचर आदि सब हिंसारत जीव हैं। तब उनमेंभी शमादि साधन कहाँ? 'शबर'की कथा प०पु०पा० २० में आई है। यह पुल्कस जातिका एक कामी, क्रोधी, हिंसारत, महामोहग्रस्त व्याध था। शबर उसका नाम था। अन्तकाल समय यमराजके भयंकर दूत हाथमें मुद्गर, पाश और लोहेकी जंजीर लिये आये। उन्हें देखते ही वह मूर्छित हो गया। उसे पाशमें बाँधकर दूत ले जानेको उद्यत हुए, त्योंही एक महाविष्णुके चरणानुरागी महात्मा वहाँ पहुँच गए। शबरकी दशा देखकर उन्हें दया आ गई और उन्होंने उसे यमदूतोंसे छुटानेका विचार करके वे उसके पास शालग्राम लेकर गए और भगवान् शालग्रामका तुलसीमिश्रित चरणामृत उसके मुखमें डाल दिया, छातीपर शालग्राम रखा और कानमे रामनामका जप सुनाया। भगवान्के पार्षद तुरंत पहुँचे और शबरको पाशसे मुक्त कर दिया। यमदूतोंने उसके महापातक कह सुनाये। तब भगवत्-पार्षदोंने उन्हें बताया कि "ब्रह्महत्या आदिका पाप हो या करोड़ों प्राणियोंके वध करनेका, शालग्राम-शिलाका स्पर्श सबको क्षणभरमें जला डालता है।" "जिसके कानोमे अकस्मात् भी रामनाम पड जाता है, उसके सारे पापोको वह उसी प्रकार भस्म कर डालता है, जैसे आगकी चिनगारी रुई को।—'रामेति नाम यच्छ्रोत्रे विश्रम्भादागतं यदि। करोति पापसंदाहं तूलं वह्निकणो यथा।२०।८०।"—संवत् १६६६ की प्रतिमें 'शबर' पाठ कई पदों में आया है। श्रीराननामकी

महिमासे ही यह परम पवित्र हुआ है। व्याधमें भी इसे ले सकते हैं। (ख) श्रीरामजीने सबको आदर दिया। अहल्याने स्वयं कहा है—'जेहि पद सुरसरिता परमपुनीता प्रगट भई सिव सीस धरी। सोइ पदपंकज जेहि पूजत अज मम सिर धरेउ कृपाल हरी ॥...।१।२११।' पाँच स्त्रियाँ जो प्रातःस्मरणीय हैं उनमेंसे एक अहल्याजी भी हैं। गुह निषादराजका आदर, यथा 'तुम्ह मम सखा भरत सम भ्राता। सदा रहेहु पुर आवत जाता। ७।२०।' सखा बना लिया, भाई बना लिया और जो और किसीसे न कहा था 'सदा रहेहु पुर आवत जाता' सो इनसे कहा। ये परम पावन हो गए कि गुरु वसिष्ठजी इससे बरबस मिले। देवता तक इसके भाग्यकी सराहना करने लगे—'नभ सराहिं सुर बरिसहिं फूला। एहि सम निपट नीच कोउ नाहीं। बड़ वसिष्ठ सम को जग माहीं।२।२४३।' बानर, भालु, आदिका आदर, यथा 'अनुज राज संपति बैदेही। देह गेह परिवार सनेही ॥ सब मम प्रिय नहि तुम्हहिं समाना। मृषा न कहउँ मोर यह बाना।७।१६।' इनको परम पावन यश मिला, यथा 'मोहि समेत सुभ कीरति तुम्हारी परम प्रीति जो गाइहैं। संसार-सिंधु-अपार पार प्रयास बिनु नर पाइहैं।६।१०५छंद।'—यही है 'तरत नर तिन्ह के गुन गान कीन्हें।' जो यहाँ कहा। विभीषणका आदर कि आते ही तिलककर लंकेश संबोधनकर सखा बना लिया, कल्पपर्यन्त राज्य दे दिया। प्रातस्मरणीय महाभागवतों हरिवल्लभोंमें इनकी गणना हो गई। श्रीशबरीजी और श्रीजटायुजीका जैसा आदर किया, जैसा सुयश इनको मिला, यह सब जानते हैं, और पूर्व लिखा भी जा चुका है।—इन सबोंका गुणगान करनेसे मनुष्य भवसागर पार हो जाते हैं। (ग) 'नाम लियें... ' इति। नाम लेनेसे जीवको श्रीरामजी परम पावन बना देते हैं। 'आभीर जमन किरात खस स्वपचादि अति अघरूप जे। कहि नाम बारक तेपि पावन होहिं राम नमामि ते।७।१३०।'

टिप्पणी—३ 'व्याध अपराधकी साध राखी कोन'—भाव कि ऐसा कोई भी अपराध नहीं है जो उसने न किया हो। फिर भी नामजप, वह भी उल्टा नामजप, करनेसे वे परम पावन हो गए। यथा 'बालमीकि व्याध हे अगाध-अपराध-निधि मरा मरा जपे पूजे मुनि अमरनि।२४७।' इसी तरह पापमई पिंगलाने तोतेको पढ़ाते-पढ़ाते नाम लिया। 'कोनु मति भगति भेई', यथा 'गनिका कबहीं मति प्रेम पगाई। क० ७।६३।' अजामिलने क्या कोई सोमयज्ञ किया था जो यमपाशसे छूटा? पुत्रका 'नारायण' नाम लिया, इतनेसे ही वह परम पावन मान लिया गया। 'कोनु गजराज हो बाजपेई' अर्थात् वाजपेय यज्ञसे लोग तरते हैं, पर

गजेन्द्र तो महा अभिमानी विषई पशु था, वह कैसे तर गया? केवल नामस्मरणसे। 'वाजपेई' ब्राह्मणकी एक जाति भी है। यह अर्थ लें तो भाव होगा कि क्या वाजपेई ब्राह्मण था? कुलीन था? इत्यादि। मिलान कीजिए—'गज धों कोन दिछित जाके सुमिरत लै सुनाभ बाहन तजि धाए।२४०।'—तात्पर्य कि गज, अजामिल आदि सब खल थे, किसी प्रकार तर न सकते थे, सो भी नाम लेनेसे तर गए। यथा 'सुमिरत नाम राम पठए सब अपने भवन॥ गज पिंगला अजामिल से खल गने धों कवन।२१२।' नामके प्रसंगसे तोता पढ़ानेवाली पिंगलाको हमने लिया है। दूसरी पिंगला जनकपुरकी है जिसकी कथा और निर्वेदका वर्णन दत्तात्रेयजीने भा० ११।२३ में यदुसे किया था। २३६ (६ ख) देखिए।

टिप्पणी—४ पंडुसुत गोपिका बिदुर कुबरी''' इति। (क) पाण्डुपुत्रोंकी उत्पत्ति दूषित थी। राजा विचित्रवीर्यकी क्षेत्रभूता अम्बिका और अम्बालिकाके गर्भसे कृष्णद्वैपायन व्यासद्वारा राजा धृतराष्ट्र और महाबली पाण्डुका जन्म हुआ। व्याससे ही शूद्रजातीय स्त्रीके गर्भसे धर्मात्मा, अर्थज्ञानमें निपुण, बुद्धिमान, मेधावी और निष्पाप विदुरजीका जन्म हुआ। पाण्डुजी शापवश अपनी रानियों कुन्ती और माद्रीसे पुत्रोत्पत्ति न कर सकते थे। धर्मराजद्वारा कुन्तीके युधिष्ठिर, वायुदेवद्वारा भीमसेन और इन्द्रदेवद्वारा अर्जुन पुत्र हुए। अश्विनीकुमारोंद्वारा माद्रीके गर्भसे नकुल और सहदेव हुए। युधिष्ठिर, भीमसेन, अर्जुन, नकुल और सहदेव ये पाँचों पाण्डव इस तरह उत्पन्न हुए। विदुरजी दासीपुत्र हैं। एक स्त्री द्रौपदीके पाँचों पाण्डव पति हुए।—अतएव कहा 'सुद्धता लेस कैसो'। वीरभद्र कविने अर्जुनजीके मुखसे अपने कुलकी हीनता और भगवान् कृष्णकी कृपाका वर्णन इस प्रकार कराया है।—"कहौं कहाँ लों कृपा तिहारी। कुल कलंक सब मेटि हमारे किये जगत जस पावनकारी। द्विजकानीनि हमारी आजा गोलक पिता वंस को गारी। हम तो कुंड सबै जग जानै ताहू सें औरै गति न्यारी। महाकष्ट करि व्याह जो कीन्हो ह्वै गई तिया पंच भर्तारी। बड़े व्यसन दूषणजुत राजा हमते अधिक जु अग्र जुआरी। या कुकरम की अवधि कहाँ लों जो तिय राजसभा में हारी। हते पितामह-बंधु-बिप-गुरु लोभी नीच स्वार्थी भारी। समुझत नहीं कौन विधि रीझे हम तो ऐसे अधम विकारी। अति आतुर रक्षा कीन्हीं असन वसन की सबै सँभारी। यह तो साधन को फल नाहीं बार बार हम यहै विचारी। वीरभद्र केवल कृपा ते बिगरत गई सो सबै सुधारी।"—स०भा० आदि० ११०, ११७, ११६, १२१-

१२३ में पाण्डवोंकी उत्पत्तिका विस्तृत वर्णन है। विशेष पद २३६ (२) में देखिए।

'गोपिका'—काममोहित हो अपने पतियोंको छोड़ पर-पतिमें रत हुईं। काममोहित होना इनका भा० १०।२१ के 'तद् व्रजस्त्रिय आश्रुत्य वेणुगीतं स्मरोदयम् ।३।' (कामको उत्तेजित करनेवाली उस बाँसुरीकी ध्वनिको सुनकर), 'स्मरवेगेन विक्षिप्त मनसो ।४।' (कामदेवके वेगसे उनके चित्त चंचल हो गये), 'धन्याः स्म मूढमतयोऽपि हरिण्य एता···सहकृष्णसाराः पूजां दधुर्विरचितां प्रणयावलोकैः ।११।' (ये मूढ़ बुद्धिवाली हरिणियाँ भी धन्य हैं कि अपने पति कृष्णसार मृगोंके साथ, उनको अपनी प्रेमभरी आँखोंसे देखती हैं। भाव कि हम गोपियाँ इस तरह अपनेको उनपर निछावर नहीं कर सकतीं, क्योंकि हमारे घरवाले इस व्यवहारको सहन नहीं कर सकते) इत्यादि उद्धरणोंसे स्पष्ट है। भा० ७।१।२६-३० में देवर्षि नारदने युधिष्ठिरजीसे यह कहकर कि 'काम, द्वेष, भय, स्नेह और भक्ति आदि उपायोंसे भगवान्‌में चित्त लगाकर बहुतसे लोग कामादिजन्य पापसे मुक्त होकर उनमें सायुज्य प्राप्त कर चुके हैं' फिर कामसे भगवान्‌में चित्त लगानेवालोंमें गोपियोंको गिनाया है। यथा 'कामाद्द्वेषाद्भयात्स्नेहाद्यथा भक्त्येश्वरे मनः। आवेश्य तदघं हित्वा बहवस्तद्गतिं गताः ।२६। गोप्यः कामाद्···।३०।'—विशेष २१४ (३) में देखिये।

'विदुरजी' और 'कुबरी'की कथा शब्दार्थमें आ चुकी है।

४ (ख) 'सोध किये'—भाव कि भगवत्कृपासे इनका सुयश ऐसा छा रहा है कि इनकी उत्पत्ति आदिको देखने-खोजने कोई जाता ही नहीं, सब इनको परम शुद्ध, कुलीन आदि समझते हैं। ढूँढ़नेपर ही पता चलता है कि इनमें शुद्धता लेशमात्र न थी।

४ (ग) 'प्रेम लखि ·।' इति। भगवान् कृष्णमें कुन्ती, कुन्तीपुत्र पाण्डवों तथा द्रौपदीका प्रेम था। वे सब इनको भगवान् जानते थे और समस्त दुस्साध्य आपत्तियोंमें आर्तभक्तकी तरह उनका स्मरण करते थे। महाभारत युद्ध निश्चित हो जानेपर भी पाण्डवोंने एकमात्र श्रीकृष्णजीको अपनाया, सारी यादवी सेनाको नहीं। इत्यादि प्रसंग सब प्रसिद्ध हैं। तभी तो श्रीकृष्णजीने प्रत्येक विपत्तिमें उनकी रक्षा की। कहाँ तक कहा जाय अर्जुनके सारथी बने, द्रौपदीके लिये वस्त्रावतार लिया, राजसूययज्ञमें जूठन उठाई, इत्यादि।—यही अपनाना है। भगवान्‌ने दुर्योधनसे कहा भी है कि तुम मुझे पाण्डवोंके साथ एकरूप हुआ समझो। गोपियाँ पतियोंको छोड़कर उनके पास गईं। व्रजकुमारियोंने कात्यायनि व्रत कर-करके यही वर

माँगा कि नन्दनन्दन श्रीकृष्ण हमारे पति हों। इनका भाव जानकर भगवान्‌ने चीरहरण लीला की और उनके साथ रास किया।—इस तरह इनको अपनाया।

विदुरजी श्रीकृष्णजीको भगवान् जानते थे। उनका और उनकी पत्नीका प्रेम उस समय साक्षात् देखनेमें आता है जब वे दुर्योधनका निमंत्रण त्यागकर उनके यहाँ गये और विदुरपत्नी वस्त्राभावसे एक ही वस्त्रको सूखनेको डालकर नंगी स्नान कर रही थीं। श्रीकृष्णजीका मधुर स्वर सुनकर वे, वैसी ही उठ खड़ी हुईं और किवाड़ खोल दिये। प्रेममें उनको यह भी सुध न रही कि मैं नंगी हूँ। फिर केला छील-छीलकर खिलाने लगीं, तो मन और नेत्र तो भगवान्‌के मुखारविन्दुकी माधुरीमें लगे हुये थे, उनको यह भी सुध नहीं कि प्राणप्यारेको मैं छिलका खिला रही हूँ। (भक्तमाल देखिये)। दुर्योधनने निमंत्रित किया, किन्तु उसमें प्रेम न था। इसीसे 'सम्प्रीतिभोज्यान्यन्नानि आपद्भोज्यानि वा पुनः। न च सम्प्रीयसे राजन् न चैवापद्‌गता वयम्॥ म० भा० उद्योग० ६१।२५।' (किसीके घरका अन्न या तो प्रेमके कारण खाया जाता है या आपत्ति पड़नेपर। सो प्रेम तो तुम रखते नही और हम किसी आपत्तिमें नही पड़े हैं। तुम पाण्डवोंसे द्वेष करते हो और पाण्डव मेरे प्राण हैं)—यह कहकर श्रीकृष्णजी निमंत्रण अस्वीकारकर वहाँसे विदुरजीके यहाँ गये। इतना ही नहीं, महा-प्रस्थानके पूर्व भगवानने मैत्रेयजीसे उद्धवजीके सामने कहा कि विदुर हमारे भक्त हैं उनको यह उपदेश सुना देना।

कुब्जाजीका प्रेम उनकी कथामें लिखा जा चुका है।

४ (घ) 'सुजस संसार'—संसारमें इन सबोंको सुन्दर यश प्राप्त हुआ। यथा 'उतपति पंडुसुतन्हि की करनी सुनि सतपंथ डर्‌यो। ते त्रैलोक्यपूज्य पावन जस सुनि सुनि लोग तर्‌यो।२३९।'; 'काममोहित गोपिकन्हि पर कृपा अतुलित कीन्ह। जगतपिता बिरंचि जिनके चरन की रज लीन्ह।२१४। (३)।'; 'बावौं दियो बिभव कुरुपति को भोजन जाइ बिदुर घर कीन्हों।२४० (३)।'; 'लिए अपनाइ लाइ चंदन तन, कछु कटु चाह उड़ानी। जरी सुँघाइ कूबरी कौतुक करि जोगी बधा-जुड़ानी॥ व्रज बसि रास-बिलास, मधुपुरी चेरी सों रति मानी।...तुलसी हाथ पराए प्रीतम, तुम्ह प्रिय-हाथ बिकानी॥४७॥' (कृ० गी० ४७ , 'सब मिलि साहस करिय सयानी। व्रज आनि-यहि मनाइ पायँ परि कान्ह कूबरी रानी॥ बसैं सुबास सुपास होहिं सब फिरि गोकुल रजधानी। महरि महर जीवहि सुखजीवन खुलहि मोदमनि-खानी॥ तजि अभिमान अनख अपनो हित कीजिय मुनिबर बानी।

देखियो दरस दूसरेहु चौथेहु बड़ो लाभ लघु हानी। पावक परत निषिद्ध लाकरी होति अनल जग जानी। तुलसी गो तिहुँ भुवन गाइवी नंदसुवन सनमानी ॥४८॥'—इत्यादि जो गोपियोंने कहा है, इसमें कुब्जाका सुयश है। उसके भाग्यको ये सिहा रही हैं।

टिप्पणी—५ (क) कोल भील आदि सब नामसे परमपदको पहुँचे। पूर्व स्वपच खल भिल्ल जमनादि हरिलोकगत नाम बल विपुल मति मल न परसी।४६ (६)।' में भी यही बात कही है। 'हरिलोकगत' तथा 'ऊँच पद पायो' एक ही बात है।—विशेष ४६ (६ क, ख, ग, घ, ङ) में देखिये। कोल-भील, यवन, खल, श्वपच आदिके प्रमाण भी वहाँ दिये जा चुके हैं।

५ (ख) 'दीनदुखदमन ''बिरद बेद गायो', यथा 'पतितपुनीत दीन-हित असरनसरन कहत श्रुति चारो। हौं नहिं अधम सभीत दीन किधौं बेदन्ह मृषा पुकारो। ६४ (२)।', 'दीनउद्धरन रघुवर्य करुनाभवन समन संताप पापौघहारी। ५६ (१)।'

५ (ग) 'श्रीरमण' इति। प० पु० उत्तर० २३६ में श्रीरामावतारकी कथा कहते हुए उनके नामकरण प्रसंगमें श्रीशङ्करजी कहते हैं—भगवान् वशिष्ठने उस समय बालकका बड़ा सुन्दर नाम रक्खा। वे बोले—'ये महाप्रभु कमलमें निवास करनेवाली श्रीदेवीके साथ रमण करनेवाले हैं, इसलिये इनका परम प्राचीन स्वतःप्रसिद्ध नाम 'श्रीराम' होगा।—'श्रियः कमल-वासिन्या रमणोऽयं महाप्रभुः। तस्माच्छ्रीराम इत्यस्य नाम सिद्धं पुरातनम्। श्लो० ७४।'—इससे 'श्रीरमण' नाम श्रीरामका परम प्राचीनकालसे ही होना स्पष्ट है। अगले श्लोकमें फिर यह भी कहा है कि यह एक रामनाम श्रीपति विष्णु भगवान्‌के सहस्र नामोंके समान है तथा मनुष्योंको मुक्ति प्रदान करनेवाला है। चैत्र मास विष्णुमास है। इसमें प्रकट होनेके कारण ये 'विष्णु' भी कहलायँगे।—'सहस्रनाम्नां श्रीशस्य तुल्यं मुक्तिप्रदं नृणाम्। विष्णुमासि समुत्पन्नो विष्णुरित्यभिधीयते। श्लो० ७५।'

वे० भू० पं० रामकुमारदासजी लिखते हैं—"श्री" नाम प्रथमका नाम श्रीजानकीजीका है। लक्ष्मीजीका यह नाम बहुत पीछे हुआ। आ० रा० में इसकी कथा यों है—शतकोटिरामचरित पहले तीन लोकोंमें बँटा। भूलोकके भागमेंके फिर सात भाग सप्तद्वीपके लिये हुए। तब ४२ श्लोक बचे जो ब्रह्माजीने व्यासजीके पास भेजे जिसके आधारपर श्रीमद्भागवत रचा गया। फिर जम्बूद्वीपके भागमेंके नव भाग नव खण्डके लिये हुए, तब 'श्री' यह एक अक्षर बच रहा—इसे लक्ष्मीजीने लिया। तबसे 'श्री' उनका नाम हुआ।—'शेषमेकाक्षरं श्रीरिति सर्वत्र विष्णुना'।

नोट—३ प्रस्तुत पदके अन्तरा २,३,४,५ का मिलान कीजिए ६६ (२-३) "ध्रुव प्रह्लाद बिभीषन कपि 'जदुपति पंडव' सुदाम को। लोक सुजस परलोक सुगति इन्ह में को हो राम काम को॥ गनिका कोल किरात आदिकवि इन्ह तें अधिक वाम को। बाजिमेध कब कियो अजामिल गज गायो कब साम को॥" से।—पद ६६ के विभीषण, कपि, पंडव, कोल, किरात, आदिकवि ही क्रमशः यहाँ के 'निशिचर, कीस-भालु, पंडुसुत, कोल, भिल्ल और व्याध हैं। 'जड़ पतंग' पाठ लें तो उपल और गीध भी आजाते हैं। 'गणिका' ही 'पिंगला' है। 'बाजिमेध कब कियो अजामिल' और 'कौनु धों सोमजाजी अजामिल अधम' में तथा 'गज गायो कब सामको' और 'कौनु गजराज हो बाजपेई' में भावसाम्य है। 'को हो राम काम को' का भाव 'शमदमदयादानहीने' 'सुद्धता लेस कैसो' में है। 'लोक सुजस परलोक सुगति' का भाव 'तरत नर तिन्ह के गुनगान कीन्हें' और 'सुजस संसार हरिहरको जैसो' में है।

टिप्पणी—६ 'मंदमति कुटिल खल तिलकु ''' इति। (क) अपनेको ये विशेषण देकर जनाते हैं कि ऊपर जिनके नाम दिये गए, वे इतने मन्द-मति, कुटिल और खल न थे जितना मैं हूँ। दूसरे वे तो सत्ययुग, त्रेता और द्वापरमें हुए थे और मैं कलियुगी हूँ, मेरे समान तीनों लोकों, तीनों कालोंमें कोई नहीं हुआ, न है, न होगा। तीसरे औरोंको लोगोंने देखा नहीं और मुझे तो सबने देखा है। प्रत्यक्ष प्रमाण प्रबल होता है। इसलिये नामकी महिमामें अपनेको प्रमाणमें देते हैं। (ख) 'नामकी कानि' अर्थात् यदि नाम लेनेसे इसको सद्गति न दी गई, इसको अपनाया न गया, तो नामकी मर्यादा, महिमा मिट जायगी, लोग कहेंगे कि अमुक व्यक्ति दिनरात नाम रटता रहा, कुछ न हुआ, व्यर्थ ही वेदोंने नामका इतना प्रभाव कहा है। अतएव नामके लाजसे मुझे अपना लिया। यथा 'नाम की लाज राम करुनाकर केहि न दिये करि चीठे। १६६ (३)।' (ग) 'पहिचानि पन आपनो'--श्रीरामजीका विरुद है कि कोई भी जो नाम लेता है उसे हम अपना लेते हैं; फिर उसके अवगुणोंको नहीं देखते। यथा 'बेद बिदित बिरुदावली कबि कोबिद गावत गीत। कैसेउ पॉवर पातकी जेहि लई नाम की ओट। गाँठी बॉध्यो राम सो, परिख्यो न फेरि खर खोट। १९१ (८)।' (घ) 'ग्रसत कलिकाल' अर्थात् कलिकाल मुझे ग्रस रहा था। 'ग्रसत' से जनाया कि कलिकाल सर्परूप है, वह मुझे निगल रहा था वा डस रहा था, यह देख श्रीरामरूप गरुडने हमारी रक्षा की। यथा 'कालकलि-व्यालमिव वैनतेयं। ५० (१)।' (ङ) 'राख्यो सरन'—शरणमें रख लिया।

६६

—यही कलिकालव्यालसे रक्षा करना है। (च) 'सोऊ' का भाव कि मुझ ऐसे कुटिलशिरोमणिको शरणमें रख लिया, तब जो केवल मंदमति खल और कुटिल हैं उनको तो संदेह ही न करना चाहिए। उन्हें नाममें लग जाना चाहिए। (छ) गोसाईंजीने इसी तरह अपनेको ही प्रमाणमें यत्रतत्र दिया है क्योंकि प्रत्यक्ष देखनेसे विश्वास शीघ्र हो जाता है। विशेष ६६ (४ ङ) और १६१ (६) देखिए।

। श्रीसीतारामचन्द्रार्पणमस्तु ।

१०७ (५४)

है नीको मेरो देवता कोसलपति राम।
सुभग सरोज[1] सुलोचन सुठि[2] सुंदर स्याम ॥१॥
सिय समेत सोहै[3] सदा छवि अमित अनंग।
भुज विसाल सर धनु धरें कटि चारु[4] निषंग ॥२॥
बलि पूजा मागै[5] नहीं चाहै[6] एक प्रीति।
सुमिरन[7] हीं मानै भलो पावन [8]सब रीति ॥३॥
देइ सकल सुख दुख दहै आरत जन बंधु।
गुन गहि अघ औगुन हरै असो[9] करुणासिंधु ॥४॥
देस काल पूरन सदा/महा[10] बद वेद पुरान।
सब को प्रभु सब मों[11] बसै 'सब[12] की गति जान' ॥५॥

---

१ सरोज सुलोचन—६९, रा० (सुलोचना), भ०। सरोरुह लोचन—भा०, वे०, ५१, ७४, आ०, प्र०, ज०। २ सुठि—६६, रा०, ह०, भ०, आ०। तन—भा०, वे०, प्र०। ३ सोहै—६६, रा०, ह०, भ०। सोभित—भा०, वे०, प्र०, ७४, ज०, आ०। सोहत—वि०। ४ सोह—भा०, वे०, प्र०, ज०। चारु—औरोंमें। ५ मागै—६६, भ०, रा०। चाहै—ह०। चाहत—भा०, वे०, आ०, ५१। ६ चाहत—भा०, वे०, ७४, ज०, प्र०, वि०। चाहै—६६, रा०, तथा औरोंमें। ७ सुमिरन—६६, ह०, भ०, प्र०। सुमिरत—प्रायः औरोंमें। ८ यह पावन रीति—भा०, ह०, प्र०, ज०। सब पावन रीति—वे०। पावन सब रीति—६६, रा०, ५१, ७४, आ०। ९ असो—६६, रा०, ह०। ऐसो—भ०। प्रभु—भा० वे०, प्र०। अस—५१, ७४, आ०। अस प्रभु—वि०। १० महा—६६, रा० ('सदा' बनानेकी चेष्टा की है)। सदा—प्रायः औरोंमें। ११ मों—६६, रा०, भ०, दीन। मे—प्रायः औरोंमें। १२ कह वेद पुरान—६६। लेखप्रमाद है।

को करि कोटिक कामना पूजै बहु देव।
तुलसिदास तेहि सेइअै संकर[१३] जेहि सेव ॥६॥

शब्दार्थ—नीको=अच्छा, उत्तम। सरोज=कमल। सुलोचन=सुंदर नेत्रवाले। सुठि=अत्यन्त। यथा 'सुठि सुंदर संबाद बर बिरचे बुद्धि बिचारि। १।३६।' अनंग=कामदेव। शिवजीने जब कामदेवको भस्म कर दिया, तबसे वह अंगहीन हो गया। शिवजीके वरदानसे उसके पश्चात् उसका नाम अनंग हुआ। यथा 'अब तें रति तव नाथ कर होइहि नाम अनंगु। बिनु बपु ब्यापिहि सबहि पुनि सुनु निज मिलन प्रसंगु। १।८७।' निषंग=तूण, तरकश। बलि=चढ़ावा, भोग वा नैवेद्य। देवताओंके भोग, भेंट एवं भागको 'बलि' कहते हैं। पूजा—यह अनेक प्रकारकी होती है, जैसे कि पंचोपचार षोड़शोपचार आदि। कोई-कोई १८, ३६ और ६४ उपचार मानते हैं। श्रीदुर्गाकल्पद्रुमके शास्त्रार्थपरिच्छेदान्तर्गत 'उपचारविषयक विचार' में पूजाके तीन भेद—पंचोपचार, दशोपचार और षोडशोपचार माने गये हैं। यथा 'गन्धपुष्पे धूपदीपौ नैवेद्यमिति-पञ्चकम्। पञ्चोपचारमाख्यातं पूजने तत्वविद्बुधैः॥ पाद्यमर्घं चाचमनं स्नानं वस्त्रनिवेदनम्। गन्धादयो नैवेद्यान्ता उपचारा दशक्रमात्॥ आवाह-नासनं पाद्यमर्घमाचमनीयकम्। स्नानं वस्त्रोपवीतं च गन्धमाल्यान्यनुक्रमात्॥ धूपदीपं च नैवेद्यं ताम्बूलं च प्रदक्षिणा। पुष्पाञ्जलिरितिप्रोक्ता उपचारस्तु षोडश॥" अर्थात् गंध, पुष्प, धूप, दीप और नैवेद्यसे जो पूजा होती है उसे पंचोपचार, जिसमें इनके अतिरिक्त पाद्य, अर्घ्य, आचमन, स्नान और वस्त्रनिवेदनभी हों उसे दशोपचार और जिसमें इन सबोंके अतिरिक्त आवाहन, आसन, उपवीत, ताम्बूल, प्रदक्षिणा और पुष्पाञ्जलि भी हों उसे षोडशोपचार कहते हैं। षोडशोपचारपर अन्यत्र कहींका एक श्लोक यह है—"आसनं स्वागतं पाद्यमर्घ्यमाचमनीयकम्। मधुपर्काचमनं स्नानं वस्त्रं च भरणानि च॥ सुगन्धं सुमनो धूपं दीपं नैवेद्य वन्दनम्।" इनके अतिरिक्त जिसमें माल्य और स्तवपाठ हो वह अष्टादशोपचार है। सुमिरन =स्मरण। मों=में; यथा—'परनिंदक जे जग मों बगरे। ७। १०२ छंद।' जान=जानता है। बद=कहते हैं। गति=पहुँच, शक्ति; दशा, चाल, प्रयत्नकी सीमा। सेव=सेवा करते हैं। ['जान' और 'सेव' अवधीप्रयोग

१३ जेहि संकर—भा०, वे०, ह०, ज०। संकर जेहि—प्रायः औरोंमें।

है जिसमें धातुका नंगा रूप भी खड़ा कर दिया जाता है। 'जानता है' न लिखकर 'जान' लिखा है। (दीनजी)]

पद्यार्थ—मेरे देवता श्रीअयोध्याजीके राजा श्रीरामचन्द्रजी (सबसे) अच्छे (सर्वश्रेष्ठ देवता हैं। वे सुन्दर कमल समान सुन्दर नेत्रोंवाले और अतिशय सुन्दर श्यामवर्ण के हैं। १। वे सदा श्रीसीतासहित शोभायमान रहते हैं। असंख्यों कामदेवोंकी छवि (उनके शरीरमें) है। विशाल (आजानु) भुजाओंमें धनुष बाण और सुन्दर कमरमें सुन्दर चमचमाता हुआ तरकश धारण किये हैं। २। वे भेंट पूजा (कुछ भी) नहीं माँगते; एकमात्र प्रीति चाहते एवं देखते हैं। वे स्मरणसे एवं स्मरणको ही भला मान लेते हैं। उनकी सब रीतियाँ पवित्र हैं। ३। वे समस्त सुखोंको देते हैं, दुःखोंको भस्म कर डालते हैं, आर्त्तभक्तों अर्थात् दुखियोंके भाई (समान सहायक) हैं। वे गुणोंको ग्रहणकर पाप और अवगुणोंको हर लेते हैं।—ऐसे करुणाके सागर हैं!। ४। वेद और पुराण कहते हैं कि वे (सब) देशों और (सब) कालोंमें (सदा) परिपूर्ण हैं*, सबके स्वामी हैं, सबमें (सबके हृदयमें बसते हैं और सबकी 'गति' जानते हैं। ५। करोड़ों कामनायें कर-करके बहुतसे देवताओंको कौन पूजता रहे! तुलसीदासजी कहते हैं कि उसकी सेवा कर, जिसकी सेवा श्रीशंकरजी (ऐसे-समर्थ जगत्का कल्याण करनेवाले स्वयं) करते हैं। ६।

नोट—१ इस पदमें माधुर्य और ऐश्वर्य दोनों भावोंका प्रतिपादन किया गया है। (वै०, दीनजी, वि०)। इसमें कविने अपनी उपासनाका परिचय भी दिया है। उनकी उपासना 'कोशलपति राम' की है जो सदा श्रीसीताजी सहित सुशोभित रहते हैं। तात्पर्य कि श्रीसीतासंयुक्त श्रीरामजी उनके इष्टदेव हैं।

टिप्पणी—१ (क) 'है नीको मेरो देवता'—'नीको' की व्याख्या आगे स्वयं करते हैं। 'देवता' शब्दसे इष्टदेव वा उपास्य जनाया। (ख) कोसलपति अर्थात् उत्तर कोशल और दक्षिण कोशल दोनोंके राजा हैं। विशेष ४२ (२) नोट ५, ६५ (३ घ), ७६ (२ ङ) आदिमें देखिए। 'कोसलपति राम' का भाव कि जो 'राम' श्रीअयोध्याजीमें श्रीदशरथनन्दनरूपसे अवतार लेकर श्रीअयोध्याजीके राजा हुए वे। दूसरे कोई राम नहीं। 'कोसलपति' से ही मुकुट, कुण्डल, आभूषण पहने सिंहासनासीन भी जना

* अर्थान्तर—'वह अपने महान् (विशाल एवं विस्तृत) रूपसे सब देशो ''पूर्ण है।' (श्री० श०)।

दिया। [माधुर्यमें अवधेश महाराज हैं और ऐश्वर्यमें साकेतविहारी सर्वोपरि परब्रह्म हैं, यह 'कोशलपति' और 'राम' से जनाया। (वै०)]

१ (ग) 'सुभग सरोज सुलोचन...' इति। सुंदर कमलसमान नेत्र और अत्यन्त सुंदर श्याम शरीर है। 'नवकंज लोचन' ४५ (१ ञ, ट, ठ, नोट ७), ५६ (७) देखिए।' 'सुंदर श्याम' पर ४४ (३ घ), 'अखिल लावन्य गृह। ५० (क), 'बनचरध्वज कोटि लावण्यरासी। ५४ (६)।', 'सहज सुंदर।' ५६ (४ क) की टिप्पणियाँ देखिए। (घ)—'सुठि सुंदर श्याम' इति। श्रीराम विना शृङ्गारके तपस्वी वेषमें ही ऐसे सुन्दर थे कि दण्डकारण्यके मुनि देखकर मोहित हो गए। कृष्णोपनिषत्का आरंभ इसी सौन्दर्यवर्णनसे प्रारंभ होता है। यथा 'श्रीमहाविष्णुं सच्चिदानन्दलक्षणं रामचन्द्रं दृष्ट्वा सर्वाङ्गसुन्दरं मुनयो वनवासिनो विस्मिता बभूवुः। तं होचुर्नोऽवद्यमवतारान्वै गण्यन्ते आलिङ्गामो भवन्तमिति। भवान्तरे कृष्णावतारे यूयं गोपिका भूत्वा मामालिङ्गथ अन्ये येऽवतारास्ते हि गोपान्न स्त्रीश्च नो कुरु।...।१।' अर्थात् महाविष्णु सच्चिदानन्दलक्षण श्रीरामचन्द्रकी सर्वाङ्गसुन्दरता देखकर वनवासी मुनिगण बड़े विस्मित हुए। वे उनसे कहने लगे कि आपके इस विग्रहके सामने अन्य अवतारोंकी कोई गणना नहीं। हम आपको प्रेमसे आलिङ्गन करना चाहते हैं। भगवान् रामने कहा कि आप जन्मान्तरमें गोपिका होकर कृष्णावतारके समय हमारा आलिङ्गन करेंगे। ऋषि बोले—दूसरे अवतारोंको गोप तथा हमें स्त्री बनाइये।

टिप्पणी—२ 'सिय समेत सोहै सदा...' इति। (क) 'सदा' से जनाया कि कभी अलग नहीं होते। श्रीसीतासंयुक्त श्रीरामजीकी उपासना करनी चाहिए, यह जनाया। (ख) 'छबि अमित अनंग' अंतमें कहकर जनाया कि श्रीसीतासहित रघुनाथजीकी छवि असंख्यों कामदेवोंसे भी बढ़कर है। यथा 'श्रीसहित दिनकरबंसभूषन काम बहु छबि सोहई।७।१२।' श्रीसीताजी सदा वामदिशामें विराजती हैं। यथा 'राम बाम दिसि सीता सोई। १।१४८।४।' (यह अवतारके पूर्वका ध्यान है, जो मनुशतरूपाके समीप आया। अतएव 'सदा सोहै' से त्रिपाद् विभूति श्रीअयोध्याजीमें भी दोनोंका साथ सिद्ध हुआ), और कोसलपति होनेपर भी 'राम बाम दिसि सोभति रमा रूप-गुन-खानि।७।११।' (ग) 'भुज बिसाल...' इति। 'बिसाल'से आजानुबाहु जनाया। घुटनेपर्यन्त लंबी भुजाएँ हैं। 'सर धनु धरें' अर्थात् बाएँ हाथमें शार्ङ्गधनुष है और दाहिनेमें बाण है। हाथमें लिये हुए कहकर जनाया कि भक्तोंकी रक्षाके लिये सदा सावधान हैं, रक्षामें सन्नद्ध हैं, नहीं तो धनुषको कंधेपर दिखलाते। पद ४५ में भी 'आजानुभुज सरचापधर'

कहा है। तथा 'पीन आजानुभुजदंड कोदंड धर चंड बानं। ४६ (३)।', 'प्रबल भुजदंड परचंड कोदंड धर तून वर विसिख बलमप्रमेयं। ५० (१)।', 'आजानुभुजदंड कोदंड मंडित वाम बाहु दच्छिन पानि बानमेकं। ५१(७)।' में भी पूर्व आ चुका है। वे सब भाव यहाँ भी समझने चाहिए। स्मरण रहे कि श्रीरामजीके शार्ङ्ग धनुषसे बढ़कर कोई आयुध नहीं है। चक्र, गदा, वज्र आदि रावणका कुछ न बिगाड़ सके, श्रीरामके धनुषसे ही वह मरा। इसीसे तो शस्त्रधारीपन-विभूतिको कहते हुए भगवान्‌ने अपनेको 'रामः शस्त्रभृतामहम्। गीता १०।३१।' कहा है। (घ) 'कटि चारु निषंग'—चारु कटि और निषंग दोनोंका विशेषण है। 'चारु निषंग'से अक्षय तरकश जनाया। इसमें ४४ (४)के 'सुनिषंग'का भाव है।—४४ (४) शब्दार्थमें देखिए। श्रीरामजीका बाण अमोघ है। निषंग तो क्रीड़ाके लिये रहता है। पुनः 'चारु'से मनोहर भी जनाया; यथा 'सर चाप मनोहर त्रोनधरं।६।११०।'

☞ यहाँ अपने उपास्यका ध्यान कहा। श्रीसीतासहित हैं, दोनों हाथोंमें धनुष बाण धारण किये हैं, कमरमें पटुकासे तरकश कसे हैं। पिछले पदमें जो 'दीनदुखदमन श्रीरमण करुणाभवन' विरद कहा, उसे यहाँ इस ध्यानसे सिद्ध कर दिखाया।—यह वीररूपका ध्यान है।

☞ यहाँ तक दो अन्तराओंमें अपने इष्टदेवकी शोभाका 'नीकापन' वर्णन किया।

टिप्पणी—२ (क) 'बलि पूजा मागै नहीं···' इति। उपास्यका ध्यान, और करुणागुण कहकर अब सौलभ्य गुण दिखाते हैं कि वे किसी प्रकारकी भेंट पूजा नहीं माँगते। न तो 'सर्वधर्मान्परित्यज्य' की शर्त लगाते हैं और न च्यूड़ा आदि माँगते हैं, उपासक भले ही अपनी तरफसे सब कुछ करे, पर वे भेंट पूजाकी पख नहीं लगाते। यहाँ सब धर्म करते भी रहो, पर प्रेम हमसे करो। जैसे स्त्री, पुत्र आदिमें प्रेम है वैसे ही हमें भी अपने परिवारका समझकर हममें प्रेम करो—बस इतनेसे वे सुलभ हो जाते हैं। क्योंकि 'जानत प्रीति रीति रघुराई। नाते सब हाते करि राखत राम सनेह-सगाई। १६४।' 'चाहै एक प्रीति'—मिलान कीजिए—'प्रीति पहिचानि यह रीति दरबार की।७१ (४)।'

३ (ख) 'सुमिरन ही मानै भलो···' इति। और भी सौलभ्य दिखाते हैं कि उनसे प्रीति करनेमें घर-बार छोड़नेकी आवश्यकता नहीं, जहाँ भी रहे स्मरणमात्र करता रहे। इतनेसे ही वे प्रसन्न हो जाते हैं* 'स्मरण' मात्रको वे अच्छी प्रीति मानते हैं। नवधाभक्तिके नेताओंमें प्रह्लाद स्मरणभक्तिके

* 'यो नरै स्मृतमात्रोऽसौ हरते पापपर्वतम् (प० पु० पा० ३५।३३)॥ स कासैर्यो-

नेता माने गए हैं—'सुठि सुमिरन प्रह्लाद'। इस स्मरणभक्तिसे ही भगवान् उनके लिये खम्भेसे प्रकट हुए। देखिए, सखाओंको विदा करते समय श्रीरामजीने उनसे क्या कहा है—'निज निज गृह अब तुम्ह सब जाहू। सुमिरेहु मोहि डरपहु जनि काहू। ६।११७।५।', 'करेहु कलप भरि राजु तुम्ह मोहि सुमिरेहु मन माहि। ६।११५।' (विभीषणप्रति), 'जाहु भवन मम सुमिरन करेहू ।७।२०।२।'—बस इतना ही सबमें चाहा है। इससे अधिक सौलभ्य क्या होगा? पुनः भाव कि लोग खिलाने-पिलाने सेवा करनेसे भला मानते हैं, किन्तु श्रीरामजी स्मरणसे मान लेते हैं कि हमारी सब सेवा कर चुका।

३ (ग) 'पावन सब रीति'—श्रीरामजी बलि पूजा कुछ नहीं चाहते, वे तो सदा पूर्णकाम हैं, उनको कमी किस बातकी है और उन्हें कोई देगा क्या? वे तो भावके ग्राहक हैं। यथा 'तुम्ह परिपूरन काम जानसिरोमनि भावप्रिय ।१।३३६।'—अतएव 'सब रीति'को पवित्र कहा। स्वार्थ और कामनावाली रीति अपावन है। देवताओंकी रीति अपावन है, क्योंकि वे स्वार्थी होते हैं, वे 'पूजा लेत देत पलटें सुख' और वह भी 'हानिलाभु अनुमाने।' (२३६)। कहा भी है—'आए देव सदा स्वारथी। बचन कहहिं जनु परमारथी ।६।१०६।२।' पुन 'पावन सब रीति'का भाव कि बलि-पूजा आदि जो अपावन रीति है, उसको श्रीरामजी नहीं चाहते।

टिप्पणी—४ (क) 'देइ सकल सुख दुख दहै'...' इति। उनसे प्रीति करनेसे, उनका स्मरण करनेसे क्या लाभ होगा, यह बताते हैं। 'संपूर्ण सुख' देते हैं। ऋद्धि-सिद्धि, ज्ञान, विवेक, वैराग्य, विज्ञान आदि मुनिदुर्लभ गुण और मोक्ष आदि 'सकल सुख' हैं—४६ (१ ग)-शब्दार्थ देखिए।† मनुष्यको सब सुख प्राप्त हों, पर उसके दुःख बने रहें, तो भी सुख किस कामका।

गिभिर्वापि चिन्त्यते कामवर्जितैः। अपवर्गप्रद नृणां स्मृतमात्राखिलाघहम् ।३४।' अर्थात् जो (श्रीराम) मनुष्योंके स्मरण करनेमात्रसे पर्वत-जैसे पापोंका भी नाश कर डालते हैं। "सकाम पुरुष अथवा निष्काम योगी भी जिनका चिन्तन करते हैं, जो मनुष्योंको मोक्ष देते हैं वे श्रीराम स्मरण करनेमात्रसे समस्त पापोंका नाश कर देते हैं।

† 'तं स्मृत्वा चैव जप्त्वा च पूजयित्वा नरः पदम्। प्राप्नोति परमामृद्धिमैहिकामुष्मिकी तथा ।४७। सस्मृतो मनसा ध्यातः सर्वकामफलप्रदः। ' । प० पु० पा० ३५।४८।' अर्थात् श्रीरामके स्मरण, जप और पूजनसे मनुष्य परम पदको पाता है, उसे लोक-परलोककी उत्तम समृद्धि मिलती है। वे संपूर्ण कामनाओं और फलोंके दाता हैं—श्लोक ४५ में कहा है कि 'समस्त दुःखोंका नाश करनेवाला सर्वोत्तम साधन यह है'। और भी प्रमाण १५६ (४ ख) में देखिये।

अतएव कहते हैं कि वे सकल दुःखोंको भस्म कर देते हैं। भस्म होनेसे फिर वे रह ही नहीं जाते। अनेक प्रकारके दुःखोंका उल्लेख ४७ (१ ख), ५६ (८ च) में हो चुका है। 'दुःखौघहर।' ५६ (१ घ) भी देखिए।

४ (ख) 'आरतजनबंधु' अर्थात् आर्त लोगोंकी सहायता सगे भाई सरीखा करते हैं। भाव कि आर्त्तजनोंके आश्रयदाता हैं। 'गुन गहि अघ औगुन हरै'--संतस्वभाव है कि गुणको लेते है अवगुणपर दृष्टि नहीं देते; यथा 'संत हंसगुन गहहि पय परिहरि वारि बिकार। १।६।' श्रीरामजीके विषयमें पूर्व कहा था कि 'दास दोष सुरति चित रहति न। ४२ (२)।' उससे पाया गया कि दासमें दोष बने रहते हैं, प्रभु उनपर ध्यानमात्र नही देते। अतएव यहाँ कहते है कि यह बात नहीं है कि दोष बने रह जाते हैं, प्रभु प्रथम तो उनपर ध्यान नहीं देते, फिर उन दोषोंको दूर भी करके उसको साधु भी बना देते हैं।

'ऐसो करुनासिंधु' कहकर जनाया कि स्मरणमात्ररूपी प्रीति करनेसे वे आर्तजनके बंधु हो जाते हैं, सकल सुख दे देते हैं, सकल दुःखोंको भस्म कर देते हैं, उसके स्मरणरूपी गुणको ग्रहण करते है और अघ-अवगुणोंको हर लेते हैं-यह सब उनकी अपार करुणाके कार्य हैं। 'हरै'से जनाया कि—उसके अघ-अवगुणोंको अपना भोग्य बना लेते हैं।

☞अन्तरा ३ व ४में अपने देवताके स्वभावका 'नीक'-पन दिखाया।

टिप्पणी—५ 'देस काल पूरन···' इति। (क) न्याय वा वैशेषिकके अनुसार जिससे आगे-पीछे ऊपर-नीचे, उत्तर-दक्षिण आदिका प्रत्यय होता है वह 'देश' वा 'दिग्द्रव्य' है। 'काल' वह संबंधसत्ता है जिसके द्वारा भूत-भविष्यादिकी प्रतीति होती है और एक घटना दूसरीसे आगे पीछे आदि समझी जाती है। वैशेषिकमें 'काल' एक नित्य द्रव्य माना गया है।

सब देश कालमें सदा पूर्ण वा महापूर्ण है। अर्थात् कोई देश एवं कोई काल ऐसा नहीं जहाँ और जिसमें वह परिपूर्ण न हो। भाव कि वे अपनी महिमामें निश्चल भावसे स्थित हैं। देश और कालको पूर्ण व्याप्त कर रक्खा है। यथा 'देस काल दिसि विदिसिहु माहीं। कहहु सो कहाँ जहाँ प्रभु नाहीं।१।१८५।६।' 'पूर्ण' से जनाया कि श्रीरामजी अणुसे भी अणु हैं और महान्‌से भी महान् हैं; अतएव वे अणुके भीतरभी हैं, पर सर्वत्र पूर्ण रहते हैं। (ख)—'वद वेद पुरान' इति। यथा-'अणोरणीयान्महतो महीयानात्मा गुहायां निहितोऽस्य जन्तोः। श्वे० ३।२०।', 'तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम्। श्वे० ३।६।' कदाचित् 'पूरन सदा (महा) वद वेद'-शान्तिपाठ 'ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते। पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते।

ईश०।', 'इतः पूर्णं ततः पूर्णं पूर्णात्पूर्णं परात्परम्।' के आधारपर कहा गया हो।

५ (ग) 'सबको प्रभु सब मों बसै…'इति। 'सबके उर अंतर बसहु जानहु भाउ कुभाउ।२।२५७' यह जो वसिष्ठजीने कहा है, वही भाव यहाँ है। ऊपर देशकालमें पूर्ण कहा और यहाँ समस्त जीवोंके हृदयमें सूक्ष्म एवं साक्षीरूपसे बसना कहा। इसीसे सबकी गति कहाँ तक है—यह भी जानते हैं। भाव यह कि उनसे कुछ जनानेकी आवश्यकता नहीं पड़ती, वे सुजान-शिरोमणि स्वयं जनके सब कार्य साध देते हैं।—'जानसिरोमनि कोसलराऊ।१।२८।'

पुनः, 'देशकाल पूरन सदा' तथा 'सबको प्रभु सब मों बसै…' में यह भी भाव है कि "कोसलपति राम' तो त्रेतामें थे, अब तो वे हैं नहीं जो हमारी रक्षा करेंगे, हमारे मनोरथोंको पूरा करेंगे, हमको परम धामको ले जायँगे ?"—यह शंका न कर, क्योंकि वे अबभी हैं, सर्वत्र हैं, तेरे साथ भी हैं, केवल तू उनको देख नहीं पाता। वे ही सबके स्वामी हैं, उनसे बड़ा कोई नहीं है। यथा 'लोक वेद बिदित बड़ो न रघुनाथ सो। सब दिन सब देस सबही के साथ सो। ७१ (३)।'

'सबको प्रभु' से जनाया कि विधि-हरि-हर तथा समस्त सुर-नर-नाग-चर-अचर सबपर उनकी आज्ञा चलती है, सब उनके आज्ञाकारी हैं, सबको उन्हींसे अधिकार प्राप्त हुआ है तथा सबके पालनमें वे ही समर्थ हैं, दूसरा नहीं।

पुनः भाव कि उनको प्रसन्न करनेमें कोई विशेष प्रयास नहीं, क्योंकि सबके आत्मा हैं तथा ब्रह्मासे लेकर सभी जीव-जन्तुओंमें बिराजमान हैं—'न ह्यच्युतं प्रीणयतो बह्वायासोऽसुरात्मजाः। आत्मत्वात् सर्वभूतानां सिद्धत्वादिह सर्वतः॥१६।…' एक एव परो ह्यात्मा भगवानीश्वरोऽव्यय.।२१।'(भा० ७।६)।

यह सब 'कोसलपति राम' का ऐश्वर्य कहा। क्योंकि बिना ऐश्वर्य जाने सामर्थ्यमें प्रतीति नहीं होती। ऐश्वर्यहीनको कोई उपास्य कैसे बनावेगा ?

टिप्पणी—६ 'को करि कोटिक कामना…' इति। (क) विविध कामनाओंके लिये विविध देवताओंकी उपासना पुराणोंमें कही गई है। भा० २।३ में शुकदेवजीने भिन्न-भिन्न कामनाओंसे भिन्न-भिन्न देवताओंकी उपासनाका वर्णन (श्लोक २ से ६ तक) किया है।—ब्रह्मतेजकी कामनासे ब्रह्माजीकी, इन्द्रियपटुताके लिये इन्द्रकी, सन्तानके लिये प्रजापतिकी, लक्ष्मीके लिये मायादेवीकी, तेजकी कामनासे सूर्यकी, धनके लिये वसुकी,

वीर्यकी इच्छावाला रुद्रोंकी, अन्नके लिये अदितिकी, स्वर्गकामीको देवताओं-की, राज्यका इच्छुक विश्वेदेवोंकी, जनताको अपने अधीन करनेकी इच्छा हो तो साध्य देवोंकी, आयुके लिये अश्विनीकुमारोंकी, पुष्टिके लिये पृथ्वीकी, प्रतिष्ठाके लिये लोकमाता पृथिवी और आकाशकी, रूपके लिये गंधर्वोंकी, स्त्रीकामीको उर्वशीकी, सबपर आधिपत्यके लिये ब्रह्माकी, यशके लिये यज्ञपुरुषकी, कोषके लिये प्रचेताओंकी, विद्याभिलाषीको महादेवकी, दाम्पत्य-सुखके लिये पार्वतीजीकी, धर्मलाभार्थ भगवान् विष्णुकी, सन्तानवृद्धिके लिये पितृगणकी, रक्षाके लिये यक्षोंकी, ओज प्राप्त्यर्थ मरुद्गणकी, राज्य-का इच्छुक मनु और देवताओंकी, जादू-टोनाके लिये निर्ऋतिकी, कामकी कामनासे चन्द्रमाकी और निष्काम पुरुषको श्रीनारायणकी उपासनाका विधान है। (भा० २।३।२–९।)

६ (ख) 'तुलसिदास तेहि सेइऔ''''इति। जैसे श्रीमद्भागवतमें शुकदेव-जीने भिन्न-भिन्न कामनाओंके लिये भिन्न-भिन्न देवताओंकी उपासना कह-कर फिर यह कहा है कि "निष्काम पुरुप 'परम पुरुप' को भजे। कामना-हीन हो अथवा समस्त कामनाओंवाला हो या मोक्षकामी हो, बुद्धिमान् पुरुषको चाहिए कि तीव्र भक्तियोगसे परम पुरुष भगवान्का ही भजन करे"।–"अकामः पुरुषं परम् ॥९। अकामः सर्वकामो वा मोक्षकाम उदारधीः। तीव्रेण भक्तियोगेन यजेत पुरुषं परम्।१०।"—इस प्रकार जनाया कि कोई भी देवता समस्त कामनाओंकी अकेले पूर्ति नहीं कर सकता और कोसलपति श्रीरामजी समस्त कामनाओंकी पूर्ति भी कर देते हैं और अन्तमें अपना धाम भी देते हैं*। देखिए; विभीषणके हृदयमें शरणमें आनेके पूर्व कुछ वासना रही, उसकी पूर्तिभी उनको कल्पपर्यन्त राज्य देकर कर दी और यह भी वर दिया कि 'पुनि मम धाम पाइहहु जहाँ संत सब जाहिं।६।११५।' वालीकी इच्छा भी जो इन शब्दोंमें गुप्त थी–'यह तनय मम सम बिनय बल कल्यानप्रद प्रभु लीजिए। गहि बाँह सुरनरनाह आपन दास अंगद कीजिए। ४।१०।' तथा जो अंगदके 'मरती बार नाथ

---

*यथा 'या तस्य ते पादसरोरुहार्हणं निकामयेत्साखिलकामलम्पटा। तदेव रासी-प्सितमीप्सितोऽर्चितो यद्भग्नयाच्ञा भगवन्प्रतप्यते। भा० ५।१८।२१।' अर्थात् (श्री-लक्ष्मीजी स्तुति करती हुई कहती हैं—) भगवन्! जो स्त्री आपके चरणकमलोंका निष्काम भावसे पूजन करती है, उसकी सभी कामनायें पूर्ण हो जाती हैं। यदि वह किसी फलकी इच्छासे उपासना करती है तो उसे केवल वही फल मिलता है। फल भोग समाप्त होने पर फिर उसे संताप होता है।

मोहि बाली। गयउ तुम्हारेहि कोछे घाली।७।१८।'—इन वचनोंमें छिपी थी, अंगदको युवराजपद और सुग्रीवके बाद राजा बनाकर पूरी की।

६ (ग) 'जेहि संकर सेव' इति। शंकरजी ब्रह्मविद् होनेसे ब्रह्म हैं देवोंके देव महादेव हैं, उत्पत्ति-पालन संहारका भी इनको सामर्थ्य है। पूर्णकाम हैं। तोभी वे निष्काम भावसे श्रीकोसलपति रामकी सेवा करते हैं। 'सेव' में चरणवन्दना, पादसेवन, हृदयमें ध्यान करना, गुणगान करना, नाम जपना इत्यादि सभी भावोंका समावेश हो जाता है। इसीसे 'सेव' पद दिया। शिवजीमें ये सब प्रकारकी सेवाके भाव देखे जाते हैं। यथा 'केश-वंद्य-पदद्वंद्व मंदाकिनीमूलभूतं।४३(५)।', 'कामारि वंदित पदद्वंद्व मंदाकिनीजनक।५४(३)।', 'पदपंकज सेवित संभु उमा।-।११०।', 'सेवित पद पंकज अज महेस।६०(२)।', 'मारहर हृदय मानस मरालं।५१(३)।', 'सर्वहृदिकंजमकरंद मधुकर रुचिररूप भूपालमनि।५३(१)।', 'सेष श्रुति सारदा-संभु नारद सनक गनत गुन।५०(६)।', 'गायंति तव चरित सुपवित्र श्रुति सेष सुक संभु··।५२(१)', 'तव नाम जपामि नमामि हरी। भवरोग महागद मान अरी।७।१४।', 'तुम्ह पुनि राम राम दिन राती। सादर जपहु अनंग आराती।१।१०८।'

सेवाके छः अंग श्रीप्रह्लादजीने ये बताए हैं—प्रणाम, स्तुति, सर्वकर्मार्पण, उपासना, चरणोंका ध्यान तथा कथाश्रवण। वे भगवान्से कहते हैं कि विना इन छः अंगोंसे युक्त आपकी सेवाके, परमहंसोंको ही प्राप्त होने वाली आपकी भक्ति मनुष्यमे कैसे हो सकती है। 'तत्तेऽर्हत्तम नमः स्तुतिकर्मपूजाः, कर्म स्मृतिश्चरणयोः श्रवणं कथायाम्। संसेवया त्वयि विनेति षडङ्गया किं भक्तिं जनः परमहंसगतौ लभेत। भा० ७।६।५०।'– इनमेंसे प्रायः सभी अंगके उदाहरण दिये गए हैं। कथाश्रवणका उदाहरण, यथा 'रामकथा मुनिबर्ज बखानी। सुनी महेस परम सुख मानी।१।४८।३।' सर्वकर्मार्पण, यथा 'सिर धरि आयसु करिय तुम्हारा। परम धरम यह नाथ हमारा।··अज्ञा सिरपर नाथ तुम्हारी।१।७७।' कामारि अर्थात् निष्काम होना भी 'सर्वकर्मार्पण' में आता है।

इस तरह 'सेव' शब्द देकर शंकरजीको श्रीरामजीका सेवक और उपासक जनाया। शङ्करजीने स्वयं कहा है–'सोइ मम इष्टदेव रघुवीरा।१।५१।८।', 'रघुकुलमनि मम स्वामि सोइ कहि सिव नायउ माथ।१।११६।'—यह भी ऐश्वर्य है। इस तरह अन्तरा ५ व ६ में ऐश्वर्यका 'नीकापन' दिखाया।

सू० शुक्ल—'अपने इष्टदेवमें नित्य अभ्यास करनेके लिये दृढ़ विश्वाससे ऐसी भावना होनी चाहिए'—यह बात इस पदमें बतलाई गई है।

श्रीसीतारामचन्द्रार्पणमस्तु।

१०८ (५५)

वीर महा अवराधिऐ साधें सिधि होइ[1]।
सकल काम पूरन करै जानै सब कोइ[1] ॥१॥
वेगि विलंबु न कीजिये लीजिय[2] उपदेस।
बीज मंत्र[3] जपिऐ सोई[4] जो जपत महेस ॥२॥
प्रेम बारि तरपनु भलो घृत सहज सनेहु।
संसय समिधि अगिनि छमा ममता बलि देहु ॥३॥
अघ-उचाटि मन बस करै मारै मद मार।
आकरपै सुख संपदा संतोष विचार ॥४॥
जेहि[5] यहि भाँति भजनु कियो[6] मिले रघुपति ताहि।
तुलसिदास प्रभु पथ चढ्यो जो लेहु निरवाहि[7] ॥५॥

शब्दार्थ—महा (महान्) = सबसे बड़ा; सर्वश्रेष्ठ, जिससे बढ़कर दूसरा न हो। महावीर = सर्ववीरशिरोमणि श्रीरामचन्द्रजी। अवराधना (आराधन) = उपासना, सेवा-पूजा करना। यथा 'केहि अवराधहु का तुम्ह चहहू। १।७८।३।' साधें = साधनेसे। = साधना करनेसे। साधना = किसी देवता या यंत्र मंत्र आदिको सिद्ध करनेके लिये उसकी आराधना या उपासना करना। = आराधना करके वशमें करना; सिद्ध कर लेना। काम = कामनायें। बीज मंत्र = बीजयुक्त श्रीराममंत्र; मूलमंत्र। (विशेष टिप्पणीमें

---

१ होइ, कोइ—६६, रा०, भ० होय, कोय—वै०, मु०, दीन, वि०, भा० श्री० ग०, ज०, ५१। २ लीजिय—६६। लीजै—प्रायः औरोंमे। लीजे—७४, ज०। ३ बीज-मंत्र—६६, रा०, मु०, भा०, वि०, दीन, भ०, ह०। महामंत्र—ज०, १५, डु०, वै०। ४ सोई—६६, भा०, वै०, दीन, भ०, वि०। सोइ—रा०, मु०। ५ जेहि—६६, रा०, भ०। जे—वै०, ह०, दीन, मु०, ७४, डु०। जिन्ह—भा०, वि०। ६ कियो—६६, रा०, मु०, भ०, ह०, ५१, वि०। किये—भा०, वै०, ७४, ज०, दीन। ७ निरवाहि—६६, भ० (निर्वाहि)। निवाहि—प्रायः औरोंमे।

देखिए)। तरपन (तर्पण)=कर्मकांडकी एक क्रिया जिसमें देवता आदिको तुष्ट करनेके लिये हाथ या अर्घासे जल देते हैं। समिधि (समिध)=यज्ञ-कुंडमें जलानेकी लकड़ी। ममता='यह मेरा है' इस प्रकारका (अर्थात् किसी पदार्थको अपना समझनेका) भाव। बलि=बलिदान। वह पशु जो किसी देवस्थानपर वा किसी देवताके उद्देश्यसे मारा जाय।=भेंट। उचाटि=उच्चाटनकर, उखाड़कर। किसीके चित्तको कहींसे हटाना 'उच्चाटन' कहलाना है। तन्त्रके छः उपचारोंमेंसे यह भी एक है। मार=कामदेव। आकरषै (आकर्षण=किसी वस्तुका दूसरी वस्तुके पास उसकी शक्ति वा प्रेरणासे लाया जाना। यह भी तंत्रशास्त्रका एक प्रयोग है जिसके द्वारा दूरदेशस्थ पुरुष या पदार्थ पासमें आ जाता है)=खीचे। पथ चढ़्यो=मार्गपर चढ़ा है। 'सन्मार्गमें चलना' ऊपरको चढ़ना, आरूढ़ होना वा पदार्पण करना कहलाता है।

पद्यार्थ - सर्वश्रेष्ठ वीरशिरोमणि (श्रीरघुनाथजी)की आराधना करनी चाहिये। 'उनको साध लेनेसे सब सिद्धियाँ (आपही) प्राप्त हो जाती हैं। वे समस्त कामनाओंको पूर्ण कर देते हैं'—(इस बातको) सभी जानते हैं।१। देर न कीजिये, शीघ्रातिशीघ्र दीक्षा लीजिये (अर्थात् किसीको गुरु करके उससे मन्त्रोपदेश ग्रहण कीजिये। जिस बीजमंत्रको श्रीमहादेवजी जपते हैं, उसी मंत्रको जपिये।२। प्रेमरूपी जलसे तर्पण करना उत्तम है। स्वाभाविक (सब कालमें एकरस बना रहनेवाला) स्नेहरूपी घृत (की आहुति), संशयरूपी समिध, क्षमारूपी अग्नि और ममतारूपी बलि दो।३। (इस प्रकारका हवन) पापोंका उच्चाटनकर मनको वशमें करेगा, मद और कामका नाश करेगा और सुख, संपत्ति, सन्तोष और विचारका आकर्षण करेगा।४। जिसने इस रीतिसे भजन किया, उसे श्रीरघुनाथजी प्राप्त हो गए। तुलसीदास (भी) इस मार्गपर चढ़ा है (अर्थात् इस मार्गपर पैर रक्खा है) जो, हे प्रभो! आप निबाह लें (तो यह भी आपतक पहुँच जाय। अर्थात् निर्बाह आपके हाथ है)।५।

नोट—१ पूर्व कहा था कि 'को करि कोटिक कामना पूजै बहु देव।...'; अब बताते हैं कि किसकी आराधना करनी चाहिए और किस प्रकार? कोटिक कामनाओंकी कल्पना तंत्रके छः प्रयोगोंमें आ जाती है। वे छः प्रयोग ये हैं—मारण, मोहन, स्तम्भन, विद्वेषण, उच्चाटन और वशीकरण।

२—नाना भोग कामनाओंकी पूर्त्तिके लिये लोग अपनी प्रकृतिके वश होकर अनेक तुच्छ देवताओंकी उपासना करते हैं। वे ये भूल जाते हैं कि उन देवताओंकी आराधनाका फल भी स्वल्प और अन्तवाला होता है;

क्योंकि वे इन्द्रादि देवता तो परिच्छिन्न भोगोंवाले एवं परिमित कालतक जीनेवाले होते हैं। अतः इस पदमें कहते हैं कि 'वीर महा…'। 'वीरों'के सेवनकी विधि तंत्रशास्त्रमें है। उनसे उपर्युक्त छः प्रयोग सिद्ध होते हैं। साधनमें त्रुटि होनेपर हानि होती है।

टिप्पणी—१ (क) 'बीर महा' कहकर जनाया कि और सब देवता वीर हैं और श्रीरामजी महावीर। 'महावीर'की व्याख्या स्वयं करते हैं कि 'जेहि साधे सिधि होइ' और जो 'सकल काम पूरन करै' वही महा वीर है। 'सिधि होइ'—सब सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं। 'सकल काम' पूरे करता है—इससे जनाया कि अन्य देवता समस्त कामनाएँ पूर्ण नहीं कर सकते, अपने सामर्थ्यभर ही दे सकते हैं। इत्यादि। विशेष १०७ (६ क-ख)में देखिए।—[वैजनाथजी लिखते हैं—"सत्य, दया, दान और युद्धादिमें जिसका उत्साह बना रहे उसे 'वीर' कहते हैं। अपने प्रयोजनमात्र (के लिये) सुर, नर, नाग आदि अनेकों वीर हुए हैं। ब्रह्मा, विष्णु और महेशके तेंतीस-तेंतीस पार्षद लोकरक्षार्थ लोकोंमें विचरा करते हैं, जो आराधनाद्वारा सिद्ध हो गए हैं और षट् प्रयोग सिद्ध करते हैं" (अर्थात् मारण, मोहन वशीकरण आदिकी कामनासे जो लोग इन वीरोंकी उपासना करते हैं, उनके प्रयोग ये वीर सिद्ध कर देते हैं)। 'महा वीर' का भाव कि श्रीरघुनाथजी त्याग, दया, विद्या, पराक्रम और धर्म इन पाँचों वीरताओंसे युक्त हैं औरोंमें तो एक दो ही वीरतायें होंगी।'] 'सिधि होइ' से यह भी जनाया कि इसमें हानिका भय नहीं।

१ (ख) 'सकल काम…सब कोइ' इति। 'महावीर' की व्याख्या तो आपने की, पर यह न बताया कि ऐसा 'महा वीर' कौन है; इसपर कहते हैं कि उसे सब जानते हैं। ब्रह्मासे लेकर मनुष्य तक कोई ऐसा नहीं है जो न जानता हो कि किसकी आराधनासे सिद्धि और लौकिक पारलौकिक सभी कामनायें पूर्ण होती हैं।१०७(४क) देखिए। सुनीतिजीने ध्रुवजीसे कहा है—'जाके चरन बिरंचि सेइ सिधि पाई संकरहू।८६(२)।' ब्रह्मा और शंकर-जीने उनकी सेवाकर सिद्धि पाई, तब औरोंकी क्या कही जाय? वाली, अंगद और विभीषणकी कामनायें पूरी की।१०७(६ ख) देखिए। शरभंग सुतीक्ष्ण, जटायु, शबरी आदिकी कामनाओंकी पूर्ति अरण्यकाण्ड श्रीराम-चरितमानसमें सबने पढ़ी है। अतएव कहा कि 'जानै सब कोइ'।—[अह-ल्या, केवट, कोल भील, दण्डकवन, शबरी आदिको राह चलते सुगति दी। अवधपुरवासियोंको अपने साथ परधामको ले गए। यवनादिद्वारा नामका प्रभाव गली-गली सब जानते हैं और कहते हैं। (वै०)] अहल्याको चरण-

रजकी चाह, शरभंगको सम्मुख शरीर छोड़नेकी चाह, गीधराजको संदेशा देने और अंत समय दर्शनकी चाह, शबरीजीको भी कन्दमूल फल बेर आदि खिलाने और दर्शन करते हुए शरीर त्याग करनेकी चाह थी—सो 'सबकी सब चाह जिसने पूरी की', वही 'महा वीर' है।

टिप्पणी—२ (क) 'बेगि बिलंबु न कीजिये'''इति। यह उपदेश करते हैं कि शीघ्र इस कामको करो। फिर 'बिलंबु न'' ' कहकर जनाया कि तुरत इसी समय जाकर उपदेश लो। इससे जनाया कि भगवान्‌की शरण जानेमें मुहूर्त्त आदिके विचारकी अपेक्षा नहीं। यथा 'तहँई मिले सहेस, दियो हित उपदेस, राम की सरन जाहि, सुदिनु न हेरै॥ जाको नाम-कुंभज कलेसु-सिंधु सोखिबे को, मेरो कह्यो मानि, तात, बाँधै जिनि बेरै। गी० ५।२७।' स्कं० पु० का० उ० में देवर्षि नारदके भी वाक्य हैं कि 'यौवन, धन और आयुको कमलके पत्तेपर पड़े हुए जलबिन्दुके समान अत्यन्त चपल जानकर एकमात्र भगवान् अच्युतकी शरण लेनी चाहिए।'—'यौवनं धनमायुष्यं पद्मिनीजलबिन्दुवत्। अतीव चपलं ज्ञात्वाच्युतमेकं समाश्रयेत्। ८२।४३।'—(यह उन्होंने अमित्रजित महाराजसे कहा था)।

२ (ख) 'लीजिय उपदेस''' अर्थात् तुरत गुरुके पास जाकर उनसे श्रीरामजीके बीजमंत्रका उपदेश ले। दीक्षा किस मंत्रकी ले, यह भी बताते हैं कि 'बीजमंत्र' का उपदेश लेकर उसीको जपो। इसी बीजमंत्रको श्रीशिवजी जपते हैं।

इन शब्दोंसे गोस्वामीजीने भवतरणके लिये गुरुकी आवश्यकता बतलाई। भक्तमालसे पता चलता है कि जिनको भगवत्-प्राप्ति हो गई है, जिनके साथ भगवान् नित्य खेलते क्रीड़ा करते हैं उनको भी भगवान्‌ने गुरुकी आवश्यकता बताई है। जैसे—धनाजीकी रोटी खाते, गायें चराते, तब भी उन्हें जाकर श्रीरामानन्दस्वामीका शिष्य होनेको कहा। हरिव्यासजीको दर्शन होनेके बाद दीक्षा दी गई। नामदेवपर विट्ठल भगवान् पण्डरीनाथकी कृपा कैसी थी, फिरभी उनको ज्ञानदेवजीसे भक्ति और विशोबाखेचरजीसे ज्ञानकी दीक्षा दिलाई गई। औरकी कौन कहे श्रीपार्वतीजीको महादेवजीने वामदेवजीसे जाकर राममंत्रकी दीक्षा लेनेको कहा और उन्होंने वैसा किया। ब्रह्मा और शिवजी भी राममंत्रकी दीक्षा पाए हुए हैं और राममंत्र जपते हैं—यह गोस्वामीजीके 'गुरु बिनु भवनिधि तरै न कोई। जो बिरंचि संकर सम होई।७।६३।५।' से स्पष्ट है। श्रीरामोत्तरतापिन्युपनिषत्‌के 'त्वत्तो वा ब्रह्मणो वापि ये लभन्ते षडक्षरम्। जीवन्तो मन्त्रसिद्धाः स्युर्मुक्ता मां प्राप्नुवन्ति ते।' (अर्थात् श्रीरामजी शिवजीसे कहते हैं कि जो लोग

तुमसे अथवा ब्रह्माजीसे षडक्षरमंत्र प्राप्त करेंगे, वे जीतेजी सिद्ध और मुक्त हो जायँगे और हमको प्राप्त हो जायँगे)-इस वाक्यसे भी ब्रह्मा और शिवजीकी मंत्रप्राप्ति स्पष्ट है। ब्रह्माजीका नाम श्रीरामानन्दीय गुरुपरंपरामें है ही। भुशुण्डीजीने भी कहा है-'बिनु गुर होइ कि ज्ञान ?' (७।८६)।

पाश्चात्यविद्यासे मोहित होकर आजकल भारतवर्षमें भी 'गुरुडम' (Gurudom) का बहिष्कार किया जाता है। किन्तु ऐसा करनेवाले स्वयं हजारों मालायें साथमें लिये देशमें फिरफिरकर लोगोंको मंत्र बताते और माला देकर जप करनेका उपदेश करते हैं—इस तरह 'गुरुकी आवश्यकता नहीं' यह कहते हुए भी अपनेको लाखोंका गुरु बनानेकी चेष्टा करते हैं। अस्तु।

२ (ग)'बीजमंत्र जपिऔ महेस' इति। तांत्रिकोंके अनुसार एक प्रकारके मंत्र जो बड़े-बड़े मंत्रोंके मूलतत्त्वके रूपमें माने जाते हैं, वे 'बीजमंत्र' कहलाते हैं। प्रत्येक देवी-देवताओंके लिये ये मंत्र अलग-अलग होते है। जैसे—ह्रीं, श्रीं, क्लीं आदि। इसके अनुसार श्रीरामषडक्षरमंत्रका बीजमंत्र 'रां' है। इस बीजमें पूरे मंत्रका अर्थ निहित है। श्रीरामोत्तरतापिन्युपनिषत्मे शिवजीका राममंत्र जपना पाया जाता है। यथा 'श्रीरामस्य मनुं काश्यां जजाप वृषभध्वजः।' परन्तु गोस्वामीजीने श्रीशिवजीका प्रायः सर्वत्र 'राम राम' जपना कहा है और उसीको 'महामंत्र जोइ जपत महेसू' कहा है। परन्तु 'बीजमंत्र' शब्दका प्रयोग उनके ग्रन्थोंमें अन्यत्र कहीं नहीं देखा जाता। अतएव 'बीजमंत्र' से षडक्षर राममंत्रका भी ग्रहण हो सकता है।

मेरी समझमें तो "बीजमंत्र" का यहाँ अर्थ है—"जो समस्त मंत्रोका बीज है। जिसकी शक्तिसे समस्त मंत्र सजीव हैं"। श्रीरामनाम ऐसा मंत्र है। यथा 'इत्यादयो महामन्त्रा वर्तन्ते सप्तकोटयः। आत्मा तेषां च सर्वेषां रामनाम प्रकाशकः। महारा० ५२।३६।' (प्रणव आदि सात करोड़ महामंत्रोंके स्वरूप श्रीरामनामसे प्रकाशित होते हैं, रामनाम सबका आत्मा है)। अतः 'बीजमंत्र' से 'राम' नामका अर्थ होता है। और कविके अन्यत्रके सब वाक्योंसे 'महेश' का इसीको जपना पाया ही जाता है। 'महामंत्र जोइ जपत महेसू' में भी 'महेश' है और यहाँ भी 'जो जपत महेस' है। 'राम' भी स्वयं मंत्र है, यथा 'एक एव परोमन्त्रः श्रीरामेत्यक्षरद्वयम्।' (सारस्वत तन्त्र), 'यत्प्रभावं समासाद्य शुको ब्रह्मर्षि सत्तमः। जपस्व तन्महामन्त्रं रामनाम रसायनम्।' (शुकपुराण)। यह भी स्मरण रहे कि मंत्र और नाममें अभेद है। इसकी पुष्टि मत्स्यपुराणके 'सर्वेषां राममन्त्राणां श्रेष्ठं श्रीतारकं परम्। षडक्षरमनुं साक्षात्तथा युग्माक्षरं वरम्॥' इस उद्धरणसे होती है। श्रीराम-

स्तवराजमें भी श्रीरामनामको तारक और परम जाप्य कहा है।—'श्रीरामेति परं जाप्यं तारकं ब्रह्मसंज्ञकम्।'—(मानसपीयूष १।१९।४ से उद्धृत)।

नोट—३ तन्त्रसाधनमें पहले किसीसे उपदेश लिया जाता है; फिर जप, होम, तर्पण आदि क्रमशः होते हैं। उसी रीतिसे यहाँ प्रथम उपदेश और जप कहा; आगे और अंग कहते हैं।

टिप्पणी—३ 'प्रेम वारि तरपनु भलो…' इति। (क) प्रेमको जलकी उपमा दी जाती है। यथा 'देखत रघुबर प्रताप बीते संताप पाप, ताप त्रिविध प्रेम-आप दूर हीं करे।७४।३।', 'रामचंद्र अनुरागनीर बिनु मल अति नास न पावै।८२।४।', 'प्रेमभगति जल बिनु रघुराई। अभिअंतर मल कबहुँ न जाई।७।४९।६।', 'भरे बिलोचन प्रेम-जल पुलकावली सरीर।१।२५७।' और तर्पणमें भी देवोंकी तुष्टिके लिये जल ही दिया जाता है, अतएव प्रेमको तर्पणका जल कहा। भाव कि देवता तर्पणसे तुष्ट होते हैं, परन्तु 'महा बीर' (श्रीराम) की आराधनामें केवल प्रेम चाहिए। इस प्रेमरूपी तर्पणसे वे परम सन्तुष्ट हो जाते हैं। यथा 'सुनि बर बचन प्रेम जनु पोषे। पूरनकाम राम परितोषे।१।३४२।६।'

श्रीचैतन्यचरितामृतमें "भगवान्‌की इन्द्रियतृप्ति करने, स्वामीको सुख देनेकी इच्छा" को ही प्रेम कहा है। श्रीभरतजीने भी कहा है—'जो सेवकु साहिबहि सँकोची। निज हित चहइ तासु मति पोची।२।२६८।३।' गद्गद-गिरा, अश्रुपात और पुलकाङ्ग आदि ऊपरकी दशायें हैं जो प्रेमकी उमंग उठने पर देख पड़ती हैं।

३ (ख) 'घृत सहज सनेह' इति। प्रेमको तर्पण कहा और सहज स्नेहको घी कहते हैं। इससे 'प्रेम' और स्नेह अथवा सहज स्नेहमें भेद सूचित किया। संसारमें जो प्रेम लोगोंमें देखनेमें आता है, वह प्रायः स्वार्थको लेकर ही होता है। किसी कारणको लेकर उत्पन्न होनेवाला प्रेम जबतक वह कारण रहता है, तबतक बना रहता है। कारणका स्थान नष्ट हो जानेपर उसको लेकर किया हुआ प्रेमभी स्वतः निवृत्त हो जाता है। यथा 'उत्पन्ना कारणे प्रीतिरासीन्नौ कारणान्तरे।१५५। प्रध्वस्ते कारणस्थाने सा प्रीतिर्विनिवर्तते।' (म० भा० शान्ति १३८)। जैसे कि आर्त्तभक्त अपने संकट निवारणार्थ बड़े प्रेमसे भगवान्‌का नाम जपता या रोकर प्रार्थना करता है, संकट मिट जानेपर फिर वह प्रेम नहीं रहता। इत्यादि। इस प्रकार जो प्रेम बारम्बार होता और टूटता है उसमें स्नेह (स्निग्धता, चिकनाहट) नहीं होता। यह प्रेम जलकी चिकनाहटके समान है जो शीघ्र

जाती रहती है। इसीसे प्रेमको तर्पणका जल कहा गया। 'स्नेह' का अर्थही है चिकना पदार्थ। घी और स्नेह दोनोंही चिकने पदार्थ हैं; अतः सहज स्नेहको घी कहा। 'सहज सनेह' अर्थात् वह स्नेह जो सदा जन्म-स्वभावके समान स्वाभाविक ही बना रहता है। भक्तशिरोमणि श्रीभरतजीने 'सहज स्नेह' को आवश्यक जनाकर यही प्रसाद माँगा है; यथा 'सहज सनेह स्वामि सेवकाई। स्वारथ छल फल चारि बिहाई॥'''सो प्रसाद जन पावै देवा। २।३०१।३-४।' अथवा, ऐसा भी कह सकते हैं कि प्रेम अर्थात् स्नेहरूपी जल तर्पण है और 'सहज सनेह' घृत है।

होममें घी, समिध और अग्नि आदि चाहिए। घी कहकर अब हवनकी लकड़ी बताते हैं। संशय आत्माका नाशक है। जिसके चित्तमें संशय होता है उसे न तो यह प्राकृत लोक (अर्थ, धर्म और कामरूप पुरुषार्थ) मिलता है और न परलोक (मोक्ष) ही और न सुख ही मिले। यथा 'संशयात्मा विनश्यति। नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः। गीता ४।४०।' उपदेश मिलनेपर उपदिष्ट ज्ञान वा पदार्थके विषयमें संदेह न रहना चाहिए। परमात्माके यथार्थ स्वरूप तथा मन्त्रकी शक्ति इत्यादिमें संशय रहनेसे, कि न जाने हमारा मनोरथ इससे सिद्ध होगा या नहीं, हानि है। उपदिष्ट पदार्थमें विश्वास रखना चाहिए। यथा 'मंत्रजाप मम दृढ़ विश्वासा। ३।३६।१।', 'कवनिउ सिद्धि कि बिनु बिस्वासा। ७।९०।' [प्रसंगानुकूल तो यहाँ यही संशय समिध है। और वैसे तो सभी प्रकारके संशयोंसे रहित होना चाहिए। कुछके नाम पूर्व लिखे गए हैं—'संसय सकल' ४७ (१ क), ४४ (६ ग) में देखिए]—अतः संशयको होममें जला डाली जानेवाली समिध बनाया।

क्षमाको अग्नि बनाया। कोई कैसा ही अपना अपराध करे, अपनेको सतावे एवं अपमान करे तो भी अपराधी पर कोप न कर उसे सह जाय तो वह 'क्षमा' अपराधीके प्रति अग्निका काम करती है, भगवान् उस अपराधको सह नहीं सकते। 'क्षमा षोडशी' में श्रीयुगलानन्यशरणजीने 'क्षमा' को शमा (दीपक) की उपमा दी है—'छमा शमा बिनु तमतमा जमा, न होत हरास। करुणा रमा प्रकासिये शमि संसृति ततित्रास।१६।'

३ (ग) जपके बाद हवन होता है तब तर्पण। गोस्वामीजीने यहाँ तर्पणके बाद हवनको कहा है। अर्थ उस क्रमसे कर लेना चाहिए। परन्तु तर्पणको प्रथम कहने का भाव यह है कि 'महावीर' के आराधनमें प्रेम प्रथमसे ही चाहिए। कहा भी है 'तुलसी जाय उपाय सब, बिना रामपद प्रेम।'

३ (घ) 'ममता बलि देहु' इति। तांत्रिक प्रयोगोंमें अन्तमें बलिप्रदान

होता है। पशु आदिका वलि दिया जाता है जिसमें हिंसा होती है। कहीं-कहीं देवी देवताको प्रसन्न करनेके लिये मनुष्यका वलि दिया जाता है। कहीं-कहीं पशुके वदले नारियल आदिका बलि देते हैं। 'महा वीर' की आराधनामें हिंसा नहीं होती और न और किसी वलिकी अपेक्षा है। उसमें पैसेका भी खर्च नहीं है, अपने पास जो विकारकी वस्तु है, उसीकी वलि चाहते हैं, वही उनका भोग्य है। वह है स्त्री, पुत्र, माता, पिता, भाई, बन्धु, मित्र, देह, गेह इत्यादिमें ममत्व। यह ममत्व बड़ा भारी विकार है, संसृतिचक्रमें भ्रमण करानेवाला है। इसीसे इसका त्याग करना यत्र-तत्र कहा गया है; यथा 'भजहु नाथ ममता सब त्यागी।६।७।५।', 'अहंकार ममता मद (मैं तै मोर मूढ़ता) त्यागू। महामोह निसि सूतत जागू।६।५५।', 'ममता त्याग करहिं जिमि ज्ञानी।४।१६।५।' ममता मानसरोग है, उसको दादकी उपमा दी है। उसकी जवासा और 'तिमिर तरुण अँधियारी। रागद्वेष उलूक सुखकारी' से भी उपमा दी गई है। श्रीवसिष्ठजीने भी श्रीकराल जनकसे कहा है कि स्त्री-पुत्र आदिके प्रति ममतासे बँधा हुआ पुरुष उन्हींके संसर्गमे रहकर सहस्र-सहस्र कोटि सृष्टिपर्यन्त नश्वर शरीरोंमें ही सदा चक्कर लगाता रहता है। यथा 'ममत्वेनावृतो नित्यं तत्रैव परिवर्तते। ४३। सर्गकोटिसहस्राणि मरणान्तासु मूर्तिषु।' (म. भा. शान्ति ३०३ । प्रकृति बहुतसे रूप धारण करके जीवके साथ संयोगकी चेष्टा करती रहती है, इस बहुरूपधारिणी प्रकृतिके प्रति ममता होनेसे भिन्न-भिन्न योनियोंमें भटकना पड़ता है।—इसी ममत्वको श्रीरामजीमें लगा देनेसे वही ममत्व लोक-परलोक सुखकारी हो जाता है। प्रभुने कहा भी है—'जननी जनक बंधु सुत दारा। तनु धनु भवनु सुहृद परिवारा॥ सब कै ममता-ताग बटोरी। मम पद मनहि बाँध वरि डोरी॥ 'अस सज्जन मम उर बस कैसें। लोभी हृदय वसत धन जैसें।५।४८।' गोस्वामीजी भी इसीसे कहते हैं—'तुलसी दुइ महँ एकही, खेल छाँड़ि छल खेलु। कै करु ममता राम सो, कै ममता परहेलु॥ दो. ७६।', 'रामहि डरु करु रामसों, ममता प्रीति प्रतीति। तुलसी निरुपधि रामको, भएँ हारहूँ जीति। दो. ६५।'—देह सम्बन्धी सव ममत्वको संसारकी ओरसे प्रभुकी ओर फेर देना ही यहाँ 'ममताका वलि देना' है।

नोट—४ यहाँ तक 'महा वीर' के साधन-प्रयोगकी विधि कही। बीज-मंत्रका तुरंत उपदेश लेकर मंत्र जपे। प्रभुसे प्रेम करे। स्वाभाविक स्नेहसे क्षमाको प्रज्वलितकर संशयको भस्म कर दे और सब ममत्व प्रभुमे लगा दे। आगे प्रयोगकी सिद्धिका उल्लेख करते हैं, बताते हैं कि विधिपूर्वक उपर्युक्त प्रयोगसे क्या लाभ प्राप्त होगा।

टिप्पणी—४ 'अघ उचाटि, मन बस करै ' ' इति। प्रयोग चार, छः वा बारह प्रकारके कहे गये हैं। छः के नाम नोट १ में आ चुके। शेष छः ये हैं—कीलन, कामनाशन, आकर्षण, बंदिमोचन, कामपूरण और वाक्प्रसारण। इस अन्तरामें उच्चाटन, वशीकरण, मारण और आकर्षणकी सिद्धि दिखाई। किसीके चित्तको कहींसे हटा देना 'उच्चाटन प्रयोग' का कार्य है। यथा 'लोग उचाटे अमरपति कुटिल कुअवसरु पाइ।२।३१६।' महावीरकी आराधनासे अघका उच्चाटन होगा, पापसे चित्त हट जायगा एवं पापका चित्त साधककी तरफसे हट जायगा, पाप इसे छोड़कर भाग जायँगे कि अब यहाँ रहना ठीक नहीं। मणि, मंत्र या औषध आदिको मंत्रसे सिद्ध करके उनके द्वारा किसीको अपने वश कर लेना 'वशीकरण प्रयोग' है। रामनामजपसे मन वशमें हो जाता है, यथा 'नाम सो प्रतीति प्रीति हृदय सुथिर थपत।१३०।' मनुष्य आदिको तथा वैरीको वशमें कर लेना तांत्रिक प्रयोगसे भले ही हो जाय; पर मनरूपी प्रबल शत्रुको वे प्रयोग वशमें नहीं कर सकते। महावीरकी उपर्युक्त आराधनासे वह मन भी अपने अधीन हो जाता है—यह 'वशीकरण' हुआ। मारण-प्रयोग वह है, जिसकी सिद्धि होनेपर किसी मनुष्यको मारा जाता है, जैसे मूठ आदि। महावीरकी आराधनासे मद और कामको मारा जाता है। ये दोनों भगवान्‌को प्रिय नहीं हैं। जनमें इन दोनोंको वे नहीं रहने देते। यथा 'करुनानिधि मन दीख विचारी। उर अंकुरेउ गर्बतरु भारी॥ बेगि सो मैं डारिहौं उखारी। पन हमार सेवक हितकारी। १।१२९।', 'ते तुम्ह राम अकाम पियारे।३।६।६।'—अतएव मद और कामका नाश कर देते हैं—"तिन्ह की न काम सकै चापि छाँह। तुलसी जे बसहि रघुबीर बाँह। गी० ।२।४६।"—यह 'मारण' प्रयोगकी सिद्धि हुई। इनके न रहनेपर प्रभु वशमें हो जाते हैं। यथा 'काम आदि मद दंभ न जाकें। तात निरंतर बस मैं ताकें।३।१६।१२।' किसी दूर-देशस्थ पुरुष या पदार्थका पासमें आ जाना 'आकर्षण प्रयोग' का कार्य है। महावीरकी साधनासे सुख, संपत्ति, संतोष और विचार ये सब आराधकके पास आ जाते हैं। (बैजनाथजीके मतानुसार 'संतोषरूपी सुख और विचाररूपी संपदा' यह अर्थ है।)

टिप्पणी—५ (क) 'जेहि येहि भाँति भजनु कियो' ' ' इति। 'जेहि' से सभी जाति, वर्ण, आश्रम, स्त्री, पुरुष आदिको इस साधनका अधिकारी जनाया। 'येहि भाँति' अर्थात् जैसा ऊपर बता आए। 'भजनु कियो'—यह 'जेहि साधे' का अर्थ स्पष्ट कर दिया। भजनका फल बताते हैं कि 'मिले रघुपति ताहि', इस प्रकार भजन करनेवालेको श्रीरघुनाथजीकी प्राप्ति हुई है।

५ (ख) 'तुलसिदास प्रभु पथ चढ़्यो '। भाव कि ऐसे भजनसे रघुनाथजी मिले हैं, यह जानकर मैं भी उसी मार्गसे भजन करने लगा हूँ, यदि आप निबाह लें। तात्पर्य कि भजनपर आरूढ़ होना मेरा कर्तव्य है सो मैं कर रहा हूँ, इसको पूरा पार लगा देना मेरे वशका नहीं है, यह आपकी कृपाके अधीन है।

वैजनाथजीका मत है कि निर्वाहकी प्रार्थना कलिकालके भयसे की गई है, कलि बाधक हो रहा है, आपतक पहुँचने न देगा।--इस भावका समर्थन पद २५६ के "मैं तो दियो छाती पवि, लयो कलिकाल दवि, साँसति सहत परबस को न सहैगो। 'बचन करम हिये कहौं राम सौंह किये, तुलसी पै नाथके निबाहे निबहैगो ॥"--से होता है।

नोट--५ सू० शुक्लजी इस भजनका तात्पर्य यह कहते हैं कि "महामंत्रकी आराधनाकी विधि कहते हैं। पहले रागद्वेष दूरकर कामादि छः शत्रुओंको मारके समतासे मनको स्वाधीन करिये और संतोष विचार आदि संपत्ति आनंद स्थिर करनेवाली मनमें लाइए और संदेहोंको परम शान्तिमें स्वाभाविक नित्य प्रियरूप रामके ध्यानसे भस्मकर अहंत्वको काट डालिए। फिर परमात्मा परानन्दरूप आत्मारूपमें प्रेमरूपी जलकी धारा बहाके उसीमें तृप्त होनेकी भावना करिये।'

श्रीसीतारामचन्द्रार्पणमस्तु।

१०६ (७५)

कस न करहु करुना हरे दुखहरन[1] मुरारी[2]।
त्रिबिध ताप संदेह सोक संसय भय हारी[2] ॥१॥

एहु[3] कलिकाल-जनित मल मति मंद मलिन मन।
तेहि पर प्रभु नहि कर सँभार केहि भाँति जिऐ[4] जन ॥२॥

---

१ हरन–६६, रा०, ह०, ५१, ७४, भ०, दीन, वि०। समन–भा०, बे०, प्र०, वै०, मु०। २ मुरारी–हारी ६६, रा०, भा०, वे०, डु०, भ०। मुरारि–हारि ७४, आ०। ३ एहु–६६। एह–१५। येहु–भ०। यह–प्र०, ह०, ५१, ७४, आ०। इक–वि०। एक–भा०, बे०, रा०। एहि–ज०। ४ जिऐ–६६, रा०, प्र०। जिअइ–७४। जियै–मु०, आ०। जिवै–भा०, वे०, ह०।

सब प्रकार समरथ प्रभो[5] मैं सब विधि दीन[6]।
यह विचारि[7] द्रवहु[8] नहीं मैं करम-क[9] हीन ॥३॥
भ्रमत अनेक जोनि 'फिरो[10] रघुपति' आन न मोरें।
दुख सुख सहौं रहौं सदा सरनागत तोरें ॥४॥
तोहि[11] सम देव न कोउ कृपाल समुझेउं[12] मन माहीं।
तुलसिदास हरि तोषिये सो साधन नाहीं ॥५॥

शब्दार्थ—मुरारी—आश्रितविरोधी एवं मुर दैत्यके शत्रु।५२(३ख),५३(५च),५६(२ग),६४(६ख) देखिए। संदेह=मनकी वह अवस्था जिसमें यह निश्चय नहीं होता कि यह वस्तु ऐसी ही है या और किसी प्रकारकी।=वह ज्ञान जो पदार्थकी वास्तविकताके विषयमें स्थिर न हो। 'संशय' दो या कई बातोंमेंसे किसी एकका भी मनमें न बैठनेका नाम है।-'जौ जग मृषा...' पद १२१ देखिए। कवितामें संदेह एक प्रकारका अर्थालंकार माना गया है, जिसके सूचक प्रायः 'धौं' 'किधों', 'की' आदि संदेहवाचक शब्द आते हैं। यथा 'की तुम्ह हरिदासन्ह महँ कोई। मोरें हृदय प्रीति अति होई।' इत्यादि। जनित=उत्पन्न। करम (कर्म)=भाग्य, प्रारब्ध। यथा 'करम लिखा जौं बाउर नाहू। तौ कत दोसु लगाइय काहू।१।६७।' करम-क=भाग्य-का। तोषना=संतुष्ट या प्रसन्न करना वा होना।

पद्यार्थ—हे हरे! हे दुःखोंके हरनेवाले मुर दैत्यके शत्रु! हे त्रिताप, संदेह, शोक, संशय और भयके हरनेवाले! आप मुझपर करुणा क्यों नहीं करते?।१। (एक तो) इस कलिकालसे उत्पन्न पापोंके कारण मेरी बुद्धि मंद है और मन मलिन हो रहा है, उसपर भी, हे प्रभो! आप सँभालते नहीं (मेरी रक्षा नहीं करते), (तब) यह दास किस प्रकार जीवित रह सकेगा?

---

५ प्रभु—ज०। प्रभू—प्र०। विभो—ह०। प्रभो—औरोमे। ६ हीन—भा०। दीन—६६, रा०, डु०, श्रा०। ७ विचारि—६६। जिय जानि—औरोमे। ८ द्रवौ—वि०, डु०, ज०। ९—करम-क हीन—६६। (इसमे 'क'=का। जैसे धंधक=धंधाका। 'आन भरोस न देवक' मे देवक=देवका। इत्यादि)। करम विहीन—औरोमे। फिरो रघुपति—६६। रघुपति पति—औरोमे प्रायः यही पाठ है। फिरो रघुपति पति—भ०। ११ तोहि—६६, रा०। तो—प्रायः औरोमे। १२ समुझेउं—६६, रा०, भ०, ह०। समझौं—प्राय औरोमे।

।२। हे प्रभो ! आप सब प्रकार समर्थ हैं और मैं सब प्रकार दीन हूँ। यह विचारकर भी आप पसीजते नहीं (तो) मैं (ही) अभागा हूँ❀ ।३। हे श्रीरघुनाथजी ! मैं अनेक योनियोंमें (कर्मोंके वशीभूत होकर) भटकता फिरा (एवं फिरता रहूँ) पर (आपके सिवा) दूसरा कोई मेरा नहीं है। (इसीसे) मैं दुःख-सुख सहता हूँ (पर) सदा आपके ही शरणागत रहता हूँ ।४। हे देव ! मैंने (अपने) मनमें (भली भाँति) समझ रक्खा है कि आपके समान न तो कोई देवता है और न कोई कृपाल है। तुलसीदास-जी कहते है कि 'हे हरे ! मेरे पास वह साधन नहीं है जिससे आप प्रसन्न हो सकें'। ५।

टिप्पणी—१ (क) 'कस न करहु करुणा' कहकर जनाया कि आप करुणासिंधु हैं और मेरी दशा करुणाजनक है, मैं करुणाका पात्र हूँ, अत-एव मुझपर करुणा न करनेका कोई कारण मुझे समझ नहीं पड़ता। आपही बतायें कि क्या कारण है ? (ख) 'हरे दुखहरन मुरारी' इति। दुःखहरणके संबंधसे 'हरे' और 'मुरारी' संबोधन दिया। भाव कि जीवोंके क्लेश हरण करनेसे आप 'हरि' कहलाए और 'आश्रितविरोधियोंके नाशक' होनेसे आपका 'मुरारि' नाम है। मैं भी आपके आश्रित हूँ और कलिकाल-जनित मलोंसे पीड़ित हूँ। पुनः 'मुरारी' का भाव कि आपने मुर दैत्यका नाश करके इन्द्रादिके दुःख हरे, उनको पुनः उनके लोकोंमें स्थापित किया था। विशेष कथा ५२ (३ ख) में देखिए। कलिकालरूपी मुरने सद्गुण-रूपी सुरगणोंको निकाल बाहर किया है, अब आप सद्गुणोंको अपनी बाँहसे बसाइए।—'तुलसी बिकल बलि कलि कुधरम। २४६।' (ग)—'त्रिविध ताप संदेह सोक संसय भयहारी'—भाव कि आप आश्रितोंके दैहिक, दैविक और भौतिक तीनों प्रकारके तापों, संदेहों, शोकों, संशयों और भयको सदा हरते आये हैं, मैं भी इन सबोंसे पीड़ित हूँ। यथा—'व्यापत त्रिविध ताप तनु दारुन तापर दुसह दरिद्र सतायो। २४४।', 'जरत फिरत त्रैताप पाप बस काहु न हरि करि कृपा जुड़ायो। २४३।', 'देखत सुनत कहत समुझत संसय संदेह न जाई। १२१।', 'मैं दुख सोक

❀ अर्थान्तर—१ यह जीमे जानकर आप दया नही करते कि मैं अभागा हूँ। (वीर। वि०)। २ परन्तु क्या आप मुझे कर्महीन समझकर मुझपर कृपा नहीं करते ? (दीनजी)। ३ अथवा आपकी कृपाका प्रभाव मुझ अभागेपर न पड़ता होगा। (वि०)। ४ इससे तो यही जान पड़ता है कि मैं कर्मका खोटा हूँ। (श्री० श०)।

☞ पद्यार्थमे दिया हुआ अर्थ पं० रा० कु०, इु०, वै० एवं भट्ट जीने भी दिया है।

विकल कृपाल केहि कारन दया न लागी। ११४ (२)।', 'दास तुलसी खेद खिन्न आपन्न इह सोक संपन्न अतिसय सभीतं। ५६।', 'हौं सभीत तुम्ह हरन सकल भय कारन कवन कृपा बिसराई। २४२।', 'डरत हौं देखि कलि-कालको कहरु। २५०।' श्रीरामजीकी प्रतिज्ञा है कि 'सकृदेवप्रपन्नाय तवास्मीति च याचते। अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं मम ॥'—इसके 'अभयं सर्वभूतेभ्यो' में त्रिताप, संदेह, शोक और संशय आदिके भयका भी निवारण कह दिया गया है। पद ४६ (५) में भी 'शोकसंदेहपाथोदपटलानिलं' विशेषण दिया है। सभीके शोक-संदेहरूपी बादलोंको छिन्नभिन्न करनेमें पवनसमान हैं।—तब मुझपर भी करुणा करनी चाहिए थी। [त्रिविध ताप—'संताप' ४० श० मे तीनों तापोंकी व्याख्या देखिए। शोक-संदेह ऊपर शब्दार्थमें तथा ४६ (६ क), ५७ (७ ख) में देखिए]।

[वैजनाथजीके मतानुसार "संदेह पापकर्म भोगनेका; शोक हानि, वियोग, रुज और दरिद्रता आदिका; 'संसारकी सचाईसे ईश्वरकी सचाईमें निश्चय न होना' यह संशय और यमसाँसतिका भय"।

टिप्पणी—२ 'एहु कलिकालजनित…' इति। (क) 'एहु' का भाव कि वर्तमान कलियुग पूर्वके कलियुगोंसे अधिक कराल है। अभी इसका प्रारंभ ही है। एक पाद भी इसका अभी पूरा नहीं हुआ, फिर भी 'पाप परायन सब नर नारी' हैं। मेरा जन्म इसी कालमें हुआ है। 'कलिकाल जनित मल' का भाव कि मल (मलिनता वा पाप) सब कलिसे उत्पन्न हुआ, सब मलोंका मूल यही है। यथा 'कलि केवल मलमूल मलीना।१।२७।४।' पुनः भाव कि अन्य युगोंमें कलिका धर्म जो व्यापता है वह ऐसा कराल नहीं होता।—'नित जुग धर्म होहि सब केरे।७।१०४।'

२ (ख) 'मति मंद मलिन मन' अर्थात् कलिकालवश बुद्धिको वासना मान मदने आ घेरा और मन कुमनोरथों तथा विषयोंमे आसक्त होकर मलिन हो गया। यथा 'मन मलिन विषय सँग लागे। हृदय मलिन वासना मानमद।८२।'—[बुद्धि ज्ञान-विचारादि-प्रकाशरहित हुई, मन असत्कर्मोंमें लगा। (वै०)]—'कुमनोरथ मलिन मन। २५२ (२)।' मिलान कीजिए—'बचन बिकारु, करतबउ खुआर, मनु बिगत-बिचार, कलिमलको निधानु है। क० ७।६४।'

२ (ग) 'तेहि पर प्रभु…' अर्थात् आप 'प्रभु' हैं, समर्थ हैं, कलिकाल आपसे प्रबल नहीं है, वह भी आपकी आज्ञाके बाहर नहीं हो सकता, वह इतना बिगाड़ चुका है तब भी आप मेरी रक्षा नहीं करते, बिगड़नेसे नहीं आते। ऐसा न होना चाहिए। यथा 'तुम्ह से सुसाहिब की ओट जन खोटो

खरो कालकी करमको कुसाँसति सहत । २५६ ।', 'स्वामी समरथ ऐसो हौं तिहारो जैसो तैसो, कालचाल हेरि होति हिये घनी घिनु ।२५३।' पूर्व जो विनय की थी—'काहे ते हरि मोहि बिसारो । जानत निज महिमा मेरे अघ तदपि न नाथ सँभारो ।।६४(१) ।'—वह भाव यहाँ भी है । वहाँ जो कहा था कि "जौ कलिकाल प्रबल अति होतो तुव निदेस ते न्यारो । तौ हरि रोस भरोस दोस गुन तेहि भजतो तजि गारो ।", वह बात यहाँ नहीं कहते, क्योंकि यहाँ तो पिछले पदमें प्रार्थना कर आये हैं कि 'तुलसिदास प्रभु पथ चढ़्यो' हम तो अब आपके मार्गपर चढ़ चुके 'जो लेहु निरबाहि', निबाह देना आपके हाथ है ।

२ (घ) 'केहि भाँति जिऔ जन'—दास कैसे जी सकेगा ? भाव कि तब मार्गपर निर्वाह कैसे होगा ?

टिप्पणी—३ 'सब प्रकार समरथ प्रभो ···' इति । (क) सब प्रकार समर्थ हैं, यथा 'मसक बिरंचि बिरंचि मसक सम करहु प्रभाव तुम्हारो । यह सामर्थ्य अछत मोहि त्यागहु नाथ तहाँ कछु चारो । ६४(५) ।' 'सब विधि दीन' अर्थात् बुद्धिके मन्द हो जाने और मनके विषयासक्त हो जानेसे मैं सर्वथा दीन हो गया हूँ । (ख) 'यह विचारि' अर्थात् आप सब प्रकार समर्थ हैं और मैं सब बिधि दीन हूँ ये दोनों बातें आप जानते हैं । (ग) 'द्रवहु नहीं मैं करम-क हीन' इति । भाव कि दीनोंको देखकर आपने सदा उनकी पीर पाई है और उनपर कृपा की—है, आपके समान दूसरा दीनहितकारी करुणामय नहीं है, फिर भी मुझपर कृपा नहीं हो रही है । यथा 'ऐसे राम-दीनहितकारी । अतिकोमल करुनानिधान बिनु कारन पर-उपकारी ।। साधनहीन दीन निज अघ बस सिला भई मुनिनारी । गृह ते गवनि परसि पद पावन घोर श्राप तें तारी ।१-२।'' कपि सुग्रीव बंधुभय ब्याकुल आयो सरन पुकारी । सहि न सके दारुन दुख जन के हत्यो बालि सहि गारी ।। ७। कहँ लगि कहौं दीन अगनित जिन्ह की तुम्ह बिपति निवारी । कलिमल-ग्रसित दास तुलसी पर काहे कृपा बिसारी ।।१०।' (पद १६६) । 'मैं करम-क हीन'—अब अपनेसे ही अपनी शंकाका समाधान करते हैं कि आपके करुणानिधान दीनहितकारी होनेमें तो संदेह नहीं, आप सबपर करुणा करके सबका हित करते हैं, यह भी ठीक है । तब मुझपर करुणा क्यों नहीं हुई, क्योंकि मैं अभागा हूँ । भाव यह कि आपका इसमें दोष नहीं, मेरे भाग्यका दोष है । इसी प्रकार आगे पद ११४ में 'तुम्ह सो हेतुरहित कृपाल आरतहित ईस न त्यागी । मैं दुख सोक बिकल कृपाल, केहि कारन दया न लागी ।२।' कहकर फिर कहा है कि 'नाहिन कछु औगुन तुम्हार ।

चेनु करिल श्रीखंड बसंतहि दूषन मृषा लगावै। साररहित हतभाग्य सुरभि पल्लव सो कहहु किमि पावै।'—दोनोंमें भावसाम्य है। अभागा होनेसे आपकी कृपा-करुणाका प्रभाव मुझपर नहीं पड़ता। किसीने कहा भी है 'करमहीन कलपत रहे कल्पवृक्ष की छाँह।' (वि० से उद्धृत)।

'कर्मक हीन' का अर्थ यदि यह लें कि 'मैं उत्तम कर्मोंसे हीन हूँ, मेरे कर्म सब खोटे हैं, अच्छे कर्म एक भी नहीं', तो कर्महीनताका उदाहरण यह है—'सब अँग हीन, सब साधन बिहीन, मन वचन मलीन, हीन कुल करतूति हौं। बुधिबलहीन, भावभगतिबिहीन, हीनगुन, ज्ञानहीन हीन भागहूँ बिभूति हौं। क० ७।६६।'—किन्तु यहाँ 'कर्म' का अर्थ भाग्य ही विशेष संगत है। विधाताने भाग्यमें नहीं लिखा। यथा 'पातकपीन कुदारिद दीन मलीन धरें कथरी करवा है। लोक कहै बिधिहू न लिख्यो सपनेहूँ नही अपने वर वाहै। क० ७।५६।' (अर्थात् विधिने भाग्यमें न लिखा और न इसे अपने बाहुका ही बल है)।

☞ मानवहृदयका कैसा सुन्दर चित्र (खाका) यहाँ खींचा है! जीव अत्यन्त विपत्ति एकायक आ पड़नेपर भगवान्‌को दोष देने लगता है। सावधान होनेपर वह पश्चात्ताप करता हुआ अपना दोष स्वीकार करता है।

टिप्पणी—४ 'भ्रमत अनेक जोनि···' इति। (क) जीव काल-कर्म-गुण-स्वभाववश अनेक योनियोंमें चक्कर लगाता रहता है; यथा 'आकर चारि लच्छ चौरासी। जोनि भ्रमत यह जिव अबिनासी॥ फिरत सदा माया कर प्रेरा। काल कर्म सुभाव गुन घेरा॥ ७।४४।' वही यहाँ कहते हैं कि मैं अनेक योनियोंमें भ्रमता रहा और आगे भी भ्रमता रहूँगा। यथा 'कुटिल कर्म लै जाय मोहि जहँ जहँ अपनी बरिआई'। १०३।'

४ (ख) 'रघुपति आन न मोरें' आपके सिवा मेरा कोई नहीं। अर्थात् पूर्व भी मेरा कोई न था, आगे भी मेरा कोई और नहीं होगा। भाव कि मैंने दूसरे किसीको भी अपना स्वामी, रक्षक नहीं माना और न मानूँगा। यथा 'जानत जहानु, मन मेरेहूँ गुमान बड़ो, मान्यो मैं न दूसरो, न मानत, न मानिहौं। क० ७।६३।', 'सेये न दिगीस न दिनेस न गनेस गौरी, हित कै न माने बिधि हरिउ न हरु।२५०।'—यह 'गोप्तृत्ववरण' शरणागति है। श्रीरघुपतिको ही रक्षकरूपमें वरण किया है। पूर्व कह आए हैं—'देव दनुज मुनि नाग मनुज सब माया बिबस बिचारे। तिन्ह के हाथ दास तुलसी प्रभु कहा अपनपौ हारे।१०१।' (इस प्रकार भी अर्थ हो सकता है कि मेरा और कोई नहीं, अर्थात् सबने मुझे त्याग दिया; यथा 'अगुन अलायक आलसी जानि अधमु अनेरो। स्वारथ साथिन्ह तज्यो तिजरा को सो

टोटकु औचट उलटि न हेरो। भगतिहीन वेद बाहिरो लखि कलिमल घेरो। देवनिहू देव परिहर्‍यो अन्याय न तिन्हको हौं अपराधी सब केरो। २७२।', 'मेरें कोउ कहूँ न, हौं चरन गहत हौं। ७६।')

४ (ग) 'दुख सुख सहौं रहौं ··' इति। जीव अपने कर्मोंके अनुसार दुःख और सुख भोगता है। यथा 'कर्म प्रधान बिस्व करि राखा। जो जस करइ सो तस फल चाखा।।', 'जीव करम वस सुख दुख भागी। २।१२।४।', 'करम बिबस दुख सुख छति लाहू। २।१८२।३।' अतएव मैं भी दुःख-सुख सहता हूँ, पर आपको छोड़ दूसरेकी शरणमें नहीं जाता। इसका कारण अगले चरणमें कहते हैं। इसमें यह भी भाव है कि आप भलेही मुझे त्याग दें पर मैं आपको नहीं छोड़नेका। यथा 'जौ तुम्ह त्यागो राम हौं तो नहि त्यागों। परिहरि पाँय काहि अनुरागों। १७७।', 'भयेहुँ उदास राम मेरें आस रावरी। १७८।', 'ईस न गनेस न दिनेस न धनेस न, सुरेस सुर गौरि गिरापति नहि जपने। तुम्हरेई नामको भरोसो भव तरिवे को, बैठे उठे जागत बागत सोएँ सपने।···ठाँउ न समाउँ कहाँ सकल निरपने। क० ७।७८।'

पुनः भाव कि 'तुम्ह सम ईस कृपाल परम हित पुनि न पाइहौं हेरे।। यह जिय जानि रहौं सब तजि रघुबीर भरोसे तेरे। तुलसिदास यह बिपति बागुरो तुमहि सों बनै निबेरे।१८७।'—'ताहिते आयो सरन सबेरे'। 'रहौं' शरणागत' अर्थात् दूसरेसे अपना भला नहीं चाहता जैसा पद २६० में कहा है—'अनत चह्यो न भलो'।

टिप्पणी—५ (क) 'तोहि सम देव न कोउ कृपाल···' इति। मनमें विचारकर मैं समझ गया कि आपके समान कृपाल कोई देवता नहीं है। यथा 'देव दूसरो कौन दीनको दयाल ··।१५४।' (पूरा पद देखिए), 'को कृपाल स्वामी सारिखो राखै सरनागत सब अंग बल बिहीनको।२४४।'

५ (ख) 'समझेउँ' से जनाया कि हमने सबकी थाह ले ली है, तब यह सिद्धान्त किया है। यथा 'भूमिपाल ब्यालपाल नाकपाल लोकपाल, कारन कृपाल मैं सबके जीकी थाह ली। कादर को आदरु काहू कें नाहि देखिअत, सबनि सोहात है सेवा-सुजानि टाहली। क० ७।२३।', 'सेवा अनुरूप फल देत भूप कूप ज्यों, बिहूने गुन पथिक पिआसे जात पथ के। लेखे जोखे, चोखें चित तुलसी स्वारथ हित, नीकें देखे देवता देवैया घने गथ के।···क० ७।२४।', 'आलसी-अभागी-अघी-आरत-अनाथपाल, साहेबु समर्थ एकु

नीके मन गुनी मैं। दोष-दुख-दारिद-दलैया दीनबंधु राम, तुलसी न दूसरो दयानिधानु दुनी मैं। क० ७।२१।'

५ (ग) 'हरि तोपिये सो साधन नाहीं' इति। भगवान्के 'तोपण' के साधन क्या हैं, यह स्वयं प्रार्थीने पद २०५ में यों बताया है—'सम संतोष विचार विमल अति सतसंगति ए चारि दृढ़ करि धरु। काम क्रोध अरु लोभ मोह मद रागद्वेष निसेष करि परिहरु॥ श्रवन कथा मुख नाम हृदय हरि, सिर प्रनाम सेवा कर अनुसरु। नयनन्हि निरखि कृपासमुद्र हरि, अग जगरूप भूप सीतावरु॥ इहै भगति वैराग्य ज्ञान यह हरितोषन यह सुभ व्रत आचरु।'—ये कोई साधन मुझमें नहीं हैं। तात्पर्य कि आप अपनी कृपासे ही जो करना चाहें वही होगा। आपही अपनी प्राप्तिके उपाय हैं।

☞ श्रीमद्भागवतके 'स्वेनैव तुष्यतु कृतेन स दीननाथः, को नाम तत्प्रति विनाञ्जलिमस्य कुर्यात। भा० ३।३१।१८।' (अर्थात् जिसने जीवको गर्भमें ऐसा उत्कृष्ट ज्ञान दिया है वे) आप दीनबंधु अपने ही किये हुए उपकारसे प्रसन्न हों, आपको हाथ जोड़ देनेके सिवा उसका और कोई प्रत्युपकार कौन कर सकता है?), तथा 'तुष्यन्त्वदभ्रकरुणाः स्वकृतेन नित्यं, को नाम तत्प्रतिकरोति विनोदपात्रम्॥ भा० ४।२२।४७'। (अर्थात् जिन आपने भगवान्के स्वरूपका इस प्रकार निरूपण किया है वे परमकृपाल आप अपने किये हुए (पतितोद्धाररूप) कर्मसे ही सदा सन्तुष्ट हों, क्योंकि आपके उस महान् उपकारका बदला कौन चुका सकता है? यदि कोई उसके लिये प्रयत्न करेगा तो वह उपहासका ही पात्र होगा)—इन उद्धरणोंकी छाया 'हरि तोपिये··· ' के भावमें है।

'तुम्ह सम देव न कोउ कृपाल' कहकर 'हरि तोपिये सो साधन नाहीं' कहनेका भाव कि मुझे केवल आपकी 'कृपा' गुणका अवलंब है।

५ (घ) पूर्व ६१ (५) में कहा था कि 'जेहि गुन ते बस होहु रीझि करि सो मोहि सब बिसर्‍यो।' वहाँ उन गुणोंकी चर्चा है जिनसे प्रभु वशमें होते हैं और यहाँ हरितोपणसाधनकी चर्चा है।

श्रीसीतारामचन्द्रार्पणमस्तु।

११० (७४)

कहु केहि कहिअ कृपानिधे[1] भवजनित बिपति अति।
इंद्रिअ[2] सकल बिकल सदा निज निज सुभाउ रति ॥१॥
जे[3] सुख संपति सरग नरक संतत सँग लागी।
हरि परिहरि सोइ जतन करत मन मोर अभागी ॥२॥
मैं अति दीन, दयाल देव, सुनि[4] मन अनुरागे[7]।
जव[5] न द्रवहु रघुबीर धीर काहे[6] न दुख लागे[7] ॥३॥
जद्यपि मैं अपराध-भवन दुख-समन मुरारे।
तुलसिदास कहुँ[8] आस इहै प्रभु[9] पतित उधारे ॥४॥

शब्दार्थ—बिकल=व्यग्र, व्याकुल, बेचैन। सुभाउ (स्वभाव)=सदा बना रहनेवाला प्रधान गुण, प्रकृति; आदत; प्रवृत्ति। नरक=पुराण-शास्त्रानुसार वह स्थान जहाँ पापियोंकी आत्मायें कर्मफलभोगके लिये भेजी जाती हैं। रौरव, सूकर, रोध, ताल, विशसन, महाज्वाल, तप्तकुम्भ, लवण, विलोहित, रुधिराम्भ, वैतरणि, कृमीश, कृमिभोजन, असिपत्रवन, कृष्ण, लालाभक्ष, दारुण, पूयवह, पाप, वह्निज्वाल, अधःशिरा, सन्दंश, कालसूत्र, तमस, आवीचि, श्वभोजन, अप्रतिष्ठ और अप्रचि आदि अनेकों महाभयंकर नरक कहे गये हैं।—विशेष वि० पु० २।६।१-२७ में पाठक देख सकते हैं।†

पद्यार्थ—हे दयासागर! आपही कहिए, भव (संसार) से उत्पन्न अपनी अत्यन्त भारी विपत्ति किससे कही जाय? समस्त इन्द्रियोंका अपने-अपने

१ कृपानिधे—६६, रा०, आ०, ह०, ७४। करुनानिधे—भा०, वे०, प्र०। २ इंद्री—भा०, वे, ह०, डु०। इंद्रिअ ६६। इंद्रिय—५१, ७४, मु०, दीन, वै०, रा०। ३ जे—६६, रा०, भा०, वे०, वै०, मु०, वि०। जो—दीन। ४ सुनु—६६। सुनि—औरोमे। ५ जव—६६, रा०, भा०, वे०। जो—मु०, वै०। जौ—आ०, ह०, ७४। जौ—भ०। ६ क्यों नहिं—भा०, वे०, मु०। काहे न—प्राय· औरोमे। ७ अनुरागै—लागै ह०, ७४। ८ को आस यही—भा०, वे०, प्र०। औरोमे 'कहुँ आस इहै' पाठ है। ९—भा०, वे०, ७४, ह०, आ० मे 'प्रभु' नही, है, उसके वदलेमे 'बहु' है। ६६ और ज० मे 'वहु' नही है। रा० मे 'प्रभु वहु पतित उधारे' पाठ है।

† ब्रह्मपुराणमे भी प्राय ये ही सब नाम आये हैं। अध्याय २२ मे नरकोका वर्णन है।

स्वभाव (अर्थात् अपने-अपने विषयों) में प्रेम है (इससे) वे सदा व्यग्र रहती हैं। १। जो सुख-संपत्ति स्वर्ग और नरकमें (भी)* सदा (जीवके) साथ लगे रहते हैं, मेरा अभागा मन, हरि! आपको छोडकर उन्हींके लिये यत्न करता रहता है। २। मैं अत्यन्त दीन हूँ। हे देव "आप दयालु देव हैं"—यह सुनकर मेरे मनने आपसे अनुराग किया। (उसपर भी) हे रघुवीर! हे धीर! जब आप नहीं पसीजते (दया करते) तब (मुझे) दुःख क्योंकर न लगे?।३। यद्यपि मैं अपराधोंका घर हूँ, तथापि, हे मुरारे! आप तो दुःखोंके नाशक हैं और (मुझ) तुलसीदासको (तो एकमात्र) यही आशा-भरोसा है कि प्रभुने पतितोंका उद्धार किया है (भाव कि मैं भी पतित हूँ, अतएव मेरा भी उद्धार अवश्य करेंगे)।४।

टिप्पणी—१ 'कहु केहि कहिअ कृपानिधे 'इति। (क) पद १०६ में विनती कर आए कि कोई दूसरा ऐसा कृपाल नहीं है और मैं आपके सिवा दूसरेकी शरण जानेका नहीं, आपकी कृपाका ही अवलंब है फिर भी आप करुणा नहीं करते। अत अब कहते हैं कि आपही बताइये कि क्या कहीं दूसरा कोई भवविपत्तिनिवारक है जिससे जाकर कहूँ। यथा 'कहाँ जाउँ कासों कहौं और ठौर न मेरे। जनम गँवायो तेरेही द्वार किंकर तेरे। १४९।', 'सुर स्वारथी अनीस अलायक निठुर दया चित नाहीं। जाउँ कहाँ को विपतिनिवारक भवतारक जग माहीं।१४४।', 'आपु-से कहुँ सौंपिऐ मोहिं जौं पै अतिहि घिनात।'' ।२१७।'

१ (ख) 'कृपानिधे' में भाव यह भी है कि भवविपत्ति साधारण कृपालुओं-के छुटाये नहीं छुट सकती। 'प्रभु अकृपाल कृपाल अलायक जहँ जहँ चितहि डोलावौं। इहै समुझि सुनि रहौं मौन ही कहि भ्रम कहा गँवावौं।२३२।' 'भव विपति अति'—जन्ममरण आदि भव-दुःख हैं। 'अति' से जनाया कि

* 'जो सुख संपत्ति स्वर्ग और नरकमे' ऐसा अर्थ बाबू शिवप्रकाश, वीरकवि और दीनजीने किया है। 'लागी' क्रिया स्त्रीलिंग होनेसे यह अर्थ विशेष संगत जान पडता है। वै० और ह० का अर्थ है—'जो सुख, संपत्ति, स्वर्ग और नरक सदा साथमे लगे रहते हैं'। यह अर्थभी हो सकता है। यथा 'कर्मणा प्राप्यते स्वर्गः सुखं दुःखं च भारत। ततो वहति तं भारमवश स्ववशोऽपि वा। म० भा० स्त्री० ३।११।' (विदुरजी कहते हैं हे भरतनंदन! कर्मके अनुसार ही परलोकमे स्वर्ग या नरक और इहलोकमे सुख और दुःख प्राप्त होते हैं। फिर मनुष्य सुख या दुःखके उस भारको स्वाधीन या पराधीन होकर ढोता रहता है)।

भवविपत्ति दारुण हैं। यथा 'बिषय बारि मन मीन भिन्न नहि होत कबहुँ पल एक। ताते सहिय बिपति अति दारुन जनमत जोनि अनेक।१०२।' 'बिपति अति' आगे स्वयं लिखते हैं कि क्या है।

१ (ग) 'इंद्रिअ सकल बिकल ' ' इति। भाव कि इन्द्रियोंका स्वभाव है अपने-अपने विषयकी ओर जाना। सब इन्द्रियाँ एकसाथ अपने-अपने विषयमें आसक्त हैं, इसीसे विकल हैं।—इन्द्रिय और उनके विषय तथा देवताओंका विस्तृत उल्लेख ५४ (२ ख, ग) में देखिए। नेत्र रूपमे लगे हैं। इसी तरह रसना षट्रसमें रत है, श्रवण शब्दमें, नासिका सुगंधमें और त्वचा स्पर्श-विषयमें रत है। यद्यपि विषय तुच्छ हैं, इनमें सुख नही. तो भी इन्द्रियाँ उनकी ओर दौड़ती हैं और कभी तृप्त नही होती। अतृप्त रहनेसे अथवा विषयकी प्राप्ति न होनेसे वा विषयभोगमे असमर्थ होनेमे व्याकुलता होती है। मनको भी इन्द्रिय माना गया है। विषय जब इन्द्रियको अपनी ओर खींचता है, तब मन भी उसीके साथ खिच जाता है। जैसे बहुतसी सौतें अपने स्वामीको अपनी अपनी ओर खींचती हैं, तब उसे कैसा क्लेश होता है, वैसेही मन-को क्लेश होता है।–'निसि दिन भ्रमत ' 'जहँ तहँ इंद्रिन्ह तान्यो' ८८ (१ग) मे देखिए। 'निज निज सुभाउ रति' कहनेका भाव कि आपमें नहीं लगती, आपकी ओर नहीं जाकर विषयोंमें लगी हैं। विशेषकर यहाँ इन्द्रियोंकी दशा कही, आगे मनकी दशा कहते हैं।

टिप्पणी-२ (क) 'जे सुख संपति ' ' इति। 'जीव करम बस सुख दुख भोगी। २।१२।' जीव जहाँ भी जाय कर्मभोग उसके साथ रहता है, जिस भी योनिमें जाय सुख-दुःख उसके संग लगे रहते हैं। वे उसे अवश्य मिलेंगे, अतः उनके लिये प्रयत्न करना व्यर्थ आयुको गँवाना है। यथा 'दुख सुख जो लिखा लिलार हमरे जाब जहँ पाउब तही।१।६७।', 'जो सुख सुरपुर नरक गेह बन आवत बिनहि बुलाएँ। तेहि सुख कहँ बहु जतन करत मन समुझत नहिं समुझाएँ। २०१(२)।' सुख नरकमें भी मिलता है यह इस उद्धरण तथा आगे शान्ति पर्व तथा श्रीदत्तात्रेयजीके वाक्योंसे स्पष्ट है। श्रीभगवान्-सहायजी लिखते हैं कि स्त्री पुत्र आदिका भोग आदि नरकरूप कूकुर सूकर योनियोंमें भी रहता है। म० भा० शान्तिपर्व अ० १५३।३७ यथा 'यथाकृता च भूतेषु प्राप्यते सुख-दुःखिता। गृहीत्वा जायते जन्तुर्दुःखानि च सुखानि च।।' अर्थात् जीव अपने पूर्व जन्मके कर्मोंके अनुसार दुःख-सुखको लेकर ही जन्म ग्रहण करता है। सभी प्राणियोंमें सुख और दुःखका भोग कर्मा-नुसार ही प्राप्त होता है।

श्रीमद्भागवतमें श्रीदत्तात्रेयजी तथा श्रीप्रह्लादजीका भी यही मत है। यथा 'सुखमैन्द्रियकं राजन्स्वर्गे नरक एव च। देहिनां यद्यथा दुःखं तस्मान्नेच्छेत तद्बुधः। भा० ११।८।१।' अर्थात् हे राजन्! जैसे (उद्यम किये बिना ही प्रारब्धानुसार) दुःख स्वयं ही आ प्राप्त होता है, वैसे ही इन्द्रियजनित विषयसुख भी स्वर्ग और नरकमें भी (समान भावसे) प्राणियोंको प्राप्त होता है। अतः बुद्धिमान्को उसकी इच्छा (उसके लिये प्रयत्न) न करनी चाहिए। पुनश्च यथा 'सुखमैन्द्रियकं दैत्या देहयोगेन देहिनाम्। सर्वत्र लभ्यते दैवाद्यथा दुःखमयत्नतः।३। तत्प्रयासो न कर्तव्यो यत आयुर्व्ययः परम्। भा० ७।६।४।' अर्थात् हे दैत्यो! देहका संबंध होनेपर प्राणियोंको इन्द्रियजनित सुख तो सभी शरीरमें सभी योनियोंमें भाग्यवश दुःखकी भाँति बिना प्रयत्नके अनायास ही प्राप्त हो जाता है। अतः उसके लिये प्रयत्न करना कर्तव्य योग्य) नहीं है, क्योंकि उसमें तो आयुको व्यर्थ गँवाना ही है।

☞'सतत सँग लागी' में 'सर्वत्र लभ्यते दैवात्' एवं 'अयत्नतः'का भाव है।

२ (ख) 'हरि परिहरि' का भाव कि विषयसुखको छोड़कर हरिचरणके शरण होना जीवका कर्तव्य है। क्योंकि हरिचरणकमलमें जो सुख प्राप्त होता है वह विषयमें नहीं है। यथा 'यथा हि पुरुषस्येह विष्णोः पादोपसर्पणम्।' ··'न तथा विन्दते क्षेमं मुकुन्दचरणाम्बुजम्। भा० ७।६।२, ४।'—'परन्तु मन इसके विपरीत आपको छोड़कर विषयोंकी शरण लेता है।

२ (ग) 'सोइ जतन करत' अर्थात् दैवात् स्वयं अनायास प्राप्त होनेवाली वस्तुके लिये प्रयास करना कर्तव्य नहीं है, पर मेरा मन प्रयास करता है, इस तरह जो आयु अपने कल्याणके उपायमें लगाना चाहिए वह व्यर्थ गँवाता है। यथा 'ततो यतेत कुशलः क्षेमाय भयमाश्रितः। शरीरं पौरुषं यावन्न विपद्येत पुष्कलम्। भा० ७।६।५।' (अर्थात् जबतक शरीर सबल और स्वस्थ रहे, विपत्तिग्रस्त न हो तबतक पुरुषको अपने कल्याणका उपाय कर लेना चाहिए)।—इस तरह जनाया कि कर्तव्यको छोड़कर मेरा मन अकर्तव्यके करनेमें लगा है।

२ (घ) 'अभागी' इति। 'हरि तजि' विषयमें रत होनेसे 'अभागी' कहा। यथा 'सुनहु उमा ते लोग अभागी। हरि तजि होहिं विषय अनुरागी। ३।३३।३।', 'कहु खगेस अस कवन अभागी। खरी सेव सुरधेनुहि त्यागी। ७।११०।७।' पुनः 'यत्पादप्लवमेकमेव हि भवाम्भोधेस्तितीर्षावतां ··तमशेषकारणपरं रामाख्यमीशं' हरिको छोड़ा, उनसे विमुख हुआ; अतः 'अभागी' कहा। यथा 'ते नर नरकरूप जीवत जग भवभंजनपदविमुख अभागी।··

तुलसिदास हरिनामसुधा तजि सठ हठि पियत बिषय-बिष माँगी ।१४०।'—इससे यह भी जनाया कि मेरा जीवन नरकरूप हो रहा है ।

टिप्पणी—३ 'मैं अति दीन···' इति । (क) आप दीनदयाल हैं, यह सुनकर मेरे मनने आपसे अनुराग किया । आप मेरी दीनता अवश्य दूर करेंगे, यह समझकर मैं अपनी दीनता लेकर आपकी शरण आया । आप दयाल हैं, रघुवीर (दया, दान, आदि पंचवीरतासंपन्न) और धीर हैं, ऐसे होकर भी आपके यहाँसे मैं विमुख जाऊँ तो दुःख हुआ ही चाहे कि ऐसे दयावीर दानवीर पराक्रमवीर भी मेरी नहीं सुनते, तब और कहाँ जाऊँ और किससे कहूँ ।

३ (ख) सर्वकालमें संग रहनेवाले तथा सहायक मन आदिकी विपरीत रीतिके कारण मैं 'अति दीन' हूँ। 'सुनि'—महात्माओंसे सुना । यथा 'दुखित देखि संतन्ह कह्यो सोचै जिनि मन माहूँ । तोसे पसु पाँवर पातकी परिहरे न, सरन गयें रघुवर ओर-निबाहूँ ।७५।', 'हहरि हिय मैं सदय बूझ्यो जाइ साधु समाजु । मोहूसे कहुँ कतहुँ कोउ तिन्ह कह्यो कोसलराज ॥ दीनता दारिद दलै को कृपा-बारिधि-बाजु ।२१९।'

टिप्पणी—४ (क) 'जद्यपि मैं अपराधभवन ···' इति । भाव कि कैसा भी कोई अपराधी क्यों न हो, शरणमें आनेपर आप-उसके अपराधोंपर दृष्टि न डालकर उसपर कृपा ही करते हैं और उसके दुःखोंको दूर कर देते हैं; यथा 'जद्यपि मैं अनभल अपराधी । ··तदपि सरन सनमुख मोहि देखी । छमि सब करिहहिं कृपा बिसेखी ।२।१८३।', 'मैं जानउँ निज नाथ सुभाऊ । अपराधिहु पर कोह न काऊ ।२।२६०।', 'अपराधअगाध भए जनते अपने उर आनत नाहिन जू ।···क० ७।७।'

४ (ख) 'दुखसमन मुरारे'–'दुखहरन मुरारी ।' १०९ (१ख) में देखिए । 'जद्यपि मैं ·' कहकर 'दुखसमन ' कहनेमें भाव यह भी है कि कितना ही पापी क्यों न होऊँ फिर भी मैं दुःखशमनके लिये अन्यत्र नहीं जानेका, भला बुरा जैसा भी हूँ तुम्हारा ही हूँ । तुम्हें दुःख दूर करना ही पड़ेगा । यथा 'तुलसी जदपि पोच तो तुम्हरोइ और न काहू केरो ।१४५।'

४ (ग) 'तुलसिदास कहुँ आस इहै···' इति । भाव कि आप प्रभु हैं, अपने सामर्थ्यसे पतितोंका आपने उद्धार किया है, अतः मुझे अपने अपराधभवन होनेका किंचित् भी भय नहीं । पतित ही तो आपके भोग्य हैं, पतितोंके ही तो आप विषयी हैं । अतएव मुझे पूर्ण विश्वास है कि मेरा भी उद्धार करेंगे । यथा—'नरक अधिकार मम घोर संसारतमकूप कही

भूप मैं सक्ति आपान की। दास तुलसी सोउ त्रास नहिं गनत मन, सुमिरि गुह गीध गज ग्याति हनुमान की। २०६।'—यह 'रक्षिष्यतीति विश्वासः' शरणागति है।

४ (घ) उपक्रममें 'कृपानिधे', 'भवजनित बिपति अति, इंद्रिय सकल बिकल' और 'कहु केहि कहिअ' जो कहा, उसीकी जोड़में उपसंहारमें क्रमशः 'अपराधभवन', 'दुखसमन मुरारे' और 'तुलसिदास कहँ आस इहै' कहा गया।

(ङ) 'पतित उधारे'से जनाया कि उस पतित मंडलीमें मुझे अवश्य जगह दीजियेगा।

सू० शुक्रजी—"जो परम प्रेमसे विश्वासपूर्वक परमात्माका आश्रय लेता है, अवश्यमेव भगवान् योगक्षेम करते हैं।"

॥ श्रीसीतारामचन्द्रार्पणमस्तु ॥

१११ (७८)

केसव कहि न जाइ का कहिये।
देखत तव रचना बिचित्र हरि[1] समुझि मनहिं मन रहिये ॥१॥
सून्य[2] भीति पर चित्र रंग नहिं[3] तनु[4] बिनु लिखा चितेरें।
धोयें मिटइ न मरइ भीति दुख पाइअ एहि[5] तन हेरें ॥२॥
रबि-कर-नीर बसै अति दारुन मकर रूप तेहि नाहीं[7]।
बदन-हीन सो[8] ग्रसै[9] चराचर पान करन जल[10] जाहीं ॥३॥
केउ[11] कह[12] सत्य झूठ कह[13] केऊ[14] जुगल प्रबल करि मानै।
तुलसिदास परिहरै तीनि भ्रम सो आपन पहिचानै ॥४॥

---

१ अति—वै०, ७४, दी०, ज०, वि०। हरि—प्रायः औरोंमे। २ सून्य—६६, रा०—(शून्य),—वै०, मु०, दीन, वि०। सून—भा०, भ०, ह०, ७४, ज०। सुन्न—वे०। ३ नहि—प्रायः सबमे। बहु—दीन। ४ कर—७४। 'बिनु तन' पाठ वै० का है औरोंमें 'तनु बिनु' है। ५ एहि—ह०, रा०, ७४। यहि—भा०, वे०, आ०। इहि—वि०। एह—६६, भ०। ७ नाही—६६, रा०, ज०। माही—भा०, वे०, ह०, ७४, आ०। ८-९ सो ग्रसे—६६, ७४, भ०, छ०, मु०। तेहि ग्रसे—रा०, ह०। सो ग्रसै—भा०, वे०, वै०, दीन, वि०। १० जल—६६, रा०, ज०। जे—भा०, वे०, ह०, ७४, आ०। जेहि—भ०।११ केउ=६६, रा०, भ०। कोउ—प्रायः औरोंमें। १२ कहै—भा०, प्र०। कह—प्रायः औरोंमें। १३ कहि—भा०। कहै—प्र०। कह—औरोंमें। १४ केऊ—६६, रा०, भ०। कोऊ—प्रायः औरोंमे।

शब्दार्थ—रचना = निर्मित वा बनाई हुई वस्तु । = कारीगरी । मनहि मन = चुपचाप ; विना कुछ कहे; हृदयमें ही । रहिये = रह जाता हूँ अर्थात् आश्चर्यसे विस्मित हो जाता हूँ, कुछ कह नही सकता । सून्य (शून्य) = आकाश, अन्तरिक्ष । सून्य भीति = शून्य दीवार; माया । भीति = दीवार । = भय; डर । चित्र = विविध रंगोंके मेलसे बनी हुई नाना वस्तुओंकी आकृति । = किसी वस्तुका स्वरूप वा आकार जो कागज, कपड़े, लकड़ी, शीशा, दीवार आदिपर कलम और रंग आदिके द्वारा बनाया गया हो । = तसवीर । चितेरा = चित्रकार; चित्र बनानेवाला । तनु (तन) = शरीर; देह । तन = तरफ़, ओर । यथा 'बिहँसे करुनाऐन चितै जानकी-लषन तन ।२।१००।' रविकरनीर = मृगतृष्णा जल । पद ७३ (२) शब्दार्थमें 'मृगवारि' पर देखिए । तीनि भ्रम—सत्य है, असत्य है, सत्यभी है असत्यभी है । आपन = अपने स्वरूपको ।

पद्यार्थ—हे केशव ! कुछ कहा नही जाता, क्या कहूँ ? हे हरे ! आपकी विचित्र रचना देखता हूँ और उसे मनही मन समझकर रह जाता हूँ ।१। (विचित्रता दिखाते हैं—) शून्यरूपी भीतिपर बिना शरीरवाले (अर्थात् अशरीरी) चित्रकारने चित्र खींचा है । (उसपर तुर्रा यह है कि) उसमें रंग नहीं है । न तो धोनेसे मिटता है और न इसका नाश हो * । इसकी ओर देखनेसे भय और दुःख प्राप्त होता है† ।२। मृगतृष्णा जलमें अत्यन्त

* अर्थान्तर—१ धोये चौरासीरूप चित्रकारी मिटती नही, इससे भय करके मरे जाते हैं । (वै०) । २ धोनेसे नही मिटता, मृत्युका भय लगा है । (भ०) । ३—(कर्मजलसे) धोनेसे मिटता भी नही है, (और अन्य चित्रोकी भाँति केवल जड नही है वरन्) भय और दुःखसे घबडाकर मरा जाता है—अर्थात् भय और दुःखित भावोका प्रभाव पड़ता हे, जो जड चित्रमे नही होता । (दीनजी) । ४ चित्र धोनेपर भी नही मिटते ।...इन चित्रोको सदा मृत्युभय रहता है । (वि०, पो०) । ५ (साधनरूप जलके द्वारा) धोनेपर नही मिटता ।...यह मरता भी है । (श्री० श०) । ६ धोयेसे नही मिटते, न दीवारका दुःख दूर हो । (सू० शु०)

† अर्थान्तर—१ इसकी ओर देखनेसे दुःख मिलता है (भ०) । २ 'पाइअ एह तनु हेरे' = यह चित्र खोजकर देखा तो इसी शरीरमे है अर्थात् यह पिण्डरचनाही वह चित्र है । (दीनजी ······) ३ इसी देहमे ढूँढनेसे मिलते हैं । (सू० शु०) । ४—यह चित्र इसी देहमे ढूँढनेसे मिलता अर्थात् जाना जाता है । अर्थात् अपने शरीरमे विचार करनेसे प्रत्यक्ष ये चित्र देख पडते हैं । (डु०, भ० स०) । ५ वीरकविजीने

भयंकर मगर रहता है। उस (मगर) का (कोई) रूप नहीं है। (परन्तु) वह विना मुखके ही चराचर जीवोंको, जो जल पीने जाते हैं, निगल जाता है ।३। कोई इसे सत्य कहते हैं, कोई झूठा कहते हैं और कोई दोनोंको प्रवल करके मानते हैं। तुलसीदासजी कहते हैं कि जो तीनों भ्रमोंको त्याग दे, वह अपने स्वरूपको पहिचानेगा ।४।

☞इस पदमें विचारण भूमिका है, दार्शनिक सिद्धान्तका विवेचन है।

टिप्पणी-१ 'केसव कहि न जाइ···' इति। (क) महाभारत नामनिरुक्त-प्रकरणमें श्रीशंकरजीने भगवानसे स्वयं कहा है कि "'क' नाम ब्रह्माजीका है। सब देहधारियोंके भीतर अहंकारके अधिष्ठाता होकर रहनेसे हमारा नाम 'ईश' है। हम दोनों आपके अंगसे प्रकट हुये हैं; इससे आपका नाम केशव है।" यथा 'क इति ब्रह्मणो नाम ईशोऽहं सर्वदेहिनाम। आवां तवाङ्ग-सम्भूतौ तस्मात्केशव नामवान्।' (हरिवंश पु० ३।८८।४८ में भी)।—इस प्रमाणानुसार गोस्वामीजी कहते हैं कि हे केशव! वाचामगोचर वात कैसे कही जा सकती है? (वै० शि० श्रीरामानुजाचार्यजी)। अर्थात् जो वाणीका विषय नहीं उसे वाणी क्योंकर कह सके? 'केशव' पर पद ४६ शव्दार्थ में विशेष लिखा जा चुका है।

पुनश्च 'केशव' का अर्थ है 'सुन्दर वालोंवाला'। अतः भाव यह है कि स्वयं सघन काले वालोंवाले होनेके कारण आपकी रचना भी ऐसी अँधेर-कारिणी हुई कि वुद्धिकी आँखें उसे ठीक प्रकारसे देख ही नहीं सकतीं; तव कहते कैसे वने? (दीनजी। आप लिखते हैं कि 'केशव' शव्द वड़े मार्केका है)।

पुनश्च, सूर्य, चन्द्रमा और अग्निकी सारी किरणें भगवान्‌के केश संज्ञक हैं, उनके आधारभूत (केशवाले) होनेसे भगवान् केशव कहे जाते हैं। " यहाँ ऐश्वर्य एवं सृष्टिका प्रसंग है। श्रीरामजीके प्रकाशसेही चित्ररूप संसार प्रकाशित है—'जगत प्रकास्य प्रकासक रामू'। वे ही श्रीरामजी केशव कहे जाते हैं। (श्री० श०)। पुनः, प्रलय करके जलमें शवकी तरह विश्राम करते हैं, फिर वहींसे सृष्टि उत्पन्न करते हैं। अतः 'केशव' नाम यहाँ सहेतुक है। 'कहि न जाइ' से जनाया कि कहनेकी रुचि अवश्य होती है। किन्तु उसका कहना मेरी शक्तिके वाहर है। 'कहि न जाइ' की ही व्याख्या आगे

'न मरै भीति', 'दुख पाइय···' इस प्रकार अन्वय करके अर्थ किया है—"न भीतिका नाश होता है, देखनेसे उसका दुःख इस शरीरमे पाया जाता है।"

है। सत्य है या असत्य है या क्या है, कुछ निश्चय नहीं हो पाता; अतः कैसे कहा जाय ?

१ (ख) 'देखत तव रचना' से जनाया कि यह सब रचना भगवान्‌की ही रची हुई है। पहले यह सब तमरूप था, भगवान्‌ने ध्यान करके अपने शरीरसे सबकी रचना की, ऐसा मनुजीने कहा है—'आसीदिदं तमोभूतम्' (मनु० १।५) 'सोऽभिध्याय शरीरात् स्वात्' (मनु० १।८)। गीतामें भगवान्‌ने भी कहा है कि मैं इस भूतसमुदायको पुनः पुनः नाना प्रकारसे सृजन करता हूँ—' विसृजामि पुनः पुनः। भूतग्राममिमं कृत्स्नं···। गीता ९।८।'—अतएव 'तव रचना' कहा।

१ (ग) 'बिचित्र हरि' इति। जगकी रचना बिचित्र है। चित्रकूटकी जलसे भरी हुई निर्मल शिलाओंमें जो आकाश और वनका प्रतिबिंब झलक रहा है उसकी उत्प्रेक्षा करते हुए कहा है—'मानहु जग-रचना बिचित्र बिलसति बिराट अँग अँग। गी० २।५०।५।'—इसमें भी 'जग-रचना' को 'बिचित्र' कहा है। क्या बिचित्रता है यह कवि स्वयं आगे कहते हैं।

विचित्रकी व्याख्या वैजनाथजीने इस प्रकार की है कि "सुर, नर, नाग, पशु, पक्षी, बेलि वा वृक्ष आदिकी प्रतिमायें जो दीवारपर रंगसे बनी हों, वे 'चित्र' कहलाती हैं। जो शीशेके आवरणमें दिखाई देती है; किन्तु किसीके समझमें नहीं आती कि कहाँ बनी है, उसे 'बिचित्र' कहेंगे।" [उन्होंने 'बिचित्र अति' पाठ रक्खा है। इससे वे इतना और लिखते हैं—"परन्तु हरिकी यह रचना (संसार) अति बिचित्र है, क्योंकि भीति, शीशा आदि कोई आधार इसका देख नहीं पड़ता।"]

[श्रीकान्तशरणजी लिखते है कि "रचना तो ऐसी विचित्र है कि इसे वेदोंमें भी भिन्न-भिन्न रीतिसे कहा गया है, यथा 'ऋषिभिर्बहुधा गीतं छन्दोभिर्विविधैः पृथक्। ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः। गीता १३।४।'; इसमें क्षेत्र और क्षेत्रज्ञका प्रसंग है।"

वैजनाथजी लिखते हैं—"चौरासी (रचना) को विचित्र चित्रसारी इससे कहा कि चित्रसारी जड़ होती है, वैसेही सब जीव मायावश जड हो रहे हैं (यथा 'माया बस परिछिन्न जड़ जीव कि ईस समान।')। विचित्रता यह है कि यद्यपि देवादिकी प्रतिमायें जड़ होती हैं, पर प्राणप्रतिष्ठा होनेसे उनमें देवताका अंश व्याप्त रहता है, जिससे वे मूर्तियाँ पूजा सेवासे प्रसन्न होकर फल देती हैं, बोलती हैं। इसी प्रकार मनुष्य आदि भी मन्त्रो-

पदेशादि संस्कार, ज्ञान, भक्ति और प्रेमसे अपने स्वरूपको जानते हैं, उनके अन्तःकरणमें भगवतसाक्षात्कार होता है और उनमें अनेक सिद्धि शक्ति दिखाई देती हैं—इत्यादि सब प्रसिद्ध है; परन्तु सहसा किसीके समझमें नहीं आती। यही विचित्रता है।"]

'विचित्र' कहनेमें 'हरि' सम्बोधन देनेमें यहभी भाव है कि जैसे आप अपनी अति श्रेष्ठ श्रीअंगकान्तिसे योगियोंके भी चित्तको हर लेते हैं, वैसेही आपकी विचित्र रचना मनको मोह लेती है।—'वर्णश्रैष्ठ्याद्धरिः स्मृतः', 'हरति योगिचेतांसीति हरिः।' (यह 'हरि' नामकी व्याख्या है)।

१ (घ) 'समुझि मनहि मन रहिये' इति। भाव कि समझते ही बनती है, वाचामगोचर होनेसे कही नहीं जा सकती; इसका अनुभवमात्र होता है। 'मनहि मन रहिये' से जनाया कि इस विचित्र रचनाको देखने विचारने, समझनेसे इसमें आश्चर्यचकित हो जाना पड़ता है, जैसी यह रचना है, ठीक वैसा तत्वसे इसे कोई जान नहीं सकता। अतः मौनही रह जाना पड़ता है, आपकी लीला है—बस यही समझकर रह जाता हूँ। गीतामें जो आत्माके संबंधमें कहा है, कि कोई इसे आश्चर्यकी भाँति देखता, कोई कहता, कोई सुनता है, पर इसके यथार्थ स्वरूपको कोई नही जानता—'आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेनं श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित्। गीता २।२९।', वैसा ही भाव यहाँ इसका है।

१ (ङ) वेदान्तशिरोमणि श्रीरामानुजाचार्यजीः—'देखत··' इति। "ब्रह्माणं शितिकण्ठं च यमं वरुणमेव च। प्रसह्य हरते यस्मात् तस्माद्धरिरिति स्मृतः।" (निरुक्त) अर्थात् ब्रह्मा, शङ्कर, यम, वरुण प्रभृति संपूर्ण सुर, नर, तिर्यक् आदि सृज्य वर्गोंको कालात्मा होकर प्रलयके समय बलात्कार करनेसे सरकारका नाम 'हरि' है। केशव और हरि दो नामोंसे सम्बोधन देनेका अभिप्राय यह है कि 'कारणं तु ध्येयं।' (ब्रह्म० सू० भाष्य) इस प्रमाणके अनुसार सर्वकारण परात्मा श्रीरामजीके ही शरण जीवोंको होना चाहिए।—और संसारभयनिवृत्तिके लिये श्रीजानकीनाथसे ही प्रार्थना करनी चाहिये।—'नान्यत्र मद्भगवतः प्रधानपुरुषेश्वरात्। आत्मनः सर्वभूतानां भयं तीव्रं निवर्त्तते। भा०। ३।२५।४१।', 'मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते। गी० ७।१४।' इत्यादि प्रमाणानुसार जीव और मायाके स्वामी श्रीदशरथनन्दन ही संसार-भयसे जीवोंकी रक्षा करते हैं। ईश्वराभिमानी दूसरे देवता प्रकृतिबंधनसे कभी भी नहीं छुड़ा सकते।

अतएव कहते हैं कि हे सर्वजगत्‌कारण (अशेषकारणपरं हरि) श्री-रामजी आपकी विचित्र रचना देखकर 'समुझि मनहि मन रहिये', अर्थात्‌ मनमें ही मनन करना पड़ता है। हे जगन्नाट्य सूत्रधार ! आपकी रचनाका तो कहना ही क्या ?

२ 'सून्य भीति पर चित्र रंग नहि...' इति। (क) रचनाका वैचित्र्य दिखाते हैं। साधारणतया तो चित्रकार देहधारी होता है, उसके हाथ होते हैं जिससे वह चित्र बनाता है। चित्र किसी आधार दीवार, शीशा, कागज, आदिपर खींचा जाता है और उसमें रंगोंका काम पड़ता है, अनेक रंगोंसे चित्र बनाया जाता है। पर यहाँ चित्रकार अशरीरी है, उसके देह है ही नहीं तब हाथ कहाँ, फिरभी बिना शरीर और हाथके उसने चित्र रचा है। आधार भी नहीं है जिसपर चित्र खींचा जाय। रंगसे भी इस चित्रके बनाने में काम नहीं लिया गया फिर भी चित्र बना है। इत्यादि सब विचित्रता है।*

२ (ख) यहाँ इस पदमें केवल उपमान कहे गये हैं, उपमेय का अर्थ अध्याहारसे समझा जाता है।

२ (ग) उपमेय यहाँ क्या-क्या हैं, इसमें मतभेद है। बाबू शिवप्रकाश-जी अथवा वैजनाथजीके ही भावोंको प्रायः उनके बादके टीकाकारोंने अपनाया है। अतएव यहाँ प्रथम टीकाकारोंकी टीकाओंके भाव दिये जाते हैं। चार्ट (नकशा) बना दिया है जिसमें पाठकोंको सबके भावोंका मिलान करने में सुविधा हो।

---

* वै०—'शून्य भीति' इति। पहले ईंट-गारा-चूनासे दीवार उठाकर उसपर अस्तरकारी की जाती है। फिर उसे घोटकर साफ चिकना करके उसपर चित्र बनाते हैं। परमेश्वरने प्रकृतिका अवलंब लेकर सृष्टि रची। यहाँ प्रकृति भूमि है, बुद्धि गारा है और अहंकार ईंट है। तीनोसे मिलकर भीति हुई। भेदकारण 'माया जो आत्मदृष्टिको खीचकर जीवत्व करती है, उसने अस्तरकारी कर उसे घोटा साफ किया'। त्रिगुणात्म अहंकारसे क्रमशः पंचतत्व हुए जिनमे आकाश प्रथम है। यही आकाश शून्य भीति है। [काले रंगका शून्य आकाश उस दीवारका पलस्तर है। (श्री० श०)]

	शून्य-भीति	चित्र	रंग नहिं	बिनु तन लिखा चितेरे	धोये-मिटइ-न-मरइ	एह मन हेरे भीति दुख पाइअ
वै०	अन्तरिक्ष (आकाश) शून्य भीति	पंचतत्वोंके मेलसे ८४ लक्ष योनियो मे जो देहधारी जीवोंकी सृष्टि रचना है, यही चित्रसारी है।	स्थूल शरीर पाचभौतिक है। कारण शरीर भगवतमायामय है। सूक्ष्म शरीर प्राण, मन, बुद्धि और दशेन्द्रिययुक्त है। ये तीनो शरीर एक मे मिले हैं। इससे इनका कोई रग-रूप निश्चित नही हो सकता। अत. 'रग नहिं'।	सृष्टि रचना काममे होती है और काम अनग है ही।	चित्रसारी भयानक है चौरासीकी सुध आते ही भय और महादुःख होता है। अत' उसको मिटाना चाहते हैं, परन्तु कर्मादिरूपी जलसे यह चौरासीरूपी चित्रसारी घुलती नही। अत: भयसे मरे जाते हैं।	भयंकरता यह है कि मोहाधकारमे अपना रूप नही सूझता। फिर पचभूत रूपी पिशाच महाभयानक हैं। ये लगकर अचेत कर देते हैं। चिन्ता नागिन भी डसती है। पाँचो विषय अपनी-अपनी ओर खीचते है। कर्मेन्द्रियाँ कर्मबंधनमे बाँधती हैं और मनरूपी पक्षी उडकर भयावक स्थलोमे ले जाकर डालता है। कर्म और स्वभाव मिलकर नाना वेष बनाकर नाच नचाते है।—यह देख डर लगता है।
वि०	माया वा अन्तरिक्ष। प्रकृति के शून्याधार पर, असत् के आश्रय पर।	पाचभौतिक रचना-का प्रसार जिसमे स्थूल, सूक्ष्म, कारण शरीर हैं	स्थूलादि शरीरोका कोई रंग-रूप निश्चित नही होता।	निराकार चित्रकार है।	कर्मादि करनेसे पाचभौतिक रचना का नाश नही होता, किन्तु वह और भी पक्का होता जाता है।	इन चित्रोको सदा मृत्युका भय रहता है। इनकी ओर देखनेसे दुःख होता है। भाव यह कि इस सृष्टिमे मोह ममताजन्य भय सदा उपस्थित रहता है। पाँचो विषयरूपी पिशाच डरवाते रहते हैं। मन दारुण दुःख देता है।
भ०	अन्तरिक्ष	संसार	विना रंगके बनाया	निराकार चितेरा	इसका आवागमन कर्म आदिरूपी जलके धोनेसे नही मिटता। इस ससार (चित्र) मे मृत्युका भय सबके पीछे लगा है।	संसार (चित्र) की ओर देखनेसे दुःख मिलता है। अर्थात् इसकी बहुत देख-भाल करनेसे यह असत्य भासने लगता है और इससे ग्लानि होती है।

डु०, भ०स०	माया का रूप नही है। यही भीति वा आधार है	ब्रह्माण्ड जिसमे भाँति-भाँतिके जड-चेतन शरीर रूपी चित्र प्रत्यक्ष देख पड़ता हे। अथवा, पिंडरचना।		चेतनरूप निर्गुण ब्रह्म विश्वका कर्ता है क्योकि विना चेतनके जड़ माया और सत्व गुण आदि कोई कर्तव्य नही कर सकते। ब्रह्म-रूप कर्ता अनाम (अरूप) है। अतः उसके तन नही।	चित्र मिटता नही अर्थात् इसका हेतु अनादि है।	चित्र जड़ होता है, उसे मरनेका दुःख नही होता। किन्तु इस चित्रके मरनेका दुःख होता है। यह चित्र इसी शरीर मे ढूंढ़नेसे जान पड़ता है। भाव कि शून्य भीतिपर चित्र आदि सब आश्चर्य जनक है, पर अपने तनमे विचार करनेसे सब प्रत्यक्ष देख पड़ते हे।
दानजी	मायाके आधारपर	अनेक जीवोकी रचना।		अशरीरी चित्रकार परब्रह्म।	कर्म जलसे धोनेसे नही मिटता। यह केवल जड़ नही है। भय और दुःखित भावोका प्रभाव पडता है।	यह चित्र खोजकर देखो, तो इसी शरीरमे हे अर्थात् यह पिंड-रचना ही वह चित्र हे।
वीर	आकार रहित माया	चौरासी योनियाँ		निर्गुणब्रह्म चित्रकार।	'मरइ' उपमान है। आवागमनका बना रहना इसका उपमेय है। विविध कर्म जलसे धोना तथा जन्ममरण का बना रहना रंगका न छूटना है।	देखनेसे उसका दुःख इस शरीरमे पाया जाता है।
पो०	माया भीति	संसार चित्र	क्योकि संकल्पसे ही रचा।	निराकार (अव्यक्त) सृष्टिकर्ता परमात्मा	मिटता नही क्योकि महामायावी रचित है।	इसको मरणका भय बना हुआ है। इसकी ओर देखनेसे दुःख होता है।

श्री० श० आकाश	अनेक ब्रह्माड, 'नाना भाँति सृष्टि बिसतारा'	क्योकि संकल्प से ही रचा	निराकार (अव्यक्त) सृष्टिकर्ता परमात्मा	'विधि प्रपंच अस अचल अनादी' व्यष्टि रूपमे जीवका संसार चित्र उसके कर्म-ज्ञान आदि उपायोद्वारा धोनेसे नही मिटता। 'मरइ' महाप्रलय इसकी मृत्यु है।	विवेक दृष्टिसे देखनेपर संसार चित्र बड़ा भारी भयंकर है। ८४ लक्ष योनियोके भ्रमणको समझकर इसे अत्यंत भय लगता है। दु.खोको समझ-कर इसकी ओर देखा नही जाता।
❀ अप्रकाशित ❀					
पं० रा० कु० माया	मायाके आश्रित जगत् रूपी चित्र		मन चितेरा	अनेक साधन करना धोना है। इसके डरसे मरे जाते हैं।	इसकी ओर देखनेसे दुःख प्राप्त होता है।
वे० शि० बुद्धि भीतिपर	सात्विकी, राजसी, तामसी वासनामय कर्मजनित शत्रु-मित्र-मध्यस्थ त्रिविध व्यवहारमय सुख-दुःखमय जगत् है। विषयासक्ति रचना विचित्र है।	सत्वादि प्रकृतिके गुण हैं जो अद्रव्य पदार्थ है।	मन अणु होनेसे तनरहित है। संकल्पात्मक मन सब भीतरी प्रपंच रचता है।	कर्मज्ञानादि साधना-नुष्ठान रूपी जलसे धुलता नही। मरने-पर नरकादिका भय	मरनेपर नरकादिका भय और यम-यातना आदिका भय और दुःख।

सू० शुक्लजी—"संकल्पव्योमवृक्षस्ते यथासन्नापि खात्मकः। न कुड्यात्मा न कुड्येन रोध्यते नापि कुड्यहा॥ योगवासिष्ठ।' अर्थात् जैसे तुम्हारे संकल्परूप आकाशका वृक्ष शून्यात्मक सत्तासे विद्यमान भी सत्य नहीं है, न भित्तिरूप (साकार) है, न भित्तिसे रुकावट है और न भित्तिका खण्डन करनेवाला ही है—(ऐसे ही चित्तसे संकल्प किया हुआ यह चित्तरूप विचित्र संसार है) जो कि विना देहके चित्रकाररूप चित्तने विना किसी रंगके शून्य दीवारमें लिखा है; इसलिये इसका नाश होना शून्यदीवारके शून्य चित्र सरीखे उपायोंसे नहीं है। 'यथा सत्यपरिज्ञानाद्रज्ज्वां सर्पो न दृश्यते। तथातिवाहिकज्ञानाद् दृश्यते नाधिभौतिकः।' अर्थात् जैसे सत्यके जाननेसे रस्सीमें सर्प नहीं दिखलाई पड़ता, वैसे ही अति सूक्ष्म आत्माके ज्ञानसे पृथ्वी आदि पंचभूतोंसे रचित शरीर नहीं दिखलाई पड़ता। (इसलिये इस जगत्के भ्रमका नाश ज्ञानसे ही होता है। वह इसी मनुष्य शरीरसे विचारद्वारा प्राप्त होता है)।'

२ (ङ) अब अप्रकाशित लेख दिये जाते हैं—

पं० रामकुमारजी—शून्य भीति माया है। मायापर जगत्‌रूपी चित्र है अर्थात् मायाके आश्रय जगत् है। चितेरे मनने लिखा जिसके तन नहीं है। अनेक साधन करना 'धोना' है। 'मरइ भीति' अर्थात् इसके डरके मारे मरे जाते हैं। और इसकी ओर देखनेसे दुःख प्राप्त होता है।

वे० शि० श्रीरामानुजाचार्यजी—(१) 'बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि', 'इन्द्रियाणां मनश्चास्मि' इत्यादि गीतोक्त प्रमाणानुसार आपकी विभूतिरूप तथा आपकी शक्तिसे आविष्ट बुद्धि, मन, प्राकृत तत्व भी विचित्र रचना करते हैं। 'शून्य भीति' बुद्धि है। 'विषयेन विशेषो हि निराकारतया धियाम्।' इत्यादि प्रमाणानुसार बुद्धिका आकार नहीं है. जिस विषयमें वह लगती है तदाकार हो जाती है। यथा 'एतद्विषयिणी बुद्धिः।' 'चित्र' सात्विकी, राजसी और तामसी वासनामय कर्म है। तज्जनित शत्रु, मित्र और मध्यस्थ त्रिविध व्यवहारमय सुखदुःखमय जगत् है।

'रंग नहि'—भाव कि सत्व, रज और तम ये तीनों प्रकृतिके गुण हैं, जो अद्रव्य पदार्थ है। इसीसे इनका कोई रंग रूप नहीं है। अद्रव्य तत्वोंमें गुणोंकी गणना है। 'लिखा चितेरे'—रचनेवाला चित्रकार मन है, जो अणु होनेसे हस्त-पादादिमय तन (शरीर) रहित है। संकल्पात्मक मन ही सब भीतरी प्रपंचकी रचना करता है। बुद्धिरूपी भीतिपर मनरचित विषयासक्ति रचना ऐसी विचित्र है कि 'धोयें मिटइ न'। अर्थात् 'साधन करिय विवेकहीन मन सुद्ध होइ नहिं तैसे॥…' इत्यादि वाक्यानुसार कर्मज्ञानादि

साधनानुष्ठानरूपी जलसे धोनेसे नहीं मिट सकती।—'नास्त्यकृतः कृतेन' इति श्रुतिः। अर्थात् संसार-निवृत्ति कर्मादि साधनोंसे नही होती।

(२) 'मरइ भीति दुख'—अर्थात् मरनेपर नरकादिका भय तथा यम-यातना एवं 'जन्म, मृत्यु, जरा, व्याधि, क्षुत, पिपासा, षडूर्मयः' इत्यादि दुःख। 'जनमत मरत दुसह दुख होई'।

(३) 'पाइअ एह तन हेरे'—इस वचनसे यही अर्थ सुसंगत होता है कि शरीरके भीतर संकल्पात्मक मनरचित विविध-रचना-प्रकरण भी ऐसा ही है। देखिए आगे पीछेके पद 'कहु केहि कहिय कृपानिधे भवजनित बिपति अति। इंद्रिय सकल बिकल सदा निज निज सुभाउ रति ॥११०।', 'जौं निज मन परिहरै बिकारा।...सत्रु मित्र मध्यस्थ तीनि एइ मन कीन्हें बरिआई। १२४।'

नोट—१ यहाँ तक आश्चर्यजनक चित्ररचनाकी बात हुई, आगे विनाशका भी चित्र दिखाते हैं। (दीनजी)। अथवा, चित्रको देखनेसे भय लगता है यह बताया गया। उसपर शंका होती है कि 'तब वहाँ क्यों जाते हो?' उसीका कारण आगे 'रविकरनीर...' मे कहते हैं। (वै०)। एक आश्चर्य कह चुके, आगे दूसरा आश्चर्य दिखाते हैं। (ड०)।

टिप्पणी—३ 'रविकरनीर बसै ' इति। (क) ग्रीष्म ऋतुमें जब उष्णताके कारण पृथ्वीके निकटकी वायु ऊपरकी तहोंके कारण ऊपरको उठने नहीं पाती, तब उसकी लहरें पृथ्वीके समानान्तर बहने लगती हैं। ये लहरे दूरसे देखनेमें जलकी लहरें-सी दिखाई देती हैं। तीक्ष्ण सूर्य-किरणोंके रेत आदिमें पडनेसे मृगको उसमें जलका धोखा होता है। इसीको 'रविकरनीर' और 'मृगजल' आदि कहा जाता है।

रविकरनीरमें हिरणको सत्य जल देख पड़ता है, इसीसे प्यासा हिरन जलकी आशामें उसके पीछे दौड़ता रहता है। वहाँ जल है ही नहीं तो मिले कहाँसे? वैसे ही जीव तृष्णा वा आशारूपी प्यासके वश होकर विषयरूपी रविकरनीरके पीछे निरंतर उनमें सुखरूपी जलकी आशासे दौड़ता फिरता है; पर विषयोंमें सुख है ही नही तब कैसे प्राप्त हो सके। (ख) 'रविकरमें नीर' एक तो यह आश्चर्य, फिर जब जल है ही नही तब मगर उसमें कहाँसे आया, क्योंकि 'मकर उरग दादुर कमठ जल जीवन जल गेह।' दो० ३१८।'—बिना जलके उसमें मगरका होना यह दूसरा आश्चर्य है। यह मकर अति दारुण है, साधारण मगर नहीं है। दारुणता आगे बतायँगे। उस मगरके रूप भी नहीं है। जब रूप नहीं तब मुख कहाँसे होगा और जब मुख नहीं है तब वह किसीको ग्रसेगा कैसे? किन्तु यह

मगर विना रूप और मुखके ही जड़ चेतन सभीको निगल जाता है—यह आश्चर्यपर आश्चर्य है। वह मगर है काल ! काल अति दारुण है, यथा 'अंडकटाह अमितलयकारी। काल सदा दुरतिक्रम भारी॥ तुम्हहि न व्यापत काल अति कराल कारन कवन।७।९४।' उसके रूप नहीं है। लव, निमेष, दंड, घड़ी, प्रहर, दिन, रात, पक्ष, मास, वर्ष, युग, कल्प, महाकल्प आदि द्वारा सबका विनाश होता है, इनका कोई रूप नहीं है। अतएव 'रूप तेहि नाहीं' कहा।*

३ (ग) 'वदनहीन सो ग्रसे चराचर' इति। लव निमेष आदिरूपी काल एक-एक करके जीवोंकी आयुको घटाता जाता है, कोई आयुको घटाते नहीं देखता, सब यह न समझकर कि हमारी आयु विषयभोगमें घटती जाती है, काल हमें क्षण-क्षण कवल बनाता जाता है, उलटे यह समझते हैं कि हमारी आयु बढ़ती जाती है। मृत्यु सिरपर सवार है यह कोई नही समझता। यही 'वदनहीन सो ग्रसे' है। काल चर-अचर जड़-चेतन किसीको नहीं छोड़ता, यथा 'फल ब्रह्मांड अनेक निकाया॥ जीव चराचर जंतु समाना।...ते फल भच्छक कठिन कराला। तव डर डरत सदा सोउ काला।३।१३।७-८।', 'अग जग जीव नाग नर देवा। नाथ सकल जग काल कलेवा।७।९४।'

पं० रामकुमारजी 'लोभ'को मकर मानते हैं। सूर्यदीन शुक्लजी भी लिखते हैं कि "तृणपाषाणकाष्ठादि सर्वमामिषशङ्कया। आददाना स्फुरन्त्यन्ते तृष्णा मत्सी ह्रदे यथा।' जैसे जलके कुण्डमें तिनका, पत्थर, लकड़ी आदि सबको मांस जानकर उनके पीछे मछली खानेको दौड़ती है वैसे ही (इस शरीरमें) तृष्णा (मिथ्या ही) दौड़ा करती है (यही मृगतृष्णाके जलका मगर है जो कि विना मुखके चर-अचरको खाया करती है और कभी तृप्त नहीं होती)।" पं० रामवल्लभाशरणजी विषयके लोभको मगर मानते हैं। लोभ सबको ग्रसे रहता है। जो विषय सेवन करने जाते हैं उन्हींको यह ग्रसता है।

३ (घ) 'पान करन जल जाहीं' इति। चराचरको ग्रसना कहा। चराचरमें भगवद्भक्त भी आ जाते हैं। परन्तु भगवद्भक्तोंके संबंधमें महा-

* श्री. श.—प्रकृतिके गुणोंसे कर्म होते हैं। जीव अज्ञानसे उनका कर्तृत्वाभिमान करता है। इसीसे उन कर्मोंके भोगनेका समय ही उसके लिये सुदिन दुर्दिनरूपमें अनिवार्य काल भयकर मकररूप होकर निगलने लगता है। वैषयिक वृत्तिमे आयुका बीत जाना इसे पूरा निगल जाना है। अतः यह काल इसके अज्ञानके द्वारा कल्पित है।

पुरुषोंके वाक्य हैं कि उनको काल नहीं व्यापता। यथा 'न मे भक्तः प्रणश्यति।' (गीता) 'नाथ सुना मैं अस सिव पाहीं। महाप्रलयहुँ नास तव नाहीं। ७।६४।', 'काल धर्म नहि व्यापहि ताही। रघुपति चरन प्रीति अति जाही। ७।१०४।' अतएव इस शंकाके निराकरणार्थ 'पान करन जल जाहीं' कहा। अर्थात् जो मृग रविकरनीरको सच्चा जल जानकर उसके पीछे दौड़ते चले जाते हैं वे ही प्यासे मृग मरते हैं; वैसे ही जो अज्ञ विषयी जीव विषयतृष्णारूपी प्यास बुझानेके लिये रविकरनीररूपी विषयोंमें सुख-शान्ति-संतोषरूपी जलकी आशासे विषयोंमें आसक्त होते हैं, (यथा 'मृग भ्रम वारि सत्य जल जानी। तहँ तू मगन भयो सुख मानी। तहाँ मगन मज्जसि पान करि त्रयकाल जल नाही जहाँ। १३६।'), उन्हींको कालरूपी मकर ग्रास कर जाता है। जो विषय तथा उसके सुखको झूठा जानते है, जो एकमात्र भगवद्भक्तिमें ही सुख मानते हैं, अपने स्वरूपको समझते हैं, ससारकी आशा त्यागे हुए हैं, इत्यादि उनके पास काल नहीं जाते, वे तो कालके सिरपर पैर रखकर भगवद्धामको जाते हैं जहाँसे पुनरागमन नहीं होता। (विशेष आगे वे० शि० की टिप्पणी देखिए)।

'इस संबंधमें मनुवाक्य भी है। उन्होंने बृहस्पतिजीसे कहा है—'तद् ब्रह्म परमं प्रोक्तं तद्धाम परमं पदम्। तद्गत्वा कालविषयाद् विमुक्ता मोक्षमाश्रिताः।' (म० भा० शान्ति० २०६।१४)। अर्थात् अविनाशी विष्णु ही परब्रह्म कहे जाते हैं। वे ही परमधाम और परमपद हैं। उन्हें प्राप्त कर लेनेपर जीव कालके राज्यसे मुक्त हो मोक्षधाममें स्थित हो जाते हैं।

वे० शि० श्रीरामानुजाचार्यजी—'रविकरनीर'—शब्द-स्पर्शादि विषय मृगतृष्णा जल है। दुःखमय प्राकृत विषयेन्द्रियसंयोगजन्य शब्दादिमें भ्रमसे सुखकी प्रतीति होती है। 'अति दारुन मकर' काल है। 'रूप तेहि नाहीं'—कालतत्व सत्वशून्य है, उसका कोई रूप वा आकार नहीं है, बराबर बीतता रहता है। 'अनादिर्भगवान् कालो नान्तोऽस्य द्विज विद्यते।' इत्यादि प्रमाणानुसार आप रूपरहित सतत वर्तमान हैं। 'ग्रसे चराचर पान करन जल जाहीं'—प्राकृत विषयानुभव करनेवाले चराचर जगत्‌को यह ग्रसता है अर्थात् खा जाता है—'भोगा न भुक्ता वयमेव भुक्ताः' (भर्तृ. वै. ७), भर्तृहरिजी कहते हैं कि हम भोगको न भोग पाये, भोगने हमको ही भोग लिया। काल संसारी जीवोंको खाकर चौरासी लक्ष योनियोंमें विट कर देता है।

नोट—२ पाठकोंकी जानकारीके लिये स्मार्त तथा वैष्णवचार्योंके जगत् आदिके संबंधमें जो मत हैं उनको यहाँ संक्षेपसे लिखा जाता है, फिर टीकाकरोंके मत लिखे जायँगे।

(क) अद्वैतवादी आचार्योंके मतमें केवल निर्विशेष चिन्मात्र ब्रह्म ही यथार्थ तत्व है, इसके अतिरिक्त दृश्यमान समस्त प्रपंच मिथ्या है। अद्वैत सिद्धान्तमें माया कोई वास्तविक तत्व नहीं है। भगवान्‌की अव्यक्त शक्तिका ही नाम माया है जो त्रिगुणात्मिका है तथा अविद्यास्वरूपा है, यही माया जगत्‌को उत्पन्न करती है—"अव्यक्तनाम्नी परमेशशक्तिरनाद्यविद्या त्रिगुणात्मिका या। कार्यानुमेया सुधियैव माया यया जगत् सर्वमिदं प्रसूयते।" (विवेक चूड़ामणि ११०)। यह माया ब्रह्मज्ञानसे बाधित होनेके कारण 'सत्' नही है तथा प्रतीति होनेके कारण इसे 'असत्' भी नहीं कह सकते है। अतः सत्-असत् दोनोसे अनिर्वचनीय है। यह भ्रान्तिस्वरूपा है। आवरण और विक्षेप, इन दो शक्तियोंके सहारे यह अज्ञानी जीवको तत्वके विषयमें मोह उत्पन्न कराती रहती है। आवरण शक्तिसे माया ब्रह्मके शुद्ध स्वरूपको ढक लेती है तथा विक्षेपशक्तिसे उस निर्विशेष ब्रह्ममें आकाश आदि प्रपंचोंको उत्पन्न कर देती है। विशुद्ध ज्ञानोदय होनेपर मायाकी निवृत्ति हो जाती है।

(ख) श्रीमाध्वाचार्यजीका द्वैतवाद है। इसमें 'जीवसमूह श्रीहरिका नित्य अनुचर है, अस्वतंत्र है। प्रपंच सत्य तथा अनादि सिद्ध है। जीव और जगत् दोना भगवान्‌के अधीन हैं।'

(ग) श्रीनिम्बार्क द्वैताद्वैतवादमें चित्-अचित्-ब्रह्मभेदसे तत्व तीन प्रकारके हैं। चित् अचित् ब्रह्मसे भिन्न होनेपर भी अभिन्न हैं।

(घ) श्रीवल्लभाचार्यका शुद्धाद्वैतवाद है। इस मतमें सत्-चित् आनंद-रूप ब्रह्मके सत् अंशसे प्रकृति जड़तत्वकी अभिव्यक्ति तथा चिद् अंशसे जीवतत्वकी अभिव्यक्ति है। जगत्‌भी भगवान्‌के 'सत्'-अंशसे निकलनेके कारण विकारी नहीं है किन्तु ब्रह्म और जीवके, सदृश ही नित्य अविकृत तत्व है। वैष्णव दर्शनोंमें श्रीवल्लभाचार्यजीकी यह कल्पना स्वतंत्र है। ये जगत्‌को हेय नहीं मानते, किन्तु शुद्ध नित्य मानते हैं।

(ङ) श्रीचैतन्यमतके अनुसार जगत् सत्य वस्तु है, क्योंकि सत्य-संकल्प भगवान्‌की वहिरङ्गा (अर्थात् माया) शक्तिका विलास है। श्रुति-स्मृति एक स्वरसे जगत्‌का नित्यत्व घोषित कर रही हैं—'याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः।' (ईशावास्य मं० ८), 'प्रकृतिं पुरुषञ्चैव विद्ध्यनादी उभावपि। गीता १३।१९।'

(च) विशिष्टाद्वैत दर्शनमें चित् (भोक्ता जीव), अचित् (भोग्य जगत्) और ईश्वर (सर्वान्तर्यामी सर्वप्रेरक) तीन पदार्थ हैं। जीव और जगत् वस्तुतः नित्य तथा पृथक् पदार्थ हैं । किन्तु अन्तर्यामी रूपसे ईश्वर दोनोंके भीतर विराजमान रहता है। इसलिये चित् तथा अचित् ईश्वरके शरीर माने जाते हैं। ईश्वर नियामक तथा विशेष्य है, चित् अचित् ईश्वरके नियाम्य तथा विशेषण हैं। शरीरभूत चित् अचित्की सत्ता अंगी ईश्वरसे पृथक् सिद्ध नहीं होती। विशिष्टाद्वैत नामकरणका यही अभिप्राय है।

ईश्वर अपनी इच्छासे जगत्की रचना करता है; यह व्यापार न तो कर्म-प्रेरित है और न अन्य प्रेरित है। बालक जिस प्रकार खिलौनोंसे खेलता है, उसी प्रकार परम कौतुकी भगवान्‌भी जगत्को उत्पन्नकर क्रीड़ा किया करते हैं। संहार दशामें भी लीलाका विराम नहीं होता, क्योंकि संहारभी भगवान्‌की एक लीला है।

'सदेव सौम्येदमग्र आसीत्। छां० ६।२।१।' सृष्टिके पहले यह समस्त जड़-चेतन 'सत्' ही था। विशिष्टाद्वैतवादी आचार्योंने नाम-रूप-विभागके अयोग्य कारणावस्थास्थित 'सूक्ष्मचिदचिद्विशिष्ट ब्रह्म' को ही 'सत्' शब्दसे स्वीकार किया है। सृष्टिके पूर्व सूक्ष्मरूपसे जड़-चेतन दोनों तत्त्व विद्यमान थे। क्योंकि श्रुतिमें स्पष्ट है कि—'तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीत्तन्नामरूपाभ्यामेव व्याक्रियते। बृ० १।४।७।' (भगवान् कहते हैं कि) पूर्वमें नामरूप-विभागरहितको नामरूपविभाग करता हूँ। फिर उपसंहार वाक्यमें भी कहा गया है कि जीवशरीरसे प्रविष्ट होकर नामरूपका विभाग करता हूँ, —'अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य नाम रूपे व्याकरवाणि। छां० ६।२।२।'

जगत्का अभिन्न निमित्तोपादान कारण ब्रह्म है, तब ब्रह्मका कार्य जगत् विकारयुक्त है, परिणामी है। स्मरण रहे कि इस सिद्धान्तमें केवल ब्रह्म जगत्का कारण नहीं है किन्तु चिदचिद्सहितब्रह्म कारण है। परिणाम ब्रह्मके शरीरभूत अचित् अंश में होता है। ब्रह्म कारण कार्य दोनों अवस्थाओंमें विशुद्ध ज्ञानघन एवं अविद्यासंबंधी दोषोंसे असंस्पृष्ट रहता है।

नोट—३ 'केउ कह सत्य झूठ कह केऊ···' पर टीकाकारोंके लेख उद्धृत किये जाते हैं।—

डु०—पूर्वमीमांसावादी अर्थात् कर्मकाण्डी वा कर्मवादी जगत्को सत्य कहते हैं। उत्तरमीमांसावादी उसे असत्य कहते हैं और सांख्यशास्त्रवाले दोनों बातें सत्य मानते हैं। वे कहते हैं कि जगत्का कारण प्रधान अर्थात् माया और पुरुष दोनों हैं; इसलिये जगत् सत्यभी है और असत्य भी।

वै०—कर्मवादी संसारको सत्य कहते हैं। उनका कथन है कि ब्रह्म, जीव और माया तीनों अनादिकालसे सदा एकरस बने रहते हैं तब झूठ कैसे मान लें? संसारमें जीवोंका कर्म प्रधान है। यथा 'नाऽभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि ?' (मिताक्षर); 'अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्।' (गरुड़ पुराण)। वेदान्ती ज्ञानमतवादी कहते हैं कि मायाके आवरणसे ब्रह्म जीव हुआ; अतः माया जीव वृथा है, एक ब्रह्म ही सत्य है। लोक व्यवहार झूठा है। योगी पातञ्जलि आदिका मत है कि ईश्वर और संसार दोनों प्रबल हैं।

वि०—श्रीवैजनाथजी और पं० रामेश्वरभट्टजीने 'झूठ कह कोऊ' इस मतको 'उत्तरमीमांसा' नाम दिया है। पर वास्तवमें यह बात नहीं है। उत्तरमीमांसाके प्रतिपादक और ब्रह्मसूत्रके रचयिता व्यासजीने इस 'असत्' सिद्धान्त हीकी पुष्टि नहीं की। ब्रह्मसूत्र तो सभी वेदान्तियोंका प्रमाण ग्रंथ है। जगत्‌का असद्वाद तो शंकराचार्यजीका मत है। जिस उत्तर-मीमांसासे उन्होंने 'अद्वैतवाद' का प्रतिपादन किया है, उसीसे रामानुजाचार्यजीने विशिष्टाद्वैतका, माध्वाचार्यजीने द्वैतका और निम्बार्काचार्यजीने द्वैताद्वैतका सिद्धान्त सिद्ध किया है; अतः इस मतको मायावादी अद्वैतवादियोंका मत कहना ही युक्तिसंगत होगा।

वे० शि०—उत्तरमीमांसावादी जगत्‌को असत्य कभी नहीं कहते हैं।—'यथार्थ सर्वविज्ञानं इति वेदविदां मतम्।', 'सदेव सौम्येदमग्रासीत।' (छां० ६।२।१), 'सन्मूलाः सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः सदायतनाः सत्प्रतिष्ठाः।' छां० (६।८।४), 'तत्सृष्ट्वा तदेवानु प्राविशत् तदनुप्रविष्ट सच्चत्यञ्चाभवत् सत्यञ्चानृतञ्च सत्यमभवत्।' अर्थात् वेदविदोंका मत है कि सम्पूर्ण विज्ञान यथार्थ है। हे सौम्य! सृष्टिके पहले यह समस्त जड़ चेतन 'सत्' ही था, सूक्ष्मरूपसे जड़-चेतन दोनों तत्व विद्यमान थे। हाँ, कलियुगी वेदान्ती मायावादी अवश्य जगत्‌को असत्य कहते हैं।

श्री० श०—उत्तरमीमांसाके बौद्धमतावलंबी जगत्‌को मिथ्या कहते हैं। केवलाद्वैती व्यावहारिक दृष्टिवाले कहते हैं कि जगत् सदा एकरूप नहीं रहता, इसलिये इसे 'सत्' नही कह सकते। यह प्रत्यक्ष देख पड़ता है, इसलिये इसे शशश्रृंगकी तरह असत् भी नही कह सकते (इनके मतमें सत्य और झूठ दोनोंकी प्रबलता है। अतएव यह जगत् सत और असत् दोनोंसे विलक्षण कैसा है, यह नही कहा जा सकता। इसलिये यह अनिर्वचनीय है।

टिप्पणी—४ 'तुलसिदास परिहरै तीनि भ्रम···' इति। गोस्वामीजी अपना मत कहते हैं कि उपर्युक्त तीनों भ्रम हैं, इनके झगड़ोंमें न पड़ो, सत्य असत्य आदिके निर्णयकी आवश्यकता भवतरणके लिये नहीं है, इनके पचड़ेमें पड़ना दुर्लभ मनुष्य जीवनको व्यर्थ गँवा देना है। इन जटिल समस्याओंको, भगवान्‌के इस गोरखधंधेको न कोई सुलझा पाया है, न सुलझा पायेगा। 'अणोरणीयान् महतो महीयान्' अणुसे भी लघु और महत्पदार्थसे भी महत्तर जिसे श्रुतिभगवती बताती है, उस परब्रह्मने जो जड़-चेतन-ग्रंथि डाल दी है, जो प्रपंच अनादिकालसे रच दिया है, जिसमें बड़े-बड़े ज्ञानी-विज्ञानी उलझते चले आये हैं, आजतक अपनी-अपनी गाते आए, एक निर्णयपर कोई नहीं पहुँचा, इत्यादि;—उसको यह अणु जीव सुलझाने बैठे, यह एक हँसीकी बात है।—अतएव परमाचार्य श्रीगोस्वामीजी कहते हैं कि इन भ्रमोंमें न पड़ो। इसी तरह अन्यत्र भी कहा है—'बहुमत मुनि बहु पंथ पुराननि जहाँ तहाँ झगरो सो। गुरु कह्यो रामभजनु नीको मोहू लागत राम राज-डगरो सो। १७३।'

पं० रा० कु०—'सो आपन पहिचानै' अर्थात् "तब उसे अपना सहज-स्वरूप जान पड़ेगा। तीनों भ्रमोंका छोड़ना कैसे हो? इस तरह कि जगत्‌को राममय माने। श्रीरामजीमें तीनों भ्रमोंका प्रवेश नहीं है। रामको न असत्य कहते बने न सत्यासत्य कहते बने और न सत्य ही कहते बने क्योंकि जब असत्य है तब सत्य कहते बनता है। प्रमाण—'सीयराममय सब जग जानी', 'निज प्रभुमय देखहिं जगत०।'

ड्ड०, भ० म०—"सत्यका मानना झूठकी अपेक्षा होनेपर है, इसी तरह झूठका मानना सत्यकी अपेक्षा होनेपर है; अर्थात् सत्य या असत्य दोनोंमेंसे किसी एकको माननेसे दोनोंका होना सिद्ध होता है, द्वैतबुद्धि होती है। और जिसके मतमें सत्य असत्य दोनों है, वहाँ तो द्वैत आप ही है। जबतक द्वैत है, तबतक स्वरूप-ज्ञान नहीं। अतः कहते हैं कि 'इन तीनोंका आग्रह त्यागकर [केवल अपने स्वरूपको निश्चय जाननेसे ज्ञानका प्रकाश हो सकता है।—(ड्ड०)] परमेश्वरके सिवा दूसरी वस्तु नहीं—ऐसा निश्चय जिसका है, उसको यथार्थ स्वरूपज्ञानका प्रकाश है।"

वै०—भाव कि कर्म, ज्ञान और योग आदिके भरोसे जो पूर्व रूपकी प्राप्ति चाहते हैं सो भ्रम ही मात्र है। इनसे कुछ प्रयोजन नहीं सिद्ध होगा। अतः तीनोंको छोड़कर श्रीरघुनाथजीकी शुद्ध शरणागति ग्रहण करे तो अपना पूर्वरूप पहिचान लेगा।

सू० शुक्ल—संसारको सत्य, कोई झूठ, कोई सत्यासत्यरूप कहता है—'यद्यथा येन निर्णीतं तत्तथा तेन लक्ष्यते'; पर सिद्धान्तपक्ष तो यही है कि तीनों भ्रम मिथ्या होनेसे छोड़ देनेसे ही आत्माका साक्षात्कार होता है—'न सत्ता यस्य नासत्ता न सुखं नापि दुःखिता। केवले केवली भावो यस्यान्तरूप लभ्यते', 'अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तनासदुच्यते। गीता।' जिसकी न सत्ता, न असत्ता, न सुख, न दुःखरूपता है किन्तु अद्वितीय भाव ही केवल रहनेसे जिसकी अन्तर्ज्ञानसे प्राप्ति होती है। वह अनादि ब्रह्म न सत् कहाता है न असत्; क्योंकि परमात्मा सत्य-असत्यसे विलक्षण अनिर्वचनीय है। सत्यके साथ असत्य और असत्यके साथ सत्यकी प्रतीति होती है। जहाँ त्रैकालिक असत्य नहीं, वहाँ सत्य संज्ञाकी प्रतीति ही कहाँ? सत्य-असत्य दुःख-सुखकी संज्ञा कल्पित होनेसे मिथ्या है और यही भ्रम एक दूसरेको दृढ़ करता है। अर्थात् सत्यसे असत्यकी दृढ़ता होती है और असत्यसे सत्यकी। इसके परित्यागसे ही अपना आत्मा परमात्मा राम अखण्ड परिपूर्णरूप बंधमोक्षसे रहित प्रतीत होता है।

श्री० श०—पूर्वमीमांसावादी, उत्तरमीमांसाके बौद्धमतावलम्बी और केवलाद्वैतवादी व्यावहारिक दृष्टिवाले ये तीनों जीव-मायाको शुद्ध ब्रह्मसे भिन्न मानते हैं, इससे सत्य और झूठके झंझटमें पडे हुए हैं। यही उनका भ्रम है। ग्रन्थकार कहते है कि तीन होनेका भ्रम ही छोड़ देना चाहिए। यद्यपि तत्व तीन हैं, पर वस्तुतः वे अन्योन्य अपृथक् सिद्ध सम्बन्धकी दृष्टिसे एक ही हैं।

डाक्टर श्रीराजेन्द्रप्रसादजी चतुर्वेदी—'परिहरै तीनि भ्रम' इति।—भेद-बुद्धिकी सीमाएँ देश और काल है। जबतक देशकालकी सीमाएँ रहेंगी, तबतक तर्क-वितर्ककी स्थिति रहेगी। बुद्धिके भेद अथच संदेहके लिये स्थान रहेगा ही। संश्लिष्ट आत्माके अनुभवके लिये विश्लेषणहेतुक देश-कालका परित्याग अनिवार्य है। जबतक चेतनामें विश्लेषणहेतुक बुद्धि शेष है, तबतक अखण्ड सत्ताका परिज्ञान कैसा? इसीसे कहा है 'केसव कहि न जाइ का कहिए।'''तुलसिदास परिहरै तीनि भ्रम सो आपन पहिचाने।'

पं० रामचन्द्र शुक्लजी—इस पदमें मायावाद आदि सब दार्शनिक मतोंको अपूर्ण कहकर केवल उनके द्वारा आत्मानुभूति असंभव कही गई है। सच्ची भक्तिसे ही क्रमशः वह अवस्था प्राप्त हो सकती है, जिससे जीवका कल्याण होता है। जहाँतक समझमें आता है गोस्वामीजीका मतलब यह नहीं जान पड़ता कि ये सब मत बिल्कुल असत्य हैं। कहनेका

तात्पर्य यह समझ पड़ता है कि ये सब पूर्ण सत्य नहीं हैं—अंशतः सत्य हैं। इनमेंसे किसी एकको पूर्ण सत्य मानकर दूसरे मतोंकी उपेक्षा करनेसे सच्ची तत्वदृष्टि नहीं प्राप्त हो सकती। (वि० से उद्धृत)।

वे० शि० श्रीरामानुजाचार्यजी 'कोउ कह सत्य झूठ...' इति। नास्तिक-शिरोमणि चार्वाक जगत्को सत्य मानते हैं—'प्रत्यक्षमेकं चार्वाकाः।', 'यावज्जीवं सुखं जीवेन्नास्ति मृत्योरगोचरः॥' इत्यादि, अनेक तर्कोंसे वे जगत्को सत्य कहते हैं। निरीश्वरवादी सांख्यका भी प्रधान सत्कार्यवाद है। बुद्ध-मतमें शून्य ही तत्व है, अभाव मोक्ष है, भाव संसार है। अर्थात् ज्ञाता, ज्ञेय, ज्ञान सब क्षणिक—झूठा है।

'कोऊ जुगल प्रबल करि मानै' इति। इस पदसे मायावादी अद्वैती सत्य असत्य दोनोंको प्रबल मानते हैं। व्यवहारमे जगत् सत्य और परमार्थ (अद्वैत) ज्ञान होनेपर असत्य मानते हैं।

श्रीशंकराचार्यजीके दादा गुरु गौडपादाचार्यजीने अपने ग्रन्थमे लिखा है—'जीवेशौ विशुद्धा चित्तथा जीवे योर्भिदा अविद्या तच्चित्तोर्योगः षडस्माकमनादयः।'—जब अनादि हैं तब सत्य जरूर ही हुआ। और मण्डूकोपनिषद्के व्याख्यारूप अपनी कारिकामें वे लिखते हैं "तत्वमस्यादि वाक्येषु सम्यग्धिः जन्ममात्रतः। अविद्या सहकारित्वान्नास्ति न ह्युद्भविष्यति॥" अर्थात् तत्त्वमस्यादि महावाक्यमें सम्यक् अभेद ज्ञान प्रकट होनेपर अविद्या सह कृत जगत् न था, न है, न होगा। इत्यादि अनेक प्रमाणोंसे अद्वैत सिद्धान्तमे जगत् सत् असत्से भिन्न अनिर्वचनीय माना गया है। जितनी प्रतीतियाँ हैं सब सदसद्रूपा ही हैं। अनिर्वचनीयमें प्रमाण भी अनिर्वचनीय ही है। अर्थात् अनिर्वचनीयकी सिद्धि किसी प्रमाणसे हो नहीं सकती।

'तुलसिदास परिहरै तीनि भ्रम' इति। अर्थात् उपर्युक्त वेदबाह्य और कुदृष्टियोंके भ्रमात्मक सिद्धान्त सत्, असत् तथा अनिर्वचनीयको त्याग दे।

पद्मपुराणके उत्तर खण्डमें शंकरजी पार्वतीजीसे सात्विक, राजस और तामस सिद्धान्तका वर्णन करते हुये कहते हैं—"शृणु देवि प्रवक्ष्यामि तामसानां यथाक्रमम्। येषां श्रवणमात्रेण मोहो स्यात् ज्ञानिनामपि। प्रथमं तु मयैवोक्तं शैवं पाशुपतादिकम्। मच्छक्त्यावेशितैर्विप्रैः कथितं हि पृथक् पृथक्। धिषणेन तथा प्रोक्तं चार्वाकमति गर्हितम्। दैत्यानां मोहनार्थाय विष्णुना बुद्धरूपिणा। बौद्धं धर्ममसत् प्रोक्तं नग्ननीलपटादिकम्। मायावादमसच्छास्त्रं प्रच्छन्नं बौद्धमुच्यते। मयैव कथितं देवि कलौ ब्राह्मण-

रूपिणा। परस्य ब्रह्मणोरूपे निर्गुणं वक्ष्यते मया। जीवात्म परयोरैक्यं जगतं नाशकारणात् ॥" इत्यादि विशदरूपसे कहा गया है।*—उद्धरणके 'कलौ ब्राह्मणरूपिणा' शब्दसे श्रीशंकराचार्यजीका अवतार निर्देश किया गया है।

इस प्रकार उपर्युक्त भ्रमात्मक सिद्धान्तको त्यागकर 'भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च' 'मत्वा जुष्टस्तदा अमृतत्वमेति'† इस उपनिषद्वचनानुसार भोक्ता जीव, भोग्य माया और प्रेरक ईश्वर तीनों अनादि तत्वोंको जानकर भोक्ता जीव भोग्य मायिक-विषयासक्तिको त्यागकर प्रेरक प्रभु करुणासागर श्रीजानकीनाथको प्रीतिपूर्वक सेवन करता है, तब अमृत तत्व मोक्षको प्राप्त होता है।

कलि पावनावतार श्रीवैष्णवशिरोमणि स्वामी तुलसीदासजीके ग्रंथोंमें कलियुगीय वेदान्तियोंके सिद्धान्त मायावाद और वाक्यजन्य ज्ञानसे ही मोक्षवादका खण्डन और परमवैदिक सिद्धान्त उपासनात्मकज्ञान शब्दवाच्य भक्ति—परभक्ति, परज्ञान—परमभक्तिका ही मंडन किया है। इस विनय-पत्रिकामें भी 'वाक्य ज्ञान अत्यंत निपुन भव पार न पावै कोई' इत्यादि अनेक वचन हैं। बुद्धिमान् महानुभाव हरिभक्तोंको इतना दिग्दर्शन ही पर्याप्त है।

इस पदका संग्रहरूपसे पद्यार्थ इस प्रकार समझना चाहिए—

☞ "शून्य भित्ति बुद्धिशब्दवाच्य निराकार अन्तःकरण है। चित्र अज्ञान अर्थात् अन्यथा ज्ञान विपरीतज्ञानरूप। देहाभिमान स्वस्वातन्त्र्य-रूप हम-हमार-तम-मोह-महामोह-तामिश्र-अन्धतामिश्रादि क्लेशमय भीतरी प्रपंच है। चित्रकार संकल्पात्मक हस्तपादादिरहित अणु मन है। शब्दादि मायिक विषय रविकरनीर (मृगतृष्णा) है। उसमें अवयवशून्य काल मगर है, जो चराचर जगत्को ग्रसता है। सत्, असत् तथा दोनोंसे विलक्षण अनिर्वचनीय, वेदवाह्य भ्रमात्मक सिद्धान्त है। तीनोंको त्यागकर परम वैदिक भगवदुपासनात्मक ज्ञान, अर्थात् भक्ति शरणागतिसे प्रसन्न श्रीजानकीवल्लभके निर्हेतुक कटाक्षसे प्राप्त स्वस्वरूप-परस्वरूप-उपायस्वरूप-विरोधिस्वरूप-पुरुषार्थ फलस्वरूप-अर्थपंचकज्ञानद्वारा अपनेको पहचानना

---

* प० पु० पूना सं० २६३।२–६, वेंकटे० सं० २३६।२–६। पं० जानकीनाथ शर्मा कहते है कि 'वास्तवमे यह व्यासरचित नही है, प्रक्षिप्त है'। जो हो, दास कुछ कह नही सकता।

† 'भोक्ता भोग्यं प्रेरितारञ्च' (श्वे० १।१२), 'मत्वा जुष्टस्ततस्तेनामृतत्वमेति' (श्वे० १।६)।

है। यथा 'प्रभु पहिचानि परेउ गहि चरना। सो सुख उमा जाइ नहि बरना। ४।२।५।' अब विस्तार-भयसे लेखनीको विराम देते हैं।

श्रीसीतारामचन्द्रार्पणमस्तु।

११२ (६५)

केसव कारन कवन[1] गुसाईं[2]।

जेहि अपराध असाधु[3] जानि मोहि तजेहु[4] अज्ञ की नाईं ॥१॥

परम पुनीत संत कोमल-चित तिन्हहिं तुम्हहिं बनि आई।

तौ कत विप्र ब्याध गनिकहिं तारेहु कछु रही सगाई ॥२॥

काल कर्म गति अगति जीव कै[5] सब हरि हाथ तुम्हारें।

से[6] किछु करहु हरहु ममता मैं[7] फिरउँ न तुम्हहिं बिसारें ॥३॥

जौं तुम्ह तजहु भजौं न आन प्रभु यह प्रवान[8] पन मोरें।

मन क्रम[9] बचन नरक सुरपुर जहँ तहँ रघुबीर निहोरें ॥४॥

जद्यपि नाथ उचित न होइ[10] अस प्रभु सैं[11] करिअ[12] ढिठाई।

तुलसिदास सीदत निसिदिन देखत तुम्हारि निठुराई ॥५॥

शब्दार्थ—अज्ञ=अनजान, बिना जान-पहिचानवाला; अपरिचित। (दीनजी, भ०)। बनिआई=पटती है। कत=क्यों, किसलिये; यथा

१ कवन—६६, ह०, ड़ु०, ज०। कौन—भा०, वे०, आ०। कोन—रा०। २ गुसाईं—६६, रा०, भा०, वे०, आ०। गोसाईं—ड़ु०, ह०, ७४, १५, ज०। ३ असाधु—६६, रा०, भा०, वे०, ५१, आ०। असाध—ह०, ७४, ज०, भ० (परंतु अर्थ 'दुष्ट' किया है)। ४ तज्यो—भा०, वे०। तजेहु—६६, रा०, आ०। ५ कै—६६, भ०। के—रा०। की—प्रायः औरोंमें। ६ से किछु—६६। सो कछु—भा०, वे०, प्र०, मु०, ज०। सोइ कछु—रा०, भ०, ५१, ह०, ७४, आ०। 'से किछु' शुद्ध पाठ है। आगे भी बहुत बार आया है। ७ मैं—६६, रा० (मै), भ०। मम—भा०, वे०, ५१, ७४, आ०। मद—ह०, ज०, १५। ८ प्रवान—६६, रा०। प्रमान—प्रायः औरोंमें। ९ क्रम बचन—६६, रा०, मु०, ह०, दीन। बच क्रम—वै०, भा०, वे०। बच करम (कर्म)—वे०, भ०, वि०। १० होइ—६६, रा०, ह०, १५, भ०। होत—५१, ७४, ज०, भा०, वे०, आ०। ११ सैं—६६, भ०, रा० (सै)। सब—ह०। सो—प्रायः औरोंमें। १२ करिअ—६६, रा०, भ०, ह०। करी—आ० भा०, वे०, ५१, ७४, १५।

'तौ कत दोसु लगाइअ काहू। १।६७।७।', 'कत विधि सृजीं नारि जग माहीं। १।१०२।', 'मृगजल निरखि मरहु कत धाई। १।२४६।५।' सगाई= नातेदारी; सम्बंध। कै=की, यथा 'सब कै ममता ताग बटोरी। मम पद मनहि बाँध बरि डोरी। ५।४८।५।', 'सुनत विभीषन प्रभु कै बानी। ५।४६। ३।' इत्यादि। 'से किछु'—'से' का प्रयोग 'सो' और उसके बहुवचनरूपमें हुआ है। से=वह; वे, ऐसा; ऐसे। यथा 'द्वइत रूप तम-कूप परौं नहि से किछु जतन बिचारी। ११३ (४)।', 'अवलोकि हौं सोचबिमोचन को ठगि सी रही जे न ठगे धिक से। क० १।१।', 'ब्रह्म पियूष मधुर सीतल जौं पै मन से रस पावै। ११६।', 'जेहि के भवन बिमल चिंतामनि से कत काँच बटोरे। ११६॥—बहुत प्रयोग 'से' का तुलसीग्रन्थावलीमें हुआ है। अतः यह लेखकप्रमाद नहीं है। किछु=कुछ। यथा 'सपनेहुँ कबहुँ न करहि किछु भरत राम प्रतिकूल। २।४८।', 'एहि थलु जौं किछु कहिअ बनाई। एहि सम अधिक न अघ अधमाई। २।२११।२।', 'तब किछु कीन्ह राम रुख जानी। २।२१८।', 'जो किछु कहब थोर सखि सोई। २।२२३।२।' इत्यादि। प्रवान=प्रमाण, प्रामाणिक, सच्चा, पक्का। यथा 'सुनु सठ अस प्रवान पन मोरा। ५।१०।४।', 'जौं फुर कहहु त नाथ निज कीजिअ बचन प्रवान। २।२५६।', 'मैं पुनि करि प्रवान पितु बानी। २।६२।१।', 'अस समुझत मन संसय होई। कहा जो प्रभु प्रवान पुनि सोई। १।१५०।७।' पन=प्रण, प्रतिज्ञा। निहोरें=कारणसे; बदौलत। यथा 'तजउँ देह रघुबीर निहोरे।', 'धरउँ देह नहिं आन निहोरे'।=के लिये; निमित्त। यथा 'तुम बसीठ राजा की ओरा। साख होहु यहि भीख निहोरा।' (जायसी)। सैं=से। सीदत=गला जाता है, कष्ट पाता है।

पद्यार्थ—हे केशव! हे गोस्वामी! कौन कारण है? क्या अपराध है जिससे आपने मुझे असाधु समझकर अपरिचितकी तरह त्याग दिया।१। जो परम पवित्र और कोमल चित्तवाले सन्त हैं (यदि) उन्हींसे आपकी पटती है, तो विप्र (अजामिल), व्याध (वाल्मीकि, जरा आदि) और गणिकाको आपने क्यों तारा? क्या उनसे कुछ नातेदारी थी?।२। हे हरे! जीवके काल, कर्म, सद्‌गति और अगति (दुर्गति) सब आपके ही हाथमें हैं। ऐसा कुछ (उपाय) कीजिये, मेरा ममत्व (मैं और मोर-पना) हर लीजिये, जिससे मैं आपको भुलाये हुये भटकता न फिरूँ।३। यदि आप मुझे त्यागे देते हैं (तो भी मैं) दूसरे किसी स्वामीको न भजूँगा (अर्थात् दूसरेकी शरण नही जाऊँगा, दूसरेकी उपासना, सेवा नही करूँगा)।

यह मेरा पक्का प्रण है। स्वर्गमें, नरकमें, जहाँ भी रहूँगा वहाँ, हे रघुवीर ! मन, कर्म और वचनसे आपके ही 'निहोरे' रहूँगा* ।४। हे नाथ ! हे प्रभो ! यद्यपि यह उचित नहीं है कि प्रभुसे ऐसी धृष्टता की जाय (तथापि क्या करे) तुलसीदास (तो) आपकी निष्ठुरता देखकर दिन-रात कष्ट पा रहा है। ५।

टिप्पणी—१ (क) 'केसव कारन कवन गुसाईं' इति। केशव—१११ (१ क) देखिए। 'गुसाईं'का अर्थ स्वामी है। इसका प्रयोग शक्ति सामर्थ्य आदि जनानेमें भी होता है। यथा 'सो गोसाइँ बिधि गति जेहि छेंकी। २।२५५।८।' साधारणतः 'स्वामी' अर्थमें भी होता है। यथा 'उचित होइ तस करिय गोसाईं। २।२४८।८।', 'बिनु पूछे कछु कहउँ गोसाईं। २।२८७।७।' यहाँ इन अर्थोंके अतिरिक्त 'गुसाईं'में 'राउरि रीति सुबानि बड़ाई। जगत बिदित निगमागम गाई॥ कूर कुटिल खल कुमति कलंकी। नीच निसील निरीस निसंकी॥ तेउ सुनि सरन सामुहें आए। सकृत प्रनाम किहें अपनाए॥ देखि दोष कबहुँ न उर आने। सुनि गुन साधु समाज बखाने॥ को साहिब सेवकहि नेवाजी। आपु समान साज सब साजी॥ निज करतूति न समुझिअ सपनें। सेवक सकुच सोच उर अपनें॥ सो गोसाइँ नहिं दूसर कोपी। भुजा उठाइ कहउँ पन रोपी। २।२९८।', यह जो भक्तशिरोमणि श्रीभरतजीने प्रतिज्ञापूर्वक कहा है वही भाव है। अर्थात् आप तो ऐसे समर्थ, सुशील, शरणागत हितकारी, अघ-अवगुणहारी, इत्यादि हैं; तब तो कोई कारण त्याग करनेका समझमें नहीं आता।

'कारन'से यहाँ 'अपराध'का भाव ग्रहण होगा, क्योंकि उत्तरार्धमें 'जेहि अपराध' कहा है। केशव—४६ (श०; पाद-टि०) भी देखिए।

१ (ख) 'जेहि अपराध असाधु जानि…' इति। साधुसे अपराध नहीं होते। अपराध होनेसे असाधु जाना। 'अज्ञकी नाईं'में भाव कि अनजान-का, अपरिचितका लोग त्याग करते हैं; वैसेही मुझे त्याग दिया, पर मैं

---

* अर्थान्तर—(१) यही मानूँगा कि आपकी ही आज्ञासे मैं यहाँ हूँ। (पं० रा० कु०)। (२) दूसरेकी प्रेरणा न मानूँगा। (वीर)। (३) वहाँ मैं तुम्हारी ही विनती करता रहूँगा। (जो स्वर्गमें कोई पूछेगा कि तू कौन है तो यही कह दूँगा कि रामजीका सेवक हूँ, उनकी ही कृपासे स्वर्ग भोगने आया हूँ और जो नरकमें भेजोगे तो वहाँ भी कह दूँगा कि भगवान्‌का भेजा हुआ आया हूँ, परन्तु इसमें तुम्हारी बदनामी होगी)। (वै०, भ०, वि०, प्रो०)। (४) वहाँ केवल रघुवीरसे सबंध रखकर रहूँगा। (-दीन)। (५) वहाँ ही (तुम्हारा ही) निहोरा है। (सू० शु०)।

अपरिचित नहीं हूँ; मेरी आपसे पुरानी जानपहचान है, यथा 'तुलसी तोसों राम सों कछु नई न जान पहिचानि । १६३ ।' 'की नाईं'का भाव है कि अज्ञ नहीं हूँ, पर आपने अज्ञकी तरह त्यागा है । पुनः भाव कि आप विज्ञ हैं, सुजानशिरोमणि हैं, औरोंका उद्धार करनेमें आप विज्ञ रहे और मेरी वार अज्ञ बन गए कि मैं बिनती करता चला जाता हूँ, आप सुनते ही नहीं ।

टिप्पणी—२ 'परम पुनीत संत···' इति । यदि आप कहें कि हमारी तो सन्तोंसे ही पटती है जो परमपवित्र और कोमलचित होते हैं । तात्पर्य कि जो अपुनीत हैं, कठोरचित हैं, असाधु हैं, उनसे हम संबंध नहीं रखते, उनको ग्रहण नहीं करते, तो उसपर कहते हैं—'तौ कत बिप्र ब्याध गनि-कहि तारेहु ' । अर्थात् विप्रबंधु अजामिल, व्याध वाल्मीकि आदि और गणिकामेंसे कोई भी तो पुनीत, कोमलचित और साधु न थे, सभी महा-पापी, अपावन, कठोरचित और असाधु थे, इनको क्यों तारा ? 'कछु रही सगाई'का भाव कि ये पुनीत आदि न थे, इससे तारने योग्य न सही, पर नातेदार थे इससे तारा, यह आप कहें तो मैं पूछता हूँ कि इनसे क्या नाता था ? इस अन्तरेका भाव यह है कि यदि मैं जानता कि आप सन्तों या नातेदारोंका ही उद्धार करते हैं और विप्र-व्याध-गणिका आपके नातेदार हैं, तो मैं विनती ही क्यों करता ? यदि इनसे पतित-पतितपावन छोड़ दूसरा नाता नहीं है, तो मेरा भी तो वही नाता है, तब मेरा उद्धार क्यों नहीं करते ? ☞ गोस्वामीजी अपनेको पतितोंकी ही पंगतिका अधिकारी यहाँ भी कह रहे हैं । अजामिल—५७ ३ झ); व्याध—५७ (३ च), ६४ (३ घ); गणिका—६४ (३ ख) देखिए ।

टिप्पणी—३ 'काल कर्म गति ··' इति । (क) श्रीरामजी ही काल कर्मादिके कर्त्ता हैं; यथा 'माया जीव कालके करमके सुभावके करैया राम वेद कहैं साँची मन गुनिए । बाहुक ।' अतएव ये सब आपके ही हाथमें हैं । आपही इन सबकी व्यवस्था करते हैं, सब आपकी आज्ञाके अनुसार चलते हैं । यथा 'माया जीव करम कुलि काला ॥ ' राम रजाइ सीस सबही कें' । २।२५४।६,८ ।' जब ऐसा है तब कहिए 'तुम्ह से कहा न होइ, हा हा सो बुझैए मोहि ।' (बाहुक) । पुनः भाव कि जीव काल-कर्म-स्वभाव-गुणके-वशमें होनेसे भवप्रवाहमें पड़ा है और आप 'काल करम सुभाउ गुन भच्छक ॥ तारन तरन हरन सब दूषन' हैं; इस तरह जीवकी गति तथा अगति आपके अधिकारमें है । इस अपने ऐश्वर्यको विचारकर मेरी विनती सुनिए ।

[पुनः भाव कि दुर्गति होनेवाले जीवोंके कालकर्मप्रभावको मिटाकर आप शुभगति देते हैं। जैसे—विप्रबालककी अकाल मृत्यु हुई, आपने उसे जिला दिया। रावणने तपसे कालको वश कर रक्खा था, सो उसको आपने कालवश कर दिया, फिर वह महापापी कल्पान्त नरकका भागी था सो उसे मुक्ति दी। इत्यादि। वैसे ही मैं भी महापापी हूँ, शरणमें आया हूँ। आप अपनी विरुदावलीका स्मरण कीजिए। (वै०)]

३ (ख) 'से किछु करहु···' इति। भाव यह कि काल कर्म गति अगति जब सब आपके हाथ है तब आपके सिवा जीवकी क्या सामर्थ्य है कि अपनी बिगड़ीको बना ले। आगे भी कहा है–'मेरी न बनै बनाये मेरे कोटि कल्प लौं राम रावरे बनाये बनै पल पाउ में। २६१।' अतः प्रार्थना है कि आपही कोई उपाय कर दीजिए।

३ (ग) 'हरहु ममता, मैं फिरउँ न··' इति। इस कथनसे पाया गया कि जीव देह-गेह-ममतासे प्रभुको भूल जाता है, अर्थात् उनसे विमुख हो जाता है जिससे उसे इस शरीरमें भी मारे-मारे फिरना पड़ता है और फिर वह अनेक योनियोंमें भी भ्रमता रहता है। इसीसे ममत्वके त्यागका उपदेश यत्र-तत्र मिलता है। १०८ (३ घ) 'ममता वलि देहु'में देखिए। जब सांसारिक देह-गेह संबंधी ममत्व इधरसे हटकर प्रभुमें हो जाता है, तब प्रभुका ही स्मरण चिन्तन आदि होने लगता है, जिससे जीव अनायास भवपार हो जाता है। यथा 'जौं विनु जोग जज्ञ व्रत संजम गयो चहहि भव-पारहि। तौं जिनि तुलसिदास निसि वासर हरि पद कमल विसारहि।८५।' अतः प्रभुका विस्मरण न होनेके लिये ममत्वको मिटानेकी प्रार्थना की।

टिप्पणी—४ 'जौं तुम्ह तजहु ···' इति। (क) इसी प्रकार पद १७७ में कहा है—'जौ तुम्ह त्यागो राम हौं तो नहि त्यागों।' 'भजौं न आन प्रभु' में पद १७७ के 'परिहरि पायँ काहि अनुरागों।। सुखद सुप्रभु तुम्ह सों जग माहीं। श्रवन नयन मन गोचर नाहीं।।' का भाव है। अर्थात् आपके समान दूसरा कोई है ही नहीं, तब जाऊँगा कहाँ। यह 'प्रभु' शब्दसे सूचित किया। इसीसे मैंने प्रण कर लिया है कि मैं दूसरेको अपना स्वामी नहीं बनानेका!—भाव कि 'बनै तो रघुवरसे बनै, बिगरै तो भरिपूरि। तुलसी बनै जो और ते ता बनिबे पै धूरि।', 'ईस न गनेस न दिनेसु न धनेसु न, सुरेस सुर गौरि गिरापति नहि जपने। क० ७।७८।'

४ (ख) 'मन क्रम बचन नरक··' इति। कविने 'निहोरा'का प्रयोग भिन्न-भिन्न स्थानोंमें भिन्न-भिन्न अर्थमें किया है। यथा 'सो कछु देव न

मोहि निहोरा। निज पन राखेउ जनमन चोरा।', 'पुरजन परिजन सकल निहोरी। तात सुनायेहु बिनती मोरी।', 'नाक सँवारत आयो हौं नाकहि नाही पिनाकहिं नेकु निहोरो।', 'मैं अपनी दिसि कीन्ह निहोरा।' इत्यादि। इस प्रकार ये अर्थ होते हैं—अनुग्रह, उपकार, एहसान, प्रार्थना वा बिनती; भरोसा, आश्रय, आसरा। दो अर्थ ऊपर शब्दार्थमें दिये जा चुके हैं। टीकाकारोंके अर्थ पद्यार्थकी पाद-टिप्पणीमें दिये जा चुके हैं। इस दीनकी समझमे 'रघुवीर निहोरें'का अर्थ 'रघुवीरके ही आश्रय या भरोसे' तथा 'रघुवीरके लिये ही' विशेष उपयुक्त है। भाव यह कि चाहे नरकमें रहना पड़े चाहे स्वर्गमें, मैं मन, वचन, कर्मसे वहाँ भी आपके आश्रय तथा आपके लिये ही रहूँगा, दूसरेका आश्रय कभी न लूँगा, आपका ही होकर रहूँगा। मिलान कीजिए—'राउर बदि भल भव दुख दाहू। प्रभु बिनु बादि परमपद लाहू। २।३१४।२।', 'खेलिवे को खग मृग तरु किंकर ह्वै रावरो राम हौं रहिहौं। एहि नातें नरकहुँ सचु या बिनु परमपदहु दुख दहिहौं। २३१।'

टिप्पणी—५ 'जद्यपि नाथ उचित न···' इति। (क) इस कथनसे जनाया कि ऊपर जो कहा है कि 'क्या कारण है जो मुझे अज्ञकी नाईं त्याग दिया? क्या अजामिल आदिसे आपसे कुछ नातेदारी थी? जहाँ भी जाऊँगा तुम्हारे ही निहोरे रहूँगा'—ऐसा कहना अनुचित था। यह सब धृष्टता है। स्वामीका संकोच न करना, सुजान सुसाहिबसे बहुत कुछ कहना, यह दोष है, धृष्टता है। यथा 'नाथ निपट मैं कीन्हि ढिठाई। स्वामि समाज सकोच बिहाई॥ अबिनय बिनय जथा रुचि बानी। छमिहि देउ अति आरति जानी॥ सुहृद सुजान सुसाहिबहि बहुत कहब बड़ि खोरि। २।३००।'—इस नम्रतामें, इस अपने दोषके कथनमे भाव यह भी है कि आप मेरी इस धृष्टताको क्षमा करें। इस धृष्टताका कारण आगे कहते हैं।

[वैजनाथजी इसका एक अर्थ इस प्रकार करते हैं—"सेवक होकर स्वामीके सम्मुख वार्ता करना उचित नहीं है, तथापि कारण पाकर सेवक स्वामीसे इस प्रकार बात करता भी है। (जैसे श्रीकृष्णजीने प्रतिज्ञा की कि हम महाभारतमें अस्त्र न लेंगे, उसपर भीष्मपितामहने कहा कि हम भगवान्‌को हाथमें अस्त्र उठवाकर छोड़ेंगे। पुनः, देवोंकी सहायताके लिये जब भगवान् बलिके सम्मुख आए, तब प्रह्लाद अस्त्र ले भगवान्‌से युद्ध करनेको खड़े हो गए। भगवान्‌को लौट जाना पड़ा और फिर वामन बनकर भीख माँगनी पड़ी। वै०)।" पं० रामकुमारजी अर्थ करते हैं कि "यद्यपि प्रभुसे ऐसा कहना उचित नहीं है पर मैं ढिठाई करता हूँ। उस ढिठाईका कारण आगे कहते हैं।"]

५ (ख) 'तुलसिदास सीदत···' इति। आप मेरे लिये निठुर हो गए हैं, यह देखकर दिनरात मैं दुःखी रहता हूँ, गला जाता हूँ। अर्थात् अत्यन्त आर्त हूँ; इसीसे मैं ढिठाई कर बैठा। अतएव इसका आप बुरा न मानें, इसे क्षमा करें। इसी तरह श्रीहनुमान्‌जीको पद ३२, ३३ में कविने कड़े वचन कहे और 'तुकार' और 'रे' से संबोधित किया, फिर पद ३४ में अपनी भूलके लिये क्षमा माँगी है। यथा "अति आरत अति स्वारथी अति दीन दुखारी। इनको बिलगु न मानिये बोलहि न बिचारी॥···नाकहि आये नाथ सों साँसति भय भारी। कहि आयो कीबी छमा निज ओर निहारी॥"

निठुरता यह है कि सब अधमोंको कृतार्थ किया और हमारी बार चुप साध ली। (पं० रा० कु०)।

सू० शुक्ल–"पदका तात्पर्य यह है कि जैसे अति बालदशामें बालक माताके सिवा दूसरी शरण नहीं देखता और परम उत्कण्ठासे उचित अनुचित कहके प्रीतिपूर्वक निर्वाह करता है, ऐसे ही सर्वत्रकी प्रीति और विश्वास एक भगवान्‌की ही शरणमें लगाके निर्वाह करे तो अवश्य कल्याण होता है।"

श्रीसीतारामचन्द्रार्पणमस्तु।

११३ (६४) राग रामकरी

माधव अब न द्रवहु केहि लेखें।
प्रनतपाल पन तोर मोर पन जिअउँ कमलपद देखें।१।
जब लगि मैं न दीन दयाल तैं, मैं न दास, तैं*स्वामी।
तब लगि जे[2] दुख सहेउँ कहेउँ नहिं जद्यपि अंतरजामी।२।
तैं उदार मैं कृपन[3] पतित मैं तैं पुनीत श्रुति गावै।
बहुत नात रघुनाथ तोहिं मोहिं, अब न तजें बनि आवै।३।
तैं[†]जनक जननि गुरु बंधु सुहृद पति सब प्रकार हितकारी।
द्वैत रूप तम-कूप परौं नहि से[5] किछु जतन बिचारी।४।

---

* १६६६ की प्रतिमे 'तैं न स्वामी' पाठ है, परन्तु अन्य किसीमे 'न' नही है और न इसकी आवश्यकता जान पड़ती है। २ जे—६६, रा०, प्र०, १५, ज०, भ०। जो—भा०, वे०, ह०, ७४, ५१, आ०। ३ कृपन—६६, रा०, आ०। कृपिन—भा०, वे०, ७४। कृपिनि–ह०, ज०, १५। † तैं—६६, रा० (तै), १५ ('तैं' पाठ था, उसपर हरताल लगाया है), भ०। ह०, ५१, ज०, ७४, आ० मे 'तैं' नही है। ५ से किछु—६६, रा०। सो कछु—भा०, वे०, प्र०, ह०, ज०, १५। अस कछु–५१, भ०, ७४, आ०।

सुनु अदभ्र-करुना बारिज-लोचन मोचन भय भारी।
तुलसिदास प्रभु तव प्रकास बिनु संसय टरै[६] न टारी।५।

शब्दार्थ—केहि लेखें=किस कारणसे; क्या विचारकर। जे='जो' का बहुवचन। कृपन (कृपण)=सूम, कंजूस, कदर्य।=अजितेन्द्रिय; यथा 'कृपणो योऽजितेन्द्रियः। भा० ११।१६।४४।' बन आना=बन पड़ना, काम चलना, पूरा पड़ना। द्वइत=द्वैत।—विशेष टिप्पणीमें देखिए। कूप=कुआँ। से किछु=ऐसा कुछ। ११२ (श०) 'से किछु करहु हरहु ममता मैं फिरउँ न तुम्हहि बिसारें।' में देखिए। बिचारी=बिचारिये; सोचिए। अदभ्र=अनन्त अपार, समूह। यथा 'अगुन अदभ्र गिरा गोतीता।७।७२।५।', 'वेदगर्भार्भकादभ्रगुणगर्व अर्वागपर गर्व निर्वापकर्त्ता। ५४ (७)।', 'प्रभूतं प्रचुरं प्राज्यमदभ्रं बहुलं बहु' इत्यमरः।

पदार्थ—हे माधव! अब किस विचारसे, किस कारणसे, आप नहीं पसीजते (अर्थात् दया नहीं करते)? आपका प्रण है 'प्रणतका पालन करना' और 'आपके चरणकमलोंको देखते हुये ही जीवित रहूँ'—यह मेरा प्रण है। १। जबतक मैं दीन नहीं आप दयाल नहीं, मैं दास नहीं आप स्वामी नहीं हुए (अर्थात् मुझमें और आपमें दीन और दयाल, सेवक और स्वामीका नाता नहीं हुआ), तबतक जो-जो दुःख मैंने सहे, आपसे कहे नही, यद्यपि आप अन्तर्यामी हैं। २। (परन्तु) आप उदार (श्रेष्ठ महादानी) हैं और मैं कृपण हूँ, मैं पतित हूँ और आप पुनीत हैं—वेद ऐसा कहते हैं। (अब तो) श्रीरघुनाथजी! बहुत नाते आपसे मुझसे हैं। आप मेरे पिता, माता, गुरु, भाई-बंधु, मित्र, स्वामी तथा सभी प्रकारसे हित करनेवाले हैं। (अतः) अब त्याग करनेसे न बन पड़ेगा। (अब तो) ऐसा कोई उपाय सोचिए कि मैं द्वैत (निज-पर-बुद्धि) रूपी अंधकूप में न पड़ूँ। ३-४। हे अपार करुणावाले! हे कमलनयन! हे भारी भयके छुड़ानेवाले! हे तुलसीदासके स्वामी! सुनिए, आपके प्रकाशके बिना (हृदय का) संशय टाले नहीं टल सकता। ४।

टिप्पणी—१ 'माधव अब न द्रवहु···' इति। (क) पिछले दो पदोंमें ऐश्वर्यभावसे अर्थात् ब्रह्मा और शिवके उत्पन्न करनेवाले 'केशव' नामसे स्तुति की थी—'केसव कहि न जाइ का कहिये', 'केसव कारन कवन

६ टरत—ह०, छ०, वै०, वि०। टरै—प्राय: और सबोंमे।

गुसाईं'। इसीसे वहाँ 'हरि', 'गुसाईं', 'नाथ' और 'प्रभु' संबोधित किया है। अब माधुर्यमें प्रार्थना करते हैं, अतः 'माधव' संबोधित किया। इस पदमें 'तोर', 'तैं', आदिका प्रयोग किया है।

[श्रीकान्तशरणजीका मत है कि "माधव' पदसे भगवान्‌को उनकी उस प्रतिज्ञाका स्मरण कराते हैं जो उन्होंने दुर्वासाके समक्ष की थी; यथा 'नाहमात्मानमाशासे मद्भक्तैः साधुभिर्विना। श्रियं चात्यन्तकीं ब्रह्मन् येषां गतिरहं परा।भा०६।४।६४।' अर्थात् जिन्होंने मुझेही अपनी परमगति मानकर सबको त्याग दिया है, उन अपने परम शुद्ध साधुओंके समक्ष मैं अपनेको और प्यारी लक्ष्मीको भी तुच्छ समझता हूँ।"]

१ (ख) 'अब'का भाव कि पूर्व आपने कृपा की-थी, यथा 'खोटे खोटे आचरन आचरत अपनायो अंजनीकुमार, सोध्यो राम पानि पाक हौं। तुलसी गुसाईं भयो ··', 'तुलसी अनाथ सो सनाथ रघुनाथ कियो, दियो फल सीलसिंधु आपने सुभायको।' (बाहुक ४०, ४१); अब क्यों नहीं पसीजते ? क्या रिसा गए हैं ? यथा 'छारतें सँवारिकै पहारहूते भारी कियो, गारो भयो पंचमें पुनीत पच्छु पाइकै ॥ हौं तो जैसो तब तैसो अब अधमाई कै-कै पेट भरौं राम रावरोई गुन गाइकै। आपने निवाजे की पै कीजै लाज महाराज मेरी ओर हेरि कै न बैठिए रिसाइकै। क०७।६१।' पुनः 'अब'का संबंध उत्तरार्धसे भी है। अर्थात् जब कि आपका प्रण है 'प्रणतका पालन करना' और मैं प्रणत हूँ, तब आप क्यों नहीं कृपा करते ?

१ (ग) 'न द्रवहु केहि लेखें' इति। पिछले पदमें प्रश्न किया था कि किस कारणसे मुझे त्याग दिया और अब पूछते हैं कि कृपा क्यों नहीं करते ? 'केहि लेखें' से जनाया कि मेरी समझमें तो कोई कारण नहीं दिखाई देता।

१ (घ) 'प्रनतपाल पन तोर'—प्रणतपाल आपका प्रण है। यथा 'पाँउ रोपि सब मिलि मोहि घाला। प्रनतपाल पन आपन पाला।२।२६७।४।', 'प्रनतपाल विरुदावली सुनि जानि बिसारी।१४८।', 'सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते। अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं मम। (वाल्मी.)।' (श्लोक कई बार आ चुका है।

१ (ङ) 'जिअउँ कमलपद देखें'—यह 'मोर पन' है। अर्थात् बिना पदारविन्दके दर्शनके मैं जी नहीं सकता, आपकी चरणशरणागति ही मेरा आधार है, इन चरणोंको छोड़ मेरा कोई आश्रय नही है। इससे अपना अनन्यगतिकत्व सूचित किया। व्यंग्यसे जनाया कि मैं अपने प्रणमें दृढ़ हूँ, आपको भी अपने प्रणका पालन करना चाहिए।

टिप्पणी—२ 'जब लगि मैं न दीन''' इति। भाव कि यदि कोई दीन होकर आवे तो भगवान् उसपर दया करते हैं, सेवक बने तो वे स्वामी बने बनाये हैं, पर मैं दीन वना ही नहीं और न आपका सेवक बना वरन् दूसरोंका दास बना रहा। अतएव मुझे अधिकार ही न था कि मैं आपसे मुझपर दया तथा मेरी रक्षा करनेको कहता। इसीलिये मैंने कभी कुछ न कहा और जो भी दुःख पड़े सहता रहा।

'जद्यपि अंतरजामी' का भाव कि आप सबके हृदयकी जानते हैं, अतः यह भी जानते थे कि यह दुःख सह रहा है। आप अपनी अहैतुकी कृपासे चाहते तो मेरा दुःख दूर कर देते। पर आपने दुःख दूर न किया और मैं अनधिकार चेष्टा न कर सका।

टिप्पणी—३ 'तैं उदार मैं कृपन'' ' इति। भाव कि जबतक आपसे कोई सम्बन्ध न था तबतक मैंने कुछ न कहा था, किन्तु अब तो मेरे आपसे बहुत नाते हैं। नातेदार अपने नातेदार के दुःखमें सहायक होते हैं, उसे छोड़ नहीं देते। यह तो प्राकृत लोगोंकी बात है और आप तो 'रघुनाथ' जीवमात्रके नाथ) हैं, तब मुझ नातेदारका त्याग कैसे कर सकते हैं? अब त्याग करते न बन पड़ेगा, त्याग करनेसे पूरा न पड़ेगा। भाव कि आपकी विरुदावली झूठी पड़ जायगी, अपकीर्ति होगी यदि त्याग देंगे।

[तुम प्रणतपाल हो, दयाल हो, स्वामी हो, उदार और पुनीत हो और मैं प्रणत हूँ, दीन हूँ, सेवक हूँ, कृपण और पतित हूँ। ये पाँच सम्बन्ध सनातन हैं। मैं ही ऐसा नही कहता, भगवती श्रुति जो आपका रूप है वही ऐसा कहती है। (भ. स.)]

४ (क) क्या नाते हैं सो बताते हैं। आप उदार हैं, मैं कृपण हूँ—यह उदार-कृपणका नाता। इसी तरह पुनीत-पतित, जनक-जननि और पुत्र, गुरु-शिष्य, बन्धु, सुहृद, स्वामी-सेवकका नाता, इत्यादि बहुत नाते हैं। कुछ मैंने गिना दिये, ऐसेही और भी समझ लीजिए। जीवके भगवान्से बहुत नाते हैं। तुलसीदासजीने अपने नाते पूर्व भी गिनाये हैं।—७६ (४ ख), ७६ (३ ग), ७६ (१) नोट २ देखिए। क. ७।३६ में भी कहा है—'राम हैं मातु पिता गुरु बंधु औ संगी सखा सुत स्वामि सनेही।'

[श्रीरामजीसे जीवके अनेक नाते हैं। जैसे कि शेषी-शेष, पिता-पुत्र, पति-पत्नी, नियामक-नियम्य, आधार-आधेय, सेव्य-सेवक, अंशी-अंश इत्यादि। अपने ये यावत् सम्बन्ध हैं, इन्हें मैं जबतक भूला रहा तबतक आपको मेरा त्याग बन पड़ता था, पर अब अपने सम्बन्ध जान शरणमें

आया हूँ, इससे अब त्याग न बन पडेगा, विरुदावलीमें दाग लग जायगा। अतः शरणमें रखिए (वै०)]

४ (ख) 'सब प्रकार हितकारी'—भाव कि संसारमें माता, पिता, गुरु, बंधु, मित्र, स्वामी आदि सब अपने पुत्र, शिष्य और बंधु आदिका हित करते हैं, पर मेरे माता-पिता आदि सब आपही हैं, अतः आप सब प्रकारसे मेरा हित करें। क्या हित चाहते हैं यह आगे कहते हैं।

४ (ग) 'द्वइत रूप तम कूप परौं नहिं' इति तम कूप = अन्धकूप। जिस कुएँका जल सूख गया हो और जो घास-पातसे ढका हो तथा जिसमें अँधेरा हो उसे अंधकूप कहते हैं। 'द्वैत' बुद्धि को अंधकूप कहा। क्योंकि द्वैत अज्ञानसे होता है, यथा 'क्रोध कि द्वैतबुद्धि बिनु, द्वैत कि बिनु अज्ञान।७।१११।' अज्ञान तमोगुणका फल है ही, यथा 'अज्ञानं तमसः फलम्। गीता १४।१६।' अतः द्वैतका 'तमकूप' से रूपक सार्थक है।

अपनेसे पृथक् दूसरेको मानना अर्थात् मैं एक व्यक्ति हूँ और यह या वह मुझसे भिन्न दूसरा व्यक्ति है, ऐसा मानना 'द्वैत'-बुद्धि है। ज्ञानका लक्षण है--'देख ब्रह्म समान सब माहीं'। ज्ञानी अपने प्रभुको चराचरमें देखता है, मेरे प्रभु सबमें है, मैं सबका सेवक हूँ। इसके विपरीत जीव-जीवमें वैषम्य देखना, सबमें एकमात्र अपने प्रभुको रमण करते न देखना, किसीको मित्र किसीको शत्रु मानना; समस्त जगत् तथा जीवोंको भगवान्‌का शरीर, सबको चिदचिद्विशिष्ट ब्रह्म न मानकर उनसे वैमनस्य रखना, मैं-मेरा, तू-तेरा भाव इत्यादि सृष्टिमें नानात्वदृष्टिका होना ही 'द्वैत' है। यह अज्ञान है। इस द्वैतबुद्धिके रहते जगजालसे छुटकारा नहीं होनेका, इसीसे प्रार्थना करते हैं कि मैं इस अज्ञान अन्धकूपमें न पड़ूँ। मिलान कीजिए—'द्वइज द्वैत-मति छाँड़ि चरहि महिमंडल धीर। बिगत मोह माया मद हृदय बसत रघुबीर।''चौदसि चौदह भुवन चर-अचररूप गोपाल। भेद गए बिनु रघुपति अति न हरहिं जगजाल॥२०३।' द्वैतही संसृतिका कारण है, यथा 'जौं निज मन परिहरै बिकारा। तौ कत द्वैतजनित संसृति दुख संसय सोक अपारा॥ सत्रु मित्र मध्यस्थ तीनि एइ मन कीन्हें बरिआईं। त्यागब ग्रहब उपेछनीय तृन अहि हाटककी नाईं।१२४।'

श्रीमद्भागवतमें भगवान्‌ने उद्धवजीसे बताया है कि समस्त संसार एकही प्रकृति और पुरुषका रूप है। द्वैतके चक्करमें पड़ जानेवाला पुरुष (शीघ्रही ज्ञान-निष्ठारूप) अपने स्वार्थपथसे भ्रष्ट हो जाता है। नानात्व-दृष्टि भेदबुद्धिवाला पुरुष विक्षेप और लयको प्राप्त होता है। यथा 'विश्वमे-

कात्मकं पश्यन्प्रकृत्या पुरुषेण च ॥ भा. ११।२८।१।'''स आशु भ्रश्यते स्वार्थाद्सत्यऽभिनिवेशतः ॥२। मायां प्राप्नोति मृत्युं वा तद्वन्नानार्थदृक् पुमान् ॥३।'

पुनः, 'द्वइतरूप तमकूप' इति। 'अनात्मन्यात्मबुद्धिर्या अस्वे स्व इति (चास्वे स्वमिति) या मतिः। अविद्या-(संसार)-तरुसम्भूति बीजमेतद्द्विधा स्थितम् ॥ वि. पु. ६।७।११।', इस प्रमाणानुसार देहात्माभिमान और स्वस्वातन्त्र्य अर्थात् हम हमार यही अँधेरा कुआँ है। इसमे गिरकर जीव नष्ट हो जाता है। यह अविद्या दो प्रकारकी है—अनात्ममें आत्मबुद्धि और जो अपना नहीं है उसे अपना मानना।

४ (घ) 'से किछु हृदय बिचारी' इति। इस कथनसे स्पष्ट करते हैं कि मैं (जीव) कभी भी अपने किसी प्रयत्नसे द्वैतरूप अंधकूपसे बाहर निकल नहीं सकता, इस कुएँमें गिरे नहीं,—यह भी जीवकी सामर्थ्यके बाहरकी बात है। आपही कृपा करुणा करें तभी यह उसमें गिरनेसे बच सकता है। अतः, आप कोई यत्न ऐसा विचारकर करें जिससे द्वैतबुद्धि न होने पावे, मैं सर्वत्र आपको ही देखूँ, मेरी तथा जगत्मात्रकी सत्ता आपकी ही सत्तासे है,—यह बुद्धि मेरी हो जाय।

टिप्पणी-५ 'सुनु अदभ्र करुना···' इति। (क) भाव कि आपकी करुणा-दृष्टिसे भारी भय दूर होता है। यथा 'भए सभीत सकल कपि जाने···कृपा दृष्टि कपि भालु बिलोके। भए प्रबल रन रहहि न रोके।६।५१।' अदभ्रकरुना, बारिजलोचन और भयमोचनके क्रमका भाव कि भारी करुणा आनेपर राजीवलोचनमें जल भर जाता है, इसीसे यहाँ कमलका 'बारिज' नाम दिया जिसमें करुणाके पश्चात् 'बारि' शब्द आगया। तब भय छुड़ाना होता है। यथा 'निमिष निमिष करुनानिधि जाहि कलप सम बीति।' यह सुनते ही करुणानिधिके 'भरि आए जल राजिव नयना', और उन्होंने श्रीसीताजीके दुःख छुटानेका तुरंत उपाय किया। यथा 'तब रघुपति कपिपतिहि बोलावा। कहा चलै कर करहु बनावा ॥ अब बिलंब केहि कारन कीजे।' (५।३१;३४)। वियोगीजी लिखते हैं कि 'करुना' शब्दके साथ 'बारिज' का मेल बड़ा ही युक्तियुक्त है। करुणा जलरूप है, रसमय है। इधर 'बारिज' की उत्पत्ति भी जलसे है, वह रसमय और कान्त है।

५ (ख) 'तव प्रकास बिनु संसय टरै न टारी' इति। दो या कई बातोंमेंसे किसी एकका भी मनमें न बैठना 'संशय' कहलाता है। संशयात्माका नाश होता है। भगवान् संशयहरण हैं, यह पूर्व कह आये हैं; यथा 'दास तुलसी चरन सरन संसयहरन देहि अवलंब वैदेहि भर्ता।४४।' वहाँ वैराग्य

विज्ञान बारानिधे' संबोधितकर संशयहरणकी प्रार्थना की थी, अर्थात् ज्ञान और वैराग्य माँगा था जिससे संशय दूर होते हैं। अपने विषयके ज्ञान रूप प्रकाशमय दीपकके द्वारा भगवान् शरणागतके हृदयके अज्ञानको दूर करते हैं, यह पूर्व ६४ (४ ख) 'अति प्रबल मोहतम मार्तंड' की टिप्पणीमें बताया जा चुका है। वह प्रकाश अभीतक प्राप्त नहीं हुआ और बिना हृदयमें प्रकाश हुये द्वैतरूप तमकूपसे (जो भवमें डालनेवाला है) निकलना असंभव है। यथा 'जब लगि नहि निज हृदि प्रकास अरु विषय आस मन माहीं। तुलसिदास तब लगि जग जोनि भ्रमत सपनेहुँ सुख नाही।१२३।', अतएव संशय हरणके लिये प्रकाशकी प्रार्थना है। 'संशय' क्या है, इसपर ४४ (६ ग), ४७ (३ भ) १०८ (३ ख) तथा 'त्रिविध ताप संदेह सोक संसय भय हारी। १०६ (१)।' देखिए। यहां 'द्वैतरूप तमकूप परौं नहिं' से अपना संशय जना दिया। यही संशय करानेवाला है। यथा 'तौ कहौं द्वैतजनित संसृति दुख संसय सोक अपारा।१२४।'

आपके प्रकाश बिना 'टरै न टारे' से जनाया कि किसी साधनसे यह दूर नही हो सकता, एकमात्र आपकी कृपासे ही यह संभव है, अन्यथा नहीं।

[बैजनाथजी अर्थ करते हैं कि 'बिना आपके रूपका प्रकाश हृदयमें आए संसारकी सचाईका जो संशय है वह कर्म-योग-ज्ञानादिके बलसे किसीके टाले नहीं टलता।']

सू० शुक्लजी—'प्रणत, सेवक, दुःखित, अज्ञानी, दरिद्री, पापी, यथार्थमें जीवका यही स्वरूप है और प्रणतपाल, स्वामी. कृपाल, अन्तर्यामी, दानी, पवित्र आदि गुण परमात्मामें हैं। जब जीवात्मा अपने दोष तथा परमात्माके गुण जान लेता है और अनन्य शरण होकर परमात्मासे ही अपने उद्धार होनेका भरोसा करता है, तो अवश्य भगवान् सहायक हो कल्याण करते हैं "।

श्रीसीतारामचन्द्रार्पणमस्तु।

११४ (७७)

माधो[1] मोहि[2] समान जग माहीं।
सब बिधि हीन 'जो दीन मलिन'[3] अति[4] लीन विषय कोउ नाहीं।१।

१ माधो—६६, ज०। माधव—प्रायः अन्य सभीमे। २ मोहि—६६, रा०, ह०, भा०, वे०, ज०, १५, भ०। मो—५१, ७४, आ०। ३ जो दीन मलिन—६६, रा०, ह०, १५, भा०, ज०, वे०। जु दीन मलिन—भ०। हीन दीन मलीन—डु०। हीन मलीन दोन—वै०, मु०, दीन, वि०। ४ मति—ह०।

तुम्ह सो[५] हेतु-रहित कृपालु आरतहित ईस[६] न त्यागी।
मैं दुख सोक बिकल कृपाल केहि कारन दया न लागी।२।
नाहिंन कछु[७] औगुन तुम्हार अपराध मोर मैं माना।
ज्ञानभवन तन दिहेहु[८] नाथ सोउ[९] पाय*[१०] न मैं प्रभु जाना।३।
बेनु करिल[११] श्रीखंड बसंतहि[१२] दूषन मृषा लगावै।
सार रहित हत[१३] भाग्य सुरभि पल्लव सो कहहु[१४] किमि[१५] पावै।४।
सब प्रकार मैं कठिन मृदुल हरि दृढ़ बिचार जिय मोरें।
तुलसिदास प्रभु मोह-शृंखला छूटिहि[१६] तुम्हरेहिं[१७] छोरें।५।

शब्दार्थ—लीन=आसक्त; निमग्न; तन्मय; अनुरक्त; डूबा या लगा, हुआ। सो (सों)=सदृश, समान; सा। बेनु (बेणु)=बाँस। करिल (करील, कुरीर,=ऊसर और कँकरीली भूमिमें होनेवाली एक झाड़ी जिसमें पत्तियाँ नहीं होतीं, केवल गहरे हरे रंगकी पतली-पतली बहुत-सी डंठले फूटती हैं। फागुन-चैतमें इसमें गुलाबी फूल लगते हैं। फूलोंके झड़ जानेपर गोल-गोल फल लगते हैं, जिन्हें टेटी वा कचड़ा कहते है। श्रीखंड=चन्दन; मलयागिरि चंदन। यथा 'काटै परसु मलय सुनु भाई। निज गुन देइ सुगंध बसाई॥ ताते सुर सीसन्ह चढ़त जगबल्लभ श्रीखंड।७।३७।' हत=रहित; खोया हुआ, निकम्मा, निकृष्ट। सुरभि=सुगन्ध, किमि=कैसे, क्योंकर, किसप्रकार।

५ सो—६६। सों–भ०।सम—प्रायः औरोमे। ६ ईसहि–भ०, दीन। ईस न—प्रायः औरोमे। ७ किछु–रा०। ८ दिहेहु –६६, रा०, भ०। दियो—भा०, वे०, मु०। दियहु—ड०, वै०। दियेहु—ह०, ५१, दीन, वि०। ९ सोउ—६६, रा० ('सेउ' का सोउ बनाया है) आ०। सो—भा०, वे०, मु०, ७४, ज०। सोइ–प्र०, १५। १० *पायउ–६६। यहाँ और आगे १२, १३ मे लेखककी भूल जान पडती है। ११ करील श्रिखंड—ह०, ५१, ७४, मु०, भा०, वे०। करील श्रीखंड–वै०, भ०, दी०, वि०। करिल श्रीखंड–६६, रा०। १२ वास-तेहि–६६। १३ हितभाग्य–६६। १४ कहहु–६६, रा०, भ०, डु०, ७४। कहौ–भा०, वे०। कहु–वै०, ह०, दीन, ५१, वि०। १५ किमि–६६, रा०, भ०, वि०, भा०, वे०। कहुँ–वै०, मु०, दीन, डु०। १६ छूटिहि–६६, रा०, भ०, वे०, ५१, ज०। छूटइ–७४। छुटिहि–डु०, वै०, दीन, वि०। छूटहि–ह०। छूटहि–भा०, मु०। १७ तुम्हरेहि–६६। तुम्हारेहि–दीन। तुम्हारे–भा०, ५१, मु०, डु०, वै०, वि० १५। तुम्हरे–वे०, ह०, भ०, ज०। तुम्हरै–रा०।

यथा 'किमि सहि जात अनख तोहि पाहीं''''।' कठिन=कठोर हृदय वाला। शृंखला=बेड़ी; जंजीर। छोरना=छोड़ना; खोलना, काटना।

पदार्थ—हे माधव! सब प्रकारसे सब विधियों (वेदाज्ञाओं) से हीन (रहित और नीच), सब प्रकारसे दीन (साधन एवं पुरुषार्थरहित) अत्यन्त मलिन (पापात्मा) और विषयोंमें अत्यन्त अनुरक्त मेरे समान संसारमें (दूसरा) कोई नहीं है। १। आप ऐसे कारणरहित कृपा करनेवाले और आर्तहितकारी समर्थ (ईश्वर) को न त्यागकर भी मैं दुःख और शोकसे व्याकुल हूँ *। हे कृपाल! किस कारणसे मुझपर दया नहीं लगी? । २। हे नाथ! मैं मानता (स्वीकार करता) हूँ कि (इसमें) मेरा ही अपराध है, आपका कुछ भी दोष नहीं है। आपने (तो) मुझे ज्ञानका भंडार (मनुष्य) शरीर दिया, उसे भी पाकर, हे प्रभो! मैंने अपने स्वामी आपको नहीं जाना। ३। बाँस मलयागिरिके चन्दनवृक्षको और करील वसन्तको झूठे ही (व्यर्थ) दोष लगाते हैं। भला यह कहिये तो सारहीन (बाँस) सुगंध और भाग्यहीन (करील) पत्ते क्योंकर पा सकते हैं? । ४। तुलसीदासजी कहते हैं—हे हरे! मै सब प्रकारसे कठोर हूँ और आप कोमल (चित्त) है। मेरे हृदयमें दृढ़ विचार है कि हे प्रभो! मोहकी बेड़ी तुम्हारे ही छोड़नेसे छूटेगी। ५।

टिप्पणी—१ 'माधो मोहि समान जग माहीं''''।' इति। (क) पिछले कुछ पदोंमें तो प्रभुसे प्रश्न करते उलहना देते आए। यथा 'कस न करहु करुना हरे दुखहरन मुरारी। १०६।' 'कहु केहि कहिअ''''''''। ११०।', 'केसव कारन कवन गुसाईं''''। तुलसीदास सीदत निसिदिन देखत तुम्हारि निठुराई। ११२।', 'माधव अब न द्रवहु केहि लेखें। ११३।'—इस तरह एक प्रकार प्रभुपर दोषारोपण हुआ। अब सूझा कि प्रभुका दोष नहीं, मेरा ही दोष है। अतएव अपनी भूल स्वीकार करते हुए अपने दोष और प्रभुके गुण कहते हुए विनय करते हैं। अपने दोष कह डालनेसे संतोष होता और दीनता जाती रहती है। यथा 'तुलसी राम कृपाल सों कहि

*बैजनाथजीने 'ईस न त्यागी' का अर्थ किया है 'ईशको त्यागकर'। संभवतः 'ईस न' को एक शब्द मानकर ऐसा अर्थ किया गया हो। भट्टजीने भी यही अर्थ ग्रहण करनेके लिये मेरी समझमे 'ईसहि' पाठ कर लिया और वही पाठ फिर दीनजीने लिया हो। हस्तलिखित जो प्रतियाँ मुझे मिली उनमे यह पाठ कही नही मिला। 'ईश न त्यागी'=ईशको न त्यागकर।—यही अर्थ इसका है और सुसंगत है। यह उलहना दे रहे है।

सुनाउ गुन दोष। होइ दूबरी दीनता परम पीन संतोष। दो० ८६।' इसी तरह पूर्व कहा है—'माधो जू मो सम मंद न कोऊ। ९२।'

१ (ख) 'सब बिधि हीन जो दीन मलिन....' इति। हीन, दीन, मलिनके भाव पद १०९ (३) तथा 'दीन सब अंग हीन छीन मलीन अघी अघाइ।' ४१ (१ क-च) में देखिए। ये सब दोष अपनेमें दिखाए, क्योंकि ऐसे ही लोग भगवान्‌की कृपा करुणाके पात्र होते हैं, यदि वे शरणमें आवें। यह प्रभुकी प्रतिज्ञा है। यथा 'सत्य कहौं मेरो सहज सुभाउ। सब बिधि हीन दीन अति जड़मति जाको कतहुँ न ठाउँ। आयो सरन भजौं न तजौं तिहि यह जानत रिषिराउ। गी० ५। ४५।'—विशेष ४१ (२ च) में देखिए। 'अति लीन बिषय', तथा 'बिषय बारि मन मीन भिन्न नहिं होत कबहुँ पल एक।' मछली जलसे बाहर निकले तो मर ही जाय, उसका जीवन जल है। वैसेही मैं विषयोंमें सराबोर डूबा रहता हूँ। 'कोउ नाहीं'—भाव कि और लोग भी हीन, दीन आदि हैं, पर वे मेरे पासंग भर भी नहीं हैं। यथा 'जद्यपि मीन पतंग हीन मति मोहि न पूजहि ओऊ। ९२।'

टिप्पणी—२ 'तुम्ह सो हेतुरहित कृपाल....' इति। (क) श्रीरामजी हेतुरहित कृपा करके दुःख मिटाते हैं, यथा 'बिनु हेतु हित तैं नहिं लखा। १३५ (२)।', 'बिनु हेतु करुनाकर उदार अपार माया तारनं। १३६ (८)', 'बिनु कारन दीन दयाल हितं। ६।११०।'

२ (ख) 'ईस न त्यागी' अर्थात् आप कृपाल, आर्तिहर और समर्थ भी हैं। ऐसे स्वामीकी शरणमें जानेपर दुःख न रह जाना चाहिए; यथा 'सरन गएँ मोसे अघरासी। होहिं सुद्ध नमामि अबिनासी।७।१२४।' (यह भुशुण्डिवाक्य है), 'जिमि हरिसरन न एकउ बाधा।४।१७।१।' भाव कि यदि आपको त्यागा होता; आपसे विमुख होता, तब तो दुःख-शोकसे विकल रहना यथार्थ ही था, पर शरण आनेपर ऐसा न होना चाहिए। पुन. भाव कि स्वार्थी कृपाल-आर्तिहर-असमर्थके पास जाता और वे दुःख शोक न हरते तो अनुचित न होता, पर 'हेतुरहित' कृपाल का ऐसा करना कुछ समझमें नहीं आता।

२ (ग) 'कृपाल केहि कारन दया न लागी'—यह बहुत विनीत निवेदन है। कृपालको दुःखशोक देखकर दया न लगे, यह बात समझमें नहीं आती, आप समझा दें। कारण जानूँ तो उसका उपाय करूँ। पद ११३ के अब

न द्रवहु केहि लेखें।'''बहुत नात रघुनाथ तोहिं मोहिं अब न तजे बनि आवे।' को ही यहाँ विनम्ररूपसे कहा है।

टिप्पणी—३ 'नाहिंन कछु औगुन तुम्हार''''' इति। (क) 'केहि कारन दया न लागी' कह तो गए, फिर सोचे कि यह धृष्टता हो गई, अतः सँभल गए, प्रभुके मत्थे दोष मढ़ते थे, उसका पश्चाताप हुआ, अतः उसका निवारण करते हुए अपनाही दोष स्वीकार करते हैं। 'नाहिंन''''।'''माना' अर्थात् अपना अपराध मैं स्वीकार करता हूँ। 'गुन तुम्हार समुझहिं निज दोषा (वाल्मीकि वाक्य), 'निज दूषन गुन राम के समुझे तुलसीदास। होइ भलो कलिकालहू उभय लोक अनयास। दो ७७।'—इन उपदेशोंका अनुकरण यहाँ' किया। प्रभुकी कृपा क्या हुई और अपनेसे अपराध क्या बन पड़ा, यह आगे कहते हैं।

३ (ख) 'ज्ञानभवन तन दिहेहु नाथ ''' इति। मनुष्य शरीर ज्ञानका घर वा भंडार है, यथा 'मानुष तनु गुन-ग्यान-निधाना।२।२६४।४।' भाव कि इस शरीरसें प्रभुने ज्ञान दिया है जिससे यह अपना हित और अनहित समझ कर हित-साधनमें लगे, इसको व्यर्थ न खो दे। अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष सभी इससे साधे जा सकते हैं। बुद्धिमान लोग इसे पाकर भगवतप्राप्तिके साधनमें लगते हैं। यथा 'कछु है न आइ गयो जनम जाय। अति दुर्लभ तनु पाइ कपट तजि भजे न राम मन वचन काय।८३।', 'दियो सुकुल जन्म सरीर सुंदर हेतु जो फल चारि को। जो पाइ पंडित परमपद पावत''''। १३५ (१)।' पुनः भाव कि पशु पक्षी आदिमें ज्ञान व विचारशक्ति नहीं होती, तब भी वे अपना हित-अनहित जान लेते हैं तब मनुष्यको तो अवश्य अपना हित जानकर उसमें लगना चाहिए।

३ (ग) 'सोउ पाय' इति। आपने ज्ञानभवन तन दिया, यह प्रभुका गुण कहा। 'नाथ' कहकर जनाया कि यह कृपा करके आपने मुझे सनाथ किया; करुणा करके नरदेह दिया। अब अपना अपराध कहते हैं–'सोउ '''। भाव कि ज्ञानधाम तन पाकर आपका ज्ञान प्राप्त करना था, आपको जानना चाहिए था, सो आपसे पहचान न की, आपको न जाना। यथा 'बहु जोनि जन्म जरा बिपति मतिमंद हरि जान्यो नहीं। १३६ (१)।' शरीर व्यर्थ गँवाया, यथा 'सुरराज सो राजसमाज समृद्धि बिरंचि धनाधिप सो धनु भो।'''सब जाय सुभाय कहै तुलसी जो न जानकीजीवन को जन भो।', 'कामसे रूप प्रताप दिनेसु से, सोमसे सील गनेसुसे मानें। हरिचंदसे साँचे बड़े बिधिसे, मघवासे महीप बिषयसुख सानें। सुकसे मुनि सारदसे बकता,

चिरजीवन लोमस तें अधिकाने। ऐसे भए तो कहा तुलसी जो पै राजिवलोचन रामु न जाने।', 'राज सुरेस पचासक को बिधिके कर को जो पटा लिखि पाए।''''जानकीजीवनु जाने बिना जग ऐसेउ जीव न जीव कहाए।' (क० ७।४२, ४३, ४५)।

प्रभुने कृपाकर ज्ञानभवन तन दिया। मैंने उससे परलोक न बनाया, प्रभुको न जाना, उल्टे प्रभुको दोष दिया यह अपराध है। यथा 'साधन धाम मोच्छकर द्वारा। पाइ न जेहिं परलोक सँवारा। सो परत्र दुख पावइ सिर धुनि-धुनि पछिताइ। कालहि कर्महि ईश्वरहि मिथ्या दोस लगाइ।७।४३।'

३ (घ) 'न जाना' इति। जाननेमें भाव यह है कि जाननेसे प्रतीति, प्रीति तथा दृढभक्ति होती और भक्ति होनेसे भवपार हो जाता। यथा 'जानें बिनु न होइ परतीती। बिनु परतीति होइ नहि प्रीती॥ प्रीति बिना नहि भगति दिढ़ाई। ७।८६।७-८।''''बिनु हरिभजन न भवभय नासा। ६०।८।'—'जानना' सबका मूल है। न जाननेसे श्रीरामजीसे मेरी प्रतीति, प्रीति, भक्ति न हुई, इसीसे दु:ख-शोकसे विकल हुआ।

पुनः प्रभुको जाननेसे झूठ और सत्यकी जानकारी होती है, जगत्की नानात्वसत्ता नहीं रह जाती, उसके व्यवहार परिवर्तनशील, परिणामी वा अस्थिर प्रतीत होने लगते हैं, इत्यादि। यथा 'झूठेउ सत्य जाहि बिनु जानें। जिमि भुजंग बिनु रजु पहिचानें॥ जेहि जाने जग जाइ हेराई। जागे जथा सपन भ्रम जाई॥ बंदउँ बालरूप सोइ रामू।१। ११२।१-२।' इस पदमें मोह शृंखलाके छुटानेकी प्रार्थना है, इस सम्बन्धसे जाननेका यह भाव भी सगत है। क्योंकि मोहके कारण ही जगत्के रूपमें भ्रम होता है।

पुनः गुणोंको जानना ही गुणवान्‌को जानना है। यथा 'गुणाज्ञानम-विज्ञानं गुणज्ञानमभिज्ञता। म. भा. आश्व २२।५।' इस तरह भाव हुआ कि आपके सौशील्यादि गुणोंको मैंने न जाना।

टिप्पणी—४ 'बेनु करिल श्रीखंड बसंतहि''''' इति। (क) चाणक्यनीति-में भी ऐसा ही कहा है। यथा 'पत्रं नैव यदा करीरबिटपे दोषो वसंतस्य किम्। नोलूकोप्यवलोकते यदि दिवा सूर्यस्य किं दूषणम्। धारा नैव पतन्ति चातकमुखे मेघस्य किं दूषणम्। यत्पूर्वं विधिना ललाटलिखितं तन्मार्जितुं कः क्षमः॥', 'कि' अर्थात् करीलवृक्षमें यदि वसन्त ऋतुमें 'पल्लव नहीं होते तो वसन्तका इसमें दोष क्या? (चातकके मुखमें जल न गिरे तो मेघका और दिनमें उल्लूको न दिखलाई दे तो सूर्यका क्या दोष?)। विधाताने इनके ललाटमें लिखा ही नहीं तो उसे कौन मिटा सकता है?' (निर्णय-

सागर सं० की कृष्णशास्त्रीकी टीकामें यह श्लोक भर्तृहरिशतकमें भी दिया है।

४ (ख) 'वेनु-श्रीखंड'—मलयागिरिपर जो चन्दनका वृक्ष है उसकी सुगंधसे जितने भी वृक्ष वहाँ उस पर्वतपर हैं सब चन्दनसमान सुगंधित हो जाते हैं, यथा 'मन्यामहे मलयमेव यदाश्रयेण कंकोल निम्ब कुटुजा अपि चन्दनास्स्युः।' (भर्तृहरि)। मलयके आश्रित होनेसे कंकोल, नीम और कुटुजा ऐसे कड़वे वृक्ष भी चन्दन हो जाते हैं। तब बाँस क्यों चन्दन न हुआ? क्या मलयचन्दन इससे द्वेष रखता है? नहीं। वह तो सब वृक्षोंके सारभागमें सुगंध डाल रहा है, पर बाँसमें सार नहीं है, उसमें छिलका ही छिलका होता है, वह खोखला है, वह सुगंधको ग्रहण ही नहीं करता। अतः चन्दनका दोष नहीं। इसी प्रकार वसन्तऋतुमें सभी वृक्ष नवपल्लवयुक्त हो जाते हैं, करीलके भाग्यमें विधाताने नहीं लिखा, तब उसमें पत्ते वसन्तमें कैसे हों? दोष भाग्य का है, वसन्तका नहीं।

इसी तरह आप तो हेतुरहित सबपर बराबर कृपा करते हैं, यथा 'अखिल विस्व यह मोर उपाया। सब पर मोहि बरावरि दाया।७।८७।', पर मैं वेणुकी तरह आपकी प्रतीति, प्रीति, भक्तिसे रहित हूँ तथा करीलकी तरह हतभाग्य हूँ; अतः मेरा ही दोष है। यथा 'है प्रभु मेरोई सब दोसु। सीलसिंधु कृपालु नाथु अनाथ आरतपोसु॥ बेष बचन बिराग मनु अघ-अवगुनन्हि को कोसु। राम प्रीति प्रतीति पोलो कपट करतब ठोसु। १५६।', 'मातु पिता जग जाइ तज्यो, बिधिहूँ न लिखी कछु भाल भलाई। क० ७।५७।', 'यह बिचारि द्रवहु नहीं मैं करमक हीन।१०६।' आगे भी कहा है।—'बेद पुरान सुनत समुझत रघुनाथ सकल जग व्यापी। भेदत नहिं श्रीखंड वेनु इव सारहीन मन पापी। ११७।'

जिनके उरमें स्नेहरूप सारांश नहीं है, उनपर प्रभुकी कृपा कैसे व्यापे? जो जन्मान्तरसे सुकृतहीन हैं, सदा पाप कर्म ही करते आये हैं, ऐसे अभागियोंमें रामरंग कैसे व्यापे? कथा-श्रवण आदिमें उनका मन ही नहीं लगता, तब रामस्नेह कैसे उपजै? (वै०)।*]

टिप्पणी—५ 'सब प्रकार मैं कठिन....' इति। (क) भाव कि पापकर्मोंको करते-करते, कलिकालके प्रभावसे, विषयोंमें आसक्त होनेसे तथा कुसंगसे

* चन्दनकी सुगन्धि बाँसमें नही आती। वैसे ही श्रीरामजीकी साधर्म्यगुणरूपी सुगन्ध इसमें नही आती। पाप-जरा-मृत्यु-शोक-भूख-प्यासरहित होना, सत्यकाम और सत्यसंकल्प ये ब्रह्म के आठ गुण जो जीवमे मुक्त होनेपर ईश्वरकी उपासनासे प्राप्त होते हैं। (श्री० श०)। श्रवणादि भक्तिनिष्ठा पल्लव हैं। (श्री० श०)।

इत्यादि 'सब प्रकार' से मेरा स्वभाव कठोर हो गया, वज्रहृदय हो गया। पर आप तो मृदुल हैं, करुणा क्षमा-दया-शील-सौलभ्य-उदारता आदि 'सब प्रकार' से आपका स्वभाव कोमल है। (वै०)। श्रीरामजी मृदुल स्वभाव के हैं, वे जनके अपराध नहीं देखते; यथा 'जन अवगुन प्रभु मान न काऊ। दीनबंधु अति मृदुल सुभाऊ ।७।१।६' और हरि है, जनके क्लेशको हरते है। ये विशेषण देकर जनाया कि इन्हींका मुझे भरोसा है। यथा 'मृदुल सुभाउ सील रघुपति को सो बल मनहिं दिखावों।१४२।'—यह 'दृढ़ विचार जिय मोरें' से सूचित किया।

५ (ख) 'प्रभु' से समर्थ जनाया। मोहशृंखला आपके ही छोड़नेसे छूटेगी। इसमें वही भाव है जो 'यहि जीव मोहरजु जेहि बाँध्यो सोइ छोरै' में है। १०२ (५ ख) में देखिए। तात्पर्य कि मोहका छूटना कृपासाध्य है, क्रियासाध्य नहीं। पद १०२ में मोहको रस्सीकी उपमा दी थी, यहाँ बेड़ीकी उपमा दी। बेड़ी रज्जुसे भी कठोर होती है। इसीसे अपने मोहको बेड़ी कहा और पद १०२ में जीवोंके मोहको रज्जु समान कहा; क्योंकि उपक्रममें कह आये हैं कि 'मोहि समान···कोउ नाहीं।'

सू० शुक्ल—बाँस खोखला होनेसे उसमें चन्दनकी सुगन्ध नहीं रुकती, इससे वह सुगन्धित नहीं होता। ऐसे ही ज्ञानसे खोखला जीवात्मामें ज्ञान नहीं रुक सकता। बसंतको पाकर भी करीलमें पत्ते नहीं होते, ऐसे ही नर-तन पाकर भी ज्ञान नहीं होता। मनुष्य मिथ्या ही बुद्धिमें अहंकारवश अपनेको ज्ञानी मानता है। यदि कहिये—'फिर पुरुषार्थ व्यर्थ है तो नहीं, यह निश्चय है कि जो बाँधता है वही छोड़ता है। मेरा परम पुरुषार्थ तुम्हारी शरण व विश्वास है कि तुम्हारी ही कृपासे जीव मुक्त हो सकता है।

जबतक अहंकारवश मनुष्यका जीवत्वभाव दूर नहीं होता, ज्ञान नहीं ठहरता ? जब पुरुषार्थद्वारा ज्ञान, वैराग्य, भक्ति प्राप्त करता है, जीवत्वभाव दूर होकर मुक्त हो आनन्दरूप हो जाता है। इसलिये परम-पुरुषार्थ कर्तव्य है। भाग्यके भरोसे निरुद्यम बैठना महामूर्खता है, क्योंकि भाग्य भी पहले जन्मोंका पुरुषार्थ ही है, दूसरी वस्तु नहीं। अपने वर्ण व आश्रमके नियत कर्मोंको निष्कामतासे करना सत्संग व सच्छास्त्रद्वारा परमात्माको जानना तथा सद्गुरुकी शरण हो विषयोंमें वैराग्य व परमात्मामें अनुराग करना यही परम पुरुषार्थ है।"

श्रीसीतारामचन्द्रार्पणमस्तु।

११५

माधव मोह पास[1] क्यों टूटै।
बाहेर[2] कोटि उपाय करिअ अभिअंतर[3] ग्रंथि न छूटै।१
घृत पूरन कराह अंतरगत ससि प्रतिबिंब दिखावै।
इंधन[4] अगिनि[5] लगाइ कलपसत ओए* नास न पावै।२
तरु कोटर महँ बस बिहंग तरु काटे मरै न जैसें।
साधन करिअ विचार करहिं[6] मन सुद्ध होइ कहु[7] कैसें।३
अंतर मलिन विषय मन अति तन पावन करी हमारें[8] / करिअ पखारे।
मरइ न उरग अनेक जतन वलमीक विविध विधि मारें।४
तुलसिदास हरि गुर[9] करुना बिनु बिमल बिवेकु न होई।
बिनु बिवेक संसार घोर[10] निधि पार न पावै कोई।५

शब्दार्थ—पास (पाश)=फंदा, जाल। पाश रस्सी, तार, ताँत आदिके कई प्रकारके फेरों और सरकनेवाली गाँठों आदिके द्वारा बनाया हुआ घेरा होता है, जिसके बीचमें पड़नेसे जीव बँध जाता है और कभी-कभी बन्धनके अधिक कसकर बैठ जानेसे मर भी जाता है। इसका व्यवहार युद्ध, फाँसी आदिमें होता था। (श. सा.)।=बन्धन, यथा 'गिरिजा जासु

१ पास—६६, रा०, भा०, वे०, मु०, वि०, ज०, १५। फाँस—वै०, ह०, ५१, ७४, डु०, दीन। २ बाहेर—६६। बाहर—वै०, भ०, ७४, वि०। बाहिर—रा०, भा०, वे०, मु०, दीन। ३ अभिअंतर—६६, रा०, भ०। अभ्यंतर—भा०, वे०, मु०, आ०। ४ इंधन—६६, रा०, डु०, ज०। ईंधन—प्रायः औरोमें। ५ अगिनि—६६, रा०, भ०। अग्नि—५१, मु०। अनल—भा०, वे०, ह०, प्र०, ७४, आ०। * ओए, ६ करहिं, ७ कहु, कैसे—यह पाठ सं० १६६६ की प्रतिलिपिका है। परन्तु प्रायः और सबोंमें क्रमशः इनके स्थानपर—* औटत (अवटत—रा०, ह०, ५१, ७४, भा०, वे०) वै०, भ०, दीन०, वि०; ६ हीन; ७ नहि तैसे—ये पाठ हैं। ('ओए' सम्भव है कि 'औटे' अर्थमें कहीं बोला जाता हो। अथवा 'औटे' का 'ओए' पढ़ लिया गया हो)। ८ करी हमारे—६६। करिअ हमारे—रा०, भा०, वे०। करिय पखारे ५१, ७४, आ०। ९—गुन—६६। संभवतः 'न' (हिंदी कैथी का रकार) को 'न' पढनेसे यह भूल हो गई हो। यदि 'गुन' पाठको शुद्ध मानें तो 'हरि करुना-गुन' इस प्रकार अर्थ करना होगा। १० वारि—दीनजी।

नाम जपि मुनि काटहिं भव पास। ६।७२।', 'लोभ पास जेहि गर न बँधाया। सो नर तुम्ह समान रघुराया।४।२१।५।' क्यों=क्योंकर, कैसे। बाहेर=बाहरसे ; ऊपरसे। अभिअन्तर (अभ्यन्तर)=अन्तःकरणकी ; हृदयकी ; भीतरकी। यथा 'प्रेम भगति जल बिनु रघुराई। अभिअंतर मल कबहुँ न जाई।७।४९।६।', 'जो मेरे तजि चरन आन गति कहौ हृदय कछु राखी। तौ परिहरहु दयाल दीनहित प्रभु अभिअतर साखी। गी० २।७४।' ग्रंथि=गाँठ। घृत=घी। पूरन=पूर्ण, ऊपर तक भरा हुआ। कराह (स० कटाह। हिं० कड़ाह)=आँचपर चढ़ानेका बहुत बड़ा गोल बरतन जिसके दो ओर पकड़नेके लिए कुंडे लगे रहते हैं। इसमें पूरी-कचौडी मोहनभोग आदि बनते है। अंतरगत (अंतगत)=भीतर। प्रतिबिब=परछाहीं ; प्रतिमूर्ति। दिखावै=देख पड़े वा पड़ता है। इधन (ईंधन)=जलानेकी लकड़ी। ओए=औटनेसे। कोटर=खोंड़रा ; वृक्षका खोंखला भाग। यथा 'तहँ तहँ तरनि तकत उलूक ज्यों भटकि कुतरु कोटर गहों। २२२ (२)।' अंतर (सं०)=अन्तःकरण, हृदय।=भीतर। यथा 'अंतर प्रेम तासु पहिचाना। मुनि दुर्लभ गति दीन्हि सुजाना। ३।२७।१७।', 'सब के उर अंतर बसहु जानहु भाउ कुभाउ।२।२५७।' उरग=सर्प, साँप। बलमीक (बल्मीक) बाँबी ; साँपका बिल। घोर=भयंकर। निधि – समुद्र।

पद्यार्थ—हे माधव ! मोहका पाश कैसे टूटे ? ऊपरसे करोड़ों (अर्थात् कितने ही, अगणित) उपाय करते रहिये (पर) भीतरकी (अन्तःकरणकी जड़-चेतनकी) गाँठ नहीं छूटती।१। घीसे (ऊपर तक) भरे हुए कड़ाहके भीतर (मध्यमें) चन्द्रमाका प्रतिबिंब देख पड़ता है। (तो) ईंधन और आग लगा-लगाकर सैकड़ों कल्पोंतक औटनेसे वह नाशको नहीं प्राप्त हो सकता।२। पक्षी वृक्षके खोंड़रमें रहता है। वृक्षके काट डालनेसे जैसे वह नहीं मरता, वैसे ही साधन करते रहिए, पर विचार करे और कहें कि मन (बाहरी साधनसे) कैसे शुद्ध हो सकता है ?।३। (क्या बाहरसे) अत्यंत पवित्र (किया हुआ) हमारा शरीर हमारे मनको जो विषयोंके कारण भीतरसे अत्यन्त गन्दा (मैला) हो रहा है, पावन कर सकेगा ? (इसीका दृष्टान्त देते हैं—) अनेक उपाय कर-करके अनेक प्रकारसे बाँबीपर प्रहार करनेसे (उसके भीतरका) सर्प नहीं मर सकता।४। तुलसीदासजी कहते हैं कि हरि और गुरुकी करुणाके विना निर्मल विवेक नहीं होगा। और बिना विवेकके संसाररूपी भयकर समुद्रका पार कोई नहीं पा सकता।५।

टिप्पणी—१ (क) 'माधव मोह पास क्यों टूटे ?' इति। पिछले पदोंमें कह आये हैं कि मोह आपकी कृपासे ही छूट सकता है, यथा 'तुलसिदास यहि जीव मोह-रजु जेहि बाँध्यो सोइ छोरै।१०२।', 'तुलसिदास प्रभु मोह शृंखला छूटिहि तुम्हरेहिं छोरें।११४।'; अब प्रस्तुत पदमें दिखाते हैं कि मोहपाशका छूटना क्रियासाध्य नहीं है। अतः 'मोहपाश क्योंकर टूट सकता है'' अर्थात् नहीं टूट सकता, यह कहकर दृष्टान्तों द्वारा उसे सिद्ध करते हैं।

पुनः, पूर्व मोहको रज्जु और शृङ्खला कहा, अब 'नहीं टूट सकता' यह दिखानेके लिए उसे 'पाश' कहा। पाशसे मनुष्य मर भी जाता है। इस तरह मोहको उत्तरोत्तर कठिन दिखाते आ रहे हैं। शरीर आदिमें आत्माभिमानरूप और उससे होनेवाले ममत्व आदिका स्थानरूप 'मोह' है।*

१ (ख) 'अभिअतर ग्रंथि'—यह वही ग्रंथि है जिसकी मानसके ज्ञानदीपक-प्रसंगमें चर्चा इस प्रकार है—'ईश्वर अंस जीव अविनासी। चेतन अमल सहज सुखरासी॥ सो माया वस भयउ गुसाईं। बँध्यो कीर मरकट की नाईं॥ जड़ चेतनहिं ग्रंथि परि गई। जदपि मृषा छूटत कठिनई॥ तब ते जीव भयउ संसारी। छूट न ग्रंथि न होइ सुखारी॥ श्रुति पुरान बहु कहेउ उपाई। छूट न अधिक अधिक अरुझाई।७। ११७।२-६।' फिर न छूटनेका कारण भी बताया है कि 'जीव हृदय तम मोह बिसेषी। ग्रंथि छूट किमि परइ न देखी॥'

'बाहेर कोटि उपाय' यह मानसका 'श्रुति पुरान बहु कहेउ उपाई' है। योग, यज्ञ, दान, पूजा, तप आदि उपायोंसे यह गाँठ छूटती नहीं, प्रत्युत अधिकसे अधिक उलझती जाती है। कठिनता ज्ञानदीपक प्रसंगमें दिखायी है कि बड़े परिश्रमसे विज्ञानका प्रकाश मिला तो विषय-बयारिने आकर उसे बुझा दिया। बस बुद्धि भोरी हो गई, ग्रन्थि न छूटी।

नोट—१ पं० रामकुमारजी अर्थ इस प्रकार करते हैं—'बाहर कोटि उपाय करता हूँ, अभ्यन्तर ग्रन्थि नहीं छूटती। तात्पर्य कि भीतरकी ग्रन्थिके छूटे बिना बाहरके उपायसे मोहपाश कैसे टूटे?' अथवा 'बाहरके

---

* श्रीकान्तशरणजी—रस्सी तीन लड़की उत्तम और सुदृढ़ होती है, वैसे ही देहाभिमान भी तीन देहोका होनेसे अत्यन्त दृढ बन्धन है। स्थूल, सूक्ष्म, कारण तीनो शरीरोकी निवृत्तिसे जीव कृतार्थ होता है। तीनो शरीरोका शुद्ध होना मोहपाश का टूटना है, यह कैसे हो? इसीका विचार इस पदमें है।

उपायसे भीतरकी ग्रन्थि नहीं छूटती, अभ्यन्तर ग्रन्थिके रहते मोहपाश कैसे टूटे ?' इसपर आगे दृष्टान्त कहते हैं।

टिप्पणी—२ 'घृत पूरन कराह''''' इति। किसी मूर्खने सुना कि चन्द्रमा अमृतमय है, अपनी किरणोंसे वह सबको अमृतमय कर देता है। बस उसने कराहमें घी गर्म किया, देखा कि चन्द्रमा उसमें है। उसने सोचा कि आज दाँव लगा, खूब आँच देकर चन्द्रमाको इसमें घुला दूँ तो घी अमृतमय हो जाय। बड़े मूल्यका घी और ईंधन उसने जला डाला और हाथ कुछ न लगा, चन्द्रमा ज्योंका त्यों बना रहा। गोस्वामीजी कहते है कि सैकड़ों कल्पोंतक कोई यह क्रिया करता रहे तो भी न प्रतिबिंबका नाश होगा न बिंबका, जलानेवालेकी मूर्खता ही सिद्ध होगी।

[वै०—यहाँ 'देहरूपी कराहमें मन आदि अन्तःकरण घृतवत् पूर्ण है। कारण-माया चंद्र है। आत्मदृष्टिका भूल-जाना-रूप जीवत्व प्रतिबिंब है। योग-कर्मादि साधन अग्नि, पूजा-पाठ-जप-यम-नियम आदि ईंधन है।

श्री० श०—कारण शरीर अविद्यात्मक वासनामय है। यहाँ कारण-शरीर कराह है। वासना घी है। चन्द्रमा जीवात्मा है, वह कारण-शरीरमें श्रद्धानिष्ठ होकर तादात्म्य भावसे प्रतिबिम्बित है। योग आदि अग्नि और उनके यम-नियम आदि अंगभूत साधन ईंधन हैं, इनसे करोड़ों कल्पों प्रयास करते भी वासना-शुद्धि नहीं होती।

वि०—जबतक घीका लेशमात्र भी रहेगा, तबतक प्रतिबिंब भी रहेगा। इसी प्रकार जबतक मोह रहेगा, तबतक भेदबुद्धि भी रहेगी। अंतःकरण वा अष्टधा प्रकृति=घी। शरीर=कराह। माया, अविद्या=चन्द्र। मिथ्या ज्ञान, जीवबुद्धि=प्रतिबिम्ब। जप-तप आदि=ईंधन—अनल।

पो०—इसी प्रकार जबतक मोह रहेगा। तबतक यह आवागमनकी फाँसीभी रहेगी।]

टिप्पणी—३ 'तरु कोटर महँ बस बिहंग''''' इति। दूसरा दृष्टान्त देते है कि जैसे कोई पक्षी वृक्षके खोंड़रमें बैठा हो, उसको मारनेके लिये कोई वृक्षको काटकर गिरा दे, तो उससे वह पक्षी तो मरेगा नहीं। इसी तरह मनरूपी पक्षी बाहरके साधनोंसे शरीरको तपादिसे तपा या मार डालनेसे नहीं मरनेका। वह सूक्ष्मरूपसे अन्य शरीरोंमें तुम्हारे साथ ज्योंका त्यों रहेगा।

[वै०—वृक्ष काटने लगोगे तब पक्षी उड़ा-उड़ा फिरेगा। विवरके भीतर ही उसे पकड़कर ही उसे वशमें किया जा सकता है। इसी तरह मन-विहंगको

मारनेके लिये विवेक-विचारहीन कर्म-योग-ज्ञानादिके साधनोंद्वारा देहको क्लेश देनेसे मन शुद्ध नहीं होता। अर्थात् देहसे साधन करते रहोगे, पर मन विषयोंमें दौड़ता रहेगा, वह कैसे शुद्ध होगा ? विवेक-विचारसे ही वह शुद्ध होगा।

श्री० श०—स्थूल शरीर वृक्ष और सूक्ष्म शरीर उसका खोढर है।....कई जन्मोंसे मुमुक्षु साधन करता आता है, पर मन सूक्ष्मशरीरको साथ लिये अनेक शरीरोंमें फिरा करता है। सूक्ष्मशरीररूपी कोढरसे विचारपूर्वक प्रेमलक्षणा भक्तिद्वारा मन पक्षीको पकड़कर शुद्ध करनेसे ही वह वशमें होता है एवं विषय चेष्टासे मरता है।

दीनजी—वृक्षका पक्षी मारनेसे ही मरेगा। वैसेही अनेक शंकाओंको दूरकर विवेकबुद्धिसे ईश्वरकी शरणमें जानेसे ही यह जीव मोहरूपी बंधन-से छूटेगा। मनुष्यरूपी वृक्षके मोहरूपी पक्षीको केवल वे ही मार सकेंगे।]

टिप्पणी—४ 'अंतर मलिन विषय मन....' इति। मन विषयोंके कारण भीतरसे अत्यंत मलिन है, यथा—'मन मलिन विषय संग लागे। हृदय मलिन वासना मान मद....।८२।' ऊपरसे सकल प्रकारके शौच कर्म करनेसे शरीरको पवित्र करनेसे वह मन पवित्र नहीं हो सकता। इसपर 'मरः न उरग....' का उदाहरण देते हैं। यहाँ मन उरग है और शरीर वल्मीक है।

[भाव कि - देहको क्लेश देनेसे मनपर चोट नहीं आती। (वै०) कामादि षड्विकार ही यहाँ उरग हैं, यथा 'खाए उरग छहूँ। ८६।'—(श्री० श०)]

टिप्पणी—५ 'हरि गुर करुना बिनु....' इति। (क) बिमल बिवेक हरि और गुरुकी कृपासे होता है। यथा 'बिनु सत्संग बिबेक न होई। रामकृपा बिनु सुलभ न सोई। १ । ३ । ७ ।', 'होइ न बिमल बिवेक उर गुर सन कियें दुराव ।१।४५।', 'बिनु गुरु होइ कि ज्ञान ।७। ८९।' सत् और असत्-का विचार, सत्का ग्रहण और असत्का त्याग 'विवेक' है। विमल विवेक= शुद्ध निर्मल ज्ञान। श्रीरामजीका स्वरूप भली प्रकार समझ पड़ना ही 'निर्मल ज्ञान' है। यह सद्गुरुकी कृपासे ही संभव है। यथा 'सद्गुरु बैद बचन बिस्वासा।....बिमल ज्ञान जल जब सो नहाई। तब रह रामभगति उर छाई। ७ । १२२।' भुशुण्डिजीने इसमें विमल ज्ञानका लक्षण स्पष्ट कह दिया है—'तब रह रामभगति उर छाई'। 'विवेक' पर ८८ (३ घ) देखिए।

५(रा)यह बिमल बिवेक न होई' कहकर जनाया कि ऊपर जो कहा गया—'बाहेर कोटि उपाय करिअ', 'अंतर मलिन....तन पावन करी हमारें' इत्यादि

सब अविवेक' है। अथवा, 'विमल विवेक' से जनाया कि समल विवेक भी होता है। निषिद्धका त्याग और विधिका ग्रहण भी विवेक है। धर्म, दान, जप, तप, यज्ञ आदि करना, लौकिक-वैदिक क्रिया-कलापोंमें लगना, दोषोंका त्याग और गुणोंका ग्रहण 'विवेक' कहा गया है। यथा 'संत हंस गुन गहहिं पय परिहरि बारि बिकार॥ अस बिवेक जब देइ बिधाता। तब तजि दोष गुनहि मन राता ।१।६।'—यह विवेक समल है, क्योंकि जबतक मनुष्य लौकिक वैदिक क्रियाकलापोंमें फँसा रहता है, उसका चित्त कर्मवासनाओं-से युक्त रहनेके कारण वह शरीर-बन्धनसे छुटकारा नहीं पाता ।८८ (३-क) देखिए।

५ (ग) 'बिनु विवेक संसार····' इति। संसार बड़ा भयानक समुद्र है; यथा 'घोर भव नीरनिधि नाम निज नाव रे ।६६।', 'घोर संसार पाथोधि पोतं ।४६।' संसार-सागर पापजलपूर्ण है। षड्वर्ग, इन्द्रियाँ, शुभाशुभ कर्म और दुःख इसके क्रमशः मगर, नाक, भँवर और तीक्ष्ण तरंगें हैं। यह दुष्प्रेद्य, दुस्तर और अपार है। अतः 'घोर' कहा।—५९ (८ क), ६६ (१ ग) देखिए। 'विवेक' से यहाँ भी 'विमल विवेक' समझना चाहिए। यहाँ विवेकसे संसारका पार पाना कहा। श्रीरामचरणानुराग, श्रीरामनाम आदिको भी भवपारकर्ता कहा गया है। यथा 'भवजलधि-पोत चरनारविंद ६४।', 'घोर संसार पाथोधिपोतं ।४६।' (नाम और रूप दोनों), 'घोर संसार-पर पारदाता ।५४।' (रूप), 'घोर भवनीरनिधि नाम निज नाव रे ।६६।', 'जौं बिनु जोग जज्ञ ब्रत संजम गयो चहहि भव पारहि। तौ जिनि तुलसि-दास निसि बासर हरिपदकमल बिसारहि ।८५।', 'भवसागर चह पार जो पावा। रामकथा ता कहँ दृढ़ नावा ।७।५३।३।' इत्यादि। इससे सूचित हुआ कि श्रीरामचरणोंमें प्रेम, श्रीरामजीके नाम, रूप, लीला, धाम आदिमें प्रेम होना ही 'विमल विवेक' का लक्षण है।

५ (घ) शुद्ध संतोंकी भक्तिसे, उनकी कृपासे भी भवपार होता है; यथा 'भवसागर कहँ नाव सुद्ध संतन्ह के चरन। तुलसिदास प्रयास बिनु मिलहिं राम दुखहरन ।२०३।', परन्तु शुद्ध संत बिना प्रभुकी कृपाके नहीं मिलते। यथा 'संत बिसुद्ध मिलहिं परि तेही। चितवहिं राम कृपा करि जेही। ७।६९।७।', और 'बिनु सतसंग बिवेक न होई। रामकृपा बिनु सुलभ न सोई ।१।३।' तथा 'सत्संगति संसृति कर अंता।'—इसीसे प्रथम 'हरि' को कहा, 'तब' गुरुको। गुरु संत हैं ही। हरिकी कृपा होनेपर संत गुरु मिलते हैं जो कृपा करके विवेक देते हैं जिससे मोह, संशय, तथा नाना भ्रम दूर होते और श्रीरामचरणमें अनुराग होता है जो भवपारदाता है।

[वै०—"हरि-गुरु-करुणाके बिना विमल विवेक नहीं होता। अर्थात् जब जीव दीन हो सद्गुरुकी शरण हो, गुरु कृपा करके उपदेशकर प्रभुके सम्मुख करें, तब आर्त होकर शरण होवे और उसको दुखित देख प्रभुके करुणा आवे कामादि शत्रुओंको रोककर मन अपनेमें लगावें, तब अमल विवेक हो, संसार असार, हरिरूप सारांश देखे तब भवपार हो।"]

सू० शुक्ल—जबतक अन्तरङ्ग क्रिया शुद्ध नहीं है, केवल बहिरंग साधनसे कुछ नहीं हो सकता। और, अन्तःकरणका निर्मल होना भगवान्के प्रेमसे सद्गुरुद्वारा ही होता है, दूसरा उपाय नहीं है।

वियोगीजी—यहाँ जगत्का मिथ्यात्व निरूपण किया गया है। ये युक्तियाँ अद्वैतवादियों की हैं। आत्मज्ञान भ्रमनिवारणका मुख्य साधन बताया गया है, किन्तु यहाँ यह विशेषता है कि वह विवेक जिसमें मायाका ध्वंस होता है, हरिकृपासे ही प्राप्त हो सकता है। यही तो भक्तिवादका प्राण है।

श्रीसीतारामचन्द्रार्पणमस्तु।

पद ११६ (७७)

माधो[1] असि तुम्हारि यह माया।
करि उपाय पचि मरिअ तरिअ नहिं जब लगि करहु न दाया। १।
सुनिअ गुनिअ समुझिअ समुझाइअ दसा हृदय नहिं आवै।
जेहि अनुभव बिनु मोह जनित दारुन[2] भव बिपति सँतावै[3]। २।
ब्रह्मपियूष मधुर सीतल जौं पै मन से[4] रस पावै।
तौ कत मृगजलरूप विषय कारन निसि बासर धावै। ३।
जेहि के भवन बिमल चिंतामनि से[5] कत काँचु बटोरै।
सपने परबस परै[6] जागि देखत केहि जाइ निहोरै। ४।
ज्ञान भक्ति साधन अनेक सब सत्य झूठ कछु नाहीं।
तुलसिदास हरि कृपा मिटै भ्रम यह[7] भरोस मन[8] माहीं। ५।

१ माधो–६६, ज०, प्र०,। माधव–औरो में। २ भवदारुन–५१, ७४, वै०, वि०, मु०। दारुन भव–६६, रा०, भा०, वे०, दीन,। ३ सँतावै—६६, रा०। सतावै–औरोमें। ४ से–६६, रा०। सो–औरोमें। ५ सो–औरोमें। ६ पर्‍यो-मु०, दीन। परै—प्रायः औरोमें। ७ है–मु०। ८ जिय–प्र०।

शब्दार्थ—पच मरना=किसी कामके लिये बहुत अधिक परिश्रम करना; जी तोड़कर परिश्रम करना; हैरान होना। यह मुहावरा है। गुनना (सं० गुणन)=मनन करना, विचार करना, सोचना। दशा=स्थिति-का प्रकार; अवस्था। अनुभव=वह ज्ञान जो साक्षात्कारसे प्राप्त हो; स्मृतिभिन्न ज्ञान; परीक्षा द्वारा प्राप्त ज्ञान। पियूष (पीयूष)=अमृत। कारन (कारण)=के लिये। चिंतामनि—चिंतित पदार्थका देनेवाला रत्न। ८६ (४) शब्दार्थ देखिए। से=वह। काँच=शीशेका टुकड़ा। बटोरना=एकत्र करना। निहोरना=बिनती करना।

पद्यार्थ—हे माधव! आपकी यह माया ऐसी है कि (अनेकों) उपाय कर-करके पच मरें (तो भी) तर नहीं सकते (अर्थात् इसके पार होना, इससे मुक्त, उद्धार या छुटकारा होना, इसका पार पाना असम्भव है), जबतक आप अहैतुकी कृपा न करें। १। (चाहे जितना दूसरों से तथा ग्रन्थों से) सुनता विचारता, समझता और (मनको एवं दूसरोंको उपदेश दे देकर) समझाता हूँ (एवं रहूँ) पर वह दशा हृदयमें नहीं प्राप्त हो पाती, जिसके अनुभवके विना मोह से उत्पन्न भयङ्कर भव दुःख सताता रहता है। २। ब्रह्म (रस) अमृत समान मधुर और शीतल है। यदि मन उस रसको पा जाय, तो वह क्यों मृगतृष्णा-जलके समान (झूठे) विषयों के लिये रात-दिन दौड़ा करे ? । ३। जिसके घरमें निर्मल चिंतामणि है, वह काँच क्यों बटोरेगा ? (अर्थात् जिसको ब्रह्मरसकी प्राप्ति होगी, वह विषयोंमें क्यों पड़ने लगा)। जो स्वप्नमें पराये वशमें पड़ गया है (अर्थात् स्वप्नमें देखता है कि मुझे दूसरेने बंदी कर लिया है, अब क्या करूँ, कैसे छूटूँ ? किसको पुकारूँ ? हाय! कोई मुझे छुड़ा लो), वही जागकर जब देखता है (कि अरे! मैं स्वप्न देखता था, मुझे तो कोई पकड़े हुए नहीं है, मैं किस धोखेमें था, यह सब भ्रम था), तब किसकी जाकर बिनती करता है ? (अर्थात् उस स्वप्नके झूठे बंधनसे छुड़ानेके लिये जागनेपर कोई फिर बिनती नहीं करता)। ४। तुलसीदासजी कहते हैं कि ज्ञान और भक्ति (आदि) अनेक साधन हैं, यह सब सत्य है, झूठ कुछ भी नहीं है (पर मेरे) मनमें तो यही भरोसा है कि यह भ्रम श्रीहरिकृपासे (ही) मिटता है (अन्य किसी साधनसे नहीं)। ५।

टिप्पणी—१ 'असि तुम्हारि यह माया।....' इति। 'असि' ऐसी है कहकर आगे बताते हैं कि कैसी है। 'तरिअ नहिं जब लगि करहु न

दाया'—यह मायाका प्राबल्य दिखाया और छूटनेका उपाय केवल 'हरिकृपा' बताया। यथा 'अतिसय प्रबल देव तव माया। छूटइ राम करहु जौं दाया॥ ४।२१।२।', 'सो दासी रघुबीर कै समुझें मिथ्या सोपि। छूट न रामकृपा बिनु नाथ कहउँ पद रोपि।७।७१।'—विशेष 'बिरंचिसिव नाचत पार न पायो।' ९८ (३ ग) में देखिए। 'तरिअ नहिं' से जनाया कि माया बड़ी विषम है। ५९ (७ ग) देखिये।

२ 'सुनिअ गुनिअ·····' इति। (क) प्रथम संत गुरु वक्ताओंसे सुना जाता है, तब उसपर विचार (मनन) किया जाता है, तब समझमें आता है तत्पश्चात् दूसरेसे कहा और समझाया जाता है। इसी क्रमसे यहाँ 'सुनिअ' आदिको कहा। यह सब मैं करता हूँ। वक्ताओंद्वारा सुनता हूँ कि जीव चेतन अमल सहज सुखराशि है, ईश्वरका अंश है, माया जड़ है और असत्य है, भगवान्‌की सत्तासे यह सत्य भासती है। विचार करता हूँ कि सारा प्रपंच मायाका ही रचा है, इन्द्रिय, विषय, देवता आदि सब इसी के कार्य हैं, ये सब परिणामी है ब्रह्मा शिवादिको भी यह भुलावेमें डालकर नाच नचाया करती है, तब अन्य जीवकी बातही क्या? यह जीवको विषयोंमे सत्यताकी प्रतीति कराकर अहंकारी बना देती है, जिससे भवमें पड़ना होता है। और इसे समझता-समझाता भी हूँ कि यह सब ठीक है। फिर भी मोह हो जाता है। अपने 'चेतन अमल सहज सुखरासी' इस सहज स्वरूपको भूलकर विषय-वासनामें सुख मानने लगता हूँ।

पुनः, 'सुनत' अर्थात् वेद और पुराण आदिमें सुनता हूँ कि श्रीरामजी सर्वत्र सबमें व्याप्त हैं, इसे विचार करता और समझता भी हूँ; पर हृदयमें यह भाव स्थिर नहीं रहने पाता, यथा 'बेद पुरान सुनत समुझत रघुनाथ सकल जग ब्यापी। भेदत नहि श्रीखंड बेनु इव सारहीन मन पापी।११७।' यदि यह भाव जम जाय कि चर-अचर सब प्रभुका ही रूप है, प्रभु ही सब शरीरों द्वारा क्रीड़ा कर रहे हैं तो भी भवविपत्ति न रह जाय। पर यह दशा आती नहीं।

२ (ख) 'दसा हृदय नहि आवै·····' इति। भाव कि सुनने, गुणने और समझनेसे वह दशा नहीं प्राप्त होती जिसके साक्षात्कारसे मोहजनित भव दुःख दूर हो जाता है।

'दशा' का अर्थ है—'अवस्था', 'स्थितिका प्रकार'। दशा हृदयमें नहीं आती जिसके साक्षात्कारसे भवविपत्ति दूर हो, इस कथनमें भाव यह है कि सुनने-विचारने और समझने-समझानेसे हृदयमें वह स्थिति, वह

अवस्था आनी चाहिए, पर वह नहीं आती। भाव यह है कि वह दशा सुनने आदिसे हो ही नहीं सकती, वह तो आपकी कृपा हीसे होगी। 'जब लगि करहु न दाया' को इस कथनसे पुष्ट किया। जिस दशाके साक्षात्कारसे भव-विपत्तिका नाश हो वही 'दशा' यहाँ अभिप्रेत है। पद ११४ में भी कहा है कि 'मोह शृंखला छूटिहिं तुम्हारेहिं छोरे'। अतएव वह दशा प्रभुकी कृपासे ही आ सकती है। विवेकसे भी मोह तथा संसार-की निवृत्ति होती है, यथा 'होइ विवेक मोह भ्रम भागा। २। ९३।', 'बिनु विवेक संसार घोर निधि पार न पावै कोई। ११५।' और यह विवेक हरिकृपासे मिलता है-'हरि-गुर-करुना बिनु बिमल विवेक न होई।११५।'—भाव यह कि सुनने, गुणने, समझनेसे विवेक होता है, 'पर विमल विवेक' नहीं होता; क्योंकि वह तो कृपासे मिलता है। अतः मुझपर दया कीजिए। ११५ (५ क, ख, ग) देखिए। एक 'दशा' और 'अनुभव' की चर्चा पद १६७ में भी आई है। यथा 'सकल दृश्य निज उर मेलिकै सोवै निद्रा-तजि जोगी। सोइ हरिपद अनुभवै परम सुख अतिसय द्वैतबियोगी।।'''' तुलसिदास यहि दसाहीन संसय निर्मूल न जाहीं।।'

[वह दशा कौन है,—इसमें टीकाकारोंका मत भिन्न-भिन्न है। (१) वैजनाथजीका मत है कि 'इन्द्रिय और मन आदिको एकाग्र कर शुद्ध जीवकी आत्मवृत्ति सदा अखण्ड ब्रह्मरूपमें लगी रहे, यही अनुभव दशा है। सो यह सदा रहती नहीं।' (२) भट्टजी लिखते हैं—'उस मायाकी दशा हृदयमें नहीं आती। अर्थात् जब मनको एकाग्र कर आत्मवृत्तिको अखण्डब्रह्ममें लगाता हूँ तब उस (दशा) का अनुभव होता है, परन्तु मन स्थिर नहीं रहता और उस अनुभव बिना''''।' (भ.)। (३) ''इस मायाकी गति फिरभी ठीक-ठीक मनमें नहीं बैठती, अर्थात् वह अनिर्वाच्य ही रहती है। और जबतक इसका वास्तविक रहस्य ज्ञात नहीं हुआ, मन स्थिर और शान्त नहीं हुआ तब तक''''। भाव कि जबतक जीव प्रकृतिसे पृथक् होकर कैवल्यका अधिकारी नहीं हुआ, तबतक यह जन्म-मरणके चक्रसे छूट नहीं सकता।'' (४) ''इस मायाका यथार्थ रहस्य समझमें नहीं आता और जबतक इसके वास्तविक रहस्यका अनुभव नहीं होता तबतक''''।' (पो०)। (५) ''परन्तु उसका भाव हृदयमें नहीं आता जिस ब्रह्मभाव के बिना''''।'' (सू० शुक्ल)। (६) ''वह दशा हृदयमें नहीं आती जिसकी प्रत्यक्षता (साक्षात्कार) बिना''''" (च०)। (६) ''तथापि मेरे हृदय में उस दशा (आत्मज्ञान) का उदय नही होता जिसके अनुभवके बिना''''"

(दीनजी)। (७) "उस समझनेका फलरूप 'स्वरूप' हृदयमें नहीं आता जिस दशारूप अनुभवके विना....." (भ० स०, शु०)। (८) "वह दशा....कि जिस 'अनुभूत ज्ञानके बिना' अर्थात् सुनना....समझाना अनुभूत ज्ञानके यथार्थ कारण विद्यमान रहते फलरूपी सच्ची समझदारी नहीं होती और बिना अनुभूत ज्ञानके सुखका अभाव है।" (वीरकवि)। (९) "वह विवेककी दशा हृदयमें नहीं आती जिसके द्वारा होनेवाले अनुभवके विना....."। वह दशा "ऊपर पदमें कहा हुआ 'विमल विवेक' है, जिससे मोह-विकाररूप तीनों शरीरोंसे होनेवाले दुःखोंका दूर होना कहा गया है, अर्थात् नवधा, प्रेम-लक्षणा एवं पराभक्तिकी दशाएँ हृदयमें नहीं आती हैं।" (श्री० श०)]

टिप्पणी—३ 'ब्रह्म-पियूष मधुर सीतल.....' इति। पं० रामकुमारजीने 'ब्रह्म पीयूष सम मधुर और शीतल है' यह अर्थ किया है। दूसरा अर्थ यह भी होता है कि 'ब्रह्म पीयूष मधुर और शीतल है।'—प्रायः औरोंने यही अर्थ किया है।

ब्रह्मको रसरूप वेदोंने भी कहा है—'रसो वै सः। तैत्ति० २।७।' अमृत भी कहा है—'अमृतं अभयं अशोकः' (छा०), 'अमृतस्य पुत्राः' (ऋग्वेद)। ब्रह्मरस=ब्रह्मानन्द, ब्रह्मका स्वाद। यह रस ऐसा ही है, इसके आगे घरवार, विषय सब भूल जाते हैं। यथा 'ब्रह्मानंद मगन कपि सबके प्रभु पद प्रीति। जात न जाने दिवस तिन्ह गये मास षट बीति ॥७।१५। बिसरे गृह सपनेहुँ सुधि नाहीं।' सहज सुखको भी शीतल मधुर पीयूष कहा गया है, यथा 'सीतल मधुर पियूष सहज सुख निकटहि रहत दूरि जनु खोयो ।२४५।' गीतामें भी कहा है कि जब चित्त आत्मामें ही संतुष्ट रहता है, आत्माको ही देखता है, आत्मामें ही स्थित होता है, तब उसको इन्द्रियोंसे अतीत बुद्धिग्राह्य आत्यन्तिक सुख प्राप्त होता है, वह समस्त भोगोंसे निःस्पृह हो जाता है। इस सुखकी अधिकताके कारण वह आत्मस्वरूपसे विचलित नहीं होता। इसे पाकर इससे अधिक वह और कोई लाभ नहीं समझता।—'यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः। गीता ६।२२।'—यही 'ब्रह्म-रस' है। इसमे स्थित पुरुष समस्त भोगोसे निस्पृह हो जाता है—'निःस्पृहः सर्वकामेभ्यो। गीता ६।१८।' अतएव तुलसीदासजी कहते है—'मन से रस पावै तौ कत विषय कारन धावै।'

विषयको मृगजल कहकर जनाया कि ब्रह्मरस सत्यजल है। जबतक विषयको सत्य जल जानता है, तभीतक जीव उसके पीछे दौड़ता है। यथा 'मृग-भ्रम-बारि सत्यजल जानी। तहँ तूँ मगन भयो सुख मानी॥ तहाँ मगन मज्जसि पान करि त्रयकाल जल नाही जहाँ। निज-सहज अनुभवरूप

तव खलु भूलि जनु आयो तहाँ ।१३६ (२)।' इस उद्धरणसे जनाया कि निज सहज अनुभवरूप की प्राप्तिसे विषयकी ओर फिर जीव नही जाता। इस तरह 'ब्रह्मरस' से 'निज सहज अनुभव रूप' को भी कहा है ।

पुनः ब्रह्मरसको पीयूष कहकर जनाया कि इससे तृप्ति होती है, संतोष प्राप्त हो जाता है, अतः फिर जीव विषयकी ओर नहीं जाता। यथा 'जौं संतोष-सुधा निसिबासर सपनेहु कबहुँक पावै। तौ कत विषय बिलोकि झूठ जल मन कुरंग ज्यों धावै। १६८।', 'रसॐह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति। तैत्ति०। २। ७।' अर्थात् उस रसको पाकर जीव आनंदित होता है।

☞'दशा हृदय नहिं आवै' का लक्षण यहाँ दिखाते हैं कि यदि किसीको अमृत मिल जाय जो मधुर है, शीतल है. प्यास बुझा दे, तृप्त कर दे, पुष्ट कर दे, तो वह मृगजलके पीछे न दौड़ेगा—वह तो कटु है, ताप देने तथा प्राण लेनेवाला है। इसी तरह यदि मनको ब्रह्मानन्द, ब्रह्मका साक्षात्कार आदि प्राप्त हो जाय जो त्रितापहारक है तो वह त्रितापकारक विषयके पीछे क्यों लगकर प्राण खोवे? भाव यह कि भवविपत्तिनिवारक दशा प्राप्त हो गई होती, तो मैं विषयोंके पीछे न दौड़ता होता [इससे यह जनाया कि जबतक विषयमें रुचि है, तबतक भगवत्-प्राप्ति नहीं होने की। (भ. स.)]

टिप्पणी—४ (क) 'जेहि के भवन बिमल चिंतामनि·····' इति। यह भी दृष्टान्त है। चिन्तामणि चिन्तित पदार्थोंका दाता है। जिसके पास यह हो उसके पास दारिद्र्य फटक नहीं सकता; तब वह तुच्छ काँचके टुकड़ों को क्यों एकत्र करेगा? अर्थात् कभी न बटोरेगा। इसी तरह जिसको ब्रह्मरस, बिमल विज्ञान, रामनाम, रामचरित, रामभक्ति आदि चिन्तामणि प्राप्त हैं वह विषयरूपी काँचको बटोरनेमें न लगेगा। रामजीके नाम चरित आदिको चिन्तामणि और विषयको काँच कहा गया है। यथा 'पायौं नाम चारु चिंतामनि उर करते न खसैहौं। १०५।', 'रामचरित चिंतामनि चारू ।१।३२।१।', 'रामभक्ति चिंतामनि सुंदर ।७।१२०।२।', 'होहिं बिषयरत मंद मंदतर ॥ काँच किरिच बदले ते लेहीं ।७।१२१।११-१२।'

४ (ख) 'सपने परबस परे·····' इति। स्वप्नमें दुःख पाता हुआ मनुष्य जागनेपर अपनी भूल जानकर किसीसे कष्ट निवारण करनेको नहीं कहता। इसी तरह जीव मोहरूपी रात्रिमें स्त्री, पुत्र, पिता, माता, धन, धाम आदिका स्वप्न देखा करता है। यदि जाग जाय तो इनको अनित्य जानकर इनसे वैराग्य हो जाय। यथा 'मोह निसा सब सोवनिहारा। देखिअ सपन अनेक प्रकारा॥ जानिअ तबहि जीव जग जागा। जब सब

विषय विलास विरागा ॥ होइ बिवेक मोह भ्रम भागा ।२।९३।' *भाव कि यदि मुझे वह दशा प्राप्त होती, तो मैं निहोरा क्यों करता ? वह जागना तो आपकी कृपासे ही प्राप्त होगा। यथा 'जानकीसकी कृपा जगावती सुजान जीव, जागि त्यागि मूढ़ता अनुराग श्रीहरे। करि बिराग तजि बिकार भजि उदार रामचंद्र····।७४।'—'जब लगि करहु न दाया' की पुष्टि इस दृष्टान्तसे भी की।

[जीव मोहनिद्रामें सोता हुआ स्वप्नके भ्रमके समान संसारको सच्चा मानता है। मोहनिद्रा मिटने और ज्ञानका प्रकाश होनेपर संसारबंधन झूठा दिखाई देने लगता है। (वै०, अ०)। मोहासक्त हो इन्द्रियोंके वश होना स्वप्नमें परवश पड़ना है, यथा 'परवस जानि हँस्यो इन इंद्रिन्ह ।१०५।' (श्री० श०)]

टिप्पणी— ५ 'ज्ञान भक्ति साधन अनेक····' इति (क) यह वात सत्य है, इसमें किंचित् झूठ नहीं कि ज्ञान, भक्ति आदि अनेक उपाय माया-मोह आदिके निवृत्त करनेके हैं। वेदों, धर्मशास्त्रों, पुराणों आदिमें ये साधन कहे गए हैं इसलिये प्रामाणिक है। यथा 'बहु उपाय संसार तरन कहँ विमल गिरा श्रुति गावै। १२०।' यह वेदोंका सर्वसाधारण सिद्धान्त कहकर आगे अपना निश्चित सिद्धान्त कहते हैं। (ख) 'तुलसिदास हरि कृपा मिटै भ्रम····' इति। अर्थात् मेरा तो दृढ विश्वास है और इसीका भरोसा है कि आपकी कृपासे ही भ्रम (माया-मोह) मिटता है। इसमें व्यंग्य यह भी है कि औरोंको जो रुचे सो करें मुझे तो इसीका अवलम्ब है। यथा 'भरोसो जाहि दूसरो सो करो।····करम उपासन ज्ञान वेदमत सो सब भाँति खरो। मोहिं तो सावनके अंधहिं ज्यों सूझत रंग हरो। २२६।' दूसरा भरोसा क्यों नहीं है और कौन दूसरा भरोसा करेगा यह भी कविने अन्यत्र बताया है। यथा 'व्रत तीरथ तप सुनि सहमत पचि मरै करै तन छाम को॥ करम जाल कलिकाल कठिन आधीन सुसाधित दाम को। ज्ञान बिराग जोग जप

* 'यथा ह्यप्रतिबुद्धस्य प्रस्वापो बह्वनर्थभृत्। स एव प्रतिबुद्धस्य न वै मोहाय कल्पते। भा० ११।२८।१४।' अर्थात् जैसे सोते हुए मनुष्यको स्वप्नावस्था अनेक अनर्थ देती है, परन्तु जागनेपर वह अनर्थ दूर हो जानेसे किसी प्रकारका मोह नही कर सकती; वैसेही अज्ञान अवस्थामें देह आदि अनेक दुःख देते है, परन्तु ज्ञान होनेपर मोह नही कर सकते। [जिसे तत्वज्ञान प्राप्त हो गया तथा जो निरंतर मुझमे मन लगाये रहता है उस आत्माराम मुनिका प्रकृति कुछ नही कर सकती] यह श्लोक भा० ३।२७। २५ में भी है, कोष्टकान्तर्गत अंश इसके श्लोक २६ का अनुवाद है।

को भय लोभ मोह कोह काम को।१५५।', 'भरोसो आइहै उर ताकें। कै कहुँ लहै जो रामहिं सो साहिब कै अपनो है बल जाकें। कै कलिकालु करालु न सूझत मोह मार मद छाकें। कै सुनि स्वामि सुभाउ रह्यो न चित जो हित सब अँग थाकें।२२५।' कृपाका ही अवलम्ब है; यथा 'नाथ कृपा ही को पंथ चितवत दीन हौ दिन राति।२२१।', 'तुलसिदास रघुनाथ कृपाको जोवत पंथ खरयो।२३६।', 'तुलसिदास प्रभु कृपा करहु अब, मैं निज दोष कछू नहिं गोयो।२४५।', 'जब कब निज करुना सुभावतें द्रवहु तो निस्तरिये। तुलसिदास बिस्वास आन नहिं कत पचि-पचि मरिये।१८६।', इत्यादि।

५ (ग) 'माधो असि तुम्हारि यह माया' उपक्रम है। 'हरि कृपा मिटै भ्रम' उपसंहार है। इस तरह यहाँ 'भ्रम' को 'माया' का पर्याय जनाया। ऊपर स्वप्न, मृगजल आदि भ्रम कहे भी गये हैं। भ्रम श्रीरामकृपासे ही छूटता है। यथा 'जदपि मृषा तिहुँ काल सोइ भ्रम न सकै कोउ टारि। १।११७'''जासु कृपा अस भ्रम मिटि जाई। गिरिजा सोइ कृपाल रघुराई।' (यह शिवजीका सिद्धान्त है), 'ब्यापि रहेउ संसार महुँ माया कटक प्रचंड। ''''छूट न राम कृपा बिनु''''।७।७१।' (यह भुशुण्डि सिद्धान्त है)। और यही तुलसीदासजीका सिद्धान्त है।

वियोगीजी—'भ्रम'—"यह जगत् सत्य है अथवा असत्य। इस भ्रमका अद्वैतवादियोंके मतानुसार यह अर्थ नहीं है कि जगत् असत्य होकर भी सत्यकी नाईं भासित हो रहा है; किन्तु आशय यह है कि 'समझ ही में नहीं आता कि जगत् सत् है वा असत्।"

सू० शुक्ल—"भगवान्‌की कृपा हाथपर हाथ धरकर बैठनेसे नहीं होती, किन्तु सदैव क्रम-क्रमसे प्रेम बढ़ानेसे होती है और यह अवश्य ही है कि जब परमात्मामें प्रीति नहीं तो साधन कभी ठीक नहीं होंगे और विना दृढ़ साधनके ज्ञान-वैराग्य, भक्ति हृदयमें नहीं ठहरेंगे तो केवल कहने-सुनने समझने मात्रसे क्या हो सकता है। परमात्माके न जाननेसे जीवात्मा दुःखी है, निश्चय हो जानेसे तो पूर्णकाम है, फिर क्लेश कहाँ? पराभक्तिके साधन करता हुआ धैर्यसे विश्वास करे कि अवश्यही परमात्मासे मिलूँगा तो भगवान्‌की कृपा होती है और कार्य सिद्ध होता है।"

श्रीसीतारामचन्द्रार्पणमस्तु ।

पद ११७ (६६)

हैं[*] हरि कवन दोष तोहि दीजै।
जेहिं उपायँ सपनेहुँ दुर्ल्लभ[१] गति सोइ निसि बासर कीजै। १।
जानत अर्थ अनर्थरूप तम-कूप परब[†] यहि लागें।
तदपि न तजत स्वान अथ[३] खर ज्यों फिरत विषय अनुरागें। २।
भूतद्रोह कृत मोह बस्य हित आपन मैं न बिचारा[४]।
मद मतसर अभिमान ज्ञानरिपु एन्ह[५] महँ रहनि अपारा[४]। ३।
बेद पुरान सुनत समुझत रघुनाथ सकल जग ब्यापी।
भेदत नहिं श्रीखंड बेनु इव सारहीन मन पापी। ४।
मैं[६] अपराधसिंधु करुनाकर जानत अंतरजामी।
तुलसिदास भव-ब्याल ग्रसत[७] तव सरन उरग-रिपु-गामी[८]। ५।

शब्दार्थ—अर्थ=इन्द्रियोंके विषय शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध। यथा 'शब्दस्पर्शादयो येऽर्था....' (मैत्रायण्युपनिषत्)=धन, संपत्ति। अर्थशास्त्रके अनुसार मित्र, पशु, भूमि, धन, धान्य, आदिकी प्राप्ति और वृद्धि। (श० सा०)। अनर्थ (अनर्थकारी)=अनिष्ट (अनिष्टकारी, हानि पहुँचानेवाला)। परब (पड़ब)=पड़ेंगे; पड़ना होगा। * * तम-

---

[*] हैं—१६६६। हे—औरो मे ☞'हे' की जगह 'हैं' का प्रयोग कवि ने मानस और विनय दोनो मे कई स्थलो मे किया है। विशेषकर विस्मय एवं आश्चर्य जहाँ प्रकट किया है। १ दुर्ल्लभ—६६, रा०, ५१। दुर्लभ वा दुरलभ-औरो में। †परब ६६। परव—औरो मे। ३ अथ—६६, रा०, भ०। अज—औरोमें। वत्—प्र०। ४ विचारा, अपारा-६६, भा०, वे०, बक्सर, भ०। विचारो, अपारो—प्रायः औरोमे। ५ एन्ह-६६। इन्ह-औरोमे। ६ मैं—६६। लेखककी भूल जान पडती है। ७ ग्रसत—६६, रा०, भ०। ग्रसित-प्रायः औरोमे। ८ उरग-अरि-गामी—भा०, वे०, प्र०। उरग रिपु गामी—प्रायः औरोमे।

* * 'षरव' (खरव) पाठ ही हो तो फारसी 'खराव' से 'खरव' क्रिया बनाई हुई मानकर अर्थ होगा—'खराव होगे, सडेगे। अथवा खरव=खर्व=तुच्छ; छोटा। अर्थ होगा कि 'तमकूप इसके सामने तुच्छ है।' पूर्व पद ११३ मे कहा है 'द्वइतरूप तम-कूप परउँ नहिं।' इससे यहाँ भी 'तम-कूप परव' पाठ ही होना निश्चित होता है। भूलसे 'प' का पेट चिरजानेसे 'परव' हो जाना संभव है।

कूप=अंधा कुआँ। अंधा कुआँ वह है जिसमें जल न हो और जिसका मुँह घास-पातसे ढका हो। तम-कूप=मोहरूपी अंधकूप में। 'अंधकूप' एक नरकका भी नाम है, पर यहाँ भव (संसारमें आवागमन) ही अंधकूप है। द्वैतबुद्धि, भेदबुद्धि, आदि सब भवकी ही शाखाएँ हैं।—'द्वइतरूप तम-कूप परउँ नहिं।११३।' अथ=अथवा। यथा 'मंगले संशयारम्भाधिकारानन्तरेषुच। अन्वादेशे प्रतिज्ञायां प्रश्न साकल्ययोरपि॥' (हेमकोश) लागें=लगनेसे। संबंधसे।=लिये। यथा 'पुत्र शरीर परा तव आगे। रोवत मृषा जीवके लागे।' (श० सा०)। श्वान=कुत्ता। खर=गधा; गर्दभ। भूतद्रोह=जीवमात्रसे द्रोह। यथा 'चौदहभुवन एक पति होई। भूतद्रोह तिष्टइ नहि सोई।५।३८।७।' बस्य=वशमें होकर; वशमें; यथा 'बिषय बस्य सुर नर मुनि स्वामी। मैं पावँर पसु कपि अति कामी।४।२१।१।', 'एहि आचरन बस्य मैं भाई।७।४६।४।', 'माया बस्य जीव सचराचर।७।७७।४।' 'माया बस्य जीव अभिमानी। ईस बस्य माया गुनखानी।७।७७।६।' 'रहनि'=प्रेम; लगन। यथा 'जौं पै रहनि राम सों नाहीं। तौ नर खर कूकर सूकर सम जाय जियत जग माहीं।१७५।' व्यापी=व्याप्त होनेवाला; सबके भीतर मिला या फैला हुआ; व्यापक। भेदना=धसना; घुसना। प्रविष्ट होना; अर्थात् प्रभाव डालना। सारहीन=निस्सार; खोखला; पोला। उरगरिपुगामी=सर्पोंके शत्रु गरुड़ पर चलनेवाले; गरुड़ जिनकी सवारी है। भगवान्।

पद्यार्थ—हे हरि! आपको कौन दोष दिया जाय? (अर्थात् इसमें आपका कोई दोष नहीं है)। मै रातदिन वही उपाय करता हूँ जिससे सद्गति पाना स्वप्नमें भी दुर्लभ है।१। जानता हूँ कि 'अर्थ' अनर्थरूप है, इसके कारण मैं अंधकूपमें पड़ूँगा, तो भी मैं उसे नहीं छोड़ता, कुत्ते अथवा गधेकी तरह विषयोंमें अनुराग किये हुये फिरता हूँ।२। मोहके वशीभूत होकर मैंने जीवमात्रसे वैर किया और अपने हित (कल्याण) का विचार न किया। मद, मत्सर, अभिमान जो ज्ञानके शत्रु हैं एवं बोधरिपुकाम— इनमें अपार लगन (प्रेम) है।३। वेदों पुराणोंमें सुनता हूँ और समझता भी हूँ कि श्रीरघुनाथजी संपूर्ण जगत्‌में व्याप्त हैं (चराचरमें कोई ऐसी वस्तु नहीं जिसमें वे न हों)। (पर उनकी सर्वव्यापकता मेरे) सारहीन पापी मनमें वैसेही नहीं धसती जैसे (सारहीन पोले) बाँसमें चन्दन (की सुगंध नहीं व्यापती)।४। हे करुणाकी खानि! हे अन्तर्यामी! मैं अपराधोंका समुद्र हूँ, आप अन्तर्यामी हैंजान ते ही है। हे उरगरिपुगामी! (मुझ) तुलसीदासको संसारसर्प ग्रस रहा है, आपकी शरण हूँ।५।

टिप्पणी—१ (क) 'हैं' शब्द देकर जनाया कि बहुत विस्मित होकर कह रहे हैं। (ख) 'हरि' अर्थात् आप तो जीवोंके क्लेशको हरनेवाले हैं, जीव आपका होवे ही नहीं, तो उसका ही दोष है, यदि उसके दुःखका निवारण नहीं होता। (ग) 'कवन दोष तोहि दीजै' इति। पिछले पदमें कहा था कि 'असि तुम्हारि यह माया। करि उपाय पचि मरिअ तरिअ नहिं', जिसका भाव यह था कि मैं तो अनेक उपाय मायासे छूटने, भवविपत्तिसे छुटकारा पानेका करता हूँ फिर भी कोई उपाय फलीभूत नहीं होता, इसमें मायाका दोष है और यह माया आपकी है। इस तरह दोष व्यंग्यसे भगवान्‌के माथे धरा कि आपकी माया है, आपही कृपा करें तो वह छूटे, आप कृपा करते नहीं। पुनः विचारा तो अपनी ही चूक पाई। अतः विनय करते हैं कि आपका कोई दोष नहीं, आपको दोष लगाना व्यर्थ है, कारण आगे कहते हैं—'जेहिं उपाय.....'। [भाव कि सब दोष मेरा ही है। मैं आपकी कृपाका पात्र ही नहीं बनता, तब आप कृपा कैसे करें ? कृपाका पात्र क्यों नहीं है, यह आगे कहते हैं। (वै.)] (घ) 'जेहिं उपाय –' इति। अर्थात् जिन कर्मोंसे सद्गति दुर्लभ है, वही करता हूँ। उपाय करना पद ११६ में कहा था,—'करि उपाय पचि मरिअ'; अब विचार कर कहते हैं कि वे सब उपाय सद्गतिके नहीं थे। कुछ उपाय जो किये उनको प्रार्थी आगे स्वयं कहता है।

टिप्पणी—२ 'जानत अर्थ अनर्थरूप.......' इति। (क) 'अर्थ' अर्थात् इन्द्रिय-विषय अनर्थरूप हैं। प्रह्लादजीने दैत्यबालकोंसे कहा है कि धन, स्त्री, पशु, पुत्रादि, घर, पृथिवी, हाथी, कोश, नाना प्रकारकी संपत्ति तथा संपूर्ण अर्थ और भोगसामग्रियाँ ये सब स्वयं अस्थिर हैं, ये क्षणिक आयु-वाले मनुष्यका क्या प्रिय कर सकती हैं। स्वर्गादिभी नाशवान् और दोषयुक्त हैं। इन तुच्छ विषयोंसे आत्माका क्या प्रयोजन ? ये तो देहके साथही नष्ट हो जानेवाले और पुरुषार्थरूप मालूम होनेपर भी नित्यानन्दमहोदधि आत्माके लिए अनर्थरूप ही हैं।—'किमेतैरात्मनस्तुच्छैः सह देहेन नश्वरैः। अनर्थैरर्थसंकाशैर्नित्यानन्दमहोदधेः।' (भा० ७।७।३८, ३९, ४५)।

क्या अनर्थ इनसे होता है सो बताते हैं कि 'तमकूप परब.....'। 'तमकूप' क्या है यह पूर्व कह आये हैं कि द्वैत तमकूप है, यथा 'द्वैतरूप तमकूप परौं नहिं से किछु जतन बिचारी। ११३।' अनात्ममें आत्मबुद्धि, देहात्माभिमान, हम-हमारा, जीव-जीवमें वैषम्यबुद्धि आदि द्वैतबुद्धि ही संसृतिका कारण है। ११२ (४ ग) देखिए। इस

तरह विषय संसृतिका कारण है, यह जानता हूँ। यथा 'विषय वारि मन मीन भिन्न नहिं होत कबहुँ पल एक। ताहि तें सहिअ बिपति अति दारुन जनमत जोनि अनेक।१०२।' अर्थमें पन्द्रह अनर्थ ये बताए गए हैं—चोरी, हिंसा, झूठ, दंभ, काम, क्रोध, अभिमान, मद, भेद, वैर, अविश्वास, स्पर्द्धा, स्त्री, जूआ और मदिरापान। ये पंद्रह अनर्थ मनुष्यको अर्थके ही कारण हुआ करते हैं। यथा 'स्तेयं हिंसाऽनृतं दम्भः कामः क्रोधः स्मयो मदः। भेदो वैरमविश्वासः संस्पर्धा व्यसनानि च॥ एते पञ्चदशानर्था ह्यर्थमूला मता नृणाम्। भा० ११।२३।१८-१९।'—इस भिक्षुगीता प्रसंगमें 'धन' को अर्थ कहा गया है, क्योंकि उसमें धनका ही प्रसंग है। किन्तु सभी अर्थोंमें (विषयोंमें) इसका ग्रहण हो सकता है। भा० ३।२७।४ तथा भा० ११।२८।१३ में भगवान्ने बताया है कि जैसे स्वप्नावस्थामें अर्थ न होनेपर भी अनर्थकी प्राप्ति होती है, वैसे ही सांसारिक विषयोंका ध्यान करनेवाले जीवका संसार, असत् होनेपर भी निवृत्त नहीं होता। ११।२२।५५ में भी यह श्लोक ज्योंका त्यों है। भा० ११।२१ में कहा है कि जो मेरे पानेके भक्ति, ज्ञान और कर्म मार्गोंको छोड़कर चंचल प्राणों या इन्द्रियोंके द्वारा क्षुद्र विषयोंका सेवन करते हैं, वे बारंबार अनेक योनियोंमें जन्मते-मरते रहते हैं।—'य एतान् मत्पथो हित्वा भक्तिज्ञानक्रियात्मकान्। क्षुद्रान् कामांश्चलैः प्राणैर्जुषन्तः संसरन्ति ते।१।' ब्रह्मवैवर्त पु० प्रकृति० में भी कहा है—'ऐश्वर्यं विपदां बीजं प्रच्छन्नाज्ञानकारणम्। मुक्तिमार्गार्गलं दार्ढ्याद् हरिभक्ति व्यपायकम्।' (३६।४८)

श्रीशङ्कराचार्यजी भी कहते हैं—'अर्थमनर्थं भावय नित्यं नास्ति ततः सुखलेशः सत्यम्। पुत्रादपि धनभाजां भीतिः सर्वत्रैषा कथिता नीतिः।' (मोहमुद्गर-२)। अर्थात् धन, विषयादि भोगोंको महा अनर्थकारी समझो, उससे तनिक भी सुख नहीं होता, यह सत्य ही है। धनियोंको अपने पुत्रोंसे भी भय रहता है। ऐसी नीति प्रायः सर्वत्र कही गई है। (यह नीति सर्वत्रके लिए एक समान लागू है)।

भा० ११।२३ में अनर्थ गिनाने के पश्चात् यही नीति विस्तारसे कही गई है। यथा 'भिद्यन्ते भ्रातरो दाराः पितरः सुहृदस्तथा। एकास्निग्धाः काकिणिना सद्यः सर्वेऽरयः कृताः।२०। अर्थेनाल्पीयसा ह्येते संरब्धा दीप्तमन्यवः। त्यजन्त्याशु स्पृधो घ्नन्ति सहसोत्सृज्य सौहृदम्।२१।'

'तम कूप परब यहि लागें' में श्लोक २२ 'लब्ध्वा जन्मामरप्रार्थ्यं मानुष्यं तद् द्विजाग्र्यताम्। तदनादृत्य ये स्वार्थं घ्नन्ति यान्त्यशुभां गतिम्।' का भाव है। अर्थात् देवता भी जिस मनुष्य शरीरके लिये प्रार्थना करते हैं,

उसमें भी उत्तम ब्राह्मणका शरीर पाकर जो उसका तिरस्कार करते हुए अपने स्वार्थको खोते हैं, वे अधम गति पायेंगे।

मैत्रायण्युपनिषत्में 'अर्थ' का अर्थ स्पष्ट मिलता है। उसमें शब्द-स्पर्श आदि अर्थोंको अनर्थरूप कहा है। यथा 'शब्दस्पर्शादयो येऽर्था अनर्था इव ते स्थिताः। येष्वासक्तस्तु भूतात्मा न स्मरेच्च परंपदम् ।४।२।' अर्थात् शब्द-स्पर्शादि विषय अनर्थके तुल्य हैं। क्योंकि इनमें आसक्त जीव आत्मरूप परपदको ही भूल जाता है।

२ (ख) यह मैं 'जानत' जानता हूँ, 'तदपि न तजत', तो भी नहीं छोड़ता; यथा 'जदपि विषय सँग सहे दुसह दुख विषम जाल अरुझान्यो। तदपि न तजत मूढ़ ममता बस जानतहूँ नहिं जान्यों। ८८।', 'देखत विपति विषय न तजत हौं ताते अधिक अयान्यो ।९२।', 'अजहुँ विषय कहुँ जतन करत जद्यपि बहु विधि डहँकायो ।१९९।' 'न तजत' से जनाया कि आसक्ति परि-पक्वावस्थाको पहुँच चुकी, विषयोंका भोग किये बिना रह ही नहीं सकता। उसमें अपनेको भाग्यशाली मानता है।

२ (ग) 'स्वान अथ खर ज्यों ...' इति। श्वानका उदाहरण विषयलोलु-पतामें दिया है, वह जूती खानेपर भी लालचवश फिर उसके लिए जाता है, वैसे ही मैं अनर्थ होनेपर भी विषयके पीछे दौड़ता हूँ, यथा 'लोलुप भ्रमत गृहप ज्यों जहँ-तहँ सिर पदत्रान बजै। तदपि अधम विचरत तेहि मारग कबहुँ न मूढ़ लजै ।८९।' पुन भाव कि जैसे कुत्ता सूखी हड्डीको चबाता है, तो उसके तालूसे रक्त निकल पड़ता है, फिर भी वह उसे नहीं छोड़ता, समझता है कि हड्डीमें खून था, उसे चाटकर सुख मानता है, वैसेही मैं अनर्थ न समझकर विषयमें सुख मानकर उसे नहीं छोड़ता। यथा 'अस्थि पुरातन छुधित स्वान अति ज्यों भरि मुख पकरै। निज तालूगत रुधिर पान करि मन संतोष धरै। ९२ (४)।' और भी कहा है— 'जनि डोलहि लोलुप कूकरु ज्यों। क० ७। ३०।' विषयलिप्त मनुष्यको खर कूकर सूकर समान कहा गया है, क्योंकि काम क्रोध मद मोह आदि विषयभोग तो उनमें भी हैं तब उनमें और विषयी मनुष्योंमें भेद क्या रह गया? यथा 'जौं पै रहनि राम सों नाहीं। तो नर खर कूकर सूकर से जाय जियत जग माहीं। १७५।'

☞ भा० ११। १३। ८ उद्धवजीके 'विदन्ति मर्त्याः प्रायेण विषयान् पदमापदाम्। तथापि भुञ्जते कृष्ण तत्-कथं श्वखराजवत् ॥' (अर्थात् प्रायः सभी मनुष्य इस बातको जानते हैं कि विषय विपत्तियोंके घर हैं

फिर भी वे कुत्ते, गधे और बकरे के समान दुःख सहकर भी उन्हींको भोगते हैं)—इस वाक्यके अनुसार 'अज' पाठ भी ले सकते हैं। पं० रामेश्वर भट्टने 'अथ' का अर्थ 'हड्डी' लिखा है।

नोट—१ बैजनाथजी लिखते हैं कि "प्रयोजनमात्रके लिये अनुकूल पाकर तो स्त्रीमें सभी जीव अनुरक्त होते हैं, परन्तु श्वान, अज, खर ये तीन जीव प्रतिकूलतामें महान् दुःख सहकर भी स्त्रीके पीछे लगे फिरते हैं। कार्त्तिकमें कुत्ता जिस कुतियाके पीछे लगता है, वह काट खाती है, अन्य कुत्ते भी उसे काट खाते है और रतिमें फँस जानेपर बालक उसे डंडेसे मारते हैं, इत्यादि सब दुःख सहकर भी वह भूखा-प्यासा कुत्ता भूख प्यासको भूलकर कुतियाके पीछे दौड़ा करता है। वैसे ही पराई सुन्दर स्त्रीको देखकर मन आसक्त होकर उसे देखता है, उससे स्नेहपूर्वक बातचीत करता है। स्त्री प्रतिकूल हो कुवचन कहती है, यह देख अन्य लोग भी दुर्वचन कहते हैं। कदाचित् उसके संग रत हुए तो अपमान आदि अनेक दंड होते है। फिर भी पर-स्त्रीके पीछे फिरता हूँ।

"गधा जब गदहीके पीछे लगता है तो वह दोलत्ती मारती है, गधा दोलत्तीको कुछ मानता ही नहीं, सह लेता है, पीछा नही छोड़ता। वैसेही वेश्या अपने अधीन देख अपने प्रेमीको जूती लगाती है, फिर भी वह उसके पीछे फिरता है।"

उन्होंने अर्थ (विषय) से 'स्त्री'-विषयका ग्रहण कर उपर्युक्त भाव कहे है और इसका कारण यह लिखते है—'स्त्रीमें आसक्त होनेसे सब विषय उसमें आ जाते है। जैसे कि—श्रवणसे काम वार्ता, नेत्रसे रूपदर्शन, जिह्वासे अधररसपान, त्वचासे अंगस्पर्श और नासिकासे उसके तनकी सुगंध लेते। इत्यादि सब इन्द्रिय विषय उसमें आ गई; इसीसे स्त्रीमें विषयासक्ति हमने कही। स्त्रीमें आसक्ति (काम) विषयकी मूल है।"

बैजनाथजीने 'स्वान अज खर' पाठ रखा है, इससे 'अज' का भाव भी कहा है।†

† बकरी विमुख रहती है। बकरा उसका मूत्र स्थल सूंघा करता है और पीछे लगा फिरता है। वैसे ही स्त्री तो प्रसव वेदनको विचार कर प्रतिकूल रहती है, पर मनुष्य उसमे अनुरक्त हो उसके कठोर वचन सह उसको मनाकर पीछे लगा रहता है। (वै०)।

'अज' का उदाहरण अन्यत्र विनय आदि मे नही देख पड़ा।

टिप्पणी—३ 'भूतद्रोह कृत मोहबस्य ' ' इति । (क) भूतद्रोह भी अनर्थ है, यथा 'चौदह भुवन एक पति होई । भूतद्रोह तिष्टइ नहि सोई ।५।३८।' भूतद्रोह नरकमें ले जाता है, यथा 'काम क्रोध मद लोभ सब नाथ नरकके पंथ ।५।३८।' भूतद्रोह क्रोधके कारण होता है और क्रोध नरकमें ले जाता है । सबसे द्रोह करना कहकर मोहके वशीभूत होना कहा, क्योंकि मोहसे ही लोग दूसरोंसे द्रोह करते हैं; यथा 'करहि मोहबस द्रोह परावा ।६।४०।६।'

[विषय सेवनसे कासना बढ़ती है । स्त्री-विषय आसक्ति अर्थात काम ऊपर कहा । अब क्रोधको कहते हैं कि जीवोंसे वैर विरोध करता हूँ । भाव कि विषय सेवनसे कामनाएँ बढ़ीं, उनमें जिसके द्वारा हानि हुई उससे द्रोह किया । क्रोधसे मोह हुआ और मोहसे चेतनाशक्तिका नाश हुआ । इससे अपने हितका विचार न कर सका । (वै०) । भा० ११ । २१।१६–२१ तथा गीता २।६२,६३ के श्लोकोंका ही यह अर्थ है । यथा–'सङ्गात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते । क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः । स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ।' (गीता) । संमोहसे स्मृतिका भ्रंश और स्मृतिभ्रंशसे बुद्धिका नाश होता है तथा बुद्धिके नाशसे वह संसार सागरमें डूब जाता है ।]

३ (ख) 'हित आपन मैं न विचारा' इति । बुद्धिके नाशसे विचारशक्ति ही न रह गई । विभीषणजीने रावणसे कहा था कि 'जो आपन चाहै कल्याना । सुजसु सुमति सुभगति सुख नाना ।' वह 'परनारि लिलार' अर्थात् कामको, भूतद्रोह अर्थात् क्रोधको छोड़े । मैंने इस हितको न विचारा, जानबूझकर विषयोंमें लगा ।

३ (ग) 'मद मत्सर···' इति । मद, मत्सर, अभिमान और काम ये सब ज्ञानके शत्रु हैं । कामको भी ज्ञानका शत्रु कहा है, यथा 'तम मोह लोभ अहंकारा । मद क्रोध बोधरिपु मारा ॥ अति करहि उपद्रव नाथा ।··· १२५।'; अतः हमने 'ज्ञानरिपु'को अर्थ करनेमें दो बार लिया है; एक बार 'काम'के अर्थमें और दूसरी बार 'ज्ञानके शत्रु' अर्थमें । इस उद्धरणमें मद, अभिमान (अहंकार) और काम आ गए । 'पर गुन सुनत दाह पर दूषन सुनत हरष बहुतेरो । १४३ ।' यह मत्सर है—'हृत्तापोमत्सरः स्मृतः । म० भा० वन० ३१३।'

टिप्पणी—४ 'वेद पुरान सुनत समुझत···' इति । इससे मिलता-जुलता अन्तरा यह है—'सुनिअ गुनिअ समुझिअ समुझाइअ दसा हृदय नहि आवै । ११६ (२) ।' तथा 'बेनु ··साररहित ११४ ।'—इनके भाव ११६ (२ क–ख), ११४ (४ ख) में देखिए । 'सारहीन मन पापी' कहनेका भाव

कि पापीके हृदयमें भगवान्‌की सर्वव्यापकता नहीं धसती, इसीसे वह राग-द्वेष, बैर-विरोध, मद-मत्सर आदिमें रत होता है, प्रभुका भजन नहीं करता। यथा 'पापवंत कर सहज सुभाऊ। भजनु मोर तेहि भाव न काऊ। ५।४४।३।' [मन सारहीन अर्थात् विचारहीन है, आपकी प्राप्तिके आचरण नही करता। (डु०, भ० स०)]

नोट—२ जैसे भा० ३।२७ में भगवान् कपिलदेवने यह कहकर कि 'संसृतिर्न निवर्तते ध्यायतो विषयानस्य' विषयचिन्तनसे संसारचक्रकी निवृत्ति नहीं होती, फिर कहा है कि कल्याणकामीको चाहिए कि 'सर्वभूतसमत्वेन निर्वैरेणाप्रसङ्गतः' 'सानुबन्धे च देहेऽस्मिन्नकुर्वन्नसदाग्रहम्' 'दूरीभूतान्यदर्शनः' (अर्थात् संपूर्ण प्राणियोंमें समभाव रक्खे, किसीसे वैर न करे। स्त्री पुत्रादि संबंधियोंके सहित इस अपनी देहमें असत्‌का अर्थात् मैं और मेरेपनका मिथ्या अभिनिवेश न करे। आत्माके सिवा और कोई वस्तु न देखे। इत्यादि श्लो० ७,९,१०)'; वैसे ही यहाँ 'तमकूप परब यहि लागें'; 'भूतद्रोह'; 'मोहबस्य', 'हित आपन न बिचारा'; 'रघुनाथ सकल जग ब्यापी भेदत नहि···' कहा है। जो वहाँ कल्याण वा हितकामीका कर्तव्य बताया है उसके विपरीत आचरण यहाँ दिखाते हैं।

टिप्पणी—५ 'मैं अपराधसिंधु करुनाकर···' इति। (क) अपनेको अपराधोंका समुद्र कहकर 'करुनाकर' 'अन्तर्यामी' संबोधित करनेका भाव कि अपराधोंकी थाह नहीं है; यथा 'कहिहै कौन कलुष मेरे कृत करम बचन अरु मन के। हारहि अमित सेष सारद श्रुति गनत एक एक छन के।९९।', इसलिये मैं इतना कहकर बस करता हूँ, आप अन्तर्यामी हैं, जानते ही हैं, अधिक कहनेको आवश्यकता नहीं। अगाधापराध होनेसे मैं करुणाका पात्र हूँ। आप करुणाकर हैं; अतः मुझपर करुणा कीजिए। शरण जानेपर आप अपराधोंको भूल जाते हैं और रक्षा करते हैं, यह श्रीहनुमान्‌जीका वचन है, यथा 'प्रनतपाल रघुबंसमनि करुनासिंधु खरारि। गएँ सरन प्रभु राखिहैं तव अपराध बिसारि।५।२२।' अतः मेरी रक्षा कीजिए, मैं आपकी शरण हूँ—'तव सरन'।

५ (ख) 'तुलसिदास भव ब्याल ग्रसत···' इति। किससे रक्षा चाहते हैं, यह बताते हैं कि संसारसर्प मुझे ग्रास कर रहा है, उससे रक्षा कीजिए। पूर्व भी कहा है, यथा 'परम कठिन भव-ब्याल ग्रसित हौं त्रसित भयो अति भारी।९२ (५)।', 'ग्रसत भव ब्याल अति त्रास तुलसीदास त्राहि श्रीराम उरगारिजानं। ६१(६)।'–५४ (१ घ) 'ब्यालारिगामी', ६१ (६)·

की टिप्पणी 'ग्रसत भव व्याल' और 'उरगारिजानं' पर तथा ६२ (५ क-ग) में देखिए।

वियोगीजी—"यहाँ संसार साँप है, उसका भक्षक है ज्ञान, और ज्ञानके अधिष्ठाता हैं भगवान्। भगवत्कृपासे ज्ञान इस जीवका मोह नष्ट कर सकता है—यह भाव है।"

सू० शुक्ल०—"जीवात्मा मन, वचन, देहसे अच्छे, बुरे कर्म जागते व सोते हुए स्वप्नमें भी किया करता है। यदि वह चाहे कि मुझसे बुरे कर्म न हों, अच्छे ही हों और उन्हीं अच्छे कर्मोंद्वारा भगवान्को प्रसन्न करूँ तो असंभव है। इसलिये अभिमान छोड़ अपनेको महादुःखी नीच जीव समझ सेवक भावसे भगवान्में प्रेम बढ़ावे व उन्हींसे उद्धार होनेकी प्रार्थना करे।"

श्रीसीतारामचन्द्रार्पणमस्तु।

११८ (६७)

हौं[1] हरि कौने[2] जतन सुख मानहु।
ज्यों गज दसन तथा मम करनी सब प्रकार तुम्ह जानहु ॥१॥
जो कछु कहिअ करिअ भवसागर तरिअ बच्छ[3] पद जैसें।
रहनि आन बिधि करिअ[4] आन हरि पद सुख पाइअ कैसें ॥२॥
देखत चारु मयूर बयन[5] सुभ बोलि[6] सुधा इव सानी।
सबिप उरग आहार निठुर अस[7] यह करनी वह बानी ॥३॥
अखिल-जीव-वत्सल निर्मत्सर चरन कमल अनुरागी।
ते तव[8] प्रिय रघुबीर धीर मति अतिसय निज-पर-त्यागी ॥४॥

१ है-६६। हे—औरोमे। २ कौने—६६। कौन—ह०। कवन—भा०, वे०, प्र०, आ०, ७४। कवनि—रा०। ३ वछ—६६, रा०, प्र०, ज०, १५। बच्छ—५१, ७४, आ०। वत्स-भा०, ह०। प्राचीन लिपिमें 'च्छ' की जगह केवल 'छ' लिखा पाया जाता है। ४ करिअ—६६, रा०। करिय—भा०, वे०, ह०, वै०, मु०, भ०, ५१, १५। करइ-ज०। कहिय-डु०, दीन, वि०। कहुनि-७४। ५ वयन-६६, रा०। वचन-भा०, वे०, ह०, १५, ज०, प्र०, वै०। वैन-भ०, वि०। वरन—७४। नयन-मु०, दीन। ६ वोलि—६६, भा०, वे०, ह०, दीन, भ०, वि०। वोल—वै०, ह०, रा०, ५१, डु०, मु०, ७४। ७ अस-६६, रा०, ५१, ७४, वे०, प्र०, ज०, आ०. भ०। अति—भा०, ह०। ८ तोहि—भा०, वे०, प्र०, ज०, १५। तव—प्रायः औरोमे।

जद्यपि मम अवगुन अपार संसार जोग्य[६] रघुराया।
तुलसिदास निज अवगुन बिचारि करुनानिधान करु दाया ॥५॥

शब्दार्थ—जतन (यत्न)=करनी; प्रयत्न। गज दसन=हाथीका दाँत। हाथीके मुख-विवरके दोनों छोरोंपर हाथ-डेढ़-हाथ लंबे और पाँच-छः अंगुल चौड़े गोल डंडेकी तरहके सफेद चमकीले दाँत निकले होते हैं, जो केवल दिखावटी होते हैं। इन दाँतोंका वजन बहुत अधिक पचहत्तरसे लेकर एक सौ पचहत्तर सेर तकका होता है। "हाथीके दाँत दिखानेके और खानेके और" यह लोकोक्ति है। करनी=कर्म; करतूत; करतब; यथा 'अपने मुँह तुम्ह आपनि करनी। बार अनेक भाँति बहु बरनी। १।२७४।' बच्छ=गौका बछड़ा; वत्स। बच्छ-पद=पृथ्वीपर पड़ा हुआ गायके छोटे बच्चेके खुरका चिह्न (गड्ढा)। जैसें=समान, सरीखा। रहनि=हृदयकी लगन।=आचरण; चाल-ढाल; रहन-सहन; रहनेका ढंग। यथा 'सोइ विवेक सोइ रहनि प्रभु हमहि कृपा करि देहु।१।१५०।' बयन=बचन। यथा 'बोले मनोहर बयन सानि सनेह सील सुभाय सों। १।३२६ छं०।' बोलि=बोली; मुँहसे निकला हुआ शब्द। सविष=विषयुक्त; विषैला; विषधर। अखिल=सम्पूर्ण। वत्सल (वत्सल)=अपनेसे छोटोंके प्रति अत्यंत स्नेहवान् एवं कृपाल। निज पर=अपना-परायाका भेद। धीर—६० (७ ग) देखिए। जोग्य (योग्य)=उपयुक्त, पात्र, अधिकारी, लायक। संसार=बराबर एक अवस्थासे दूसरी अवस्थामें जाते रहना; बारंबार जन्म लेना और मरना, मायामें बँधे रहना; भवचक्र।

पद्यार्थ—हे हरि! आप (मेरे) किस प्रयत्नसे सुख मानें? (अर्थात् मेरे कोई भी तो कर्म ऐसे नहीं होते जिनसे आप प्रसन्न हो सकें। आगे अपनी करनी बताते हैं)। जैसे हाथीका दाँत (देखनेभरका होता है) मेरी करनी भी सब प्रकार वैसी ही है। आप सब प्रकारसे (एवं मेरे सब ढंग) जानते ही हैं।१। जो कुछ कहता हूँ एवं कहूँ, (वैसा ही) करूँ तो भवसागरको गौके छोटे बछड़ेके खुरके चिह्नके समान तर जाऊँ। (पर) मेरा रहन-सहन (तो) और प्रकारका है और करता और ही कुछ हूँ। (तब) हे हरि! मैं आपके चरणोंका सुख कैसे पा सकता हूँ?।२। मोर देखनेमें सुन्दर है। अमृतमें सनी हुई वाणी जैसा उसका सुन्दर वचन है। (पर) विषधर सर्प उसका आहार (भोजन) है; ऐसा कठोर हृदयवाला

६ जोग—ह०, वै०, ज०, भ०, १५।

है—(कहाँ तो उसकी) यह करनी और (कहाँ उसकी) वह वाणी ! (दोनोंमें कैसा आकाश-पातालका अन्तर है ?) । ३। हे रघुवीर ! जो संपूर्ण जीवोंपर अत्यन्त स्नेह रखते हैं अर्थात प्राणीमात्र जिनको प्रिय है, ईर्ष्या-डाह-रहित, (आपके) चरणकमलोंके अनुरागी, धीर बुद्धि और निज-पर-बुद्धिका अत्यन्त (सर्वथा) त्याग किये हुये है, वे ही आपके प्यारे हैं। (तात्पर्य कि जिनसे आप सुख मानते हैं, वे इन लक्षणोंसे संपन्न होते हैं) । ४। तुलसीदासजी कहते हैं—हे रघुकुलके राजा रामचन्द्रजी ! यद्यपि मेरे अवगुण अपार हैं और संसारके योग्य हैं (अर्थात् इस योग्य हैं कि मैं उनके कारण संसारमें ही सदा पड़ा रहूँ, ८४ लक्ष योनियोंमे भ्रमण करता रहूँ), तथापि, हे करुणासागर ! आप अपने गुणोंको विचारकर मुझपर दया कीजिए (मेरे अवगुणोंपर दृष्टि न डालिए) ।५।

टिप्पणी—१ (क) 'कौने जतन सुख मानहु'का भाव कि मेरे कोई भी आचरण ऐसे नहीं हैं, जिनसे आप सुख मानें । भगवान भावके भूखे हैं, भावसे ही वे परम संतोष और सुख मानते हैं; यथा 'भाव अतिसय विसद प्रवर नैवेद्य सुभ श्रीरमन परम संतोपकारी ।४७।', 'प्रभु भावग्राहक अति कृपाल सप्रेम सुनि सुख मानहीं ।७।६२।'. 'सुनि मुनि वचन राम सकुचाने । भाव भगति आनंद अघाने । २।१०८।१।', 'भजामि भाववल्लभं ।३।४ छं०।', इत्यादि । 'भाव' मुझमें नहीं है तथा जिन गुणोंसे आप प्रसन्न होते हैं वे भी मुझमें नहीं हैं, यह पूर्व कह आये हैं, यथा 'जेहि गुन ते वस होहु रीझि करि मोहि सो सब बिसर्‍यो । ६१ (५) ।'–गुणोंका उल्लेख ६१ (५क)में देखिए । यह कहकर अपने आचरण बताते हैं ।

१ (ख) 'ज्यों गजदसन तथा मम करनी···' इति । गजदशनकी उपमा देकर अपने वाहर-भीतर दोनोंकी करनी दिखाते हैं । अर्थात् मेरे भीतर कुछ और है और बाहर कुछ और, मेरा सब व्यवहार कपटपूर्ण है । लोगोंको दिखानेके लिये तो सुन्दर साधु-वेष, माला-कंठी-तिलक, ज्ञान-भक्तिके वचन, इत्यादि और भीतरसे वासनाओंका दास, दूसरोंको ठगनेकी ताक इत्यादि । यथा 'नाना वेप बनाइ दिवस निसि पर वित जेहि तेहि जुगुति हरौं', 'भक्ति विराग ज्ञान साधन कहि बहु विधि डहँकत लोक फिरौं ।१४१।', 'करहु हृदय अति बिमल बसहि हरि कहि कहि सबहि सिखावौं । हौं निज उर अभिमान मोह मद खलमंडली बसावौं ॥ मन क्रम वचन लाइ कीन्हें अघ ते करि जतन दुरावौं । पर प्रेरित इरिपावस कबहुँक किय कछु सुभ सो जनावौं । १४२ ।', 'स्वाँग सूधो साधुको कुचालि कलितें

अधिक ।२५२।', 'वेष बचन बिरागु, मन अघ अवगुनन्हिको कोसु। राम प्रीति प्रतीति पोली कपट करतव ठोसु ।१५६।' इत्यादि।

१ (ग) 'सब प्रकार तुम्ह जानहु'—भाव कि आप अन्तर्यामी हैं सब जानते ही हैं, आपसे छिपा नहीं है, मैं कहाँ तक कहूँ।

टिप्पणी—२ 'जो कछु कहिअ करिअ ···' इति। (क) भाव कि जैसा मैं लोगोंको उपदेश करता हूँ, यदि स्वयं वैसा करूँ तो गोवत्सपदके समान बिना परिश्रम भवसागर पार हो जाऊँ, परन्तु मैं वैसा करता नहीं, इसीसे भवसागरमें डूब रहा हूँ। इससे जनाया कि भवपार होनेके लिये कहनी-करनी एक-सी होनी चाहिए। कवितावलीमें भी कहा है कि मेरी करनी कहनीके समान नहीं है, आप अपना लें तो ऐसी हो जाय, ऐसा हो जाना अपनानेकी पहचान है। यथा 'तुम्ह अपनायो हौं तबै हीं परि जानिहौं। गढ़ि-गुढ़ि छोलि-छालि कुंदकी सी भाईं बातैं जैसी मुख कहौं, तैसी जीय जब आनिहौं। क० ७।६३।'

२ (ख) 'रहनि आन बिधि करिअ आन···' इति। इससे जनाया कि 'रहनी' भी 'करनी' के समान होनी चाहिए।

['रहनि आन' अर्थात् दिखावमात्र रीति रहस्य और भाँतिको है। 'करिअ आन' अर्थात् अन्तरवासनासे कर्म और ही बिधिके करता हूँ। तात्पर्य कि वेषसे साधु, अन्तरसे कुटिल, वचनकोमल मन कठोर, मुखसे वैराग्य अन्तःकरणमें लोभ, मुखसे ज्ञान बघारता भीतर अज्ञान भरा, वार्ता भक्तिकी और कर्म चोरी ठगी परहानि परदाररति—इति 'रहनि आन बिधि करिअ आन'। (वै०)]

२ (ग) 'हरिपद सुख पाइअ कैसें' अर्थात् ऐसे आचरणोंसे हरिपद-प्राप्ति नहीं हो सकती। यथा 'चाहत मुनि मन अगम सुकृत फलु मनसा अघ न अघाति ॥···करत कुजोग कोटि क्यों पैयति परमारथ पथ सांति ॥ २३३।', 'कोह मद मोह ममतायतन जानि मन, बात नहि जाति कहि ज्ञान बिज्ञान की। काम संकल्प उर निरखि बहु वासनहि, आस नहि एकहू आँक निरवान की ॥ नरक अधिकार मम घोर संसारतमकूप कही··· ।२०८।', 'वेष सुबनाइ सुचि बचन कहैं चुवाइ, जाइ तौ न जरनि धरनि धन धाम की। कोटिक उपाय करि लालि पालिअत देह, मुख कहिअत गति रामही के नाम की॥ प्रगटै उपासना, दुरावै दुरबासनाहि, मानस निवासभूमि लोभ-मोह-कामकी। राग रोष इरिषा कपट कुटिलाई भरे तुलसी-से भगत भगति चहैं रामकी । क० ७।११६।' भाव यह कि ऐसे कुटिल आचरण करनेवाले यदि भगवान्‌को रिझानेकी आशा करें तो वे

बड़े ही हास्यास्पद ही हैं; उनको भक्तिसे प्राप्त होनेवाला हरिपद सुख कब मिल सकता है ? सुख तो भक्तिसे मिलता है, अन्यथा नहीं। यथा 'करम बचन मन छाँड़ि छल जब लगि जन न तुम्हार। तब लगि सुख सपनेहु नहीं किए कोटि उपचार। २।१०७।'

टिप्पणी—३ 'देखत चारु मयूर···' इति। यह कहनी और करनीका दृष्टान्त देते हैं। इससे अपनेको असंत जनाया। असन्तोंका यह लक्षण है; यथा 'बोलहिं मधुर बचन जिमि मोरा। खाइ महा अहि हृदय कठोरा। ७।३९।८।' मोर देखनेमें बहुत सुंदर हैं, उसके कंठकी श्यामताकी उपमा भगवान्‌के वर्णके लिये दी जाती है, पुनः ऐसे सुंदर हैं कि भगवान् कृष्ण उनका मुकुट धारण करते हैं। उसकी बोली मंगलकारी है, मधुर वाणी ऐसी है मानों अमृतमें सनी है, सबको प्रिय लगती है।—वेष और वचन दोनों सुंदर हैं। पर करनी कैसी है, सो सुनिए कि महाविषैले सर्पोंको खा जाता है, ऐसा कठोर है। यथा 'सुंदर केकिहि पेखु बचन सुधा सम असन अहि।१।१६१।'—ऐसे ही मैं सुंदर वेष बनाये मधुर श्रवण-रोचक वचन बोलता हूँ और हृदयका कठोर हूँ, विषयरूपी विषैले सर्पोंको भोग करता हूँ। विषयको सर्प कहा गया है और विष भी। यथा 'मंत्र महामनि बिषय ब्याल के।१।३२।९।', 'तुलसिदास हरि नाम सुधा तजि सठ हठि पियत बिषय बिष माँगी। १४०।' ["विषयरूप विष भरा संसारसुखरूप सर्पको खाकर पचा जाता हूँ"—(वै०)]

टिप्पणी—४ 'अखिल जीववत्सल···' इति। इसमें सन्तोंके लक्षण कहते हैं जो प्रभुको प्रिय हैं। समस्त जीवोंपर जिनका वात्सल्य है, जो सबपर दया करते हैं, मत्सररहित हैं किसीसे ईर्ष्या-द्वेष नहीं करते, किसी-के सुखको देखकर जलते नहीं प्रत्युतपरसुख देख सुखी होते हैं। चरण-कमलानुरागी अर्थात् प्रेमी भक्त हैं। धीरमति अर्थात् जो धर्मपालनमें अचल हैं, करोड़ों विघ्नों, बाधाओंसे भी कभी नीति, धर्म आदिको नहीं त्यागते, सदा अक्षोभ, काम-क्रोधादिके वशमें नहीं होते। पुनः, 'धीर' वे हैं जो इस शरीरका कोई प्रयोजन न देखकर विरक्त और मोहबंधनसे रहित होकर अज्ञातभावसे रहते और उसका त्याग करते हैं, जो आत्मवेत्ता हैं। यथा 'गतस्वार्थमिमं देहं विरक्तो मुक्तबंधनः। अविज्ञातगतिर्जह्यात्स वै धीर उदाहृतः। भा० १।१३।२५।', 'कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षत'। 'मति' को देहलीदीपक मान सकते हैं। 'अतिशय निज-पर-त्यागी' अर्थात् द्वैतबुद्धि-रहित हैं, सबमें समानरूपसे अपने प्रभुको ही देखते हैं, इसीसे राग-द्वेष

नहीं है। पद ५७ (४-५) में संतोंके लक्षण कहे गए हैं। यथा 'सात निरपेक्ष निर्मम निरामय '। दृच्छ समदृक सोद्दक बिगत अति स्वपरमति परमरतिविरति तव चक्रपानी ॥ विश्वोपकार हित व्यग्रचित सर्वदा त्यक्तमदमन्यु कृत पुन्य-रासी।' इसमें उपर्युक्त सब गुन आ गए।

'ते तव प्रिय' - ऐसे संत प्रभुको ऐसे प्रिय हैं कि वे त्रिदेवोंसहित उनके पास ही रहते हैं। यथा 'यत्र तिष्ठंति तत्रैव अज सर्व हरि सहित गच्छंति छीराब्धिबासी। ५७।', 'ते सज्जन मम प्रानप्रिय गुनमंदिर सुखपुंज। ७।३८।' पुनः भाव कि ऐसे संत प्रिय हैं और मुझमें तो सब विरोधी गुण हैं। मैं 'भूतद्रोहकृत', 'मद मत्सर अभिमान ज्ञानरिपु एन्ह महँ रहनि अपारा।', फिरत बिषय अनुरागी', 'मोह बस्य' और 'गई न निज-पर-बुद्धि। २०१।' 'रघुनाथ सकल जग ब्यापी, भेदत नहि श्रीखंड बेनु इव सारहीन मन पापी।' (इससे निजपरबुद्धिरत जनाया)—इन गुणोंसे युक्त हूँ जैसा पद ११७ में कह आए हैं, तब मैं कैसे प्रिय हो सकता हूँ?

टिप्पणी—५ 'जद्यपि मम अवगुन अपार'' इति। (क) 'अवगुण अपार' अर्थात् समुद्रवत् हैं, यथा 'मैं अपराधसिंधु। ११७।' जितने अवगुण हैं सभी संसारमें डालनेवाले हैं। सबका मूल द्वैतबुद्धि और विषयानुराग हैं, इन्हींसे समस्त अवगुण उत्पन्न होते हैं और ये भवमें डालते हैं। यथा 'जब लगि नहि निज हृदि प्रकास अरु विषय आस मन माहीं। तुलसिदास तब लगि जगजोनि भ्रमत सपनेहुँ सुख नाहीं। १-३।', 'पाँचइ पाँच परस रस सब्द गंध अरु रूप। इन्ह कर कहा न कीजिए बहुरि परब भवकूप। २०३।', "जौं निज मन परिहरै बिकारा। तौ कहँ द्वैतजनित संसृति दुख'''। १२४।', द्वैतमूल भय सूल सोक फल भवतरु टरइ न टार्‌यो। २०२।'; इसी तरह पद १४१ मे अपने कुछ पापोंको कहकर कल्पोंतक जन्म-मरणके चक्रमें पड़ना कहा है। यथा 'अघ अनेक अवलोकि आपने अनघ नाम अनुमानि डरौं॥'''जो आचरन बिचारहु मेरो कलप कोटि लगि अवटि मरौं।" अतएव 'संसार जोग्य' कहा। संसारयोग्य होनेसे ही आगे पद १७१ में कहा है 'कीजै मोको जग जातनासई। राम तुम्हसे सुचि सुसाहिबहि- मैं सठ पीठि दई॥'''उदरु भरों किंकर कहाइ, बेंच्यो बिषयन्ह हाथ हियो है।"

५ (ख) 'रघुराया' संबोधन किया, क्योंकि राजा नीतिका पालन करता है। 'जो जस करै सो तस फल चाखा' के अनुसार यही दंड मुझको उचित है।

५ (ग) 'निज गुन विचारि' का भाव कि मेरे अवगुणोंपर ध्यान न दीजिए, क्योंकि वैसा करनेसे तो मेरा कभी उद्धार नहीं होनेका। यथा 'जौ पै जिय धरिहौ अवगुन जन के। तौ क्यों कटत सुकृतनख तें मोपैं विपुल वृंद अघ-वन के।'' ६६।' निज गुण विचारनेमें 'करुणानिधान' संबोधित किया। अवगुण न ग्रहण करना यह करुणागुणसे होता है, नीतिमें नहीं होता। पुनः 'निज गुण विचारि' से यह न प्रगट हुआ कि किस गुण का विचार प्रार्थी को अभिप्रेत है, अतः 'करुनानिधान' कहकर जनाया कि मुझे करुणगुणका ही अवलंब है, आप इसी अपने गुणको बिचार करें। करुणा आनेसे आप निर्हेतुकी कृपा करते ही हैं, अत. करुणा करके दया कीजिए। ऊपर 'भवसागरको वच्छपद जैसे' तरनेकी बात कही है, उस प्रकारका भवतरण आपकी कृपासे होता है। यथा 'तुलसिदास प्रभु कृपा विलोकनि गोपद ज्यों भवसिंधु तरौ। १४१।', 'नाथ कृपा भवसिंधु धेनुपद सम जो जानि सिरावौं। १४२।' अतः 'करु दाया' यह प्रार्थना की।

वियोगीजी—इस पदमें गोसाईंजीने कथनी और करनीका बड़ा ही सुन्दर और सजीव विवेचन किया है। कबीरजी भी कह गए हैं—'कथनी थोथी जगत्‌में, करनी उत्तम सार। कह कबीर करनी सबल, उतरे भौ-जल पार॥ कथनी मीठी खाँड़सी, करनी विषकी लोय। कथनी तजि करनी करै, विषसे अमरत होय॥'

सू० शुक्ल०—'अपना थोड़ाभी दोष अधिक देखे व परमेश्वरसे प्रार्थना करे कि मैं महापापिष्ठ हूँ। जहाँतक हो सके उन दोषोंको परित्याग करे, पर अपनी साधनक्रियाका अभिमान न आने दे'''।' यही विश्वास करे कि भगवानही कृपा करके पार करेंगे मुझसे कोई साधन नहीं बन पड़ता है।

नोट १ दीनजी :—'जो कछु कहिअ करिअ''' ' इस चरणमें 'सो' का प्रयोग न होनेसे 'न्यूनपद दोष' और आठवें चरण 'अखिलजीव'''प्रिय' तक वाक्य समाप्त करके फिर 'धीर मति' आदिका उल्लेख करनेसे 'समाप्तपुनरात्त दोष' कहते हैं। इस संबंधमें श्रीकान्तशरणजीने जो समाधान किया है वही यहाँ उद्धृत किया जाता है।—

"जहाँ किसी पदके विना अर्थ प्रकट करनेमें अड़चन पड़ती हो, वहाँ 'न्यूनपदरूपी दोष' कहा जाता है। यहाँ तो 'जो' पदके अनुरोधसे 'सो' का अध्याहार करके अर्थ करना सुगम है।'''काव्यमें जितने ही कम अक्षरोंसे भाव प्रकट हो जाय, उतना ही उत्तम माना गया है।'''भक्तमालमें

तो नाभाजीने वहुत स्थलोंपर अध्याहारोंकी अपेक्षा रखकर थोड़े शब्दोंमें बहुत भाव प्रकट किये हैं। अतः यह गुण है, दोष नहीं।"

दूसरे दोपके संबंधमें समाधान—"पद्यमें अन्वय करके अर्थ करनेकी प्रथा इसीलिये मानी गई है कि एक क्रियासे संबंधवाले शब्दोंका क्रम लगाकर अर्थ किया जाय। संस्कृतके पद्योंमें तो पद-पदपर ऐसा करना पड़ता है" जैसे कि गीता १२।४ में।

श्रीसीतारामचन्द्राभ्यां नमः

११६ (६८)

हैं[1] हरि कवन जतन भ्रम भागै।
देखत सुनत विचारत यह मन निज सुभाउ नहिं त्यागै ॥१॥
भगति ज्ञान वैराग्य सकल साधन एहि लागि उपाई।
*केउ[2] किछु[3] कहउ देउ किछु[4] असि[5] वासना हृदय[6] तें न जाई ॥२॥
जेहि निसि सकल जीव सूतहि तव कृपापात्र जन जागै।
निज करनी विपरीत देखि मोहि समुझि महाभय लागै ॥३॥
जद्यपि भग्न-मनोरथ विधि-बस सुख इच्छत[7] दुख पावै।
चित्रकार करहीन जथा स्वारथ बिनु चित्र बनावै ॥४॥
हृषीकेस सुनि नाउँ जाउँ बलि अति[8] भरोस जिय मोरें।
तुलसिदास इंद्रिय संभव दुख हरें बनिहि[9] प्रभु तोरें ॥५॥

---

१ है—६६। संभवतः अनुस्वार छूट गया है। हे—औरोमे। 'हैं' सं० १६६६ की प्रतिमे आगे-पीछे सभी पदोमे है। २—६६, रा०, भ० मे 'केउ' है। कोउ—औरोमे। ३ किछु—६६। कछु—प्र०। भल—रा०, भा०, वे०, ह०, ७४, आ०। ४ किछु—६६, रा०। कछू—भा०, वे०। कछु केउ—भ०। कछु कोऊ—ह०, ७४, आ०। ५ असि—६६, रा०, भ०, दीन, वि०। अस—भा०, वे०, वै०। यह—प्र०, ज०। ६ हृदयते न—६६, रा०, भा०, वे०, वै०, मु०, प्र०, ज०, वि०। न उर तें—ह० भ०, दीन। ७ इछत—६६, रा०। इच्छत—भ०, वि०, दीन। इच्छित—भा०, वे०, ह०, प्र०, ७४, मु०, वै०। ८ अब—भा०, वे०, प्र०। ९ बनै—भा०, वे०, प्र०। बनहि—मु०। बनिहि—प्रायः औरोमे।

शब्दार्थ—लागि = लिये; निमित्त; कारण। यथा 'तुम्हहिं लागि धरिहौं नर वेसा। १।१८७।१।', 'एहिलागि तुलसीदास इन्ह की कथा कछुएक है कही।५।३ छंद।' केउ = कोई। यथा 'नाथ संभुधनु भंजनि हारा। होइहि केउ एक दास तुम्हारा।१।२७१।१।', 'विनु रघुपति पद पदुम परागा। मोहि केउ सपनेहु सुखद न लागा।२।६८।६।' किछु = कुछ। सूतना = सोना; यथा 'सूते सपने ही सहै संसृति संतापरे। ७३ (७)।', 'मैं तैं मोर मूढ़ता त्यागू। महामोह निसि सूतत जागू।६।५५।८।', 'गै जननी सिसु पहि भयभीता। देखा वाल तहाँ पुनि सूता।१।२०१।५।'. कृपापात्र = कृपाका अधिकारी; वह मनुष्य वा व्यक्ति जिसपर कृपा हो। जन = भक्त, सेवक; प्राणी। विपरीत = उलटा। भग्न = टूटा हुआ; नाश हुआ। असफल, निष्फल। इच्छत = इच्छा करते हुये। चित्रकार = चित्र (तसवीर) बनाने वाला; चितेरा। कर-हीन = विना हाथके। स्वारथ (स्वार्थ) = मतलब, प्रयोजन या लाभ। स्वारथ-विनु = विना प्रयोजन; व्यर्थ। हृषीकेश = 'हृषीक (इन्द्रिय) + ईश' = इन्द्रियोंके स्वामी।

पद्यार्थ—हे हरि! किस उपायसे (मेरा) भ्रम दूर होगा? देखते, सुनते और विचार करते हुये (भी) यह मन अपना स्वभाव नहीं छोड़ता।१। भक्ति, ज्ञान और वैराग्य (आदि) समस्त साधन इसीके लिये उपाय हैं। (पर इन उपायोंको करते हुये भी) 'कोई मुझे कुछ कहे' (अर्थात् मेरी लोग बड़ाई करें कि बड़े भक्त हैं, बड़े ज्ञानी हैं, बडे वैराग्यवान् हैं, इत्यादि), 'कोई मुझे कुछ देवे'—ऐसी वासना हृदयसे नहीं (ही) जाती।२। जिस (मोह) रात्रिमें समस्त (बद्ध) जीव सोते हैं, उसमें आपके कृपापात्र प्राणी (मुमुक्षु) जागते रहते हैं। अपनी करनी उलटी देख-समझकर मुझे अत्यन्त भारी भय लग रहा है।३। यद्यपि दैववश (मनके) मनोरथ निष्फल होते हैं (तो भी) सुखकी इच्छा करते हुये दुःख पाता है * जैसे विना हाथके चित्रकार विना स्वार्थ (विना अपने प्रयोजन या अर्थसिद्धिके, व्यर्थका, केवल मनकी कल्पना-मात्रका खयाली) चित्र बनावे।४। तुलसीदासजी कहते हैं कि आपका 'हृषीकेश' (इन्द्रियोंके स्वामी) नाम सुनकर मैं वलिहारी जाता हूँ। मेरे मनमें (आपके इस नामका) बड़ा भारी भरोसा है। हे

* अर्थान्तर—"यद्यपि सुखकी इच्छा करते हुए वे मनोरथ दैववश भग होते हैं; यह मन दैववशात् (सुख न पाकर) दुःख पाता है, तथापि जैसे कोई चित्रकार"।" (श्री० श०)

प्रभो ! मेरा इन्द्रियजनित दुःख आपको हरण करते ही बन पड़ेगा अर्थात् हरण करना ही पड़ेगा । ५ ।

टिप्पणी—१ (क) 'भ्रम' इति । जब मोह स्थूलरूप धारण करता है तब उसीको 'भ्रम' कहते हैं । किसी पदार्थ के विपरीत-ज्ञान (अयथार्थ अनुभव) को 'भ्रम' कहते हैं । इस अवस्थामें मनुष्यको पदार्थका ठीक-ठीक ज्ञान नहीं होता, किन्तु वह कुछको कुछ समझता है । इसके दृष्टान्त 'रज्जौ यथाऽहेर्भ्रमः । १. मं. श्लो. ६ ।', 'रजत सीप महँ भास जिमि जथा भानु-करवारि । जदपि मृषा तिहुँकाल सोइ भ्रम न सकै कोउ टारि ।१।११७।' है । (मा० पी० १।३१।४ से उद्धृत) ।

१ (ख) पूर्व पद ११६ में प्रभुकी मायाका प्राबल्य दिखाकर कि 'करि उपाय पचि मरिअ तरिअ नहि' अन्तमें कहा था कि हरिकृपासे ही 'भ्रम मिटैगा यही भरोसा है । अब पद ११९, १२०, १२१ मे भ्रमके संबंधमे ही प्रार्थना की गई है । प्रस्तुत पदमे पूछते हैं कि आपही बतायें कोई यत्न है ?', यदि है तो उसका नाम बताइए । पद १२० में भ्रम न हरण करनेका कारण पूछते हुए विनय की है और पद १२१ मे भ्रमकी अधिकता निवेदन की है ।

१ (ग) 'देखत सुनत बिचारत' ' इति । पद ११६ में 'सुनिय' 'गुनिय' 'समुझिय' और पद ११७ में 'वेद पुरान सुनत समुझत रघुनाथ सकल जग व्यापी' कहा था । सुनत और विचारत (गुनिय) के भाव वहाँ लिखे जा चुके । इस पदमें 'देखत' भी कहा, अर्थात् नित्य प्रत्यक्ष देखता भी हूँ, प्रत्यक्ष प्रमाण मिलता है ।—११६ (२ क), ११४ (४ ख) देखिए ।

[बैजनाथजी लिखते हैं—"संसारका ऐश्वर्य मेघोंकी छायाके समान है । उसे होते और जाते देर नही लगती । अथवा, सब ऐश्वर्य बना हुआ है, नर जाने पर सब जहाँकी तहाँ बना रह जाता है, इत्यादि सब देखता हूँ । पुराणोंमें सुनता हूँ कि हिरण्यकशिपु रावण आदि जो अचल होकर बैठे थे वे भी क्षणभरमें नष्ट हो गए, तब और लोग किस गिनतीमें है । विचारता हूँ कि एक दिन संसार ही न रह जायगा, अतः इसको सत्य मानना व्यर्थ है । मन अपना लोलुपता चंचलताका स्वभाव नहीं छोड़ता ।"

श्रीकान्तशरणजी लिखते हैं कि "विचारनेकी बात पद १२४ में विस्तारसे है कि जगत् श्रीरामजी का शरीर है, चराचर उनकी प्रेरणासे विवश होकर अपने-अपने कर्मानुसार वर्त रहे हैं । अतः किसीसे हितकी कल्पनासे राग और अनहितकी कल्पनासे द्वेष करना अज्ञानमूलक है । पर यह मन अपने अज्ञानकल्पित इस द्वैतभावरूपी सहज स्वभावका त्याग नहीं करता ।"]

मनका स्वभाव क्या है, यह कविने स्वयं यत्रतत्र बताया है। इसका स्वभाव है चंचलता, विषय वासनाओं और उनके उपायोंमें हठपूर्वक लगना, विषयलोलुपता इत्यादि। यथा 'सब अंग सुभग बिंदुमाधव छवि तजि सुभाउ अवलोकु एक पलु। ६३।', मेरो मन हरि हठ न तजै। निसि दिन नाथ देउँ सिख बहु बिधि करत सुभाव निजै ॥···लोलुप भ्रमत गृहप ज्यों···। ८९।', 'तुलसी मन परिहरत नहिं घुरबिनियाकी बानि। दो० १३।', 'जेहि सुभाय बिषयन्हि लग्यो···। २६८।'—८९ (१ ग), ६३ श०, ८९ (१ क) तथा ४५ (१ ङ) देखिए।

टिप्पणी—२ 'भगति ज्ञान···' इति। (क) भ्रम दूर करनेके भक्ति, ज्ञान, वैराग्य आदि अनेक साधन कहे गए हैं, यथा 'ज्ञान भक्ति साधन अनेक सब सत्य झूठ कछु नाहीं। तुलसिदास हरिकृपा मिटै भ्रम यह भरोस मन माहीं। ११६।'

[बैजनाथजीका अर्थ—"भक्तिके साधन श्रवण कीर्तन आदि और ज्ञानके साधन वैराग्य विवेक आदि, इत्यादि सकल साधन मनकी शुद्धताके उपाय।" श्रीकान्तशरणजी लिखते हैं कि "भक्तिकी प्रधानतामें वैराग्य विवेक आदि साधन आ जाते हैं और ज्ञानकी प्रधानतामें भी वैराग्य एवं शमदमादि आ जाते हैं। इन दोनोंके द्वारा मनःकल्पित भवका खेद निवृत्त होता है।"—परन्तु अन्य सब टीकाकारोंने 'भक्ति ज्ञान वैराग्य सभी साधन' यही अर्थ किया है] (ख) 'केउ किछु कहहु···' इति। अर्थात् ये सब साधन मैं करता हूँ—तो भी ये वासनायें हटती नहीं। प्रतिष्ठाकी चाह रहती है कि लोग मेरी प्रशंसा करें कि बड़े भक्त हैं, महान् ज्ञानी हैं। परम विरक्त हैं, इत्यादि। लोभ भी बना रहता है कि कोई आवे और महात्मा जानकर कुछ चढ़ा जावे। अतएव साधनोंसे कुछ काम नहीं बन पाता। यथा 'आगम बिधि जप जाग करत नर सरत न काज खरो सो। काम कोह मद लोभ मोह मिलि ज्ञान बिराग हरो सो। १७३।'—इससे यह जनाया कि मान प्रतिष्ठा लोभ आदिसे हृदय मलिन ही रहता है।

टिप्पणी—३ 'जेहि निसि सकल जीव सूतहिं···' इति। (क) यह चरण 'या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी। गीता २।६९।' का प्रतिरूप ही है। मानसमें इस निशाको मोह-निशा एवं जग-जामिनी कहा है, यथा 'मोह निसा सब सोवनिहारा।···एहिं जगजामिनि जागहिं जोगी। परमारथी प्रपंच बियोगी।२।९३।२-३।'

गीताभाष्यकार लिखते हैं कि "जैसे उल्लू आदि रजनीचरोंके लिये दूसरोंका दिन भी रात होती है, वैसे ही निशाचरस्थानीय जो संपूर्ण अज्ञानी मनुष्य हैं, उन सब भूतोंके लिये अज्ञात होनेके कारण वह परमार्थतत्व" (आत्मविषयक बुद्धि) रात्रिकी भाँति प्रकाशसे रहित रात्रि है। "उस आत्मविषयक बुद्धि वा परमार्थतत्वरूप रात्रिमें अज्ञाननिद्रासे जगा हुआ, प्रसन्न निर्मल मनवाला इन्द्रियसंयमी पुरुष जागता है अर्थात् आत्मसाक्षात्कार करता है।"

गीताके 'संयमी' और मानसके 'योगी' की जगह यहाँ 'तव कृपापात्र जन' शब्द है। यहाँ 'कृपापात्र जन' शब्द देकर जनाया कि योगी, सयमी, अज्ञाननिद्रासे जागनेवाला, परमार्थतत्त्वका साक्षात्कार करनेवाला आपका कृपापात्र ही हो सकता है, दूसरा नहीं। 'यह गुन साधन तें नहि होई। तुम्हरी कृपा पाव कोइ-कोई।'; 'जानकीस की कृपा जगावति सुजान जीव, जागि त्यागि मूढ़ता अनुराग श्री हरे।७४।'

[समस्त जीव अविद्यारूपी रात्रिमें मोहरूप निद्रावश सोते हैं अर्थात आत्मस्वरूप भूलकर स्वप्नसरीखे सुख, दुःख, लोकव्यवहारको सच्चा माने हुए हैं, (यथा 'सुनासीर सत सरिस सो संतत करइ बिलास। परम प्रबल रिपु सीस पर तद्यपि सोच न त्रास।६।१०।', 'महामोह निसि सूतत जागू। ६।५५।७।') यही सोना है। कृपापात्र वे हैं जिनपर प्रभुने कृपा करके पूर्वरूपका बोध करा दिया है, वे ही चैतन्य हैं। वे लोकसुखको स्वप्नवत् व्यर्थ जान प्रभुपदमें अनुरक्त रहते हैं, विषयविलासमें नहीं भूलते, (यथा 'रमा बिलासु राम अनुरागी। तजत बमन जिमि जन बड़ भागी। २।३२४।८।') ।—यही जागना है। (वै०)]

३ (ख) 'निज करनी बिपरीत···' इति। भाव कि आपके कृपापात्र जन इन्द्रियविषयोंसे विमुख होकर लोकसुख त्यागकर आपके चरणोंमें अनुरक्त रहते हैं और इसके विपरीत मैं आपसे विमुख होकर विषयोंमें आसक्त हो सांसारिक सुखमें पड़ा हूँ। इस आचरणका फल चौरासी भोग है, यथा 'बिषय बारि मन मीन भिन्न नहिं होत कबहुँ पल एक। तातें सहिय बिपति अति दारुन जनमत जोनि अनेक १०२।', 'तमकूप परब यहि लागे'। भव (बारंबार अनेक योनियोंमें जन्मना मरना) बहुत दारुण विपत्ति है इसीसे 'महा भय' लगना कहा। यथा 'भव भय दारुनं। ४५ (१)।' (वै०)।

टिप्पणी—४ 'जद्यपि भग्न मनोरथ···' इति। (क) 'बिधिबस' का भाव कि विधाता ही कर्मोंका फल देते हैं, यथा 'कठिन करम गति जान

विधाता। जो सुभ असुभ सकल फल दाता।२।२८२।' मनके मनोरथ निष्फल हुए, इस कथनसे जनाया कि मैंने शुभ कर्म किये ही नहीं, इसीसे मेरे प्रारब्धमें सुख लिखा ही नहीं। यही मेरे मनोरथोंके भंग होनेका कारण है। तो भी मेरा मन सुखकी इच्छा करता ही है और (उसी तरह) दुःख पाता है (जैसे०)। यथा 'जलु चाहत पावकु लहौं बिष होत अमी को।२६५।'

४ (ख) 'चित्रकार कर-हीन जथा···' इति। 'कर हीन' के दो अर्थ है। एक तो 'विना हाथवाला', दूसरा 'विना हाथके' (अर्थात् विना हाथ लगाए)। 'जद्यपि भग्न मनोरथ···पावै' का दृष्टान्त देते हैं कि जैसे विना हाथवाला एवं विना हाथ लगाये केवल मनःकल्पित चित्रोंसे अपने स्वार्थकी सिद्धि चाहनेवाला चित्रकार दुःख ही पाता है, उसको धन नहीं मिल सकता। भाव यह कि जैसे विना हाथसे चित्र बनाये, विना पुरुषार्थ किये कल्पनामय चित्रोंसे धन नहीं मिल सकता, वैसेही विना सत्कर्म किये मनःकल्पित मनोरथोंसे सुख नही मिल सकता। यहाँ सत्कर्म या सुकृत 'कर' है। सुकृत, सत्कर्म वा सुखके साधनका न होना अथवा न करना 'कर हीन' होना है। सुखके मनोरथ चित्र है।

टिप्पणी—५ 'हृषीकेस सुनि नाउँ···' इति। (क) हृषीकेश इन्द्रियोंके स्वामी वा प्रेरक) आपका नाम है, यह नाम सुनकर मैं बलिहारी जाता हूँ। मैं इन्द्रियोंके वशमे हूँ, इंद्रियाँ मुझे विषयोंकी ओर खींचे फिरा करती है, और आप इन्द्रियोंके नियन्ता है, यह जानकर मुझे पूर्ण भरोसा है कि आप मेरे इन्द्रिय संभव दारुण दुःख अवश्य दूर करेगे।—'हृषीकेश' नाम साभिप्राय है, क्योंकि इन्द्रियजनित दुःख इन्द्रियोंका स्वामी ही दूर कर सकता है। यहां 'परिकराङ्कुर' अलंकार है। ☞ इस तरह इस पदमें भी भ्रमका छूटना भगवत्कृपासे ही माना है।

५ (ख) वैजनाथजी एवं वियोगीजी लिखते है कि—'हृषीकेश' नाम श्रीरामचंद्रजीके राशिका नाम प्रतीत होता है, क्योंकि आपका प्राकट्य पुनर्वसु नक्षत्रके चौथे चरणमें हुआ था। अतएव 'हकारादि' नाम पड़ना ज्योतिष शास्त्रके सगत है।

सू० शुक्ल—''यह संसार जो दिखाई देता है यद्यपि स्वप्न सरीखा झूठा भ्रम है, पर तो भी दूर नही होता, क्योंकि मनने ही इसकी चित्तमें झूठी प्रतीति कर रक्खी है। जैसे विना हाथका चित्रकार तसवीर नहीं खींच सकता, ऐसे ही जड़ वस्तु कुछ नहीं कर सकती है। मन स्वयं जड़ है,

अविद्याकल्पित चित्तमें ही चित्तका प्रतिबिंब पड़ता है, वही संसाररूपसे निश्चय होता है। जैसे जहाँ आइना होगा प्रतिबिंब अवश्य होगा, ऐसे ही अविद्याकल्पित चित्तमें संसाररूपी प्रतिबिंब है, उसीको मन सत्य सरीखे देखता-सुनता है। वास्तवमें यह संसार चित्तका प्रतिबिंब होनेसे चित्त ही है; इसलिये अज्ञानतासे हुए चित्तकी कल्पनाका दूर करना ही परम पुरुषार्थ है; क्योंकि बिना इसके दूर हुए संसार नहीं छूट सकता है। इसीके लिये भक्ति, ज्ञान, वैराग्य आदि अनेक साधन हैं, पर जब तक इच्छारूपी वासना दूर नहीं होती साधन व्यर्थ हैं। केवल इच्छाके हटा देनेसे ही चित्त शान्त होता जिससे संसारी भ्रम दूर हो जाता है और संसारभ्रम छूट जानेहीको मुक्ति या मोक्ष कहते हैं, फिर अपने शुद्ध आनंदरूपकी प्राप्ति होती है, वही परम पद अमृतत्व है। यह सब परमात्मा की कृपा हीसे, उसमें परम प्रेम करलेसे होता है और यथार्थमें वही जागता है जिसका परमात्मामें निश्चल प्रेम है। इच्छाको जीत लिया है। शेष सभी सोते हैं।"

श्रीसीतारामचन्द्रार्पणमस्तु।

१२० (६६)

हैं[1] हरि कस न हरहु भ्रम भारी।
जद्यपि मृषा सत्य भासै जब लगि नहिं कृपा तुम्हारी ॥१॥
अर्थ विद्यमान[2] जनिअै[3] संसृति नहिं जाइ गोसाईं।
बिनु बाँधे निज हठ सठ परबस परेउ[4] कीर की नाईं ॥२॥
सपने व्याधि विविध बाधा जनु[5] मृत्यु उपस्थित आई।
बैद अनेक उपाय करहिं[6], जागें बिनु पीर न जाई ॥३॥
श्रुति गुर साधु सुमृति संमत यह दृश्य असद[7] दुखकारी।
तेहि बिनु तजें भजें बिनु रघुपति बिपति सकै को टारी ॥४॥

१ हैं–६६। हे–श्रीरोमे। २ विद्यमान–६६। अविद्यमान—श्रीरोमे। ३ जनिअै—६६। जानिअ (जानिय)–रा०, ह०, आ०। जानै—भा०, वे०। जाने—१५। ४ परेउ—६६, रा०, भा०, वे०, मु०, भ०। परयो—आ०। ५ जनु–६६, रा०, भा०, वे०, भ०, मु०, वै०। भई–ह०। भइ—दीन। ६ करहिं–६६, रा०, मु०, वै०, दीन। करै—भा०, वे०, भ०, त्रि०, ह०। ७ असद—६६, भ०। सदा—भा०, वे०, आ०, रा०।

वहु उपाय संसार तरन कहँ विमल गिरा श्रुति गावै।
तुलसिदास मैं मोर गएँ विनु जिव᷵ सुख कवहुँ न पावै ॥५॥

शब्दार्थ—मृषा=अयथार्थ ज्ञानका विषय; =मिथ्या; धोखा देनेवाला। भासना=प्रतीत होना, जान पड़ना। अर्थ=इन्द्रियोंके विषय। 'जानत अर्थ अनर्थरूप···। ११७ (२ क)।' देखिए। विद्यमान=उपस्थित; स्थिर रहनेवाला। जनिऔ=जानता हूँ। संसृति=संसार=वारंवार जन्म लेना और मरना; भवचक्र। कीर=तोता। व्याधि=रोग। वाधा=संकट, कष्ट, पीड़ा। यथा—'क्षुधा व्याधि वाधा भइ भारी। वेदन नहि जानै महतारी। १३७।' उपस्थित=सामने वा पास आया हुआ।=सामने; निकट। उपस्थित आई=आकर सामने वैठ गई है; आ पड़ी। पीर=पीड़ा; दुःख। सुमृति (स्मृति)—हिन्दुओंके धर्मग्रन्थ दो भागोंमें विभक्त हैं—श्रुति और स्मृति। इनमेंसे वेद (मन्त्र), ब्राह्मण और उपनिषद आदि श्रुतिके अन्तर्गत हैं और शेष धर्मशास्त्रोंको स्मृति कहते हैं। संमत=अनुमत; एकमत; जिनका मत मिलता हो; सहमत। दृश्य=नेत्रोंका विषय; जो पदार्थ आँखोंके सामने हो।=(दृश्यमान) जगत्। असद्=अनित्य; सतत परिणामी; परिवर्तनशील। विमल=निर्मल। गिरा=वाणी। जिव=जीव। टारना (टालना)=हटाना; दूर करना।

पद्यार्थ—हे हरि! (आप मेरे) भारी भ्रमको क्यों नहीं हर लेते? यद्यपि (यह दृश्यमान जगत्) मिथ्या (अयथार्थ ज्ञानका विषय) है, तथापि जवतक आपकी कृपा नहीं होती तब-तक यह सत्य (अपरिणामी) प्रतीत होता है। हे गोस्वामि! मैं इन्द्रियविषयको स्थिर रहनेवाला अर्थात् सत्य जानता हूँ, इसीसे (मेरा) संसार नहीं मिटता (भवचक्र वना ही रहता है)†। विना (दूसरे किसीके) वाँधे ही मैं शठ (मूर्ख) अपनी ही हठसे तोतेकी तरह पराये वशमें पड़ा हूँ। २। जैसे स्वप्नमें अनेक रोगोंकी वहुत वाधायें हों, मानो मृत्यु आ उपस्थित हुई हो* और अनेकों

᷵ जिव—६६। जिउ—भ०, वि०, भा०, वे०, १५। जिय—प्रायः औरोंमें।

† यथा 'फिरि गर्भगत आवर्त्त संसृति चक्र जेहि सोइ सोइ कियो॥ कृमि भस्म विट परिनाम तनु तेहिं लागि जग वैरी भयो। परदार परधन द्रोहपर संसार वाढ़ै नित नयो॥ १३६।'—यही संसृति का न जाना है।

* अर्थान्तर—भाँति-भाँतिके रोगोंसे मानो मृत्युकी वाधा ही आके प्राप्त हुई है। (सू. शु.)

वैद्य अनेक उपाय कर रहे हैं, पर विना जागे पीड़ा नहीं जाती।३। वेद, गुरु, सन्त और स्मृति सबका एकमत है कि यह दृश्यमान जगत् (सारा प्रपंच जो देख पड़ रहा है) अनित्य (परिवर्तनशील) और दुःखका देनेवाला है। विना उसको छोड़े और विना श्रीरघुनाथजीका भजन किये, इस विपत्तिको कौन हटा सकता है ? (कोई तो नहीं)।४। तुलसीदासजी कहते हैं कि संसारतरण (भवपार होने) के बहुत उपाय निर्मल वाणीसे वेद कह रहे हैं, ‡ किन्तु 'मैं-मोर' अर्थात् निज-पर-बुद्धि नष्ट हुये विना जीव सुख कभी नहीं पानेका।५।

टिप्पणी—१ 'हैं हरि! कस न हरहु…' इति। (क) 'हैं'—११७ (१) मूलकी पाद-टिप्पणी देखिए। भ्रम—११६ (५ ग), ११६ (१ क) देखिए। भ्रम हरणकी प्रार्थनाके सम्बन्धसे 'हरि' संबोधित किया। पिछले पदमें 'कवन जतन भ्रम भागै' से प्रारंभकर अंतमें यही कहा था कि इन्द्रियसंभव दुःखका हरण आपही कर सकते हैं, दूसरा कोई उपाय भ्रमकी निवृत्तिका नही है। अतः अब कहते हैं कि जब आप-ही उपाय हैं और मैं शरणमें आया हुआ भ्रमहरणकी प्रार्थना कर रहा हूँ, तब आप भ्रमका निवारण क्यों नहीं करते ? क्या भ्रम है, यह उत्तरार्धमें कहते भी हैं। ख) 'जद्यपि मृषा सत्य भासै०' —११६ (५ ग) देखिए। 'जब लगि नहि कृपा तुम्हारी' से संसारको यथार्थ समझ पाना तथा भ्रमका छूटना कृपासाध्य जनाया। मिलान कीजिए-'जासु सत्यता ते जड़ माया। भास सत्य इव मोह सहाया॥ रजत सीपमहँ भास जिमि जथा भानुकर बारि। जदपि मृषा तिहुँ काल सोइ भ्रम न सकै कोउ टारि।१।११७।', 'छूट न राम कृपा बिनु। ७।७१।'

टिप्पणी—२ 'अर्थ विद्यमान जनिऔं…' इति। (क) यह पाठ सं० १६६६ की प्रतिका है और इसका अर्थ भी सीधा और ठीक संगत है। मै अर्थ (इन्द्रियविषय) को स्थिर रहनेवाला जानता हूँ, इसीसे (विषयोंका चिन्तन करता रहता हूँ और विषयोंका चिन्तन होते रहनेसे) संसारकी निवृत्ति नहीं होने पाती। 'अर्थ विद्यमान जनिऔं' मे यह भाव भी आ गया कि अर्थ 'अविद्यमान' है, पर मैं विद्यमान जानता हूँ। इस प्रकार इस चरणको भा. ३।२७।४,४।२६।७३,११।२८।१३ तथा ११।२२।५५ के 'अर्थे ह्यविद्यमानेऽपि संसृतिर्न निवर्तते। ध्यायतो विषयानस्य…।' का प्रतिरूप कह सकते हैं। संभव है कि पंडित टीकाकारों वा लेखकोंने श्लोकमें 'अविद्यमाने' शब्द

‡ अर्थान्तर—'वेद निर्मल वाणी से कहते हैं कि संसारतरणोपाय बहुत हैं किन्तु'।

टिप्पणी—३ 'सपने व्याधि…' इति। दूसरा दृष्टान्त देते हैं स्वप्नके रोगोंका। जैसे कोई स्वप्नमें देखे कि उसको अनेक प्रकारके असाध्य रोग (जैसे कि कालज्वर, अतीसार, सन्निपात आदि) एक साथ आ लगे हैं जिससे मरण अनिवार्य है। वैद्य अनेक उपाय कर रहे हैं पर मृत्युसे बचा नहीं सकते। स्वप्नसे उसको अत्यन्त कष्ट हो रहा है। वह यह नहीं जानता कि मैं स्वप्न देख रहा हूँ, इसीसे कष्ट भोग रहा है। यह कष्ट तभीतक है जबतक वह जागता नहीं। भाव यह है कि इसी प्रकार यह सारा दृश्य जिसे हमने स्त्री, पुत्र, धन, धाम, अपना-पराया, नरक, स्वर्ग आदि मान रक्खा है यह सब स्वप्नवत् है, मोहनिद्रामें पड़े हुए हम इनको सत्य मानकर विषयवासनाओंमें पड़कर भवजनित दारुण दुःख भोग रहे हैं। यह संसृतिक्लेश तबतक नहीं छूटनेका जबतक हमें अर्थपंचक ज्ञान नहीं प्राप्त होता। ज्ञानरूपी सवेरा होनेपर जागते ही भ्रम मिट जायगा। यथा 'ज्ञान उदय जिमि संसय जाहीं।'

[वै०—'विविध व्याध' अर्थात् "ज्वरके साथ शिरपीड़ा, खाँसी, उदरशूल होनेपर प्यास बढ़ी, कुछ शीतल वस्तु खा लेनेसे सन्निपात हो गया, इत्यादि। अनेक वैद्यलोग आए, लेप अञ्जन, त्रिपुरभैरव, कालारि, ब्रह्मास्त्र इत्यादि रस खिलाये तथा धूराकरण आदि अनेक उपाय किये। बिना जागे दुःख दूर नहीं होता। वैसे ही जीव मोहनिद्रामें सोता हुआ स्वप्नवत्-रूप देहाभिमानी हुआ। कामासक्ति वातज्वर है, लोभरूपी कफसे दौड़ना-फिरना खाँसी है, क्रोधवश सबसे वैर शिरपीड़ा है, तृष्णा प्यास है, परधन परदार आदि शीतल वस्तु ग्रहण करनेसे बुद्धिनाशरूप सन्निपात हुआ। अनेक संप्रदायोंके आचार्य वैद्य हैं। ये पुराण-कथा-श्रवणादि (एवं संध्या, तर्पण, जप, तप, पूजा, पाठ, व्रत, दान, योग, यज्ञ, ज्ञान, शम, दम आदि) अनेक औषध देते हैं। पर जबतक जीव अपने पूर्वरूपको नहीं सँभालता तबतक दुःख नहीं मिटनेका। भाव कि जबतक लोकव्यवहारको सच्चा माने रहेगा तबतक कामादि विकारोंसे अनेक असत् कर्म करता हुआ दुःख पाता रहेगा।"

श्रीभगवानसहायजी लिखते हैं—"वैद्य अनेक उपाय करते हैं किन्तु 'जागे बिना दुःख नहीं जाता'—इसमें यह शंका होती है कि 'स्वप्नमें जो बीमारी हुई वह स्वप्नके वैद्यसे क्यों नहीं जाती?' समाधान यह है कि 'स्वप्नकी दशामें विश्वासका अभाव है, इसीसे कहा कि जागे बिना दुःख नहीं जाता।' यहाँ उपमाका केवल एक देश (अर्थात् झूठ होना) ग्रहण करना चाहिए।"]

नोट—२ भुशुण्डिजीने मानसरोगको अगणित और असाध्य कहकर औषधियोंके भी नाम गिनाते हुए यही कहा है कि ये रोग इनसे जाते नहीं। ये रोग जीवको संतत पीड़ा देते रहते हैं। यथा 'काम बात कफ लोभ अपारा। कहँ लगि कहौं कुरोग अनेका॥ एक व्याधि बस नर मरहिं ए असाधि बहु व्याधि। पीड़हिं संतत जीव कहँ सो किमि लहै समाधि॥ नेम धर्म आचार तप ज्ञान जज्ञ जप दान। भेषज पुनि कोटिन्ह नहिं रोग जाहिं हरिजान।७।१२१।' मोह इन सबकी जड है, यथा 'मोह सकल व्याधिन्ह कर मूला।७।१२१।२९।' मोहनिशामे ये सब रोगरूपी स्वप्न होते हैं।

सोना, स्वप्न, क्लेश और जागना आदि क्या हैं, यह सब पूर्व ७३ (१ क, घ), 'सोवत सपने सहै संसृति संताप रे' ७३ (२ क-ख), 'दोष दुख सपनेके जागे ही पै जाहिं रे' ७३ (३ ख), 'अब प्रभात प्रगट' ७४ (२ घ), आदिमें विस्तारसे लिखा जा चुका है।

टिप्पणी—४ (क) 'यह दृश्य असद्' अर्थात् अनित्य है, इसमें अपनी सत्ता नहीं है, यह श्रीरामजीकी सत्तासे ही सत्य प्रतीत होता है। यथा 'यत्सत्त्वादमृषैव भाति सकलं रज्जौ यथाहेर्भ्रमः।', 'जासु सत्यता ते जड़ माया। भास सत्य इव मोह सहाया।', 'झूठो है झूठो है झूठो सदा जगु संत कहंत जे अंत लहा है। क० ७।३९।'—ये वाक्य क्रमशः गोस्वामीजी, शंकरजी और सन्तोंके हैं। श्रुति भी 'असद्' कहती है यह अगले पदमें भी कहा है, यथा 'तुलसिदास सब बिधि प्रपंच जग जदपि झूठ श्रुति गावै।' (परन्तु १६६६ मे 'झूठ' की जगह 'गूढ' पाठ है)।

'दृश्य' शब्दसे जनाया कि यह देखने मात्रका है, जगत्‌की यह सारी सृष्टि भगवान्‌की क्रीड़ा है। यथा 'परमेश्वरसंक्रीडा लोकसृष्टिरियं शुभे।' (म० भा० शा० २२० श्वेतकेतु वाक्य)। श्रुति गुरु साधु स्मृतिके प्रमाण— [श्रुति प्रमाण, यथा—'न तत्र रथा न रथयोगा न पन्थानो भवन्ति।' (बृह० ४।३।१०)। अर्थात् स्वप्नमें जैसे रथ, मार्ग न होनेपर भी प्राणी देखता है, वैसे ही सृष्टि मिथ्या है। 'गुरु, साधु, सुमृति'—श्रीवसिष्ठजी श्रीरामजीके गुरु होने से जगद्गुरु हैं, साधु हैं ही और योगवाशिष्ठ स्मृतिमें गृहीत है। वे कहते हैं—"यस्त्वबुद्धमतिर्मूढो रूढो न विततें पदे। वज्रसारमिदं तस्य जगदस्त्यसदेव सत्॥ यथा बालस्य वेतालो मृतिपर्यन्तदुःखदः। असदेव सदाकारं तथा मूढमतेर्जगत्॥ ताप एव यथा वारि मृगाणां भ्रमकारणम्। असत्यमेव सत्याभं तथा मूढमतेर्जगत्॥ यथा स्वप्नमृतिर्जन्तोरसत्या सत्यरूपिणी। अर्थक्रियाकरी भाति तथा मूढधियां जगत्॥' (योगवाशिष्ठ उत्पत्ति प्रकरण ३।४२।१-४) अर्थात् जिसकी बुद्धिमें

ज्ञानका उदय नहीं हुआ तथा जिसकी परमात्मतत्वमें दृढ़ स्थिति नहीं है उस मनुष्यके लिये यह असत् जगत् भी वज्रसार सत तथा कष्टप्रद है। जैसे बालकके लिये झूठा भूत मरते दमतक दुःखद है, वैसेही मूर्खके लिये जगत् झूठा होनेपर भी सच्चेके तुल्य दुःखकर है। सूर्यका उत्ताप ही मृगोंके लिये मिथ्या मृगमरीचिका-मृगवारिके रूपमें भ्रमदायक तथा दुःखकर है। जैसे स्वप्नकी मृत्यु मिथ्या है, वैसे ही दृश्य भी मिथ्या होने पर भी कष्टकर है। (पं० जा० ना० शर्मा)]

४ (ख) 'दुखकारी' अर्थात् दुःख देनेवाला है। इस दृश्यको पूर्व 'तव रचना विचित्र' कहकर फिर उस चित्रके संबंधमें 'धोये मिटइ न मरइ भीति दुख पाइअ एहि तन हेरें।' कहा है। इसकी ओर देखनेसे दुःख होना कहा है।

४ (ग) 'तेहि बिनु तजे भजे बिनु ···' इति। यहाँ विपत्तिके टलनेका उपाय बताते हैं कि प्रपंचको त्यागे और श्रीरघुनाथजीका भजन करे। असत् दृश्यको छोड़नेका भाव कि जगत्-प्रपंचसे, विषयविलाससे, वैराग्य होवे और श्रीरामजीकी भक्ति करे। भजन करने से फिर मोह न होने पावेगा।' पूर्व जो कहा है कि 'देह गेह नेह जान जैसे घन दामिनी।' और 'रामनाम सुचि रुचि सहज सुभाय रे' (७३), एव 'जागि त्यागि मूढता अनुराग श्रीहरे।७४।' वही भाव यहाँ दृश्यके तजने और रघुनाथजीके भजने मे है। यही क्रम मानसके 'लक्ष्मण गीता' में है। यथा 'जानिअ तबहिं जीव जग जागा। जब सब विषय विलास विरागा। होइ विवेक मोह भ्रम भागा। तब रघुनाथचरन अनुरागा।२।९३।'

टिप्पणी—५ 'बहु उपाय ··श्रुति गावै' इति। (क) वेद ब्रह्मवाक्य हैं, अपौरुषेय हैं। यथा 'निगम निज बानी।६।१५।४।', 'कर्माकर्मविकर्मेति वेदवादो न लौकिकः। वेदस्य चेश्वरात्मत्वात्तत्र मुह्यन्ति सूरयः। भा० ११।३।४३।' (योगीश्वर आविर्होत्रजी कहते हैं—'कर्म, अकर्म और विकर्म वेदही-से-समझे जाते हैं, मनुष्योंसे नहीं। वेद ईश्वरके प्रगट किये हुए हैं, मनुष्यके नहीं। इसका भाव समझनेमे पंडितभी मोहित हो जाते हैं।) ['न कश्चिद् वेदकर्ता स्यात् वेदस्मर्ता चतुर्मुखः।' (पराशर १।२१); 'अतएव च नित्यत्वम्' (वेदान्तसूत्र १।३।२९; 'वाचा विरूप नित्यया' [तैत्तिरीय सं० २।६।११ (६)]—हे विरूप महर्षे! त्वं तस्मै अग्नये नित्यया—उत्पत्तिरहितया वाचा वेद मन्त्ररूपया—स्तुहि। (सायणभाष्य)। अर्थात् वेदमन्त्र नित्य है, अनादि हैं। किसी भी व्यक्ति या पुरुषद्वारा रचित नहीं, अतः अपौरुषेय हैं। 'उक्तं च शब्दपूर्वत्वं' (जैमि० मीमां०

१।१।२६) 'अनादिनिधना ह्येषा वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा ।०' (म० भा० शान्ति० २३२।२४-२६)। अर्थात् तपः शक्तिसे संपन्न होकर ही ब्रह्माजीने आदि-अन्त से रहित वेदमयी वाणीका प्रथम उच्चारण किया। ...। (जा० ना०)]

प० पु० सृष्टि खण्डमें ब्रह्माजीने नारदजीसे कहा है कि 'पहले भगवान्के मुखसे महान् तेजोमय पुञ्ज प्रकट हुआ। उस तेजसे सर्व-प्रथम वेदकी उत्पत्ति हुई।

अतः उनके कथनको 'बिमल गिरा' कहा। वेदोंने कर्म, ज्ञान और उपासना तीनों काण्डोंद्वारा संसारतरणके अनेक उपाय कहे हैं। उपनिषदों-की सारभूत श्रीमद्भगवद्गीताने भी कर्म, ज्ञान और उपासना तीनोंको कहा है। प्रमाणोंकी आवश्यकता नहीं जान पड़ती। कर्मोंका विधान इसी उद्देश्यसे वेदोंमें किया गया है कि मनुष्य कामनाओंसे मुक्त होकर निष्कामभावसे कर्मोंका अनुष्ठान करके परब्रह्म परमात्माको प्राप्त करे। वेदमें स्वर्गआदिकी कामनासे जो योगादि कर्मोंका विधान किया गया है, वह उन्हीं मनुष्योंको अपने जालमें फँसाता है, जिनका मन भोगोंमें आसक्त है। यथा 'एभिर्विमुक्तः परमाविवेश एतत् कृते कर्मविधिः प्रवृत्तः। कामात्मकांश्छन्दति कर्मयोग एभिर्विमुक्तः परमाददीत।' (म० भा० शान्ति २०१।१३ यह मनुवाक्य है) इसी तरह भगवत्-समर्पण-बुद्धिसे जो कर्म किये जाते हैं, वे भी भवमें डालनेवाले नहीं होते। भा० ११।३ में योगीश्वर आविर्होत्रने भी कहा है कि वेद परोक्षवादरूप हैं। जैसे बालकोंको फुस-लानेके लिये कोई लालच आदि दिया जाय और फिर उसीके द्वारा उसका हित कर दिया जाय, वैसेही वेद सकाम कर्मोका फल देता हुआ अन्तमें निष्काम कर्मकी ओर ले जाता है। ...वेदमे कर्मोका फल लिखा अवश्य है, परन्तु उसका वास्तविक ध्येय निष्काम कर्म ही है। (श्लोक ४४,४६)।

श्रीकान्तशरणजी "उपायः कथितः कर्म-ज्ञान-भक्ति-प्रपत्तयः। सदा-चार्याभिमानश्चेदित्येवं पञ्चधा मताः।" अर्थपंचकका यह प्रमाण देकर लिखते हैं कि वेदशास्त्रमें कर्म, ज्ञान, भक्ति, शरणागति तथा सदाचार्या-भिमान ये पाँच प्रकारके उपाय कहे गए हैं और क्रमशः यजु० अ० ४० मं० २ एवं ईश० २; श्वे० ३।८; छां० ३।१४।१; यजु० ४०।११ एवं ईश० ११; श्वे० ६।१८ और छां० ६।१४।२ एवं श्वे० ६।२३, मुं० १।२।१२ ये प्रमाण उनके दिये हैं।

५ (ख) 'मैं मोर गएँ बिनु...' इति। भाव कि वेदोंने बहुत उपाय कहे हैं तथापि मैं और मोर ने सब जीवोंको वशमें कर रक्खा है, यथा

'मैं अरु मोर तोर तैं माया। जेहि बस कीन्हे जीव निकाया।' जबतक मैं मोर-रूपी माया नहीं मिटती, द्वैतबुद्धि बनी है, तबतक कितने ही उपाय करो जीवको सुख प्राप्त नहीं हो सकता। तात्पर्य कि मैं-मोर केवल आपकी कृपासे मिट सकता है, अन्यथा नहीं। अन्यत्र कहा भी है—
'गई न निज-पर-बुद्धि रहे न राम लौ लाए'

सू० शुक्ल०—'मैं मेरा' ऐसा अहंकार होना ही छिन्नका चित्तत्व है। इसके दूर होनेसे चित्तत्व दूर हो जाता है फिर चैतन्यात्माका केवलीभाव रह जाता है और यही मोक्ष, परमानन्द, अमृतत्व है। इस लिये तुलसीदासजीका मत है कि 'मैं हूँ, मेरा है, वह है', इस भाँतिके अहंत्वको परमात्माके प्रेमसे दूर करो, इसीसे दुःखरूप संसारी भ्रम जो दिखलाई पड़ता है, दूर होगा।

श्रीसीतारामचन्द्रार्पणमस्तु।

१२१ (७०)

हैं[1] हरि यह भ्रम की अधिकाई।
देखत सुनत कहत समुझत संसय संदेह न जाई ॥१॥
जौं जग मृषा ताप-त्रय-अनुभव होइ[2] कहहु[3] केहि लेखें।
कहि न जाइ मृगबारि सत्य भ्रम तें दुख होइ बिसेखें ॥२॥
सुभग सयेन[4] सोवत सपने बारिधि बूड़त भय लागै।
कोटिहुँ नाव पारँ[5] न पाव सो[6] जब लगि आपु न जागै ॥३॥
अनबिचार रमनीय सदा संसार भयंकर भारी।
सम संतोष दया बिबेक तें ब्यवँहारौ[7] सुखकारी ॥४॥

---

१ हैं—६६। हे—श्रीरोमे। २ होइ—६६, रा०, भा०, वे०, वै०, भ०, वि०। होत—ह०, मु०, ५१, ७४। होहि—दीन। ३ कहहु—६६, रा०, भा०, वे०, आ०। कहौ—ह०, १५। कहो—ज०। ४ सयन—६६, रा०, भा०, ह०, प०। सैन—१५। सेज—७४, आ०। ५ पार न—६६, ज०। पार नहीं—रा०। न पार—भा०, वे०, ह०, ७४, ५१, आ०। ६ सो—६६, रा०, ७४, भा०, वे०, ५१, ज०, १५, वै०, भ०, वि०। कोउ—ह०, दीन। ७ व्यवहारौ—६६, प्र०, भ०। व्यवहारो—रा०, भा०, वे०, डु०, ५१, ज०। व्यवहारी—ह०, १५, आ०।

तुलसिदास 'जद्यपि सब विधि परिपंच'[८] गूढ़[९] श्रुति गावै ।
रघुपति भगति संत संगति बिनु को भव-त्रास नसावै ॥५॥

शब्दार्थ—अधिकाई = विशेषता, बहुतायत; बढ़ती; यथा 'लहहिं सकल सोभा अधिकाई ।१।११।२।' = बड़ाई, महिमा, यथा 'उमा न कछु कपि कै अधिकाई । प्रभु प्रताप जो कालहि खाई ।५।३।६।' संशय, संदेह—'त्रिविध ताप संदेह सोक संसय भय हारी ।१०६।' देखिए । अनुभव = वह ज्ञान जो परीक्षा द्वारा प्राप्त होता है । = बोध, प्रतीति और प्राप्ति । लेखें = विचार; कारण; हिसाबसे । केहि लेखैं = किस कारण; क्यों । बिसेखें (विशेष) = बहुत । सयन (शयन) = शय्या; सेज; खूब सजा हुआ बिछौना । अनविचार = विना सोचे समझे; अज्ञानमें । परिपंच = प्रपंच, पसारा, संसार । रमणीय = सुंदर । व्यवहारौ = व्यवहार (व्यापार; स्थिति, कार्य, क्रिया) भी ।

पद्यार्थ—हे हरि ! यह भ्रमकी अधिकता (विशेषता एवं महिमा) है कि देखते, सुनते, कहते और समझते हुये भी संशय और संदेह नहीं जाते ।१। यदि जगत् मिथ्या है, तो कहिए कि दैहिक, दैविक और भौतिक तीनों तापोंका अनुभव किस कारणसे होता है ? मृगतृष्णा जल सत्य नहीं कहा जा सकता, (फिर भी) भ्रमके कारण बहुत दुःख होता है ।२। सुन्दर शय्यापर सोते हुये जो स्वप्नमें समुद्रमें डूबते हुये भयभीत हो रहा हो वह (सोया हुआ, स्वप्न देखनेवाला मनुष्य) करोड़ों नावों द्वारा भी पार नहीं पा सकता, जबतक वह स्वयं न जागे ।३। संसार सदा ही बड़ा भयंकर है, पर बिना विचारे (अज्ञानसे) यह सदा रमणीय (परम सुंदर, मनको रमानेवाला) लगता है । (परन्तु) समता, सन्तोष, दया और विवेकसे व्यवहार भी सुखकर है ।४। तुलसीदासजी कहते हैं कि यद्यपि वेद सारे विधि-प्रपंचको सब प्रकार गूढ़ कहते हैं (वा, वेद कहते हैं कि यद्यपि सब विधि-प्रपंच सब प्रकार गूढ़ है) तथापि बिना श्रीरघुनाथ-जीकी भक्ति और सन्तोंकी संगतिके भवभय, भव-साँसतिका नाश कौन कर सकता है ? (कोई भी नहीं मिटा सकता) ।५।

---

८ जद्यपि सब विधि परिपंच—६६, रा० । सब विधि प्रपंच जद्यपि–भा०, वे०, प्र०, ज०, बक्सर । सब विधि प्रपंच जग जदपि—५१, ७४, श्रा० । सब विधि जद्यपि परपंच—ह० । ९ गूढ—६६ । जग झूठ—रा०, झूठ—ह०, ५१, ७४, २५, श्रा० । झूठै—भा०, वे०, प्र०, ज० ।

टिप्पणी—१ 'हैं हरि यह भ्रम···' इति। (क) 'हैं' विस्मयसूचक संबोधन है। ११७ (१) देखिए। 'हरि' संबोधन क्लेशहरण संबंधसे दिया गया। 'भ्रम' मोहका स्थूल रूप है। इस अवस्थामे मनुष्य किसी पदार्थकी कुछका कुछ समझता है। ११६ (१ क) देखिए। (ख) पिछले पदमें अपना भारी भ्रम बताया था कि संसार अनित्य है, पर सत्य भासित होता है। अब इस भारी भ्रमका ही यहाँ स्पष्टीकरण है। (ग) 'देखत सुनत कहत समुझत···' में 'देखत तव रचना विचित्र हरि समुझि मनहि मन रहिए। १११ (१)।', 'सुनिअ गुनिअ समुझिअ समुझाइअ दसा हृदय नहि आवै। ११६।', 'बेद पुरान सुनत समुझत। ११७।' और 'देखत सुनत विचारत यह मन··· । ११६।' के भाव हैं। प्रस्तुत पदके 'कहत' में पद ११६ के 'समुझाइअ'का भाव है और 'समुझत'में 'गुनिअ समुझिअ' तथा 'विचारत'का भाव है। ११६ (२ क), ११६ (१ ग) देखिए। (घ) 'संसय संदेह न जाई' कहकर जनाया कि संशय संदेह मुझे दुःख दे रहे हैं। 'त्रिविधताप संदेह सोक संसय भयहारी। १०६ (१ ग)।' देखिए। 'दो या कई बातोमेसे किसी एकका भी मनमे न बैठनेका नाम 'संशय' है और पदार्थकी वास्तविकताके विषयमे स्थिर न हो सकनेकी अवस्थाका नाम 'संदेह' है। ४७ (३ झ) तथा १०६ (१ ग, शब्दार्थ) देखिए।

[संशय=एक वस्तुमें दूसरी वस्तु निश्चित मान लेना, जैसे रस्सीको सर्प मान लेना, झूठे विषय सुखोंको वा संसारको सच्चा मानना। (वै०, भ०, दीन)।=विकल्प ज्ञान। (वि०)।=डर। (श्री० श०)। संदेह= एक वस्तुमे अनेक वस्तुओंका भ्रम, पर निश्चित कुछ नहीं, जैसे बिल्लौरके टुकड़ेपर भ्रम हो कि यह मिश्री है या नमक है या फिटकिरी; निश्चित न जान पड़े कि क्या है। (दीन)।=जगत् विषयक अनिश्चय कि यह भयंकर है या सुखकर। (श्री० श०)। एक परमात्माकी सत्ता है या कुछ और भी है ऐसा संदेह। (पो०)]

'संशय संदेह न जाई' कहकर यह भी जनाया कि इसीसे भवभय नहीं छूटता। गीतामें भी कहा है कि 'संशयात्मा विनश्यति। नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः। ४।४०।' संशयात्मा मनुष्य नष्ट हो जाता है; उसके लिये न यह लोक है, न सुख है और न परलोक ही है। तात्पर्य कि उसे संसारचक्रमें पड़ा रहना होगा।

'देखत'से नेत्रेन्द्रिय, 'सुनत'से श्रवण, 'कहत'से रसना, 'समुझत'से बुद्धि और 'संशय संदेह'से मनके व्यापार कहे।

टिप्पणी—२ 'जौं जग मृषा···' इति। (क) भाव कि जगत्‌को मृषा कहा जाता है, किन्तु ऐसा माननेपर संदेह होता है कि यदि वह मृषा है तो उसका कार्य भी मिथ्या होना चाहिए। संसार कारण है और दैहिक दैविक भौतिक ताप उसके कार्य हैं। त्रितापको भी मिथ्या होना चाहिए, पर ऐसा है नहीं; जीव त्रितापसे पीड़ित देखे जाते हैं। त्रितापानुभव सत्य है, तब उसका कारण मृषा कैसे समझा जाय? त्रिताप—(संताप) पद ४० शब्दार्थ देखिए।

२ (ख) 'कहि न जाइ मृगबारि सत्य···' इति। मृगतृष्णाजलको सत्य नही कह सकते, क्योंकि रविकिरणोंमें जल कालत्रयमें नही है, परन्तु मृगको भ्रमसे वहाँ जल जान पड़ता है, इसीसे उसे विशेष दुःख होता है, उसके प्राण ही चले जाते हैं। भाव कि जगत्‌को भ्रमसे सत्य मान लेनेका ही परिणाम त्रितापका अनुभव है, भ्रमही दुःखोंकी प्रतीतिका मूल कारण है। फिर भी सत्यकी प्रतीति मिटती नही।

[वियोगीजी—"जबतक यह ज्ञान नहीं हुआ कि संसार असत्य है वा सत्य, तबतक वह जैसा है, तैसा मानकर ही उसमें निष्काम कर्म करना चाहिए। 'मिथ्या है, मिथ्या है, पुकारनेसे कुछ न होगा। ऐसी अवस्थामें कर्म-त्याग महान् पातक है। वासना-त्याग ही श्रेयस्कर है और इसी निष्काम कर्मद्वारा संसारका यथेष्ट ज्ञान भी प्राप्त हो जायगा। यही गीताका निचोड़ है।"]

टिप्पणी—३ 'सुभग सयन सोवत···' इति। भाव कि जैसे स्वप्नमें कोई समुद्रमें डूब रहा हो तो उसके डूबनेका भय बिना उसके जागे किसी अन्य उपायसे नही दूर होता; वैसे ही यह जीव मोहनिद्रामें पड़ा हुआ अपने सहज स्वरूपको भूलकर जगत्‌को यथार्थ न देखकर मैं मोर आदिमें फँसा है तबतक उसका भव-भय मिट नहीं सकता, चाहे जप, तप, यज्ञ, ज्ञान आदि करोड़ों साधन क्यों न करे। यह दुःख तभी दूर होगा जब विषयोंसे वैराग्य होगा, स्वस्वरूप-परस्वरूपका ज्ञान होगा और जीव निज-पर बुद्धि त्यागकर प्रभुके चरणोंमें अनुराग करेगा। यही जीवका जागना है। विशेष १२० (३), ७३ (१ ख, २क-ख), ७४ (२ क-ख) देखिए।

टिप्पणी—४ 'अनबिचार रमनीय सदा संसार···'इति। (क) 'अनबिचार' से रमणीय कहनेसे सिद्ध हुआ कि विचार करनेपर हाय रमणीय नहीं रह जाता। भाव कि अज्ञानीको रमणीय लगता है, विवेक-वान्‌को नहीं। संसार भारी भयंकर है।—'भीति दुख पाइअ एह तन हेरे।' १११ (२) में देखिए।

संसारचक्रकी गतिका वृत्तान्त कोई ज्ञानी पुरुष ही जान पाता है, दूसरा नहीं। यथा—'लोकपर्यायवृत्तान्तं प्राज्ञो जानाति नेतरः।' (म. भा. शान्ति० १७४।३०। मनुष्य जैसे-जैसे संसारके पदार्थोंको सारहीन समझता है, वैसे ही वैसे इनमें उसका वैराग्य होता जाता है। इस प्रकार बुद्धिमान् पुरुष जगत्को अनेक दोषोंसे परिपूर्ण देखता है। इसीसे संसार उसे रमणीय नहीं रह जाता। पद १८८ में भी कहा है, यथा 'देखत ही कमनीय कछू नाहिन पुनि किये विचार। ज्यों कदली तरु मध्य निहारत कबहुँ न निकरै सार।' जो विचारहीन हैं वे जगत्को भोग्य /पदार्थ रूप देखकर उन विषयोंमें ममत्व करके उसके जालमें फँसकर चौरासी भोगते हैं, वे ही पदार्थ उसके दुःखके कारण बन जाते हैं।

'चौरासीलक्ष योनियोंमे वारंवार भ्रमण कराता है', यही संसारकी भयंकरता है। 'सघन तम घोर संसार भर' ५५ (३घ) देखिए।

४ (ख) 'सम संतोष दया विवेक ते···' इति। संसार भारी भयंकर है, यह कहकर अब बताते हैं कि यह सुखकर बन सकता है यदि इसमें 'सम, सन्तोष, दया और विवेक' इन चारको लिये हुए व्यवहार किया जाय। 'सम' अर्थात् सबमें समान भाव रक्खे, चराचरमात्रको श्रीराममय देखे, (यथा 'सातँव सम मोहिमय जग देखा।३।३६।३।') इससे शत्रु, मित्र, उदासीन भाव तथा निज-पर-बुद्धि आदि सब मिट जायँगे जो भवमें डालनेवाले हैं। 'संतोष' होनेसे कामनाओं तथा लोभका नाश होगा। जीव सुखी रहेगा। यथा 'बिनु संतोष न काम नसाहीं। काम अछत सुख सपनेहु नाहीं।७।९०।१।', 'जिमि लोभहि सोखइ संतोषा।४।१६।' सम और संतोष शबरी प्रति कही हुई नवधामें सातवीं और आठवीं भक्तियाँ हैं। कामनाएँ भवकी मूल हैं, संतोष होनेसे कामना उठेगी ही नहीं। 'दया' धर्मका मूल है, इससे बढ़कर धर्म नहीं, यथा 'दया धर्म को मूल है पापमूल अभिमान।' 'धरम कि दया सरिस हरिजाना।७।११२।१०।' जीवोंपर दया होनेसे 'समता' गुण दृढ़ होता जायगा। दूसरे जीवोंको दुःखी देख निस्वार्थ उनकी सहायता करना दया है। यह संत-गुण है, यथा 'कोमल चित दीनन्ह पर दाया।' विवेक अर्थात् सत्-असत्का विचार करते हुए व्यवहार करे। विवेक भी संसार पार होनेका उपाय है। यथा 'बिनु विवेक संसार घोर निधि पार न पावै कोई।११५।', अतः इसे भी बरतनेको कहा। [देखिए ध्रुव, प्रह्लाद, अंबरीष, जनक, भीष्म आदि लोकव्यवहार करते रहे, संसार इनका कुछ बिगाड़ न सका, प्रत्युत इनको सुखकर ही हुआ। (वै०)]

[वियोगीजी लिखते हैं कि "अज्ञानसे संसार रम्य प्रतीत होता है और ज्ञानसे भी। दोनोंमें ही रम्यत्व है। किन्तु अज्ञानद्वारा अनुभूत रमणीयता क्षणिक है, क्योंकि वह बाह्य सौंदर्य है, उसका आत्माके साथ कोई चिरसम्बंध नहीं, और ज्ञानद्वारा जो रमणीयता अनुभवमें आती है वही सच्ची रमणीयता है, क्योंकि वह अन्तर्जगत्का सौन्दर्य है। उसके कारण बाह्य जगत् फीका दिखाई देता है, उसका वास्तविक रहस्य अवगत हो जाता है। जिन्हें समता, संतुष्टि, दया और विवेक प्राप्त हो गया, उनके आगे सत् और असत् दोनोंका ही भेद प्रकट हो जाता है।"]

टिप्पणी—५ 'जद्यपि सब बिधि परिपंच ' ' इति। (क) प्राचीनतम पाठ 'गूढ़' है, इसके अनुसार प्रपंचका समझना कठिन जनाया। 'केउ कह सत्य झूठ कह केऊ जुगल प्रबल करि माने' तथा 'देखत तव रचना विचित्र हरि समुझि मनहि मन रहिये' के भाव 'गूढ़'में हैं। प्रपंच गूढ है ऐसा श्रुति कहती है। यथा 'तं दुर्दर्शं गूढमनुप्रविष्टं गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम्। अध्यात्मयोगेन च तं विदित्वा मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति। कठ० १।२।१२।' (अर्थात् उस कठिनतासे दीख पड़नेवाले, गूढ स्थानमे अनुप्रविष्ट, बुद्धिमें स्थित, गहन स्थानमे रहनेवालेको अध्यात्मयोगसे जानकर धीर पुरुष हर्ष शोकको त्याग देता है)। 'गूढ़'में 'अनिर्वचनीय'का भाव भी आ जाता है। ('झूठ' पाठ सरल है, इसका अर्थ सभी जानते हैं। 'बिधि-प्रपंच'में सारा जगत् और उसके व्यवहार आ गए। यथा 'जोग वियोग भोग भल मंदा। हित अनहित मध्यम भ्रम फंदा॥ जनम मरन जहँ लगि जग जालू। संपति बिपति करम अरु कालू॥ धरम धाम धन पुर परिवारू। सरग नरक जहँ लगि व्यवहारू॥' इनको गिनाकर अन्तमें इनको 'प्रपंच' कहा है—' ' तिमि प्रपंच जिय जोइ।२।९२।'—यह सब प्रपंच मोहमूल है, यथा 'देखिअ सुनिअ गुनिअ मन माहीं। मोहमूल परमारथ नाहीं॥ सपने होइ भिखारि नृप रंक नाकपति होइ। जागें लाभु न हानि कछु तिमि प्रपंच जिय जोइ।२।९२।' अतः 'झूठ' कहा।—यह 'झूठ' पाठका भाव है।)

५ (ख) 'रघुपति भगति' ' ' इति। पूर्वार्धके 'जद्यपि' शब्दसे जनाया कि श्रुति जब प्रपंचको गूढ़ वा झूठ कहती है तो उससे भवत्रास न होना चाहिए, पर भवत्रास मिटता नहीं। यह कहकर भवत्रास मिटनेका उपाय बताते हैं कि रघुनाथजीकी भक्ति करे और सन्तोंका संग करे। यही एकमात्र साधन भवत्रासके नाशका है, दूसरा नहीं। पद ५७ में बताया जा चुका है कि श्रीरामकृपासे संत-संग प्राप्त होता है, तब उनके द्वारा भक्ति

मिलती है और भक्ति मिलनेपर भी संत-संगकी अपेक्षा रहती है। भक्ति योग है, सत्संग क्षेम है। बिना सत्संगके भक्ति दृढ़ रह नहीं सकती। दोनोंमें अन्योन्याश्रय भाव है। अतः दोनोंका होना भवत्रासशमनके लिये आवश्यक जनाया। विशेष ५७ (६ ख; ८ ग; ६ क-ग) में देखिए।

। श्रीसीतारामचन्द्रार्पणमस्तु ।

१२२ (७३)

मैं हरि साधन करइ न जानी।
जस आमय भेषज न कीन्ह तस दोस कोन[1] दरपानी[2] ॥१॥

सपने नृप कहँ घटइ विप्र-वध विकल फिरै अघ लागें।
वाजिमेध सतकोटि करै नहिं सुद्ध होइ बिनु जागें ॥२॥

स्रग महुँ सर्प विपुल भय-दायक प्रगट होइ अविचारें।
बहु-आयुध-धर[3] मिलि[4] अनेक कर[5] हारहिं[6] मरइ न मारें ॥३॥

निज भ्रम तें संभव[7] रवि-कर-सागर अति भय उपजावै।
अवगाहत बोहित नौका चढ़ि 'कबहूँ[8] पार न' पावै ॥४॥

तुलसिदास जग आपु सहित जब लगि निर्मल न सुहाई / निर्मूल न जाई †।
तब लगि कलप[9] कोटि उपाय करि मरिअ तरिअ नहिं भाई ॥५॥

---

१ कोन—६६। कौन—भा०, वे०, प्र० भ०। कवन—रा०, ह०, ७४, ज०, १५। कहा-श्रा०, ५१। २ दरपानी—६६। दरुपानी—वे०। दरुआनी—प्र०। दरवानी—भा०। दरमानी—ह०, ७४। वर वानी—मु०, वै०, रा०। दिरमानी—भ०, दीन. वि०। ३ धर—६६, रा०, ज०, भ०। धरि—प्रायः औरोंमे। ४ मिलि—६६, रा०, भा०, वे०। वल—ह०, ५१, प्र०, ७४, ज०, १५, श्रा०। ५ कर—६६, भ०। करि—प्रायः औरोंमे। ६ हारहिं—६६, रा०, भ०, ह०, ५१। हारहि—भा०, वे०, श्रा०। हारिय—७४। ७ संभव रविकर—६६। रविकर संभव—भा०, वे०, श्रा०। भट्टजीने 'सागर रविकर-सभव' पाठ दिया है। ८ कबहुँ पार नहिं—ह०। † निर्मल न सुहाई—६६। निर्मूल न जाई—औरोंमे। कलप कोटि—६६, रा०, भ०। कोटि कल्प—भा०, वे०, मु०, दीन, वि०, पो०, श्री० श०।

शब्दार्थ–करइ (अवधी)=करना। आमय=रोग। भेषज=ओषधि, दवा। तस=तैसा; वैसा। दरपानी (दर+पाणि)=शङ्खपाणि=विष्णु-विष्णुकान्ता-औषधि। घटना (सं० 'घटन')=उपस्थित होना; लगना। यथा 'अब जौं तात दुरावौं तोही। दारुन दोष घटइ अति मोही। १।१६२।४।' बाजिमेध=अश्वमेध यज्ञ। स्रग (स्रक्)=फूलों की माला। यथा 'अँचै पान सब काहू पाए। स्रग सुगंध भूषित छबि छाए।१।३५५।२।' अबिचारें=विचारके अभावसे; अज्ञान वा अविवेकसे। आयुध-धर=अस्त्र-शस्त्र धारण करनेवाले। कर=युक्ति, उपाय; कलायें, करतब। संभव=उत्पन्न। अवगाहत=डूबते हुये। बोहित=जहाज। आपु सहित=अपने सहित।=अहं-भाव अहंकारवृत्ति सहित।—(भ०, दीन)। आपु=देहाभिमान, मिथ्याशरीरज्ञान अथवा असद्भावना। (वि०)

पद्यार्थ—हे हरि! मैंने साधन करना नहीं जाना। जैसा रोग है, वैसी दवा न की (तब) इसमें दवा और वैद्य-भगवान्‌का दोष क्या? (अर्थात् इसमें दोष तो अपना ही है)।१। (किसी) राजाको स्वप्नमें ब्राह्मणवध अर्थात् ब्रह्महत्या लगे और वह पाप लगनेसे व्याकुल फिरे, (स्वप्नमें चाहे) सौ करोड़ अश्वमेधयज्ञ करता रहे तो भी बिना जागे वह शुद्ध नहीं हो सकता।२। अज्ञानसे पुष्पोंकी मालामें बहुत भयंकर सर्प प्रगट हो जाता है (अर्थात् सर्पकी प्रतीति होती है)। बहुत अस्त्र-शस्त्रधारी जुटकर अनेक उपाय करके हार जायँ पर (वह भ्रमका सर्प) मारे नहीं मरता।३। अपने भ्रमसे उत्पन्न मृगतृष्णाजलका समुद्र अत्यंत भय उत्पन्न कर देता है। (उस भ्रमजनित समुद्रमें) डूबता हुआ मनुष्य जहाज या नावपर चढ़कर कभी भी पार नहीं हो सकता।४। तुलसीदासजी कहते हैं कि हे भाइयो! (इसी तरह) जबतक यह जगत् अपने सहित निर्मल न लगेगा (वा, निर्मूल न हो जायगा) तबतक करोड़ों कल्पोंतक उपाय कर-करके पच मरो, इसे तर नहीं सकते।५।

टिप्पणी—१ 'मैं हरि साधन ···' इति। भाव कि रोगके अनुकूल वैद्य जो दवा और अनुपान बताते हैं वह यदि न करें तब वैद्य, दवा एवं वैद्यकशास्त्रका दोष क्या? वैसे ही भवरोगकी दवा भगवद्भक्ति, श्रीरामपदानुराग तथा सन्तसंग हैं, विषयसे वैराग्य संयम और श्रद्धा अनूपान हैं। यथा 'तुलसिदास भवरोग रामपद प्रेमहीन नहि जाई।८१।', 'रघुपति भगति संतसंगति बिनु को भवत्रास नसावै।१२१।', 'सद्गुर बैद बचन बिस्वासा। संजम यह न बिषय कै आसा। रघुपति भगति सजीवन

मूरी। अनूपान श्रद्धा मति रूरी॥ एहि विधि भलेहि सो रोग नसाहीं। नाहि त जतन कोटि नहि जाहीं ।७।१२२।'—मैंने ये साधन नहीं किये जो सद्गुरु तथा सद्ग्रन्थोंने बताये हैं, तब उनका दोष क्या? 'दरपानी'—'वैद्यो नारायणो हरिः' प्रसिद्ध है। शङ्खपाणि भगवान् वैद्य कहे गए हैं। अतः 'दरपानी' प्राचीनतम पाठ लेखप्रमाद नहीं है। [(') "तत्कालीन वातज्वर सोंठ-पिपरामूरि से जाता है, पित्तज्वर यवके काढ़ासे जाता है, श्लेष्मज्वर कागजी नीबूकी शिकंजबीनसे जाता है, द्वन्द्वज्वर पञ्चभद्रकादिसे जाता है, सन्निपातज्वर चिन्तामणिरस आदिसे जाता है, जीर्णज्वर वसन्तमालिनी लाक्षादि तेल से जाता है और तपेदिक पूर्वसे तीन वर्षतक अरहर मूंगकी दाल और रोटी खाने और सब प्रकार परहेज करनेसे साधारण ही आराम हो जाता है, नहीं तो किसी दवासे नहीं आराम होगा। यदि ज्वर सन्निपाती है और उसमें गुर्च चिरायता पिलाया जाय तो रोग कैसे जा सकता है? वैसे ही कामादि कराल मानस रोगोंमे विषय कुपथ्य सेवन करे तो संध्या तर्पण पूजा पाठ मात्रसे जीव कैसे शुद्ध हो सकता है? विना अन्त करणकी शुद्धताके केवल देहमे साधन करनेसे क्या हो सकता है।" (वै०)। भ० और वि० ने उपर्युक्त छोटे टाइप वाला अंश दिया है। (२) मैंने अनेक साधन किये, पर मुख्य साधन जो आत्मज्ञान है, उसकी प्राप्तिकी चेष्टा नहीं की, तब इसमें भगवान्‌का क्या दोष? (दीनजी)]

टिप्पणी—२ 'सपने नृप कहँ घटइ ' ' इति। भाव कि स्वप्नके ब्रह्महत्यारूपी रोगकी औषध 'जागना' है, अत· जबतक जागेगा नहीं ब्रह्महत्या से शुद्धि नहीं होनेकी। जब जागेगा तब उसे निश्चय हो जायगा कि न तो मैंने विप्रको मारा, न मुझे पाप लगा, यह तो सब स्वप्न था। [इसी तरह जीव मोहनिद्रामे स्वप्नवत् रूप देहाभिमानी हो अनेक पापकर्मोंका भागी हुआ, जबतक वह विषयासक्त बना है तबतक अनेकों कर्मोंके करनेसे वह शुद्ध नहीं हो सकता। जब उसको अपने स्वरूपका ज्ञान हो जायगा तभी वह शुद्ध हो जायगा। (वै०)। भाव यह कि आत्मज्ञान होनेपर संसार स्वयं छूट जायगा। (भ०)। अज्ञानावस्थामे किये गए पाप ज्ञानके उदय होनेपर ही दूर होंगे, अन्यथा नहीं।—'ज्ञानाग्नि· सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते ऽर्जुन। गीता* (दीनजी)। तत्वज्ञानके विना अज्ञानजनित

* गीताका पूरा श्लोक इस प्रकार है—'यथैधासि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन। ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा ।४।३७।' अर्थात् अर्जुन! जैसे प्रज्वलित अग्नि इन्धनके ढेरको भस्म कर देती है, वैसे ही (आत्माके स्वरूप विषयक यथार्थ)

पापोंसे छुटकारा नहीं मिलता। (पो०)। अपना स्वरूप जानना जागना है, संसारके दुःख-सुख तथा संसारको स्वप्न समझना शुद्ध होना है। (डु०, भ० स०)] प्रभुको जाननेसे संसार स्वप्नवत् हो जाता है, यथा 'जेहि जाने जग जाइ हेराई। जागे जथा सपन भ्रम जाई ।१।११२।२।' सो मैंने यह साधन नही किया।

[श्री० श०—'अश्वमेधयज्ञके अवभृत स्नानसे ब्रह्महत्यादि पाप छूटते है। (म० भा० शांति० ३५।९-१०)। इसीलिये ग्रन्थकारने राजाके विषयमें ब्रह्महत्याका प्रायश्चित्त अश्वमेध लिखा। यहाँ शतकोटि अश्वमेधोंसे भी शुद्धि नहीं कही गई। इसका भाव यह है कि पाप हो तो उसकी शुद्धि हो। इसने तो स्वप्नमें पापकी झूठी कल्पना कर ली है तो शुद्धि किस बातकी हो? स्वप्नमें पूर्वके किसी अभ्यासवशात् पापकी प्रतीति तो हो जाती है, पर शुद्धिके निश्चयका अभाव रहता है, इससे शुद्धि नहीं होती।'—१२० (३) मे भ० स० का समाधान भी देखिए।]

टिप्पणी—३ 'स्रग महँ सर्प ' इति। भाव कि मालामें भ्रमके कारण सर्प प्रतीत हो रहा है, तो 'स्रगसर्प' को मारनेकी औषधि 'विचार, विवेक' है, अस्त्र-शस्त्र आदि नहीं। विचारसे भ्रम दूर होगा, दीपकके प्रकाशसे प्रकट हो जाता है कि सर्प नहीं है, यह तो माला है, मुझे भ्रम हो गया था। 'विचार' औषधि न करके अस्त्र-शस्त्रधारियोंको बुलाकर उसपर अस्त्र चलाने से वह नही मरनेका। भाव कि वैसे ही मैंने स्वस्वरूप-परस्वरूपका ज्ञान प्राप्त करनेका साधन नहीं किया तो संसारकी सत्ताका भ्रम कैसे मिटे। यथा 'झूठउ सत्य जाहि बिनु जानें। जिमि भुजंग बिनु रजु पहिचानें। १।११२।१।'

टिप्पणी—४ 'निज भ्रम तें संभव···' इति। 'जस आमय भेषज न कीन्ह तस' का अब तीसरा दृष्टान्त देते हैं। रविकरमें जल कालत्रयमें नहीं है, तब रविकर सागर कहाँ हो सकता है, यह मृषा है फिर भी यदि कोई भ्रमसे वहाँ सत्य जल जानकर उस समुद्रमें डूबने लगे तो उसे नाव या जहाज कैसे पार लगा सकता है? इसकी औषधि है 'विचार', जिससे भ्रम दूर हो, तब समुद्रही न रह जायगा। वैसे ही जीव विषयों, विषय सुखों, देह, गेह, स्त्री पुत्र आदि संसाररूपी रविकरसागरमें डूब रहा है, उससे पार होनेका उपाय है स्वस्वरूपका ज्ञान, अर्थपंचकका ज्ञान, जिससे भ्रम

ज्ञानरूप अग्नि (जीवात्मामे स्थित अनादिकालसे प्रवृत्त) सम्पूर्ण कर्मसञ्चयोको भस्मकर देती है।

दूर हो। यथा 'मृगभ्रमवारि सत्य जल जानी। तहँ तूँ मगन भयो सुख मानी॥ तहाँ मगन मज्जसि पान करि त्रयकाल जल नाहीं जहाँ। निज सहज अनुभव रूप तव खलु भूलि जनु आयो तहाँ।१३७।'—१११ (३ख-घ) देखिए। सो उपाय मैंने नहीं किया। उपर्युक्त तीनों दृष्टान्तोंमें अपने ही भ्रमसे दुःख होना दिखाया गया। अज्ञानसे ही ब्रह्महत्या, मालामें सर्प और रविकर समुद्र प्रकट हुए।

["यहाँ वेद-वेदान्त जहाज और ज्ञान साधन आरूढ़ता है। पुराण और धर्मशास्त्र नौका तथा कर्मसाधन आरूढ़ता है। जबतक लोकपदार्थोंको सच्चा माने है तबतक संसार सागरके समान भयदायक है। जबतक आत्मज्ञान नहीं तबतक साधन करके पार नहीं पा सकते।"। (वै.)। अथवा, "ज्ञान और योग आदि नौका और बोहित हैं। इन्द्रियाँ भक्तिमें लगकर यथार्थ सुख पाकर तृप्त होती हैं, तब इनकी विषयतृष्णा दूर हो जाती है, अन्यथा ज्ञानयोगद्वारा इन्द्रियोंको विषयोंसे रोककर इस सागरसे पार नहीं किया जा सकता। देहाभिमानके साथ उपासनामें दंभलोभ आदि होते है, इसलिये जागर्तिकी इसमें भी अत्यन्त आवश्यकता है। शुद्ध भक्तिसे दिव्य सुख मिलता है।" (श्री श.)]

टिप्पणी—५ 'जग आपु सहित···' इति। (क) भाव यह कि भवरोगकी औषधि यह है कि जगत्‌मात्रको भगवद्‌विभूति और अपनेको उसमेंसे एक विभूति समझे, अपना-पराया अर्थात् निज-पर वा द्वैत बुद्धि दूर हो जानेसे फिर संसार रह ही न जायगा।

संसार भगवान्‌की लीला-विभूति है। जो कुछ हमारे दृष्टिगोचर हो रहा है, वह सब भगवद्‌विभूति है, इस सबमें भगवान् ही अन्तर्यामी रूपसे हैं, वे ही सबके प्रकाशक हैं। जब सब प्रभुमय है, तब मैं और मेरा, तू और तेरा, शत्रु-मित्र उदासीन आदि रह ही नहीं जाते।—'निज प्रभुमय देखहि जगत केहि सन करहि विरोध।७।११२।' 'जहँ तहँ देख धरे धनुबाना', 'मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत।४।३।'

श्रुतियाँ भी इस जगत्‌को और आत्माको भगवान्‌का शरीर कहती हैं—'यस्य पृथिवी शरीरं। यः पृथिवीमन्तरो यमयति। बृ० ३।७।३।', 'यस्य आत्मा शरीरं। यस्याक्षरं शरीरं।'—इत्यादि श्रुतियोंसे सिद्ध है कि सब प्रपंच और जीव ईश्वरका शरीर है। गीतामें भी भगवान्‌ने अनेक पदार्थोंको अपना ही रूप बताया है। जब सब भगवद्रूप ही है तब इसे असत्य नहीं कह सकते।

वंधनका, संसृति क्लेशका कारण हमारा भ्रम है कि इसे भगवद्रूप, भगवद्विभूति, स्थूल चिदचिद् विशिष्ट ब्रह्म आदि न मानकर हम उनको अपनी भोग्य वस्तु, अपनी स्त्री, पुत्र, माता, पिता, भाई, सेवक, मित्र, शत्रु आदि मानने लगे और अपने तथा प्रभुके स्वरूपको भूल गए, अज्ञानमें पड़कर विषयोंमें फँस गए, अपनेको शरीर ही मानने लग गए। इत्यादि। यह अज्ञान मिट जाय, जगत् जैसा (स्थूल चिदचिद् विशिष्ट ब्रह्म) वस्तुतः है वैसा देख पड़े, तो कहीं भय नहीं रहता।

५ (ख) ☞ 'निर्मल न सुहाई' पाठ सं० १६६६ का है। इसके अनुसार उपर्युक्त भाव कहा गया। यही सिद्धान्त श्रीस्वामीरामानन्दजी तथा श्रीस्वामीरामानुज आचार्योंका है। गोस्वामीजी श्रीरामानन्दीय वैष्णव थे ही।

☞ अन्य पोथियोंमें 'जग निर्मूल न जाई' पाठ है।—इसका आशय एक तो विशिष्टाद्वैतसिद्धान्तानुसार ऊपरका-सा ही होता है कि यह सारा जगत् जैसा हम देखते हैं वैसा नही है,वरन् 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत। छां० ३।१४।१','नेह नानास्ति किञ्चन' (बृह० ४।४।१९) इन श्रुतियोंके अनुसार सब ब्रह्मात्मक ही है। ब्रह्ममें नानात्व नहीं है। अर्थात् 'सचराचर रूप स्वामि भगवंत' है, तब नानात्व (कि मैं ब्राह्मण हूँ, मैं क्षत्रिय हूँ, मैं वैश्य हूँ, मैं शूद्र हूँ, मैं मनुष्य हूँ, वह पशु है, स्त्री, पुत्र, शत्रु, मित्र आदि है—), है ही नहीं—जिसका नाम जगत् है वह रह ही न गया।

शाङ्कर सिद्धान्तानुसार जगत् ब्रह्ममें अध्यस्त है। अध्यासके कारण ही हमें इसकी प्रतीति हो रही है। वास्तवमें यह विश्व ब्रह्मस्वरूप है। तथा जिस रूपमें दीखता है, उस तरहका न होनेसे मिथ्या है।

श्रीकान्तशरणजी—'आपु सहित' तथा साथ ही 'निर्मूल न जाई' कहनेसे उपर्युक्त भक्तिप्रसंगसे भी कुछ यह विशेषता जान पड़ती है, वह यह कि शरणागतिमें अपना आपाभी शरण्य (स्वामी) पर ही छोड़ दिया जाता है। यथा 'योऽहं ममास्ति यत्किंचिदिहलोकेपरत्र च, तत्सर्वं भवतोरेव चरणेषु समर्पितम्।' (पांचरात्र)। शरणागतके इस भावपर भगवान् इसके लोक-परलोकके कुलभारको स्वयं वहन करते हैं। उसी समयसे इसके जगत्का समूल नाश हो जाता है।

सू० शुक्र०—संसारी क्लेश नासमझीसे हैं, अतः सिवाय वह नासमझी जाननेके अन्य उपाय व्यर्थ हैं। इसी नासमझीको महर्षि पतंजलिने पाँच

भागोंमें विभाजितकर 'पंचक्लेश' नामसे वर्णन किया है और इसीके दूर होनेसे मोक्ष होना माना है। और, महर्षि कपिलदेवजीने सांख्यसूत्रमें 'परमपुरुषार्थ' नामसे वर्णन किया है और यही नासमझी दूर करनेवाले ज्ञानको ब्रह्मज्ञान कहते हैं और यही जाननेके लिये सत्संग और सद्गुरुकी शरणमें उपदेश लिया जाता है। तुलसीदासका मत है कि जबतक अहं-सहित संसारका मिथ्या भ्रम न दूर होगा, सारे परिश्रम व्यर्थ हैं।

श्रीसीतारामचन्द्रार्पणमस्तु।

१२३ (७१)

अस किछु[1] समुझि परत[2] रघुराया।
बिनु तव कृपा दयाल दासहित मोह न छूटै माया ॥१॥
वाक्य ज्ञान अत्यंत निपुन भव पार न पावै कोई।
निसि गृह मध्य दीप की बातन्ह[3] तम निवृत्त नहि होई ॥२॥
जैसें केउ[4] एक दीन दुखी[5] अति असन-हीन दुख पावै।
चित्र कलपतरु कामधेनु गृह लिखें न विपति नसावै ॥३॥
षटरस बहु प्रकार भोजन कोउ दिन अरु रैनि[6] बखानै।
बिन[7] बोले संतोष-जनित सुख खाइ सोइ[8] पै जानै ॥४॥
जब लगि नहिं निज हृदि[9] प्रकास अरु विषय आस मन माहीं।
तुलसिदास तब लगि जग जोनि भ्रमत सपनेहुँ सुख नाहीं ॥५॥

शब्दार्थ—दासहित=सेवकोंका हित करनेवाले! वाक्य ज्ञान=वह ज्ञान जो कथन मात्र हो। स्मृति-वेदान्त-शास्त्रीय ज्ञानकी वार्ता और उनमें

---

१ कछु—औरोंमे। २ परै—डु०, वक्सर, दीन। परत—प्रायः औरो मे। ३ बातिन्ह—६६। लेखककी भूल है। ४ केउ—६६, रा०। कोउ—भा०, वे०, ह०, ७४, प्र०, १५, आ०। कोइ—वि०, पो०। ५ दुखी—६६, रा०, भा०, वे०, दीन, मु०। दुखित—डु०, वै०, भ०, वि०, पो०, वक्सर, ह०, ७४, १५, ज०। ६ रैनि—६६, ५१, रा०, भा०, वे०, मु०, भ०, दीन, त्रि०, वै०। रैन—ह०, ज०, ७४। ७ बिनु—रा०, भा०, वे०, मु०, भ०, वि०, पो०। बिन—६६, डु०, वै०, दीन। ८ सोई—मु०, भा०, वे०, ह०, १५। सोइ—६६, रा०, आ०। ९ हृदय—ह०, प्र०, ज०, १५। हृदि—प्रायः औरोमे।

कहे हुये सूत्रादि वाक्योंका भली प्रकार उच्चारण करके उनकी व्याख्या करना। यथा 'जोग न समाधि निरुपाधि न विराग ज्ञान बचन विसेष कहूँ न करनि। १८४(३)।' ❀ निवृत = नष्ट; दूर। केउ एक = कोई एक; कोई भी मनुष्य। असन = भोजन। षटरस (षड्रस) = छः प्रकारके रस या स्वाद - मधुर, लवण, तिक्त, कटु, कषाय और अम्ल। अर्थात् मीठा, नमकीन, तीता, कड़ुवा, कसैला और खट्टा (आम्लेका-सा) रैनि (रैन। सं० रजनी) = रात; रात्रि। संतोष = भूखकी निवृत्ति, क्षुधातृप्ति, पेट भरनेसे। हृदि = हृदयमें

पद्यार्थ—हे रघुराज! हे दयालू! हे सेवकहितकारी! (मुझे) ऐसा कुछ समझ पड़ता है कि बिना आपकी कृपाके न मोह छूटै न माया। (अर्थात् मोह मायाका छूटना दासका हित है, सो बिना आपकी कृपाके नही हो सकता)।१। वाक्यज्ञानमें अत्यन्त निपुण होनेसे कोई भवका पार नहीं पा सकता। रात्रिके समय घरमें दीपककी बातें करनेसे (घर का) अँधेरा दूर नही होता।२। जैसे कोई अत्यन्त दीन दुःखी मनुष्य भोजन-बिना दुःख पा रहा हो, तो घरमें कल्पवृक्ष और कामधेनुके चित्र (तसवीरें दीवार या कागज आदि पर) खींचने अर्थात् बनानेसे उसका कष्ट दूर नहीं हो सकता।३। कोई दिनरात षट्रसके बहुत प्रकारके भोजनोंका वर्णन करता रहे; किन्तु क्षुधातृप्ति अर्थात् पेट भरनेसे बिना बोले ही (अर्थात् बिना षट्रस भोजनका वर्णन किये ही) जो सुख उत्पन्न होता है, वह तो निश्चय वही जानेगा जो खायेगा (चाहे बखान न भी करे)।४। तुलसीदासजी कहते हैं कि जबतक अपने हृदयमें प्रकाश नहीं होता और मनमें विषयोंकी आशा बनी हुई है, तब तक संसारकी अनेक योनियोंमें चक्कर खाते हुए स्वप्नमें भी सुख नहीं मिलनेका।५।

नोट—१ "इस पदमें केवल वाक्यजन्य ज्ञानमात्रसे मोक्ष माननेवाले मायावादी (अद्वैतियों) के सिद्धान्तका खण्डन है और उपासनात्मक ज्ञान (अर्थात् भक्ति) से प्रसन्न श्रीरघुनन्दनजीकी कृपासे मोक्ष माननेवाले परम वैदिक विशिष्टाद्वैत सिद्धान्तका ही प्रतिपादन है।" (वे० शि० श्रीरामानुजाचार्यजी)।

"इस पदमें भी गोसाईंजीने भगवत्कृपाको ही प्रधानता दी है। यद्यपि आत्मज्ञान और विषय-त्यागको भी माया-नाशका साधन बताया है, पर

❀ बाबारामदासने 'वाक्यज्ञान'से 'तत्वमसि आदि द्वादश महावाक्योंके अर्थमें 'अत्यन्त निपुण' यह अर्थ ग्रहण किया है।

भगवत्कृपाको कदाचित् वह स्थान दिया गया है जिसके प्रभावसे उपर्युक्त दोनों साधन अनायास सिद्ध हो सकते हैं।" (वियोगी हरिजी)।

"खेद है कि माया और ब्रह्मके रूपको समझके भी वचनमात्रसे ज्ञान-कथक्कड़ दिखलाई पड़ते हैं; इससे जान पड़ता है कि विना परमात्मामें प्रेम हुए वैराग्य व अभ्यास नहीं होता, जिससे कि भीतरी भाव दृढ़ हो। जबतक मनको विषय दुःख देते हैं, भलीभाँतिसे रोम-रोममें चैतन्यात्माका प्रकाश नहीं फैला हुआ है, जन्म-मरणसे पीछा नहीं छूटता। और जबतक जन्म-मरण पीछे पड़ा है स्वप्नमें भी सुख नहीं। इसलिये पहले परमात्मामें प्रेम होना मुख्य है, फिर सद्गुरुसे समझकर वैराग्यपूर्वक सदैव अभ्यास करना चाहिए।" (सूर्यदीन शुक्लजी)।

टिप्पणी—१ 'अस किछु समुझि परत' इति। (क) पिछले पदमें प्रार्थना की थी कि जो साधन भवरोगके नाशके लिये करने चाहिए वह मैंने नहीं किये। उसपर कह सकते हैं कि अब वे साधन कर लो। इसीपर कहते हैं कि मुझे तो ऐसा निश्चय होता है कि विना आपकी कृपाके माया मोह नहीं छूट सकते। माया कारण है, मोह उसका कार्य है। माया और मोहका कृपासे छूटना पूर्व भी कह आये हैं। यथा 'माधो असि तुम्हारि यह माया। करि उपाय पचि मरिअ तरिअ नहिं जब लगि करहु न दाया। ११६।', 'तुलसिदास प्रभु मोह शृंखला छूटिहि तुम्हरेहि छोरें। ११४।', 'तुलसिदास यह जीव मोह रजु जेहि बाँध्यो सोइ छोरै। १०२।'—११६(१) देखिए। भाव यह है कि कितने ही साधन किये जायँ फिर भी विना आपकी कृपाके नही छूट सकते।

२ 'वाक्य ज्ञान अत्यंत निपुन' इति। (क) इसके दो प्रकारसे अर्थ होते हैं। एक तो यह कि ज्ञान कथन करनेमें अत्यन्त कुशल है, ब्रह्मज्ञान क्या है इसकी भारी व्याख्या करते हैं। दूसरे, तत्त्वमसि आदि द्वादश महावाक्योंके कथनज्ञानमें कुशल है, अर्थात् उनकी व्याख्या बड़ी कुशलतापूर्वक करते हैं, पर अन्तःकरणमें उस ज्ञान वा वाक्यका साक्षात्कार नहीं है, तो वह कोरा कथनी ज्ञान भवपार नहीं कर सकता। 'ब्रह्मज्ञान बिनु नारि नर करहिं न दूसरि बात। कौड़ी लागि लोभवस करहिं विप्र गुर घात।७।९९। पर-त्रिय-लंपट कपट सयाने। मोह द्रोह ममता लपटाने। तेइ अभेदवादी ज्ञानी नर।'—का ही भाव 'वाक्य ज्ञान निपुण' में है। इसी आशयकी श्रुति भी है, यथा 'कुशला ब्रह्मवार्तायां वृत्तिहीनाः सुरागिणः। तेऽप्यज्ञानतया नूनं पुनरायान्ति यान्ति च।' (तेजोबिन्दूपनिषत्

१।४६) । यहाँका 'वाक्यज्ञान'''भवपार न पावै' ही इस श्रुतिका अर्थ है। श्रीशार्ङ्गधरने भी कहा है—'वागुच्चारोत्सवं मन्याः तत्क्रियां कर्तुमक्षमाः। कलौ वेदान्तिनो भान्ति फाल्गुने बालका इव ॥' (शार्ङ्गधरपद्धति)। अर्थात् केवल शब्दोंके उच्चारणमें समर्थ वृत्ति एवं क्रियासे रहित कलियुगके वेदान्ती फागुन मासके चाँचरि गानेवाले बालकोंके समान लगते हैं।— शार्ङ्गधरके 'तत्क्रियां कर्तुमक्षमाः' आदिका आशय भी यही है कि भगवदाराधन सेवा आदि जो उसकी क्रिया है, उसे बिना किये कथनी-मात्रसे प्रयोजन सिद्ध न होगा, उससे तो अवश्य ही भवमें पड़े रहना होगा। 'ज्ञान वचन बिसेष वेष कहूँ न करनि। १८४।' तथा 'भीतर तो भेद्यो नहीं, बाहर कथै अनेक। जोपै भीतर लखि परै भीतर बाहर एक।' (कबीरजी) में भी वही भाव है।

बिना आत्मानुभवके, बिना भगवान्‌के साक्षात्कारके केवल शास्त्रज्ञानसे संसृतिचक्ररूप शोकसमुद्रका पार पाना असम्भव है। इसके प्रमाणमें हम छान्दोग्योपनिषद् अध्याय ७ के सनत्कुमार-नारद सम्वादको ले सकते हैं। नारदजी आत्मज्ञानकी जिज्ञासासे श्रीसनत्कुमारजीकी शरणमें जाते हैं। सनत्कुमारजीके पूछनेपर नारदजीने बताया कि मैं षडङ्गसहित चारों वेदों, इतिहास-पुराण, गणित, उत्पातज्ञान, तर्कशास्त्र, नीतिशास्त्र, निधिशास्त्र, भूततंत्र, धनुर्वेद, गारुड और संगीत विद्या, ये सब जानता हूँ। यह बताकर फिर वे कहते हैं—'भगवन! मैं केवल शास्त्रज्ञ हूँ, आत्मज्ञ नहीं हूँ। मैंने आप जैसोंसे सुना है कि आत्मवेत्ता शोकको पार कर लेता है और मुझे शोक है; इसलिये भगवान् मुझे शोकसे पार करें—'सोऽहं भगवो मन्त्रविदेवास्मि नात्मविच्छ्रुत ँ ह्येव मे भगवद्दृशेभ्यस्तरति शोकमात्मविदिति सोऽहं भगवः शोचामि तं मा भगवाञ्छोकस्य पारं तारयतु। छां० ७।१।३।'

देखिए, इतनी विद्याएँ जानकर सर्वतन्त्रस्वतंत्र, अशेषविद्यामहार्णव देवर्षिनारदको भी उनकी विद्या शान्ति प्रदान न कर सकी। तब हम जैसे जीवोंकी तो बात ही क्या ? इससे निश्चय है कि केवल शास्त्रज्ञान भवपार नहीं कर सकता, उसके लिये आत्मज्ञानकी आवश्यकता है।

गोस्वामीजीने कवितावलीमें भी कहा है कि जिसने श्रीरामजीको न जाना, वह ज्ञानी नहीं वरन् गँवार है, शारदके समान वक्ता भी हुआ तो क्या ? यथा 'जानपनीको गुमान बड़ो, तुलसीके विचार गँवार महा है। जानकीजीवनजान न जान्यो तौ जान कहावत जान्यो कहा है।७।३६।', 'सुकसे मुनि सारदसे बकता''। ऐसे भए तो कहा तुलसी जो पै राजिवलोचन रामु न जाने।७।४३।'

२ (ख) 'निसि गृह मध्य'...' इति। यह दृष्टान्त देते हैं। जैसे घरमें रातमें बैठे हुए कोई दीपक तो जलावे नहीं, केवल दीपकका स्वरूप और उसके गुण प्रकाशादिका वर्णन करता रहे, तो उस कथनी मात्र वाक्य ज्ञानसे अंधकार दूर न होगा, वैसे ही केवल वाक्य ज्ञानसे बिना ज्ञान-दीपक प्रकाश किये भव नहीं छूटनेका। यथा 'सोहमस्मि इति वृत्ति अखंडा। दीपसिखा सोइ परम प्रचंडा॥ आतम अनुभव सुख सुप्रकासा॥ तब भवमूल भेद भ्रम नासा। प्रबल अविद्या कर परिवारा। मोह आदि तम मिटइ अपारा॥ ७।११८।' यहाँ अविद्या आदि रात्रि है, अन्तःकरण गृह है, मोह अंधकार, आत्मज्ञानका साक्षात्कार दीपप्रकाश है।

नोट—२ 'बातिन्ह' पाठ मेरी समझमें लेखप्रमाद है। 'वाक्य ज्ञान'की जोड़में 'बातन्ह' पाठ ठीक जान पड़ता है। श्रीकान्तशरणजी लिखते हैं कि 'उसका अर्थ यह होगा कि बिना घृतके केवल सूखी बत्तीसे जैसे अंधकार निवृत्त नहीं होता, वैसे ही ध्यानोपासनाद्वारा साक्षात्कार किये हुए ज्ञानरूपी घृतके बिना केवल वाक्यज्ञानरूपी सूखी बत्तीसे कुछ नहीं होगा।"

पं० रामचन्द्रशुक्लजी—सूर और तुलसीको हमें उपदेशकके रूपमें न देखना चाहिए। ये उपदेशक नहीं हैं, अपनी भावुकता और प्रतिभाके बलसे लोकादर्शकी मनोहर मूर्ति प्रतिष्ठित करनेवाले हैं। हमारा प्राचीन भक्तिमार्ग उपदेशकोंकी सृष्टि करनेवाला नहीं है। सदाचार और ब्रह्मज्ञानके रूखे उपदेशोंद्वारा इसके प्रचारकी व्यवस्था नहीं है। न हमारे राम और कृष्ण उपदेशक और न उनके भक्त तुलसी और सूर। लोकव्यवहारमें मग्न होकर जो मंगलज्योति इन अवतारोंने उसके भीतर जगाई, उसके माधुर्यका अनेक रूपोंमें साक्षात्कार करके मुग्ध होना और मुग्ध करना ही इन भक्तोंका प्रधान व्यवसाय है। उनका शास्त्र भी मानव हृदय है और लक्ष्य भी। उपदेशोंका ग्रहण ऊपर ही ऊपरसे होता है। न वे हृदयके मर्मको ही भेद सकते हैं, न बुद्धिकी कसौटी पर ही स्थिरभावसे जमे रह सकते हैं। हृदय तो उनकी ओर मुड़ता ही नहीं और बुद्धि उनको लेकर अनेक दार्शनिक वादोंके बीच जा उलझती है। उपदेश, वाद या तर्क गोस्वामीजीके अनुसार 'वाक्य-ज्ञान' मात्र कराते हैं, जिससे जीवकल्याणका लक्ष्य पूरा नहीं होता—'वाक्यज्ञान अत्यन्त निपुन भव-पार न पावै कोई।'...'।

वाक्य-ज्ञान और बात है, अनुभूति और बात। इसीसे प्राचीन परपराके भक्त लोग उपदेश, वाद या तर्ककी अपेक्षा चरित्र-श्रवण और चरित्रकीर्तनका ही अधिक नाम लिया करते है।

प्राचीन भगवत संप्रदायके बीच भगवान्‌के उस लोकरंजनकारी रूपकी प्रतिष्ठा हुई जिसके अवलंबनसे मानव हृदय अपने पूर्णभाव संघातके साथ कल्याणमार्गकी ओर आपसे आप आकर्षित हो सके। इसी लोक-रंजनकारी रूपका प्रत्यक्षीकरण प्राचीन परंपराके भक्तोंका लक्ष्य है, उपदेश देना नहीं।...' (वि० से उद्धृत)।

टिप्पणी—३ 'जैसे केउ एक दीन दुखी ' इति। (क) यह दूसरा दृष्टान्त देते हैं। खानेकी कोई सामग्री नहीं, पेट भरनेका कोई उपाय नहीं और पुरुषार्थहीन होनेसे दीन है, भूखको अत्यंत पीड़ा होनेसे दुःखी है। उसने सुना है कि कल्पवृक्ष और कामधेनु अर्थ, धर्म और काम देनेवाले हैं, केवल कल्पवृक्ष और कामधेनुके चित्र घरमें बना देनेसे वे उसकी क्षुधा-पीड़ाको नहीं दूर कर सकते। सच्चे कल्पवृक्ष वा कामधेनु ही उसके दुःखको दूर कर सकेंगे, चित्र नही।

[टीकाकारोंके भाव—(१) यदि कोई मनुष्य अज्ञानसे विषयासक्त होकर दीन-दुःखी हो रहा है, तो उसका अज्ञान दूर करनेके लिये उसके घरमें गणेश, सरस्वती आदिकी तसवीरें टाँग देनेसे क्या हो सकता है? (भ०)। (२) यह कर्ममार्गपर तर्कना है। अर्थात् जो मनकी शुद्धता और श्रद्धारूप पुरुपार्थसे हीन होनेसे दीन तथा विषयासक्तिके कारण दुःखी हैं वे विष्णु, शिव, गणेश, लक्ष्मी आदिकी प्रतिमा पूजनेसे क्या लाभ उठा सकते हैं? मनकी शुद्धता, श्रद्धा, विधिविधान मनोरथसिद्धिके लिये आवश्यक हैं। (वै०)। (३) जव भरपेट भोजन दिया जाय तभी वह सुखी होगा, कल्पवृक्षके चित्रसे अर्थात् केवल शास्त्रोंकी बातोंसे उसका दुःख दूर नहीं हो सकता। (त्रि०, पो०)। (४) जीव मोहसे दीन और मायासे दुःखित हो रहा है, आत्मसुखरूपी भोजन विना दुःख पा रहा है। इसे वाक्यज्ञानरूपी कल्पवृक्ष और कामधेनुके चित्रोंसे तृप्ति नहीं हो सकती; किन्तु ध्यानोपासनासे साक्षात्कार होनेवाले यथार्थ ज्ञानरूपी कल्पवृक्षसे होगी। इस चरणमें कैवल्यपरक ज्ञानका प्रसंग है। तदनुसार यहाँ मोह और मायाकी निवृत्ति और त्रिगुणातीत तुरीयावस्थाकी प्राप्ति कही गई, उसे ही कामधेनु की उपमासे कहा है और अक्षर जीवात्माका साक्षात्कार जो 'सोहमस्मि' वृत्तिसे होता है, उसे कल्पतरुकी उपमासे कहा है, जिसके द्वारा असनहीन दुख पावै' की तृप्ति होती है। (श्री० श०)। (५) इसी तरह विना निष्ठाके केवल वाक्यज्ञानसे जीव सुखी नही होता। (भ० स०)]

टिप्पणी—४ 'षटरस वहु प्रकार भोजन...' इति। षट्रस भोजनमें सब प्रकारके भोजन आ गए जो चतुरसे चतुर कोई भी रसोइया बना

सकता है, यथा 'छरस रुचिर बिंजन बहु जाती। एक एक रस अगनित भाँती।१।३२९।' इन सबोंका नाम कोई दिन रात ले-लेकर उनके स्वाद आदिका बखान करता रहे तो ऐसा करनेसे न तो उसे उनका स्वाद ही मिलेगा, न भूख मिटेगी और न सुख होगा। सुख तो उसीको मिलेगा जो भोजन करेगा (खायेगा), चाहे भोजनका नाम न ले। इसी तरह केवल वाक्यज्ञानसे, वेदशास्त्रोंका कोरा निरूपण करते रहनेसे सुख प्राप्त नहीं हो सकता, सुख तो आत्मज्ञानसे, भक्तिसुधासुनाजसे ही मिलेगा। (आगे कहा भी है—'जनमको भूखो गरीब हौं तू गरीबनेवाजु। पेट भरि तुलसिहि जेवाइअ भगति सुधा सुनाजु।२१६।')

[(१) भाव कि वैसेही शृङ्गार, सख्य, वात्सल्य, दास्य, शान्त आदि रसोंमें भावोंकी तथा स्मरण, ध्यान, भावना, भजन इत्यादि की वार्ता दिन-रात किया करनेसे कोई सुख नही पा सकता, जबतक हृदयमें भाव-भावना, स्मरण आदि परिपक्व नही है। अर्थात् जब स्नेहसहित शरणागति-का भरोसा रक्खे और प्रभुकी कृपासे अन्तःकरण शुद्ध हो, तब पूजा ध्यान भजन सब सिद्ध हो। (वै०)। (२) भाव कि वेदशास्त्रोंका कोरा निरूपण करनेवाले पंडितोंसे उसका दरजा बहुत ही ऊँचा है जो ब्रह्मसाक्षा-त्कार कर लेता है। (कथनी और करनीमें बड़ा भारी अन्तर है)। (वि०)। (३) भीतरकी तृप्ति तो तभी होगी जब निर्मल अन्तःकरण आत्मज्ञान होगा। (भ०)। (४) श्रीभरतलक्ष्मण आदि बोलते न थे अर्थात् वेदशास्त्रके वक्ता न थे, पर उनको भगवत्स्वरूपका पूर्ण सुख प्राप्त था और रावणने वेदपर भाष्य किया, वेदवक्ता था, पर उसके अन्तः करणको भगवत्स्वरूपका सुख किञ्चित् भी न प्राप्त था। (भ० स०)। (५) इस चरणमें सरस ज्ञानरूपा पराभक्तिका वर्णन है। भक्तिमें हृदयकी प्रीति प्रधान है, चाहे भक्त भक्तिके अंगोंकी व्याख्या करना नहीं जानता हो तो भी वह उसके आनन्दका भोक्ता होता है। यथा 'यल्लब्ध्वा पुमान् सिद्धो भवति, अमृतो भवति, तृप्तो भवति।' (नारद भक्तिसूत्र २।४)। (श्री० श०)]

'संतोषजनित सुख०' इति। भोजन करनेवाले पुरुषको ग्रासके द्वारा एकही साथ सुख, उदरपोषण और क्षुधासे निवृत्ति होती है। वैसेही भजन करते हुए पुरुषको प्रेमलक्षणा भक्ति, प्रेमके आश्रयरूप भगवान्के स्वरूपकी स्फूर्ति और गृह आदिसे वैराग्य—ये तीनों बातें एकसाथ प्रकट होती हैं। इस प्रकार भक्ति, ज्ञान और वैराग प्राप्त होनेसे साक्षात् परमशान्ति प्राप्त

हो जाती है। यथा 'भक्तिः परेशानुभवो विरक्तिरन्यत्र चैष त्रिक एककालः। प्रपद्यमानस्य यथाश्नतः स्युस्तुष्टिः पुष्टिः क्षुदपायोऽनुघासम् ॥ ४२॥ ... ततः परां शान्तिमुपैति साक्षात् ।४३।' (भा० ११।२)। दिन-रात केवल भजनका प्रभाव, प्रेमलक्षणाभक्तिका स्वरूप तथा वह कैसे प्राप्त होती है, इत्यादिका वखान करते रहनेसे उनकी प्राप्तिसे जो सुख होता है वह कदापि नहीं मिल सकता।

टिप्पणी—५ 'जब लगि नहि हृदि प्रकास ...' इति। (क) संसार-भ्रमणसे छुटकारा और सुखकी प्राप्तिके लिये दो बातें आवश्यक बताईं—हृदयमें प्रकाश और विषय विमुखता। आत्मानुभवसुख ही वह प्रकाश है जिससे भवका नाश होता है। उपर्युक्त टि० २ (ख) देखिए। पुनः, रामभक्ति चिन्तामणिके होनेसे हृदयमे परम प्रकाश रहता है, इससे भवमूलका ही नाश हो जाता है और दुःख स्वप्नमें भी नहीं रह जाता। यथा 'भगति करत बिनु जतन प्रयासा। संसृतिमूल अविद्या नासा ॥७।११६।', 'रामभगति चिंतामनि सुंदर। बसइ गरुड़ जाके उर अंतर ॥ परम प्रकासरूप दिन राती। ' मोह दरिद्र निकट नहिं आवा।' 'प्रबल अबिद्या तम मिटि जाई।'''दुख लवलेस न सपनेहु ताके ॥७।१२०।' पूर्व पद ११३ में प्रभुसे इस प्रकाशकी प्रार्थना कर चुके हैं, यथा 'सुनु अदभ्र-करुना-बारिज-लोचन मोचन भय भारी। तुलसिदास प्रभु तव प्रकास बिनु संसय टरै न टारी ॥', अभीतक वह प्रकाश मिला नहीं, अतः उसीकी पुनः प्रार्थना है कि हृदयमें प्रकाश दीजिए और विषय-आशाको छुड़ाइये, उपक्रममें कह आये हैं ही कि 'बिनु तव कृपा दयाल दासहित मोह न छूटै माया।' विषयभी भवमें डालते हैं; यथा 'पाँचइँ पाँच परस रस सब्द गंध अरु रूप। इन्हकर कहा न कीजिए बहुरि परब भवकूप ।२०३।' अतः इनसे विमुख रहना चाहिए।

मोहका पर्दा हट जानेपर बुद्धि ज्ञानके प्रकाशसे युक्त होकर त्यागने योग्य अशुभ कर्मोंको देखती है और तब उनसे बचकर मनुष्य निकलता है; जैसे अंधकारका आवरण हट जानेपर चलनेमें प्रवृत्त करनेवाला नेत्र अपने तैजस स्वरूपसे युक्त हो रास्तेमें पड़े हुए त्यागने योग्य काँटे आदिको देखते हैं और उनसे बचते हैं। यथा 'स्वेनात्मना चक्षुरिव प्रणेता निशात्यये तमसा संवृतात्मा। ज्ञानं तु विज्ञानगुणेन युक्तं कर्माशुभं पश्यति वर्जनीयम् ॥'''ज्ञात्वा मनुष्याः परिवर्जयन्ति।' (म० भा० शान्ति० २०१।१६-१७)। - इस तरह जनाया कि मोहका पर्दा हटाइए जिससे हृदयमें प्रकाश हो, ज्ञानका उदय होकर विषयोंसे वैराग्य हो जाय।

विषय-आशा ही परम दुःख है, आशाके रहते सुख कदापि नहीं मिलता।—'आशा हि परमं दुःखं नैराश्यं परमं सुखम्। भा० ११।८।४४।' इसीसे पूर्व कहा है—'सब आस छाँड़ि करि होहि रामको चेरो।८७।'—इसीसे यहाँ भी कहते हैं कि 'जब लगि विषय आस' 'तब लगि सपनेहुँ सुख नाहीं।'

'तब लगि जग जोनि भ्रमत' इति। "जब लगि नहि तबलगि" से यह भी व्यंजित कर दिया कि विषयाशाका त्याग होनेसे जन्म-मरण छूट जाता है, परमपदकी प्राप्ति होती है, यह मरणधर्मा अमर हो जाता है। यथा 'यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः। अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते। कठ० २।६।१४।', 'त्यक्त्वा लोकांश्च वेदांश्च विषयानिन्द्रियाणि च। आत्मन्येव स्थितो यस्तु स याति परमां गतिम॥' (नारदपरिव्राजकोपनिषत् ४।१)।

५ (ख) 'वाक्य ज्ञान' आदि उपर्युक्त वाक्योंके संबंधसे यह भी भाव निकलता है कि दूसरेके कहे हुए ज्ञानका कथनमात्र करनेसे काम नहीं चलनेका, जबतक अपने हृदयमें अनुभवका साक्षात्कार न हो जाय। जबतक प्रकाशका उदय हृदयमें न होगा तबतक माया, संशय, शोक, भ्रम, संसृतिक्लेश बने ही रहेंगे।

श्रीसीतारामचन्द्रार्पणमस्तु।

१२४ (७२)

जौं निज मन परिहरै विकारा[1]।
तौ कहाँ[2] द्वैत जनित संसृति[3]-दुख संसय सोक अपारा[1]॥१॥
सत्रु मित्र मध्यस्थ तीनि एइ[4] मन कीन्हें बरिआईं।
त्यागब ग्रहब[5]-उपेछनीय तृन[6] अहि हाटक की नाईं॥२॥
असन बसन पसु* बस्तु बिबिध बिधि सब मनि महँ रह जैसें।
सरग नरक चर अचर लोक बहु बसत मध्य मन तैसें॥३॥

१ विकार, अपार—ह०, १५, प्र०। २ कहाँ—६६, रा०। कहँ—भा०, वे०, प्र०, ज०, भ०। कत—७४, आ०। कहा—ह०। ३ दारुन—प्र०। ४ एइ—६६, रा०, भ०। ए—ह०। ये—आ०, ७४, वे०। पै—भा०, प्र०। ५ ग्रहब—६६, रा०, ह०। गहब—प्रायः औरोंमे। ६ तृन अहि हाटक—६६। अहि हाटक तृन (त्रिन)—औरोंमे।

* बसु—भ०, दीनजी।

विटप मध्य पुत्रिका सूत्र महुँ कंचुकि[7] बिनहिं बनाएं।
मन महुँ तथा लीन नाना तन प्रगटत औसर[8] पाएं ॥४॥
रघुपति-भगति-बारि-छालित चित बिनु प्रयास हीं सूझै[9]।
तुलसिदास कह चिद-विलास जग बूझत बूझत बूझै[9] ॥५॥

शब्दार्थ—विकार=(मनको) वृत्ति, स्वभाव, प्रवृत्ति।=दुष्ट वासनायें; दोष। द्वैत=निज-पर भाव; नानात्व दृष्टि; भेदबुद्धि। यथा 'द्वैतरूप तमकूप परौ नहि से किछु जतन विचारी। ११३।' ११२ (१ ग) देखिए। संसृति= सांसारिक; जन्म-मरण आदि। कहाँ=कदापि नहीं, कहीं नहीं। यह अर्थ काकु अलंकारसे सिद्ध होता है। मध्यस्थ=जो वादी, प्रतिवादी, शत्रु और मित्र दोनों पक्षोंमेंसे कोई न हो।=उदासीन। कीन्हें=बना लिया; मान रक्खा। उपेक्षणीय=ध्यान देने योग्य नहीं; जिसकी ओर लापरवाई (उपेक्षा) रहे; चित्त न देने योग्य। असन (अशन)=भोजन; अन्न। बसन=वस्त्र। पुत्रिका=(कठ-) पुतली; गुड़िया; स्त्रीकी तसवीर। कंचुकि=चोली, स्त्रियोंकी छातीपर पहननेका वस्त्र। लीन=सन्निहित; समाये हुए; छिपे हुए।

पद्यार्थ—यदि अपना मन (विषयवासना आदि) विकारोंको छोड़दे, तो द्वैतबुद्धि (अज्ञान) से उत्पन्न अपार सांसारिक दुःख, संशय और शोक कहाँ रह जायँ (क्यों होने लगे? कभी तो नहीं)। १। (अब मनके विकार दिखाते हैं—) इसी मनने तो जबरदस्ती (हठपूर्वक) शत्रु मित्र और मध्यस्थ तीन (भेद भाव) बना रक्खे हैं, (इसीसे शत्रुका) त्याग, (मित्रका) ग्रहण और (उदासीनकी) उपेक्षा (क्रमशः) सर्प, सुवर्ण और तिनकेके समान (करता है)।२। जैसे भोजन, वस्त्र, पशु (आदि) विविध प्रकारकी सब वस्तुएँ मणिमें रहती हैं, वैसे ही स्वर्ग, नरक, जड़-चेतन, तथा बहुतसे लोक मनमें (ही) बसते हैं।३। जैसे वृक्षमें कठ-पुतली और सूतमें कंचुकी बिना बनाये ही (विद्यमान) रहती हैं, वैसे ही मनमें अनेक शरीर छिपे समाये रहते हैं और अवसर प्राप्त होनेपर

७ कंचुकि—६६, रा०, वै०, ज०, १५। कंचुक—प्रायः औरोंमे। ८ औसर—६६, रा०, ज०, १५। अवसर—औरोंमे। ९ सूझे-बूझे—६६। सूझै-बूझै—औरोंमे।

प्रकट होते हैं‡ ।४। श्रीरघुनाथजीकी भक्तिरूपी जलसे धुले हुए (निर्मल) चित्तको अनायास सूझता है । तुलसीदासजी कहते हैं कि जगत् चित् (ईश्वर) का विलास है, यह समझते-समझते समझमें आता है ।५।

टिप्पणी—१ 'जौं निज मन परिहरै बिकारा'' ' इति । (क) जिसके द्वारा जीव मनन करता है, उसे मन कहते हैं । जीवका मन ही उसके बंधन जन्ममरण आदि तथा मोक्षकी प्राप्ति करानेवाला है । यथा 'मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः । वि० पु० ६।७।२८ ।', 'मन एव मनुष्येन्द्र भूतानां भवभावनम् ।भा० ४।२९।७७।' इसीसे इसे 'निज' (अपना) कहा । (ख) मन अपनी वृत्ति द्वारा विषयोंमें प्रवृत्त हुआ करता है । विषय, काम-क्रोधादि सब विकार हैं, इनका त्याग कहा गया है, यथा 'जौं मन भज्यौ चहै हरि सुरतरु । तौ तजि विषय विकार सार भजु अजहुँ जो मैं कहौं सोइ करु ॥ काम क्रोध अरु लोभ मोह मद राग द्वेष निसेष करि परिहरु ।२०५।' 'जौं' संदिग्ध पद देकर जनाया कि यह विकारोंको छोड़ता नहीं, छोड़नेमें संदेह है । (ग) 'तौ कहँ द्वैतजनित '—भाव कि मन विषयविकारोंको छोड़ता नहीं, इसीसे संसृति दुःख आदि होते हैं । मन कामक्रोधादि तथा कर्म-बन्धनका मूल कारण है, यथा 'कामो मन्युर्मदो लोभः शोकमोहभयादयः । कर्मबन्धश्च यन्मूलः ''भा० ५।६।५।' मनही जीवको अपनी कल्पनासे इस शरीरपर अहं भाव स्थापित कराके 'मैं हूँ', 'यह मेरा है' इत्यादि भेदभावना (द्वैतबुद्धि) में डाल देता है जिस भ्रमके कारण वह दुरन्त संसारमें भ्रमता है ।—'देहं मनोमात्रमिमं गृहीत्वा ममाहमित्यन्धधियो मनुष्याः । एषोऽहमन्योऽयमिति भ्रमेण दुरन्तपारे तमसि भ्रमन्ति । भा० ११।२३।५०।' विषयविकार बंधनके कारण हैं; अतएव निर्विषय हो जाने पर, विषयविकारोंको छोड़ देनेपर बंधनसे मुक्ति हो जायगी, दुःखशोकादिका अस्तित्व ही न रह जायगा ।—'बन्धाय विषयासङ्गि मुक्त्यै निर्विषयं मनः । वि० पु० ६।७।२८।' (घ)—दुःख अनेक प्रकारके हैं—४७ (१ ख), ५६ (८ च) देखिए । शोक संदेह—४६ (६) देखिए । संशय—

‡ यथा 'मनोनाम्नी मनुष्यस्य विरिञ्च्याकारधारिणः । मनोराज्यं जगदिति सत्यरूपमिव स्थितम् । पद्माक्षे पद्मिनीवान्तर्मनो हृद्यस्ति दृश्यता । मनो दृश्यदृशौ भिन्ने न कदाचन केनचित् ॥' (योगवासिष्ठ) । मनुष्यका मन ही ब्रह्माका रूप धारण किये है । यह संसार सत्यरूप-सा स्थित मनोराज्य ही है । कमलके बीजमें भीतर कमलिनी, वैसे ही मनके भीतर संसारकी दृश्यता है । मन और संसारदृश्यको कभी किसीने जुदा नहीं देखा । (मू० शुक्ल) ।

४७ (३ क), ४४ (६ ग) देखिए। आगे कवि स्वयं कुछ विकारोंका उल्लेख करते हैं। श्रीमद्भागवतमें विषयसुखकी अपेक्षा (लालसा) को 'दुःख' संज्ञा दी है, यथा 'दुःखं कामसुखापेक्षा। भा० ११।१९।४१'

टिप्पणी—२ 'सत्रु मित्र मध्यस्थ तीनि···' इति। (क) ये तीनों भेदभाव मनःकल्पित हैं। यह मनके अज्ञानसे उत्पन्न हुआ है, यथा सुखदुःखप्रदो नान्यः पुरुषस्यात्मविभ्रमः। मित्रोदासीनरिपवः संसारस्तमसः कृतः। भा० ११।२३।६०।' (अर्थात् इस संसारमें पुरुषको कोई दूसरा सुख-दुःखका देनेवाला नहीं है अर्थात् न कोई मित्र है न शत्रु, यह उसके मनका भ्रममात्र है। मित्र, उदासीन तथा शत्रुरूपी संसार अज्ञानसे ही है)।

२ (ख) 'त्यागब ग्रहब उपेछनीय···' इति। भाव कि मैं-मेरा आदि द्वैतबुद्धि होनेपर जिससे अपनपौ होता है, जिससे मन मिलता वा हित-साधन होता है उसे मन मित्र मान लेता है; जिससे हितकी हानि समझी उसे शत्रु और जिससे न हितका साधन ही है और न हानि उसे मध्यस्थ मान लिया है। इसीसे उनके साथ वैसाही व्यवहार करता है। शत्रको त्यागता, मित्रको ग्रहण करता और उदासीनकी उपेक्षा करता है। त्याग आदि का प्रकार भी बताते हैं—'तृण अहि हाटक की नाईं'। प्राचीनतम पाठ यही है, अतः अर्थ करनेमें अन्वय 'अहि हाटक तृण' इस तरह करना होगा। शत्रुका त्याग अहिकी, मित्रका ग्रहण हाटककी और मध्यस्थ-की उपेक्षा तृणकी नाईं करता है। सर्पका त्याग, सुवर्णका ग्रहण और तिनकेकी उपेक्षा लोग करते ही हैं।

नोट—१ यदि 'अहि हाटक तृन' पाठ स्वीकार करें जैसा सब टीका-कारोंने किया है तो इसमें क्रमालंकार होता है। यथा 'क्रम सों कहि पहले कछू क्रम तें अर्थ मिलाय। यों ही और निबाहिए, क्रम भूपन सो कहाय॥' क्रम देखिए—१ शत्र, २ मित्र, ३ मध्यस्थ। १ त्यागब, २ ग्रहब, ३ उपेछ-नीय। १ अहि, २ हाटक, ३ तृण। (दीनजी)।

२ वैजनाथजी 'उपेक्षणीय' का भाव यह लिखते हैं—'प्रयोजन पाकर ग्रहण कर लिया जाय और प्रयोजन न होने पर जिसपर दृष्टि न दी जाय। जैसे तृणको आवश्यकता पड़नेपर ग्रहण भी करते हैं, अन्यथा उसकी उपेक्षा ही करते हैं।'

टिप्पणी—३ 'असन बसन पसु···' इति। भोजन वस्त्र आदि मणिमें बसते हैं। भाव कि मणि है तो छोटी वस्तु पर जो उसे जानता है उसके लिये वह बड़े मूल्यकी वस्तु है। मणिको अच्छे जौहरीके हाथ बेंचकर धन प्राप्त कर लें तो उससे भोजन वस्त्र घोड़ा गाड़ी आदि सभी

प्राप्त कर सकते हैं, अतः मणिमें उन सब पदार्थोंका बसना कहा। वैसे ही मनरूपी मणिमे स्वर्ग, नरक आदि सब बसते हैं। अर्थात् मनरूपी मणि-के द्वारा जीव जिस लोकको चाहे प्राप्त कर सकता है, चाहे स्वर्गको जाय, चाहे नरकको, चाहे अन्य किसी लोकको। यदि मनरूपी मणिको संसार वा सांसारिक विषयोंके हाथ बेचा तो उससे स्वर्ग, नरक, आदि संसार भ्रमण ही मिलेगा। और यदि हरिरूपी जौहरीके हाथ बेचा तो उससे भक्ति, प्रेम, अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष सभी दिव्य पदार्थोंकी प्राप्ति होगी। भव भ्रमण छूट जायगा। भगवान् की प्रपत्ति करना, आत्मसमर्पण करना भगवान् के हाथ बेचना है। विषयों के हाथ बेचना यह है कि विषय सुख भोगके लिये सवासिक कर्म करता है तो शुभाशुभ कर्मोंके फल-स्वरूप उसे स्वर्ग, नर आदि ही बसा।

यों भी कह सकते हैं कि मणि उसके जाननेवालेके पास है तो उससे बहुमूल्य सभी वस्तुएँ ली जा सकती हैं। यदि शाक बेचनेवालेके पास है, जो उसको नहीं जानता, तो वह उससे सेर आध सेर साग ही लेगा। वैसे ही ज्ञानी आदि मनरूपी मणिको भगवान्मे लगाकर मोक्ष प्राप्त करते हैं और मूर्ख उसे विषयों में लगाकर संसार चक्र मे पडते हैं ☞ पर यह दृष्टान्त केवल इतनेमे है कि मन ही स्वर्गादि लोकोंका भण्डार है, उनमें भ्रमणका कारण है।

[बैजनाथजी लिखते हैं--"मणि पराये हाथ बिक जानेसे तो चली ही गई और भोजन-वस्त्रादि जो उससे भोग करनेको मिले वे भी भोग द्वारा नष्ट हो गये। इसी तरह मन संसारके हाथ बिका तो उससे विषयरूपी धन द्वारा शुभाशुभ कर्मरूप व्यापार कर स्वर्गादि अनेक लोकों-मे विविध तन धर-धरकर सुख-दुःख भोगे। इस प्रकार मन तो प्रथम ही हाथ से चला गया और सत्कर्म सब भोग द्वारा चुक गये, जीव शोक का पात्र हो गया। अतएव यदि जीव मनरूपी मणिको हाथमे ही रक्खे तो सदा धनी बना रहे।"

भट्टजीका मत है कि "मणि यदि अच्छे जौहरीके हाथ पड़ा तो भोजन आदि सब वस्तुएँ आ सकती हैं। यदि हाथसे गिरकर किसी गँवार के हाथ पड़ा तो जैसे सब वस्तुओंका नाश हो जायगा। ऐसे ही जो मन रूपी मणि रामनाम जौहरी के हाथ पड़ा तो उसके मोलसे परम सुख, आत्मज्ञान और मोक्ष मौजूद हैं और जो संसारके हाथ पड़ा तो चौरासी योनि धरी है।"

दीनजी—भाव कि मनमें जिस प्रकारके संकल्प-विकल्प होते हैं उसी प्रकारके फल भी मिलते हैं।]

टिप्पणी—४ 'विटप मध्य पुत्रिका···' इति। (क) अब तीसरा दृष्टान्त देते हैं। पद ५४ में 'यथा पट तंतु घट मृत्तिका, सर्प स्रग, दारु-करि, कनक कटकांगदादी।' की व्याख्यामें बताया गया है कि सूत्रमें वस्त्र ओतप्रोत है। ५४ (४ ग) देखिये। वृक्षमें पुत्रिका दिखाई नहीं पड़ती, पर उसमें गुप्त रूपसे है। वृक्ष जब काटा जाता है तब बढ़ईके द्वारा उसमेंसे कठपुतलियाँ प्रकट होती हैं। सूतके ताने-बानेमें कंचुकि आदि वस्त्र गुप्त रूपसे मौजूद हैं, दिखाई नहीं पड़ते। पर जुलाहा उसमेंसे वस्त्र प्रकट करता और दर्जी द्वारा वस्त्रसे कंचुकि प्रकट होती है। (यदि कोई कहे कि 'वृक्षमें पुतली और सूतमें कंचुकि कहाँ हैं, कैसे मान लें? तो उत्तर यह है कि यदि उनमें ये नहीं हैं तो फिर ये बने कहाँसे?' काष्ठ और सूत्रसे ही तो बने)। इसी प्रकार मनमें अनेक शरीर (सुर, नर, मुनि, नाग, असुर, पशु, पक्षी, कीड़े, मकोड़े, तृण, वृक्ष आदि जड़ चेतन) गुप्त रूपसे निहित हैं। अवसर प्राप्त होनेपर वे शरीर प्रकट होते हैं। श्रीशुकदेवजीका भी यही मत है कि मन ही आत्माके देहों (तथा गुण और कर्मों) को उत्पन्न करता है।—'मनः सृजति वै देहान् गुणान्कर्माणि चात्मनः। भा० १२।५।६।' भाव कि मन ही पुनः-पुनः विविध योनियोंमें जन्मने मरनेका कारण है। तात्पर्य केवल इतना ही है।

४ (ख) यहाँ बढ़ई, दर्जी आदि क्या हैं? 'पुत्रिका' और 'कंचुकि' आदि नाना तन हैं, जो जन्म लेनेपर प्रकट देख पड़ते हैं। वृक्ष और सूत्र मन है। वासना ही जन्म-मरण आदि भव की कारण है, यथा 'विपुल भव वासना बीजहारी। ४७ (३)' जैसी वासना अन्तकालमें मन में होती है, उसी के अनुकूल शरीर मिलता है। यथा 'यं यं वापि स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्। तं तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः। गीता ८।६।' [कुन्तीपुत्र अर्जुन! जिस-जिस भावको अन्तकालमें स्मरण करता हुआ मनुष्य शरीर छोड़ता है, वह सदा (पूर्व से ही) उस भावसे भावित हुआ उस-उस भावको ही प्राप्त होता है] 'अन्ते मतिः सा गतिः।' प्रसिद्ध है। गीताके 'सदा तद्भावभावितः' से स्पष्ट है कि पहले अभ्यास किये हुए विषयकी ही अन्तकालमें प्रतीति होती है। उन्हीं अभ्यस्त विषयोंका स्मरण होता है। वासना होनेपर शुभाशुभ कर्म होते हैं, जिनके अनुकूल सात्विक, राजस और तामस गुण होते हैं। जीव काल, कर्म, गुण और स्वभावके घेरेमें पड़ा चक्कर खाता रहता है। यथा

'भव पंथ भ्रमत अमित दिवस निसि काल कर्म गुननि भरे ।७।१३।', 'फिरत सदा माया कर प्रेरा । काल कर्म सुभाव गुन घेरा ।७।४४।'

काल, बढ़ई, दर्जी आदि हैं जो वासना शरीररूपी पुत्रिका वा कंचुकि आदि को प्रकट करता है। यथा 'काल पाइ मुनि सुनु सोइ राजा। भएउ निसाचर सहित समाजा ।१।१७६।', 'प्रेरित काल विधि गिरि जाइ भयउँ मैं व्याल । पुनि प्रयास बिनु सो तनु तजेउँ गए कछु काल ।७।१०६।'

[टीकाकारोंके मत—(१) जीव मनके द्वारा शुभाशुभ कर्मसे नर आदि शरीर प्रकट करता है। (भ०)। (२) मनःकामनाएँ ही जन्म आदि की मुख्य कारण हैं। जैसी इच्छा होगी, वैसा ही शरीर धारण करना पडेगा। मनके प्रभावसे मनुष्य देवता हो सकता है और शूकर आदि भी। मन महाराजकी लीला अपरंपार है। (वि०)। (३) अवसर आने पर, अर्थात् दूसरा जन्म ग्रहण करनेपर, वे प्रकट होते हैं। (दीनजी)। (४) काल बढ़ई है। सत्व आदि गुण सूत्र है, उनका संस्कार मनमें व्याप्त है, उससे नाना प्रकार के शरीर प्रकट होते हैं, यथा 'कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु। गीता ।१३।२१।' काल और गुण के भाव 'अवसर' और 'सूत्र' शब्दमें है; कर्म दोनोंके साथ है। तात्पर्य कि काल, कर्म और गुणके संस्कारोंसे युक्त मनके द्वारा अन्तिम संकल्पोंसे जीव नाना योनियोंको जाता है। (श्री० श०)। (५) विविध योनियोंके अतिरिक्त 'नाना तनु' का यह भी अर्थ हो सकता है, मन स्थूल, सूक्ष्म, कारण, महाकारण चारों शरीरोंमें किसी न किसी रूपमें यह पिंड नहीं छोड़ता। (वि०)। (६) जब जैसा काल उदय होता है, वैसा ही तन इस जीवका मन बना देता है। (भ० स०)]

नोट—३ श्रीजड़भरतने भी कहा है—"यह मन वासनाविशिष्ट, विषयोंमें आसक्त, गुणोंसे प्रेरित, विकारी और भूत-इन्द्रिय आदि सोलह कलाओंसे युक्त है। यही भिन्न-भिन्न नामोंसे देवता और मनुष्यादि रूप धारणकर शरीररूप उपाधियोंके भेदसे जीवकी उत्तमता और अधमता का विस्तार करता है। तदनन्तर कपटपूर्वक संसार चक्रमें डालनेवाला यह मायामय अन्तरात्मा अपने देहके अभिमानी जीवसे संयुक्त हो काल क्रमसे प्राप्त हुए सुख-दुःख और इनसे पृथक् तीव्र मोहरूप फल प्रकट करता है। जब तक यह मन रहता है तभी तक जीवको स्पष्ट रूप से प्रतीत होनेवाला यह स्थूल (जाग्रत् अवस्थाका) एवं सूक्ष्म (स्वप्न अवस्था का) व्यवहार रहता है। (भा० ५।११।५-७)।

टिप्पणी—५ 'रघुपति भगति बारि···' इति। (क) यहाँ तक मनको ही बन्धनका, अनेक योनियोंमें जन्म लेनेका, शत्रु-मित्र-उदासीन आदि भेद और त्याग-ग्रहण-उपेक्षणीय आदि भावोंका, स्वर्ग-नरक आदि अनेक लोकों अर्थात् जगत्में सत्य प्रतीतिका कारण बताया है—इसीको मनका 'विकार' कहा है। 'मन ही सबका कारण है, यह कैसे सूझ पडे? संसृति दुःखोंकी निवृत्ति कैसे हो?' उसका उपाय अब इस अन्तरामें बताते हैं।—'रघुपति०'। ५ (ख) यहाँ 'चित्त' को धोना कहा। क्योंकि मोहजनित मल (विषय वासना मान मद आदि) अनेक जन्मोंके अभ्याससे चित्तमें बहुत लपट गया है, यथा 'मोहजनित मल लाग बिबिध बिधि कोटिहु जतन न जाई। जनम जनम अभ्यास निरत चित अधिक-अधिक लपटाई।८२।', 'विषयान्ध्यायतश्चित्तं विषयेषु विषज्जते। भा० ११।१४।२७।' इस मलके लगनेका कारण है 'श्रीरघुनाथजीको बिसार देना'; यथा 'सब प्रकार मलभार लाग निज नाथ चरन बिसराए।८२।' यदि रघुनाथजीका स्मरण बना रहता तो मल न लगता। अतः मोहजनित मलको श्रीरघुपतिभक्ति-रूपी जलसे धोना चाहिए, अर्थात् श्रीरामजीमें अनुराग करनेसे मलका सर्वथा नाश हो जायगा। यथा 'रामचंद्र अनुराग नीर बिनु मल अति नास न पावै।८२।' मल बिल्कुल धुल जानेपर चित्त शुद्ध हो जावेगा और निज स्वरूप, परस्वरूप, मायाका स्वरूप, जगत्का वास्तविक स्वरूप तथा मन ही सब अनर्थोंका कारण है, इत्यादि सब स्वतः सूझ पड़ेगा। श्रीमद्भागवतमें भगवान्ने उद्धवजीसे यही बात कही है कि "मेरे भक्ति-योगके द्वारा आत्मा (चित्त) भी कर्मवासनासे मुक्त होकर अपने स्वरूपको एवं मुझको पा जाता है"—'आत्मा च कर्मानुशयं विधूय मद्भक्तियोगेन भजत्यथो माम्। भा० ११।१४।२५।' 'बिनु प्रयास ही' कथनका भाव कि व्रत, दान, योग, तप और ज्ञान आदिसे भी शुद्धि होती है; पर इन सबोंमें बड़ा परिश्रम होता है और फिर भी 'मल अति नास न पावै', कुछ न कुछ मल रह ही जाता है। पूर्व भवपार होनेके विषयमें भी ऐसा ही कहा है। यथा 'जौ बिनु जोग जज्ञ व्रत संजम गयो चहहि भवपारहि। तौ जिनि तुलसिदास निसिबासर हरिपदकमल बिसारहि।८५।'

५ (ग) 'चिद बिलास जग···' इति। 'चिद बिलास' का अर्थ बैजनाथजी, भट्टजी, वियोगीजी आदिने 'सदा चैतन्य अखण्ड आनन्द स्वरूपको'—ऐसा किया है। वीरकवि ने 'चैतन्य स्वरूप ईश्वरकी मायाका ज्ञान' ऐसा अर्थ किया। सू० शुक्लने 'संसार चित्तका खेल है' और

दीनजीने 'चेतनस्वरूप ईश्वरकी रचनाका मर्म' अर्थ किया है। हमने पं० रामकुमारजीका अर्थ ग्रहण किया है कि "जगत् ईश्वर (श्रीराम) का विलास (क्रीड़ा) है। भाव कि जगत् राममय है।" वे ही अनेक रूपों द्वारा क्रीड़ा कर रहे हैं। यथा 'क्रीडार्थमात्मन इदं त्रिजगत् कृतं ते स्वाम्यं तु तत्र कुधियोऽपर ईश कुर्युः। भा० ८।२२।२०।' (विन्ध्यावलीजी कहती हैं—जगत् आपका विलास या क्रीडार्थ रचित खिलौनेके समान है। मूर्ख लोग ही इसपर शासन करनेका दम्भ करते हैं।), पुनश्च 'लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्' (ब्रह्मसूत्र २।१।३३), 'परमेश्वरसंक्रीडा लोकसृष्टिरियं शुभे।' (स० भा० शां० २२८)। डु०, भ० स० और श्री० श० ने भी यही अर्थ किया है। पोद्दारजी तथा दीनजीने—'चैतन्यके विलासरूप जगत्का मर्म वा सत्य तत्व परमात्मा'—ऐसा अर्थ किया है।

५ (घ) 'बूझत बूझत बूझे' अर्थात् भक्ति करते-करते धीरे-धीरे समझमें आने लगेगा, अच्छी तरह समझ पड़नेमें कुछ काल लगेगा। भगवान्ने उद्धवजीसे जो कहा है कि "जैसे-जैसे मेरी पावन कथाओंके श्रवण तथा कीर्त्तनसे मेरे भक्तका चित्त परिमार्जित होता जाता है, वैसे-वैसे वह अंजन-युक्त नेत्रोंके सदृश सूक्ष्म वस्तु (अर्थात् परमार्थतत्त्व) का दर्शन करता जाता है"—'यथा यथाऽऽत्मा परिमृज्यतेऽसौ मत्पुण्यगाथाश्रवणाभिधानैः। तथा-तथा पश्यति वस्तु सूक्ष्मं चक्षुर्यथैवाञ्जनसम्प्रयुक्तम्। भा० ११।१४।२६।'—वही भाव 'बूझत बूझत बूझे' में है। अर्थात् शनैः शनैः रामझता जायगा।

[परन्तु टीकाकारोंने तीन बार बूझनेके अनेक भाव कहे हैं।—(१) प्रथम शरीरको मिथ्या समझे, फिर ब्रह्माण्डको; तब मनकी भाँति-भाँति वासनाओंको। जब मन स्थिर हो तब जान पड़े कि समझा। अथवा, प्रथम जीव स्वस्वरूपको जाने कि अविनाशी है, नित्य है, फिर विलासरूप जगत् अर्थात् मायाके स्वरूपको जाने, तत्पश्चात् ईश्वरके स्वरूपको जाने। अथवा वेद कर्म, उपासना, ज्ञानकाण्डत्रयका प्रतिपादक है। अतः तीन सामग्री बताई। स्थूल शरीरसे बहुत विहित कर्म करे, अन्तःकरणरूप लिंगशरीरसे श्रवण, कीर्त्तन आदि भक्तिरूप उपासना करे और आत्माको ईश्वरसे अभेद जाने यह ज्ञान है, तब जानै कि हम समझे। (डु०, भ० स०)।

(२) प्रथम नवधाभक्ति आदि प्रभुका कैंकर्यकर देहाभिमान मिटावे तब जीव ईश्वरका किंकर बूझ पड़े। फिर जबतक जीवबुद्धि रहे तबतक शुद्ध प्रेमसहित भजन, ध्यान, भावना करे, 'इससे आत्मरूप समझ

पड़ेगा। फिर आत्मरूपसे शुद्ध अनुराग करे, इससे परमात्मरूप सूझेगा—इत्यादि क्रमसे रामरूप समझ पड़ेगा। (वै०)। (३) पहले कर्मकाण्ड आदि द्वारा शरीर शुद्ध किया जाय। फिर योग द्वारा मनःशुद्धि होगी, तब कहीं ज्ञानका उदय होगा। ज्ञानोपरान्त भक्तिका साम्राज्य होगा, तब कहीं चैतन्य आनन्द प्राप्त होनेपर सद्विवेकका लाभ होगा। भगवान्‌ने गीतामें कहा है—'अनेक जन्म संसिद्धिस्ततो याति परांगतिम्।' (वि०)।

(४) जीवोंके शत्रु-मित्र और मध्यस्थ भावके वर्ताव उनके परस्पर कर्मानुसार ही होते हैं, यह सर्वज्ञ ईश्वरकी क्रीड़ा नवधाभक्तिसे स्थूल शरीर शुद्ध होनेपर देख पड़ती है। प्रेमलक्षणाभक्तिसे चित्त शुद्ध होता है तो यह कालकी अवधिवाले लोकोंको अनित्य जानकर और भगवान्‌को कालातीत जानकर उन्हींका प्रेमपूर्वक आराधन करता है और उन्हींको प्राप्त होता है। इसमें संशय-निवृत्तिका भाव है। वासनामय कारण शरीरके द्वारा जीव नाना शरीरोंकी वासना करता है, वह पराभक्तिके द्वारा काल, कर्म और गुणोंके संस्कारोंके साथ शुद्ध हो जाता है। इसमें 'सोक अपारा' की निवृत्तिका भाव है।—इस प्रकार तीन प्रकारकी भक्तियोंके द्वारा तीन प्रकारके मोहरूपी मल छूटनेके और क्रमशः उत्तरोत्तर अधिक ज्ञानप्रकाश बढ़नेके उपलक्ष्में तीन बार बूझना कहा गया है। (श्री श०)।]

नोट—पं० रामचन्द्रशुक्लजी लिखते हैं—"गोस्वामीजीने यथावसर भिन्न-भिन्न मतोंसे वैराग्यकी पुष्टिके लिये सहारा लिया है—जैसे इस पदमें सत्कार्यवाद और अद्वैतवादका मिश्रण-सा दिखाई पड़ता है—"तौ कत द्वैतजनित संसृति दुख...? ...विटप मध्य पुत्रिका सूत्र महँ कंचुक बिनहि बनाए। मन महँ तथा लीन नाना तनु प्रगटत अवसर पाए।" (वि० से उद्‌धृत)।

श्रीसीतारामचन्द्रार्पणमस्तु।

१२५ (७५)

मैं केहि कहौं बिपति अति भारी। श्री रघुबीर धीर हितकारी ॥१॥
मम हृदय भवन हरि[1] तोरा। तहँ बसे[2] आइ बहु चोरा ॥२॥

१ हरि—६६, रा०, भा०, बे०, ह०, मु०, ५१। प्रभु—७४, आ०। २ आइ बसे—ह०।

अति कठिन करहिं बरजोरा। मानहिं नहिं विनय निहोरा ॥३॥
तम मोह लोभ अहंकारा[3]। मद क्रोध बोध-रिपु मारा ॥४॥
अति करहि उपद्रव नाथा। मर्दहिं मोहि जानि अनाथा ॥५॥
मैं एक अमित बटपार*। केउ[4] सुनइ न मोरि पुकार ॥६॥
भागेहुँ नहिं नाथ उवार। रघुनायक करहु सँभार ॥७॥
कह तुलसिदास सुनि[5] राम[6]। लूटहिं तसकर तव धाम[7] ॥८॥
चिंता यह मोहि अपार। अपजस जनि[8] होइ तुम्हार ॥९॥

शब्दार्थ—बसे आइ—'आ बसना' मुहावरा है। बसे आइ = निवासस्थान बना लिया है, बास कर लिया है, अब यहाँसे जानेका विचार नहीं है। कठिन = कठोर, निर्दयी। बरजोरा (बरजोरी) = ज़बरदस्ती; अत्याचार या अनुचित बलप्रयोग। मानना = अंगीकार करना, ध्यानमें लाना। निहोरा—निहोरा और विनय प्रायः एकही अर्थमें आते हैं, अन्तर केवल इतना है कि 'निहोरा' में कृतज्ञतासूचक, एहसान माननेका भाव भी प्रार्थनाके साथ-साथ रहता है। यथा 'सोइ कृपालु केवटहि निहोरा। जेहि जग किय तिहुँ पगहु ते थोरा।२।१०१।', 'देखउँ बेगि सो जतन करु सखा निहोरउँ तोहि। ६।११५।' तम, मोह—तमोगुण समस्त देहधारियोंको मोहित करनेवाला है अर्थात् जीवोंके अन्तःकरणमें मोह (अविवेक, वस्तुके यथार्थस्वरूपसे विपरीत ज्ञान) उत्पन्न करता है। इस प्रकार तम मोहका कारण है। तमोगुण जीवोको प्रमाद, आलस्य और निद्राके द्वारा बांधता है। यह प्रथम तो वस्तुके यथार्थ बोधको ढक देता है, फिर विपरीत ज्ञान उत्पन्न कर जीवको कर्त्तव्यविरुद्ध निषिद्ध कर्मोंमें प्रवृत्त करता है। (गीता १४।८,९)। ज्ञानके अभावका नाम अज्ञान है। धर्ममूढ़ता मोह है—'मोहो हि धर्म-

---

३ अहंकारा—६६, रा०, भा०, वे०, ७४। हकारा—ह०, ५१। *अंतरा ६ से अन्ततक १६६६ तथा भट्टकी पुस्तकमे तुकान्तमे रकार (र) ही है अर्थात् बटपार, पुकार, उवार, सँभार आदि है। प्रायः अन्य सबोमे 'रा' अर्थात् बटपारा, पुकारा, उवारा आदि है। ६६ वाला ही पाठ उत्तम है, घबडाकर जोरसे पुकार करना सूचित किया है। ४ केउ—६६, रा०। कोउ—प्रायः औरोमे। ५ सुनि—६६, रा०। सुनु—औरोमे। ऐसा प्रयोग बहुत हुआ है। सुनि = सुनिए, सुनो। ६ रामू। ७ धामू—ह०। ६ राम, ७ धाम—६६, रा०, भ०। रा० मे किसीने मात्रा बढाई है। ८ जनि—६६, रा०। नहिं—भा०, वे०, ७४, आ०

मूढत्वं' (म० भा० वन ३१३।६४)। महान् अज्ञान 'अहंकार' है, यथा 'महाज्ञानमहङ्कारो' (म० भा० वन० ३१३।१००)। मद=कर्म, कुलीनता, रूप, अवस्था, धन, ऐश्वर्य और विद्या आदिका गर्व। बोध-रिपु= ज्ञानका शत्रु। मारा (मार)=काम, यथा 'संभु बिरोध न कुसल मोहि बिहसि कहेउ अस मार।१।८३।' बटपार=राहमें डाका डालनेवाले; डाकू; लुटेरे। पुकार=गुहार; सहायताके लिये चिल्लाना, फरियाद। उबार= छुटकारा, बचाव, उद्धार। सँभार (सं० संभार)=देख-रेख; रक्षा; प्रबन्ध; व्यवस्था।

पद्यार्थ—हे श्रीरघुवीर! हे धीर! हे हितकारी! मैं (अपनी) अत्यन्त भारी विपत्ति (आपको छोड़) किससे (जाकर) कहूँ?।१। हे हरि (क्लेशोंके हरनेवाले)! मेरा हृदय तुम्हारा (ही) महल है। उसमें बहुतसे चोर आ बसे हैं।२। वे बड़े ही कठोर हैं, बड़ी ज़बरदस्ती करते हैं। विनय-निहोरा (कुछ) नहीं मानते।३। (वे चोर कौन हैं, यह बताते हैं—) तम, मोह, लोभ, अहंकार, मद, क्रोध और ज्ञानका विरोधी काम। हे नाथ! (ये) बड़ा ही ऊधम मचाते बखेड़ा करते हैं, अनाथ जानकर मुझे मसले वा रौंदे डालते हैं।४। मैं अकेला हूँ और लुटेरोंकी संख्या नहीं। (यदि कहें कि सहायताके लिये पुकारते क्यों नहीं, तो उसपर कहते हैं कि मैं पुकारता हूँ किन्तु) कोई भी मेरी पुकार नहीं सुनता (अर्थात् कोई भी मेरी पुकारपर ध्यान नहीं देता, क्योंकि सभी तो इनसे डरते हैं)।६। (कोई सहायता नही करता तो अन्तिम उपाय यह है कि भागकर प्राणकी रक्षा कर लें। उसपर कहते हैं कि यह उपाय भी कर देखा, किन्तु) हे नाथ! भागनेपर भी छुटकारा नहीं (अर्थात् ये पीछा नही छोड़ते, जहाँ जाता हूँ वहाँ ये मेरे साथ लगे जाते हैं)। हे रघुकुलके स्वामी! (आपही इसका) प्रबंध और देखरेख कीजिए।७। तुलसीदासजी कहते हैं—हे राम! सुनिए। चोर आपके घरको लूट रहे हैं।८। (यदि कहें कि हमारा घर लूटते हैं तो लूटने दो, तुम्हें क्या पड़ी है जो चिल्ला रहे हो तो उसपर कहते हैं—) मुझे बेहद चिन्ता यह है कि आपका अपयश न हो। (भाव कि आपकी कीर्ति संसारमें फैल रही है कि आपके समान सबल स्वामी कोई नही। यदि यह बात प्रकट होगी कि अपनेही घरकी आप रक्षा न कर सके तो वह कीर्ति नष्ट हो जावेगी और 'संभावित कहँ अपजस लाहू। मरन कोटि सम दारुन दाहू।')।८।

टिप्पणी—१ (क) 'मैं केहि कहौं ' कहकर 'श्रीरघुवीर धीर'''
विशेषण दिये। इससे जनाया कि मेरी 'अति भारी विपत्ति' का निवारण
श्री-संपन्न वीर धीर हितकारीसे ही हो सकता है, दूसरेसे नहीं और ऐसे
एक आप ही हैं, दूसरा नहीं। अतः आपही बताएँ कि आपको छोड़ और
किससे अपनी विपदा कहूँ ? क्या कोई दूसरा ऐसा समर्थ है ? हो, तो
बताइए। विशेष 'कहु केहि कहिअ कृपानिधे।'११०(१ क) में देखिए।

१ (ख) 'विपति अति भारी' इति। पद ११० में 'विपति अति
निवेदन की और 'रघुवीर धीर' संबोधित किया था, उसपर सुनवाई
हुई। अतः अब विपतिको 'अति भारी' बताकर प्रार्थना करते हैं और
'अति भारी' के सम्बन्धसे 'श्रीरघुवीर धीर हितकारी' सम्बोधन देते हैं।
'अति भारी' का भाव कि भक्त साधारण संकटमें स्वामीको कष्ट नहीं देते
जब भारी संकट पड़ता है तभी कहते हैं। यथा 'जपहिं नाम जन आरत
भारी। मिटहिं कुसंकट होहिं सुखारी।१।२२।'

१ (ग) 'श्रीरघुबीर धीर हितकारी' इति। आपत्तिकालमें धीरों, वीरों
हितैषियोंकी परीक्षा होती है। यथा 'धीरज धर्म मित्र अरु नारी। आपद
काल परिखिअहि चारी। ३।५।७।' भारी विपत्ति आ पड़नेपर जो बड़ा धैर्य
वान और सच्चा हितैषी होगा वही धीरज देकर हित कर सकेगा। राज्या
भिषेक सुनाया गया और दे दिया गया वनवास। ऐसी भारी विपत्ति आने
पर भी चित्त किंचित् भी मलानको न प्राप्त हुआ, मुख-श्री ज्योंकी त्यों ह
बनी रही। —'प्रसन्नतां या न गताभिषेकतस्तथा न मम्ले वनवासदुःखतः
मुखाम्बुज श्री रघुनन्दनस्य मे सदाऽस्तु सा मंजुलमंगलप्रदा। अ० मं०
जो ऐसे श्रीमान् हैं, वे ही हमारे 'श्री' की रक्षा अति भारी विपत्तिसे क
सकेंगे। अतः 'श्रीरघुबीर' विशेषण दिया। रघुबीरसे पंचवीरता सम्प
जनाया।—४४ (४ घ) देखिये। यहाँ दयावीरता तथा पराक्रम मह
वीरत्व गुणोंका ग्रहण है। 'धीर' वह है जिसकी समस्त इन्द्रियाँ उस
वशमें हों। इसको पृथक् एक विशेषण ले सकते हैं और 'हितकारी'
साथ भी ले सकते हैं। 'धीर हितकारी' वह है जो हित करनेमें उकता
जाय। मानसमें इस गुणको इस प्रकार कहा है—'मोरि सुधारिहि स
सब भाँती। जासु कृपा नहिं कृपा अघाती।१।२८।३।' जब हित करनेक
कृपा करते हैं तो फिर करते ही चले जाते हैं, उससे कभी तृप्ति नहीं होती

टिप्पणी—२ 'मम हृदय भवन हरि तोरा।'''' इति। (क) मे
हृदय आपका घर है, यथा 'अनुज निज जानकी सहित हरि सर्वदा दा

तुलसी हृदयकमलवासी ।५८।'—विशेष ५८ (६ घ) में देखिये। भगवान् राम जीवके हृदयकमलमें निवास करते हैं, इसीसे हृदयको भवन कहा ध्यान हृदयमें अष्टदल कमलमें किये जानेका विधान भी है। ८ नोट २ देखिए।

२ (ख) 'तहँ बसे आइ बहु चोरा'—भाव कि उस भवनमें चोरोंने आकर दखल जमा लिया है। टि० ५ (क) भी देखिए।

३—'अति कठिन…' अर्थात् बड़े निर्दयी हैं, बरजोरी करते हैं इसका कुछ भाव पद १४६ के "हौं न कबूलत बाँधि कै मोल करत करेरो इस उद्धरणसे खुल जाता है। 'मानत नहि बिनय निहोरा' इति। 'बिन निहोरा' का करना 'बंदि छोर तेरो नाम है बिरुदैत बड़ेरो। मैं कह्यो त छल प्रीति कै माँगै उर डेरो ।१४६।' से कुछ-कुछ प्रकट होता है। हृदयं छल करके डेरा डाल रक्खा है। मिलान कीजिए—'मैं तुम्हरो लै नाउँ गा एक उर आपने बसायो। भजनु बिबेकु बिरागु लोग भले करम करम क ल्यायो॥ सुनि रिस भरे कुटिल कामादिक करहिं जोरु बरिआई। तिन्हीं उजारि नारि अरि धनु पुर राखहिं राम गोसाईं ।१४५।'—बरजोरापन इ उद्धरणमें स्पष्ट है।

[वै०—मेरा अन्तःकरणरूप मन्दिर आपके बसनेका स्थान है। भा कि मेरी इच्छा है कि आप यहाँ बसैं। परन्तु मायाके प्रभावसे मेरा म विषयासक्त हो गया, अनेक कामनाएँ बढ़ गईं, जिससे उस मन्दिर बहुत भाँति के चोर आ बसे। अत्यन्त कठोर हैं; इससे जबरदस्ती लूट हैं और कुटिल हैं, तमोगुणी हैं इससे नम्रतापूर्वक की हुई विनती न सुनते। मैं निहोरा करता हूँ अर्थात् कहता हूँ कि तुम्हारा सदा एहसा मानूँगा, तब भी वे नहीं मानते। भाव कि रजोगुणी होते तो अप स्वार्थका भरोसा रखकर मुझे छोड़ देते, किन्तु ये तमोगुणी हैं।]

नोट—१ श्रीशङ्कराचार्यजीने भी इन्हें चोर कहा है—'कामः क्रोध लोभश्च देहे तिष्ठन्ति तस्कराः। ज्ञानरत्नापहाराय तस्माज्जाग्रत जाग्रत (मोहमुद्गर)।

टिप्पणी—४ 'तम मोह लोभ…' इति। (क) 'तम मोह' आदि व्याख्या कुछ शब्दार्थमें की गई है। 'तम' गुण भारी और रोकनेवा है। मनुष्यमें इसकी प्रबलता होनेपर उसकी प्रवृत्ति काम क्रोधादि नी और बुरी बातोंकी ओर होने लगती है। मोह कुछका कुछ समझनेवा बुद्धिका नाम है, इससे भेदबुद्धि उत्पन्न होती है अर्थात् जीव शरीर औ

सांसारिक पदार्थोंको अपना या सत्य समझने लगता है, यथा 'तुलसिदास प्रभु मोहजनित भ्रम भेदबुद्धि कब बिसरावहिंगे।' सांख्यमें तमका नाम अविद्या है। अहंकार मोहका ही एक विकार है। मैं हूँ, मैं करता हूँ, मैं ब्राह्मण हूँ, इत्यादि प्रकारकी भावनाएँ इसीके विकार हैं। इसीको हृदयकी ग्रन्थि भी कहा गया है। (ख) 'बोधरिपु मारा'—काम ज्ञानका नित्य वैरी है, यह इन्द्रिय, मन और बुद्धि तीनोंके द्वारा ज्ञानको दबाकर जीवात्माको मोहित करता है। यथा 'आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा। काम'''।३९।', 'ज्ञानविज्ञाननाशनम् ।४१।' (गीता ३)। काम ज्ञानको इस तरह ढके हुए रहता है जैसे धुएँसे अग्नि और मैलसे दर्पण तथा झिल्लीसे गर्भ ढका रहता है। यथा 'धूमेनाव्रियते वह्निर्यथादर्शो मलेन च। यथोल्वेनावृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम। गीता ३।३८।' ज्ञानके विरोधियोंमें प्रथम इन्द्रियोंको प्रधान बतलाया है क्योंकि इन्द्रियोंके विषयोंमें प्रवृत्ति रहते आत्मविषयक ज्ञान नहीं होता। इन्द्रियोंसे बढ़कर विरोधी मन है, क्योंकि इन्द्रियोंके कर्मोंसे उपरत होनेपर भी मन विषयोंकी ओर झुका है तो भी आत्मज्ञान नहीं हो सकता। मनसे बढ़कर वैरी बुद्धि है, क्योंकि मनके अन्य विषयोंसे विमुख हो जानेपर भी यदि बुद्धि विपरीत निश्चयमें लगी है तो आत्मज्ञान नहीं होता। बुद्धिसे भी अधिक प्रबल वैरी काम है। काम=इच्छा। यदि रजोगुणसे उत्पन्न काम वर्तमान रहता है तो वही इन इन्द्रिय, मन और बुद्धिको भी अपने-अपने विषयोंमें लगाकर आत्मज्ञानको रोक देता है। इसलिये 'कामको ज्ञानका सबसे प्रबल वैरी बताया है। यथा—'इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः। मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः। गीता ३।४२।'—इसीके आधारपर यहाँ 'मार' (काम) को 'बोधरिपु' कहा है और किसीको नहीं।

४ (ग) काम, क्रोध आदि सब नरकमें डालनेवाले हैं और विज्ञानी मुनियोंको भी क्षुब्ध कर देते हैं। यथा 'काम क्रोध मद लोभ सब नाथ नरक के पंथ ।५।३८।', 'तात तीनि अति प्रबल खल काम क्रोध अरु लोभ। मुनि विज्ञानधाम मन करहिं निमिष महँ छोभ। ३।३८।'—अतएव इनसे रक्षाकी प्रार्थना है। तमसे मोहकी उत्पत्ति है और काम क्रोध लोभ मद अहंकार आदि मोहके परिवार एवं सेना हैं, यथा 'काम क्रोध लोभादि मद प्रबल मोह कै धारि ।३।४३।'; अतः तम, मोह, मोहका परिवार क्रमसे कहे गये।

टिप्पणी—५ 'अति करहिं उपद्रव''' इति। (क) इनको 'चोर' कहा था। 'चोर' कहनेका भाव कि चोर छिपकर घरमें घुसते हैं और धन हर

लेते हैं, मारते भी हैं। वैसे ही तम मोह आदि 'मैं-मोर' तथा झीनी वासना द्वारा हृदयभवनमें प्रवेश कर वहाँ, काम-क्रोध-लोभ आदिको उत्पन्न कर बड़ा विकराल रूप धारण करते हैं, जीवके ज्ञान, वैराग्य, भक्ति सदाचार आदि धन-सम्पत्तिको चुरा लेते हैं और जीवको भवमें डाल देते हैं।

५ (ख) उपद्रव और मर्दहिके भाव कुछ-कुछ पद १४७ के 'मिले रहैं मारयो चहैं कामादि सँघाती। मो विनु रहैं न, मेरिये जारैं छलि छाती।···कियो कथिकको दंड हौं जड़ कर्म कुचाली॥ देखी सुनी न आज लौं अपनायति ऐसी। करहिं सबै सिर मेरे ही फिरि परै अनैसी ··।', पद १४६ के 'काल कर्म इंद्रिय विषय गाहकगन घेरो। हौं न कबूलत बाँधि कै मोल करत करेरो।', पद २६० के 'करम सुभाव काल काम कोह लोभ मोह ग्रह अति गहनि गरीबु गाढ़े गह्यो हौ।,' पद १८७ के 'लोभ मोह मद काम क्रोध रिपु फिरत रैनि दिन घेरे। तिन्हहि मिले मन भयउ कुपथरत ।' तथा पद १४३ के 'कबहुँक हौ संगति सुभाव ते जाउँ सुमारग नेरो। तब करि क्रोध संग कुमनोरथ देत कठिन भटभेरो'—इन उद्धरणोंसे स्पष्ट हो जाते हैं। टि० ३ भी देखिये।

५ (ग) 'नाथा,' 'जानि अनाथा' का भाव कि आप ऐसे स्वामीके रहते मेरी आज वह दशा हो रही है जो उसकी होती है जिसका कोई रक्षक या स्वामी नहीं, जैसे राँड़की दशा। यथा 'तुम्हसे सुसाहिबकी ओट जन खोटो खरो, कालकी करमकी कुसाँसति सहत।२५६।' अनाथ= जिसका भरण-पोषण देख-रेख करनेवाला माँ, बाप, स्वामी आदि कोई न हो! असहाय। जब तक मैं आपको नाथ न समझता था तब तक इन चोरोंकी साँसति सहना उचित था, पर अब तो मैं आपका जन हूँ, आप मेरे नाथ हैं, तब तो यह दुसह साँसति न होनी चाहिए। यथा 'उचित अनाथ होइ दुख भाजन भयो नाथ किंकर न हौं। अब रावरो कहाइ न बूझिये, सरनपाल साँसति सहौं।२२२।'

टिप्पणी—६ 'मैं एक अमित बटपार। ' इति। बटपारोंके कोलाहलमें मेरी पुकार किसीको नहीं सुन पड़ती। (वै०)। 'पुकार कोई नहीं सुनता' से जनाया कि मैंने पुकारा था। पर जिनको पुकारा वे सब स्वयं इन चोरोंके अधीन हैं, इनसे डरते हैं, अतः सहायता करने न आये। यथा 'कहा न कियो, कहाँ न गयो, सीस काहि न नायो। राम रावरे बिनु भये जन जनमि जनमि जग दुख दसहू दिसि पायो।२७६।', 'और सकल

सुर असुर ईस सब खाए उरग छहूँ ।८६।', 'देव दनुज मुनि नाग मनुज सब माया बिवस बिचारे ।१०१।'—और भाव पद्यार्थमें आ गये हैं।

७ 'भागेहु नहिं नाथ उबार।''' ' इति। भाव कि साधारण बटपारसे तो भागकर मनुष्य प्राण बचा लेता है, पर ये बटपार सर्वदेशी हैं, कहीं भी भागकर जाऊँ तो ये वहाँ भी पिंड नहीं छोड़ते; यथा 'बड़े अलेखी लखि परें परिहरे न जाहीं ।१४७।' ऊपर जो कहा था कि 'अति कठिन करहिं बरजोरा।''' उसीको यहाँ दिखाते हैं कि भागे हुएको भी पिछुवाए जाते हैं। 'रघुनायक' का भाव कि आप राजा हैं, चोरोंसे प्रजाकी रक्षा करना आपका कर्तव्य है। [पुनः भाव कि आप रघुवंशके नाथ हैं, उदार वीर हैं, यह जानकर मैं आपकी शरणमें आया हूँ, आप अपनी दयावीरता तथा प्रणतपाल बानेको सँभालिए। (वै०)] जैसे यहाँ 'सँभार' के सम्बन्धसे 'रघुनायक' सम्बोधित किया, वैसे ही पद २२० में 'करिये सँभार कोसलराय' कहा है, अर्थात् राज्य सम्बन्धी नाम दिया है।

८ 'सुनि राम। लूटहिं तसकर तव धाम' इति। (क) 'राम' का भाव कि—जो सबको अपनेमें रमाते हैं एवं जो सबमें रमे होनेसे मेरे भी हृदयमें रमे हैं, मेरा शरीर आपका मन्दिर है, अतः मैं आपसे प्रार्थना करता हूँ। (वै०)। अथवा, आप राक्षसोंको मारनेसे 'राम' कहे जाते हैं, यथा 'राक्षसा येन मरणं यान्ति स्वोद्रेकतोऽथवा। रामनाम भुवि ख्यातमभिरामेण वा पुनः। रा० पू० ता० १।२,३।' ('राक्षसा' के 'रा' और 'मरणं' के मकारको लेकर 'राम' शब्द बना। इससे सूचित होता है कि श्रीरामजी अपने भक्तोंके कामक्रोधादि अनिष्टकारियोंका नाश करते हैं)-भाव कि अपने नामकी इस निरुक्तिको सार्थक कर श्रुतिकी मर्यादा रखिए; मेरे हृदयके काम क्रोध आदि अनिष्टकारियोंका नाश कीजिये। इस तरह अपने नामार्थसे प्रकट हुए प्रसिद्ध यशकी रक्षा कीजिये। (श्री० श०)। अथवा, सबके हृदयमें अन्तर्यामी रूपसे निवास करने तथा 'तव धाम' के सम्बन्धसे 'राम' सम्बोधन दिया।

८ (ख, 'लूटहिं'—वैजनाथजीने समता, सन्तोष, विवेक, वैराग्य, ज्ञान, विज्ञान, कोमलता, दीनता, शान्ति आदि रूपी धनका लूटना लिखा है। श्रीकान्तशरणजीका मत है कि ऊपर तम, मोह, लोभ, अहंकार, मद, क्रोध और काम ये लुटेरोंके नाम कहे गये हैं। उसी क्रमसे ये विद्या, ज्ञान, विराग, दीनता, विज्ञान, विवेक और सन्तोषरूपी रत्नोंको लूटते हैं। टि० ६ भी देखिए [पद १२१ के अनुसार चारसे काम चल जाता है।

यथा 'सम संतोष दया विवेक ते व्यवहारी सुखकारी।'—१२१ (४ ख) देखिए]

६ 'चिता मोहि अपार ' इति। भाव यह कि स्वामीकी अपकीर्ति सेवक कैसे सह सकता है? इसीसे बारबार प्रार्थना करता हूँ। पूर्व ६४ (६ ख) में देखिए। 'अपजस जनि होइ तुम्हार' से सूचित किया कि आपका यश जगत्में प्रसिद्ध है। क्या प्रसिद्ध है सो सुनिए—'जब ते रामप्रताप खगेसा। उदित भएउ अति प्रबल दिनेसा। पूरि प्रकास रहेउ तिहुँ लोका।" प्रथम अविद्या निसा नसानी॥ काम क्रोध कैरव सकुचाने॥ मत्सर मान मोह मद चोरा। इन्हकर हुनर न कवनिहु ओरा। धरम तड़ाग ज्ञान विज्ञाना। ए पंकज बिकसे बिधि नाना। सुख संतोष बिराग विवेका। विगत सोक ए कोक अनेका।७।३१।' अर्थात् रामराज्यमें अविद्या, काम, क्रोध, मोह, मद आदि दूषित भाव कहीं न थे। प्रत्युत ज्ञान, विज्ञान, सुख, सन्तोष, वैराग्य और विवेक ये सब धर्म भरपूर थे।—इसके अनुसार ये ज्ञान, विज्ञान आदि धन हैं जिसे चोर लूट रहे हैं। आगे पद २१० में भी कहा है 'रामराज न चले मानस मलिनके छल छाय।'—तात्पर्य यह है कि मैं आपका सेवक होनेसे आपके राज्यमें हूँ, आपकी प्रजा हूँ। आपका होकर कामादिके वश होनेसे आप बदनाम हो जायँगे, यथा 'बिगरे सेवक स्वान ज्यों साहिब सिर गारी।१५०।' अतः शीघ्र मेरी रक्षा कीजिए। कवितावलीमें भी कहा है—'आपनो न सोचु, स्वामी सोच हीं सुखात हौं।' ।७।१२३।' चिता मनुष्यको सुखा देती है ही। अतः 'चिता मोहि अपार' कहकर उससे गला जाना जना दिया।

सू० शुक्ल—"इस पदमें मनके विकार और उनकी प्रबलता तथा दुष्टताके वर्णनका भाव यह है कि इनसे सदैव होशियार रहना चाहिए। जैसे चोर डाकू अनर्थकारी हैं, वैसे ही परमार्थमें ये हैं। जैसे राजा और राजपुरुषोंकी शरण लेनेसे चोर आदि दुष्टोंका कोई वश नहीं चलता, वैसे ही इस देहका राजा परमात्मा है और ज्ञान, वैराग्य, विचार, सन्तोष, शम, दम आदि राजपुरुष हैं। इनकी शरणसे ये विकार भी कुछ नहीं कर सकते। जो लोग नासमझी या असावधानतासे इनके चक्करमें आ जाते हैं, उन्हीको दुःखदाई होते हैं।"—(परन्तु गोस्वामीजीका मत यह है कि ये विकार बिना रघुपति कृपाके जा नही सकते। वे कृपा करें तभी ज्ञान, वैराग्य भक्ति आदि प्राप्त हो सकते हैं। मा० सं०।)

श्रीसीतारामचंद्रार्पणमस्तु।

२ (ख) 'सेवहि ते जे अपनपौ चेते' इति। 'जे अपनपौ चेते' जो अपना सहज स्वरूप सँभाले हुए हैं, अर्थात् जो आत्मज्ञानी हैं, आत्माराम हैं। आत्मज्ञानीकी हृदयग्रन्थि (अहंकार) टूट जाती है, उसके सभी संशय छिन्न-भिन्न हो जाते हैं। ऐसे आत्माराम सन्त हरिकी अहैतुकी भक्ति किया करते हैं, क्योंकि श्रीहरिमें गुण ही ऐसे हैं—'आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे। कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थम्भूतगुणो हरिः। भा० १।७।१०', अतएव उनकी सेवासे वे हरिभक्ति प्राप्त कर देंगे। इसलिये 'उनकी सेवा' करनेको कहा।

नोट—२ जहाँ 'सेवहि ते' पाठ है वहां अर्थ होगा—'जिन्होंने आत्मभाव सँभाल लिया है, वे (उन प्रभुकी) सेवा करते हैं।' (वीरकवि)। जिन्होंने 'सेवहि तजे ··' पाठ ग्रहण किया है, उन्होंने यह अर्थ किया है—'अहंभावको छोड़कर सावधानतासे उनकी सेवा कर' अर्थात् प्रमादवश सेवा करेगा तो उसका कुछ भी फल न होगा। (भ०, दीन, वि०)

टिप्पणी—३ 'दुख सुख अरु अपमान···' इति। दुःख सुख आदिको एकसा समझ; भाव कि ऐसा करनेसे द्वैतबुद्धि जाती रहेगी, द्वन्द्व आदि विपत्तियोंका नाश हो जायगा। दुःख सुख आदि द्वन्द्व विपत्ति हैं, इसीसे इनसे रक्षाकी प्रार्थना सनकादिक ऐसे आत्माराम भी करते रहते हैं। यथा 'द्वंद-विपति भवफंद बिभंजय। ७।३४।८।' ये गुण जिसमें होते हैं, वह भगवान्‌को प्रिय होता है। यथा 'अद्वेष्टा सर्वभूतानां', 'समदुःखसुखः' (गीता १२।१३), 'समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः। शीतोष्णसुखदुःखेषु समः (सङ्गविवर्जितः)॥ तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी ··मे प्रियो नरः। गीता १२।१८-१९।' अत· इन गुणोंको धारणकर जिसमें तू हरिको प्रिय हो जाय।

['विपति विहाई' का अर्थ वैजनाथजीने यह किया है—'कैसाही संकट आ पड़े तू शीघ्र उसको त्यागकर प्रभुकी परिचर्यामें लगा रह'। श्रीकान्तशरणजी लिखते हैं कि "सुखदुःख आदि द्वन्द्वोंको श्रीरामजीकी उचित देन समझकर उसे बिपत्ति आदि न मानकर हर्षके साथ समबुद्धिसे देखना चाहिए।]

नोट—३ वेदोंमें विधि और निषेध दोनों कहे गए हैं अर्थात् क्या करना कर्तव्य है और क्या निषिद्ध या वर्जित है। वैसे ही कवि यहाँ भक्तिके इच्छुकोंके लिये विधि और निषेध दोनों कहते हैं। उर आनहिसे

'विपति बिहाई' तक विधिवाक्य है, आगे 'सुनु सठ कालग्रसित…' में निषेधका कथन है।

टिप्पणी—४ 'सुनु सठ काल ग्रसित यह देही।…' इति। (क) 'देही' को 'देह'के अर्थमें कविने कई जगह प्रयुक्त किया है। यथा 'मर्कट वदन भयंकर देही। देखत हृदय क्रोध भा तेही।१।१३४।८।', 'चोचन्ह मारि बिदारेसि देही। दंड एक भइ मुरुछा तेही।३।२९।२०।', 'दच्छ सुक्र संभव यह देही। १।६४।६।', 'परहित लागि तजै जो देही।१।८४।२।', 'नर तन सम नहि कवनिउ देही। जीव चराचर जाचत जेही।७।१२१।६।' इत्यादि। 'देही' का कवि-अभिप्रेत अर्थ न जाननेसे जिन लोगोंने 'जीव' अर्थ किया है वह भूल की है।

४ (ख) शरीर 'कालग्रसित' है। जीव जिस समय शरीररूपसे जन्म लेता है, उसी समयसे काल इसको ग्रसने लगता है। क्षण-क्षण आयुका बीतना कालका धीरे-धीरे ग्रास करना है। क्षण-क्षणकी आयु एक एक ग्रास है। पूर्ण आयुका बीत जाना कालका निगल जाना है। भाव कि शरीर क्षणभंगुर है, मृत्यु सदा सिरपर सवार है, न जाने काल कब निगल जाय। कवितावलीमें वृद्धावस्थाको कालरूपी सूर्यका उदय और दुःख रोग आदिको यमके पहरेदार कहा है, यथा 'जमके पहरू दुख रोग बियोग बिलोकतहू न बिरागहि रे॥…जरठाइ दसा रबि काल उग्यो अजहूँ जड़ जीव न जागहि रे।क०७।३१।' अब भी नहीं चेतता, देहाभिमानी बना है, इसीसे 'सठ' संबोधित किया।

४ (ग) 'जनि तेहि लागि बिदूषहि केही' इति। 'तेहि' अर्थात् क्षणभंगुर शरीरके। मनुष्य देहाभिमानी होनेसे देहसुखके लिये ही दूसरोंकी निन्दा करता, शत्रुता करता, और सताता है। यथा 'कृमि-भस्म-बिट-परिनाम तनु तेहि लागि जग बैरी भयो। परदार परधन द्रोह पर संसार बाढ़ै नित नयो।१३६ (७)।'—इसीसे कहते हैं कि जो शरीर एक न एक दिन अवश्य नष्ट हो जायगा, उसके लिये किसीको न सता।* नहीं तो गाढ़ संसारमें पड़ेगा। ☞ यह 'निषेध' कहा गया। कायिक, वाचिक, मानसिक तीनों प्रकारकी हिंसाका त्याग कहा।

* कालके ग्रसनेपर राजाके शरीरकी भी ये दशायें होती हैं कि खाया गया तो विष्ठा, पड़ा रह जाय तो कीड़ा और जल जाय तो भस्म नाम पाता है। यथा 'पुरा रथैर्हेमपरिष्कृतैश्चरन् मतङ्गजैर्वा नरदेवसंज्ञितः। स एव कालेन दुरत्ययेन ते कलेवरो विट्कृमिभस्मसंज्ञितः। भा० १०।५१।५१।'—इस तरह 'कालग्रसित' कहकर उसके ये परिणाम जना दिये।

नोट--४ यहाँ तक साधन क्रमसे कहे गए। उपकारोंके स्मरणसे प्र
शीघ्र कृपा करेंगे, कृपासे संत मिलेंगे। सन्तसंसर्गसे 'दुःख सुख' 'चिहाई
इन गुणोंकी प्राप्ति होगी। उनकी सेवासे देहजनित विकारोंका त्या
और रघुनाथजीके चरणोंमें प्रेम होगा। यथा 'स्वामीको सुभाउ कह्यो स
जब उर अनिहै। सोच सकल मिटिहै राम भलो मनिहैं। भलो मानि
रघुनाथ जोरि जो हाथ माथो नाइहै। १३५।', 'अजहुँ अपने रामके करत
समुझत हित होइ। कहँ तू कहँ कोसलधनी तोको कहा कहत सब को
।१९३।', 'जब द्रवै दीनदयाल राघव साधु संगति पाइये। जेहि दरस पर
समागमादिक पापरासि नसाइये॥ जिन्हके मिलें सुख दुख समा
अमानतादिक गुन भए। मद मोह लोभ विषाद क्रोध सुबोध ते सहजा
गए।...देहजनित बिकार सब त्यागे।१३६।

टिप्पणी--५ (क) 'असि मति' अर्थात् जो ऊपर 'उर आनहिं'
'बिदूषहि केही' तक कह आए, उसका आचरण करनेवाली बुद्धि। (ख
'मिलहि न राम कपट लय लाए'--इसे अन्तमें कहकर जनाया
ऊपर जो बातें कही हैं,--प्रभुके कृतज्ञ होना, आत्मानुभवप्राप्त संतों
सेवा, दुःख सुख आदिमें समान भाव तथा अहिंसा--ये यदि न हुईं, त
अन्य जितने भी साधन करता है, वे सब 'कपट लय लाएँ' ही सम
जायँगे। भगवान् मलिन हृदयमें नहीं जाते। यथा 'रागादिदूषिते चि
न तिष्ठति जनार्दनः। नैवं हंसो रतिं धत्ते कदाचित् कर्दमाम्भसि
(प० पु० पुण्डरीकाख्यान)। अर्थात् रागद्वेष आदि द्वारा दूषित हृदय
जनार्दन नहीं रहते। गन्दे जलमें हंस अनुराग नहीं करते। पुनः
'स्फटिकगिरिशिलामलः क विष्णुर्मनसि नृणां क च मत्सरादिदोषः। न
तुहिनमयूखरश्मिपुञ्जे भवति हुताशनदीप्तिजः प्रकाशः। वि० पु० ३।७।२३
अर्थात् कहाँ तो स्फटिकपर्वतशिलाके तुल्य निर्मल भगवान् और रागा
दोष दूषित यह हृदय! चन्द्रमाकी रश्मिपुंजोंसे अग्निदीप्तिजन्य प्रकाश
आशा कैसे हो सकती है? वे निर्मल हृदयमें ही रहते हैं। यथा 'हरि निर्म
मलग्रसित हृदय असमंजस मोहि जनावत। जेहि सर काक कंक बक सूक
क्यों मराल तहँ आवत। १८५।', 'निर्मल मन जन सो मोहि पावा। मो
कपट छल छिद्र न भावा।५।४४।५।' निष्कपट प्रेमसे मिलते हैं, यथा 'प्रे
तें प्रगट होंहि मैं जाना।', 'प्रेम ते प्रभु प्रगटै जिमि आगी।१।१८५।', 'रा
कृपा नहि करहिं तसि जसि निष्केवल प्रेम।६।११६।', 'नहि कोउ प्रि

मोहि दास सम, कपट प्रीति बहि जाउ। गी० ५।४५।' (अर्थात् कपट प्रेम नहीं रहना चाहिए।)

श्रीसीतारामचन्द्रार्पणमस्तु।

पद १२७

मैं जानी हरि पद रति नाहीं। सपनेहुँ[1] नहिं बिराग मन माहीं ॥१॥
जे रघुबीर चरन अनुरागे[2]। तिन्ह[4] सब भोग रोग सम त्यागे[3] ॥२॥
काम भुअंग[5] डसत जब जाही। बिषय नीब[6] कटु लगत[7] न ताही ॥३॥
असमंजस अस हृदय बिचारी। बढ़त सोच नित नूतन भारी ॥४॥
जब कब राम कृपां[8] दुख जाई। तुलसिदास नहिं आन उपाई ॥५॥

शब्दार्थ—भुअंग (भुजंग) = सर्प। नीब (निंब, नीम)—यह प्रसिद्ध वृक्ष है, इसका कडुवापन प्रसिद्ध है, इसका प्रत्येक भाग (छाल, फूल, पत्ती, फल सभी) कडुवा होता है तथा इसका मद भी कडुवा होता है। डसना= विषैले कीड़ेका दाँतसे काटना। असमंजस = दुविधा। नूतन = नया। जब कब = जब कभी।

पदार्थ—मैंने जान लिया कि श्रीरामजीके चरणोंमें मेरा अनुराग नहीं है❀ (क्योंकि जाग्रतकी कौन कहे) स्वप्नमें भी मेरे मनमें वैराग्य नहीं होता।१। जिन्होंने श्रीरघुवीरके चरणोंमें अनुराग किया, उन्होंने समस्त भोगविलासोंको रोगके समान त्याग दिया।२। कामरूपी सर्प जब जिसे डसता है, तब उसे विषयरूपी नीम कड़वी नहीं लगती।३। ऐसा विचारकर हृदयमें असमंजस बना रहता है और नित्य नवीन भारी शोच बढ़ता है।४। तुलसीदास! जब कभी यह दुःख जायगा, तो श्रीरामकृपासे ही (जायगा), दूसरा कोई उपाय नहीं है।५।

---

१ सपनेहुँ—रा०, ५१, ७४, डु०, भ०। सपनेहु—भा०, बे०, वै०, दीन, ह०। २ अनुरागे। ३ त्यागे—रा०, ५१, ७४, आ०। अनुरागी, त्यागी—भा०, बे०, ह०, ज०। ५ भुजंग—७४, आ०। भुअंग—रा०, भा०, बे०, भ०। ४ तिन्ह—रा०, ५१, आ०। ते—७४, भा०, बे०, ह०। ६ नीब—रा०, ५१, भ०। नीब=वै०, ७४, दीन, वि०। निंब—भा०, बे०, डु०, मु०। नीम—ह०। ७ लगति—दीन। लगत—रा०, ह०, ५१, वै०, मु०, ७४। लगै—भा०, बे०, भ०। ८ कृपां—रा०। कृपा—औरोंमे।

❀ अर्थान्तर—'मैंने श्रीहरिचरणोंमे अनुराग करना न जाना।'—(ह०, वीर)।

टिप्पणी—१ 'मैं जानी''''' पर प्रश्न होता है कि कैसे जाना? उसका उत्तर दूसरे चरणसे प्रारम्भ होता है। स्वप्नमें भी मनमें वैराग्य नहीं होता, इस कथनसे जनाया कि वैराग्य होना हरिपदप्रीतिका एक लक्षण है। यथा 'जब सब विषय विलास बिरागा॥ होइ बिवेक मोह भ्रम भागा। तब रघुनाथ चरन अनुरागा।२।९३।', 'रामप्रेमपथ पेखिए दिए बिषय तनु पीठि। दो० ४२।', 'जौं पै मोहि राम लागते मीठे। तौ नवरस षटरस रस अनरस ह्वै जाते सब सीठे।१६९।'

पुनः 'सपनेहुँ नहिं बिराग मन माहीं' का भाव कि मेरे मनमें किंचित् भी वैराग्य नहीं है, परम वैराग्यवान होना तो कोसों दूर है। परम वैराग्यके लक्षण श्रीरामजीने लक्ष्मणजीसे कहे हैं—'कहिअ तात सो परम बिरागी। तृन सम सिद्धि तीनि गुन त्यागी।३।१५।८।' [भाव कि मन सांसारिक सुखोंमें लगा है, उन्हें त्यागता नहीं, तब रामपदप्रेम कैसे हो? मन दो जगह नहीं लग सकता। (वै०)]

२ (क) 'जे रघुबीर''''' इति। मनमें वैराग्य नहीं, यह कैसे जाना जाय? इसकी परख क्या है? इसीको आगे कहते हैं कि भोगोंका त्याग नहीं हुआ है। (ख)—'जे रघुबीर चरन अनुरागे।' कहकर उनका लक्षण बताते हैं कि वे सब भोगोंका त्याग रोगके समान कर देते हैं। भाव कि रोगको कोई चाहता नहीं, वह आया नहीं कि उसके नाशका उपाय तुरन्त करने लगते हैं और जैसे भी बने उसे निर्मूल किया जाता है। यथा 'रिपु रुज पावक पाप प्रभु अहि गनिअ न छोट करि।३।२१।' इसी प्रकार जिनका रामचरणमें प्रेम है, वे भोग-विलासको प्रयत्न करके त्याग देते हैं, सर्वथा निर्मूल कर देते हैं, अपना शत्रु समझकर उससे सदा चौकन्ने रहते हैं। भर्तृहरिजीने कहा है—'भोगे रोग भयं।' भोगमें रोग रक्खा हुआ है। इसीसे उसे रोग समान दुःखदायक जानकर त्याग देते हैं। भोग दुःखदायक हैं, इसी भावसे उन्हें बिच्छूका डंक कह आए हैं। यथा 'प्रेतगन रोग, भोगौघ वृश्चिक विकार।५९ (६)।'

रामानुरागी भोगोंका त्याग करते हैं, यथा 'रमाविलास राम अनुरागी। तजत बमन जिमि जन बड़भागी।२।३२४।८।', 'सुमिरत रामहि तजहिं जन तृनसम बिषय बिलासु।२।१४०।', 'भूषन बसन भोगसुख भूरी। मन तन बचन तजे तिन तूरी।२।३२४।५।' (यह श्रीभरतजीके संबंधमें कहा गया है), 'जाके पदकमल लुब्ध मुनि मधुकर बिरत जो परम सुगतिहु लुभाहिं न।२०७।'

३ 'कामभुअंग डसत''''' इति। 'विषयोंका त्याग न सही, पर विषयोंके रहते उनके भोगमें आसक्त न हो, यह भी तो वैराग्य है'—यह कहा जा

सकता है। इसका उत्तर देते हैं—'काम भुअंग·····'। विषैला सर्प जिसको डसता है, उसको नीमकी पत्ती खिलाई जाती है। विष जब उसकी छातीसे ऊपर पहुँच जाता है तब नीम उसको कड़वी नहीं लगती। यह सर्पग्रस्तकी परीक्षा है। इसी प्रकार कामरूपी सप जिसे डसता है अर्थात् जो विषयी है, वासनाओंका दास हो रहा है, उसे विषय कड़वे नहीं लगते। न तो मैंने विषयोंका त्याग किया और न विषय मुझे बुरे लगते है, प्रत्युत कड़वे होते हुए भी वे मुझे प्रिय लगते है। इससे निश्चय है कि मेरे मनमें न वैराग्य है, न त्याग और न भक्ति; कामरूपी सर्पका विष-ही-विष सारे शरीरमें व्याप्त है।—भाव यह कि रामानुरागी विगतकाम होते हैं, उनको विषय कड़वा लगता है, जैसे जो सर्पग्रसित नहीं हैं उनको नीम कड़वी लगती है।

४ 'असमंजस अस·····' इति। (क) मन एक ही है। उसमें एक ही रह सकता है. विषय रहे चाहे रामप्रेम रहे। दोनों उसमें एकसाथ नहीं रह सकते, क्योंकि ये दोनों परस्पर विरोधी हैं। यथा 'जहाँ राम तहँ काम नहि जहाँ काम नहिं राम। तुलसी कबहुँ कि होत हैं रबि रजनी इक ठाम।' (ख)- 'अस' अर्थात् जैसा ऊपर कह आए कि मनमें वैराग्य, भोगोंका त्याग और हरिपद-प्रीति नही है, उलटे विषयोंमें लगन है-यह बिचारकर। असमंजस है अर्थात् चित्त चंचल हो रहा है, शान्त नहीं होता, समझमें नहीं आता कि क्या करूँ, विषय छूटते नहीं और विषयमें लगे रहनेसे भवसागरमें पड़ा रह जाऊँगा। दुविधामें मनकी यही गति होती है, यथा 'दुबिध मनोगति प्रजा दुखारी। सरित-सिंधु-संगम जनु बारी।२।३०२।' विषयको अनर्थरूप जानते हुए भी छोड़ नहीं पाता। यथा 'जानत अर्थ अनर्थरूप तमकूप परब यहि लागें। तदपि न तजत स्वान अथ खर ज्यों फिरत बिषय अनुरागें।११७।'

४ (ग) 'बढ़त सोच नित नूतन भारी' इति। विषयोंमें अधिक आसक्ति बढ़ती जाती है और आयु दिनोंदिन क्षीण होती जाती है, इससे सोच नित्य नया बढ़ता है कि भगवान्की असीम कृपासे नरतन मिला सो व्यर्थ खोया जा रहा है, श्रीरामजीके चरणोंमें प्रेम नहीं हो रहा है, यदि इससे भगवत्-प्राप्ति न कर सका तो फिर चौरासीमें पड़कर पछताना ही होगा। यथा 'साधनधाम मोच्छ कर द्वारा। पाइ न जेहिं परलोक सँवारा॥ सो परत्र दुख पावइ सिर धुनि धुनि पछिताइ।७।४३।' ["दुबिधा बुरी बला है, क्योंकि—'दुबिधामें दोऊ गए माया मिली न राम।' (कबीर),

'दो मैं एकौ तौ न भई। ना हरि भजे, न गृह सुख पाये, ऐसेहि आयु गई।' (सूरदासजी)—(वि०)]

५ 'जब कब रामकृपा....' इति। (क) मनकी गति विषयोंमें देखकर सोच है। अपने कर्तव्यसे कल्याणका विश्वास जाता रहा। अतः कहते हैं 'जब कब०'। (ख)—'जबकब....' में पश्चात्ताप और उत्तर दोनों इस प्रकार अन्वय करनेसे निकल सकते हैं—'कब दुःख जाई?' (हा! यह मेरा दुःख कब दूर होगा?)। 'जब रामकृपा' (जब रामकृपा होगी, दूसरा उपाय ही नहीं है)। इस तरह दुःखका मिटना रामकृपापर निर्भर किया। यह सिद्धान्त किया।

नोट—१ दोहावलीमें जो कहा है—'कै तोहि लागहिं राम प्रिय, कै तू प्रभु प्रिय होहि। दुइ महँ रुचै जो सुगम सो, कीबे तुलसी तोहि ॥७८॥', इनमें से एक (प्रभु-प्रिय होने) का उपाय पद १२६ में बताया और दूसरे (राम प्रिय लगने) का उपाय प्रस्तुत पदमें बताया। २ इस पदमें रामानुराग, और रामानुरागियोंके लक्षण तथा विपदाओंके निवृत्तिका उपाय क्रमशः वैराग्य, विषयभोगोंका सर्वथा त्याग और श्रीरामकृपा बताये गए हैं। ३—हरि, रघुबीर और राम तीन नाम इसमें तीन संबंधसे आये हैं। इस पदमें दुःखकी निवृत्तिका सोच दिखाया है, इससे आदिमें 'हरि' शब्द दिया। अर्थात् इनके चरणोंमें प्रेम होनेसे चिन्ता मिट जाती है, अनुरागियोंके लक्षण दिखानेमें 'त्याग' प्रधान होनेसे त्यागवीरता संबंधी 'रघुबीर' नाम दिया और दुःख-निवृत्तिमें 'कृपा' ही एकमात्र अवलंब होनेसे 'राम' शब्द दिया, क्योंकि श्रीरामावतारका एकमात्र कारण कृपा है।

श्रीसीतारामचन्द्रार्पणमस्तु।

पद १२८

सुमिरि[1] सनेह सहित सीतापति। राम चरन तजि नहिन[2] आन गति ॥१॥
जप तप तीरथ जोग समाधी। कलि मति विकल न कछु[3] निरुपाधी ॥२॥
करतहु[4] सुकृत न पाप सिराहीं। रक्तबीज जिमि बाढ़त जाहीं ॥३॥
हरनि एक अघ-असुर-जालिका। तुलसिदास प्रभु कृपा कालिका ॥४॥

१ सुमिरि—रा०, ज०। सुमिरु—प्रायः औरोंमें। २ नहिन—रा०, ह०, १५, ज०, म०। नहिन—भा०, वे०, था०, ७४। ३ किछु—७४। ४ करतहु—रा०, ह०, छ०, ७४। करतहुँ—भा०, वे०, था०।

शब्दार्थ—सुमिरि=तू स्मरण कर। नहिन=नहीं ही है। आन (अन्य) =दूसरा कोई। गति=आश्रय। निरुपाधी=निर्विघ्न, बाधारहित। करतहु=करते हुए भी। सिराना=अन्त होना। चुकना। जालिका=समूह।

पद्यार्थ—प्रेम सहित श्रीसीतापति रामचन्द्रजीका स्मरण कर। श्रीरामजीके चरणोंको छोड़कर (जीवमात्रके लिये) दूसरा कोई आश्रय नहीं है।१। कलियुगमें बुद्धिके विकल होनेसे जप, तप, तीर्थाटन, योग और समाधि (आदि) कोई भी (साधन) उपाधिरहित नहीं हैं।२। पुण्य करते हुए भी पाप चुकते नहीं, उनका अन्त ही नहीं होता। वे रक्तबीजकी तरह बढ़ते ही जाते हैं।३। तुलसीदासजी कहते हैं कि प्रभुकी कृपारूपी कालिका ही एकमात्र पापरूपी असुरसमूहका नाश करनेवाली है।४।

नोट—१ पद १२७ में कहा कि 'जब कब रामकृपा दुख जाई' अर्थात् श्रीरामकृपाका ही एकमात्र आशा-भरोसा है, इसीसे कल्याण हो सकता है। इसपर प्रश्न होता है कि 'रामकृपा कैसे होती है?' मानसमें इसका साधन बताया है कि 'मन क्रम बचन छाँड़ि चतुराई। भजत कृपा करिहहिं रघुराई।१। २००।६।' अर्थात् प्रेमपूर्वक भजन करनेसे कृपा होती है। यही बात यहाँ और अगले कई पदोंमें कवि अपने व्याजसे उपदेश करते हैं।

२ भजनके विषयमें तो अनेक मत हैं, कोई एक सिद्धान्त नहीं है। कोई जप, कोई तप, कोई योग इत्यादि, जितने मुख उतनी बातें, कहते हैं, तब क्या भजन करें जिससे कृपा हो? इसका उत्तर भी यहाँ दिया है और उसकी पुष्टि भी की है।

टिप्पणी—१ 'सुमिरि सनेह सहित·····' इति। (क) 'सुमिरि'—स्मरण कर। भाव कि यह साधन सबसे सुगम और सबको सुलभ है। स्मरणमात्रसे भगवान् भला मानते हैं और दुःखोंको मिटा देते हैं। यथा 'सुमिरन ही मानै भलो पावन सब रीति। देइ सकल सुख दुख दहै·····।१०७।' 'जब कब राम कृपा दुख जाई' जो पद १२७ में कहा था, वह इतनेसे सिद्ध हो जाता है। स्मरणसे अनेक लाभ होते हैं, सुख सुकृत बढ़ते, अघ अमंगल नष्ट होते, स्मरणकर्ता भाग्यभाजन होता, इत्यादि कृपायें होती हैं। यही नहीं प्रभु सखा बना लेते हैं, वशमें हो जाते हैं। यथा 'सुमिरत सुख सुकृत बढ़त अघ अमंगल घटत।१२९।', 'जो सुनि सुमिरि भागभाजन भइ सुकृतसील भीलभामो।२२८।', 'सेवत बस सुमिरत सखा।१४८।', 'सुमिरि पवनसुत पावन नामू। अपने बस करि राखे रामू।१।२६।६।', 'सुमिरें सकुचि रुचि जोगवत जन की।७१।' इसीसे कविने आगे स्मरणके नाते

कृपा चाही है, यथा 'कीजे कृपा दास तुलसी पर नाथ नामके नाते ।१६८।' अतः कहा कि 'सुमिरि' ।

१ (ख) 'सनेह सहित' यह 'स्मरण' की विधि बताई । स्मरण प्रेमपूर्वक करना चाहिए । और कोई पूजा आदि नहीं चाहते । यथा 'बलि पूजा माँगै नहीं चाहै एक प्रीति ।१०७।', 'सुमिरु सनेह सों तू नाम राम राय को ।६९।', 'सुमिरि सप्रेम नाम जासों रति चाहत चंद्रललाम सो ।१५७।', 'सेवक सुमिरत नामु सप्रीती । बिनु श्रम प्रबल मोहदलु जीती ॥ फिरत सनेह मगन सुख अपने । नामप्रसाद सोच नहि सपने ।१।२५।' नोट ' में जो 'मन क्रम वचन छाँड़ि चतुराई' कहा वही 'सनेह सहित' है आगे दिखाते हैं कि सुकृतोंके करनेसे पापोंका नाश नहीं होता । इस संबंधसे 'सुमिरि सनेह''''' से भाव यह निकलता है कि श्रीसीतापतिके स्मरणसे पाप-समूहका नाश हो जाता है । यथा 'स्मृतसर्वाघनाशनः' (यह श्रीरामके अष्टोत्तरशतनामोंमें से एक नाम ही है । प० पु० उ० २८१।४१), 'यो नरैः स्मृतमात्रोऽसौ हरते पापपर्वतम ॥''''स्मृतमात्राखिलाघहम् । प० पु० पा० ३५।८२—८४ ।' (यह आरण्यक मुनिने श्रीरामस्मरणके सम्बन्धमें कहा है), 'दृष्टं परेषां पापानामनुक्तानां विशोधनम् । विष्णोर्जिष्णोः प्रयत्नेन स्मरणं पापनाशनम् । प० पु० उ० ७२।१०।' (ब्रह्माजी नारदजीसे कहते हैं कि जिनके लिये शास्त्रोंमें कोई प्रायश्चित्त नहीं बताया गया है, उन सभी पापोंकी शुद्धिके लिये एकमात्र विजयशील भगवान् विष्णुका प्रयत्नपूर्वक स्मरण ही सर्वोत्तम साधन है । वह समस्त पापोंका नाश करनेवाला है ।)

१ (ग) 'सीतापति' कहकर श्रीसीतासहित रामजीका स्मरण जनाया । क्योंकि श्रीसीताजीकी ही कृपा जीवपर प्रथम होती है । विशेष 'जानकीस-की कृपा' ७४ (१ क), 'जानकीजीवन' ७७ (१ ख), 'सुनत सीतापति सील सुभाउ' १०० (१ क), 'जानकीरमन' ४६ (२ घ) एवं 'श्रीरामचंद्र' ४५ (१ ख) में भाव आ चुके हैं । श्रीजानकीजीका पुरुषकार वैभव ४१ (१ घ), ४१ (४ घ) में देखिए ।

१ (घ) 'रामचरन तजि नहिन आन गति' इति । 'सीतापति' का स्मरण क्यों करें, यह बताते हैं कि इनको छोड़ने पर दूसरा कोई आश्रय नहीं है जहाँ जीव जाय । इनको बिसार देनेसे कहीं चैन नहीं मिल सकता । यथा 'चारिहुँ बिलोचनु बिलोक तूँ तिलोक महँ, तेरो तिहुँ काल कहुँ को है हित हरि सो ॥''''बिबुध सयाने पहिचाने कैधों नाहीं नीके, देत एक गुन, लेत कोटि गुन भरि सो । करम धरम श्रम फल रघुबर बिनु''''। सीतापति सारिखो सुसाहिब सीलनिधानु, कैसे कल परै सठ बैठो सो बिसरि सों ॥ २६४।'

श्रीसुनीतिजीने भी ध्रुवजीको यही उपदेश किया है, यथा 'इहै कह्यो सुत बेद चहूँ। श्रीरघुबीर-चरन-चिंतन तजि नाहिंन ठौर कहूँ। ८६।' पूर्व कविने भी कहा है—'जाउँ कहाँ तजि चरन तुम्हारे। १०१।' पद १०१ में अन्यत्र न जानेके कारण भी बताये हैं। पाठक वहीं देख लें। पुनः 'नहिन आन-गति' कहकर जनाया कि श्रीरामचरणप्रेम परम लाभ है और रामप्रेम विना जीवन व्यर्थ है। यथा 'पावन प्रेम रामचरन जनम लाहु परम। १३१।', 'रामसे प्रीतमकी प्रीतिरहित जीव जाय जियत। १३२।' त्रितापोंका, विपत्तियोंका नाश इन्हीसे होगा। यथा 'जौ पै रामचरन रति होती। तौ कत त्रिविधसूल निसि बासर सहते बिपति निसोती। १६८।'

['नहिन आन गति' का और भाव कि सत्ययुगमें ध्यानसे, त्रेतामें यज्ञसे और द्वापरमें अर्चा-पूजा द्वारा भवतरण होता था, अर्थात् ध्यान, और यज्ञ आदि गतियाँ थीं। किन्तु कलियुगमें कोई नहीं है। (वै०)]

टिप्पणी—२ (क) 'जप तप तीरथ····न कछु निरुपाधी' इति। भाव कि इन सबोंमें एक न एक विघ्न लगे हुए हैं। 'कछु' से योग, यज्ञ, ज्ञान, कर्म आदि अन्य सभी साधनोंका ग्रहण हो गया। इनमें उपाधि क्या हैं यह निम्न उद्धरणोंसे स्पष्ट हो जाते हैं—

'क़रमकलाप परिताप पाप साने सब, ज्यो सुफूल फूले रूख फोकट फरनि।
दंभ लोभ लालच उपासना बिनासि नीके, सुगति साधन भई उदर भरनि।
जोग न समाधि निरुपाधि न बिराग ज्ञान, बचन-बेष-बिसेषि कहूँ न करनि।१८४।'

'आगम बिधि जप जाग करत नर सरत न काज खरो सो।
सुख सपनेहु न जोग सिधि साधत रोगु बियोगु धरो सो।
काम कोह मद लोभ मोह मिलि ज्ञान बिराग हरो सो।
बिगरतु मन संन्यास लेत जल नावत आम घरो सो। १७३।'

'ब्रत तीरथ तप सुनि सहमत पचि मरै करै तन छाम को।
क़रम-जाल कलिकाल कठिन आधीन सुसाधित दाम को।
ज्ञान बिराग जोग जप को भय लोभ मोह कोह काम को। १५५।',

'ग्रसे कलि रोग जोग संजम समाधि रे। ६६ (२)।' तथा 'कलि न बिराग जाग जोग तप त्याग रे। ६७।' में भी देखिये।

२ (ख) 'कलि मति बिकल'—[कलियुग के प्रभावसे स्वभाव कुटिल और कर्म नष्ट हो गए। इससे बुद्धि विकल हो रही है, तब जप तप योग समाधि कैसे निबहै, इन सबोंमें बुद्धि की स्थिरता चाहिए। अतः ये कोई साधन पार नहीं पाते। (वै०)] विषयोंके झकोरेसे, इन्द्रियोंके अरने-

अपने विषयोंकी ओर दौड़नेसे बुद्धि व्याकुल हो जाती है। यथा 'बुद्धि बिकल भइ विषय बतासा।', 'विषय समीर बुद्धि कृत भोरी' (७।११८)। बुद्धिके व्याकुल होनेसे 'जीव विविधविधि पावइ संसृति क्लेस।७।११८।' जब बुद्धि ही व्याकुल है, जो मनरूपी राजाका मंत्री है, तब जप-तप आदिका नेम क्योंकर निबह सकता है? इस कथनसे यह भी जनाया कि बुद्धिकी विकलतामें भी 'राम-सुमिरन' कल्याणकारक है। (श्री० श० लिखते हैं कि जपमें बुद्धि और तपमें विवेककी स्थिरता तथा तीर्थनिष्ठामें श्रद्धा विश्वास चाहिएँ। वे सब व्याकुल बुद्धिमें कहाँ हैं?)।

टिप्पणी—३ 'करतहु सुकृत न पाप....' इति। (क)—ऊपर बताया कि जप आदि निरुपाधि नहीं हैं, अतएव उनका सहारा न रह गया। यदि कहें कि दान, पुण्य आदि करो, तो दिखाते हैं कि उससे भी भवतरणकी आशा नहीं। 'करतहु' का भाव कि प्रथम तो ये निरुपाधि नहीं हैं, फिर भी यदि किये भी जायँ और पूरे भी हों तो भी (इनसे पापका नाश नहीं हो पाता।')

श्रीशुकदेवजीने भी कहा है कि विषयलोलुप पुरुष अपने दोषका मार्जन करनेके लिये प्रायश्चित्तरूप कर्मोंमें ही प्रवृत्त होते हैं, जिनसे फिर दोषोंकी ही उत्पत्ति होती है। यथा 'अन्यस्तु कामहत आत्मरजः प्रमार्ष्टुमीहेत कर्म यत एव रजः पुनः स्यात्। भा० ६।३।३३।' इसके विपरीत भगवान्‌का जगन्मंगलमय नामकीर्तन बड़े-से-बड़े पापका मूलसहित नाश करनेवाला प्रायश्चित्त है।—'तस्मात्सङ्कीर्तनं विष्णोर्जगन्मङ्गलमंहसाम्। महतामपि कौरव्य विद्ध्यैकान्तिकनिष्कृतम्। भा० ६।३।३१।'

३ (ख) 'रक्तबीज' इति। मार्कण्डेय पुराणोक्त देवीमाहात्म्य (दुर्गासप्तशती) अध्याय ८ में इसकी कुछ कथा आई है। प्रतापी दैत्यराज शुम्भका यह एक सेनापति था। चण्ड और मुण्डके मारे जानेपर शुम्भने अपने समस्त सेनापतियों और संपूर्ण सेनाओं सहित आकर चण्डिका आदिको घेर लिया। ब्रह्मा, शिव, कार्तिकेय, विष्णु, इन्द्र, यज्ञवाराह, नृसिंह आदि देवोंकी शक्तियाँ भी चण्डिकाके साथ आ मिलीं। युद्ध छिड़ गया। शक्तियोंके प्रहारसे बड़े-बड़े असुरोंका मर्दन होने लगा, दैत्यसैनिक भाग खड़े हुए। मातृगणोंसे पीड़ित दैत्योंको भागते देख रक्तबीज नामक महादैत्य क्रोधमें भरकर युद्धके लिये आया।—'पलायनपरान् दृष्ट्वा दैत्यान् मातृगणार्दितान्। योद्धुमभ्याययौ क्रुद्धो रक्तबीजो महासुरः।८।४०।'—बस यहींसे इसके संबंधकी चर्चाका प्रारंभ है। उसके शरीरसे जब रक्तकी बूँद पृथ्वीपर गिरती,

तब उसीके समान शक्तिशाली एक दूसरा महादैत्य पृथ्वीपर पैदा हो जाता।—'रक्तबिन्दुर्यदा भूमौ पतत्यस्य शरीरतः। समुत्पतति मेदिन्यां तत्प्रमाणस्तदासुरः।४१।' यह इन्द्रशक्तिसे युद्ध करने लगा। ऐन्द्रीके वज्रके आघातसे उसके शरीरसे बहुत-सा-रक्त चूने लगा और उससे उसीके समान रूप तथा पराक्रमवाले योद्धा उत्पन्न होने लगे। उसके शरीरसे रक्तकी जितनी बूँदें गिरीं, उतने ही पुरुष रक्तबीजके समान वीर्यवान्, बलवान् तथा पराक्रमी उत्पन्न हो गए।—'यावन्तः पतितास्तस्य शरीराद्रक्तबिन्दवः। तावन्तः पुरुषा जातास्तद्वीर्यबलविक्रमाः।४४।' पुनः वज्रके प्रहारसे जब उसका मस्तक घायल हुआ तो रक्त बहने लगा और उससे सहस्रों रक्तबीज उत्पन्न हो गए।—'पुनश्च वज्रपातेन क्षतमस्य शिरो यदा। ववाह रक्तं पुरुषास्ततो जाताः सहस्रशः।४६।' इसी प्रकार वैष्णवीके चक्र, कौमारीकी शक्ति, वाराहीके खड्ग, माहेश्वरीके त्रिशूल तथा ऐन्द्रीकी गदा आदिसे चोट पहुँचनेपर जो रक्तबुन्द गिरते उनसे उतनेही रक्तबीज उत्पन्न होते गए। देवताओंको भयभीत देख चंडिकाने चामुण्डा (काली) से कहा कि तुम अपना मुख और भी फैलाओ तथा मेरे अस्त्रशस्त्रपातसे गिरनेवाले रक्तबिन्दुओं और उनसे उत्पन्न होनेवाले महादैत्योंको अपने उतावले मुखसे खा जाओ।....यह कहकर चण्डिकाने शूलका प्रहार किया और कालीने अपने मुखमें उसका रक्त ले लिया। रक्त गिरनेसे कालीके मुखमें जो महादैत्य उत्पन्न हुए, उन्हें भी वह चट कर गई। तब रक्तबीज मारा जा सका।—'देवी शूलेन वज्रेण बाणैरसिभिर्ऋष्टिभिः। जघान रक्तबीजं तं चामुण्डापीतशोणितम्।६०।'

३ (ग) यहाँ रक्तबीज पाप है; जप-तप-तीर्थाटन-योग-समाधि आदि सुकृत ब्रह्माणी, माहेश्वरी, ऐन्द्री, कौमारी, वैष्णवी, वाराही आदि देवशक्तियाँ हैं। जैसे मातृगणोंके अस्त्र-शस्त्र-प्रहारसे रक्तबीज मर न सका, प्रत्युत उसके घायल होनेसे उसके रक्तसे सहस्रों और रक्तबीज उत्पन्न होते गए; वैसे ही सुकृतोंसे एक महापापका समूल नाश तो होता नहीं, प्रत्युत उस महापाप के नाशके उपायसे सहस्रों और महापाप उत्पन्न हो जाते हैं। कालिकाने जब रक्तबीजके रक्तको पृथ्वीपर गिरनेके पूर्व अपने मुखमें ले लिया और जो उस रक्तसे रक्तबीज उनके मुखमें उत्पन्न हुए उनको भी खा कर पचा डाला, तब रक्तबीज मर सका। इसी प्रकार श्रीसीतापति प्रभु रामचन्द्रजीकी कृपारूपी कालिकाके बिना सुकृतरूपी दैवी शक्तियोंमे सामर्थ्य नहीं जो पापसमूहोंका समूल नाश कर सके और नये पापोंको भी खा

डाले।—इतना ही दिखाने भरके लिए 'रक्तबीज जिमि बाढ़त जाहीं' का उदाहरण यहाँ दिया गया है।

उपर्युक्त कथाके आधारपर यह भी भाव निकलता है कि जप, तप, तीर्थाटन, योग और समाधि आदि सुकृत यदि भगवत्-आश्रय लेकर किए जायँ तो वे पापका नाश करके मोक्षलाभ करा देते हैं। यथा 'मुक्ति प्रयाति भो विप्रा विष्णोस्तस्यानुकीर्तनात्॥ वासुदेवे मनो यस्य जपहोमार्चनादिषु।....' (ब्रह्म पु० २२।४०।४१)।

प्रश्न उठता है कि 'सुकृतसे पाप कैसे बढ़ते हैं?' उत्तर यह है कि पुण्य कर्म करनेमें अनेक कर्म ऐसे हो जाते है जो स्वयं पापरूप हैं। जैसे कि यज्ञमें जीवोंका बलिदान, तीर्थाटनमें अनेक जीवोंका पैरके नीचे दबकर मर जाना, इत्यादि। तीर्थमें इन्द्रियोंके वशमें न होनेसे वहाँ जो पाप हो जाते हैं वे वज्रलेप हो जाते हैं। मानसमें भी कहा है—'काटे बहुत बढ़े जिमि तीरथके पाप।६।९६।'

[श्री० श —'कलिकालमें तमोगुण प्रधान होनेसे एवं बुद्धिकी विकलतासे सुकृत देहाभिमानसे किये जाते है, इससे फलेच्छा, ममता और कर्त्तृत्वाभिमानके कारण उन एक-एक सुकृतमें कई-कई प्रकारकी वासनाएँ हो जाया करती हैं, उन वासनाओंके फलस्वरूपमें आगेके लिए बहुतसे भोग संस्कार बनते जाते हैं, इससे संसारकी सामग्री नित्य नई-नई तैयार होती जाती है।'....]

टिप्पणी—४ 'हरनि एक अघ असुर...' इति। ऊपर पापको रक्तबीज कहा। उसके रक्तबिन्दुओंसे सहस्रों और रक्तबीज हुए। अतः पापसमूहको 'असुरसमूह कहा। कालिकाने सहस्रों नये रक्तबीजों समेत रक्तबीजका नाश किया। वैसेही प्रभुकी कृपा पापोंका समूह एवं पापोंकी वृद्धि दोनोंका नाश करनेवाली है।

'प्रभु कृपा' का भाव कि एकमात्र इन्हींका सामर्थ्य ऐसा है, दूसरा कोई पापसमूहके हरण करनेको समर्थ नहीं है। प्रभु=समर्थ स्वामी। और कृपा कैसे हो, यह प्रारम्भमें ही बता आये कि 'सुमिरि सनेह सहित सीतापति।' इसीसे 'सुमिरि....' से उपक्रम कर 'कृपा' पर उपसंहार किया। 'सीतापति' ऐश्वर्यद्योतक नाम है। 'उपजहिं जासु अंस गुनखानी। अगनित उमा रमा ब्रह्मानी' उनके पति हैं, इसीसे उपसंहारमें 'प्रभु' (सामर्थ्यवाचक) नाम दिया।

वै०—यहाँ कालिकाके मुख, जिह्वा आदि क्या है? स्मरण, श्रवण, कीर्तन आदि मुख बढ़ाकर प्रभुकृपारूपी कालिका प्रेमरूपी जिह्वाको फैलाकर कामक्रोधादि विकारोंको खा जाती है, जिससे नये पाप उत्पन्न होने नहीं पाते और जो है उनका नाश कर देती है।

श्री० श०—"कृपासे जागर्त हो जाने पर देहाभिमान दूर होगा, सुकृत निष्काम एवं प्रभु-उपासनात्मक होंगे। पूर्वके पाप नष्ट होकर शुद्ध विवेक-पूर्ण भक्ति होने लगेगी।"

श्रीसीतारामचन्द्रार्पणमस्तु

पद १२८

*रुचिर रसना तू[1] राम-राम-राम क्यों[2] न रटत।
सुमिरत सुख[3] सुकृत बढ़त अघ अमंगल घटत॥१॥
बिनु श्रम कलि कलुष जाल कटु कराल कटत।
दिनकर के उदय जैसे[4] तिमिर[5] तोम फटत॥२॥
जाग[6] जोग जप बिराग तप सुतीरथ अटत।
बाँधिबे को भव गयंद रेनु-की रजु बटत॥३॥
परिहरि सुरमनि सुनाम गुंजा लखि लटत[7]।
लालच लघु तेरो लखि तुलसी तोहि हटत॥४॥

शब्दार्थ—अमंगल=अशुभ, दुःख, अकल्याण, विघ्न, बाधायें। कटु=तीक्ष्ण (पं० रा० कु०)।=कड़वे, अनिष्ट, बुरा लगनेवाले। जाल=सूत, रस्सी या तार आदि को खड़े और आड़े फैलाकर इस प्रकार बुनते हैं

* इस चरणके पाठमे बहुत मतभेद है। ७४ मे 'रुचिर' शब्द नही है। ह० और प्र० मे 'रुचिर' के बदले 'रुचि सो' पाठ है। उपर्युक्त पाठ-५१, डु, भ०, दीन, मु०, पो०। वै० और वि० में 'राम राम' अर्थात् 'राम' शब्द दो बार है। रा० मे 'राम' शब्द चार बार है, 'क्यो न' नही है। १, तु—मु०। हू—भा०, वे०, प्र०। हूँ—रा०, ह०। हु—ज०। डु० की टीकामें 'हू' पाठ है—'रसनाहू नाम जिह्वाते'। २—क्यो न—५१, आ०, भा०, वे०, प्र०, ७४। रा० और ह० में ये शब्द नही है। ३ सुभ—ज०, १५। ४ जथा—७४। ५ तोम तिमिर प्र०। ६ जोग जाग—७४, डु०, दीन, वि०, भ०, वै०, पो०। जाग जोग—रा०, भा०, वे०, मु०, ह०, ज०। ७ जटत—प्र०।

कि बीचमें बहुतसे बड़े बड़े छेद छूट जाते हैं, इस तरहका बना हुआ पट जिसका व्यवहार मछलियों और चिड़ियों आदिको पकड़नेके लिये होता है।=समूह। तिमिर=अंधकार। तोम=समूह। यथा 'जातुधान धावन परावनको दुर्ग भयो, महामीन वास तिमि तोमनिको थलु भो।' (बाहुक)। फटना==छिन्न-भिन्न हो जाना, मिट जाना। अटना=घूमना-फिरना; यात्रा करना; भ्रमण करना। लटना (सं० लल, लड)=लट्टू होना; ललचाना; लेनेके लिये लपकना; लुभाना। हटना=रोकना।

पदार्थ—सुन्दर जिह्वासे तू राम राम राम क्यों नहीं रटता? (राम नामके) स्मरणसे सुख और पुण्य बढ़ते हैं, पाप और अमंगल घटते हैं, कलिके अलिष्ट कठिन भयकर पापोंका जाल बिना परिश्रम के (इस प्रकार) कट जाता है जैसे सूर्यके उदयसे अंधकारका समूह मिट जाता है।(१-२)। यज्ञ, योग, जप, वैराग्य, तप (करता) सुन्दर तीर्थोंमें भ्रमण करता है। भव (ससार) रूपी गजेन्द्रको बाँधनेके लिये वालू वा धूलकी रस्सी बटता है? ३। सुन्दर रामनामरूपी देवमणि (चिन्तामणि) को छोड़कर तू घुंघुचीको देखकर (उस पर) लट्टू हो रहा है। तेरा तुच्छ लोभ देखकर तुलसीदास तुझे रोकता है।४।

नोट—१ पिछले पदमें मनको स्नेह सहित श्रीसीतापतिके स्मरण का उपदेश दिया और बताया कि जीवके उद्धारका दूसरा कोई अवलंब है ही नहीं। स्मरण प्रायः हृदयका धर्म, अन्तःकरणका व्यवहार माना-समझा जाता है। अतः यहाँ और सुगम उपाय बताते हैं। मन नहीं लगता तो न सही, जिह्वा ही नाम रटे तो काम बन जाय।

टिप्पणी—१ 'रुचिर रसना तू....' इति। (क) प्रायः इस पाठका अर्थ करनेमें टीकाकारोंने 'रुचिर रसना' को संबोधन माना है। 'अरी सुन्दर जिह्वा! तू' ऐसा अर्थ किया है। जिह्वाको पूर्व भी संबोधित किया है, यथा 'राम राम रमु राम राम रटु राम राम जपु जीहा।६५।' इसी तरह यहाँ भी मान सकते हैं। किन्तु 'रसना' के साथ 'रटति' क्रिया चाहिए। दूसरे, अन्तरा ३ में 'जाग जोग जपु बिराग तप तीरथ अटत।...' यह जो कहा है, यह मेरी तुच्छ बुद्धिमें 'रसना' से कहना विशेष संगत नहीं जँचता। अतः मेरी समझमें यहाँ मन या जीवको ही उपदेश दिया जा रहा है। जैसे कई पदोंमें किया गया है, यथा 'राम राम जपि जीय सदा सानुराग रे।६७', 'राम राम राम जीय जौ लौ तू न जपिहै।६८।', 'राम कहत चलु राम कहत चलु राम कहत चलु भाई रे।१८९।', इत्यादि।

१ (ख) राम नाम रटनेके संबंधसे 'रसना' को रुचिर कहा। 'रसना' का भाव कि रसका ज्ञान इसी इन्द्रिय द्वारा मनको होता है। ☞स्मरण रहे कि इन्द्रियोंकी सहायता विना मन किसी भी विषयका अनुभव नहीं कर सकता। इन्द्रियाँ मनके विना केवल हर्षसे वंचित रहती हैं। † अतः कहते हैं कि रे मन! तू रुचिर रसना द्वारा रामनामका स्वाद ले। अभी तक तो विषयोंका स्वाद लेता रहा, अब देख, इसका कैसा स्वाद है।

गोस्वामीजीने रसना और जिह्वाको पर्याय माना है। यथा 'गिरहिं न तव रसना अभिमानी। ६।३२।', 'गिरिहहि रसना संसय नाही ।६।१२।' 'नहिं रसना पहिं जाइ बखाना ।७।८८।', 'केहि भाँति बरनि सिरात रसना एक यहु मंगल महा ।१।३२५।', 'नाम जीह जपि जागहिं जोगी ।१।२२।," जौं न उपारउँ तव दस जीहा ।६।१३।' 'जस तुम्हार मानसबिमल हंसिनि जीहा जासु ।२।१२८।"

१ (ग) 'राम राम राम' में आग्रह (वीरकविके मतसे आदर) की विप्सा है। 'राम राम राम' से जनाया कि लगातार जोर-जोरसे लयके साथ बराबर बारंबार उच्चारण कर। [श्रीकान्तशरणजीका मत है कि "राम राम राम तीन बार कहा, क्योंकि र० आ० म० इन तीन अक्षरोंके भावोंका तीन बार उच्चारणके साथ मनन करना है और साथ ही कांडत्रयके लाभकी भी भावना करनी है।"—मेरी समझमें यह क्लिष्ट कल्पना है।]

१ (घ) 'रटत'—इससे जिह्वा द्वारा वैखरी वाणीसे लगातार उच्चारण करना कहा। 'रटना' से घोखना जनाया, जैसे पाठशालाओंमें विद्यार्थी घोखते हैं।

१ (ङ) 'सुमिरत सुख सुकृत बढ़त....' इति। सुख सुकृत बढ़ते हैं, यथा 'सुमिरत सुलभ सुखद सब काहू। लोक लाहु परलोक निबाहू ।१।२०।२।', 'नाम जीह जपि जागहिं जोगी।.... ब्रह्मसुखहि अनुभवहिं अनूपा ।१।२२।', 'सेवक सुमिरत नामु सप्रीती।.... फिरत सनेह मगन सुख अपने। नाम प्रसाद सोच नहिं सपने ।१।२५।'; 'राम भगत जग चारि प्रकारा। सुकृती चारिउ अनघ उदारा। १।२२।', 'सकल सुकृत फल राम सनेहू ।१।२७।२।', 'धर्मकल्पद्रुमाराम ।४६ (७)।' 'अघ अमंगल

† अस्मान् विना नास्ति तवोपलब्धिस्तावद्दते त्वां न भजेत् प्रहर्षः। म० भा०आश्व० ३२।२९।', इन्द्रियाँ मनसे कहती हैं कि आप हमारे विना किसी भी विषयका अनुभव नहीं कर सकते। आपके बिना तो हमे केवल हर्षसे ही वंचित होना पड़ता है।

घटत'—जिह्वासे नामके उच्चारणमात्रसे पाप इस तरह भस्म हो जाते हैं जैसे रूईका पर्वत अग्निके स्पर्शसे। यथा 'तूलअघ नाम पावक समानं ।५४ (८)।', 'जासु नाम पावक अघतूला। सुमिरत सकल सुमंगल मूला ।२।२४८।२।', 'अज्ञानादथवा ज्ञानादुत्तमश्लोकनाम यत्। संकीर्तितमघं पुंसो दहेदेधो यथानलः। भा० ६।२।१८।' (अर्थात् उत्तमश्लोक भगवान्‌के नामका कीर्तन जानकर या बिना जाने किया हुआ सम्पूर्ण पापोंको भस्म कर देता है, जैसे अग्नि ईंधनको)। असंगलका नाशक और मगल करनेवाला है, यथा 'भाय कुभाय अनख आलसहू। नाम जपत मंगल दिसि दसहू ।१।२८।१।', 'सुमिरत समन सकल जगजाला।१।२७।५।', 'हरन अमंगल अघ अखिल, करन सकल कल्यान। रामनाम नित कहत हर गावत वेद-पुरान। दो० ३५।'

टिप्पणी—२ 'बिनु श्रम कलि कलुष जाल ···' इति। (क) 'बिनु श्रम' का भाव कि योग, यज्ञ, तप, तीर्थाटन आदि अन्य साधनोंमें शरीरको बड़ा कष्ट होता है, तो भी साधारण पापका भी नाश नहीं हो पाता और रामनामके जपसे बिना परिश्रम कलिके समस्त विकराल पापोंके समूहका समूह नष्ट हो जाता है, छोटे पापोंकी तो बात ही क्या? बिना श्रम कहा, क्योंकि आरामसे बैठे केवल जिह्वाको हिलाना मात्र है। (ख)—'कलिकलुष-जाल कटत', यथा 'नाम कलिकलुष भजनमनूपं।' ४६ (६ घ) देखिए। जालका कटना कहा, इस तरह कलिको मोहजालमें फँसानेवाला जनाया। 'जाल' चिड़ियोंको फाँसता है, पाप जीवको भव-पाशमें फाँसते हैं।

२ (ग) 'दिनकरके उदय···'—यह 'बिनु श्रमका उदाहरण है। सूर्यके उदय होते ही घोर अन्धकार नष्ट हो जाता है, सूर्यको कोई परिश्रम नहीं करना पड़ता। इसी प्रकार रामनामके उच्चारण मात्रके प्रतापसे पाप नष्ट हो जाते हैं। पूर्व भी कहा है 'सहित सहाय कलिकाल भीरु भागिहै ।७०(२)।' मानसमें भी कहा है 'बिनु श्रम प्रबल मोह दल जीती ।१।२५।'

२ (घ) यहाँ तक तीन चरणोंमें रामनामका महत्व दिखाकर मनको दृढ़ करते हैं। पापोंको कटु कराल कहा। क्योंकि इनका परिणाम त्रिताप, पंचक्लेश, आदि कड़वे हैं (इन्हें कोई नहीं चाहता) और भयंकर हैं क्योंकि चौरासीमें बारम्बार भ्रमण कराते हैं।

टिप्पणी—३ 'जाग जोग···' इति। अब अन्य साधनोंकी असमर्थता दिखाकर मनको नाममें दृढ़ करते तथा अन्य साधनोंकी ओरसे हटाते हैं। जप,तप, तीर्थ, योगकी असमर्थता पिछले पदमें दिखा आए और उसीके साथ

यज्ञ और विरागकी अशक्तता कही गई।१२८ (२ क) 'जप तप तीरथ जोग समाधी' में देखिए। वहाँ बताया था कि इन सबोंमे विघ्न हैं और अब बताते हैं कि वे निर्विघ्न पूरे हो भी जायँ, तो भी वे भवको बाँध अर्थात् रोक नही सकते। यज्ञ-योग आदि जो तू करता है वह तेरा कर्म ऐसा है मानों गजराजको बाँधनेके लिये तू बालूकी रस्सी बँट रहा है। भाव कि बालूकी रस्सी एक तो बन नहीं सकती, बन भी जाय तो उठाते ही टूट-फूट जायेगी। जैसे गजेन्द्रके बाँधनेका वह उपाय व्यर्थ, वैसे ही भवको बाँधनेके लिए यज्ञ, योग आदि साधन व्यर्थ हैं। उनमें लगना मूर्खता है। इसमें 'असंभव प्रमाण अलंकार' है। व्यंग्यार्थमें दृष्टान्तका भाव यह है कि जैसे गजेन्द्र लोहेकी मोटी जंजीरसे बाँधा जा सकता है, वैसे ही 'भव' एकमात्र रामनामस्मरणसे बँध सकता है। 'रेणु (बालू या धूल) की रस्सी बटना' मुहावरा है। अर्थ है—'ऐसी बातके लिये श्रम करना जो कभी हो न सके', 'अनहोनी बातके पीछे पड़ना', 'व्यर्थ परिश्रम करना'।

टिप्पणी—४ 'परिहरि सुरमनि ···' इति। (क) इसका संबंध भी 'जाग जोग···' से है। अर्थात् यज्ञ-योगादिमें लगना ऐसा ही है, जैसे देवमणिको त्यागकर घुँघुचीका ग्रहण करना। रामनाम चिन्तामणि है, यथा 'पायो नामचारु चिंतामनि उर-कर ते न खसैहौं। १०५।' चिन्तामणिके भाव—१०५ शब्दार्थ, ८६ श०, १०५ (२ क) में देखिए। 'गुंजा'—घुँघुची नामकी मोटी लता जो जंगलमे बड़ी-बड़ी झाड़ियोंपर फैलती है और जिसकी फलियोंमें से अरहरके बराबर खूब लाल लाल दाने निकलते है। ये ही गुंजा वा घुँघुची के नामसे प्रसिद्ध हैं। इनका सारा अंग लाल होता है, केवल मुखपर छोटासा काला छींटा रहता है जो बहुत सुंदर लगता है। यह तुच्छ वस्तु है, रत्ती आदिकी जगह तौलनेमें काम आती है। मुलेठी इस लताकी जड़ है।

गुंजा देखनेमें सुन्दर है, पर उसका मूल्य कुछ नहीं, उससे दूसरी वस्तु मोल भी नहीं ले सकते। इसी तरह यज्ञ-योग आदि साधन देखने मात्रके सुन्दर हैं, इनका मूल्य तुच्छ है। ये केवल तुच्छ नश्वर विषय सुखके देनेवाले हैं, भव-निवारण नहीं कर सकते। देखनेमें सुन्दर कहनेका भाव कि ये 'सुनत मधुर नरस।१३१।' हैं, इनके फल सुनकर लोग प्रसन्न हो जाते हैं, स्वर्ग आदि तुच्छ विषयोंके लोभमें पड़ जाते हैं। ये नित्य अविनाशी सुख नहीं दे सकते, भव नहीं छुड़ा सकते। और रामनाम चिन्तामणि है, चिन्तन करनेसे अर्थ, धर्म, काम तो देता ही है, साथही मोक्ष भी देता है। तुच्छ गुंजाका सुंदररूप देख उसे बटोर लेना और

चिन्तामणिको छोड़ देना मूर्खता है, वैसेही रामनामको छोड़कर तुच्छ साधनोंमें लगना मूर्खता है।

४ (ख) सांसारिक विषयसुख देनेवाले साधनों में लगना 'लघु लालच' है। इससे जनाया कि राम-नाम स्मरण रूपी बड़ी वस्तुके लिये ललचा। छोटी लालच न कर, चिन्तामणि बड़ी वस्तुकी लालच कर।

नोट—२ रामभक्तिरूपी चिन्तामणिके गुण जो मानसमें कहे हैं, वे सब नाम-चिन्तामणिमें भी हैं, क्योंकि रामनाम स्मरण रामभक्ति ही है। वे गुण ये है—मोह, लोभ, अविद्या, कामक्रोधादि तथा त्रिताप आदिका नाशक और स्वस्वरूपका प्रकाशक है। (७।१२०।३-९)।

श्रीसीतारामचन्द्रार्पणमस्तु।

पद १३०

राम राम राम राम राम राम जपत।
मंगल मुद उदित होत कलिमल छल छपत ॥१॥
कहु के[1] लहे[2] फल रसाल बबुर बीज बपत।
हारहि जनि जनम जाय गाल-गूल गपत ॥२॥
काल करम गुन सुभाव[3] सब के सीस[4] तपत।
राम नाम महिमा की चरचौ[5] चलें चपत ॥३॥
साधन बिनु सिद्धि सकल बिकल लोग लपत।
कलिजुग वर बनिज[6] विपुल नाम-नगर खपत ॥४॥
नाम सों प्रतीति प्रीति हृदय सुथिर थपत।
पावन किये[7] रावनरिपु तुलसिहु[8] से अपत ॥५॥

शब्दार्थ—छपत-बरवारदेशमें 'छपना' काटने के अर्थमें और पंजाबी भाषामें हिन्दी भाषाके 'छिपना' अर्थमें प्रयुक्त होता है। (सं० क्षपण)=

१ कै—रा०। के—भा०, बे०, ७४, ५१, आ०। केहि—ह०। २ लह्यो—ह०। लहै—प्र०, ज०, १५। ३ सुभाउ—ज०। ४ सिर—७४। ५ चरचौ—भा०, बे०, ह०। चरचो—रा०, छु०, ज०। चरचा—५१, ७४, प्र०, आ०। ६ बनिज बिपुल—रा०, ५१, ७४, आ०, ज०। बिपुल बनिज—भा०, बे०, ह०, प्र०। ७ किये—रा०, ह०, ज०, भ०। किय—भा०, बे०, ७४, आ०। ८ तुलसिहु—रा०, ह०, ५१, ७४, आ०। तुलसिहूँ—भा०, बे०।

छिप जाना, विनाश होना; 'यथा छोनीमें न छाँड्यौ छाप्यौ छोनिपको छौना छोटो, छोनिप-छपन बाँकी बिरद बहतु हौं। क० १।१८।' रसाल=आम। बपत (सं० वपन)—बपना=बोना। जन्म हारना=जीवन व्यर्थ खोना।= जीवन लगा देना, यथा 'अब मैं जनम संभुहित हारा।१।८१।२।' हारना= गँवाना; नष्ट करना; दाँव या बाजीमें दे देना। गाल गूल=मिथ्यालाप; अनाप-शनाप; अंड-बंड। गूल (फा० गुल)=शोर। गपत=गप्प लगाते; बकते। तपत=तपा रहे हैं; अपना आतंक प्रभाव या बल दिखा रहे हैं; दुःख देते हैं। चरचौ=चर्चा (किंचित् कथन) भी। चपना (सं० चपन= कटना; कुचलना)=दब जाना। लपत=कहते हैं। (पं० रामकुमार, चर-खारी०)।=लपकते हैं, लेना चाहते है।—(दीनजी)। बनिज (वाणिज्य)= व्यापारकी वस्तु; सौदा; व्यापार। खपना=काममें आना; समाई होना; चल जाना; बिक जाना; खर्चमें आ जाना। सुथिर=बहुत दृढ़, एकरस अचल। थपना=स्थापित करना; जमाना। अपत=महापापी। यथा 'अपत अजामिल गज गनिकाऊ। भये मुकुत हरि नाम प्रभाऊ।१।२६।७।'

पद्यार्थ—राम राम राम राम राम राम जपनेसे मंगल और आनन्दका उदय होता है; कलिके पाप और छल नष्ट हो जाते हैं। १। भला कह तो सही, बबूलका बीज बोकर आमका फल किसने पाया है? मिथ्या-लाप और व्यर्थ बकवाद वा गप्प लगानेमें अपना जन्म व्यर्थ न गँवा। २। काल, कर्म, गुण और स्वभाव सभीके सिर तपा रहे हैं; (किन्तु) रामनामके माहात्म्यकी चर्चामात्र भी चलते ही वे दब जाते हैं। ३। 'साधन बिना समस्त सिद्धियाँ (कैसे)? विकल लोग (ऐसा) कहते हैं (अथवा सब लोग व्याकुल होकर बिना साधनके सिद्धियोंके लिये लपकते हैं। वा, बिना सिद्धिके साधनके लिए लोग व्याकुल होकर लपकते हैं)। कलियुगमें बड़ा-से-बड़ा सौदा भी नाम-नगरमें खप जाता है* ।४। हृदयमें श्रीरामनाममें विश्वास और प्रेम अत्यन्त दृढ़ जमा लेनेसे रावणारि (श्रीरामजी) ने (मुझ) तुलसीदास ऐसे महापापीको भी पवित्र कर दिया।५।

टिप्पणी—१ 'राम राम राम....' इति। (क) पूर्व पदोंमें किये हुए उप-देशोंको और दृढ़ करते हैं। 'राम राम राम, राम राम राम' से जपनेकी बिधि बताई कि इस प्रकार लगातार लयके साथ बार-बार राम नाम

* अर्थान्तर—'कलियुगमें (ऐसे) उत्तम व्यापारी बहुत है, नामनगरमे खप जाते हैं'। (वै०)

जपना चाहिए। यथा 'सदा राम जपु राम जपु राम जपु राम जपु राम जपु मूढ मन बार-बारं।४६।' [टीकाकारोंने छः बार 'राम' शब्द देनेके अनेक भाव कहे हैं। पाठकोंके विनोदार्थ वे यहाँ लिखे जाते हैं—(१) राम नाममें षट् वस्तु प्रसिद्ध हैं। (श्री० श० शिवरहस्यका प्रमाण देकर लिखते हैं कि "र अ-अ, म-अ, ये पाँच अवयवभूता मात्राएँ हैं। ....सानुनासिक मकारमें 'म' पर 'ँ' यह अर्धचन्द्र भी आ जाता है, वह राम नामकी छठी मात्रा है")। रामतारकमन्त्रमें षडक्षर हैं। अतः छः बार कहा। अथवा, शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध और मैथुन षडिन्द्रिय विषय हैं इससे; अथवा, काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य इन षट् विकारोंके निरोधार्थ; अथवा, षट्वार श्वासप्रति उच्चारणका नियम सूचित करनेके लिये छः बार कहा। (वै०)। (५) षटशास्त्रोंका यह मत है यह सूचित किया।—(दानजी) (६) षट् प्रयोगकी सिद्धि करनेवाला है, यह जनाया। (७) राम-तारक-मंत्रमें ओंकारकी षट मात्राएँ वर्तमान हैं, अतः प्रणव राममें सन्निहित है, यह दिखाया गया है। (वै०, वि०)]

१ (ख) 'मंगल मुद उदित''''' इति। नामजपसे मुद (मानसी आनंद) और मंगल (बाह्योत्सव आदि) होते हैं, यथा 'रामनाम कलि कामतरु सकल सुमंगल कंद। सुमिरत करतल सिद्ध सब पग पग परमानंद। दो० २७', 'नामु सप्रेम जपत अनयासा। भगत होहिं मुद मंगल बासा।१।२४।१' पिछले पदमें सुख सुकृतका बढना और अघ अमंगलका घटना कहा था और यहाँ 'मुद मंगल' का उदय तथा कलिकमलका सर्वथा नाश कहा। कलिमल=कलिकलुषजाल (१०६)। कलिके कपट छलका भी नाशक नाम है, यथा 'कालनेमि कलि कपटनिधानू। नाम सुमति समरथ हनुमानू। १।२७।८।' कलि बड़ा छलिया है, इसने नल, परीक्षित आदिके साथ छल किया। यथा 'बीच पाइ नीच बीच ही नल छरनि छर्‍यो हौं। हौं सुबरन कुबरन कियो, नृप तें भिखारि करि, सुमति तें कुमति कर्‍यो हौं।२६६।', अकनि 'याके कपट करतब अमित अनय अपाय। सुखी हरिपुर बसत होत परीछितहि पछिताय।२२०।', 'सोची कहौं कलिकाल कराल मैं ढारो बिगारो तिहारो कहा है। कामको कोहको लोभको मोहको मोहि सों आनि प्रपंच रचा है।क०७।१०१।'

टिप्पणी—२ (क) 'कहु के लहे फल रसाल''''' इति। किसीने कहा है 'बीज बोवे बबूरका, आम कहाँ ते हाय।' बबूलका बीज बोकर आम किसने पाया? भाव कि किसीने नहीं पाया। जिस वृक्षका बीज बोया

जाता है, उसीका फल मिलता है, यह प्राकृतिक नियम है; बबूलका बीज बोनेसे बबूल और आमका बीज बोनेसे आम मिलेगा। यथा 'बवा सो लुनिअ।२।१६।५।' भाव कि रामनाम छोड़ अन्य साधनोंसे सद्गति किसीने नहीं पाई। ☞यहाँ रामपद प्राप्ति, सद्गति, वा मोक्ष आमका फल है, जो रसयुक्त है (इसीसे रसाल नाम है)। रामनाम उसका बीज है। रामनाम जपना मोक्षका बीज बोना है। इससे मोक्ष फल मिलेगा (और हरिपदरति उस फलका रस है। यथा 'हरिपद रति-रस बेद बखाना।१।३७।') अन्य साधन बबूलके बीज हैं जो 'बासना बल्लि खर कंटकाकुल' विपुल विषय सुखरूपी सारूपी फलके देनेवाले हैं। इस दृष्टान्तसे इतनी ही समता दिखाई गई है कि अन्य साधनों (तथा गालगूलगप) से भवसे छुटकारा नहीं मिल सकता।

[वै०—बबूलमें काँटे बहुत और फल किसी कामके नहीं। काम-क्रोधमय वासनासहित कर्म करना बबूलका बीज बोना है। उसमें जो अनेक विघ्न होते हैं, वही काँटे हैं। परहानि, परस्त्री प्राप्ति आदि उसके फल हैं जो देखने मात्रके हैं और अन्तमें अहित करनेवाले हैं। रामनाम आमका वृक्ष है जिससे रामरूपफल प्राप्त होता है।]

२ (ख) 'हारहि जनि जन्म जाय·····' इति। 'जन्म व्यर्थ मत गँवा' यह दीपदेहलीन्यायसे दोनों ओर लगता है। बबूल का बीज बोकर रसालफलकी आशा न कर, उसमें व्यर्थ जीवन चला जायगा, रामनाम जपकर जन्मको सफल कर ले। यह कहकर यह भी उपदेश देते हैं कि अन्य साधनोंका त्याग ही न कर, वरन् उनकी प्रशंसा भी न कर, उनकी प्रशंसा करनेसे फिर उनमें लुभा जायगा और जन्म व्यर्थ हो जायगा। गालगूल गप्प आपातरमणीय है, बोलनेमें सुखकर प्रतीत होता है। वैसे ही स्वर्गादि तथा उनके देनेवाले सब साधनोंकी चर्चा आपातरमणीय है, परन्तु अन्तमें पुनः पुनः जन्म देनेवाली है। अतः इसमें जन्म न गँवा। 'गालगूल' से अन्य समस्त विषयवार्ताका भी ग्रहण हो जाता है।

टिप्पणी—३ 'कालकर्म गुन सुभाव·····' इति। (क) काल-कर्मादिका प्रभाव सबपर पड़ता है, इसीसे लोमशजीने भुशुण्डीजीको आशीर्वाद दिया है कि 'काल करम गुन दोष सुभाऊ। कछु दुख तुम्हहि न ब्यापिहि काऊ।७।११४।' 'सब' से जनाया कि छोटेसे छोटे जीवसे लेकर ब्रह्मापर्यन्त सभी जीव इनके अधीन हैं। इस कथनसे कालादिकी प्रबलता दिखाई। यथा 'अंडकटाह अमित लयकारी। काल सदा दुरतिक्रम भारी।७।९४।'; 'जो जस करइ सो तस फलु चाखा।२।२१९।', (यह शुभाशुभकर्मकी प्रबलता

है); 'गुन कृत संनिपात नहिं केही। कोउ न मान मद तजेउ निबेही।७।७१'। 'काल सुभाउ करम बरिआई। भलेउ प्रकृति बस चुकइ भलाई।१।७।२'; इन चारोंके घेरेमें पड़कर जीव चौरासीमें भ्रमण करता है। यथा 'आकर चारि लच्छ चौरासी। जोनि भ्रमत यह जिव अविनासी। फिरत सदा माया कर प्रेरा। काल कर्म सुभाउ गुन घेरा।७।४४।४-५।' काल—५४ (२ च); कर्म—५६ (२ख), ५८ (नोट ४), ६८ (२ क), ७६ (२ ख, ग), ५७ (८ क-ख); गुण—५३ (६ ग, घ, ङ); ४६ (७ घ) में देखिए।

३ (ख) 'राम नाम महिमा की चरचौ·····' इति। भाव कि ऐसे प्रबल काल आदि भी श्रीरामनामश्रितको दुःख नहीं दे सकते। नाम-जप तो दूर रहा, उसकी महिमाके वर्णनमात्रसे वे सब दब जाते हैं, तब जहाँ नाम-संकीर्तन होगा वहाँका प्रभाव ही क्या कहा जाय? वहाँसे तो वे भाग ही जाते है। नाम महाराज इन सबोंसे रक्षा करते हैं, यथा 'चहुँ जुग तीनि काल तिहुँ लोका। भये नाम जपि जीव बिसोका रामनाम नरकेसरी कनककसिपु कलिकाल। जापक जन प्रहलाद जिमि पालिहि दलि सुरसाल। १।२७।', 'काल-करम सुभाउ गुन भच्छक।७।३५।८'—(यह श्रीरामजीके सम्बधमें कहा गया है। नाम-नामी अभेद हैं। ☞ इस उदाहरणमें भाव यह है कि रामनामकी महिमाकी चर्चामात्रसे ये दब जाते हैं, क्योंकि श्रीरामजी इन सबको खा डालते हैं; अतः इनकी कृपासे ही जीव इनके घेरेसे निकल सकता है। अतः इनका भजन कर, इनका नाम जप। श्रीरामराज्य में सब अवधवासी 'राम गुन गान' करते थे, इसीसे 'बिबिध कर्म गुन काल सुभाऊ। ये चकोर सुख लहहिं न काऊ।७।३१।', 'काल कर्म सुभाव गुनकृत दुख काहुहि नाहिं।७।२१।'—अतः रामनाम गुणगान किया कर मिथ्यालापके बदले यह कर और नाम जप।

टिप्पणी—४ 'साधन बिनु सिद्धि सकल·····' इति। (क) इस अन्तराके तीन अर्थ पदार्थ में दिये गए हैं। बैजनाथजी, भट्टजी, दीनजी, वियोगीजी आदिने प्रायः यही अर्थ किया है कि "बिना साधन (जप, यज्ञ, योग, तप आदि) के लोग सिद्धियोंकी ओर व्याकुल होकर लपकते हैं। पर यह कैसे सम्भव है? कलियुगमें कोई साधन निर्विघ्न पूरे नहीं होते। साधन करनेपर भी सिद्धि प्राप्त होना कठिन है, तब बिना साधनके सिद्धि क्योंकर प्राप्त हो सके?"

४ (ख) पं० रामकुमारजी तथा चरखारी टीकाकारने इस तरह अन्वय किया है—'साधन बिना सिद्धि सकल? बिकल लोग (ऐसा) लपत।' अर्थात् अज्ञ लोग कहते है कि 'बिना साधनके समस्त सिद्धियाँ (कैसे)?

विकल लोग यह नहीं जानते। अतः इसी बातको अगले चरणमें कहते हैं कि कलियुगमें श्रेष्ठ अर्थात् बड़े-बड़े मूल्यवाले जितने बहुतसे वाणिज्यरूपी धर्म हैं, वे सब श्रीरामनामरूपी नगरमें खप जाते हैं। तात्पर्य कि समस्त धर्मोंका फल एकमात्र रामनामसे मिल जाता है; यथा 'जथा भूमि सब बीजमय नखत निवास अकास। रामनाम सब धरममय जानत तुलसीदास। दो० २९।'

यहाँ सुकृती व्यापारी है, सुकृत वाणिज्य है। वाणिज्यसे द्रव्य मिलता है, सुकृतसे फल मिलता है। वहाँ व्यापारीको नागरिक लोग देते हैं, यहाँ रामनाम देता है। सारांश कि सब सुकृत करे और भगवन्नाम न ले तो फल नहीं मिलनेका।

☞ 'लपन, प्रलपन', ये संस्कृत भाषाके शब्द हैं। लपन=मुख=भाषण; कथन। प्रलपन=कथन।=बकवाद करना; बकना। इन्हींसे गोस्वामी-जीने भाषाका 'लपना', 'लपत' शब्द बनाया। लपना=कहना; बकना। लपत=कहते हैं; बकते है। विकल=व्याकुल; घबड़ाये हुए। पं० रामकुमार-जीने 'अज्ञ' अर्थ किया है। कोशमें इसका एक अर्थ 'असमर्थ' भी मिलता है।

आजकल भी स्वाभाविक ही रामनामके अविश्वासी मूर्ख लोग ही नहीं, किन्तु विद्वान् लोग भी ऐसा कह उठते हैं—"क्या गुड़गुड़ कहनेसे मुँह मीठा हो जायगा? रामनामकी प्रशंसा सब अर्थवाद है। इत्यादि।" गोस्वामीजीके समयमें भी ऐसे मूर्ख अविश्वासी पंडित कम न थे, जैसा उनकी जीवनीसे प्रकट है। हत्यारेकी कथा सबने सुनी है। अतएव पं० रामकुमारजी तथा चरखारी टीकाकारका अर्थ ठीक ही है।

४ (ग) एक अर्थ यह भी हो सकता है कि "सब साधन बिना सिद्धिके हो गए" अर्थात् किसी साधनसे सिद्धि प्राप्त नही होती, व्याकुल होकर लोग ऐसा कहते है। (उसपर कहते हैं कि रामनामके सम्बन्धमें यह बात नहीं है) नामनगरमें सब व्यापारकी खपत है, यहाँ सबकी सिद्धि होती है।

४ (घ) महात्मा भगवानसहायजीने अर्थ किया है कि "साधन बिना सिद्धि अर्थात् जिस साधनमें सिद्धि नहीं है उसीके लिए लोग व्याकुल होकर लपते अर्थात् चाह करते हैं। और नाम कैसा है कि 'कलिजुग···'; (सो इसकी चाह नहीं करते)।"

४ (ङ) 'कलिजुग बर बनिज·····' इति। 'बर बनिज' क्या है, इसमें भी मतभेद है। पं० रामकुमारजीका मत ऊपर टि० ४ (ख) में आ गया कि श्रेष्ठ श्रेष्ठ धर्म (यज्ञ, योग, तप, दान आदि) ही 'बर बनिज' हैं।

कलियुगमें बिना परिश्रम रामनामजपसे उत्तमोत्तम फलकी प्राप्ति हो जाती है। बिना साधनके सिद्धि होनेसे उसके सौदे और व्यापारको 'वर' (श्रेष्ठ) कहा। यथा "सुन व्यालारि काल कलि मल अवगुन आगार। गुनउ बहुत कलिजुग कर विनु प्रयास निस्तार॥ कृतयुग त्रेता द्वापर पूजा मख अरु जोग। जो गति होइ सो कलि हरि नाम ते पावहिं लोग।७।१०२।', ९५ (२ घ) में और प्रमाण देखिए।

'कलिजुग वर बनिज' का अर्थ 'कलियुगमें वर वाणिज्य' यहाँ किया गया। वीरकविने भी यह अर्थ किया है। प्रायः अन्य टीककारोंने 'कलियुगका वरवनिज' अर्थ किया है। इस मतके अनुसार कलिका सौदा पाप' है, यथा 'कलिमल अवगुन आगार।७।१०२।', 'कलि केवल मलमूल मलीना।' 'यह कलिकाल मलायन', इत्यादि। पाप जितना ही कटु, कराल और अधिक होगा उतना ही वह कलियुगका भारी अमूल्य और श्रेष्ठ सौदा होगा। श्रेष्ठ बहुमूल्य सौदेके ग्राहक कम मिलते हैं, अतः कलियुगके सम्बन्धसे उसके भारी-भारी पाप-व्यापार को 'वर' कहा।

वैजनाथजीने इस प्रकार अर्थ किया है—'बिना साधन किये सबलोग सिद्धि प्राप्तिके लिए व्याकुल होकर लपकते हैं। (अर्थात् बिना जोते-बोये काटना चाहते हैं, बिना दामोंके अन्न, वस्त्र, भूषण, चाँदी, सोना, जवाहिरात खरीदना चाहते हैं)। ऐसे 'वर बनिज बिपुल'(इस प्रकारके उत्तम व्यापारी खरीदार) कलियुगमें बहुत हैं।

'कलियुगमें ऐसे खरीदार बहुत हैं' कथनका भाव कि जितना धन मनुष्यके पास होता है, उसीके अनुकूल मूल्यवाली वस्तु वह खरीदता है। इसी प्रकार अन्य युगोंमें जितना साधन परिश्रमरूप धन साधक अपनेमें देखता था उसके अनुकूल फलरूपी वस्तुका ग्राहक होता था, इसीसे अन्य युगों में 'वर बनिज' उत्तम ग्राहक बहुत नहीं होते थे। परन्तु इस युग में साधन परिश्रमरूप धन तो किसीके पास है नहीं और ग्राहक हैं सभी सिद्धिरूप रत्न के। अतः कहा कि इस युगमें 'उत्तम व्यापारी' बहुत हैं (बड़े मूल्यकी वस्तु चाहते हैं)।

ऐसे व्यापारियों खरीदारोंकी खपत नाम-नगर में हो जाती है। अर्थात् बिना साधन केवल नामोच्चारणसे कलियुगी जीवोंको सब सिद्धि प्राप्त हो सकती है। जैसे अजामिल और यवन आदिको।

४ (च) 'नामनगर खपत' इति। भाव कि रामनामरूपी नगरको छोड़कर यागनगर, यज्ञनगर, जपनगर इत्यादि जितने भी साधनरूपी नगर हैं, उनमेंसे किसीमें एवं सबमें मिलकर भी कलियुगके कटु कराल पापोंरूपी

भारी सौदेकी खरीदका सामर्थ्य नहीं, यथा 'करतहुँ सुकृत न पाप सिराहीं' भाव कि इन साधनोंसे पाप नष्ट नहीं हो सकते।

इस अर्थके अनुसार यहाँ कलियुगी पुरुष अथवा नामजापक व्यापारी है, उसके निषिद्ध कर्त्तव्य (कटु कराल कलुष जाल) को 'बर बनिज' भारी माल कहा। बड़े मालकी खपत बड़े नगरोंमें ही होती है। इस संबंधसे रामनामको नगर कहा। 'कलियुगका भारी सौदा नाम-नगरमें खप जाता है'—इसका भाव यह है कि रामनाममें समस्त पापोंके नष्ट करनेका सामर्थ्य है। नाममें जितनी शक्ति पापनाश करनेकी है, उतने पाप असंख्यों जन्मों में भी कोई कर नहीं सकता। यथा 'नाम्नोश्च यावनी शक्तिः पापनिर्दहने मम। तावत् कर्तुं न शक्नोति पातकं पातकी जनः।' (स्कंद पु० वै० मा० मा० १९।५३)।—६९ (५ क) देखिए।

४ (छ) सौदा बिक जाने पर व्यापारीको लाभ होता है, इसी तरह नाम-जापकको अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष सबकी प्राप्तिरूप धनका लाभ होता है। बड़ा लाभ होने से उसके सौदेको 'बर' कहा। (ङु०, रा० त० बो०, भ० स०)।

टिप्पणी—५ 'नाम सों प्रतीति प्रीति·····' इति। (क) ऊपर रामनामकी महिमा कही। महिमा जाननेसे प्रतीति होती है तब प्रीति, यथा 'जानि न जाइ राम प्रभुताई॥ जानें बिनु न होइ परतीती। बिनु परतीति होइ नहिं प्रीती॥७।८९।६-७।' उसी क्रमसे यहाँ कहा। नाममें प्रतीति और प्रीति आवश्यक है, नहीं तो उसमें तत्परता और दृढ़ता न होगी और फिर 'कवनिउ सिद्धि कि बिनु बिस्वासा'। यथा 'तुलसी बिनु परतीति प्रीति फिरि पचि मरै मरो सो।१७३।', 'प्रीति प्रतीति जहाँ जाकी तहँ ताको काज सरो। २२६।'—४६ (१ घ) देखिए।

५ (ख) 'हृदय सुथिर थपत'—गोस्वामीजीकी दृढ़ प्रतीति प्रीति नाममें थी। यथा 'बिस्वास एक रामनाम को। मानत नहीं परतीति अनत ऐसोइ सुभाव मन बाम को। १५५।', 'भरोसो जाहि दूसरो सो करो। मोको तो राम को नाम कल्पतरु कलि कल्यान फरो॥.......संकर साखि जो राखि कहौं कछु तौ जरि जीह गरो। अपनो भलो रामनामहिं तें तुलसिहि समुझि परो। २२६।', 'साधत साधु लोक परलोकहिं सुनि गुनि जतन घनेरें। तुलसी के अवलंब नाम ही को एक गाँठि कोटि फेरे। २२७।', 'राम नाम मातु पितु स्वामि समरत्थ हितु, आस रामनाम की भरोसो रामनाम को। प्रेम रामनाम ही सों नेम रामनामही को....राम की सपथ सरबस मेरे रामनाम·····॥क० ७।१७८।', 'कलिकालहुँ नाथ नाम सों प्रतीति प्रीति एक किंकर की निबही है। २७९।'

बैजनाथजीने—'हृदयको सुन्दर भाँतिसे स्थिर करके शुद्धतासहित अचल कर देता है'—यह अर्थ भी किया है। (यथा 'राम जपु जीह जानि प्रीति सों प्रतीति मानि रामनाम जपे जैहै जियकी जरनि।२४७।'

५ (ग) 'पावन किये.....' इति। प्रमाणमें अपनेको देते हैं कि देखो मैं प्रत्यक्ष प्रमाण हूँ। इसी प्रकार अन्यत्र भी अपनेको प्रमाणमें दिया है। 'छलौ मलीन हीन सबही अंग.....' ९९ (४ ङ) में देखिए। मुझ ऐसे अधमको पावन कर दिया, पूज्य बना दिया। यथा 'अपत-उतार अपकारको अगारु जग, जाकी छाँह छुएँ सहमत ब्याधि-बाधको। पातक-पुहुमि पालिबेको सहसाननु सो, कानन कपटको पयोधि अपराधको॥ तुलसीसे बामको भो दाहिनो दयानिधानु, सुनत सिहात सब सिद्ध साधु साधको। रामनाम ललित ललाम कियो लाखनिको, बड़ो कूर कायर कपूत कौड़ी आधको। क० ७।६८।', 'मानस बचन काम किय पाप सतिभाय, रामको कहाइ दास दगाबाज पुनी सो॥ रामनामको प्रभाउ पाउ महिमा प्रतापु, तुलसी सो जग मनिअत महामुनी सो। क० ७।७२।'

श्रीसीतारामचन्द्रार्पणमस्तु।

१३१

पावन[1] प्रेम राम चरन कमल[2] जनम लाहु[3] परम।
राम नाम लेत होत सुलभ[4] सकल धरम॥१॥
जोग मख बिबेक बिरति बेद बिदित[5] करम।
करिबे कहुँ कटु कठोर सुनत मधुर नरम॥२॥
तुलसी सुनि जानि बूझि भूलहि जिनि भरम।*
तेहि प्रभु[6] को तू होहि जाहि सबहि की सब[7] सरम॥३॥

---

१ पावन—७४ मे नही है। २ कमल—रा०, ७४, ङु०, मु०, भ०, वि०, पो०, ५१। भा०, वे०, वै०, दीन, ह० मे नही है। ३ लाभु (लाभ)—रा०, ह०, प्र०, ज०, च०। लाहु—भा०, वे०, ७४, श्रा०। ४ सफल—७४। ५ विदित—भा०, वे०, ७४, श्रा०। विहित—ह०, दीन, ज०। *इस अन्तिम चरणमे बड़ा पाठ-भेद है। ७४ और मु० मे 'तेहि' नही है। ६ 'को तू होहि जाहि सबहि की'—इतना अंश प्रायः रा०, ५१, ङु०, वै०, मु०, ज० मे मिलता-जुलता-सा है। 'की तू सरन होहि जेहि सबकी'—भा०। की सरन होहि जेहि सबही की—ह०। की सरन होहि जेहि सबकी—वे०। ७ सब—रा०। औरोमे नही है।

शब्दार्थ—मख=यज्ञ। विदित=प्रसिद्ध; विहित; कहे हुए। पावन=पवित्र; निष्कपट; निष्काम; निष्केवल। करिबे कहुँ=करनेमें। नरम=मुलायम; कोमल, सुखद वा सहज साध्य। भूलना=धोखेमें आ जाना; लुभा जाना। भरम (भ्रम)=धोखा; भ्रान्ति। सरम (शरम)=लज्जा; लाज।

पद्यार्थ—श्रीरामके चरणकमलोंमें पवित्र प्रेम होना जन्म लेनेका (अर्थात् जीवनका) सर्वश्रेष्ठ लाभ है। राम नाम लेते ही सारे धर्म सुलभ हो जाते हैं।१। योग, यज्ञ, विवेक और वैराग्य (आदि) वेदोंमें कहे हुए (समस्त) कर्म सुननेमें (तो) मीठे और सुखद (लगते हैं पर) करनेमें कड़वे और कठोर (बड़े कठिन, कष्टसाध्य, दुःखद) हैं।२। तुलसीदासजी कहते हैं (वा, हे तुलसी!) तू सुनकर, जानकर और समझकर इनके धोखेमें भूल न जा, तू उस प्रभुका हो जा जिसको सबकी सब लाज है।३।

टिप्पणी—१ (क) 'पावन प्रेम' इति। वह प्रेम जो केवल प्रेमके ही लिये किया जाय; अर्थात् अकारण, हेतुरहित, निष्केवल प्रेम ही 'पावन' है। इसीको निःस्वार्थ, निष्काम, निष्कपट प्रेम कहते हैं। अर्थ, धर्म, काम एवं मोक्ष आदिकी भी चाहसे प्रेम करना 'पावन प्रेम' नहीं है। इनकी भी चाह न हो। प्रेम करते हैं, क्योंकि हमसे विना प्रेम किये रहा ही नहीं जाता,—ऐसा प्रेम श्रीरामजीके चरणोंमें होना ही जन्मका 'परम लाभ' है। भाव यह कि जीवको इस प्रेमकी प्राप्ति करना ही कर्तव्य है। ऐसे प्रेमको चारों फलोंका फल कहा गया है। यथा 'स्वारथ परमारथ रहित सीताराम सनेह। तुलसी सो फल चारि को फल हमार मत एह। दो० ९०।' मानसमें ऐसा प्रेम श्रीलक्ष्मणजी, श्रीभरतजी तथा श्रीसीताजीमें दिखाया गया है। यथा 'इन्ह कै प्रीति परस्पर पावनि। १।२१७।३।', 'प्रीति पुनीत भरत कै देखी।१।२६१।२।', 'सुमिरि सीय नारद बचन उपजी प्रीति पुनीति। १।२२९।' श्रीहनुमान्जी और श्रीशंकरजीकी भी प्रीतिको पराकाष्ठाकी प्रीति कहा है, यथा 'साहिब सेवक रीति प्रीति परमिति नीति नेमको निबाह एक टेक न टरत।२५१।' वानरोंके प्रेमको निष्केवल कहा है, इत्यादि।

१ (ख) 'जनम लाभु परम' इति। 'परम' लाभ अर्थात् इससे बढ़कर दूसरा लाभ नहीं। श्रीरामदर्शनसे, श्रीरामपदप्रेमसे भी जन्म सफल होता है, यथा 'आजु सुफल जग जनमु हमारा। देखि तात बिधु बदन तुम्हारा। १।३४७।७।', 'सफल जनम भए तुम्हहि निहारी। २।१३६।२।', 'पुनि पुनि चितइ चरन चित दीन्हा। सुफल जनम माना प्रभु चीन्हा॥ हृदय प्रीति ।

पर लाज रक्खी। इत्यादि। ये सब प्रभुके हो गए थे। इसी तरह उनका हो जानेसे वे तेरी भी लज्जा रखेंगे। तेरा भी सँभाल करेंगे।

सू० शुक्ल—विना भगवत्प्रेमके ज्ञान वैराग्यादिसे सिद्धि चाहना सुननेमात्रमें रोचक है। काम्य कर्मोंके फल सदैव कड़वे होते हैं। इसलिये भगवान्‌में निष्काम भक्ति करो।

॥ श्रीसीतारामचन्द्रार्पणमस्तु ॥

१३२

राम-से[1] प्रीतम की प्रीति रहित जीव जाय जिअत।
जेहि सुख सुख मानि लेत सुखु सो समुझि[2] किअत ॥१॥
जहँ[3] जहँ जेहि जोनि जनम महि पताल विअत।
तहँ तहँ तू विषय सुखहि चहत लहत निअत ॥२॥
कत विमोह लट्यो[4] फट्यो गगन मगन सिअत।
तुलसी प्रभु सुजस गाइ क्यों न सुधा पिअत ॥३॥

शब्दार्थ—प्रीतम=प्रियतम=सबसे बढ़कर प्यारा।=स्वामी। जाय=व्यर्थ। किअत (सं० कियत्)=कितना। विअत (वियत्)=आकाश; वायुमंडल। निअत (नियत)=नियमद्वारा स्थिर या निश्चित किया हुआ। बँधा हुआ; नियमित। यथा 'दैवं दिष्टं भागधेयं भाग्यं स्त्री नियतिर्विधिः इत्यमरः।' कत=क्यों। लट्यो=लट्टू वा अनुरक्त हुआ; लिप्त हुआ।

पद्यार्थ-श्रीराम ऐसे प्रीतमकी प्रीतिसे रहित (अर्थात् विमुख वा वंचित) जीव व्यर्थही जीता है (अर्थात् रामप्रेमहीनका जीना न जीना बराबर है, वह मरे हुएके समान है, उसके जीवनसे कुछ लाभ नहीं)। जिस सुखको (तू) सुख मान लेता है, (भला) समझ (विचार) तो कि वह सुख कितना है। (अर्थात् वह सुख कुछ भी नहीं है, यह समझ रख)।१। पृथ्वी, पाताल या आकाशमें जहाँ-जहाँ जिस योनिमें (तेरा) जन्म हुआ, वहाँ-वहाँ तू विषयसुखही चाहता रहा और नियमके अनुसार नापा-तुला

---

१ रामसे—७४ मे नही है। २ समुझि—रा०, भा०, वे०, ज०, १५। समुझ—ह०, ७४, ५१, मा०। ३ तहँ—रा०, ह०, ५१, भ०। जहँ—भा०, वे०, ७४, मा०। ४ लटो फटो—भा०, ७४। लट्यो फट्यो—प्रायः औरोमे।

पता रहा। २। रे तुलसी ! (वा, तुलसीदासजी कहते हैं—) क्यों विशेष मोहमें लिप्त होकर तू फटे हुए आकाशको सीनेमें मग्न है ? प्रभुका सुन्दर यश गाकर अमृत पान क्यों नहीं करता ? ।३।

नोट—१ पिछले पद्में बताया कि श्रीरामजीमें पावन प्रेम करना जीवनका परम लाभ है और अब इस पद्में बताते हैं कि उनसे प्रेम न हुआ तो जीवन व्यर्थ है। सारा सांसारिक सुख, समस्त विषयभोग प्राप्त हों, एक रामप्रेम न हो तो वे सब सुख व्यर्थ हैं। इसलिये भी श्रीरामजीमें प्रेम करना कर्तव्य है, राममें प्रेम कर। यह कहकर आगे विषय सुखोंकी न्यूनता, निरर्थकता और तुच्छता कहते हैं।

टिप्पणी—१ (क) 'राम से प्रीतम…' इति। रामप्रेम विना जीवन व्यर्थ है। यथा 'जेहि देह सनेह न रावरे सों, असि देह धराइ कै जायँ जियैं। क० ७।३८।', 'सुत जाय मातु पितु भक्ति बिनु, तिय सो जाय जेहि पति न हित। सब जाय दास तुलसी कहै, जौं न रामपद नेह नित। क० ७। ११६।', 'जीअत राम मुए पुनि रामु सदा रघुनाथहि की गति जेही। सोइ जिऐ जगमें तुलसी नतु डोलत और मुए धरि देही। क० ७। ३६।', 'जौ पै रहनि राम सों नाहीं। तौ नर खर कूकर सूकर से जाय जियत जग माहीं। १७५।' विना प्रेमके जीवन खर, सूकर और श्वानके समान है।

'राम से प्रीतम'का भाव कि श्रीरामजीका ऐसा प्रेमप्रिय, प्रीतिरीतिका जाननेवाला, सच्चा स्नेही स्वामी दूसरा नहीं है। यथा 'सुर सिद्ध मुनि कबि कहत कोउ न प्रेम प्रिय रघुबीर सो। १३५।' 'राम सनेही सों तैं न सनेह कियो। १३५।' यह पूरा पद इसीकी व्याख्या है। 'एक सनेही साँचिलो केवल कोसलपालु। प्रेम कनोड़ो राम सो नहि दूसरो दयालु॥… सरल सील साहिबु सदा सीतापति सरिस न कोइ॥ सुनि सेवा सहि को करै परिहरै को दूषन देखि। केहि दिवान दिन दीन को आदरु अनुराग बिसेषि॥ कैसेउ पावर पातकी जेहि लई नाम की ओट। गाँठी बाँध्यो राम सो परिख्यो न फेरि खर खोट। १९१।', 'ऐसेहु साहिब…' पद ७१, ७७, इत्यादि पदोंको 'रामसे' की व्याख्या जानिए। पद १६२ से १६६ तक देखिए।

१ (ख) 'जेहि सुख…' इति। 'मानि लेत' अर्थात् वस्तुतः वह सुख नहीं है, तूने मान लिया है कि सुख है। 'जेहि सुख' अर्थात् विषय सुख। लड़कपनमें जीव खेलने-कूदने आदिमें सुख मानता है, युवावस्थामें स्त्री,

धन, पुत्र, मान, बड़ाई, ऐश्वर्य आदिमें सुख मानता है। इत्यादि। इन सब विषयोंको जीव अपनाता है, पर ये सब नश्वर और क्षणभंगुर हैं। यथा 'अवनि रवनि धन धाम सुहृद सुत कै न इन्हहि अपनायो। काके भए गए संग काके सब सनेह छल छायो। २००।' इनमें सुख है नहीं, जीव सुख 'मानि लेत'। यथा 'विषय मुद निहारु भार सिर को काँधे ज्यों वहत। यौंही जिय जानि मानि सठ तू साँसति सहत। १३३।', 'मृगभ्रमबारि सत्य जल जानी। तहँ तू मगन भयो सुख मानी। तहाँ मगन मज्जसि पान करि त्रयकाल जल नाहीं जहाँ।१३६।' विषयको मृगजल कहा है, यथा 'तौ कत मृगजलरूप विषय कारन निसिबासर धावै। ११६।', 'तौ कत विषय बिलोकि झूठ जल मन कुरंग ज्यों धावै।१९८।'

१ (ग) 'सुख सो समुझि किअत' इति। वह सुख कितना है? भाव कि संसारमें सबसे बड़ा सुख स्वर्गसुख माना गया है, सो वह भी तुच्छ है, नित्य नहीं है, पुण्य क्षीण होनेपर फिर पतन होता है। यथा 'स्वर्गउ स्वल्प अंत दुखदाई। ७।४४।१।' फिर स्वर्गसुखभोग करते हुए भी नित्य उसके क्षेम तथा बीतनेकी चिन्ता लगी रहती है। पुनः भाव कि विषयसुख वंचक हैं, जीवको झूठा सुख दिखाकर लुभाये रहते हैं, यथा 'वंचक विषय विविध तनु धरि अनुभये सुने अरु डीठे। १६६।' पुनः भाव कि जिस सुखका तू भोक्ता है, उसी सुखको शूकर, श्वान गर्दभ आदि भी भोगते हैं, तब तेरा सुख उन पशुओंका ही सुख तो है, विशेषता कुछ भी नहीं है।

मदालसाजीके—'दुःखानि दुःखोपगमाय भोगान् सुखाय जानाति विमूढचेताः। तान्येव दुःखानि पुनः सुखानि जानाति विद्वानविमूढचेताः॥ मार्क० पु०।' (अर्थात् समस्त भोग दुःखरूप हैं तथापि मूढ़चित्त मानव उन्हें दुःख दूर करनेवाला तथा सुखकी प्राप्ति करानेवाला समझता है; किन्तु जो विद्वान् है जिनका चित्त मोहसे आच्छन्न नहीं हुआ है वे उन भोगजनित सुखोंको भी दुःख ही मानते हैं)—इस वाक्यका भाव भी 'समुझि किअत' में आ गया।

टिप्पणी—२ 'जहँ जहँ जेहि जोनि जनम···' इति। (क) एक ही योनिमें अनेकों बार जन्म हो जाता है। इसीसे 'जहँ जहँ जेहि योनि' कहा। चौरासी लक्ष योनियोंमेंसे प्रत्येक योनिमें न जाने कितनी जगह कितनी बार जीवको कर्मानुसार जन्म लेना पड़ सकता है। (ख)—'महि पाताल बिअत' इति। तीन लोक माने गए हैं—मर्त्य, स्वर्ग और पाताल।

'महि' से मर्त्यलोक और 'बिअत' से स्वर्गलोक जनाये। अर्थात् तीनों लोकोंमें जहाँ जहाँ जन्म हुआ। तात्पर्य कि पशु, पक्षी, कीट, पतंग, सूकर, कूकर आदि समस्त नरक योनियों, देवता सिद्ध आदि तथा दैत्य राक्षस आदि एवं मनुष्य योनियोंमें जहाँ जहाँ जन्म हुआ। यथा 'त्रिजग देव नर असुर अपर जग जोनि सकल भ्रमि आयो। गृह बनिता सुत बंधु भये बहु मातु पिता जिन्ह जायो।१९९।' (ग)—'तहँ तहँ तू बिषयसुखहि चहत'''' इति। किसी भी जन्ममें विषयवासना छूटती नहीं, विषयकी चाह बढ़ती ही जाती है। यथा 'अजहुँ विषय कहुँ जतन करत जद्यपि बहु बिधि डँहकायो। पावक काम भोग-घृत तें सठ कैसेंउ परत बुझायो॥ विषयहीन दुख मिलें बिपति अति सुखु सपनेहुँ नहिं पायो। १९९।'

☞मिलान कीजिए—'तस्यैव हेतोः प्रयतेत कोविदो न लभ्यते यद्भ्रमतामुपर्यधः। तल्लभ्यते दुःखवदन्यतः सुखं कालेन सर्वत्र गभीररंहसा। भा० १।५।१८।' अर्थात् कोविदको चाहिए कि उसी वस्तुकी प्राप्तिके लिये प्रयत्न करे जो ब्रह्मासे लेकर तृणपर्यन्त समस्त ऊंची-नीची योनियोंमें भ्रमण करते हुए प्राप्त न हो सकती हो। दुःखके समान विषयसुख तो गंभीर वेगवाले कालके द्वारा सभी योनियोंमें स्वभावसे ही मिल सकता है। (नारदवाक्य)।

२ (घ)–'लहत निअत' अर्थात् प्रारब्धानुसार नपा-तुला पाता भी है। यथा – 'जो सुख सुरपुर नरक गेह बन आवत बिनहिं बुलाएँ। तेहि सुख कहँ बहु जतन करत मन समुझत नहि समुझाएँ।२०१।', 'जे सुख संपति सरग नरक संतत सँग लागी। हरि परिहरि सोइ जतन करत मन मोर अभागी।११०।'—विशेष ११० (२ क) में देखिए।

☞इस अन्तराका सारांश यह है कि समस्त योनियोंमें जहाँ भी तू गया विषय सुखके लिये ही प्रयत्न करता रहा, पर मिला कितना? भाग्य ही भर न? पुनः यह कि प्रत्येक योनिमें तूने माता, पिता, स्त्री, पुत्र, बंधुवर्ग, भोजन, मैथुन आदि विषय सुख पाये, उनसे तृप्ति कभी न हुई; अब परम दुर्लभ नरतन पाकर फिर उन्हींकी चाहमें इस जन्मको खो देनेसे फिर वही योनियाँ तुझे भोगनेको मिलेंगी। फिर देख ले कि अपने चाहनेसे समस्त सांसारिक विषय न तो कभी किसीको प्राप्त हुए, न हैं, न होंगे। जो मिलेंगे वे भी नियत समयके लिये। कामाग्नि (तृष्णा) कभी बुझनेकी नहीं। अतः अब भी चेत जा, श्रीरामजीमें प्रेम करके नित्य सुख भोग।

टिप्पणी—३ (क) 'कत बिमोह लट्यो'''' इति। विशेष मोहके कारण विषयोंसे लट्टू हो रहा है, यथा—'देखत बिपति विषय न तजत हौं

ताते अधिक अयानो ॥ महामोह सरिता अपार महँ संतत फिरत बह्यो। 'अस्थि पुरातन छुधित स्वान अति ज्यों भरि मुख पकर्‌यो। निज तालूगत रुधिर पान करि मन संतोष धर्‌यो। ९२।' 'विमोह' कहनेका भाव कि विषयभोग अनित्य हैं और दुःखोंके कारण हैं, भवमें डालेंगे, इनमें सुख नहीं है, सुख मानना तेरा मोह है। इनका यथार्थ रूप जान लेनेसे इनमें तू न फँसता।

३ (ख) 'फट्यो गगन सिअत' इति। आकाश न कभी फटा और न उसे कोई सी सकता है, ये दोनों बातें असंभव हैं। इसी प्रकार इन्द्रियविषयसे नित्य सुखकी प्राप्ति या आशा, असंभवको संभव करनेकी चाहके समान है।

[श्री० श०—"विषयसुख सुखशून्य आकाश है। इसकी दीर्घकालसे आती हुई तृष्णात्मक आकांक्षा इन्द्रिय और उनके विषयोंके बीचका अन्तराल है। सात्विक, राजस एवं तामस भावनारूपी डोरेसे इन्द्रिय और विषयोंका संयोग लगाना सीना है। विषयसुखके इन नित्य नई भावनामें मग्न रहना आकाशके सीनेमें निमग्न रहना है। आकाश कोई वस्तु नहीं है तो उसका फटना कैसा? और फिर उसका सीना कैसा? वैसे ही विषयसुख सुख ही नहीं है, तब इनके संयोगसे तृप्तिकी भावना ही व्यर्थ है।"]

३ (ग) 'प्रभु सुजस गाइ···' इति। सुयशगानमें अमरत्व गुण दिखाया। अमृत पीनेसे जो अमरत्व प्राप्त होता है, वह भी नित्य नहीं है और सुयशगानसे सदाके लिये अमरत्व प्राप्त हो जाता है। भवबंधनसे छूटकर श्रीरामजीको प्राप्त होगा यह तो शरीर छूटनेपर अमरत्वकी प्राप्ति है। जीतेजी अमृत पीनेको मिलेगा, यह यहाँ 'कयों न पिअत' कहकर जनाया। प्रभुका सुयश (चरित, गुणग्राम, कथा) अमृतरूप है, जीतेजी मनुष्यको जीवन्मुक्त बना देता है और प्रेमाभक्ति प्रदान करता है। यथा 'सोइ वसुधातल सुधा तरंगिनि।', 'जीवनमुकुति हेतु जनु कासी।', 'रघुबर भगति प्रेमपरिमित सी।' (१।३१।८,११,१४), 'जग मंगल गुनग्राम राम के। दानि मुकुति धन धरम धाम के॥ जननि जनक सियराम प्रेमके।' (१।३२।२,४), 'कहे न सुने गुनगन रघुबरके भइ न रामपद प्रीति। २३४।' प्रेमको अमृत कहा भी है। यथा 'प्रेम अमिय मंदरु बिरह भरत पयोधि गँभीर। मथि प्रगटेउ सुर साधु हित कृपासिंधु रघुबीर। २।२३८।' गुणगण गाने और सुननेसे रसज्ञोंको पद-पदपर नया-नया स्वाद भी मिलता है, यथा 'यच्छृण्वतां रसज्ञानां स्वादु स्वादु पदे पदे। भा० १।१।१९।'—यह भी अमृत पीना है। [प्रभुका सुयश अमृत है, गाना उसका पीना है। (द्रु०)]

पुनः यों भी कह सकते हैं कि 'प्रभु सुयश' अर्थात् श्रीरामके गुणगणके गानसे श्रीरामजीके चरणोंमें पावन प्रेम उत्पन्न होता है; यथा 'जननि जनक सियरामप्रेम के।' (उपर्युक्त)। और, प्रेम अमृतस्वरूप है; यथा 'अमृतस्वरूपा च' (नारद भक्तिसूत्र ३)। इस प्रकार श्रीरामसुयशगान प्रेमामृतपान है। अमृत पीनेसे तृप्ति और अमरत्वकी प्राप्ति होती है, वैसे ही श्रीरामप्रेमामृतपानसे फिर किसी भी वस्तुकी न तो इच्छा ही होती है और न आसक्ति ही, विषयभोगकी प्राप्तिमें कभी उत्साह नहीं होता। यथा 'यल्लब्ध्वा पुमान् सिद्धो भवति, अमृतो भवति, तृप्तो भवति।', 'यत्प्राप्य न किञ्चिद्वाञ्छति न शोचति न द्वेष्टि न रमते नोत्साही भवति।' (सूत्र ४,५)। भा० ६।१२।२२ में भी यही बात कही है। यथा 'यस्य भक्तिर्भगवति हरौ निःश्रेयसेश्वरे। विक्रीडतोऽमृताम्भोधौ किं क्षुद्रैः खातकोदकैः।' अर्थात् जो कल्याणेश्वर श्रीहरिकी भक्ति करता है वह अमृतके समुद्रमें क्रीड़ा करता है, गढ़ैयेमें भरे हुये गँदले जल सरीखे विषयभोगकी ओर वह क्यों जायगा? ये सब भाव 'प्रभु सुजस ''सुधा पिअत'से जना दिये।

श्रीसीतारामचन्द्रार्पणमस्तु।

१३३

तोसो[१] हौं फिरि-फिरि हित 'प्रिय[३]पुनीत' सत्य सुबचन कहत[४]।
सुनि मन गुनि समुझि क्यों न सुगम सुमग गहत॥१॥
छोटो[५] बड़ो खोटो खरो जग जो जहँ[६] रहत।
अपनो आपनेको[†] भलो 'कहु[७] सो को जो' न चहत॥२॥
बिधि लगि लघु कीट अवधि सुख सुखी दुख दहत।
पसु लौं[८] पसुपाल ईस बाँधत छोरत नहत॥३॥

१-२ तोसो हौ—रा० (हो), दीन, वि०, पो०। तोसो हौ—भा०, वे०, भ०, डु० (हो)। मु० और ७४ मे ये शब्द नही है। ३—ह०, प्र० और दीनमे नही हैं। ४ सुवचन—रा०, भा०, वे०, ह०, प्र०। वचन—५१, ७४, डु०, भ० स०, आ०। ५ छोट बड़ो खोट खरो—७४। ६ जहाँ—रा०, ज०। जहँ—औरोमे।† अपनो आपने को—रा०। अपने अपने को—वै०, डु०, भ०, वि०, ७४ (के)। आपनो अपने को—भा०, वे०, मु०। अपनो अपने को—दीन, पो०, ह०, ५१। ७ कहु सो को जो—रा०, डु०, वै०। सो कहु को—भा०, वे०, ह०। कहहु जो—मु०, ७४, ५१। कहहु को—दीन, पो०। कहु को—भा०, वि०। ८ लो—रा०, ह०, डु०। लो—भा०, वे०, आ०।

विषय मुद[9] निहारु भारु सिर को[10] काँध[11] ज्यों वहत।
यों ही जिय जानि मानि सठ तूँ सासति सहत ॥४॥
पायो केहि[12] घृत विचारु[13] हरिनवारि महत।
तुलसी तकु ताहि[14] सरन जातें सब लहत ॥५॥

शब्दार्थ—फिरि-फिरि=घूम फिरकर; वारंवार। गुनि=विचारकर। सुगम=जिसपर चलनेमें कठिनाई न हो।=सहज; सीधा। गहना=पकड़ना। खोटो=निकम्मा; बुरा। खरो=अच्छा; भला। आपने=अपने शरीरसे संबंध रखनेवाले। भलो=भला; भलाई। लगि=से लेकर। अवधि=पर्यन्त; तक। दहना=जलना। दहत=जलते, संतप्त वा दुःखी होते हैं। लो=समान; तुल्य। यथा 'छितिये कै शशि लौं वाढ़ैं शिशु देखै जननि जसोई। यह सुख सूरदासके नैननि दिन-दिन दूनो होई।' नहना=नाँधना, जोतना, काममें लगाना। मुद=सुख; आनंद। वहना=ढोना, लादना, लेकर चलना। हरिनबारि=मृगबारि; मृगतृष्णाजल। महना=मथना। महत=मथकर; मथनेसे। तकना=आश्रय लेना; ताकना; यथा 'तव ताकिसि रघुनायक सरना।३।२६।५।' लहना=प्राप्त करना; पाना।=शोभा पाना; यथा 'भलो भलाई पै लहै, लहै निचाइहि नीचु। १।५।'

पद्यार्थ—मैं तुमसे बार-बार हितकारी, प्रिय, पवित्र और सत्य उत्तम वचन कहता हूँ। (उन्हें) सुनकर, मनमें बिचारकर समझकर सीधा सहज सुन्दर मार्ग क्यों नहीं पकड़ता?।१। कह (अर्थात् भला बता तो सही कि) संसारमें छोटे-बड़े, खोटे-खरे जो (भी) जहाँ रहते हैं (उनमेंसे) कौन ऐसा है जो अपना और अपने संबंधियोंका भला नहीं चाहता?।२। ब्रह्मासे लेकर बहुत छोटे कीड़े (जंतु) पर्यन्त (सभी) सुखसे सुखी और दुःखसे संतप्त होते हैं। पशुके समान पशुपाल ईश्वर (इन समस्त जीवरूपी पशुओंको) बाँधता, छोड़ता और नाँधता है।३। देख, विषयोंका सुख

९ मुद निहार—रा० (निहारु), ह०, ५१, ७४, वि०, मु०, वै०, डु०। मुद निहारि—भ०, दीन। सुखद—भा०, वे०, प्र०, ज०। १० को—रा०, भा०, वे०, डु०, वै०, वि०। मु०, भ०, ७४, ह०, ५१, दीन मे 'को' नही है। ११ कांधे ज्यो—डु०, वै०, वि०, मु०, भा०, वे०, रा० (कांध)। ज्यो कांधे—भ०, दीन। ज्यों कांध—७४। १२ कै—रा०। किन—भा०, वे०। केहि—ह०, ५१, डु०, प्रा०, ७४। १३ विचारि—रा० ज०। विचार या विचार—औरोमे। १४ तासु—दीन।

वैसा ही है, जैसा सिरका बोझा (उतारकर) कंधेपर ढोया जानेका। रे शठ! जीमें जानकर (मेरा कहा) मान ले कि इसी प्रकार तू साँसति सह रहा है। ४। विचार (तो सही) कि मृगतृष्णाजलको मथकर किसने घी पाया है? तुलसीदासजी कहते हैं कि तू उसीकी शरण ताक जिससे सब पाते हैं। ५।

टिप्पणी—१ 'तोसो हौं फिरि फिरि···' इति। (क) 'फिरि फिरि'का भाव कि बार-बार कहनेसे हृदयमें विचार उठता है, बात समझमें आती है; तब अन्तःकरण उसे स्वीकार कर लेता है और कर्तव्यपरायण हो जाता है। अथवा भाव कि मैंने बार-बार तेरे हितकी बात कही तो भी अबतक तेरी समझमें न आया। बार-बार, यथा 'मन मेरे मानहि सिख मेरी। १२६।', 'सुमिरु सनेह सहित सीतापति। रामचरन तजि नहिंन आन गति। १२८।', 'लालच लघु तेरो लखि तुलसी तोहि हटत। १२९।', 'तेहि प्रभुको तू होहि जाहि सबहि की सब सरम। १३१।', 'तुलसी प्रभु सुजस गाइ क्यों न सुधा पियत।१३२।' पूर्व भी 'सुनु मन मूढ़ सिखावन मेरो। ८७।' इत्यादिमें शिक्षा दी है।

१ (ख) 'हित प्रिय पुनीत सत्य सुवचन' इति। वचनके सबर्य विशेषण साभिप्राय हैं। उत्तम वचनमे ये सब बातें होनी चाहिएँ। 'हित' वचन है, भाव कि इससे तेरा कल्याण होगा, इससे जन्म सुफल होगा। अतः सुन। हित वचन प्रायः कठोर होता है, सुननेमें प्रिय नहीं होता, कड़ुवा लगता है, जैसे रोगनिवृत्तिकी औषधि। यथा 'बचन परम हित सुनत कठोरे।६।६।६।'; परन्तु ये वचन 'प्रिय' भी हैं, श्रवणरोचक हैं। 'सुमिरत सुख सुकृत बढ़त अघ अमंगल घटत', 'मंगल मुद उदित होत कलिमल छल छपत॥', 'रामनाम लेत होत सुलभ सकल धरम।·· तेहि प्रभु को तू होहि जाहि सबहि की सब सरम' इत्यादि सब प्रिय वचन हैं। जो वचन प्रिय होते हैं, वे पवित्र कम होते हैं, उनमें प्रायः कुछ न कुछ स्वार्थ आदि दोष छिपे रहते हैं, पर ये वचन निर्दोष हैं। ये सब गुण हुए, पर वचन सत्य न हुआ तो भी वह 'सुवचन' नहीं कहा जा सकता। अतः 'सत्य' कहकर जनाया कि इसमें किंचित् भी असत्य नहीं, यह समस्त वेदोंका सिद्धान्त है। यथा 'इहै कह्यौ सुत बेद चहूँ। श्रीरघुबीरचरनचिंतन तजि नाहिन ठौर कहूँ। ८६।'—इतने विशेषणोंसे जनाया कि यह वचन सब प्रकार ग्रहण करने योग्य है।

१ (ग) 'सुनि मन गुनि···' इति। भाव कि मेरे कथनमात्रसे तू न मान ले; किन्तु पहले सुन ले, फिर स्वयं विचार कर और समझ ले कि

सब प्रकार मैं ठीक कह रहा हूँ या नहीं। विचार करनेपर मेरा कथन यथार्थ जान पड़ेगा। अतः क्यों नहीं शीघ्र ही विचार करके उसे ग्रहण कर लेता ?

१ (घ) 'सुगम सुभग' अर्थात् यह मार्ग सुन्दर है, उत्तम है, इसमें कोई कष्ट या कठिनाइयाँ नहीं, इसमें सहज निर्वाह हो जाता है, यह सहज ही लोक-परलोक दोनोंकी प्राप्ति करानेवाला है। कौन मार्ग ? इसे उपसंहारमें कहा है—'तकु ताहि सरन जातें सब लहत'। पूर्व भी कहा है 'तेहि प्रभुको तू होहि···' इत्यादि ऊपर १ (क) में देखिए। शरणागतिका मार्ग कैसा सुगम है, सम्मुख होते ही प्रभु सब पापोंको नष्ट कर देते हैं। आपका हूँ, प्रपन्न हूँ, हाथ जोड़ मस्तक नवाकर 'पाहि मां' कहतेही वे भवपीर मिटा देते हैं। यथा 'सनमुख होइ जीव मोहि जबहीं। जन्म कोटि अघ नासहि तबहीं।५।४४।', 'सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते। अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं मम। वाल्मी०।', 'गावत गुनगन राम के केहि की न मिटी भवभीर।१६३।' शरणागतका सारा सार-सँभाल प्रभु अपने ऊपर ले लेते हैं। अंबरीष, प्रह्लाद आदिकी कथायें प्रसिद्ध हैं। बस शरण होनेमें इतनी ही आवश्यकता है, अतः सुगम कहा। 'सुभग' अर्थात् मार्ग सुंदर है, सबसे उत्तम है; क्योंकि फल बड़ा भारी मिलता है, कष्टदायक काँटेकंकड़वाला नहीं है। तप, योग, ज्ञान आदिके कष्ट और विघ्न शरणागतको नहीं उठाने पड़ते, तथा जीवनकी समस्त बाधाओंका भय जाता रहता है, यथा 'जिमि हरिसरन न एकउ बाधा। ४।१७।१।', 'सुलभ सुखद मारग यह भाई। भगति मोरि पुरान श्रुति गाई।७।४५।' (शरणागति भी भक्ति ही है)। 'चलु सुपंथ', 'सुनु कीरति रटहि नाम करि गान गाथ ·· नाउ राम पद कमल माथ।८४।' में भी सुपंथ कहा है, यह सब शरणागतिके लक्षण हैं।

१ (ङ) 'क्यों न गहत'—भाव कि यह मार्ग ग्रहणयोग्य है, इसपर चल; अन्य सब मार्ग अगम और असुन्दर हैं, उन्हें छोड़।

टिप्पणी—२ 'छोटो बड़ो···' इति। (क) 'छोटो'से कीट पतंग पशु पक्षी आदि एवं अन्त्यज श्वपच आदि और 'बड़ो'से राजा, महाराजा, ब्रह्मादिपर्यन्त सबका ग्रहण है। 'खोटो'से दुराचारी, अधर्मी, अधम, पापात्मा आदि तामसी जीव और 'खरो'से सुकृती, पुण्यात्मा, सदाचारी आदि जनाए। 'जो जहाँ रहत' अर्थात् आकाश, पाताल, पृथ्वी, जल, थल, स्वर्ग, नरक सभी स्थानोंके जीव।

२ (ख) 'अपनो आपनेको भलो…' इति। अब लोकका व्यवहार दिखाकर मनको प्रभुकी ओर झुकाते हैं। भाव कि जब इस लोकमें जीवोंका यह स्वभाव देखा जाता है कि अपना और अपने संबंधियोंका भला सभी चाहते हैं, तब प्रभुका हो जानेपर वे तुझे अपना मानकर तेरा भला क्यों न चाहेंगे? ☞इस कथनसे पूर्वके 'तेहि प्रभुको तू होहि जाहि सबहि की सब सरम', 'तुलसी प्रभु सुजस गाइ क्यों न सुधा पिअत' इन वाक्योंको दृढ़ किया है।

[श्री० श० के मतानुसार भाव यह है कि सब अपना और अपने संबंधीका हित चाहते हैं, वैसे ही तू भी अपने हित पर ध्यान दे। यदि तू श्रीरामजीकी शरण होकर उनका संबंधी हो जायगा तो वे भी तेरा हित अवश्य करेंगे।]

टिप्पणी—३ 'बिधि लगि लघु कीट…' इति। (क) 'बिधि लगि'का भाव कि ब्रह्मा हो जानेकी भी वासना करना व्यर्थ है, उन्हें दुःख न हो सो बात नहीं। छोटोंकी तो बात ही क्या? 'सुख सुखी दुख दहत' कहनेका भाव कि एकरस सुख किसीको नहीं, सुख और दुःख दोनों होते हैं, सुख होनेपर जीव प्रसन्न और शीतल रहता है, दुःख होनेपर उससे संतप्त रहता है* ☞ पूर्व पद १३२ के 'सुख सो समुझि किअत' को यहाँ स्पष्ट किया। (ख)—'दुख दहत'का भाव कि दुःख कोई नहीं चाहता, तो भी काल, कर्म, गुण और स्वभावकी प्रबलतासे दुःखकी चाह न होनेपर भी जबरदस्ती दुःख भोगना पड़ता है। तात्पर्य कि कोई स्वतन्त्र नहीं है—'काल करम गुन सुभाव सबके सीस तपत। १३०।'; 'होती जो आपने बस रहती एकही रस, दुनी न हरष सोक साँसति सहति। २४६।'; जहाँ भी जायँगे सुख-

* "सुखात् संजायते दुःखं दुःखमेवं पुनः पुनः।१८। सुखस्यानन्तरं दुःखं दुःखस्यानन्तरं सुखम्। सुखदुःखे मनुष्याणां चक्रवत् परिवर्ततः॥ १९। न नित्यं लभते दुःखं न नित्यं लभते सुखम्। २०।" (म० भा० शान्ति० १७४)। अर्थात् सुखके बाद दुःख होता है। इस प्रकार बारबार दुःख ही होता रहता है। सुखके बाद दुःख और दुःखके बाद सुख आता है। मनुष्योंके सुख और दुःख चक्रकी भाँति घूमते रहते हैं। यहाँ किसी भी प्राणीको न तो सदा सुख ही प्राप्त होता है और न सदा दुःख ही।

'शुभे त्वसौ तुष्यति दुष्कृते तु न तुष्यते वै परमः शरीरी। म० भा० शान्ति० २०१। २४।'—श्रेष्ठ देहधारी जीव शुभ फल मिलनेपर तो सन्तुष्ट होता है और अशुभ फल प्राप्त होनेपर दुःखी हो जाता है (यह उसकी मूर्खता है)। मानसमे भी कहा है—'सुख हरषहिं जड दुख बिलखाही। २।१४०।७।'

दुःख साथ लगे रहेंगे, यथा 'दुखु सुखु जो लिखा लिलार हमरें जाब जहँ पाउब तहीं ।१।६७।'; अतएव विषयोंकी चाह करना व्यर्थ है।

३ (ग) 'पसु लों पसुपाल ईस···' इति। जैसे पशुको पालनेवाला पशुको बाँधता, छोड़ता और हलमें जोतता है, वैसे ही जीवका पालक ईश्वर जीवको बाँधता छोड़ता रहता है। यहाँ 'बिधि लगि लघु कीट अवधि' सभी जीव-जन्तु पशु हैं, श्रीरामजी पशुपाल अर्थात् स्वामी हैं। कर्म डोर वा रस्सी है, कर्मडोरसे सबको बाँधा है, सब कर्मानुसार सुख दुःख पाते हैं। यही बाँधना है। यथा 'जेहि बाँधे सुर असुर नाग नर प्रबल करम की डोरि।'—६८ (२ क) देखिए। भव अर्थात् जन्म-मरण-परंपराका छुड़ा देना, 'छोड़ना' है। यथा 'जाकों नाम लयें छूटत भव जन्म मरन दुख भार।६८।' पुनः, मायारहित करना छोड़ना और मायामें लगा देना नहना है। यथा 'ईसनि दिगीसनि जोगीसनि मुनीसनिहूँ छोड़ति छोड़ाये तें गहाये तें गहति। २४६।' पुनः, जिस कामसे चाहें लगा दें, यह 'नहना' है। यथा 'लोकपाल जम काल पवन रबि ससि सब आज्ञाकारी। ६८।', 'राम रजाइ सीस सबही के। २।२५४।८।', 'ईस रजाइ सीस सबही कें। २।२८२।५।'

☞तात्पर्य यह कि जिसके हाथमें बंधन, मोक्ष, माया आदि सब कुछ है, उससे विमुख होनेसे दुःख नहीं मिट सकता, अतः उसी प्रभुकी शरण जा।

[टीकाकारोंके भाव—(१) जगत्‌रूप क्रीड़ाके लिये विमुखोंको बाँधते, सम्मुखोंको छोड़ते और यथाधिकार सबको संसार व्यापारमें लगाते हैं। (ह०)। (२) पशुपाल पशुओंके स्वभाव कर्मानुसार रक्षा और दंड आदि करता है। रात्रिमें सबको बाँधता है, सवेरे छोड़ता है, किसीको गाड़ीमें, किसीको हल आदिमें जोतता है, बहुतोंको चरने भेज देता है, जो जैसा काम करता है उसको वैसी जीविका देता है। इसी तरह ईश्वर जीवको अविद्यारात्रिमें मोहादि बंधनसे बाँधता है, ज्ञानरूपी सवेरा होनेपर छोड़ता है। जो जिस कर्मका अधिकारी है, उससे वही कर्म करवाता है। बहुतोंको संसाररूपी वनमें विषयरूपी तृण चराता है, सबको कर्मानुसार फल देता है। (वै०)। (३) प्रवृत्तिरूपी रस्सीसे बाँधता है, निवृत्तिसे खोलता और कर्मरूपी हलमें जोत देता है। (वि०)। (४) अज्ञानसे बाँधता, ज्ञानसे खोलता और कर्मोंमें जोतता है। (पो०)। (५) अविद्यात्मक दृष्टिवालोंको बाँधता, विद्यात्मकको छोड़ता और कर्मनिष्ठको उनकी

श्रद्धाके अनुसार सामर्थ्य प्रदानकर उनकी कर्मवृत्तिका निर्वाह करते हैं, यही उनका जोतना है। (श्री० श०)

टिप्पणी—४ 'बिपय मुद निहारु···' इति। (क) अब दिखाते हैं कि वास्तवमें विषयोंमें सुख नहीं है। जैसे बोझा लादनेवाला सिर गर्मा वा दुख जानेपर बोझा सिरसे उतारकर कंधेपर ले लेता है और ऐसा करनेसे अपनेको सुखी जानने लगता है, परन्तु वस्तुतः जबतक बोझा लदा है तबतक सुख कहाँ? वह फिर सिरपर लदेगा, किंचित् सुखकी प्रतीति हुई, फिर वही दुःख है। वैसे ही विपयमें वस्तुत. सुख नहीं है, दुःख ही है।

[(१) जिन इन्द्रियोंसे दुःख भोग किया, उन्हींसे विषयप्राप्तिमें किञ्चित् सुखकी प्रतीति होना सिरका बोझा कंधेपर रखना है। वैसे ही सुखपर दुःख और दुःखपर सुख आता जाता है। (ḍु०)।

(२) उसी प्रकार तू एक विपयसे हटकर दूसरे विषयमें फँस जाता है और क्षणिक सुखको आनंद मान रहा है। विषयानन्दमें कोई चिरस्थायी आनन्द नहीं है, केवल भ्रम है। (वि०, दीन)]

४ (ख) 'योंही जिय जानि ···' इति। "योंहो सठ तूँ सासति सहत' (यह तू) जिय जानि मानि",—इस प्रकार अन्वय होगा। जैसे सिरका दुःख दूर करनेके लिये बोझा कंधेपर रक्खा जाता और कंधा दुखनेपर फिर सिरपर लादा जाता है, दुःख पहले भी था, पीछे भी बना रहा, वैसे ही विपयभार जब तक ढोवेगा, दुःख ही दुःख रहेगा, छूटेगा नहीं। बार-बार समझानेपर भी समझता नहीं, इसीसे 'शठ' कहा। भाव कि विषय-भारका ढोना छोड़। प्रमाण यथा—"यथा हि पुरुषो भारं शिरसा गुरुमुद्वहन्। तं स्कन्धेन स आधत्ते तथा सर्वाः प्रतिक्रियाः। भा० ४।२६।३३।" अर्थात् जिस प्रकार बोझेको शिरपर रखकर ले जानेवाला पुरुष, शिरकी पीड़ासे छूटनेके लिये उसे कंधेपर रख लेता है, उसी प्रकार दुखसे छूटनेके सारे उपाय हैं। भागवतमें श्रीनारदजीने यह उदाहरण दुःखोंसे छूटनेके प्रसंगमें दिया है। वे कहते हैं कि यदि कहो कि दुःखोंको दूर करनेका उपाय करनेसे उनसे छुटकारा भी तो मिल सकता है, तो यह बात नहीं है; क्योंकि दैहिक, दैविक, भौतिक तीनों प्रकारोंके दुःखोंमें-से किसी एकसे भी जीवका छुटकारा हो ही नहीं सकता। जैसे शिरका बोझा कंधेपर रखनेसे शिरका दुःख दूर हुआ, परन्तु कंधेमें पीड़ा होने लगती है; वैसे ही एक दुःखसे छूटनेका उपाय करनेपर दूसरे दुःखका सामना करना पड़ता है, दुःख छूटता नहीं। वही दृष्टान्त यहाँ विषयमें सुख माननेके संबंधमें दिया गया है।

प० पु० भूमि० अ० ६६ में जैसे मातलिने ययाति महाराजसे यह बताते हुए कि—"संसारका सारा जीवन ही कष्टमय है; धन, काल, कुटुम्ब, राज्य, राज्योचित भोगों, स्वर्ग तथा किसी भी योनिमें सुख नहीं है, देवताओंसे लेकर सम्पूर्ण चराचर जगत् पूर्वोक्त दुःखोंसे ग्रस्त है'—अन्तमें कहा है कि जैसे मनुष्य इस कंधेका भार उस कंधेपर लेकर अपनेको विश्राम मिला समझता है, उसी प्रकार संसारके सब लोग दुःखसे ही दुःखको शान्त करनेकी चेष्टा कर रहे हैं। यथा—"स्कन्धात्स्कन्धे नयन् भारं विश्रामं मन्यते तथा। तद्वत् सर्वमिदं लोके दुःखं दुःखेन शाम्यति ॥ अन्योन्यातिशयोपेताः सर्वदा भोगसंप्लवाः। धर्मक्षयाच्च देवानां दिवि दुःखमवस्थितम् ॥ (प० पु० भूमि० ६६।२१०-२११ वेंकटे० संस्करण)। फिर दुःखकी शान्तिका उपायभी बताया है कि निर्वेद धारण करे, उससे क्रमशः वैराग्य, ज्ञान और परमात्माकी जानकारी होगी जिससे कल्याणमयी मुक्ति आदि प्राप्त होगी।" वैसे ही गोस्वामीजी 'विषय-मुद निहारु…' कहकर दुःख छूटनेका सहज उपाय बताते हैं—'तकु ताहि सरन…'।

टिप्पणी—५ 'पायो केहि घृत…' इति। (क) जलको मथनेसे घी नहीं निकलता, तब जहाँ जल है ही नहीं, जलका भ्रममात्र है, वहाँ उसका मथन भी भ्रम ही है और भ्रमजलसे घीका निकलना भी भ्रममात्र है।

यहाँ विषय मृगतृष्णाजल है, भ्रम है, झूठा है। विषयभोग करना मृगवारिका मथना है और सुख घृत है। मिलान कीजिए—'सुखसाधन हरि विमुख वृथा जैसे श्रम फल घृत हित मथे पाथ। ८४ (२)।', 'सहज टेव विसारि तुही धौं देखु बिचारि, मिलै न मथत वारि घृत बिनु छीर। समुझि तजहि भ्रम भजहि पद जुगम…।१६६।'—'बिचारु' का भाव इस उद्धरणसे स्पष्ट हो जाता है। घी दूधसे ही मिल सकता है। वह दूध है 'श्रीरामजीके युगल चरण', उनका भजन उनकी शरणागति दूधका मंथन है और वास्तविक सुख घी है। सारांश यह कि विषयोंद्वारा सुखी होनेकी आशा भ्रम वा अज्ञान है, अतः उनसे मुँह मोड़कर 'सुगम सुमार्ग' पर चल।

५ (ख) 'तकु ताहि सरन…' इति। प्रारंभमें जो कहा था कि मेरा 'हित पुनीत सत्य सुवचन सुनु' और 'सुगम सुमग' ग्रहण कर, वह मार्ग यहाँ बताते हैं। 'तकु ताहि सरन…' वह मार्ग है। विषयोंकी आशा जबतक बनी रहती है, तबतक स्वप्नमें भी सुख नहीं मिलता, यथा 'जब लगि नहिं निज हृदि प्रकास अरु विषय आस मन माहीं। तुलसिदास तब

लगि जगजोनि भ्रमत सपनेहु सुख नाहीं ।१२३।' इसीसे विषयोंमें सुखका भ्रम दिखाकर तब प्रभुकी शरण जानेको कहा।

किसकी शरण ग्रहण करे, यह भी बताया कि 'जातें सब लहत'। भाव कि जिनसे सब कोई सिद्धि पाता, अभिमत पाता, अधिकार पाता, जिनकी शरणसे सब शोभा आदि पाते हैं; सब निर्वाह पाते हैं। यथा 'जाके चरन बिरंचि सेइ सिधि पाई संकरहूँ।', 'करुनासिंधु भगतचिंतामनि सोभा सेवतहूँ।' (८६), 'हरि-हरहि हरता, बिधिहि बिधिता, श्रियहि श्रियता जेहि दई। सो जानकीपति मधुर मूरति मोदमय मंगलमई। १३५।', 'छोटे बड़े खोटे खरे मोटेऊ दूबरे राम रावरे निबाहैं सबही की निबहति। २४६।', 'गये राम-सरन सब को भलो। गनीगरीब बड़ो-छोटो बुध-मूढ़ हीन-बल अति-बलो॥ पंगु-अंध निरगुनी-निसंबल, जो न लहै जाचे जलो। सो निबह्यो नीके, जो जनमि जग रामराजमारग चलो। गी०५।४२।'—इन्हींकी शरण जानेसे सबने ऐश्वर्य और सुख पाया है, तू भी चाहता है तो इन्हींकी शरण ताक।

सू० शुक्ल—अन्तःकरणकी घोर (राजस) और मूढ़ (तामस) वृत्तियोंमें परमात्माकी चिच्छक्तिका न्यूनाधिक प्रतिबिंबमात्र ही पड़ता है, इसीसे किंचित् सुखका भान हो जाया करता है, अधिकतासे तो ये वृत्तियाँ दुःख-रूपही हैं। शान्त (सात्विक) वृत्तियोंमें तो आनन्दरूप परमात्माका भी प्रतिबिंब पड़ता है, इसलिये शान्त वृत्तियोंमें ही सुख है, यही परमात्माके मिलनेका सीधा मार्ग है।

श्रीसीतारामचंद्रार्पणमस्तु।

१३४

तातें[1] हौं[2] बारबार देव द्वार पर्यो[3] पुकार करत।
आरति[4] नति[5] दीनता[6] कहें सुप्रभु[7] संकट हरत ॥१॥
लोकपाल सोक-बिकल रावन-डर डरत।
का[8] सुनि सकुचे[9] न कृपाल नर सरीर धरत ॥२॥

१, २—मु०, ७४ मे नही है। २ हो—रा०, ५१, भ०, डु०। हौं—प्रायः औरोमे। ३ परयो—रा०, ज०। परि—औरोमे। ४ आरति—रा०, भा०, वे०, डु० आ०। आरत—ह०, ज०, भ०। ५ नत—ह०, डु०, ज०। नति—प्रायः औरोमे। ६ दीन—७४। ७ सुप्रभु संकट—रा०, भा०, प्र०। प्रभु संकट—ह०, ५१, आ०। सो प्रभु संकट—वे०। ८ सो—१५। ९ सकुचे न—रा०। सकुचन—भा०, वे०। सकुचे—प्रायः औरोमे।

कौसिक मुनितीय जनक सोच[10] अनल जरत।
साधन केहि सीतल भये सो न समुझि परत ॥३॥

केवट खग सवरि सहज चरन कमल न रत।
सनमुख तोहि[11] होत नाथ कुतरु सुफल फरत ॥४॥

बंधु-वैर कपि विभीषन गुरु गलानि गरत।
सेवा केहि रीझि राम[12] किये हैं सरिस भरत ॥५॥

सेवक भयो[13] पवनपूत साहिब[14] अनुहरत।
ताको[15] लिये[16] नाम[17] राम सबको[18] सुढर ढरत ॥६॥

जाने बिनु रामरीति पचि-पचि जग मरत।
परिहरि छल सरन गयें तुलसिहु से तरत ॥७॥

शब्दार्थ—आरति (आर्ति)=दुःख। नति=नम्रता, विनय। दीनता=गरीबी, दुःखसे उत्पन्न अधीनता; खिन्नता। परयो=पड़ा हुआ। का= क्या। मुनितीय=गौतम मुनिकी पत्नी अहल्या। सहज=स्वाभाविक; स्वभावतः। कुतरु=कुत्सित (बुरे) वृक्ष। फरत=फलते हैं। गुरु=भारी। गरना=गलना। अनुहरत ('अनुहरना' का कृदंतरूप)= अनुरूप; उपयुक्त, योग्य; यथा 'तनु अनुहरत सुचंदन खौरी ।१।२१६।४।', 'मोहि अनुहरत सिखावन देहू। २।१७७।७।', 'चरित करत नर अनुहरत संसृति सागर सेतु ।२।८७।' ढरना=दीन दशा दूर करनेमें प्रवृत्त होना; कृपा करना; पसीजना। सुढर=सहज कृपालुता करुणासे; भली प्रकार। यथा 'तुलसी सबै सराहत भूपहि भले पैत पासे सुढर ढरे री। गी० ।१।७६।', 'तुलसी सराहैं भाग कौसिक जनकजू के, विधि के सुढर होत सुढर सुदाय

१० सोच—रा०, ह०, ५१, ७४, आ०। सोक—भा०, वे०, भ०, ज०, १५। ११ तव—मु०, ७४। १२ हैं—रा०, भा०, वे० ज०, प्र०। ह०, ५१, ७४, आ० मे 'हैं' नही है। १३ भयो—रा०, ह०, ५१, आ०। भये—भा०, वे०, ७४। १४ साहिब—रा०, ह०, आ०। साहेब—भा०, वे०, ७४, ज०। १५ जाको—७४। १६ लिये—रा०, ह०, ५१, ज०, १५, आ०। लिय—भा०, वे०, मु०, ७४। १७ नाम राम—रा०, भा०, वे०, दीन, ह०, प्र०, ७४, ज०। राम नाम—आ०। १८ सबहि—७४।

के। गी० १।६७'—(इसमें पहले 'सुढर'का अर्थ कृपाल और प्रसन्न है)। पचि-पचि = हैरान होकर; अत्यन्त परिश्रम कर-करके।

पद्यार्थ—"सुप्रभु (अत्यन्त समर्थ सर्वश्रेष्ठ स्वामी श्रीरामजी) दुःख, विनय और दीनता निवेदन करनेपर (आर्त, नत, दीनका) संकट हर लेते हैं"—इसीसे हे देव ! मैं आपके द्वारपर पड़ा हुआ बार-बार पुकार कर रहा हूँ। (भाव कि मैं भी आर्त नत दीन हूँ, शरणमें आया हूँ, मेरा भी संकट हरिये) ।१। (इन्द्रादि) लोकपाल रावणके डरसे भयभीत होकर शोकसे व्याकुल थे। (तब) हे कृपाल ! क्या सुनकर आप नरशरीर धारण करनेमें न सकुचाये थे ? † (अर्थात् आर्ति, नति और दीनता ही तो सुनकर आपने नर-शरीर धारण किया था, या कुछ और ?) ।२। कौशिकजी (विश्वामित्रजी), अहल्या और जनकजी चिन्तारूपी अग्निमें जल रहे थे। किस साधनसे वे शीतल (चिन्तारहित) हुए, यह समझ नहीं पड़ता ।३। केवट (गुह निषादराज), पक्षी (गृध्रराज जटायु) और शबरी स्वभावतः आपके चरणकमलके अनुरागी न थे। हे नाथ ! आपके सम्मुख होते ही 'कुतरु' भी सुन्दर फल फलने लगते है (अर्थात् 'कुतरु' भी "सुतरु' हो जाते हैं)। ४। वानर (सुग्रीव) और विभीषण (अपने-अपने) भाईके वैरके कारण भारी ग्लानिसे गले जाते थे। हे श्रीरामजी ! (उनकी) किस सेवापर रीझकर आपने उनको श्रीभरतजीके समान कर लिया (अर्थात् भाई माना) ? । ५ । स्वामीके अनुरूप सेवक (तो) पवनपुत्र (श्रीहनुमान्-जी ही) हुए। उनका नाम लेनेसे, हे श्रीरामजी ! आप सबपर भली प्रकार कृपा करते हैं। ६। हे श्रीरामजी ! आपकी (वा, श्रीरामजीकी) रीति जाने विना संसार (अनेक साधनोंमें) पच-पच मर रहा है। छल छोड़कर शरण जानेसे तुलसी-सरीखे भी तर जाते हैं। ७।

टिप्पणी—१ 'तातें हौं बारबार देव द्वार ' इति। (क) पिछले पदमें कहा था 'तुलसी तकु ताहि सरन जातें सब लहत।' अब इस पदमें शरण तककर आना दिखाया है। द्वारपर पड़ना और पुकारना दोनों शरणागत

† (१) 'का सुनि सकुचे' पाठका अर्थ होगा—'क्या आप सुनकर सकुचे थे ? अर्थात् नहीं सकुचाये थे। अथवा, 'क्या सुनकर आप नरतन धरनेमे सकुचे थे' अर्थात् दीनता सुनकर ही तो आप सकुचे थे। पद ४३ मे ब्रह्मादिका संकोच कहा है, यथा 'बिकल ब्रह्मादि सुर सिद्ध संकोच बस बिमल गुनगेह नरदेह धारी।' (२) 'सकुच न' पाठका अर्थ भी 'सकुच न हुआ' लेने से 'सकुचे न' का सब भाव आ जाता है।

होना सूचित करते हैं। यथा 'पठवा तुरत राम पहि ताही। कहेसि पुकारि प्रनतहित पाही। ३।२।१०' आगे भी कहा है—'देव दुआर पुकारत आरत। १३६।' यहाँ उपक्रममें 'देवद्वार परि पुकार करत' कहा और अन्तमें 'सरन गये तुलसिहु से तरत' कहा, इस प्रकार भी द्वारमें पड़ना शरणमें पड़ना है।

पिछले पदमें 'जातें सब लहत' कहा था, उसीको यहाँ 'देव'से सूचित किया। अर्थात् 'हरि-हरहि हरता विधिहि बिधिता श्रियहिं श्रियता जेहिं दई', जो सब देवताओंके भी देव हैं, जो दिव्यमंगलविग्रह हैं, जिनको श्रुति भी 'देव' कहती है, यथा 'यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै। त ँ ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये। श्वे० ६।१८।' (अर्थात् जो सृष्टिके आरंभमें ब्रह्माको उत्पन्न करता है और जो उसके लिये वेदोंको प्रवृत्त करता है, आत्मबुद्धि प्रकाशक उस देवकी मैं मुमुक्षु शरण ग्रहण करता हूँ)।

१ (ख) 'बारबार', 'द्वार परयो', 'पुकार करत'—ये सब दीनताके लक्षण हैं। यहाँ आर्त्त, दीन, प्रणतका कर्तव्य बताया है कि इसी प्रकार बारंबार प्रभुसे अपना दुःख, अपनी दीनता निवेदन किया करे और प्रभुके गुणगण सुनाया करे। द्वारपर पड़ा होना पूर्व भी तथा अन्तमें और यहाँ मध्यमें कहा है। यथा 'तुलसिदास निज भवन द्वार प्रभु दीजै रहन परयो। ६१।', 'द्वार हौं भोरहीं को आजु। रटत ररिहा आरि ··· । २१६।', 'दूरि कीजै द्वार तें लबार लालची प्रपंची, सुधा सो सलिल सूकरी ज्यों गह-डोरिहौं। २५८।', 'पनु करि हौं हठि आजु तें रामद्वार परयो हौं। २६७।'—अतः 'द्वार परयो' कहा। पुकार भी बार-बार करना विनय भरमें पाया जाता है। यथा—'मैं एक अमित बटपार। केउ सुनइ न मोरि पुकार॥ भागेहु नहिं नाथ उबार। रघुनायक करहु संभार। १२५।', 'पाहि पाहि राम पाहि रामभद्र रामचंद्र सुजस श्रवन सुनि आयो हौं सरन। २४८।', "तौ हौं बार-बार प्रभुहि पुकारिकै खिझावतो न जो पै मोको होतो कहूँ ठाकुर ठहरु। २५०।"—इन उद्धरणोंमें पुकारका बारंबार किया जाना स्पष्ट है।

१ (ग) 'आरति नति दीनता ··· ' इति। यथा 'देव! सेवा बिनु गुन बिहीन दीनता सुनाये। जे जे तैं निहाल किये फूले फिरत पाये। ८०।', 'अधम आरत दीन पतित पातक पीन सकृत नतमात्र कहे पाहि पाता। ४४।', इत्यादि। इसीसे 'सुप्रभु' कहा, क्योंकि दुःख दीनता सुना देनेसे ही संकट हर लेते हैं। इस कथनके प्रमाण आगे कवि स्वयं देते हैं, किस-किसका दुःख दीनता सुन संकट हरे, यह बताते हैं।

टिप्पणी—२ (क) 'लोकपाल सोक बिकल···' इति ।—लोकपालोंके लोक रावणने छीन लिये, सब संपत्तिहीन हो गए । उसपर भी देवताओंको नित्य हाजिरी देनी पड़ती थी, इत्यादि । इसीसे शोकातुर रहते थे । यथा 'सभय दिसिप नित नावहि माथा । ६।१०३।११।', 'कर जोरे सुर दिसिप बिनीता । भृकुटि बिलोकत सकल सभीता । ५।२०।७।', 'आयसु करहि सकल भयभीता । नवहिं आइ नित चरन बिनीता । १।१८२।', 'दसमुख बिबस तिलोक लोकपति बिकल बिनाये नाक चना हैं । गी० ७।१३।'—सबको शोक था, इसीसे 'गगन गिरा गंभीर भइ हरनि सोक संदेह । १।१८६।'

२ (ख) 'का सुनि सकुचे न कृपाल···' इति । ब्रह्मादिके पिता, चौदहों भुवनोंके स्वामी, त्रिपाद्विभूतिके स्वामी एवं माया-गुण-गो-पार होकर मनुष्यका पुत्र होना, नरदेह धारण करके उसमें नरनाट्य करना इत्यादिसे बड़ा उपहास होता है, इससे अत्यन्त लघुता और हीनता होती है । यथा 'ब्रह्मांड निकाया निर्मित माया रोम रोम प्रति बेद कहै । मम उर सो बासी यह उपहासी सुनत धीर मति थिर न रहै । १।१९२।', 'जिन्हके हौं हित सब प्रकार चित नाहिन और उपाउ । तिन्हहि लागि धरि देह करौं सब डरौं न सुजस नसाउ । गी० ५।४५।' तो भी भयभीत शरणमें आये हुये देवगणकी आर्त्ति, विनय और दीनता सुनकर कृपाल प्रभुने इस लघुताको स्वीकार करनेमें किंचित् संकोच न किया, तुरन्त प्रथम वचन यही कहा कि 'जनि डरपहु मुनि सिद्ध सुरेसा । तुम्हहि लागि धरिहौं नर बेसा । १।१८७।१ ।' अतः प्रश्न करते हैं—'का सुनि सकुचे न' ? लोकपालादिकी किस बातको सुनकर आपने किंचित् संकोच न किया ? तात्पर्य कि उनकी 'आरति नति दीनता' ही तो सुनकर आपने रावणवधके लिये नरतन धरा ।—४२ (१ झ) देखिए ।

देवोंकी प्रार्थनामें ये तीनों बातें हैं । यथा 'सो करहु अघारी चित हमारी जानिय भगति न पूजा ।', 'मन बच क्रम बानी छाँड़ि सयानी सरन सकल सुर जूथा ।', 'जेहि दीन पिआरे वेद पुकारे द्रवौ सो श्रीकंता ।', 'मुनि सिद्ध सकल सुर परम भयातुर नमत नाथ पदकंजा ।'

'नरशरीर धारण'के भाव ४२ (१ झ, ट), ५० (५ घ), ५७ (७ ख) में देखिए ।

टिप्पणी—३ 'कौसिक मुनितीय जनक सोच···' इति । (क) ये तीनों अपने-अपने कार्यके लिये चिन्तारूपी अग्निमें जल रहे थे । चिन्ता होनेसे ही 'कौशिक' राजसंबंधी नाम दिया । इनको चिन्ता थी कि ताटका और मारीच आदिका उपद्रव कैसे शान्त हो । यथा 'गाधितनय मन चिंता

व्यापी। हरि बिनु मरहिं न निसिचर पापी। १।२०६।५।', 'कौसिक गरत तुषार ज्यों तकि तेज तिया को। १५२।' अहल्या शापवश थी, उसे शोच था कि न जाने कब उद्धार होगा। श्रीजनकमहाराज प्रतिज्ञाकी पूर्तिकी चिंतासे संतप्त थे। यथा 'उठहु राम भंजहु भवचापा। मेटहु तात जनक परितापा। १।२५४।६।', 'सोच मगन काढ्यो सही साहिब मिथिला को। १५२।' क० ७।११ में भी तीनोंका शोचयुक्त होना कहा है। यथा 'कौसिक बिप्रबधू मिथिलाधिपके सब सोच दले पल माहैं।...'

३ (ख) 'साधन केहि सीतल...' इति। 'किस साधनसे शीतल हुए, उनके शोच मिटे? मुझे तो उनका कोई साधन ऐसा दीखता नहीं'—इस कथनका भाव भी यही है कि आर्ति, विनय और दीनता सुनकर ही आपने उनके शोच दूर किये। कौशिकजीने श्रीदशरथजीसे याचना की। दूसरा स्वर्ग आदि बना देनेको समर्थ ऐसे विश्वामित्र दीन होकर राजासे विनय करते हैं कि 'असुर समूह सतावहिं मोही। मैं जाचन आएउँ नृप तोही॥ अनुज समेत देहु रघुनाथा। निसिचरबध मैं होब सनाथा। १।२०७।'—यह दुःख विनय और दीनता सुनकर 'पुरुषसिंह दोउ बीर हरषि चले मुनिभयहरन। १।२०८।', और ताड़का सुबाहु आदिको मारकर उनको शीतल किया,—'मारि असुर द्विज निर्भयकारी। १।२१०।'

अहल्याका संताप और दीन दशा विश्वामित्रजीसे सुनी। यथा 'गौतम-नारि श्रापबस उपलदेह धरि धीर। चरनकमलरज चाहति कृपा करहु रघुबीर। १।२१०।' वह आर्त्त, दीन तथा शोकसे पीड़ित थी, इसीसे उसका उद्धार करनेपर कविने कहा है—'तुलसिदास अस केहि आरतकी आरति प्रभु न हरी। गी० १।५७।', 'अस प्रभु दीनबंधु हरि...।१।२११।', 'तुलसी ह्वै बिसोक पतिलोकहि प्रभुगुन गनत गई। गी० १।५६।' शाप-पाप मिटे, मुनि अहल्याको फिर ले गए, यही शीतल होना है। गी० १।५७ में भी कहा है—'प्रबल पाप पतिसाप दुसह दव दारुन जरनि जरी। कृपासुधा सिंचि बिबुधबेलि ज्यों फिरि सुखफरनि फरी।'—कृपाजलसे सींचनेपर संताप मिटा।

श्रीजनकजीके दीन वचन सुने, यथा 'सुकृत जाइ जौं पन परिहरऊँ। कुअँरि कुआँरि रहउ का करऊँ॥ जौं जनतेउँ बिनु भट भुवि भाई। तौ पनु करि होतेउँ न हँसाई। १।२५२।'—इस दीनताको सुनकर प्रभुने धनुष तोड़ा, राजाका शोच मिटा, वे सुखी हुए। यथा 'जनक लहेउ सुख सोचु बिहाई। पैरत थकें थाह जनु पाई।१।२६३।४।'*

* वै०—भाव कि कौशिक, गौतम, और जनकमहाराज ये तीनो बड़े समर्थ थे,

☞'सोच', 'अनल' और 'जरत' के संबंधसे 'शीतल' होना कहा। अग्नि बुझाई वा ठंढी की जाती है।

टिप्पणी—४ 'केवट खग सबरि ··' इति। (क) 'इनका प्रभुके चरणकमलोंमें स्वभावतः प्रेम न था',—इसके भाव कई प्रकारसे कहे गए हैं—(१) जैसा प्रेम दर्शन करनेपर प्रकट हुआ, वैसा प्रेम पूर्व न था। (२) स्वाभाविक प्रेम न था, नहीं तो वे आपका दर्शन पहले ही आकर कर लेते। (३) स्वभावसे तो ये कुटिल, कठोर, हिंसक, मांसाहारी इत्यादि होते हैं, भगवान्‌में प्रेम नहीं होता।

केवट आदिके स्वभाव—यथा 'हिंसारत निषाद तामस नर पसु समान बनचारी। १६६।', 'गुह गरीब गत-ज्ञातिहू जेहि जिउ न भखा को। १५२।', 'परम अधम निषाद पाँवर कौन ताकी कानि। २१५।' (केवट); 'गीध कौन दयाल जो बिधि रच्यो हिंसा सानि। २१५।', 'बिहंगजोनि आमिष-अहारपर गीध कौन ब्रतधारी। १६ ।' (जटायु); 'प्रकृति मलिन कुजाति सबरी सकल अवगुन खानि। २१५।', 'अधम जाति सबरी जोषित जड़ लोक बेद तें न्यारी। १६६।'—ये सब जन्मसे अधम थे, ऐसोंका सहज स्वभाव यही होता है कि भजनमें मन न लगे। यथा 'पापवंत कर सहज सुभाऊ। भजन मोर तेहि भाव न काऊ। ५।४४।'—अतः कहा कि स्वभावतः वे रामचरणानुरागी न थे। वे चरणानुरागी कैसे हो गए, यह अगले चरणमें बताते हैं।

४ (ख) 'सनमुख तोहि होत नाथ ··' इति। यह सम्मुखमात्र होनेका फल दिखाया। बबूल और बहेड़ा आदि कुत्सित वृक्ष माने गये हैं। आम आदिके वृक्ष,जो सात्विक कर्मोंमें काम आते हैं, माङ्गलिक हैं और सुन्दर स्वादिष्ट फल देते हैं, वे 'सुतरु' हैं। पूज्य कविने इन्ही वृक्षोंका नाम इस संबंधमें प्रयुक्त किया है। यथा 'नाम प्रसाद लहत रसाल फल अब, हौं बबुर बहेरें। २२७।'

शक्तिमान् थे, पर ये अपनी किसी शक्तिसे शोच न मिटा सके थे। प्रभुने इनको आर्त्त देख इनका शोच मिटाया।

श्री० श०—इन लोगोने साधनोका भरोसा नही किया, किन्तु श्रीरामजीसे कृपाकी ही भीख माँगी और उसीसे शीतल हुए। विश्वामित्रजी अपने आयुधरूप साधन सौंपकर और श्रीजनकजी दर्शन करते ही अपने ज्ञान आदिको निछावरकर उपायशून्य शरणागत हुए, तब प्रभुने उनके शोच हरे।

केवट आदि दर्शन पानेपर कुतरुसे सुतरु हो गए, ये सुन्दर फल फलने लगे। यथा 'हम जड़ जीव जीवगनघाती। कुटिल कुचाली कुमति कुजाती॥ पाप करत निसि वासर जाहीं। नहिं पट कटि नहिं पेट अघाहीं॥ सपनेहु धरम बुद्धि कस काऊ। यह रघुनंदन दरस प्रभाऊ॥ जब तें प्रभु पद पदुम निहारे। मिटे दुसह दुख दोष हमारे॥२।२५१।' इसी प्रकार जटायुको दर्शन होनेपर दृढ़ प्रीति हुई; यथा 'गीधराज सें भेंट भइ बहु बिधि प्रीति बढ़ाइ। ३।१३।' शबरीजीको मतंग ऋषिका संग होनेपर श्रीरामजीमें प्रेम हुआ। प्रभुका दर्शन होनेपर उसे दुर्लभ गति मिली। यथा 'जोगिबृंद दुरलभ गति जोई। तो कहुँ आज सुलभ भइ सोई॥ मम दरसन फल परम अनूपा। जीव पाव निज सहज सरूपा।३।३६।'

४ (ग) 'सुफल फरत' इति। इनके स्मरणसे, इनके यशोगानसे अन्य जीव 'तर जाते हैं, रामानुरागी हो जाते हैं'—यह सुन्दर दिव्य फल देनेवाले हो गए। ये प्रातस्मरणीय हो गए, हरिवल्लभोंमें इनकी गणना हो गई। यथा 'उपल केवट कीस भालु निसिचर सबर गीध सम दम दया दान हीने। नाम लियें राम किये परम पावन सकल तरत नर तिन्हके गुन गान कीन्हे।१०६।', 'गीध सिला सबरी की सुधि सब दिन किये होइगी न साईं सों सनेह हित हीनता।२६२।'—श्रीजटायु और शबरीजीकी भक्तिकी कथा ४३ (६ घ) में आ चुकी है।

☞सारांश कि अस्पृश्य, अधम, हिंसारत भी प्रभुकी शरणागति मात्रसे तरण-तारण हो जाते हैं, उनके दोष दुःख सब मिट जाते हैं। मैं सम्मुख हूँ, पुकार रहा हूँ, मेरा भी संकट हरिए।

टिप्पणी—५ 'बंधुबैर कपि बिभीषन···' इति। (क) सुग्रीव और विभीषण दोनोंही बड़े चिन्तित और संकटमें थे। यथा 'बालित्रास व्याकुल दिन राती। तनु बहु व्रन चिंता जर छाती॥४।१२।३।', 'ताके भय रघुबीर कृपाला। सकल भुवन मैं फिरेउँ बिहाला॥ इहाँ साप बस आवत नाहीं। तदपि सभीत रहउँ मन माहीं।४।६।'; 'तात लात रावन मोहि मारा। कहत परम हित मंत्र बिचारा॥ तेहि गलानि रघुपति पहिं आयउँ।६।६३।', 'जातुधानेस-भ्राता बिभीषन नाम, बंधु अपमान गुरु ग्लानि चाहत गरन।गी०५।४३।'

५ (ख) 'सेवा केहि रीझि ··' इति। अर्थात् इन्होंने कोई सेवा ऐसी नहीं की, जिससे इन्हें भाई समान मान लिया। यथा 'का सेवा सुग्रीव की कहा प्रीति रीति निरबाहु। १६३।',—'कहा बिभीषन लै मिल्यो कहा दियो रघुनाथ। तुलसी यह जाने बिना मूढ़ मीजिहैं हाथ। दो०१६५।' इनके

भरत सम माना, यह आदर प्रथम ही किया। यथा 'तुम्ह प्रिय मोहि भरत सम भाई।४।२१।७'—(यह किष्किंधा प्रवर्षण पर्वतपर ही श्रीरामजीने कहा था), 'रजनिचर अरु रिपु बिभीषन सरन आयो जानि। भरत ज्यों उठि ताहि भेंटत देह दसा भुलानि। २१५।'-(शरणागत होते ही भरतके समान मान लिया)। और श्रीअवधपुरीमें आनेपर तो सब सखाओंको 'भरतहु ते मोहि अधिक पिआरे' कहा है। (७।८।८)।

☞सारांश यह कि केवल शरणमें आकर दुःख निवेदन करनेमात्रसे उनका इतना सम्मान हुआ। जो स्वयं बली शत्रुसे भयभीत थे, जिनके भयको प्रभुने मिटाया, वे भला प्रभुकी क्या सेवा कर सकते थे?—'कपि सुग्रीव बंधुभय ब्याकुल आयो सरन पुकारी।६६।', 'कहा बिभीषन लै मिल्यो कहा बिगार्‌यो बालि। तुलसी प्रभु सरनागतहि सब दिन आए पालि। दो० १५६।' कवितावलीमें भी कहा है—'···कपीस निसिचरु अपनाए नाएँ माथजू।···काकी सेवा रीझि कै निवाज्यो रघुनाथजू।७।१६।'

नोट—यहाँ आर्त, दीन, अधम तथा अर्थार्थी शरणागतोंपर बिना साधन सेवाके ही कृपा करना कहा। सब चरित क्रमसे कहे गए। ब्रह्मादिकी विनयपर अवतार, विश्वामित्रयज्ञरक्षा, अहल्योद्धार, श्रीजनकजीके शोचकी निवृत्ति। यह बालकांड हुआ। वनवासमें प्रथम निषादराजको निवाजा। यह अयोध्याकांड हुआ। अरण्यमें गृध्रराज और शबरीको गति दी। किष्किधामें सुग्रीवपर और सुन्दर तथा लंकामें विभीषणपर कृपा की। 'भरत सरिस' से उत्तरको भी ले सकते हैं। आगे निष्काम सेवाका फल श्रीहनुमान्‌जीके उदाहरणद्वारा कहते हैं।

टिप्पणी—६ 'सेवक भयो पवनपूत···' इति। (क) एक हनुमान्‌जी ही निष्काम सेवक हुए जिन्होंने कभी कुछ न चाहा। इस निष्कामताका फल यह मिला कि प्रभु इनके कृतज्ञ बने रह गए। और, प्रभुकी कौन कहे सारा परिवार उनका ऋणी बन गया। प्रभु उनके वश हो गए; जो कोई उनका सेवक होता है, उनका नाम लेता है उसपर परिवार सहित वे अत्यन्त अनुकूल रहते हैं। यथा 'कपि सेवा बस भये कनोड़े, कह्यो पवनसुत आउ। दीबे कों न कछू रिनिया हौं धनिक तूँ पत्र लिखाउ॥' [१०० (७ क-ख) में विस्तृत व्याख्या देखिए]; 'सेवक सेवकाई जानि जानकीस मानै कानि सानुकूल सूलपानि नवै नाथ नाकको' (बाहुक १२), 'सानुग सगौरि सानुकूल सूलपानि ताहि लोकपाल सकल लषन राम जानकी।···

बालक ज्यों पालिहैं कृपाल मुनि सिद्ध ताको, जाके हिये हुलसति हाँक हनुमान की। बाहुक १३।', 'सदा अभय जयमय मंगलमय जो सेवकु रनरोर को। भगत कामतरु नाम० ।३१।'

६ (ख) 'साहिब अनुहरत' का भाव कि स्वामी जैसे योग्य हैं, वैसे ही उनकी सेवाके योग्य एक हनुमान्‌जी ही हुए। यही बात कवितावलीमें यों कही है—'साँची सेवकाई हनुमानकी सुजानराय, रिनिया कहाये हौं बिकाने ताके हाथ जू ।७।१६।'

[वै०, भ०, दीनजी, वि० ने अर्थ किया है कि "हनुमानजी दास होनेपर भी स्वामीके समान हो गए।" वैजनाथजी लिखते हैं कि—ऐश्वर्यमें समानता यह है कि श्रीरामजी परात्पर ब्रह्म हैं तो हनुमान्‌जी महाशंभु हैं। श्रीरामजी उदार दानी, एकपत्नीव्रत, परिपूर्ण वीर और सुशील स्वामी हैं तो हनुमान्‌जी भी पवनपुत्र लोकके उपकारकर्ता हैं, इन्होंने विवाह किया ही नहीं (ये 'कामजेताग्रणी' 'मन्मथमथन ऊर्द्धरेता' हैं), महावीर नाम ही है और मनकर्मवचनसे सत्यधर्मव्रती श्रीजानकीनाथचरणानुरागी हैं। —इस प्रकार स्वामीके अनुहार सेवक हैं]

६ (ग) 'ताको लिये नाम राम सबको···' इति। पद ३१ में बताया था कि आपका नाम भक्तके लिये कामतरु है, नाम लेनेसे आपका सेवक जयमय मंगलमय हो जाता है। (ऊपर टि० (क) में देखिए)। यहाँ उसका अर्थ स्पष्ट करते हैं कि श्रीरामजीही हनुमान्‌जीके नामजापकको 'जयमय मंगलमय' बना देते हैं और उसे अर्थ-धर्म-काम-मोक्ष सब कुछ दे देते हैं, यही 'सुढर ढरनो' है।

टिप्पणी—७ 'जाने बिनु राम रीति ··' इति। (क)—ऊपर 'देव' और 'तोहि' संबोधन आये हैं, अतः यहाँ भी 'राम' को संबोधन मान सकते हैं। 'राम रीति' क्या है? यही है जो 'आरति नति दीनता कहें' से 'सुढर ढरत' तक कह आए। संसार क्यों अन्य देवाराधनों तथा साधनोंमें पचा मरता है, उसका कारण यहाँ बताते हैं—'जाने बिनु रामरीति'। श्रीरामजीकी रीति नहीं जानते, इसीसे प्रभुकी शरणागतिरूप सहज सीधा मार्ग नहीं ग्रहण करते, जानते तो अवश्य ग्रहण करते। ☞भाव कि मैंने आपकी रीति जान ली है, इसीसे मैं शरण आया,—'तातें हौं बारबार द्वार परयो पुकार करत'। रामरीति कैसे जानी? श्रीभरतजीसे जानी; यथा 'गर्जर रीति सुबानि बड़ाई। जगत बिदित निगमागम गाई॥ क्रूर कुटिल

खल कुमति कलंकी। नीच निसील निरीस निसंकी। तेउ सुनि सरन सामुहें आए। सकृत प्रनाम किहें अपनाए।२।२६६।'

७ (ख) 'परिहरि छल सरन गएँ...' इति। स्वार्थ छल है। छल छोड़कर शरण होनेसे महापातकी भी तर जाते हैं। इसमें यह भी भाव है कि जो स्वार्थ लेकर जायँगे उनको प्रथम स्वार्थकी सिद्धि होती है। जैसे ध्रुवजीके मनमें राज्यकी कामना थी, विभीषणजीके भी 'उर कछु प्रथम बासना रही'; इसीसे उनकी वह वासना प्रथम पूरी की गई। पीछे भव-तरण भी होगा। और जो स्वार्थ लेकर नहीं जाते, वे शीघ्र प्रारब्ध भोगकर प्रभुको प्राप्त होते हैं। छल छोड़कर शरण जानेसे अर्थ-धर्मादिकी प्राप्ति अवश्य होती है। यथा 'होइ भलो ऐसेही अजहु गयें रामसरन परिहरि मनी। भुजा उठाइ, साखि संकर करि, कसम खाइ तुलसी भनी। गी० ५।३६।', 'गयो छाड़ि छल सरन रामकी जो फल चारि चारयौं जनै। गी०५।४०।'

७ (ग) 'तुलसिहु से तरत'—भाव कि यह जानकर सबको प्रभुकी शरण हो जाना चाहिए, यदि भवजालसे छूटना हो। तुलसीदास क्या थे, क्या हो गए, यह पूर्व कई वार दिखा आये हैं—६६ (५ ग) देखिए। ये मन-कर्म-वचनसे श्रीरामके ही हैं—४२ (३ घ) देखिए। अपनेको अजामिलसे भी अधिक अधम कहा है—६६ (३ घ) देखिए।

श्रीसीतारामचन्द्रार्पणमस्तु।

१३५ (५१) राग सुहब (सूहो बिलावल)❀

राम सनेही सों तैं न सनेहु कियो।
अगम जो अमरनि हूँ सो तनु तोहिं[1] दियो॥

❀ 'सुहब' नामका प्रयोग गोस्वामीजीने अन्यत्र भी किया है। यथा 'सारंग गुंड-मलार सोरठ सुहब सुघरनि बाजही। बहु भाँति तान तरंग सुनि गंधर्व किंनर लाजही। गी० ७।१६।' इसीको 'सूहो' राग कहते हैं।

सम्वत् १६६६ की पोथीमे 'सुहब' नाम है। प्रायः अन्य सबोमे 'सूहो बिलावल' है। भा० मे 'सूहो' है।

१ तोहिं—६६, वै०, भ०, दीन, वि०। तोहि—रा०, ह०, भा०, वे०, हु०, मु०।

छंदु ॥ दियो[2] सुकुल जन्म सरीर सुंदर हेतु जो फल चारि को।
जो पाइ पंडित परम पद पावत पुरारि मुरारि को।
एहु[3] भरतखंड समीप सुरसरि थलु भलो संगति भली।
तेरी कुमति कायर कलपवल्ली चहति विषफल[4] फली ॥१॥
अजहुँ[5] समुझि चितु दै सुनि[6] परमारथु।
है हितु सो जगहूँ,[7] जाहि तें स्वारथु।
छंदु ॥ स्वारथहि प्रिय स्वारथ सो काते, कौनु वेद बखानई।
देखई[8] खेलइ अहि खेल परिहरि सो प्रभुहि पहिचानई।
पितु मातु गुर स्वामी अपनपो[9] तिय तनय सेवक सखा।
प्रिय लगत जाके प्रेम सो[10] बिनु हेतु हितु नहिं तैं लखा ॥२॥
दूरि न सो हितू हेरु[11] हियें हि[12] है।
छलहि छाड़ि सुमिरे छोह कियें हि[13] है।
छंदु ॥ कियें छोह छाया कमल कर की भगत पर भजतेहि भजै।
जगदीस जीवन जीव को जो साज सब सबके[14] सजै।
†हरि-हरहि हरता बिधिहि बिधिता श्रियहि श्रियता जेहिं दई।
सो[15] जानकीपति मधुर मूरति मोदमय मंगलमई ॥३॥

२ दिय–७४। ३ एहु–६६। यह–प्रायः औरोमे। ४–विष फल–६६, ह०, भा०, मु०। सो विष–वे०, प्र०, ज०। विषफलनि–रा०। है विषफल—आ०। ५ अजहुँ–६६, भा०, वे०। अजहूँ–५१, रा०, आ०। ६ सुनि–६६, रा०, भा०, वे०, प्र०, भ०। सुनु–ह०, ७४, दीन, वि०। सुनो–५१, वै०, डु०, मु०। ७ जगहु–ह०। ८ देखइ खेलइ–६६, रा०, भ०। देखहिं खेलै–ह०। देखिय खेलहि–ज०। देखु खेल–५१। देखइ खेलै–भा०, वे०। देखु खल–वै०, डु०, दीन, वि०। मत देख खल—मु०, ७४। ९ अपनपो–६६, रा०। अपनपौ–भा०, वे०, ह०, ५१, आ०। १० सो–६६, ५१, ज०। सो–आ०, रा०, ५१। तें–भा०, वे०, ७४। ते—ह०। ११ हेरि—भा०, वे०, ह०, दीन। हेरु–६६, रा०, वै०, वि०, डु०। १२, १३ हि–६६, ज०, भ०। ही—प्रायः औरोमे। १४ के–६६, रा०, डु०, भ०। को–भा०, वे०, ५१, ७४, आ०। † यह पाठ ज्योका त्यो ६६, रा०, भा० मे है। भ० मे और ह० मे केवल 'हरि' नही है, प्रायः औरोमे 'हरिहि हरता बिधिहि बिधिता शिवहि शिवता' पाठ है—(मु०, ७४ मे

ठाकुर अतिहिं बड़ो सील सरल सुठि।
ज्ञान[16] अगम सिवहू, भेंट्यो केवट उठि।

छंद॥ भरि अंक भेंट्यो सजल नयन सनेह सिथिल सरीर सो।
सुर सिद्ध मुनि कबि[17] कहत कोउ न प्रेम प्रिय रघुबीर सो।
खग सवर[18] निसिचर भालु कपि किये आपु से[19] बंदित बड़े।
तापर तिन्ह[20] कि सेवा सुमिरि जिय जात जनु सकुचनि गड़े॥४॥

स्वामी को सुभाउ कह्यो सो जब उर अनिहैं[21]।
सोचु सकल मिटिहै, राम्रु भलो मनिहैं[22]।

छंद॥ भलो मानिहैं रघुनाथ जोरि जो हाथ माथो नाइहै।
ततकाल तुलसीदास जीवन जनम को फलु पाइहै।
जपु[23] नाम करहि प्रनाम कहि गुनग्राम रामहिं धरि हियें।
बिचरहि अवनि अवनीस-चरन-सरोज मन मधुकर कियें॥५॥

शब्दार्थ—सनेही (स्नेही) = वह जिसके साथ स्नेह किया जाय; प्रेम करने और निवाहनेवाला। अमरनि (अमरका बहुवचन) = देवताओंको। कल्पवल्ली = कल्पलता। भरतखण्ड—पौराणिक भूगोलमें एक-एक द्वीपके अन्तर्गत सात-सात खण्ड माने गये हैं। उनमेंसे यह एक खण्ड है। राजा भरतने पृथ्वीके नौ खण्ड किये। 'भरतखण्ड' को भारतवर्ष और आर्य्यावर्त का पर्याय भी मानते हैं। यहाँ आर्य्यावर्त ही अभिप्रेत है—यह भारतवर्षका उत्तरीय भाग है, जिसके उत्तरमें हिमालय, दक्षिणमें विन्ध्याचल, पूर्वमें बंगालकी खाड़ी और पश्चिममें अरबसागर है।

'पुनि हरिहि हरता ...' है)। १५ सो—६६, रा०, भा०, वे०, मु०, भ०। सोइ—५१, छु०, वै०, दीन, वि०।

१६ ध्यान—प्राय. औरोमे। ज्ञान—६६। १७ सब—ह० प्र०। कवि—प्राय: औरोमे। १८ सवर—६६, रा०। सवरि—औरोमे। १९ से—६६, रा०, ७४। ते—औरोमे। २० तिन्हकि—६६, रा०, मु०, वै०, ह०, वि०। तिनकी—भा०, वे०, दीन। तिन्हकी—भ०। २१–२२ आनिहैं, मानिहैं—रा०, मु०, वै०, वि०। आनिहै, मानिहै—भा०, वे०, ह०। अनिहैं, मनिहैं—६६। २३ जपु—६४, रा०, ह०, भ०। जपि—भा०, वे०, मु०, ५१, प्र०, ७४, भा०।

मनुने इस देशको पवित्र कहा है। 'खेलइ अहि'—मंत्र या बूटीके बलसे सर्पको पकड़कर उससे खेल करते हैं। 'साँपसे खेलना' मुहावरा है; अर्थात् बड़े जान-जोखमका काम करना जिसमें प्राण बचनेकी आशा कम होती है। अपनपो = अपनी देह; आत्मीयता, संबंध। विधिता = ब्रह्मापना; सृष्टिरचनाशक्ति। हरता = (हरिके संबंधमें) जीवोंके क्लेश हरण तथा सृष्टिपालनकी शक्ति और (हरके संबंधमें) संहारशक्ति। श्रिय (श्री) = लक्ष्मीजी। श्रियता = श्रीपना, मंगल-कल्याण ऐश्वर्यप्रदानकी शक्ति। शील = स्वभाव। सरल = सीधा-सादा। प्रेमप्रिय = जिसको प्रेम ही प्रिय हो। सकुचनि = 'सकुच' का बहुवचन है। गड़ जाना = लज्जासे सिर नीचा कर लेना; झेपना।

पद्यार्थ—श्रीराम ऐसे स्नेहीसे तूने स्नेह न किया (जिन्होंने) तुझे वह शरीर दिया जो देवताओंको भी दुर्लभ है। सुन्दर उत्तम कुलमें जन्म दिया, शरीर (भी) सुंदर दिया जो चारों फलों (अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष) का कारण है और जिसको पाकर बुद्धिमान् लोग त्रिपुरासुरके मारनेवाले शंकरजी और मुरदैत्यके नाशक भगवान् विष्णुके परम पदको प्राप्त करते हैं। (फिर) आर्यावर्त देश, समीपहीमें गंगाजी, उत्तम स्थान और अच्छी संगति यह भी दिया। (इतनेपर भी) अरे कायर! तेरी दुर्बुद्धिसे (मोक्ष एवं भक्ति आदि मनोवांछित फल फलनेवाली यह नरदेहरूपी) कल्पलता (स्वर्ग नरक आदि विषयभोगका उपार्जन भवप्रवाह चौरासी-भ्रमणरूप) विषफल फला चाहती है (अर्थात् फलनेवाली है)।१। अब-भी समझकर, चित्त लगाकर, परमार्थ सुन। वह हितकर है और (ऐसा है कि) जगत्में भी जिससे स्वार्थ सिद्ध होता है। (यदि तुझे) स्वार्थ ही प्रिय है, (तो सोच तो सही कि) वह स्वार्थ किससे (प्राप्त होता) है? कौन है? वेद किसका बखान करते है? देख (अर्थात् सावधान हो जा), तू साँपके साथ खेल रहा है। इस खेलको छोड़कर उस प्रभुको पहचान। पिता, माता, गुरु, स्वामी, अपना शरीर, स्त्री, पुत्र, सेवक और सखा जिसके प्रेमसे प्रिय लगते हैं, उस बिना कारण (निस्स्वार्थ) ही हित करनेवालेको तूने (अबतक) नहीं पहचाना।२। वह (तेरा) हितकर (कहीं) दूर नहीं है, खोज ले, वह हृदयमें ही है और छल छोड़कर स्मरण करनेसे वह कृपा किये ही है। जो भक्तोंपर कर-कमलोंकी छायारूपी कृपा किये हैं, स्मरण करते ही (भजनेवालेको) भजते हैं, जगत्के स्वामी हैं, जीवके जीवन (प्राण) हैं, जो सब जीवोंके सब साज सजते हैं, जिसने

हरि और हरको 'हरत्व' ‡, ब्रह्माको ब्रह्मत्व और श्रीजीको श्रियत्व दिया, वे मोद-मंगलमय मधुर मूर्ति श्रीजानकीपति श्रीरामचन्द्रजी हैं।३। स्वामी अत्यन्त ही बड़ा है और स्वभाव अत्यन्त सरल है! शिवजीको ज्ञानसे अगम, और (वे ही सरल ऐसे कि स्वयं) उठकर केवटसे गले लगकर मिले। वे अँकवार भरकर (केवटसे) भेंटे, उनके नेत्र प्रेमाश्रुजलसे भरे और शरीर स्नेहसे शिथिल था। (यह दशा देखकर) देवता, सिद्ध, मुनि और कवि कह रहे हैं कि श्रीरघुबीरके समान प्रेमप्रिय कोई नही है। पक्षी, शबर (निषाद, कोल-भील, शबरी आदि), निशाचर (विभीषण आदि), रीछ (जाम्बवान् आदि) और वानरोंको अपनेसे भी अधिक वन्दनीय बना दिया, तिसपर भी वे हृदयमें उनकी सेवाका स्मरण करके संकोचके मारे मानों गडे जाते हैं।४। मैंने स्वामीका स्वभाव कहा। जब तू उसे हृदयमें लायेगा, सब चिन्ता मिट जायगी और श्रीरामजी भला मानेंगे। तुलसीदासजी कहते हैं कि (एवं हे तुलसीदास!) यदि तू हाथ जोड़कर मस्तक नवायेगा तो रघुनाथजी भला मानेंगे (प्रसन्न हो जायँगे) और तू उसी क्षण जीवन और जन्मका फल पा जायगा। नाम जप,

---

‡ वे० शि० श्रीरामानुजाचार्यजीका मत है कि "'जेहिं' के साथ 'हरि' का अन्वय है। अर्थ है—'जिस हरिने हरको हरता,...'। ब्रह्मा और शिव दोनो उपचित-पुण्य-विशेष जीव हैं, भगवान्‌के दिये हुये अधिकारसे सृष्टि और संहार करते हैं, अधिकारी पुरुष हैं। विष्णु जीव नही हैं, स्वयं परात्पर ब्रह्म हैं।—'नहि पालन सामर्थ्यं ऋते नारायणं हरिं।' (विष्णु पु०)। इस ग्रन्थके आरंभमे अधिकारी देवताओंकी वन्दना करते हुए गोस्वामीजीने विष्णुको लीलावतारी कहते हुए श्रीरामजीसे अलग नही माना है। क्षीराब्धिस्तुति, गर्भस्तुति, लंकामे स्तुति तथा राजगद्दीके समय स्तुतिमे ब्रह्मा‚शिव-इन्द्रादि देवगणके साथ विष्णुका आना अथवा उनकी तरफसे स्तुति रामजीकी कहीं नही है। गोस्वामीजीने अपने संपूर्ण ग्रंथोमे कही भी विष्णुतत्वसे रामतत्वको पृथक् नही माना है। 'विष्नु कोटि सम पालनकर्ता', 'उपजहिं जासु अंस ते नाना। संभु बिरंचि बिष्नु ‚भगवाना।', इत्यादि वाक्योमे गीता दशमाध्यायकी तरह विभूतिगणना-प्रकाश समझना चाहिए। 'हरि' को 'हर' के साथ अर्थ करनेमे पूर्वापर ग्रंथसे विरोध होगा।" (वे० शि०)।

ऊपर पद्यार्थमे दिया हुआ अर्थ प्रायः सभी टीकाकारोका संमत है। विष्णु, नारायण, राम, कृष्ण आदि मे तत्त्वत: भेद नही है, परन्तु यहाँ ऐश्वर्य कह रहे हैं; अत: यह अर्थ असंगत नही है। टि० ३ (ङ) भी देखिए।

प्रणाम कर, सुयश गान कर और (पृथ्वीपति राजा) श्रीरामचन्द्रजीको हृदयमें धरकर, अपने मनको उनके चरणकमलोंका भौंरा बनाये हुए पृथ्वीपर (आनंदसे) विचर ।५।

टिप्पणी—१ (क) 'राम सनेही सों···'—भाव कि प्रेम करनेवाला, प्रेमको ओर-छोर निबाहनेवाला, प्रीति करने योग्य, प्रीतिकी रीति जाननेवाला और प्रेम कनौड़ा श्रीरामके समान दूसरा नहीं है। ये ही एकमात्र सच्चे स्नेही मित्र वा हित करनेवाले हैं. और सब झूठे हैं। यथा 'एक सनेही साँचिलो केवल कोसलपाल। प्रेमकनोड़ो राम सो नहि दूसरो दयाल। १६१।', 'राम प्रीतिकी रीति आप नीके जनिअत हैं। १८३।', 'प्रीति रीति परमारथ स्वारथ। कोउ न राम सम जान जथारथ।' ऐसे स्नेहीसे तूने प्रेम न किया, कथनका भाव कि इनसे प्रेम करना जीवक परम कर्त्तव्य है, करनेसे लाभ है, न करनेसे तेरी ही हानि है।

१ (ख) 'अगम जो अमरनिहूँ ··' इति। कैसे जानें कि वे ऐसे स्नेही हैं ? इसका उत्तर अर्थात् स्नेही कहनेका कारण यहाँसे कह चले हैं। मनुष्य शरीरके लिये देवता भी तरसते हैं, उनको यह दुर्लभ है। १०२ (१ क), ८३ (१ ग) देखिए। देव दुर्लभ कहकर इसे बड़ा अमूल्य जनाया। कारण कि देवशरीर भगवत्प्राप्तिका अधिकारी नहीं है, वह भोगके लिये है, उसमें मोक्षके साधन नहीं कर सकते और नरतन भगवत्प्राप्ति करा देनेवाला है। 'सो तनु तोहि दियो'—भाव कि बड़ी भारी कृपा तुझपर की। 'दियो'का भाव कि नरतन अपने कर्त्तव्यसे अपने पुरुषार्थसे नहीं प्राप्त किया जा सकता; यह प्रभुकी अहैतुकी कृपासे मिलता है। वे ऐसे परम सनेही हैं। यथा 'बड़े भाग मानुष तन पावा।' साधन धाम मोच्छ कर द्वारा।', 'कबहुँक करि करुना नरदेही। देत ईस बिनु हेतु सनेही।' (७।४३-४४)। ☞ तात्पर्य कि ऐसेसे स्नेह न करनेसे तू कृतघ्नी सिद्ध हुआ।

१ (ग) 'दियो सुकुल जन्म सरीर सुंदर···' इति। सुन्दर उत्तम कुलमें जन्म दिया। गौरवर्ण सर्वांग सुभग, नीरोग, साधन योग्य दृढ़ (तथा बैजनाथजीके मतानुसार खण्डिताङ्ग, रुजादि अधिकांग तथा कुरूपादि रहित सर्वांग सुठौर) ऐसा सुन्दर शरीर दिया। 'हेतु जो फल चारि को' अर्थात् मनुष्य देहसे अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष चारों प्राप्त हो सकते हैं। भानुप्रताप और श्रीदशरथजीका चारों फलोंका सुखभोग मानसमें कविने जीते जी ही दिखाया है, यथा 'अरथ धरम कामादि सुख सेवै समय नरेसु। ।१५४।', 'नृप समीप सोहहिं सुत चारी। जनु धन धरमादिक तनु धारी।

१।३०६ ।', 'मुदित अवधपति सकल सुत बधुन्ह समेत निहारि । जनु पाये महिपालमनि क्रियन्ह सहित फल चारि । १।३२५ ।'※

['मनुष्यशरीर विद्या, बुद्धि और कर्मादि द्वारा चारों फलोंका कारण है । अर्थात् चातुरी आदि उद्यमसे अर्थकी, विधिपूर्वक अनुष्ठानसे धर्मफलकी, प्रीतिसे कामकी और भक्तिसे मोक्ष फलकी प्राप्ति करानेवाला है ।' (वै०)]

'सुकुल जन्म....' से कविकी जीवनीका अंश भी लोग निकालते हैं । 'सुकुल' अर्थात् ब्राह्मण कुलमें । मनुष्यमें इसे सबसे उत्तम कहा गया है, यथा 'चरम देह द्विज कै मैं पाई । ७।११०।३ ।' कोई-कोई इससे कविका 'शुक्ल' ब्राह्मण होना मानते हैं । वेणीमाधोदासजी इन्हें सरवार देशके पराशरगोत्रके ब्राह्मण, रजियापुरके राजगुरुके पुत्र लिखते हैं । इसप्रकार उत्तम कुलके हैं ही ।

१ (घ) 'जो पाइ पंडित परम पद....' इति । पुरारि-मुरारिके परमपदको पाते हैं, इस कथनका भाव यह है कि भारतवर्षमें प्रधान दो ही उपासनायें हैं—एक विष्णु (जिनमें राम, नारायण, कृष्ण तीनों की उपासना आ गई । इन सबोंके उपासक 'वैष्णव' कहलाते हैं), दूसरी शिवकी, (शिवोपासक शैव कहलाते हैं) । इसीसे पुरारिका परमपद और मुरारिका परमपद दोनों कहे । शैव शिवलोक और वैष्णव वैकुण्ठ, साकेत, गोलोक प्राप्त करते हैं । सारूप्यमुक्ति पाते हैं । शैव शिवरूपसे और

※ इस शरीरमे प्रायः अर्थ, धर्म और काम वर्गत्रयका ही सेवन होता है, मोक्ष शरीरान्तपर होता है । पर मोक्षसुख भी इस शरीरमे मिल जाता है । जीव सत्संगमे मोक्षका सुख अनुभव करता है । सत्संगसे प्राप्त सुखको अपवर्गसुखसे भी बढकर कहा गया है । यथा 'तात स्वर्ग अपवर्ग सुख धरिय तुला इक अंग । तूल न ताही सकल मिलि जो सुख लव सतसंग । ५।४।' जीवन्मुक्तको भी इसी शरीरमे मोक्षसुख प्राप्त रहता है । औरोको शरीर रहते वर्गत्रयकी ही प्राप्ति होती है । श्री दिलीप महाराजने भी तीनका सेवन करना कहा है, यथा 'वर्गत्रयी यथाकालं सेविता न विरोधिता । प० पु० उत्तर० २०२।१०७।' शरीरमे सत्संगसुख मिल सकता है जो मोक्षसे बढकर है, शौनकादि महर्षियोके अनुभवकी यह बात है । यथा 'तुलयाम लवेनापि न स्वर्गं नापुनर्भवम् । भगवत्सङ्गिसङ्गस्य मर्त्यानां किमुताशिषः । भा० १।१८।१३।' भा० ५।१९।२० मे श्रीशुकदेवजीने बताया है कि जब महापुरुषोका संग होता है तब उनके संगसे वासुदेवमे अनन्य और निष्काम भक्ति उत्पन्न होती है, यही मोक्षपद का यथार्थ स्वरूप है ।—इस प्र[illegible] फल इसी शरीरमे प्राप्त हो सकते हैं ।

वैष्णव अपने उपास्यदेवके रूपसे वहाँ रहते हैं। [भट्टजी अर्थ करते हैं कि महादेव और विष्णुका बड़ा पद पाते हैं। (भ०, दीन, वि०)]

'जो पाइ पंडित' का भाव कि जो वेदों-शास्त्रोंको पढ़कर मनन कर चुके हैं, वेदोंका सिद्धान्त समझे हैं, बंध और मोक्षको जानते-समझते हैं, ऐसे बुद्धिमान् ज्ञानवान् विद्वान् इनकी उपासना करके परमपदको पाते हैं। अतः तुझे भी उन्हींका अनुकरण करना चाहिए, उनके अनुभवका लाभ उठाना चाहिए। 'परमपद' वह पद या धाम है जहाँ पहुँचकर फिर पुनरागमन नहीं होता। भा० ५।१६।२३ में 'मनस्विनः संन्यस्य संयान्त्यभयं पदं हरेः।' जो कहा है, उसके 'मनस्वी' और 'अभय पद' ही क्रमशः यहाँके 'पंडित' और 'परम पद' हैं।

१ (ङ)—'एहु भरतखंडु समीप सुरसरि…' इति। सुन्दर कुलमें जन्म और नीरोग शरीर भी हुआ, पर यदि देश पवित्र और संगति भली न मिली, तो उत्तम कुल आदि भी व्यर्थ हो जाते हैं। यथा 'ऊँचो कुल केहि कामको जहाँ न हरि को नाम। वै० सं० ३८।', 'को न कुसंगति पाइ नसाई।२।२४।' अतः कहते हैं कि पुण्य कर्मभूमि भरतखंड, वह भी गंगा-तटपर निवास और संतोंकी संगति दी। ये तीनों एक-एक अकेलेही सद्गतिके कारण हैं, सो तुझे तीनों एक साथ ही प्राप्त हैं। भरतखण्ड कर्मभूमि है। यहाँका किया हुआ सत्कर्म शीघ्र सिद्ध और फलप्रद होता है। यहाँ भगवान् नर-नारायण रूपोंसे आत्मनिष्ठ पुरुषोंपर कृपा करनेके लिये भारतवासियोंके कल्याणके लिये तपनिरत हैं। यहाँकी नदियाँ अपने नामसे ही पवित्र करनेवाली हैं—'एतासामपो भारत्यः प्रजा नामभिरेव पुनन्ति…। भा० ५।१६।१७।' इस खण्डमें सभी वर्ण शास्त्रमें कहे हुए मोक्षविधानके अनुसार चलनेसे मोक्ष प्राप्त कर सकते हैं—'ह्येव सर्वेषां विधीयन्ते यथावर्णविधानमपवर्गश्चापि भवति। श्लो० १६।' भारतवर्षमें जन्म लेनेसे सभी पुरुषार्थ मिल सकते हैं, यह जानकर देवगण यहाँके निवासियों-के जन्मको सिहाते हुए कहा करते हैं कि 'इन्होंने कौनसा पुण्य किया है जिससे इन्हें यहाँ मनुष्ययोनिमें जन्म मिला है, अथवा भगवान् इनपर स्वयं प्रसन्न हो गए हैं। इस भारतवर्षमें मनस्वी पुरुष क्षणमात्रमें अपने कर्मोंको भगवान्को अर्पणकर अभयपद प्राप्त कर लेते हैं। अतएव अल्पायु होकर भी भारतमें ही जन्म लेना अच्छा है।—'क्षणायुषां भारतभुजयो वरम्। क्षणेन मर्त्येन कृतं मनस्विनः संन्यस्य संयान्त्यभयं पदं हरेः। भा० ५।१६।२३।'

भगवान् श्रीरामके भी वाक्य इस संबंधमें हैं। उन्होंने चित्रकूट दरबारमें ये वचन कहे हैं—"इस कर्मभूमिको पाकर, जो शुभ कर्म हो, उसका अनुष्ठान करना चाहिए; क्योंकि अग्नि, वायु और सोमभी कर्मोंके ही फलसे उन-उन पदोंको प्राप्त हुए हैं। देवराज इन्द्र सौ यज्ञोंका अनुष्ठान करके स्वर्गलोकको प्राप्त हुये हैं। महर्षियोंने भी उग्र तपस्या करके दिव्य लोकोंमें स्थान प्राप्त किया है।"—'कर्मभूमिमिमां प्राप्य कर्तव्यं कर्म यच्छुभम्। अग्निर्वायुश्च सोमश्च कर्मणां फलभागिनः॥ शतं क्रतूनामाहृत्य देवराट् त्रिदिवं गतः। तपांस्युग्राणि चास्थाय दिवं प्राप्ता महर्षयः॥' (वाल्मी० २।१०६। ८-२६।')

"समीप सुरसरि'—मनुष्य गंगाका नाम लेनेसे पवित्र हो जाता है, दर्शन, स्पर्श आदिका कहना ही क्या? पवित्र भूमि और पवित्र नदी ऐसे स्थानमें मन भी भजनमें लगता है। यथा 'हिमगिरिगुहा एक अतिपावनि। वह समीप सुरसरी सुहावनि॥ निरखि सैल सरि बिपिन बिभागा। भएउ रमापतिपद अनुरागा॥१।१२५।' 'थल भलो'—काशी पावन पुरी है। कविसे संबंधित इस पदको माननेसे उस समय काशीको तथा काशीमें गोपालमंदिर एवं 'असी घाट' को ले सकते हैं, जहाँ तोडरमलके बनाये हुये स्थानमें कवि अन्तमें रहे थे। 'संगति भली'—गुरु श्रीनरहर्य्यानन्दजीका संग रहा, शेष सनातनजीका संग रहा, फिर काशीमें अनेक सन्त रहते ही थे और नित्य तीर्थमें आया ही करते थे। इन्हींसे यहाँ तात्पर्य है। सत्संगसे भक्ति दृढ़ बनी रहती है, इसीसे अगस्त्यजी और शंकरजीने सत्संगकी याचना की है।

१ (च) 'तेरी कुमति कायर कलपबल्ली ··' इति। भाव कि भारतवर्षमें उत्तम कुलमें सुंदर शरीर मिला, इत्यादि सब सुन्दर साज पाकर तुझे चाहिए था कि सब दुःख और कठिनाइयाँ सहकर भी श्रीराम ऐसे स्नेहीमें प्रेम करता, सो तू नहीं कर रहा है;—यह तेरी बड़ी भारी कृतघ्नता है, इससे तेरी परम हानि है। प्रभुने भवतरणका इतना साज तेरे लिये कर दिया, फिर भी तुझे सूझता नहीं। इसीसे कुमति और कायर कहा। यथा 'जो न तरै भवसागर नर समाज अस पाइ। सो कृतनिंदक मंदमति आतमहनि गति जाइ। ७।४४।' कल्याणसाधनसे विमुख होता है, भागता है, आलस और प्रमादयुक्त है; अतः 'कायर' कहा।

'कल्पबल्ली' उत्तम फल देती है, अतः यह कुमतिका उपमान नहीं है। नरतन, भारतवर्षमें जन्म, सुन्दर पुष्ट शरीर, उत्तम कुल, उत्तम थल और

उत्तम संगति आदि कल्पलताएँ हैं। 'मंगति भली' शब्द अन्तमें है उनके सम्बन्धसे 'कल्पवल्ली' स्त्रीलिंगवाचक शब्द दिया।

'कल्पवल्ली विषफल फली चहति'—भाव कि इसमें अमृतस्वरूपा भगवद्भक्ति तथा मोक्ष आदि फल फलने चाहिए थे, सो न फलकर विषतुल्य विषयभोग नरक स्वर्ग, चौरासी-भ्रमणरूप फल फलनेकी चाह कर रही है। अर्थात् तेरी दुर्बुद्धि तुझे भवबंधनमें डालने जा रही है।—तात्पर्य कि अब भी चेत जा, श्रीराममें प्रेमकर तर जा। मिलान कीजिए—

"भलि भारतभूमि, भलें कुल जन्म, समाजु सरीरु भलो लहि कै।
करषा तजि कै परुषा बरषा हिम मारुत घाम सदा सहि कै॥
जो भजै भगवानु सयान सोई, तुलसी हठ चातकु ज्यों गहि कै।
नतु और सबै विष बीज बए, हर हाटक कामदुहा नहि कै।क०७।३३।",

"प्राप्ता नृजातिं त्विह ये च जन्तवो, ज्ञानक्रियाद्रव्यकलापसंभ्रताम्।
न वै यतेरन्नपुनर्भवाय ते, भूयो वनौका इव यान्ति बन्धनम्॥भा०५।१९।२५।"
(अर्थात् जो लोग भारतवर्षमें जन्म पाकर भी ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय और पंचभूतोंकी चातुरीसे युक्त इस शरीरसे यदि आवागमनके चक्रसे निकलनेका यत्न नही करते तो वनवासी पक्षियोंके समान वे फिर बंधनमे पड़ जायँगे)।

[वियोगीजी—"सत्कर्मोंका संपादन इस पवित्र भूमिमें जितना हो सकता है, उतना अन्यत्र नहीं, क्योंकि यहाँके कण-कणमें आध्यात्मिकता, अहिंसा, शान्ति आदि सद्धर्मोंकी व्याप्ति है। गोसाईंजीके हृदयमें स्वदेश प्रेमका सजीव भाव था, यह इस पदसे स्पष्ट हो जाता है।" भारतवर्षीय अयोध्याके संबंधमें भी कहा है—'पावन पुरी रुचिर यह देसा॥ जद्यपि सब बैकुंठ बखाना। वेद पुरान बिदित जग जाना। अवधपुरी सम प्रिय नहि सोऊ। ७।४।'

दीनजी—पं० रामचन्द्रशुक्लने इस विषयमें जो (गोस्वामी तुलसीदास, पृष्ठ ११६ में) लिखा है वह बड़ा ही अनोखा है।—"आज जो हम बहुतसे भारतीय हृदयोंको चीरकर देखते हैं तो वे अभारतीय निकलते है। पर एक इसी कवि-केसरीको भारतीय सभ्यता, भारतीय रीति-नीतिकी रक्षाके लिये सबके हृदय द्वारपर अड़ा देख हम निराश होनेसे बच जाते हैं।"

नोट—पर इतना स्मरण रहे कि गोस्वामीजीने 'जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी', 'हुब्बुलवतन अज मुल्के सुलेमां खुशतर' के भावसे भरतखण्डकी प्रशंसा नहीं की है। यह हमारे शास्त्रोंका सिद्धान्त है, जैसा उपर्युक्त उद्धरणोंसे स्पष्ट है।

[☞ वास्तवमें यह बात नहीं है कि अपनी जन्मभूमि होनेसे गोस्वामीजीने ऐसा लिखा है। शास्त्र कहते हैं कि भरतखण्ड ही कर्मभूमि है। यहाँ भगवान्ने जीवोंकी मुक्तिके लिये सप्तमोक्षदायिका पुरियाँ, चार धाम, अनेक जगपाविनी कलिकलुषनाशिनी पुण्यसलिला नदियाँ और पर्वत रच दिये जिनका अवलंब लेकर जीव सहज ही भवबंधनसे छुटकारा पा ले। अन्य जितने देश हैं, वे सब भोगभूमि हैं, सांसारिक भोगोंके भोगनेके लिये हैं। भगवदाराधन भगवत् तत्व-विचारका केन्द्र भरतखण्ड ही है। यहाँ ही ब्रह्मके मुख्य अवतार समय-समयपर हुए और होते हैं। अन्यत्र किसी भी देशमें भगवान् स्वयं अवतीर्ण नहीं हुए। (संपादक)]

टिप्पणी—२ (क) 'अजहुँ समुझि चितु दै ' इति। अब भी सावधान हो जा, भाव कि अभी कुछ गया-बीता नहीं, यथा 'तुलसी सुमिरि अजहुँ रघुनाथहि। ८३।', 'अजहूँ बिचारि बिकार तजि भजि राम जनसुखदायकं। १३६।', 'अजहुँ जानि जिय मानि हारि हिय होइ पलक महँ नीको। १६४।'—८३ (६ ख) देखिए। 'चित दै सुनि परमारथ'—भाव कि परमार्थ (भगवान्, भगवद्भक्ति, भगवत्प्राप्ति, अर्थपंचक ज्ञान आदि) की बातें बिना चित्त लगाये सुननेसे हृदयमें जम नहीं पातीं, इसीसे ऐसे प्रसंगोंमें चित्त लगानेको कहा जाता है। यथा 'थोरेहि महँ सब कहउँ बुझाई। सुनहु तात मति मन चित लाई। ३।१५।१।' श्रीराम ब्रह्म परम अर्थ हैं। यथा 'राम ब्रह्म परमारथ रूपा। अबिगत अलख अनादि अनूपा। २।९३।७।'

२ (ख) 'है हितु सो जगहूँ जाहि तें स्वारथु' इति। जो परमार्थ मैं कहता हूँ 'यह वह हित (वचन) है जिससे जगत्में भी स्वार्थ होता है।' अर्थात् वह परमार्थ लोक और परलोक दोनोंके लिये कल्याणकारी है; इससे स्वार्थ और परमार्थ दोनों सिद्ध होते हैं।

['सो' सर्वनाम किसके स्थानपर है ? 'परमार्थ'के अथवा 'जाहि तें स्वारथ'के ? पं० रामकुमारजी अर्थ करते हैं कि "परलोककी बात सुन कि वह प्रभु हितकर्त्ता है जिससे जगत्में भी स्वार्थ है।" बाबू शिवप्रकाशने अर्थ किया है कि "वह ही परलोकमें हित है और जगत्में भी उसीके कृपाकटाक्षसे ऐश्वर्य आदि स्वार्थकी प्राप्ति होती है।" प्रायः औरोंने 'सो' और 'जाहि'को 'परमारथ'का सर्वनाम माना है।

श्रीकान्तशरणजी अर्थ करते हैं कि "जगत्के भी चराचर भेदोंमें जिस-जिससे तेरा स्वार्थ सिद्ध होता है, उस-उस रूपसे वही (परम स्नेही राम) तेरा हित करनेवाला है।" भाव कि "जगत्के अचर पदार्थोंमें जीवोंके हितकर अंश श्रीरामजी ही हैं एवं चर जगत् द्वारा भी गुण प्रेरणा

द्वारा वे ही सुख देते हैं। जिस-जिससे स्वार्थ सिद्धि होती है उन-उन रूपोंमें भी वही है।"

२ (ग) 'स्वारथहि प्रिय स्वारथ सो काते कौनु···' इति। भाव कि यदि तू कहे कि सारा जगत् अपना स्वार्थ चाहता है, मुझे भी स्वार्थ ही प्रिय है, परमार्थ नहीं चाहिए, तो मैं पूछता हूँ कि 'वह स्वार्थ भी किससे सिद्ध होता है अर्थात् उसका देनेवाला कौन है?' वह स्वार्थ कौन है जिसका वेद वर्णन करते हैं? वा, वेद किसको स्वार्थका देनेवाला कहते हैं? अर्थात् स्वार्थका देनेवाला कोई दूसरा नहीं है, श्रीरामही स्वार्थ सिद्ध करते हैं। तूने स्त्री, पुत्र, धन, धाम, ऐश्वर्य, मान-बडाई आदिको स्वार्थ मान रक्खा है, यह सब भी उन्हींकी प्रेरणासे, जिससे वे दिलाना चाहें उसीके द्वारा, मिलता है, यथा 'को भरिहै हरिके रितएँ, रितवै पुनि को हरि जौं भरिहै। उथपै तेहि को जेहि राम थपै, थपिहै तेहि को हरि जौं टरिहै। क० ७।४७', 'स्वारथको परमारथको कलि रामको नाम प्रतापु बली है।क०७।८५।', 'उरप्रेरक रघुबंस विभूषन।७।११३।१।', 'स्वारथ को परमारथ को रघुनाथ सो साहेब खोरि न लाई। क० ७।५७।' परन्तु वास्तवमें स्वार्थ इसका नाम नहीं है, सच्चा स्वार्थ तो श्रीरामपदप्रेम है, वेद इसीको स्वार्थ कहते और श्रीराम एवं रामपदप्रेमका बखान करते हैं। यथा—'स्वारथ साँच जीव-कहुँ एहा। मन क्रम वचन रामपद नेहा। ७।९६।१।', 'एतावानेव लोकेऽस्मिन्पुंसः स्वार्थः परः स्मृतः। एकान्तभक्तिर्गोविन्दे यत्सर्वत्र तदीक्षणम्। भा० ७ ७।५५।' (प्रह्लादजी दैत्यबालकोंसे कहते हैं कि सबसे बडा स्वार्थ यही है कि भगवान्की ऐकान्तिक भक्ति करे जिससे सर्वत्र उन्हींका दर्शन करता रहे।)

वेद इन्हींका गान करते हैं, यथा 'जेहि इमि गावहि वेद बुध जाहि धरहिं मुनि ध्यान। सोइ दसरथसुत भगत हित कोसलपति भगवान।१।११८।'

२ (घ) 'देखइ खेलइ अहि खेल परिहरि···' इति। 'देखइ!' कहकर सावधान करते हैं कि सर्पके साथ खेलनेमें भय है। सँपहरेकी मृत्यु प्रायः सर्पके काटनेसे होती है। किसीने कहा भी है 'मर्गे मार-अफसूँ न बाशद जुज़ ब मार' (साँपका मंत्र जाननेवालेकी मृत्यु सर्पसे ही होती है, दूसरेसे नहीं)। साँपके साथ खेलनेमें किंचित् भी असावधानी हुई नहीं कि साँपने उसे काट लिया। अवश्य किसी दिन वह तुझे डस लेगा। अतः सर्पसे खेल खेलना छोड़ दे।

यहाँ संसार सर्प है जो संधि पाकर डस लेता है, यथा 'भव-व्याल ग्रसत तव सरन उरगारिपुगामी।११७।' यह देखनेमें सुन्दर है पर है भयंकर, यथा 'अनविचार रमनीय सदा संसार भयंकर भारी।१२१।' विषय सर्पका

विष है, यथा 'सुत-बित-दार-भवन-ममता-निसि सोवत अति न कबहुँ मति जागी। तुलसिदास हरिनाम-सुधा तजि सठ हठि पियत विषय-विष मॉगी।१४०।' विषयभोग करना, विषयोंमें सुख मानना, ममत्व करना संसारसर्पके साथ खेलना है और विषायासक्त हो जाना साँपका डसना है। उससे संसृतिक्लेश जन्म-मरण-परंपराका होना मरना है। (वैजनाथ-जी लिखते हैं कि विषयासक्ति विषका व्यापना और काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि विषकी लहरें हैं)।*

इसे छोड़नेको कहकर आगे बताते हैं कि क्या करना चाहिये। 'प्रभुहि पहिचानई' प्रभुको पहिचान। 'पहिचान'का भाव कि तू विषयोंके ऊपरके स्वरूपमें मोहित होकर प्रभुको भूल गया है। यथा 'त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत्। मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम्। गीता ७।१३।' (अर्थात् इन गुणमय तीन प्रकारके पदार्थोंसे मोहित हुआ यह सब जगत् इनसे श्रेष्ठतर मुझ अविनाशीको नहीं जानता)। जबतक विषयोंमें फँसा रहेगा तबतक न पहचान सकेगा, उनसे उदासीन होनेपर पहचान सकेगा।

'प्रभु पहिचानई' में यह भाव है कि उनकी शरण जानेपर फिर संसारसर्पके साथ खेलनेमें वे ही रक्षा करेंगे। तुझे भय न रह जायेगा। यथा 'खेलत बालक ब्याल सँग मेलत पावक हाथ। तुलसी सिसु पितु मातु ज्यों राखत सिय रघुनाथ। दो० १४७।'

२ (ङ) 'पितु मातु गुर स्वामी ''प्रिय लगत जाके प्रेम' इति। श्रीसुमित्राजीने श्रीलक्ष्मणजीको उपदेश करते हुए कहा है—'गुर पितु मातु बंधु सुर साईं। सेइअहि सकल प्रानकी नाईं। रामु प्रानप्रिय जीवन जी के। स्वारथरहित सखा सबहीके॥ पूजनीय प्रिय परम जहाँ तें। सब मानिअहिं रामके नातें।२।७४।' श्रीदेवतीर्थस्वामीजीका पद 'जाके नाते सब प्रिय लागत जा बिनु मृतक कहाओं।' इसकी व्याख्या ही समझिए।

श्रीरामजीके प्रेमसे सब संबंधी प्रिय लगते हैं। इसके भाव ये कहे जाते हैं—जिसकी चैतन्यतासे, चेतनसत्तासे, सब प्रिय लगते हैं। (ह्रु०, भ० स०)। अनादिकालसे जीव ईश्वरका संबंधी, सेवक, प्रेमी है; इसीसे ईश्वर कृपा करके सबका पालन करते हैं, उसीकी शक्तिसे जीवमें चेतनता

* "संसारके व्यवहारमे बडे-बड़े चतुर मनुष्य भी ऐसे ठगाए जाते है कि उन्हे फूट-फूटकर रोना पड़ता है। कभी-कभी बडे-बडे बुद्धिमानो, ज्ञानियो और योगियोंकी भी बुद्धि मारी जाती है। कहा है—'काजरकी कोठरीमे कैसहू सयानो जाय, काजरकी एक रेख लागिहै पै लागिहै।"—(वि०)।

है। इसीसे सबोंमें स्नेह करनेकी गति है, सब प्रिय लगते हैं। (वै०)। ये सब नातेवाले व्यक्ति उस प्रभुके प्रेम करनेसे प्रेम करते हैं; वही इनमें वात्सल्य आदि गुण देता है, जिससे ये प्रेम करते हुए देख पड़ते हैं और इस जीवको प्रिय लगते हैं। (श्री० श०)। 'विषय करन सुर जीव समेता। सकल एक तें एक सचेता॥ सबकर परम प्रकासक जोई। राम अनादि अवधपति सोई। १।११७।' अर्थात् जीव और विषय आदि सबके परम प्रकाशक श्रीरामजी हैं। इनके किंचित् प्रकाशसे, इनकी सत्तासे सब भासित हो रहे हैं। श्रीरामजीने ही सबको उत्पन्न किया और ये सब श्रीरामजीको प्रिय हैं। यथा 'सब मम प्रिय सब मम उपजाए। सब ते अधिक मनुज मोहि भाए। ७। ८५।' सब प्रभुको प्रिय हैं, यह जो प्रभुके प्रेमका छींटा सीकर अंकुर सबमें पड़ा हुआ है, उसीसे सबमें प्रेम देख पड़नेसे वे प्रिय लगते हैं।

वियोगीजी लिखते हैं—"यदि आत्मा न हो तो किसे पिता, पुत्र आदि प्यारे लगें। कहीं शवको भी कुछ प्यारा लगता है? वास्तवमें अपनी आत्मा ही प्यारी है, न पिता प्यारा है न पुत्र। और आत्मा परमात्माका अंश है। अतः सिद्ध हुआ कि सब प्रिय अप्रिय वस्तुका मुख्य कारण परमात्मा है।"

☞ बृहदारण्यक उपनिषद्। २।४।५। "(स होवाच) न वा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवत्यात्मनस्तु कामाय पतिः प्रियो भवति।···आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो मैत्रेय्यात्मनो वा अरे दर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेनेदं सर्वं विदितम्॥'—इस प्रकरणमें यह प्रतिपादित किया गया है कि परमात्माके संबंधसे ही सब प्रिय होते हैं। याज्ञवल्क्यजी मैत्रेयीजीसे कहते हैं—"यह निश्चय है कि पतिके प्रयोजनके लिये पति प्रिय नहीं होता, अपने ही प्रयोजनके लिये पति प्रिय होता है; स्त्रीके प्रयोजनके लिये स्त्री प्रिया नहीं होती,, अपने ही प्रयोजनके लिये स्त्री प्रिया होती है।' इसी तरह पुत्र, धन, ब्राह्मण, क्षत्रिय, लोक, देवता, प्राणी तथा सबके प्रयोजनके लिये क्रमशः पुत्र, धन, ब्राह्मण, क्षत्रिय, लोक, देवता, प्राणी और सब प्रिय नहीं होते। ये सब अपने ही अपने प्रयोजनके लिये प्रिय होते हैं। "यह आत्मा (परमात्मा) ही दर्शनीय, श्रवणीय, मननीय और ध्यान किये जाने योग्य है। इस आत्माके ही दर्शन, श्रवण, मनन, एवं विज्ञानसे इस सबका ज्ञान हो जाता है।"

सारांश यह है कि यह सब आत्माकी प्रीतिके साधन हैं, इसीसे वह सब प्रीति गौणी है। अतः परमात्मा ही द्रष्टव्य है, अर्थात् साक्षात्कारका विषय करने योग्य है। (शाङ्कर भाष्य)।

भा० ४।२२।३२ "नातः परतरो लोके पुंसः स्वार्थव्यतिक्रमः। यदध्यन्यस्य प्रेयस्त्वमात्मनः स्वव्यतिक्रमात्॥" अर्थात् जिसके लिये अन्य सब पदार्थोंमे प्रियता होती है, उस आत्मा वा आत्मस्वरूपको भूल जानेके समान मनुष्यकी संसारमे और कोई स्वार्थहानि नही है। [आत्माको ही सुख पहुँचानेके लिये मनुष्य सब काम करता है। (शुकोक्तिसुधासागर)]

बृहदारण्यक तथा श्रीमद्भागवतके उद्धरणोंके अनुसार इस दीनकी क्षुद्र बुद्धिमे 'प्रिय लगत जाके प्रेम' का भाव यह है कि जीव (प्राणीमात्र)के— माता पिता गुरु स्वामी आदि सब जीवके—अपनेही—प्रयोजनके लिये प्रिय हैं, माता पिता गुरु आदिके प्रयोजनके लिये माता पिता आदि प्रिय नहीं है। वह प्रयोजन है 'राम' 'आत्म-परमात्मसुख'। जीवको हरिसे अलग होनेके पूर्व जो उसकी 'आनन्दसिंधु सुखधामकी समीपता, उनके दर्शन आदिका सुख था', उसे वह खो बैठा है। उसी सुखको वह इनमें समझकर, उस पूर्वके रामप्रेमके लिये ही इनमें प्रेम करने लगा। जैसे परीक्षितजी गर्भमेके रक्षकको बाहर सभी प्राणियोंमे खोजने लगे थे।

श्रीशुकदेवजीने श्रीपरीक्षितमहाराजके पूछनेपर कि 'व्रजवासियोंका प्रेम अपने निजके बालकोंमें उतना न था जितना पराये पुत्र श्रीकृष्णमे, यह क्यों ?', जो उत्तर दिया है, उससे भी 'प्रिय लगत जाके प्रेम ते' का भाव स्पष्ट हो जाता है; अतः उसे भी यहाँ उद्धृत किया जाता है। वे कहते हैं—(भा० १०।१४)

"सर्वेषामपि भूतानां नृप स्वात्मैव वल्लभः।
इतरेऽपत्यवित्ताद्यास्तद्वल्लभतयैव हि।५०।
तद्राजेन्द्र यथा स्नेहः स्वस्वकात्मनि देहिनाम्।
न तथा ममतालम्बिपुत्रवित्तगृहादिषु।५१।...
तस्मात्प्रियतमः स्वात्मा सर्वेषामपि देहिनाम्।
तदर्थमेव सकलं जगदेतच्चराचरम्।५४।
कृष्णमेनमवेहि त्वमात्मानमखिलात्मनाम्।
जगद्धिताय सोऽप्यत्र देहीवाभाति मायया।५५।"

अर्थात् हे राजन्! समस्त प्राणियोंको अपनी आत्मा ही सबसे अधिक प्रिय है और पुत्र, धन आदि अन्य पदार्थ तो उसके प्रिय होनेसे ही प्रिय होते है। (अन्य पदार्थोंकी प्रियता आत्माकी प्रियताकी एक निमित्त है, उनमे प्रेम इसलिये होता है कि वे अपनी आत्माको प्रिय लगती है)।५०। अतएव हे

राजेन्द्र ! देहधारियोंको जैसा अपने-आपमें प्रेम होता है, वैसा ममता-संबंधी (अर्थात् अपने कहलानेवाले) पुत्र, धन और घर आदिमें नहीं होता ।५१। इससे सिद्ध होता है कि सब देहधारियोंकी आत्मा ही सबसे अधिक प्रिय है और उसीके लिये सारा चराचर जगत् प्रिय लगता है (चराचर जगत्से प्रेम किया जाता है)। ५४। इस प्रकार समस्त प्राणियोंको प्रिय लगनेवाला जो आत्मा है, वह श्रीकृष्ण ही हैं, (वा, तुम श्रीकृष्णजीको समस्त आत्माओंका आत्म समझो)।

भगवान्‌ने यज्ञपत्नियोंसे भी कहा है कि 'प्राण, बुद्धि, मन, जाति शरीर, स्त्री, पुत्र और धन आदि (सांसारिक वस्तुएं) जिसके संबंधसे (जिसके लिये और जिसकी सन्निधिसे) प्रिय लगते हैं, उस आत्मासे (परमात्मा मुझ श्रीकृष्णसे) अधिक प्रिय क्या हो सकता है ? यथा 'प्राणबुद्धिमनः स्वात्मदारापत्यधनादयः। यत्सम्पर्कात् प्रिया आसंस्ततः कोन्वपरः प्रियः ॥ भा० १०।२३।२७।'

२ (च) 'सो बिनु हेतु हितु नहि तैं लखा' इति। 'बिनु हेतु हितु' का भाव कि पिता, माता आदि निःस्वार्थ हितकारी नहीं हैं, श्रीरामजी ही निस्वार्थ हितकारी हैं। यथा 'उमा राम सम हित जग माहीं। गुर पितु मातु बंधु प्रभु नाहीं। ४।१२।', 'हेतु रहित जग जुग उपकारी तुम्ह तुम्हार सेवक असुरारी। स्वारथ मीत सकल जग माहीं। सपनेहु प्रभु परमारथ नाहीं। ७।४७।'

'नहि तै लखा' में उपर्युक्त गीता ७।१३ (टि० २ घ), बृहं० २।४।५ और भा० ४।२२।३२ (टि० २ ङ) का भाव है। अर्थात् इन त्रिगुणमय पदार्थोंसे पृथक् इनसे श्रेष्ठतम अविनाशी श्रीरामजीको ही देखना जानना चाहिए, सो इनको न देखा। भाव कि वह परमात्मा ही दर्शनीय, श्रवणीय, मननीय एवं प्रेम किये जाने योग्य है. उसको 'लख'। 'लखा' से जनाया कि वह सर्वत्र और सबमें छिपा है, चित्त लगाकर खोजनेसे लख पड़ता है। तात्पर्य कि ऐसे अपने परम स्नेहीको न पहचानना बड़ी कृतघ्नता, मूर्खता है और स्वार्थहानि तो इससे बढ़कर है ही नहीं। अत. यदि स्वार्थ ही प्रिय है तो भी इनको जान। ❀

२ (छ) 'परमार्थ' जो सुननेको कहा था, वह यहाँ तक कहा। 'है हित सो' उपक्रम है और 'सो बिनु हेतु हित' उपसंहार है। 'जगहुँ जाहि

❀ श्री० श०—"भाव कि विचारपूर्वक देखनेसे जाना जाता है, वह स्वयं अपनेको नही जनाता, क्योकि उसे अपने उपकारोंको दिखाकर स्वार्थसाधन करना नही है,"

तें स्वारथु' 'पितु मातु···प्रिय लगत जाके प्रेम' और 'बिनु हेतु हितु' ये सब 'है हितु सो' के विशेषण हैं। आगे उसका स्थान बताते हैं।

टिप्पणी—३ (क) 'दूरि न सो हितू हेरु हियेंहि है।···' इति। 'सो हितू' अर्थात् जिसका ऊपर 'सुनि परमार्थ' कहकर वर्णन किया, जिसके प्रेमके नातेसे पिता-माता आदि सब प्रिय लगते हैं और जो बिना किसी स्वार्थके हित करता है, वह। 'दूरि न'—अर्थात् कहीं दूर वा बाहर ढूँढ़ने नहीं जाना है, वह अपने पास ही नहीं, किंच अपने हृदयमें ही सदा विराजमान रहता है। यथा 'अनुज निज जानकी सहित हरि सर्वदा दास तुलसी हृदय कमल बासी।' (५८), 'सब दिन सब देस सबहीके साथ सो।' ७१ (३ ख), 'परिहरि हृदय कमल रघुनाथहि बाहर फिरत बिकल भयो धायो। २४४।', वे सदा जीवके सखा, प्रेरक, अन्तर्यामीरूपसे सब जीवोंके हृदयमें निवास करते हैं।—'सबको प्रभु सबमों बसै सबकी गति जान। १०७।', 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते। तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति।श्वे० ४।६।' अर्थात् सदा परस्पर मिलकर दो सखा सुंदर गतिवाले पक्षी एक ही वृक्षको आश्रित किये हुये हैं। इनमेंसे एक उसके स्वादिष्ट फलोंको भोगता है और दूसरा उन्हें न भोगता हुआ देखता रहता है। विशेष ५८ (६ घ), ८१ नोट २, ४७ (५ क) में देखिये।

३ (ख) "हृदयमें हैं, पर देख तो पड़ते नहीं, देख कैसे पड़ें? कृपा क्यों नहीं करते?"—इन शंकाओंका उत्तर दूसरे चरणमें देते हैं—'छलहि छाड़ि···'। अर्थात् श्रीरामजी निष्कपट प्रेमसे मिलते हैं, छलकपटका जहाँ लेश भी होता है, वहाँ नहीं देख पड़ते। यथा 'रामहि केवल प्रेम पियारा', 'मिलहिं न राम कपट लय लाये।' १२६ (५ ख) देखिए। प्रेम चुम्बक पत्थर (मिकनातीस है, प्रभु लोहा है। उन्हें प्रेम तुरत खींच लाता है। परन्तु यदि चुंबक और लोहके बीचमें महीनसे भी महीन कागज या कपड़ा आ जाय तो चुम्बक लोहेको नहीं खींच सकता। कपट छल अर्थात् स्वार्थ ही बीचका कागज या कपड़ा है। सब प्रकारका आशा-भरोसा विषयवासना आदि स्वार्थ छल है। प्रभुने स्वयं कहा है—'मोहि कपट छल छिद्र न भावा', 'अस विचारि भजु मोहि परिहरि आस भरोस सब। ७।८७।' प्रेमका चिह्न है विषय-भोगसे वैराग्य, यथा 'जे रघुबीर चरन अनुरागे। तिन्ह सब भोग रोग सम त्यागे।१२७।' [भगवान् छलसे दूर रहते हैं। वे सत्यस्वरूप हैं और छल है विशुद्ध असत्य। (वि०)]

'छोह कियें हि है'—भाव कि वह तो सदा कृपा किये ही रहते हैं, 'सरनागत आरत प्रनतनि को दै दै अभयपद ओर निबाहैं। करि आईं, करिहैं, करती हैं तुलसिदास दासनि पर छाहैं। गी० ७।१३।', 'तुलसी की बलि बार बारहीं सँभार कीबी, जद्यपि कृपानिधान सदा सावधान हैं। क० ७।८०।' तथा वे तो भक्तोंपर कृपा करनेके लिये आतुर रहते हैं—'भृत्यानुग्रहकातरम्। भा० ३।२८।१७।' (यह स्वयं भगवान् कपिलदेवका वाक्य है)। पर तू ही विषयवासनारूपी छलको छोड़कर उनका भजन नहीं करता; इसीसे उनकी कृपा तेरे समझमें नहीं आती। कृपाको तू अपना पुरुषार्थ, भाग्य वा इत्तिफाक (Chance) मान लेता है, प्रभुका उपकार मानता ही नहीं। पुनः, 'कियें हि है' का भाव कि तेरे स्मरणमें ही विलंब है, कृपामें किंचित् विलंब नहीं, वे ऐसी कृपा करते हैं मानों पहलेसे ही कृपा करनेके लिये तैयार बैठे थे।

ऐसा ही पद २१५ में भी कहा है—'राम सहज कृपाल कोमल दीनहित दिनदानि। भजहि ऐसे प्रभुहि तुलसी कुटिल कपट न ठानि।'

३ (ग) 'किये छोह छाया कमल कर की···' इति। भक्तपर बराबर कर-कमलकी छाया रहती है। यथा 'जेहि कर अभय किये जन आरत बारक बिबस नाम टेरें॥ सीतल सुखद छाँह जेहि कर की मेटति पाप ताप माया। १३८।' 'भजतेहि' दीपदेहलीन्यायसे दोनों ओर लगता है। भजन करते ही करकमलकी छायारूपी कृपा करते हैं, यथा 'मन क्रम बचन छाड़ि चतुराई। भजत कृपा करिहहिं रघुराई। १।२००।६।' और 'भजतेहि भजै' अर्थात् भजन करने, शरणमें आनेपर, वे भजकको भजते हैं, उसकी सेवा करते हैं, उसे त्यागते नहीं। यथा 'आयो सरन भजौं, न तजौं तिहि। गी० ५।४५।' गीतामें भी भगवान्ने कहा है—'ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्। ९।२९।' अर्थात् जो मुझे भक्ति भावसे भजते हैं, वे मुझमें हैं और मैं उनमें हूँ। तात्पर्य कि जो केवल मेरे भजनको-ही अपना एकमात्र प्रयोजन समझकर मुझे भजते हैं, मैं उनके साथ वैसा ही बर्ताव करता हूँ जैसा श्रेष्ठ भक्तोंके साथ बर्ताव होना चाहिए। सारांश कि छल छोड़कर भजन करते ही वे कृपा करके अपना लेते हैं।

[वैजनाथजी लिखते हैं कि भाव यह है कि 'भक्त जो कहता है, वही करते हैं। जैसे मनु-शतरूपाके कहनेसे पुत्र हुए, प्रह्लादकी प्रतिज्ञाके लिये खंभसे निकले, भीष्मके लिये अपनी प्रतिज्ञा छोड़ी और हनुमान्‌जीके हाथ मानों बिक ही गए।]

३ (घ) 'जगदीस जीवन जीव को जो साज सब सबके सजै' इति। अब यहाँसे उनका ऐश्वर्य, उनका सामर्थ्य, दिखाते हैं। वे जगत्मात्रके स्वामी हैं। जीवके भी जीवन हैं, जीव शरीर है प्रभु उसके शरीरी हैं, प्रकाशक है। यथा 'यस्यात्मा शरीरम्' इति श्रुतिः, 'विषय करन सुर जीव समेता।... सबकर परम प्रकासक जोई। राम...'। भाव यह है कि सभी प्राणी इन्हींके आश्रित जीवन धारण करते हैं। सबकी देख-रेख, रक्षा, भरण-पोषण सब कुछ ये ही करते हैं।

वे ही सबके सब साज सजते हैं। यथा 'को साहिब सेवकहि नेवाजी। आपु समाज साज सब साजी।२।२६६।५।' (यह श्रीभरतजीका वाक्य है), 'नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान। श्वे० ६।१३।' अर्थात् जो नित्योंमें नित्य, चेतनोंमें चेतन और अकेला ही बहुतों को भोग प्रदान करता है।

[पुनः भाव कि जिसको जिस योग्य देखता है, उसको वैसा ही अधिकार देता है। (वै०)] 'साज सब सबके सजै'का ही आगे दृष्टान्त देते हैं।

३ (ङ) 'हरि हरहि हरता...' इति। 'हरता' (हरत्व) अर्थात् जीवोंके क्लेशों, पापों और संसारका हरण करना यह गुण दोनोंको दिया। यह अर्थ 'हरि' और 'हर' दोनोंका है और दोनोंमें यह शक्ति है। 'हर' पक्षमें संहार और 'हरि' पक्षमें पालन शक्तिका भी ग्रहण है। हरिके भी नियन्ता हैं। प्रत्येक ब्रह्माण्डमें एक-एक ब्रह्मा, विष्णु और महेश रहते हैं। सबको आपही ऐश्वर्य और अधिकार-पालन शक्ति देते हैं। यथा 'जाके बल विरंचि हरि ईसा। पालत सृजत हरत दससीसा। ५।२१।५।' (यह हनुमद्वाक्य है)। सब आपके अंशसे उत्पन्न हुए हैं। और सब आपकी सेवा करते हैं। यथा 'संभु विरंचि विष्नु भगवाना। उपजहिं जासु अंस तें नाना।१।१४४।६।' (यह मनुवाक्य है), 'देखे शिव विधि विष्नु अनेका। अमित प्रभाउ एक तें एका। वंदत चरन करत प्रभु सेवा। १।५४।' [श्रीरामतापिन्युपनिषत् में भी कहा है—'यो ह वै श्रीरामचन्द्र स भगवान्। यः ब्रह्माविष्णुरीश्वरो यः सर्व-वेदात्मा। भूर्भुवः स्वस्तस्मै वै नमोनमः।'; 'यत्प्रभावेन हर्ताहं त्राता विष्णु रमापतिः। यत्प्रभावेन कर्त्ता भूदेवोब्रह्मा प्रजापतिः। (रुद्रयामल)। (वै०)] 'यो ब्रह्मा विष्णुर्महेश्वरो यः सर्वदेवात्मा। रा० उ० ता०।' पूर्व श्रीरामजीको 'भगवंत न्यामक नियंता' कहा है, उसीको यहाँ 'हरिहरहि हरता०'से स्पष्ट कर दिया है। ५६ (६ घ) देखिए।

[हरि और हरका परस्पर विरोधी कार्य पालन और संहार देखने वा सुननेमात्रका है, इससे यह न समझना चाहिए कि हरि और हरका अवश्य ही अत्यन्त विरोध और शत्रुत्व होगा। पालन और संहार परस्पर विरोधी कार्यों का अर्थ यह नहीं है कि दोनों एक ही वस्तुके पालक और संहारक हैं। यदि ऐसा होता तो विरोध हो सकना संभव था। परन्तु ऐसा है नहीं। जिस पदार्थकी रक्षा करनी होती हो, उसके शत्रुका संहार जब हरसे होता है, तब विरोध कहाँ है? उदाहरणार्थ—रोगीके प्राणोंकी रक्षाके लिये जब वैद्य शस्त्रका प्रयोग करता है और व्याधिका संहार करता है तब तो एक ही व्यक्तिसे हरि और हर दोनोंके काम होनेकी बात है। यही संबंध पालक हरि और संहारक हर का है। अतएव 'हरि हरहि हरता' कहा। (अज्ञात)]

श्रीलक्ष्मीजीका जितना विलास है, वह भी आपकी ही कृपासे। जब ब्रह्मादिका ऐश्वर्य और शक्ति इन्हींसे है तब इ जनोंकी तो बात ही क्या? यह श्रीजानकीपति रघुनाथजीका ऐश्वर्य दि ' जो पद १३३ में कहा था 'तुलसी तकु ताहि सरन जाते सब लहत', उस सब लहत' को यहाँ स्पष्ट किया। 'श्रियहि श्रियता जेहि दई', लक्ष्मीजीको लक्ष्मीपना दिया है। यथा 'श्रियः श्रियं भक्तजनैकजीवितं समर्थमापत्सखमर्थिकल्पकम् ॥४५॥ (आलवन्दारस्तोत्र) (अर्थात् आप श्रीके भी श्री अर्थात् लक्ष्मीजीके भी शोभा करनेवाले हैं, भक्तजनोंके मुख्य जीवन हैं, समर्थ हैं, आपद्कालके सखा हैं, याचकोंके कल्पवृक्ष हैं।), 'श्रियाः श्रीश्च' (वाल्मी० २।४४।१५), 'कः श्रीः श्रियः परमसत्वसमाश्रयः।' (आलवन्दार १२) अर्थात् आपके बिना श्रीका भी श्री दूसरा कौन हो सकता है?

देखिए, लक्ष्मीजी भी भगवान्से प्रार्थना करती हैं—'हे अच्युत! आप अपने जिस भक्तवन्दित कर-कमलको भक्तोंके मस्तकपर रखते हैं, उसे मेरे मस्तकपर रखिये।'—'स त्वं ममाप्यच्युत शीर्ष्णि वन्दितं कराम्बुजं यत्त्वदधायि सात्वताम्। भा० ५।१८।२३।'

३ (च) 'सो जानकीपति मधुरमूरति ' इति। ऐश्वर्य कहकर अब उसे माधुर्यमें घटाते हैं, अर्थात् बताते हैं कि वे 'राम' रघुकुलावतंस रघुनाथजी ही हैं जो श्रीजानकीजीके पति हैं। मधुरमूर्ति हैं। अर्थात् सुन्दरता रमणीयता और स्वरूपता ऐसी है कि कितना ही देखें, तृप्ति नहीं होती, सदा एकटक देखते रहनेकी इच्छा बनी ही रहती है। देखिए, जनकपुरवासी 'प्रेमबिबस माँगत महेस सों, देखत ही रहिए नित ए री। कै ए सदा बसहु इन्ह नयनन्हि, कै ए नयन जाहु जित ए री। गी० २।७८।' सुर-नर-मुनि आदिकी कौन कहे, पशु-पक्षी भी टकटकी लगाए देखते रह जाते हैं,

आपसका वैर भूल जाते हैं। यथा 'खग मृग मगन देखि छबि होहीं। लिये चोरि चित राम बटोही।' इत्यादि। सौन्दर्य आदिको मूर्ति कहकर यह भी जनाया कि जिनको ये प्रिय हैं वे धन्य हैं। यथा 'बिरचत इन्हहिं बिरंचि भुवन सब सुंदरता रितए री। तुलसिदास ते धन्य जनम जन, मन-क्रम-बच जिन्हके हित ए री। गी० २।७८।'

मानसमें 'मधुरमूर्ति' शब्द श्रीरामजीके संबंधमें दो जगह आए हैं। एक तो जब जनक महाराज विश्वामित्रजीका आगमन सुन उन्हें लेने गए। यथा 'तेहि अवसर आये दोउ भाई। गए रहे देखन फुलवाई॥ स्याम गौर मृदु बयस किसोरा। लोचन सुखद बिश्वचित चोरा॥ भये सब सुखी देखि दोउ भ्राता॥ मूरति मधुर मनोहर देखी। भयेउ बिदेहु बिदेहु बिसेखी।१।२१५।' दूसरे, रनवासमें बिदा होनेके लिये जब वे गये हैं तब। यथा 'चारिउ भाइ सुभाय सुहाए' 'रूपसिंधु सब बंधु लखि'''।१।३३५। देखि राम छबि अति अनुरागी।', 'मंजु मधुर मूरति उर आनी। भई सनेह सिथिल सब रानी।१।३३७।५।'

यहाँ वही शब्द देकर सूचित किया कि ऐसे सौन्दर्यनिधान हैं, ऐसे श्याम सुहावन मृदु शरीर और नित्य किशोरावस्थाके है कि ब्रह्मज्ञानी जनक महाराज ऐसे योगी भी उनको देखकर ब्रह्मानंदको भूल गए, उनके मन हर गए। ऐसे सर्वोत्कृष्ट छबिसिंधु रूपराशि स्वामीके लिये तुझे भी लालायित होना चाहिए।

'मोदमय मंगलमई' से आनन्दमूर्ति तथा मंगलमूर्ति जनाया। यथा 'राम सहज आनंदनिधानू।२।४१।', 'पूजे बर दुलहिनि मंगलनिधि। १।३५०।३।', 'मंगलमूरति लोचन भरि भरि। निरखहिं हरषि दंडवत करि करि।२।२४६।४।' तात्पर्य कि इनके स्मरण, ध्यान, आश्रय मात्रसे हृदयमें आनन्द होता है, मंगल होता है और अमंगलोंका नाश होता है। ये मंगलभवन अमंगलहारी हैं। शरणागतको मुदमंगलमय कर देते हैं, यथा 'भवभूपन सोइ कियो बिभीपन मुदमंगल महिमामई। गी० ५।३७।'

[श्री० श०—मधुरमूर्ति कहकर रसरूपा भक्तिके द्वारा उपास्य सूचित किया। 'जानकीपति' कहकर शृङ्गाररसके अनुकूल ध्यान कहा। क्योंकि इस रसमें सीतारमणरूप दंपत्तिका ध्यान होता है।]

टिप्पणी—४ (क) 'ठाकुर अतिहि बड़ो सील सरल सुठि' इति। ब्रह्मा, विष्णु, महेशके भी स्वामी, नियन्ता आदि होनेसे 'ठाकुर' कहा। ठाकुर=स्वामी; मालिक। यथा 'निलज नीच निरधन निरगुन कहँ जग

दूसरो न ठाकुर ठाउँ ॥ हैं घर घर भव भरे सुसाहिव'''।१५३।' 'अतिहि वड़ो'—सृष्टि, पालन और संहारके करनेवालों, त्रिदेवोंसे वड़ा कोई नहीं है। इनसे भी वड़े होनेसे 'अति वड़ो'; और फिर इनसे वडा कोई नहो, यथा—'लोक वेद विदित वड़ो न रघुनाथ सो।७१।', 'जेहि समान अतिसय नहि कोई।३।६।८।', इससे 'अतिहि वड़ो' कहा। वड़प्पन ऊपर दिखा आए और आगे भी कहते हैं—'ज्ञान अगम सिवहूँ'। जब ऐसे वडे हैं, तब हम ऐसे क्षुद्र जीवोंकी पहुँच ही वहाँतक असंभव है ? उसपर कहते हैं कि ऐसी वात नहीं है। उनका अत्यन्त सरल स्वभाव है। वे वडे ही सुलभ हैं। यह सौलभ्य गुण दिखाया। इसीको आगे उदाहरण देकर समझाते हैं।

४ (ख) 'ज्ञान अगम सिवहूँ भेंट्यो केवट उठि' इति। इसमें ऐश्वर्य और माधुर्य, दौर्लभ्य और सौलभ्य कहे। शिवजीको ज्ञानसे गम्य नहीं हैं। ज्ञान और वैराग्य हृदयके नेत्र हैं। ज्ञान-अगम = हृदयके नेत्रोंसे भी गम्य नहीं, तव वाहरके नेत्रोंकी वात ही क्या ? यथा 'जे हर हिय नयननि कवहुँ निरखे नहीं अघाय।२।२०६।'—यह जिनका ऐश्वर्य है, दौर्लभ्य है। वे ही भक्तप्रेमसे ऐसे सुलभ हैं कि निपाद ऐसे नीचको, 'जासु छाँह छुइ लेइअ सींचा' ऐसे केवटको स्वयं उठकर गले लगाकर भेंटे। यथा 'परेउ अवनि तन सुधि नहि तेही ॥ प्रीति परम बिलोकि रघुराई। हरपि उठाइ लियो उर लाई।६।१२०।' (यहाँ श्रीरामजी विमानपर जहाँ बैठे थे, वहाँसे उठकर गुहको हाथोंसे उठाकर हृदयसे लगाकर मिले। उठकर मिलनेका उल्लेख इसी जगह है, अन्यत्र नहीं।)

४ (ग) 'भरि अंक भेट्यो सजल नयन सिथिल सरीर सो' इति। सजल नयन और शिथिल शरीरका निपादकी भेंट-समय होना ग्रंथकारने स्पष्ट नहीं लिखा है, पर शब्दोंसे संकेत कर दिया है। 'हरपि उठाइ लियो उर लाई॥' कहकर कवि कहते हैं 'सव भाँति अधम निपाद सो हरि भरत ज्यों उर लाइयो। ६।१२०।' पद १६१ में भी कहा है 'केवट भेंट्यो भरत ज्यों ऐसो को कहो पतितपुनीत।' 'भरत ज्यों' अर्थात् जैसे 'भेंटत भुज भरि भाइ भरत सो। तन मन वचन उमग अनुरागा। वारिजलोचन मोचत वारी।२।३१७।४-६।', वैसेही केवटसे भुजा भरकर अनुरागसे मिले। अनुरागकी उमगमें शरीर शिथिल हो जाता है, यथा 'सकल सनेह सिथिल रघुवर के। गए कोस दुइ दिनकर ढरके। २।२२६।१।', 'जाहिं सनेह सुरा सव छाके॥ सिथिल अंग पग मग डगि डोलहि। २।२२५।', 'सिथिल सनेह सभा रघुराऊ। २।३०१।'

४ (घ) 'सुर सिद्ध मुनि कवि ...' इति । सुरमें ब्रह्मा, इन्द्रादि लोकपाल तथा समस्त देवता आ गए । सिद्ध भी देवताओंकी एक जाति है तथा जो अष्टांगयोगद्वारा सिद्ध हो गए हैं वे भी 'सिद्ध' हैं । मुनि में अगस्त्यजी, अत्रिजी, भरद्वाजजी, व्यासजी, याज्ञवल्क्यजी आदि सब मुनि आ गए । कवि = भूत, भविष्य और वर्तमानके जाननेवाले; सर्वज्ञ; जैसे कि शुक्राचार्य आदि । यथा 'कविं पुराणं ...। गीता ८।६।', 'मुनीनामप्यहं व्यासः कवीनामुशना कविः । गीता १०।३७।'

कोउ न प्रेम प्रिय रघुवीर सो' इनके समान प्रेमका प्यारा दूसरा नहीं है । यथा 'नीति प्रीति परमारथ स्वारथु । कोउ न राम सम जान जथारथु । २।२५४।५।'—(यह ब्रह्मपुत्र रघुकुलगुरु श्रीवसिष्ठजीका वाक्य है), 'प्रेम कनोड़ो रामसों प्रभु त्रिभुअन तिहुँ काल न भाई । तेरो रिनी हौं कह्यो कपि सों ऐसी मानिहै को सेवकाई । १६४।', (यह वाल्मीकिके अवतार तुलसीदासजीके वचन हैं) तथा 'कहूँ न कोउ रघुबीर सो नेहु निवाहनिहार । १९०।', 'बारहि बार गीध सबरीकी बरनत प्रीति सुहाई । १६५।'—ऐसे प्रेमप्रिय हैं । वैजनाथजी लिखते हैं कि 'और जितने देवता हैं उनको जप, तप, यज्ञ, पूजा आदि जो विधिवत् बने वही प्रिय है और रघुनाथजीको केवल प्रेम प्रिय है' । श्रीरामजीकी प्रीतिको अथाह नदी कहा गया है, यथा 'प्रीति-प्रतीति-रीति-सोभा-सरि थाहत जहँ जहँ तहँ तहँ घई । गी० ५।३८।'

४ (ङ)—'खग सबर निसिचर भालु कपि किये आपु से वंदित बड़े' इति । जटायु, शबर (कोल, भील, केवट आदि), वानर भालुकी कथायें पूर्व आ चुकी है । जटायुको अपने पितासे भी अधिक मान दिया; यथा 'जनक समान क्रिया ताकी निज कर सब भाँति सँवारी । १६६।' शबरीको माता समान माना, वानरों और विभीषण तथा केवटको सखा माना, यथा 'खग सबरी पितु मातु ज्यों माने, कपि कैं किये मीत । १६१।' वानरोंसे प्रभुने कहा है—'मोहि सहित सुभ कीरति तुम्हारी परम प्रीति जो गाइहैं । संसार सिंधु अपार पार प्रयास बिनु नर पाइहैं । ६।१०५।', इसमें 'मोहि सहित' शब्दोंसे अपनी कीर्तिको गौण और वानरोंकी कीर्तिको प्रधान दिखाकर अपनी अपेक्षा उनको बड़ा बना दिया । घर आकर इनको सखा और 'समरसागर कहँ बेरे' तथा भरतजीसे भी अधिक प्यारे कहकर इनका परिचय गुरु आदिको दिया और बिदाईके समय 'अनुज राज संपति बैदेही । देह गेह परिवार सनेही । सब मम प्रिय नहिं तुम्हहि समाना । मृषा न कहउँ मोर यह बाना । ७।१६।'—इस तरह इनके कृतज्ञ होना कहा है ।—ये भगवान्‌के परिकर परिवार माने गए हैं । श्रीराम-

तापिनी तथा रामार्चनचन्द्रिका इसके प्रमाण हैं। इनका पूजन प्रथम हो लेता है, तब श्रीरामजीका पूजन होता है। इत्यादि। यह सब 'आपुसे बंदित बडे' के प्रमाण हैं। मिलान कीजिए—'तुलसी रामहु ते अधिक राम-भगत जिय जान। रिनिया राजा रामभे धनिक भए हनुमान। दो०१११।' जितनी पूजा लोकमें श्रीहनुमान्‌जीकी होती है, उतनी भगवान्‌की नहीं।

४ (च) 'तापर तिन्ह कि सेवा सुमिरि जिय जात जनु सकुचनि गड़े' इति। जटायुसे कहा है 'तात कर्म निज तें गति पाई॥ परहित बस जिन्हके मन माहीं। तिन्ह कहुँ जग दुर्लभ कछु नाहीं॥ तनु तजि तात जाहु मम धामा। देउँ काह तुम्ह पूरनकामा। ३।३१।' शबरीजीसे कहा है कि आज मेरे मार्गका श्रम तेरे फल खाकर जाता रहा। (भक्तमाल टीका) और उसके फलोंकी बडाई जहाँ-जहाँ पहुनई होती करते हैं; अघाते नहीं। ऐसे सुकृतज्ञ हैं कि उसके सुरस चार फलके बदले उसे योगिदुर्लभ गति देकर भी सोचते हैं कि हमने कुछ दिया नहीं, यही समझकर सर्वत्र उसके दिये हुए फलोंके स्वादकी प्रशंसा करते रहते हैं। निशाचर विभीषणजीको कल्पान्तपर्यन्त लंकाका राज्य दिया, रावणने जो शक्ति उनको मारनेके लिये चलाई थी. उससे उनकी रक्षा की, तब भी सोचते हैं कि 'विभीषण शरण आया, हमने उन्हें कुछ न दिया, जली-भुनी लंका ही तो दी, क्या दिया ? वह तो उसके घरकी ही थी, सो भी नष्ट होनेपर उसको दी गई।' राज्यके पश्चात् रामधामप्राप्तिका वर भी दिया,—लोक परलोक दोनों बनाए। प्रातः स्मरणीय बनाया। फिर भी उनका निहोरा करते हैं कि भरतको 'देखौं बेगि सो जतनु करु सखा निहोरउँ तोहि। ६।११५।' संकोचका प्रमाण, यथा 'जो संपति सिव रावनहि दीन्हि दिये दस माथ। सोइ संपदा विभीषनहि सकुचि दीन्हि रघुनाथ। दो० १६३।' भालु-वानर-के संबंधमें भी देखिए—'सनमुख होइ न सकत मन मोरा। ५।३२।६।', 'कियो सुसेवक धरम कपि प्रभु कृतग्य जिय जानि। जोरि हाथ ठाढ़े भए बरदायक बरदानि। दो० ११२।', 'तुम्ह अति कीन्हि मोरि सेवकाई। मुखपर केहि बिधि करउँ बड़ाई। ७।१६।४।' सेवाका स्मरण करते ही मारे संकोचके सिर नीचा कर लेते हैं कि सेवाके योग्य इनका कुछ भी प्रत्युपकार हमसे न बन पड़ा।—ऐसा प्रेमप्रिय, ऐसा अत्यन्त सरलशील संकोची दूसरा नहीं।

टिप्पणी—५ 'स्वामीको सुभाउ कह्यो सो जब उर आनिहैं' इति। (क) 'स्वामी' शब्दसे जनाया कि ये ही सबके उपास्यदेव हैं। उपास्यमें जो गुण होने चाहिएँ, वे सब यहाँ तक दिखाए कि वे ही जगदीश हैं, जीवोंके

जीवन हैं, इन्हींके प्रेमसे पिता-माता आदि प्रिय लगते हैं, वे ही बिधि-हरि-हरके स्वामी और नियन्ता हैं, इनसे बड़ा और कोई नहीं है। यह उनका ऐश्वर्य है। कोई चाहे कि ज्ञान आदिके द्वारा इनको प्राप्त कर ले तो औरकी क्या चली, भगवान् शंकरको भी ये ज्ञान-गिरा-गोतीत हैं। इतनी बड़ी महिमा और साहिबी होते हुए भी वे भक्तोंको सुलभ हैं। 'सो जानकी-पति ··' से 'सकुचनि गड़े' तक उनका सौलभ्य गुण कहा। भक्तोंके लिये ही वे 'जानकीपति' हुए, मोदमंगलमय मधुरमूर्तिरूपसे जीवोंका मंगल करने, उनको आनंद देनेके लिये माधुर्य धारण किया। केवट, गीधराज, शबरी, सुग्रीव, वानर, भालु आदिपर कृपाकर, उनकी किंचित् सेवाको भी सुमेरुवत् भारी सेवा मान उनके परम कृतज्ञ हुए—इस अपने स्वभाव और चरितसे उन्होंने संसारको दिखाया है कि उत्तम कुलमें जन्म, सुन्दरता, वाक्चातुरी, बुद्धि और आकृति इनमेंसे कोई भी गुण हमको प्रसन्न करनेका कारण नहीं है।—'न जन्म नूनं महतो न सौभगं, न वाङ् न बुद्धिर्नाकृति-स्तोषहेतुः। भा० ५।१६।७।' हम एकमात्र प्रेम चाहते हैं, 'भगतिवंत अति नीचउ प्रानी। मोहि प्रानप्रिय असि मम बानी। ७।८६।'

५ (ख) 'कह्यो सो' से जनाया कि जो स्वभाव ऊपर कहा है, उसको ही। दीन, आर्त्त, जाति-कुलहीन, हिंसक, तामसी तथा सब प्रकार हीन जीवोंको भी अपना लेना, किंचित् फल-फूलसे भी सेवा करनेसे अत्यन्त कृतज्ञ होना, उनके गुणको ही लेना अवगुणपर दृष्टि न डालना, इत्यादि अत्यन्त सरल स्वभाव है। 'सील सरल सुठि' स्वभाव उपक्रम और "स्वामीको सुभाउ' उपसंहार है।

५ (ग) 'सो जब उर आनिहैं'—भाव कि सुन लेने मात्रसे कोई विशेष लाभ नहीं, लाभ तभी होगा जब इनको हृदयमें धारण करेगा, मनन करेगा, समझेगा। हृदयमें लाना यह है कि मनुष्य तन आदि दिया इसके लिये उनका उपकार मानेगा, अपने पूर्वके कृत्योंपर ग्लानि करेगा कि अब तक मैं ऐसे प्रभुको भुलाये रहा, प्रभुके स्वभावको, उनके गुणोंको उनकी कृपाओंका स्मरण करेगा।—इससे लाभ क्या होगा यह उत्तरार्धमें बताते हैं कि 'सोचु सकल मिटिहैं, राम भलो मनिहैं'। 'सकल शोच'में जीवननिर्वाहका, अपने अपराधोंका, पापोंका, कुटुंब परिवारका, जन्म, जरा, मरण, चौरासी भ्रमणरूप भवका, त्रिविध ताप, संदेह, शोक, भय आदि--इत्यादि सब प्रकारके शोच आ गए। सब सोच तभी मिटेंगे जब स्वभावको मनन करता रहेगा, अन्यथा नहीं। स्वभाव हृदयमें जम जानेसे सब सोच इस तरह मिटेंगे—'है छरभारु ताहि तुलसी जग जाको दास

कहैहों'—(१०४), 'को करि सोच मरै तुलसी हम जानकीनाथके हाथ बिकाने। क० ७।१०५।', 'सनमुख होइ जीव मोहि जबहीं। जन्मकोटि अघ नासहि तबहीं। ५।४४।', 'नाम लेत भवसिंधु सुखाहीं', 'सोच संकटनि सोचु संकट परत, जर जरत प्रभाउ नाम ललित ललाम को। क० ७।७५।', 'राम सुभाउ सुन्यो तुलसी प्रभुसों कह्यो बारक पेट खलाई। स्वारथको परमारथको रघुनाथ सो साहेब खोरि न लाई। क० ७।५७।'—स्वार्थ परमार्थ सबका सोच मिट जाता है।

५ (घ) 'राम भलो मनि हैं।' स्वभावको हृदयमें लानेमात्रसे भला मानेंगे। स्वभावका हृदयमें लाना उनके सौलभ्य, सौशील्य, अहैतुकी कृपालुता, दीनहितता, प्रेमगाहकता; भक्तवशता, पतितपावनता, सुकृतज्ञता, भक्तवत्सलता, इत्यादि गुणग्रामोंका स्मरण करना और समझना है। गुणग्रामके स्मरणसे वे प्रसन्न होकर कृपा करते हैं, प्रेम देते हैं। यथा 'समुझि समुझि गुनग्राम रामके उर अनुराग बढ़ाउ। तुलसिदास अनायास रामपद पाइहै पेम पसाउ। १००।

५ (ङ) 'भलो मानिहैं रघुनाथ जोरि जो हाथ माथो नाइहै।...' इति। ऊपर केवल स्वभावको हृदयमें मनन करनेसे श्रीरामजी भला मानते हैं, यह कहा। अब बताते हैं कि स्वभावस्मरणके साथ-साथ हाथ जोड़कर प्रणाम भी कर लेनेसे जन्म और जीवन तुरत उसी समय सफल हो जाते हैं। भाव कि इतने मात्रसे वे तुरत अपना लेते हैं, देर नहीं लगती, (यथा 'सकृत प्रनाम किहें अपनाए।'), अगम भवमार्ग समाप्त हो जाता है, अंतमें प्रभुकी प्राप्ति होती है। यही मनुष्यशरीर धरनेका फल है। तात्पर्य कि प्रभु इतने सुलभ हैं, उनके लिये जप, तप, योग, यज्ञ आदिके कष्ट उठानेकी अपेक्षा नहीं है।

श्रीयामुन मुनिने भी हाथ जोड़नेका माहात्म्य कहा है—'त्वदङ्घ्रिमुद्दिश्य कदाऽपि केनचिद्यथा तथा वाऽपिसकृत्कृतोऽञ्जलिः। तदैव मुष्णात्यशुभान्यशेषतः शुभानि पुष्णाति न जातु हीयते।' (आलवन्दार २८) (अर्थात्) 'हे हरे! आपके चरणारविन्दके उद्देश्यसे कभी भी कोई भी जैसे-तैसे भी (विना किसी विधिके) एक बार भी दोनों हाथ जोड़कर जो अंजलि करता है, वह हाथ जोड़ना ही इतना प्रबल है कि उसी समय उसके पापोंको हर लेता है और अनेक पुण्योंको उत्पन्न करके पुष्ट करता है और फिर कभी हीन नहीं होता।—यह एक कृतज्ञताकी पराकाष्ठा जनाई।' (पं० भागवताचार्यकृत टीका)।

५ (च) 'जपु नाम करहि प्रनाम कहि गुनग्राम रामहि धरि हियें ।··' इति । स्वभावको मनमें लानेका लाभ कहा, स्वभाव स्मरण करते हुए हाथ जोड़कर प्रणाम करनेका फल कहा और अब नामजप, प्रणाम, गुणग्राम-कीर्तन, रामजीको हृदयमें धारण तथा श्रीरामजीके चरणकमलोंमें मनको भौंराकी तरह लुब्ध करनेका फल वर्णन करते हैं कि 'बिचरहि अवनि'। भाव कि इतना सब होते रहनेपर तेरा और कुछ कर्तव्य रह नहीं जाता, बस इस तरह जीवन्मुक्त होकर शेष आयु आनन्दपूर्वक अभय होकर व्यतीत कर। 'बिचरहि' में निर्भय आनन्दपूर्वक विचरणका भाव है। 'बिचरहि अवनि' का भाव कि इस आचरणसे पृथ्वी भरमें जहाँ भी रहेगा वहाँ निर्भय रहेगा। * विचरणका तात्पर्य यह नहीं है कि चलता ही रहे।

इनमेंसे एक-एक आचरण ही महत्वका है, जहाँ सब एकत्र होंगे वहाँ का कहना ही क्या ? यथा 'सेवक सुमिरत नाम सप्रीती। बिनु श्रम प्रबल मोह दल जीती। फिरत सनेह मगन सुख अपने। नाम प्रसाद सोच नहि सपने ।१।२५।', 'प्रसाद रामनाम कें पसारि पाँय सूति हौं। क० ७।६६।'— (यह नामकी कृपासे सुखपूर्वक विचरण है); 'मंगलमूल प्रनाम जासु जग, मूल अमंगलके खनै। गी० ५।४०।' (यह एक-एक प्रणामका फल है); 'जेहि रसना गुन गाइ तिहारे बिनु प्रयास सुख पावौं।१४२।', 'गावत गुनगन रामके केहि की न मिटी भवभीर।१६३।' इत्यादि (यह गुणगानका फल है); 'तब लगि हृदय बसत खल नाना। लोभ मोह मत्सर मद माना। जब लगि उर न बसत रघुनाथा।५।४७।' (हृदयमें धारण करनेसे कामादि वहाँ न आ सकेंगे। नहीं तो ये सब 'संतत पीड़हि जीव कहुँ सो किमि लहै समाधि।७।१२१।')। 'अवनीस' का भाव कि राजारूपका ध्यान कर। वे पृथ्वीभरके राजा हैं। अतः उनके चरणोंमें मन लगाये रहनेसे सारी पृथ्वीमें तुझे कोई बाधक नहीं होगा, वे सदा तेरी रक्षा करते रहेंगे। राजा प्रजाकी रक्षा करता ही है।

'मन मधुकर कियें' के भाव ४५ (१ ठ) तथा १०५ (३ ग) में देखिए।

---

* श्रीयामुनाचार्यजीने कहा है—'उदीर्ण संसारदवाऽऽशुशुक्षणिं क्षणेन निर्वाप्य परां च निर्वृतिम्। प्रयच्छति त्वच्चरणारुणाम्बुजद्वयानुरागामृतसिंधुशीकरः। (आलवंदार २९)। आपके दोनो लाल चरणकमलोके अनुराग-सुधासमुद्रका छोटासा जलकण भी बढे हुये संसाररूप दवाग्निको क्षणमात्रमे शान्त करके परमानंदको प्राप्त कर देता है; तब जो साक्षात् अनुरागसमुद्रमे मग्न हो जावे, उसके सुखका क्या पार है ?

श्रीसीतारामचन्द्रार्पणमस्तु ।

१३६ (५२)

जिय[1] जब तें हरि तें बिलगान्यो। तब तें देह गेह निज जान्यो[2]।
माया बस स्वरूप[3] बिसरायो। तेहि भ्रम तें दारुन दुख पायो।
छंद॥ पायो जो दारुन दुसह दुख सुख लेस सपनेहुँ[4] नहिं मिल्यो।
भय[5] सूल सोक अनेक जेहि तेहि पंथ तूँ हठि हठि चल्यो।
बहु जोनि जन्म जरा बिपति मतिमंद हरि जान्यो नहीं।
श्रीराम बिनु बिश्राम मूढ़, बिचारि देखु[6] पायो कहीं।१।
आनंदसिंधु मध्य तव बासा। बिनु जाने कस मरसि पियासा।
मृगभ्रमवारि सत्य जल[7] जानी। तहँ तूँ मगन भयो सुख मानी।
छंद॥ तहाँ[8] मगन मज्जसि पान करि त्रयकाल जल नाहीं जहाँ।
निज सहज अनुभव रूप तव[9] खलु भूलि जनु[10] आयो तहाँ।
निर्म्मल निरंजननिर्विकार उदार सुख तैं परिहर्‌यो।
निष्काज[11] राज बिहाइ नृप इव स्वपनकारागृह पर्‌यो।२।

शब्दार्थ—बिलगान्यो = अलग हुआ। गेह = गृह; घर। स्वरूप = निज आत्मरूप। लेस (लेश) = किंचित् मात्र; तनिक भी। मज्जसि = स्नान करता है। पान करना = पीना। त्रयकाल = तीनों कालोंमे। सहज = स्वाभाविक। अनुभव—११६ (२), १२१ (२) देखिए। अनुभवस्वरूप = विज्ञानस्वरूप। उदार = श्रेष्ठ, महान्। निष्काज = विना प्रयोजन, व्यर्थ। कारा-

१ जिव—भा०, वे०, मु०। जिउ—५१। जिय—६६, रा०, ७४, आ०। २ मान्यो—वे०। ३ स्वरूप—६६, रा०, ७४, वै०, मु०। सरूप—भा०, वे०, भ०, वि०, दीन। ४ नहिं सपन्यो—भा०, वे०। नहिं सपनेहुँ—ह०, ७४, ज०। सपने नहिं—मु०। ५ भय—६६, रा०, भा०। भव—ह०, आ०। ६ देखु—६६, रा०, भा०, वे०, डु०, ज०। लखि—मु०, वै०, वि०, दीन, ५१, ह०। लखु—७४, भ०। ७ जल—६६, रा०, भ०। जिय—भा०, वे०, आ०, ह०, ५१, प्र०, ७४। ८ तहाँ—६६। तहँ—औरोंमे। ९ तव खलु—६६, भ०। तू खल—भा०, वे०, मु०, वै०, ५१। तव खल—प्रायः औरोंमें। १० जनु—६६, रा०। चलि—भा०, वे०, भ०, दीन, ज०। अब—५१, वै०, वि०, ७४, मु०, डु०। ११ निष्काज—६६, वै०, डु०। निःकाज—प्रायः औरोंमे।

ह=जेलखाना, कालकोठरी। निरंजन-५६ (/) देखिए। = अविद्यामाया-हेत।

पद्यार्थ—रे जीव! जबसे तू हरिसे अलग हुआ, तबसे तूने देह (ही) ो अपना घर (वा, देह और घरको अपना) मान लिया। मायाके वशमें कर अपना स्वरूप भुला दिया। उसी भ्रमसे तूने कठिन दुःख पाये। छंद-) तूने जो कठिन, न सहे जा सकने योग्य, दुःख पाये उससे तुम्हें स्वप्नमें भी लेशमात्र सुख न मिला। जिस मार्गमें अनेकों भय, शूल पीड़ायें, वेदनायें) और शोक (भरे पडे) है, उसीपर तू बारबार हठ र-करके चला। अनेकों योनियोंमे जन्म और बुढ़ापेके दुःख भोगे, (इतने र भी) अरे मन्द बुद्धि! तूने हरिको न जाना। रे मूर्ख! (ज़रा) चारकर देख (तो कि) श्रीरामजीसे विमुख (होनेसे) कहीं भी तूने ांति पाई।१। आनन्दसागरके मध्यमें तेरा निवास है, उसे न जानकर ू क्यों प्यासा मर रहा है? मृगतृष्णाके झूठे जलको सत्य जल जानकर ू उसमें सुख मानकर डूबा हुआ है। जहाँ (भूत, भविष्य, वर्तमान) ीनों कालोंमें जल न था, न होगा और न है, वहाँ तू (डुबकी मारकर) हाता है और जल पीकर प्रसन्न हो रहा है। रे खल! निश्चय ही जो तेरा हज आत्मानुभवरूप है, उसे भूलकर मानों (अर्थात् ऐसा जान पड़ता ; कि) तू उस (मृगभ्रमवारि)मे आ पड़ा (जिसमें त्रिकालमें जल नही ;)। तूने निर्मल, निरंजन, निर्विकार और श्रेष्ठ महान् सुखको छोड़ दया। विना प्रयोजन ही राज्य छोड़कर स्वप्नमें जैसे (कोई) राजा जेल-ख़ानेमें पड़ा हो (वैसे ही तू पड़ा है)।२।

टिप्पणी—१ (क) 'जिय जब तें हरि तें बिलगान्यो।' इति। जीवकी पाँच कोटियाँ हैं। बद्ध, मुमुक्षु, मुक्त, कैवल्य और नित्य (पार्षद)। मुक्तमें भी नित्य मुक्त और बद्धमुक्त दो भेद है। श्रीभरतजी, श्रीलक्ष्मणजी, श्रीशत्रुघ्नजी और श्रीहनुमान्‌जी नित्य हैं। ये सदा हरिकी सान्निध्यमें प्राप्त है। प्रस्तुत पदमे समस्त जीव अभिप्रेत नही हैं। यहाँके 'जिय' शब्दमे केवल बद्ध, हरि विमुख एवं मुमुक्षु जीवसे ही तात्पर्य है, कवि अपने मिष ऐसे जीवोंको उपदेश कर रहे हैं।

जीव ईश्वरका अंश है (अर्थात् उसका भोग्य है। जैसे देवांश, ज्येष्ठांश, कनिष्ठांश; वैसे ही ईश्वरांश), अविनाशी, चेतन, निर्मल और सुखराशि है, तथा जीव अनेक हैं। यथा 'ईश्वर अंस जीव अबिनासी। चेतन अमल सहज सुखरासी।७।११७।२।', 'परबस जीव स्वबस भगवंता। जीव अनेक एक श्रीकंता।७।७८।७।' जीव और ईश्वर दोनों सदा साथ

रहते हैं जैसे शरीर और शरीरी। जीव और माया दोनों ब्रह्मके शरीर हैं। यथा 'ब्रह्म जीव सम सहज सँघाती।१।२०।१।', 'यस्यात्मा शरीरं', 'यस्याक्षरं शरीरं' इति श्रुतिः। (शतपथ ब्राह्मण १४।५।३०)। मायाके वश हो जानेपर भी दोनोका साथ नही छूटना, यह कवि आगे स्वयं कहते हैं। जैसे पलंगपर बेखबर गाढ़ निद्रामें सोये हुये बालककी पीठको अपनी छातीसे लगाकर माता साथ सोई रहती है, उसी प्रकार विमुख चेतन जीवको भी प्रभु अपने हृदयसे लगाए अन्तःकरणरूपी पलंगपर साक्षी और अन्तर्यामी रूपसे बराबर उसके साथही रहते हैं। जैसे ब्रह्म नित्य है, वैसेही जीवभी नित्य है। यथा 'जीव नित्य केहि लगि तुम्ह रोवा।४।११।५।', 'अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे।', 'नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः।' (गीता २।२०,२४। अर्थात् यह अजन्मा नित्य सनातन और पुराण है, शरीरके मारे जानेपर भी यह मारा नहीं जाता। यह नित्य, सर्वव्यापी, स्थिरस्वभाव, अचल और सनातन है), 'नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान् ।कठ० २।५।१३।' (अर्थात् जो एक नित्य चेतनजीवान्तर्यामी परमात्मा नित्य बहुत चेतन (जीवों) के संपूर्ण मनोरथोंको पूर्ण करता है, कर्मफलोंको देता है), 'प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि। गीता १३।१९।' (अर्थात् प्रकृति और पुरुष दोनोंको ही तू अनादि जान) तथा 'ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशानीशावजा ह्येका भोक्तृभोगार्थयुक्ता। अनन्तश्चात्मा विश्वरूपो ह्यकर्ता त्रयं यदा विन्दते ब्रह्ममेतत्। श्वे० ।१।९।' (ये ईश्वर और जीव - क्रमशः सर्वज्ञ तथा अज्ञ, समर्थ एवं असमर्थ हैं। दोनों अजन्मा हैं। अजा-प्रकृति जीवके भोग्यसंपादनमें नियुक्त है। विश्वरूप आत्मा अनंत एवं अकर्ता है। इन तीनोंका ज्ञान होनेपर ब्रह्मप्राप्ति होती है)।

महाप्रलय होनेपर भी जीव और प्रकृति सूक्ष्मरूपसे ब्रह्मके साथ ही रहते हैं। सूक्ष्मचिदचिद्विशिष्ट ब्रह्म महाप्रलय होनेपर रहता है।

अतएव, 'जब तें हरि तें बिलगान्यो' का भावार्थ यह है कि जबसे तू मायाके वश हो प्रभुसे विमुख हुआ, उनको भूल गया, उनका कैंकर्य भजन छोड़ दिया।—यह अर्थ आगेके 'श्रीराम बिनु बिश्राम मूढ़ बिचारि देखु पायो कहीं', 'अजहुँ बिचारि बिकार तजि भजि राम जन सुखदायकं। भवसिंधु दुस्तर जलरथं भजि चक्रधर सुरनायकं।', इन उद्धरणों तथा मानसके 'सो माया बस भयउ गोसाईं।...तब तें जीव भयो संसारी ७।११७।२,५।' से सिद्ध होता है। सारांश कि अनादि अविद्या-आवरणसे जीवका निज स्वरूप ढक गया, वह संसारी अर्थात् देहाभिमानी हो गया।—

यही हरिसे बिलगाना है। हरिसे बिमुख होनेसे जो दोष जीवमे आ गये, उन्हे आगे दिखाते हैं।

१ (ख) 'तब ते देह गेह निज जान्यो' इति। तिलतैल-दारुवह्निवत् दुर्विवेचन अनादि प्रकृति संबंध सूचित करनेके लिये 'जब तें' 'तब तें' शब्द दिये। देहको घर मानने लगा अर्थात् देहमें ममत्व हो गया, स्वयं 'मैं' बना और देहको 'मेरा' कहकर देहाभिमानी बन गया। पांचभौतिक शरीर अनित्य है, कर्मोंका फलस्वरूप है। जीवका यह नित्य शरीर नहीं है। अविद्याके वशमें पड़कर वह अपनेको इस शरीरका ही रहनेवाला मानने लगा। प्रथम ही यह दोष आ गया कि अनात्मा शरीरमे अहंकार अर्थात् आत्माभिमान हो गया, जो वस्तु अपनी नहीं है उसमें अपनेपनका भाव हो गया।

दूसरा अर्थ है—'देह और गेहको अपना जाना'। गेहको अपना जाना अर्थात् घरका आश्रय लिया। घरका आश्रय लिया अर्थात् गौ, खेती-बारी, धन-संपत्ति, स्त्री-पुत्र तथा भरण-पोषणके योग्य अन्यान्य कुटुम्बी-जनोंसे सम्बंध स्थापित कर लिया। इनकी अनित्यताकी ओर दृष्टि नहीं जाती, मनमें इनके प्रति राग और द्वेष बढ़ने लगे। यथा 'गृहाण्याश्रित्य गावश्च क्षेत्राणि च धनानि च। दाराः पुत्राश्च भृत्याश्च भवन्तीह नरस्य वै॥ ··· रागद्वेषौ विवर्धेते ह्यनित्यत्वमपश्यतः।' (म० भा० शान्ति० २९५। ३-४ पराशर गीता)।—[वै०—ईश्वरसे अपनपौ त्यागकर इन्द्रिय-विषयमें पड़कर देहाभिमानी हुआ और देह-सुखके लिये स्त्री, धन और पुत्र आदि जितनी भी घरकी वस्तुएँ हैं, उनको अपना मान लिया।]

१ (ग) 'माया बस स्वरूप बिसरायो।' इति। जीवका स्वरूप विज्ञान-मय है, इसीको धर्मि कहते हैं और उसमें रहनेवाले ज्ञानको धर्मभूत ज्ञान कहते हैं। यथा श्रुतिः 'जानात्येवाऽयं पुरुषः', 'विज्ञातारमरे केन विजा-नीयात्' (बृह० ४।५।१५), 'एषोऽन्तरात्मा विज्ञानमयः', 'विज्ञानं यज्ञं तनुते।' (अर्थात् परमात्मा सब कुछ जानता है। विज्ञाताको कैसे जाना जाय? अन्तरात्मा विज्ञानमय है। वह विज्ञानरूपी यज्ञका विस्तार करता है)। 'यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः। क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत। गीता १३।३३।' (जैसे एकही सूर्य इस समस्त लोकको प्रकाशित करता है वैसेही क्षेत्रज्ञ (आत्मा) समस्त क्षेत्र (शरीर) को प्रकाशित करता है)। आगे स्वरूपका वर्णन स्वयं कविने किया है—

'निर्मम निरामय एकरस तेहि हर्ष सोक न ब्यापई। त्रैलोक्यपावन सो सदा (जाकी दसा ऐसी भई)। छंद ११।'

पुनः जीव प्रभुका नित्य किंकर है। यथा 'नाहं विप्रो न च नरपतिर्नापि वैश्यो न शूद्रो नाहं वर्णी न च गृहपतिर्नो वनस्थो यतिर्वा। किन्तु प्रोद्यन्निखिल परमानन्दपूर्णोऽमृताब्धेः सीताभर्तुः पदकमलयोर्दासदासानुदासः॥'—विशेष 'जब तें जिव नाम धर्यो।' ६१(१) का नोट १ (क, ख), नोट २ (क-ङ) देखिए।

इस अपने स्वरूपको भूल गया। मायाके वश हो गया जिससे आत्मस्वरूप भूल गया, यह दूसरा दोष दिखाया। भा० १०।१४।४४ में श्रीशुकदेवजीने भी कहा है कि भगवानकी मायासे मोहित होनेके कारण यह जगत् अपने आत्माको भूला हुआ है, उस मायासे मोहित लोग यहाँ क्या-क्या नहीं भूल सकते। यथा 'किं किं न विस्मरन्तीह मायामोहितचेतसः। यन्मोहितं जगत्सर्वमभीक्ष्णं विस्मृतात्मकम्।'

प्रकृतिके सहवाससे अपने स्वरूपका ज्ञान लुप्त हो जानेसे पुरुष यह समझने लगता है कि मैं शरीरसे भिन्न नहीं हूँ। 'मैं यह हूँ, वह हूँ, अमुकका पुत्र हूँ, अमुक जातिका हूँ', इस प्रकार कहता हुआ वह सात्त्विक आदि गुणोंकाही अनुसरण करता है। यथा 'सहवासविनाशित्वान्नान्योऽहमिति मन्यते। योऽहं सोऽहमिति ह्युक्त्वा गुणानेवानुवर्तते। म० भा० शान्ति० ३०२।४४।'—स्वरूपका विसराना कहकर उसमें इन दोषोंका आ जाना सूचित कर दिया।

इसी प्रकार जब पुरुष यह जान लेता है कि मैं अन्य हूँ और यह प्रकृति मुझसे भिन्न है और प्रकृतिके सगुणत्व और अपने निर्गुणत्वको यथार्थ समझ लेता है तथा प्राकृत गुणसमुदायको कुत्सित समझकर उससे विरत हो जाता है, तब वह प्रकृतिसे रहित हो जानेसे अपने शुद्ध स्वरूपमें स्थित होता है।—स्व-स्वरूप जाननेवालेमें ये लक्षण देख पड़ते हैं।

१ (घ) 'तेहि भ्रम तें दारुन दुख पायो' इति। मायाके संसर्गसे आत्मस्वरूप भूल गया, भ्रम हो गया, 'देह गेह निज जान्यो'। माया ही भ्रमकी कारण है, यथा 'माया संभव भ्रम सब अब न ब्यापिहहिं तोहि। ७।८५।' सत्यको झूठ और झूठेको सत्य जाना। यथा 'मृगभ्रमवारि सत्य जल जानी। तहँ तू मगन भयो सुख मानी।' इसीसे दारुण दुःख भोगे। जन्म, जरा और गर्भके दुःख आगे कविने स्वयं कहे हैं। मरणमें भी दुःख होता है, यथा 'जनमत मरत दुसह दुख होई। ७।१०६।७।'

१ (ङ) 'दारुन दुसह दुख'—स्वरूप भूल जानेसे कामक्रोधादि संसृति सन्निपात हो गया, मन त्रितापसे जलता रहता है, यह सब दारुण दुसह दुःख है । यथा 'सुनहु नाथ मन जरत त्रिविध जर करत फिरत बौराई । ···संसृति संनिपात दारुन दुख बिनु हरि कृपा न जाई ।', 'अब मोहि देत दुसह दुख बहु रिपु कस न हरहु भवभीर ॥ लोभ ग्राह दनुजेस क्रोध कुरुराजबंधु खल मार । तुलसिदास प्रभु यह दारुन दुख भंजहु राम उदार ।' ८१ (४ ग), ६३ (६ घ) देखिए । जन्म, जरा, मरण, गर्भवास आदि सब 'भव'के अन्तर्गत हैं । भवभय दारुण है, यथा 'श्रीरामचंद्र कृपाल भजु मन हरन भवभय दारुनं । ४५ ।'—यह दुःखरूप तीसरा दोष दिखाया ।

'सुख लेस सपनेहुँ नहिं मिल्यो'—मन सदा दैविक, दैहिक, भौतिक तापोंसे संतप्त रहा, इसीसे कभी सुख न मिला । संसारमें पड़कर मैं-तैं, मेरा-तेरामें पड़ द्वैतबुद्धि हो जानेसे जीव रागद्वेषादिके वश हो संतप्त रहता है, अतएव स्वप्नमें भी सुख नहीं मिला । आगे छन्द १२ में स्वयं कविने कहा है—'सपनेहुँ नहीं सुख द्वैत दरसन बात कोटिक को कहै ।' संसारकी आशा न रहनेपर हरिकृपासे सुख मिलता है—'पावै सदा सुख हरिकृपा संसार आसा तजि रहै ।' शंका हो सकती है कि विषयोंमे सुख तो मिल रहा है, 'तब सुख नहिं मिल्यो' कैसे कहा ? समाधान इसका पूर्वही कर आये हैं कि विषयानंद तुच्छ है और दु.खरूप ही है, यथा 'जेहि सुख सुख मानि लेत सुखु सो समुझि कियत । १३२ ।', 'विषयमुद निहारु भारु सिरको काँच ज्यों बहत । यों ही जिय जानि मानि सठ तू साँसति सहत । १३३ ।'—यह इन्द्रियके भोगोमे दोषदर्शन कराया कि सुखकी ही चाह सबको है, पर जिसमे सुख नहीं है, उसीमें तू सुख मान रहा है, इसीसे उसमें आसक्त है ।

आगे दिखाते हैं कि इनमें सुखके बदले अनेक भय, शूल और शोक हैं । यह भी दोषदर्शन है ।

१ (च) 'भय सूल सोक अनेक जेहि तेहि पंथ···' इति । जीतेजी व्याधि आदिका, धन संपत्ति स्त्री आदिके वियोगका भय, मरते समय तथा मरनेपर यमयातनाका भय । गर्भवास तथा व्याधिकृत शूल, माता-पिता-पुत्र-पत्नी, धनसंपत्ति मान बड़ाई आदि हितकी हानिका शोक । शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध विषय सुखके पीछे ही बराबर जीव दौड़ता है, जन्म-जन्ममें इसीकी चाह रहती है, यथा 'जहँ जहँ जेहि जोनि जनम महि पताल वियत । तहँ तहँ तू विषय सुखहि चहत लहत नियत । १३२ ।' शरीरके सभी संबंधी, ऐश्वर्य, संपत्ति तथा समस्त विषय—ये सभी असत्य हैं और भय, शोक, शूलके देनेवाले हैं । यथा 'सर्वेऽपि शूरसेनेमे शोकमोह-

भयार्तिदाः। भा० ६।१५।२३।'—१०४ (४ ग) देखिए। अतः इनमें पड़नेसे मनुष्यको दुसह दुख भोगने पड़ते हैं, जीव विषम जालमें उलझकर फँस जाता है। यथा 'जदपि विषय सँग सहे दुसह दुख विषम जाल अरुझान्यो। तदपि न तजत मूढ़ ममता वस, जानत हूँ नहिं जान्यो। ८८।'—'तदपि न तजत' ही हठ करना है।

१ (छ) 'बहु जोनि जन्म जरा विपति···' इति। कर्मफल-भोगके लिये कर्मानुसार विविध योनियोंमें जन्म लेना पड़ता है। यथा 'कुटिल कर्म लै जाइ मोहिं जहँ जहँ अपनी बरिआई'। १०३।', 'जेहि जेहि जोनि करमबस भ्रमहीं। २।२४।५।' सुर, नर, नाग, असुर, पशु, पत्ती, कीट, पतंग आदि सभी योनियोंमें जन्म और जराके दुःख जीवको होते हैं, तब भी यह समस्त क्लेशोंके हरनेवाले प्रभुको ओर नहीं झुकता, उनको नहीं जानता, उनसे पहचान नहीं कर लेता। अतः कहते हैं कि तू बड़ा मन्दबुद्धि है जो तूने हरिको न जाना। पद १३४ में भी कहा था 'अहिखेल परिहरि सो प्रभुहि पहिचानई', वही भाव यहाँ है। 'मंदमति ही कर्मबंधन और क्लेशोंमें पड़ते हैं।—५६ (७ घ) देखिए।

पुनः, जन्मके समय उसका मुख मल, मूत्र, रक्त और वीर्य आदिमें लिपटा रहता है और उसके संपूर्ण अस्थिबंधन गर्भको संकुचित करनेवाली प्राजापत्य वायुसे अत्यन्त पीड़ित होते हैं। वह आतुर होकर बड़े क्लेशके साथ माताके गर्भाशयसे बाहर निकलता है। वह दुर्गन्धयुक्त फोड़ेमेंसे गिरे हुए किसी कण्टकविद्ध अथवा आरेसे चीरे हुए कीड़ेके समान पृथिवी पर गिरता है।—यह भी विपत्ति है। यथा 'जायमानः पुरीषासृङ्मूत्रशुक्राविलाननः। प्राजापत्येन वातेन पीड्यमानास्थिबन्धनः। वि० पु० ६।५।१४।···क्लेशान्निष्क्रान्तिमाप्नोति जठरान्मातुरातुरः। १५।···कण्टकैरिव तुन्नाङ्गः क्रकचैरिव दारित। पूतिव्रणान्निपतितो धरण्यां क्रिमिको यथा। १७।'

पुनः, 'बहु जोनि'का भाव कि हमने ऊपर एक जन्मके दोष दिखाए। पर हरिबिमुख तो तू अनादिकालसे है, तबसे अबतक अगणित बार तेरा जन्म मरण हुआ और सबमें तुझको ये सब क्लेश सहने पड़े हैं। जब मनुष्यपर गाढ़ क्लेश आ पड़ता है, तब चित्त उसका क्लेशहारी भगवान्‌की ओर जाता है, पर तुझे जन्मजन्ममें क्लेश भोगनेपर भी भगवान् नही याद पडते, बड़ा आश्चर्य है। कवितावलीमें भी प्रभुको न जाननेसे 'गँवार' कहा है। यथा 'ताको सहै सठ संकट कोटिक, काढ़त दंत करंत

रहा है। ज्ञानपनीको गुमान बड़ो, तुलसीके बिचार गँवार महा है। जानकीजीवनु जान न जान्यो तौ जान कहावत जान्यो कहा है। ७।३६।' अर्थात् झूठे संसारके लिये ही तू करोड़ों संकट सहता है, और दाँत निकालकर हाय-हाय करता है, तुझे अपने ज्ञानीपनेका अभिमान है, पर मेरे विचारसे तो तू 'महा गँवार' है।

☞ यहाँतक हरिसे बिलग होनेके दोष कहे। आगे उसके स्वरूपका उसको ज्ञान कराते हैं। क्योंकि नित्यप्रति दोषदर्शनद्वारा भोगकर त्यागी हुई प्रकृति अपने स्वरूपमे स्थित पुरुषका कुछ भी बिगाड़ नही सकती। जैसे सोये हुए पुरुषको निद्रा स्वप्न-द्वारा अनेकों अनर्थोंकी प्राप्ति कराती है किन्तु जाग पड़नेपर उससे किसी प्रकारका मोह प्राप्त नही हो सकता—'भुक्तभोगा परित्यक्ता दृष्टदोषा च नित्यशः। नेश्वरस्याशुभं धत्ते स्वे महिम्नि स्थितस्य च॥ यथा ह्यप्रतिबुद्धस्य प्रस्वापो बह्वनर्थभृत्। स एव प्रतिबुद्धस्य न वै मोहाय कल्पते। भा० ३।२७। २४-२५।' इसीसे गीतामे आत्मज्ञानके साधन होनेके कारण 'जन्ममृत्युजराव्याधिदुःख-दोषानुदर्शनम्' भी ग्रहण करने योग्य गुणोमेसे एक गुण कहा गया है। इनको बारबार विचार करते रहना चाहिए। क्योंकि शरीरसे युक्त रहने तक जन्म, मृत्यु, जरा, व्याधि और दुःखरूप दोष अनिवार्य हैं।

१ (ज) 'श्रीराम बिनु विश्राम मूढ़···' इति। 'श्री'से जनाया कि वे सब सुख ऐश्वर्य आदिसे संपन्न हैं। श्रीरामबिमुख होनेसे क्या कहीं विश्राम मिला? विचार देख। भाव कि उनके बिना कभी कहीं विश्राम न मिला। यह पूर्व कह आये हैं। यथा 'कबहूँ मन बिश्राम न मान्यो। निसि दिन भ्रमत बिसारि सहज सुख जहँ तहँ इंद्रिन्ह तान्यो॥ निज हित नाथ पिता गुरु हरि सो हरषि हृदय नहि आन्यो। ८८।' श्रीराम बिना विश्राम नहीं मिलता, यथा 'रामकृपा बिनु सपनेहु जीव न लह बिश्राम। ७।६०।', 'तब लगि कुसल न जीव कहुँ सपनेहुँ मन बिश्राम। जब लगि भजत न राम कहँ···। ५।४६।'—८८ (१ क) देखिए। 'मूढ़'—४६ (१ ख) नोट २-३; ७४ (१ ग) देखिए। 'बिचारि देखु'का भाव कि बिचार करनेपर ही देख पड़ेगा, अन्यथा नहीं। विचारता नही, इसीसे तो संसार रमणीय लग रहा है और उससे झूठे ही सुख मान रहा है। यथा 'अनबिचार रमनीय सदा संसार भयंकर भारी। १२१।'

नोट—१ 'बहु जोनि जन्म जरा बिपति···'के पश्चात् 'श्रीराम बिनु बिश्राम पायो कहीं?' और तब 'आनंदसिंधु मध्य तव बासा। बिनु जाने···' कहकर यहाँ पराशरजीका मत भी सूचित कर दिया कि गर्भ, जन्म और जरा आदि स्थानोंमें प्रकट होनेवाले त्रिविध दुःखसमूहकी एक-

मात्र सनातन ओषधि भगवत्प्राप्ति ही है, जिसका एकमात्र लक्षण निरतिशय आनन्दरूप सुखकी प्राप्ति ही है। अतः उसी भगवत्प्राप्तिका प्रयत्न पंडित-जनोंका कर्त्तव्य है।—"तदस्य त्रिविधस्यापि दुःखजातस्य वै मम। गर्भ-जन्मजराद्येषु स्थानेषु प्रभविष्यतः॥ वि० पु० ६।५।५८। निरस्तातिशयाह्लादसुखभावैकलक्षणा। भेषजं भगवत्प्राप्तिरेकान्तात्यन्तिकी मता।५६। तस्मात्तत्प्राप्तये यत्नः कर्तव्यः पण्डितैर्नरैः।"

'बहु जोनि जन्म जरा बिपत्ति'का भाव श्लोक ५८ में है। 'आनंदसिंधु मध्य तव वासा'का भाव 'निरस्तातिशयाह्लादसुखभावैक लक्षणा'में है। 'मति-मंद' और 'मूढ़'का भाव 'कर्तव्यः पण्डितैर्नरैः'से जना दिया। अर्थात् जो उस आनंदसिंधु भगवान्‌की प्राप्तिमें नहीं लगते, वे बुद्धिमान् नहीं हैं, बुद्धिहीन हैं। 'बिचारि देखु' और 'हरि जान्यो नहीं' आदिमें 'भेषजं'से लेकर 'तत्प्राप्तये यत्नः कर्तव्यः'का भाव है। अर्थात् विचारकर आनंदसिंधु हरिको प्राप्त करना चाहिए।

गर्भावस्था, जन्म, और जराकी विपत्तियाँ आगे टि० ५ (ग–ङ), टि० ८ (क–घ), टि० ३ (ख–घ) में लिखी गई हैं।

टिप्पणी—२ (क) 'आनंदसिंधु मध्य तव वासा।…' इति। आनन्द-सागरके बीचमें तेरा निवासस्थान है, अर्थात् तू आनन्दस्वरूप है, और आनन्दसमुद्र श्रीरघुनाथजीका अंश है, वे आनंदसिंधु तुझसे अलग नहीं हैं। यथा 'ईश्वर अंस जीव अबिनासी। चेतन अमल सहज सुखरासी।' (बैजनाथजीके अर्थके अनुसार–'आनंदसिंधुका तेरे मध्य अर्थात् हृदयमें निवास है'। यथा 'ब्यापकु एकु ब्रह्म अबिनासी। सत चेतन घन आनंद-रासी। अस प्रभु हृदय अछत अबिकारी। १।२३।६–७।')।

'बिनु जाने' क्यों प्यासा मरता है? अर्थात् उसको जाननेका प्रयत्न कर। जान ले कि तू आनंदस्वरूप है, सहज सुखराशि है, आनन्दसिंधु श्रीरामजीका अंश है और सदा उन आनंदसिंधुकी गोदका रहनेवाला है। अपने स्वरूप तथा आनन्दसिंधु अपने अंशीको जान लेनेसे फिर संसारकी तृष्णा न रह जायगी। यथा 'स सर्वाँश्च लोकानाप्नोति सर्वाँश्च कामान्य-स्तमात्मानमनुविद्य विजानाति। छां० ८।७।१।' (अर्थात् जो उस आत्माको खोजकर जान लेता है वह संपूर्ण लोक और समस्त कामनाओंको प्राप्त कर लेता है), 'यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन्। सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चितेति। तैत्ति० २।१।' (जो पुरुष इस महाकाश रूप गुहामें स्थित ब्रह्मको जानता है, वह सब कामनाओंको ज्ञानस्वरूप ब्रह्मके साथ (मुक्ति अवस्थामें) भोगता है)।

आनंदसागरके मध्य तेरा निवास है, इसमें 'जेहिके भवन बिमल चिंतामनि'के भावकी झलक है।

मिलान कीजिए—'बसै जो ससि उछंग सुधा स्वादित कुरंग, ताहि क्यों भ्रम निरखि रविकरनीर १६७।' दोनोंमें भावसाम्य है।

२ (ख) 'मृगभ्रमबारि सत्य जल जानी।...' इति। इसपर 'तौ कत मृगजलरूपविषय कारन निसिवासर धावै।' ११६ (३) देखिए। वही सब भाव यहाँ हैं। 'मृगभ्रमबारिको सत्य जाना'—यह प्यासा मरनेका कारण बताया। सत्य जल होता तब तो उससे प्यास बुझती ही, पर मृगतृष्णाजल तो जल है ही नहीं, भ्रमसे मृगको वहाँ जल समझ पड़ता है, उसीके लिये उसीकी आशासे वह उसे पीनेको दौड़ता है, अतः वह प्यासा मरता है। इसी प्रकार विषयसुख सत्य सुख नहीं है, यदि विषयोंमें सुख होता तो उससे आशारूपी प्यास अवश्य तृप्त हो जाती। आशाको प्यास कहा गया है, यथा 'आस पिआस मनोमलहारी। १।४३।२।' तूने झूठे को सत्य मान लिया है, इसीसे तू उसे सुख मानकर उसमें डुबकी लगा रहा है, अर्थात् धन, धाम, स्त्री, पुत्र, देह, मान, बड़ाई आदि सांसारिक विषयोंमें सुख मानकर आसक्त है।

२ (ग) 'तहाँ मगन मज्जसि पान करि त्रयकाल जल नाहीं जहाँ' इति। यहाँ विषय मृगभ्रम है। सुख जल है। विषयसेवन, विषयभोग करना पीना है। विषयोंमें आसक्त होना स्नान करना है। विषयोंमें सुखकी प्रतीति तथा सुखका अनुभव करना स्नान करके 'मगन' होना वा डुबकी लगाना है।

[टीकाकारोंके भाव-(१) विषयका संकल्प या ध्यान स्नान है। उसकी प्राप्तिमें सुख मान लेना पीना है। (डु०)। (२) इन्द्रियविषयमें आसक्ति मगन होना है। धन, धाम, स्त्री, परिवार और मित्र आदिमें अपनपौ मानकर प्रीति करना मज्जन है। सुगंध, युवती, वस्त्र, गीत, वाद्य, भोजन, पान, नृत्य, भूषण और वाहन आदि सुखभोग 'पान' करना है। (वै०)]

तीनों कालोंमें सुखरूप जल नहीं है। भाव कि इनमें झूठे ही सुख मान लिया। ऐसा करनेसे सदा हानि हुई है और होगी। यथा 'साँचो जान्यो झूठ कै झूठे कहँ साँचो जानि। को न गयो, को न जात है, को न जैहै करि हित हानि। १६०।'

'आनंदसिंधु मध्य तव बासा...जहाँ' का भाव यह है कि जैसे माँकी गोदमें सोया हुआ बालक स्वप्नमें दुःखानुभव करता है, उसी प्रकार आनन्दसिंधु ईश्वरके अंकमें जीव अज्ञानवश विषयरूप मृगवारिमें लाला-

यित होकर दुःखानुभव करता है। आगे उसको उसका स्वरूप बताते और उसे स्वप्नसे जगाते हैं।

२ (घ) 'निज सहज अनुभव रूप...' इति। 'अनुभव रूप' कहकर जनाया कि उस सहजरूपको अनुभव ही किया जा सकता है। क्योंकि वह अणुरूप है, 'बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च। भागो जीवः स विज्ञेयः। श्वे० ५।९।' अर्थात् केशके अग्रभागके सौ भाग करें, फिर इसमेंके एक भागके सौ भाग करें तब इसमेंका जो एक भाग हो उसके बराबर जीवको जानना चाहिए। जीवका स्वरूप टि० १ (क) में दिखाया गया है। वह सत्-चित्-आनंदमय है, चेतन अमल सहज सुखराशि है।

'निर्मल निरंजन निर्विकार...'—प्रकाश और सुखके आवरणका अभाव निर्मलता है। निरंजन अर्थात् अविद्यामायारहित। निर्विकार अर्थात् षट्विकाररहित। षट्विकार, यथा 'षड्भाव विकारा भवन्ति इति वार्ष्यायणिः।', 'जायते अस्ति विपरिणमते वर्धते अपक्षीयते विनश्यतीति।' (निरुक्त, नैघंटुक १।१।२)।*

'उदार सुख तैं परिहर्‌यो'—आगे छंद ११ में आत्मरूपका वर्णन करते हुये कहा है—'संतोष सम सीतल सदा दम देहवंत न लेखिये। निर्मम निरामय एकरस तेहि हरष सोक न ब्यापई॥ त्रैलोक्य पावन सो सदा।' वह सदा एकरस है; उसे हर्ष शोक कभी व्यापते नहीं. संतोष, समता, शीतलता आदि गुण सदा उसमें स्थित रहते हैं, इत्यादि। इसीसे उसे 'उदार सुख' कहा। 'परिहर्‌यो' में छंद ११ के शेष अंश 'जो कहुँ दसा ऐसी भई' का भाव है। अर्थात् उस सुखको भूलकर तू 'तहाँ मगन मज्जसि...जल नाहीं जहाँ'।

इसीको दृष्टान्त देकर अगले चरणमें समझाते हैं।

२ (ङ) 'निष्काज राज बिहाइ नृप इव स्वप्नकारागृह पर्‌यो' इति। यहाँ जीव नृप है, निर्मल-निरंजन-निर्विकार-उदार सुख अर्थात् सहज आनंद अनुभव रूप 'राज्य' है और परिहर्‌यो ही 'बिहाइ' है (दोनों समानार्थी हैं)। भ्रमसे स्वरूपका विस्मरण होकर सांसारिक विषयोंमें पड़ना स्वप्न देखना है, फलरूप देहाभिमानी हो चौरासी-भ्रमण कारागृहमें पड़ना है। संसार

* निर्मल = विषयवासनारहित। (दु०)। = आवरणरहित अर्थात् रज तम आदि असत् पदार्थरूप मलसे रहित। (वै०)। निर्विकार = जिसमें कामादि विकार नहीं। (वै०)। निरंजन = कारण-मायारहित अर्थात् जिसमें वासना नहीं है। (वै०)। = अविनाशी। (वि०)। = मायामोहरहित। (श्री० श०)।

वा मोह रात्रि है, यथा 'मोहमय निसा बिसाल काल विपुल सोयो। ७४।', 'जागु जागु जीव जड़ जोहै जग जामिनी। ७३।' और सहज स्वरूपको भूलना सोना है। जैसे राज्य छोड़कर राजाका स्वप्नमें कारागृहमें पड़ना व्यर्थ है, वैसे ही सहज स्वरूपानन्दको छोड़कर तेरा संसारके विषयोंमें फँसकर भवबंधनमें पड़ना व्यर्थ है। भाव कि अब भी जाग जा, जागनेसे स्वप्नवत् सब दुःख आप ही दूर हो जायँगे। 'निष्काज' क्योंकि 'त्रयकाल जल नाहीं तहाँ' विषयमें सुख है ही नहीं।

☞ इस प्रकार 'निर्मल निरंजन कारागृह पर्यो'का आशय यह है कि उस सुखका लालायित हो, उसको प्राप्त कर, उसे पानेपर तू विषयकी तरफ भूलकर न जायगा। 'ब्रह्म पीयूष मधुर सीतल जौं पै मन से रस पावै। तौ कत मृगजलरूप विषय कारन निसिबासर धावै। ११६ (३)।' का भाव इसमें है।

वे० शि०—'अनादि मायया सुप्तः यदा जीवः प्रबुध्यते, अजमनिद्रमद्वैतः ब्रह्म सम्पद्यते तदा।' (उपनिषत्)। अर्थात् अनादि मायामें सोया हुआ जीव जब करुणासागर श्रीजानकीनाथजीकी कृपासे जागता है, तब अज, अनादि, अद्वैत अर्थात् समाधिक्यशून्य ब्रह्म श्रीरामजीका साक्षात्कार करता है।

जैसे माँकी गोदमें सोया हुआ बच्चा निद्रामें स्वप्नमें देखता है कि मैं घोर जंगलमें व्याघ्र भयसे अत्यन्त भयभीत होकर भटक रहा हूँ। निद्रा खुल जानेपर माताका मुख देखनेपर वह यह सोचता है कि ओहो! मैं तो माँकी गोदमें हूँ। मुझे क्या भय है। यह सोचते ही उसके सब दुःख दूर हो गए।

श्री० श०—'निष्काज'का भाव कि देहाभिमानी होनेपर इसे जो सुखक प्राप्ति भी होती है, वह सुख इसे तृप्तिकर तो होता ही नहीं, प्रत्युत उत्तरोत्तर तृष्णा बढ़ाता है। अतः इसमें इसकी स्थिति व्यर्थ ही है। 'नृप इव'–जीव राजाधिराज श्रीरामजीका अंश है। अतः चक्रवर्ती राजाके अधीनवर्ती अनेक राजाओंके समान जीव भी राजा है।

छन्द ३–५

तैं निज कर्म-डोरि दिढ़[1] कीन्ही। अपनेहि[2] करनि गाँठि हठि[3] दीन्ही।
ताही[4] तें परबस पर्यो अभागे। ताको[5] फल गरभबास दुख आगे।

१ दिढ़—६६, ह०, ७४। दृढ़—प्रायः औरोंमे। २ अपनेहि—६६, भ०। अपने—प्रायः औरोंमे। ३ हठि—६६, भ०। गहि—प्रायः औरोंमे। ४ ताहि—६६, रा०। तेहि—भा०, वे०, ह०, प्र०। ता—७४, श्री०, ५१। ५ ताको—६६, रा०, भा०, वे०। ता—५१, आ०, ७४।

छंद ॥ आगे अनेक समूह संसृति-उदर गति जान्यो सोऊ ।
सिर हेठ, ऊपर चरन संकट बात नहिं पूछै[6] कोऊ ॥
सोनित[7] पुरीष जो मूत्र मल कृमि कर्दमावृत सोवही[8] ।
कोमल-सरीर गभीर वेदन सीस धुनि धुनि रोवही[9] ॥ ३ ॥

तैं निज करमजाल जहँ घेरो । श्रीहरि संगु न[10] तज्यो तहँ तेरो ।
बहु बिधि प्रतिपालन (प्रभु[11]) कीन्हों । परम कृपाल ज्ञान तोहि दीन्हों ।

छंद ॥ तोहि दियो ज्ञान विवेक जन्म अनेक की तब सुधि भई ।
तेहि ईसकी हौं सरन जाकी विषम माया गुनमई ॥
जेहि किये जीव निकाय बस रस हीन दिन दिन अति नई ।
सो करौ वेगि सँभार श्रीपति विपति महुँ जेहिं मति दई ॥ ४ ॥

बहु[12] विधि पुनि गलानि जिय मानी । अब जग जाइ भजौं चक्रपानी ।
अैसेंह[13] करि विचार चुप साधी । प्रसव पवन प्रेर्यो अपराधी ।

छंद ॥ प्रेर्यो जो परम[14] प्रचंड मारुत कष्ट नाना तैं सह्यो ।
सो ज्ञान ध्यान विराग अनुभव जातना पावक दह्यो ॥
अति खेद व्याकुल अलप बल छिनु एक बोलि न आवई ।
तब तीव्र कष्ट[15] न जान कोउ सब लोग हरषित गावई ॥ ५ ॥

शब्दार्थ—दिढ़ (दृढ़)=मजबूत; पुष्ट। करनि=हाथोंसे। संसृति=संसार, भव, जन्म-मरणकी परंपरा। गति=दशा। उदर=पेट, गर्भ। हेठ=नीचे। सोनित (शोणित)=रक्त, रुधिर, खून। बात पूछना=

६ बूझै—भा०, वे०। ७ शोणित—६६, ५१। सोणित—रा०। सोनित—प्रायः औरोमे। ८, ९ सोवही, रोवही—६६, रा०, मु०, दीन, वै०। सोवई, रोवई—७४, भ०, वि०, भा०, वे०। १० न तज्यो तहँ—६६, रा०, प्र०, भ०। तज्यो नहि—भा०, वे०, ह०, ७४, आ०। ११ प्रभु—६६ मे नही है, औरोमे है। १२ वहु बिधि पुनि—६६, भ०। पुनि वहु विधि—प्रायः औरोमे। १३ अैसेंह—६६। अैसेंहि—रा०। ऐसेंहि-भ०। ऐसहि—मु०, ७४, वै०, भा०, वे०। १४ परम—६६, रा०, ह०, भा०, वे०, ५१, आ०। प्रसव—७४। प्रवल—ज०। १५ बिपति—भा०।

खबर लेना; सुख है या दुःख इसका ध्यान रखना। पुरीप = विष्टा;मल;गू। मूत्र=शरीरके विषैले मार्गसे निकलनेवाला जल।=पेशाब। कृमि=छोटा कीड़ा। कर्द्दम=कीचड़; मांस (दीन)। आवृत=घिरा हुआ=छिपा, ढका वा लपेटा हुआ। गभीर=गंभीर;घोर;भारी; गहरी। धुनि=पीटकर। गुणमई=त्रिगुणात्मिका। सत्व रज तम तीनों गुणोंसे युक्त। निकाय= समूह। रस-हीन=नीरस; फीका। अर्थात् जिसमें कुछ भी सुख नहीं है। मति=(सदसद्विवेकिनी) बुद्धि। चक्रपानी (चक्रपाणि)=हाथमें चक्र आयुध धारण करनेवाले।=भगवान्।४७ (४) देखिये। प्रसव-पवन= बच्चा जननेवाली वायु; बच्चेको गर्भसे बाहर करनेवाली वायु। प्रेरना= प्रेरित करना; किसी कार्यमें नियुक्त करना।=चलाना। यथा 'ए किरीट दसकंधर केरे। आवत बालितनय के प्रेरे। लं० ३१।', 'पर प्रेरित इरिपा-बस कबहुँक कियो कछु सुभ सो जनायो।१४२।', 'जानतहूँ अनुराग तहाँ अति सो हरि तुम्हरेहि प्रेरे। १८७।' प्रचण्ड=भयानक, तीव्र। जातना (यातना)=तीव्र कष्ट, पीड़ा। अलप (अल्प)=बहुत थोड़ा। छिनु (क्षण)=मिनट वा अल्पकाल।

पद्यार्थ—तूने अपने कर्मकी डोरको दृढ़ कर लिया। अपने ही हाथोंसे हठपूर्वक गाँठ लगा ली। अरे अभागे! इसीसे तू दूसरेके वशमें पड़ गया। उसीका फल (परिणाम) गर्भवास-दुःख आगे (अर्थात् तत्पश्चात् सामने आकर) प्राप्त हुए। फिर अनेक संसृति समूह (बारंबार जन्म-मरणकी परंपरा) का तथा माँके पेटमें रहनेवाली दशाका भी ज्ञान तुझे हुआ। (उस दशाका वर्णन करते हैं—) सिर नीचे और पैर ऊपर, ऐसे संकटमें कोई बात पूछनेवाला भी नहीं। रक्त, विष्टा, मूत्र, मलके कीड़ों और मांस-मज्जा आदि महापङ्कसे घिरा लिपटा हुआ जो तू सोता है, (तब उन कीड़ोंके काटने अथवा अन्य कारणोंसे तेरे) कोमल शरीरमें गहरी पीड़ा होनेसे तू सिर पीट-पीटकर रोता रहता है।३। तू अपने कर्मोंके जाल-में जहाँ घिरा पड़ा रहा, वहाँ श्रीहरिने तेरा साथ नहीं छोड़ा। (प्रभुने) बहुत प्रकारसे भली भाँति पालन किया। (उन) परम कृपालने तुझको ज्ञान दिया। तुझको ज्ञान और विवेक दिया, तब तुझे अनेकों जन्मोंकी स्मृति हुई। (और तू विनती करने लगा—) 'मैं उस ईश (समर्थ ईश्वर) की शरण हूँ, जिनकी विषम माया गुणमयी है अर्थात् त्रिगु-णात्मिका है, जिस (माया) ने समूह जीवोंको वशमें कर रक्खा है, जो

नीरस हों पर दिन-दिन (अर्थात् नित्य) अत्यन्त नवीन बनी रहती है। वे ही श्रीपति जिन्होंने विपत्तिमें मुझे सद्बुद्धि दी है, शीघ्र मेरी रक्षा करें' ।४। फिर बहुत प्रकारसे जीमें ग्लानि मान ऐसा विचारकर कि अब जगत्में जाकर भगवान्का भजन करूँगा, तूने चुप साध ली (चुप वा मौन हो गया)। अरे अपराधी ! (भगवान्ने तुरत प्रार्थना सुनते ही) प्रसवपवनको प्रेरित किया। परम प्रचण्ड प्रसवपवनको जो प्रेरित किया (और वह चला तो उससे) तूने बहुत कष्ट सहा। उस तीव्र कष्टरूपी अग्निमें वह (सब) ज्ञान, ध्यान, वैराग्य और अनुभव जल गया अर्थात् जाता रहा। अत्यन्त दुःखसे व्याकुल और बहुत ही थोड़ा बल होनेसे एक क्षणभर (मुँहसे) बोल नहीं निकल रहा है, तेरे उस तीव्र कष्टको कोई जानता (तो) है नहीं (प्रत्युत) सब लोग हर्षित होकर गाने लगते हैं ।५।

टिप्पणी—३ (क) 'तैं निज कर्म डोरि दृढ़ कीन्हीं ' इति। कर्मकी डोरीमें तो सभी बँधे हैं, यथा 'जेहि बाँधे सुर असुर नाग नर प्रबल करम की डोरी। ९८।' कर्म सबको करना पड़ता है। यथा 'न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्। कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः। गीता ३।५।' (अर्थात् कोई पुरुष क्षणभर भी बिना कर्म किये नहीं रहता। मनुष्यमात्रको प्रकृतिसे उत्पन्न गुणोंसे विवश होकर कर्म करना पड़ता ही है)। पूर्वकृत कर्मानुसार बढ़े हुए प्रकृतिजन्य सत्व, रज और तम गुणोंके द्वारा बाध्य होकर अपनी-अपनी योग्यताके अनुसार कर्मोंमें प्रवृत्त होना पड़ता है। कर्म तभी बंधनकारक होते हैं जब वे अपने भोगोंके लिये किये जाते हैं। निजी स्वार्थ साधनसम्बंधी आसक्तिरहित कर्म बंधनकारक नहीं होते। "जिसके मनमें 'मैं करता हूँ' ऐसा भाव नहीं है, जिसकी ऐसी बुद्धि हो गई है कि 'इस कर्ममें मेरा कर्तापन न रहनेके कारण इसके फलसे मेरा कोई संबंध नहीं है और यह कर्म भी मेरा नहीं है' वह पुरुष कर्मसे नहीं बँधता"—यह गीता १८ श्लोक १७ में भगवान्ने कहा है।—इसीसे यहाँ कर्मबंधन कथन करनेमें 'निजकर्म डोरि'का दृढ़ करना कहा। 'निज'में 'अहं कर्ता'का भाव है। अर्थात् वास्तवमें कर्म प्रकृतिके तीनों गुणों द्वारा ही किये जाते हैं, वे 'अहं'का विषय नहीं हैं, पर उनमें मैं-पनका अभिमान

† 'किये-रसहीन' इस तरह अन्वय करनेसे अर्थ होगा कि 'जीवको रसहीन कर दिया' (दु०, वै०)।

करके यह उनका कर्ता बन बैठा है, इसीसे इन कर्मोंको उसके 'निज कर्म' कहे।

डोरीमें जितनी अधिक लड़ें होती हैं वह उतनी ही अधिक दृढ़ होती है। जन्म-जन्ममें लगातार शरीरमें आत्मभावकी प्रतीति (अर्थात् देहाभिमान)की वृद्धिके साथ कामनाओंके संकल्पोंसे 'अहं कर्ता' बुद्धिसे कर्मोंमें नित्य नई प्रवृत्तियाँ ही अनेक लड़ें हैं, जिनसे कर्मबंधन दृढ़ होता गया। इन कर्मोंसे मुझे ये फल प्राप्त होगा इस प्रकार फल भोगकी वासना रखना, अपने ही हाथों गाँठ देना है। गाँठ देनेसे डोरी फिर खुलती नहीं।

अपनेहि करनि' कहा, क्योंकि अपने ही अज्ञानसे आत्मस्वरूप भुलाकर मायाके भुलावेमें पड़ देहाभिमानी हुआ।

[वैजनाथजी लोकसुखकी वासनाको पुष्ट डोरी, संसारकी चाहको गाँठ, और विना भोगे न छूटनेको पुष्टता मानते हैं]

३ (ख) 'ताही तें परबस परयो अभागे।...' इति। 'ताही तें' अर्थात् अपने निजी स्वार्थ संबंधी आसक्ति सहित 'अहं कर्ता' भावसे किये हुये कर्मोंकी डोरीके दृढ़ होनेसे तू परतंत्र हो गया, शरीर धारण करने, गर्भमें वास करनेके लिये तुझे वाध्य होना पड़ा। मायावश होना, भवबंधनमें पड़ जाना ही परवश पड़ना है।

'अभागे'—जीवको नरकभोगके अनन्तर मनुष्य योनिके नीचे जितनी दुःखमयी योनियाँ हैं उन्हें क्रमशः भोगकर पवित्र हो जानेपर वह फिर इस मनुष्ययोनिमें ही जन्म लेता है।—'अधस्तान्नरलोकस्य यावतीर्यातनादयः। क्रमशः समनुक्रम्य पुनरत्राव्रजेच्छुचिः। भा० ३।३०।३४।' इससे जनाया कि बड़े भाग्यसे यह शरीर मिलता है कि अब भी जीव देहाभिमानको छोड़कर प्रभुको प्राप्त कर ले, विषयभोगमें न लगे। यथा 'बड़े भाग मानुष तन पावा।', 'साधन-धाम मोच्छ कर द्वारा।', 'एहि तन कर फल विषय न भाई' (७।४३–४४)। पर यह फिर विषयोंमें आसक्त हुआ। अतः इसे 'अभागा' कहा, वड़े भाग्यसे जो मिला उस तनसे अमृतको देकर इसने विषको लिया। यथा 'नर तन पाइ बिषय मन देही। पलटि सुधा ते सठ विष लेहीं। ७।४४।२।' मोक्षके वदले फिर भववंधन लिया।

'ताको फल गर्भवास दुख आगे'—सकाम कर्मोंके कारण ही दैवकी प्रेरणासे इसे देहप्राप्तिके लिये पुरुषके वीर्यकणके आश्रयसे स्त्रीके उदरमें प्रवेश करना पड़ता है—'कर्मणा दैवनेत्रेण जन्तुर्देहोपपत्तये। स्त्रियाः प्रविष्ट उदरं पुंसो रेतःकणाश्रय। भा० ३।३१।१।' गर्भवासमें जो दुःख होते हैं, उनका वर्णन कवि स्वयं आगे करते हैं।

प० पु० भूमिखण्डमे ययातिके पूछनेपर मातलिने गर्भवासमें कैसा दुःख होता है, यह इस प्रकार बताया है।—"जैसे कोई पर्वतकी गुफामें बंद हो जानेपर बड़े दुःखसे समय बिताता है, उसी प्रकार देहधारी जीव जरायुके बंधनमें बँधकर बहुत दुखी होता और बड़े कष्टसे उसमें रह पाता है। जिस प्रकार किसीको लोहेके घड़ेमें बंद करके आगसे पकाया जाय, उसी प्रकार गर्भरूपी कुंभमें डाला हुआ जीव जठराग्निसे पकाया जाता है। आगमें तपाकर लाल-लाल की-हुई बहुत-सी सूइयोंसे निरन्तर शरीरको छेदनेपर जितना दुःख होता है, उससे आठ-गुना अधिक कष्ट गर्भमें होता है। गर्भवाससे बढ़कर कष्ट कहीं नहीं होता। देहधारियोंके लिये गर्भमे रहना इतना बड़ा कष्ट है. जिसकी कहीं तुलना नहीं है। स्थावर और जंगम--सभी प्राणियोंको अपने-अपने गर्भके अनुरूप कष्ट होता है।" (अध्याय ६६) ।

३ (ग) 'जान्यो सोऊ। सिर हेठ ऊपर चरन ···' इति। प्रत्येक गर्भवासमे कष्ट हुआ, भगवान्‌ने उसको वहीं अनेक जन्मों आदिका ज्ञान कराया, यह सब प्रत्येक बार जाना। गर्भमे जिस दशामें रहा उसको बताते हुए उसके भूल जानेका कारण भी आगे कहते हैं। गर्भाशयके भीतर झिल्लीमें बँधा हुआ, पैर और गुदा ऊपर हैं सिर नीचे है, इस तरह उलटा टँगा हुआ—एक यही संकट क्या कम है? फिर इसके साथ और भी संकट है-किन्तु वहाँ संकटकी बात भी पूछनेवाला नहीं। तात्पर्य कि संकट निवारण करना तो दूर रहा, कोई दुःख दूर नहीं कर सकता है तो भी यदि आकर पूछ लेता है तो दुःख कुछ कम हो जाता है, सो इतना भी हित करनेवाला कोई उस कालमें नहीं देख पड़ता।

३ (घ) 'सोनित पुरीष जो मूत्र मल कृमि कर्दमावृत···' इति। कपिलदेवजीने देवहूतिजीसे ऐसाही कहा है, यथा 'देह्यन्यदेहविवरे जठराग्निनासृग्विण्मूत्रकूपपतितो भृशतप्त देहः। भा० ३।३१।१७।', 'शेते विण्मूत्रयोर्गर्ते स जन्तुर्जन्तुसम्भवे। भा० ३।३१।५।' अर्थात् इच्छा न होनेपर भी जीव रुधिर, विष्ठा और कीटादि जन्तुओंके उत्पत्तिस्थान मलमूत्रके गढ़ेमें पड़ा रहता है। 'शेते विण्मूत्रयोर्गर्ते' यहाँका 'कर्दमावृत सोवही' है। श्रीपराशरजीके मतानुसार भी मल-मूत्रादि ही कर्दम हैं। यथा 'सुकुमारतनुर्गर्भे जन्तुर्बहुमलावृते। उल्बसंवेष्टितो भुग्नपृष्ठग्रीवास्थिसंहतिः। १०। शकृन्मूत्रमहापङ्कशायी सर्वत्र पीड़ितः। १२।' (वि० पु० ६।५)। अर्थात् अत्यन्त मलपूर्ण गर्भाशयमें गर्भकी झिल्लीसे लिपटा हुआ यह सुकुमार-

शरीर जीव, जिसकी पीठ और ग्रीवाकी अस्थियाँ कुण्डलाकार मुड़ी रहती हैं,'''मल-मूत्ररूप महा-पङ्कमे पड़ा-पड़ा सम्पूर्ण अंगोंमें पीड़ित होता है। 'मलक्रमिकर्दमावृत सोवही' कहकर 'कोमल सरीर गभीर बेदन' कहनेसे सूचित हुआ कि यह वेदना गर्भस्थित क्षुधित कीड़ोंद्वारा की हुई है। ये कीड़े उसके कोमल अंगोंको क्षण-क्षण काटकर घाव कर देते हैं। उस क्लेशसे उसे वार-वार मूर्छा आ जाती है। छठे महीनेसे उमे भूखप्यास लगने लगती है। माताके खाए हुए कड़ुवे, तीखे, उष्ण लवण, खट्टे और रूखे आदि उग्र पदार्थोंके स्पर्शसे उसके सब अंगोंमें पीड़ा होने लगती है। यह सब 'गभीर बेदन' से जनाया।—'कृमिभिः क्षतसर्वाङ्गः सौकुमार्यात्प्रतिक्षणम्। मूर्च्छामाप्नोत्युरुक्लेशस्तत्रत्यैः क्षुधितैर्मुहुः। कटुतीक्ष्णोष्णलवणरूक्षाम्लादिभिरुल्बणैः। मातृभुक्तैरुपस्पृष्टः सर्वाङ्गोत्थितवेदनः॥ भा० ३ ३१।६-७।' इस उद्धरणमें 'सौकुमार्य' और 'वेदन' यहाँके 'कोमल शरीर' और 'बेदन' हैं। 'गभीर' में वहाँके 'मूर्च्छामाप्नोति' का भाव है। ऐसी गहरी वेदना है कि मूर्छा आ जाती है।

'सीस धुनि-धुनि रोवही'– यहाँ यह दशा गंभीर वेदनके कारण है। क्योंकि अनेक जन्मोंकी सुधका होना अभी नहीं कहा है। पर दुखके कारण पश्चात्तापसे भी सिर पीटना हो सकता है कि मैंने न जाने कैसे कर्म किये जिससे यह नरक भोग रहा हूँ। यथा 'सो परत्र दुख पावई सिर धुनि धुनि पछिताइ। कालहि कर्महि ईश्वरहि मिथ्या दोष लगाइ। ७।४३।'—वह पछतावा भी यहाँ ले सकते हैं।

टिप्पणी—४ (क) 'तैं निज कर्मजाल जहँ घेरो।''' इति। 'निज कर्मजाल'' कहा, क्योंकि कर्मोंका अभिमानी होनेसे ही इस जाल, जरायु वा झिल्लीमें गर्भाशयके भीतर वास करना पड़ा। स्मरण रहे कि शरीरसे अलग होनेपर भी कर्म जीवके साथ लगे रहते हैं। वह अपने किये हुए शुभकार्य पुण्य अथवा अशुभ कार्य पापकर्मों द्वारा सब ओरसे घिरा रहता है।—'स जीवः प्रच्युतः कायात् कर्मभिः स्वैः समावृतः। अभितः स्वैः शुभैः पुण्यैः पापैर्वाप्युपपद्यते। म० भा० आश्व० १७।३०।' कर्मोंसे बँधा हुआ यह जीव गर्भमें भी दुःखपूर्वक पड़ा रहता है।—'निरुच्छ्वासः सचैतन्यस्स्मरञ्जन्मशतान्यथ। आस्ते गर्भेऽतिदुःखेन निजकर्मनिबन्धनः। वि० पु० ६।५।१३।' अर्थात् चेतनायुक्त होनेपर भी वह श्वास नहीं ले सकता, अपने सैकड़ों जन्मोंका स्मरणकर कर्मोंसे बँधा हुआ अत्यन्त दुःखपूर्वक गर्भमें पड़ा रहता है। इसीसे 'निज कर्मजाल घेरो' कहा।

स० भा० आश्व० १८ में यह भी बताया है कि कर्मजालमें आबद्ध होकर मनुष्य किस प्रकार गर्भमें प्रविष्ट होता है—'यथा कर्मसमाविष्टः··· नरो गर्भं प्रविशति। ४।' जीव पहले पुरुषके वीर्यमें प्रविष्ट होता है। फिर स्त्रीके गर्भाशयमें जाकर उसके रजमें मिल जाता है। तत्पश्चात् उसे कर्मानुसार शुभ या अशुभ शरीरकी प्राप्ति होती है। (श्लोक ५)

'श्री हरि'—'श्रीहरि चरनकमल नौका तजि···' ६२ (३ ग में) देखिए। श्रीहरिने तेरा साथ नहीं छोड़ा। यहाँसे भगवान्‌की कृपालता दिखाते चल रहे हैं कि जहाँ पिता, माता, भाई-बंधु, पुत्र कलत्र, सखा, सुहृद आदि कोई भी काम न आ सके, न कोई देवी देवता सहाय होते हैं, कोई बात पूछनेवाला भी नहीं, वहाँ भी भगवान् ही तेरा हित करते हैं। क्या हित करते हैं, यह भी बताते हैं।

४ (ख) 'बहु बिधि प्रतिपालन प्रभु कीन्हों। परम कृपाल ज्ञान तोहि दीन्हों।'—भाव कि जबसे जीव पुरुषके वीर्य द्वारा स्त्रीके गर्भमें प्रवेश करता है, तबसे बराबर जबतक वह वहाँ रहता है प्रभु उसका पालन-पोषण करते हैं, जिसमें शरीर नष्ट न हो, जीव उसी शरीरसे भवपार हो जाय, फिर गर्भमें न जाना पड़े। गर्भके भीतर ही उसे पूर्वके अनेक जन्मोंका ज्ञान करा दिया और सदसद्विवेकिनी बुद्धि भी दी, जिसमें वह अपना कर्त्तव्य जानकर फिर संसारमें न पड़े। यथा 'गरभबास दस मास पालि पितुमातु रूप हित कीन्हों। जड़हि बिवेक सुसील खलहि, अपराधिहि आदरु दीन्हों।१७१।'—ऐसे गाढ़में सहाय होनेसे 'परम कृपाल' कहा। जीवके दुःख दूर करनेको एकमात्र हम ही समर्थ हैं, दूसरा नहीं, यह जानकर दुःख दूर करना 'कृपा' गुण है।

ज्ञान होनेपर जीवने यह कृपा परमात्माकी मानी भी है। यथा 'नष्टस्मृतिःपुनरयं प्रवृणीत लोकं युक्त्या कया महदनुग्रहमन्तरेण।भा० ३।३१।१५।' (अर्थात् उन्हीं परमात्माके अनुग्रहके सिवा और किस युक्तिसे अपने स्वरूपका ज्ञान जो नष्ट हो गया है फिरसे पा सकता हूँ), 'ज्ञानं यदेतददधात्कतमः स देवस्त्रैकालिकं स्थिरचरेष्वनुवर्तितांशः। श्लो० १६।' (अर्थात् चराचरमें अंशरूपसे विराजमान परमात्माके सिवा मुझे यह त्रैकालिक ज्ञान और किसने दिया है ?)

४ (ग) 'तोहि दियो ज्ञान बिबेक··' इति। यहाँ ज्ञान और विवेक दो शब्द दिये। 'ज्ञान' से स्वरूपका एवं पूर्वके जन्मोंके कर्मों और संस्कारोंका ज्ञान और 'विवेक' से सत् और असत्‌का ज्ञान समझना चाहिए। विवेक दिया कि सत्‌को ग्रहण करे, असत्‌का त्याग कर सके।

पुनः, अज्ञानान्धकारसे आवृत होनेसे मूढ़ हृदय पुरुष यह नहीं जानता कि 'मैं कहाँसे आया हूँ ? कौन हूँ ? कहाँ जाऊँगा ? मेरा स्वरूप क्या है ? मैं किस बंधनसे बँधा हूँ ? इस बंधनका क्या कारण है ? अथवा यह अकारण ही प्राप्त हुआ है ?'—'अज्ञानतमसाच्छन्नो मूढान्तःकरणो नरः। न जानाति कुतः कोऽहं काहं गन्ता किमात्मकः।२१। केन बन्धेन बद्धोऽहं कारणं किमकारणम्।' (वि० पु० ६।५)। कृपाल प्रभुने गर्भमें ही उसका अज्ञानान्धकार दूर करके उसको 'कहाँसे आया है, कौन है' इत्यादि सब बातोंका 'ज्ञान' दिया। परन्तु इतनी बातोंका केवल ज्ञान होनेसे काम नहीं चलनेका। क्योंकि अभी वह यह नहीं समझ पाता कि 'मुझे क्या करना चाहिए और क्या न करना चाहिए ? क्या कहना चाहिए और क्या न कहना चाहिए ? धर्म क्या है ? अधर्म क्या है ? किस अवस्थामें मुझे किस प्रकार रहना चाहिए ? क्या कर्त्तव्य है और क्या अकर्तव्य ? अथवा क्या गुणमय है और क्या दोषमय ?'—'किं कार्यं किमकार्यं वा किं वाच्यं किं च नोच्यते ॥ श्लो० २२। को धर्मः कश्च वाधर्मः कस्मिन्वर्तेऽथ वा कथम्। किं कर्तव्यमकर्त्तव्यं किं वा किं गुणदोषवत्।२३।'—परम कृपाल प्रभुने उसको यह विवेकशून्यता हटाकर उसको इन सब बातोंका विवेक दिया जिसमें अब वह कर्तव्य कर्म करके भव पार हो जाय।

'जन्म अनेक...' इति। 'अनेक जन्मोंकी' अर्थात् कब-कब जन्म हुआ, किस-किस योनिमें कितने काल रहना पड़ा, कैसे-कैसे घोर पाप किये, प्रत्येक जन्ममें प्रभुकी शरणागतिकी प्रतिज्ञाका करना और फिर कृतघ्न हो भूल-भूल जाना, इत्यादि सब बातोंका स्मरण हो आया। यथा 'तत्र लब्धस्मृतिर्दैवात्कर्म जन्मशतोद्भवम्। भा० ३।३१।६।' (अर्थात् उसी समय दैववश उसे अपने सैकड़ों पूर्वजन्मोंके पापकर्मोंकी याद आती है) श्रीकपिल भगवान्ने जो 'दैवात्' शब्द दिया है, उसको गोस्वामीजीने यहाँ स्पष्ट कर दिया कि उस अवस्थामें जीवको पवित्र भाव तथा ज्ञानका उदय कैसे होता है, भगवान् ही उसे ज्ञान और विवेक प्रदान करते हैं, जीवके किसी साधनसे नहीं।

४ (घ) 'तेहि ईस की हौं सरन जाकी विषम माया गुनमई।...' इति। 'तेहि' का संबंध 'जाकी' और 'जेहि' दोनोंसे है। 'तेहि ईसकी हौं सरन' ये शब्द 'सुधि भई' के बाद तुरत आनेसे पाया गया कि सबकी सुध आतेही वह अत्यंत भयभीत हो गया, दीर्घ निःश्वास लेने लगा, वह विकल होकर 'शरण' पुकारने लगा। यथा 'स्मरन्दीर्घमनूच्छ्वासं शर्म किं नाम

विन्दते। भा० ३।३१।६। "स्तुवीत तं विक्लवया वाचा"।११।"सोऽहं वृजामि शरणं"।१२।' 'सोऽहं वृजामि शरणं' ही 'तेहि ईस की हौं सरन' है।

☞गर्भोपनिषत्‌में बड़ा सुन्दर वर्णन है। उसके अनुसार "नवें मासमें जीव सर्वलक्षणज्ञानकरणसंपन्न होता है, उसको पूर्वजन्मोंकी स्मृति होती है। वह अपने शुभाशुभकर्मोंको जानता है और सोचता है—अहो! सहस्रों योनियाँ मैंने देखीं (उनमें जन्म लिया)। विविध प्रकारके आहार (योनियोंके योग्य) भोजन किये, अनेक प्रकारके स्तनोंका (दूध) पान किया। वारंबार जन्मा और मरा। परिजनोंके लिये मैंने शुभाशुभ कर्म किये। इन्हींसे जला जा रहा हूँ, किये-का फल भोग रहा हूँ। अहो! मैं दुःखके समुद्रमें डूबा हुआ हूँ। किसी प्रकारभी इससे छुटकारा नहीं देख रहा हूँ।" * —यही 'ज्ञान, विवेक और जन्म अनेककी सुधि' की व्याख्या है। "न पश्यामि प्रतिक्रियाम्' इसका कोई प्रतिकार, इस दुःखसमुद्रसे निकलनेका कोई उपाय नहीं देखता"—यह विचार उठतेही वह पुकार उठता है 'यदि योन्याः प्रमुच्येऽहं तत्प्रपद्ये महेश्वरम्।' और फिर तीन वार प्रतिज्ञा करता है—'अशुभक्षयकर्तारं फलमुक्तिप्रदायकम्। यदि योन्याः प्रमुच्येऽहं तत्प्रपद्ये नारायणम्।', "अशुभ"प्रमुच्येऽहं' तत्साङ्ख्यं योगमभ्यसे।", "अशुभ"प्रमुच्येऽहं' ध्याये ब्रह्म सनातनम्।"—इसीको गोस्वामीजीने आगेके 'सो करौ वेगि सँभार श्रीपति', 'अव जग जाइ भजौं चक्रपानी।'—इन वाक्योंसे कहा है।

४ (ङ) "जाकी विषम माया गुनमई। जेहि किये जीव निकाय वस।' इति। भगवान्‌की माया बड़ी कठिन है अर्थात् उससे कोई पार नहीं हो सकता। यथा 'हरिमाया अति दुस्तर तरि न जाइ बिहगेस। ७।११८।' यह प्रबल माया त्रिगुणात्मिका है अर्थात् त्रिविध गुणोंके भेदसे सात्विक, राजस और तामस तीनों प्रकारके पदार्थोंद्वारा यह जीवको मोहितकर बंधनमें डालकर संसारसे निकलने नहीं देती, ईश्वरको पहचानने नहीं देती; सब जीव इन्हीं गुणोंमें आसक्त हुये भवभ्रमण करते हैं। यथा

* "अथ नवमे मासि सर्वलक्षणज्ञानकरणसम्पूर्णो भवति। पूर्वजातिं स्मरति। शुभाशुभं च कर्म विन्दति।३। पूर्वयोनिसहस्राणि दृष्ट्वा चैव ततो मया। आहारा विविधा भुक्ताः पीता नानाविधाः स्तनाः। जातश्चैव मृतश्चैव जन्म चैव पुनः पुनः। यन्मया परिजनस्यार्थे कृतं कर्म शुभाशुभम्॥ एकाकी तेन दह्येऽहं गतास्ते फलभोगिनः। अहो दुःखोदधौ मग्नो न पश्यामि प्रतिक्रियाम्।" (गर्भोपनिषत्)।

'त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत्। मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम् ॥ दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया। गीता ७।१३-१४।', 'तव विषम माया वस सुरासुर नाग नर अगजग हरे। भवपंथ भ्रमत अमित दिवस निसि कालकर्म गुननि भरे ।७।१३।', 'जीव चराचर बस कै राखे। १।२००।४।', 'यन्माययोरुगुणकर्मनिबन्धनेऽस्मिन्सांसारिके पथि चरंस्तदभिश्रमेण। भा० ३।३१।१५।' (जिसकी मायासे मोहित होकर यह जीव गुण और कर्मके बंधनसे युक्त इस संसार मार्गमें बड़े क्लेशके साथ भटकता रहता है)।

४ (च) 'रसहीन दिन-दिन अति नई' इति। माया रसहीन है अर्थात् सुखरूपी सारसे रहित है। पर ऐसी होते हुये भी वह नित्य अत्यन्त नवीन ही बनी रहती है। भाव यह कि यद्यपि वह कुछ है नहीं उसमें कुछ सार है नहीं, तथापि उसकी अभिलाषा नित्य नई बढ़ती है। यथा 'देखत ही कमनीय कछू नाहिंन पुनि किये बिचार। ज्यों कदलीतरु मध्य निहारत कबहुँ न निकरै सार। १८८।', 'पल्लवत फूलत नवल नित संसार बिटप नमामहे। ७।१३।', 'जदपि मृषा तिहुँकाल महँ भ्रम न सकै कोउ टारि। १।११७।''' जदपि असत्य देत दुख अहई।' प्रत्येक जन्ममें तथा खर, सूकर, श्वान आदि पशु तथा पक्षी-पतंग आदि योनियोंमें भी माता, पिता, भाई, बहिन, स्त्री, पुत्र आदि विषय भोग करनेको मिलते हैं, फिर भी उन्हीं विषयोंकी ओर मन दौड़ता है, चबायेको चबाता है, उनसे मन उकताता नहीं, उनमें नित्य नयापन ही दिखता है।

४ (छ) 'सो करौ वेगि सँभार श्रीपति बिपति महँ जेहि मति दई।' इति। श्रीपतिने ही इस गर्भ-संकटमें ज्ञान दिया,—यह जीव गर्भमें स्वीकार भी करता है। इससे उसकी कृतज्ञता प्रकट हुई। यथा 'येनेदृशीं गतिमसौ दशमास्य ईश, सङ्ग्राहितः पुरुदयेन भवादृशेन। स्वेनैव तुष्यतु कृतेन स दीननाथः, को नाम तत्प्रति विनाञ्जलिमस्य कुर्यात्। भा० ३। ३१। १८।' (अर्थात् हे ईश ! जिन परम उदार आपने इस दशमासके जीवको ऐसा उत्कृष्ट ज्ञान दिया है, उस अपने ही किये हुए उपकारसे आप दीनबंधु प्रसन्न हों, क्योंकि आपको हाथ जोड़ देनेके सिवा उसका और कोई प्रत्युपकार कौन कर सकता है ?)। 'वेगि सँभार करौ'का भाव कि मैं दुःख-समुद्रमें डूबा हुआ हूँ, कष्ट असहनीय है, अतः शीघ्र निकालिये, एकमात्र आपका ही [illegible]ारा है—'दुःखोदधौ मग्नो न पश्यामि प्रतिक्रियाम्।' गर्भोगनि[illegible]

यहाँ तक 'तेहि' और 'जेहि'का संबंध है। अतः 'तेहि ईसकी हौं सरन' का भाव कि जिनकी विषम त्रिगुणात्मिका माया ही कर्मबंधनमें डालकर आवागमनकी कारण है, वे ही यदि अनुग्रह करें तभी छुटकारा हो सकता है, दूसरा कोई उससे रक्षा नहीं कर सकता। अतएव वे ही ईश श्रीपति मुझे उससे मुक्त करें, मेरे कष्टको दूर करें, मैं उन्हींकी शरण हूँ। क्योंकि आपकी प्रतिज्ञा है कि 'मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते। गीता ७। १४।' अर्थात् जो एकमात्र मेरी शरण ग्रहण कर लेते हैं, वे इस मायासे तर जाते हैं।

टिप्पणी—५ (क) 'बहु बिधि पुनि गलानि जिय मानी।...' इति। 'बहु बिधि'—कुछ ऊपर ४ (घ) में लिखा गया है। पद २३४ 'जनम गयो बादिहि बर बीति।' से 'हृदय दहत पछिताय अनल अब' तक, पद २३५ 'ऐसेहि जनम समूह सिराने।...', पद २०१ 'लाभु कहा मानुष तनु पाए।...' तथा पद २०० आदिमें जिस प्रकारकी ग्लानि है, वह सब 'बहु बिधि'में आ जाती है।

ग्लानि होनेपर वह गर्भमें प्रतिज्ञा करता है कि अब योनिसे बाहर निकलनेपर ईश्वरकी शरणमें जाऊँगा। यह ऊपर ४ (ब)मे लिखा जा चुका है। 'चक्रपानी' का भाव कि चक्रचिह्नमात्रका ध्यान करनेसे ही कामरूपी निशाचरका नाश हो जाता है, (यथा 'कामहू निसाचरके मारिबेको चक्र धारयो'—भक्तिरसबोधिनी भक्तमाल टीका), भवकी मूल कामनायें नष्ट हो जाती हैं, तब सदा शरणागतके भयको दूर करनेके लिये आयुधधर भगवान्‌के भजनसे मैं क्यों न भवपार हो जाऊँगा।

'अब जाइ भजौं' यह शरणागतिका संकल्प हुआ। 'जग जाइ' अर्थात् योनिसे बाहर निकलनेपर, पृथ्वीपर जन्म लेनेपर।

५ (ख) 'ऐसेहँ करि बिचार चुप साधी...' इति। अर्थात् शरणागतिका इस प्रकार दृढ़ संकल्प करके मौन हो गया। 'चुप साधी'से यह भी जनाया कि मौन होकर ध्यान करने लगा। भगवान्‌की शरणागतिका संकल्प, तथा किसी भी समय शरण होना निष्फल नहीं होता। गर्भसे वेगही बाहर निकालनेके लिये ही इस समय शरण हुआ है—'सो करौ बेगि सँभार'। अतएव इस संकटको भगवान्‌ने दूर करनेके लिये प्रसवपवनको प्रेरित किया। और प्रसवपवनने उसे योनिद्वारकी तरफ फेंका वा चलाया। 'प्रसवपवन प्रेरयो'का दो बार अन्वय करनेसे श्रीहरिका तुरत ही पवनको प्रेरित करना और प्रसवपवनका अपराधी जीवको प्रेरित करना दोनों अर्थ आ जायँगे। दूसरे 'प्रेरयो'का अर्थ है 'चलाया वा फेंका'। 'बेगि'की प्राथना

है। अतः 'वेगि' ही योनिसे बाहर किया। यथा "सद्यः क्षिपत्यवाचीनं प्रसूत्यै सूतिमारुतः। भा० ३।३१।२२। तेनावसृष्टः सहसा…।" (अर्थात् तत्काल ही प्रसूतिवायु उसे बाहर निकालनेके लिये उलटा धक्का देती है। तात्पर्य कि अधोमुख बालकको बाहर फेंकती है, सिर ही प्रथम निकलता है। 'सद्यः' एवं 'सहसा' शब्द प्रभुकी शीघ्रता दिखा रहे हैं।

५ (ग) 'प्रेर्यो जो परम प्रचंड मारुत कष्ट नाना…' इति। भगवान्ने 'वेगि'पर ध्यान रक्खा, इसीसे 'परम प्रचंड मारुत'को चलाया जिसमें खट्से, झटसे बाहर निकाल दे। यह भी भगवान्की दयाका परिचय देता है। योनिमंडल बहुत छोटा और बच्चा बहुत बड़ा होता है। कहते हैं कि छिद्रका प्रमाण बारह अंगुलका है और बालकका शरीरमंडल चौदह अंगुलका होता है। उस छिद्रसे प्रसवपवन द्वारा बाहर निकाले जानेसे जो कष्ट होता है, वह ऐसा कहा गया है कि जैसे सुनार चाँदी-सोनेका तार बारीक छेदवाले यंत्रमें डाल-डालकर पतला करनेके लिये खींचता है, वैसे ही योनि-छिद्रसे यह निकाला जाता है। वेदनाकी तीक्ष्णता इससे समझ लें कि उस कष्टसे सारा ज्ञान विस्मृत हो जाता है। गर्भके भीतर जो कष्ट था, उससे भी अधिक कष्ट इस समयका होता है। उस दुःखसे तो ज्ञान हुआ था और इस कष्टसे प्राप्त ज्ञानका नाश हुआ।

☞ किस प्रकार जन्म हुआ और जन्म समय तथा उसके पश्चात् क्या-क्या दुःख भोगने पड़े—यह सब यहाँसे दिखाते चलते हैं। छन्द १ में जो 'बहु जोनि जन्म जरा बिपति' शब्द आये हैं, उसको कहते हैं।

५ (घ) 'सो ज्ञान ध्यान बिराग अनुभव जातना पावक दह्यो' इति। 'सो' अर्थात् ऊपर कहा हुआ; उपर्युक्त। 'तोहि दियो ज्ञान बिबेक जन्म अनेक की तब सुधि भई।', 'सो करहु वेगि सँभार श्रीपति बिपति महँ जेहि मति दई।'—यह 'सो ज्ञान' है। 'असेंह करि बिचार चुप साधी।'—यह 'सो ध्यान' है। 'बहु बिधि पुनि गलानि जिय मानी। अब जग जाइ भजौं चक्रपानी'—यह 'सो बिराग' है। 'जाकी बिषम माया गुनमई। जेहि किये जीव निकाय बस…' यह 'सो अनुभव' है।

'जातना पावक दह्यो'—यहाँ यातना (कष्ट) पावक है, ज्ञान-ध्यान-बिराग-अनुभव ईंधन हैं। काष्ठ अग्निमें जलकर भस्म हो जाता है, वैसे ही ज्ञान आदि सब भस्म हो गये, इनका चिह्न भी न रह गया। उनको नितान्त भूल गया। यथा 'विनिष्क्रामति कृच्छ्रेण निरुच्छ्वासो हतस्मृतिः। भा० ३।३१।२३।' (अर्थात् उस समय उसका श्वास बन्द हो जाता है और स्मृति नष्ट हो जाती है), 'रोरूयति गते ज्ञाने। श्लो० २४।' (अर्थात् ज्ञान

नष्ट हो जानेके कारण वह रोने लगता है), 'अथ योनिद्वारं सम्प्राप्तो यन्त्रेणापीड्यमानो महता दुःखेन जातमात्रस्तु वैष्णवेन वायुना संस्पृष्टस्तदा न स्मरति जन्ममरणानि न च कर्म शुभाशुभं विन्दति ॥ गर्भोपनिषत् ।४।' (अर्थात् इसके बाद योनिद्वारपर पहुँचता है। वहाँ योनियंत्रसे पीड़ित होकर महान् दुःख भोगता है। फिर जन्मते ही वैष्णवी वायुसे स्पृष्ट होकर (गर्भका ज्ञान) सब कुछ भूल जाता है। जन्म-मरण याद नहीं रहता। शुभाशुभ कर्मोंके अधीन हो जाता है)।

५ (ङ) 'अति खेद ब्याकुल अलप बल छिनु एक बोलि न आवई।…' इति। बच्चा जब गर्भसे बाहर निकलता है, पृथ्वीपर गिरता है, तब कुछ देर चुप रहता है। इसका कारण बताते हैं कि योनिसे बाहर फेंके जानेके समय जो तीव्र कष्ट होता है उससे उसकी साँस रुक जाती है, वह क्षणभर मूर्च्छित रहता है। जब मूर्च्छा हटती है तब ज्ञान नष्ट हो जानेके कारण अज्ञानावस्थामें वह रोने लगता है। इस कष्टको माता, पिता, परिवार कोई समझता नहीं, वे उसके अभिप्रायको समझते नहीं और वह अत्यन्त व्याकुल और अल्पबल अशक्त होनेसे स्वयं कुछ कह सकता नहीं।'— 'अनभिप्रेतमापन्नः प्रत्याख्यातुमनीश्वरः। भा० ३।३१।२५।'

मातलिने बताया है कि जीवको जन्मके समय गर्भवासकी अपेक्षा करोड़गुनी अधिक पीड़ा होती है। उस समय वह मूर्च्छित हो जाता है। गर्भमें प्राप्त विवेक बुद्धि उसके अज्ञान-दोषसे या नाना प्रकारके कर्मोंकी प्रेरणासे जन्म लेनेके पश्चात् नष्ट हो जाती है। योनियंत्रसे पीड़ित होनेपर जब वह दुःखसे मूर्च्छित हो जाता है और बाहर निकलकर बाहरी हवाके सम्पर्कमें आता है, उस समय उसके चित्तपर महामोह छा जाता है। मोह-ग्रस्त होनेपर उसकी स्मरणशक्तिका भी नाश हो जाता है; स्मृति नष्ट होनेसे पूर्व कर्मोंकी वासनाके कारण उस जन्ममें भी ममता और आसक्ति बढ़ जाती है। फिर संसारमें आसक्त होकर मूढ़ जीव न आत्माको जान पाता है, न परमात्माको; अपितु निषिद्ध कर्ममें प्रवृत्त होता है।—'पुंसामज्ञान-दोषेण नानाकर्मवशेन च ॥ गर्भस्थस्य मतिर्याऽऽसीत् संजातस्य प्रणश्यति। संमूर्च्छितस्य दुःखेन योनियन्त्रप्रपीडनात् ॥ बाह्येन वायुना तस्य मोह-सङ्गेन देहिनाम्। स्पृष्टमात्रेण घोरेण…महामोहः प्रजायते।…।' (प० पु० भूमि० ६६।६४-६६।'

श्रीपराशरजीका मत है कि बाह्य वायुका स्पर्श होनेसे वह अत्यन्त मूर्च्छित होकर बेसुध हो जाता है। यथा 'मूर्च्छामवाप्य महतीं संस्पृष्टो बाह्यवायुना। विज्ञानभ्रंशमवाप्नोति'। वि० पु० ६।५।१६।' म० भा० आश्व०

१७२० में बताया है कि जन्मके समय बालक गर्भस्थ जलसे भींगकर अत्यन्त व्याकुल हो उठता है।

५ (च) 'सब लोग हरषित गावई'—भाव कि देख ले, सिवाय भगवान्‌के तेरा कोई सच्चा हितैषी नहीं है। तुझे तो कष्ट है जिससे तू रो रहा है, बोल नहीं पाता और तेरे पालन-पोषण करनेवाले तेरी पीड़ाको समझते नहीं, मंगल मनाते हैं, ढोलक बजा-बजाकर गाते हैं।

१३६

छंद ६-८

बाल दसां जेते दुख पाये। अति अनीस[1] नहि जाहिं देखाये[2]।
छुधा व्याधि बाधा भय[3] भारी। वेदन नहिं जाने महतारी॥
छंदु॥ जननी न जानै पीर तव[4] केहि हेतु सिसु रोदन करै।
सो[5] करै विविध उपाय जातें अधिक तुअ[6] छाती जरै॥
कौमार सैसव अरु किसोर अपार अघ को कहि सकै।
वितरेकि तोहि निर्दय महा खल आन कहु क्यों सहि सकै॥ ६॥
जौवन जुवति संग रँग रात्यो। तब तूं महामोह मद मात्यो।
तातें तजी है[7] धर्म मरजादा। बिसरे[8] तव[9] सब प्रथम बिषादा॥
छंदु॥ बिसरे[8] बिषाद निकाय संकट समुझि नहिं फाटत हियो।
फिरि गर्भगत आवर्त्त संसृति चक्र जेहिं सोई[10] सोई कियो॥
कृमि भसम बिट परिनाम तनु तेहि लागि जगु बैरी भयो।
पर-दार पर-धन-द्रोह-पर संसार बाढ़ै[11] नित नयो॥ ७॥

---

१ अनीस—६६, रा०, भ०, मु०, ७४। अनयस—भा०, वे०। असीम—आ०। २ देखाये—६६, रा०। गनाये—भा०, वे०, आ०, ह०, ५१, ७४। ३ भय—६६, रा०, भा०, वे०, मु०, भ०। भइ—७४, आ०, ह०, ५१। ४ तव—६६, रा०, भ०, प्र०, ज०। सो—प्रायः औरोंमें। ५ सोइ—वै०, दीन, वि०। सो—६६, रा०, भा०, वे०, भ०, मु०, ७४। ६ तुअ—६६, रा०। तुव—ह०, आ०। तव—५१, ७४। ७ है—६६, रा०, प्र०, ज०। भा०, वे०, ह०, ७४, आ० मे 'है' नहीं है। ८ बिसरे—६६, रा०, ह०, ७४, आ०। बिसरी—भा०, वे०, प्र०, ज०। ९ तव—६६, आ०। तब—५१। ते—७४। जब—रा०, भा०, वे०, ह०। १० सोई सोई—६६। सोइ सोइ—रा०, छ०, भा०, वे०। होइ सोइ—वै०, दी०, भ०, वि०। हो सो—मु०। ११ बाढ़त—ह०।

देखत हीं आई बिरुधाई। जो तैं सपनेहु नाहिं बोलाई।
ताके गुन कछु कहे[12] न जाहीं। सो अब प्रगट देखु जग[13] माहीं॥
छंदु॥ सो प्रगट तन जर्ज्जर जरा बस ब्याधि सूल सतावई[14]।
सिर कंप इंद्रिय सक्ति[15] प्रतिहत वचन काहु न भावई[16]॥
गृहपाल हू तें अति निरादर खान पान न पावई।
ऐसिहु[17] दसां न बिराग[18] तहँ तृस्ना तरंग बढ़ावई॥८॥

शब्दार्थ—अनीस = अन् + ईश = असमर्थ, अशक्त। भय = भै, हुई।= डर। महतारी = माता। तुअ = तव = तेरी। कौमार = कुमार अवस्था। यह अवस्था प्रायः ५वीं वर्षसे दश वर्ष तककी मानी जाती है। यथा 'भये कुमार जबहिं सब भ्राता। दीन्ह जनेऊ गुरु पितु माता।१।२०४।३।' शैशव= बाल्यावस्था जन्मसे लेकर पाँचवें वर्ष तक। किशोर = ग्यारह वर्षसे सोलहवें वर्ष तककी अवस्था। यथा 'बय किसोर सुखमासदन स्याम गौर सुखधाम।१।२२०।' बितरेकि (व्यतिरेक) = सिवा; अतिरिक्त; छोड़कर। जौवन (यौवन) = युवा अवस्था; जवानी। जुवति (युवती) = युवा स्त्री। रातना = रँग जाना, अनुरक्त होना। यथा 'जिन्ह कर मन इन्ह सन नहिं राता। ते जन वंचित किये बिधाता।१।२०४।' रंग = प्रेम, अनुराग। रँग रात्यो = प्रेमरंगमें रँग गया। यथा 'ऐसे भये तौ कहा तुलसी जो पै जानकी-नाथके रंग न राते। क० ७।४४।' मद (मद्य) = मदिरा। मातना = मत-वाला होना। आवर्त्त = भँवर। मरजादा (मर्याद) = मेंड़; सीमा। बिट = विष्ठा, मल, गू। परिणाम = अंतिम रूपान्तरित अवस्था। दार = स्त्री। संसार = माया जाल; जीवनका जंजाल; आवागमनकी परंपरा। बिरुधाई= वृद्धा अवस्था; बुढ़ापा। प्राय· ६० वर्षसे वृद्धावस्थाका आरंभ होता है, पर आजकल तो ५० वर्षमें बुढ़ापा आ जाता है। देखतहीं = देखते-देखते; चटपट। जर्ज्जर = जीर्ण; बहुत पुराना होनेके कारण बेकाम। जरा = बुढ़ापा। प्रतिहत = विनाशको प्राप्त।= मारी गई; जाती रही। गृहपाल= घरकी रखवाली करनेवाला; कुत्ता। तृष्णा = प्राप्तिके लिये आकुल करने वाली इच्छा; लोभ; हवस। तरंग = लहर।

१२ कहन—६६, रा०। कहे—प्रायः औरोंमें। १३ जग—६६, रा० ने० मु० छु०, भ०, वै०। तन—भा०, ह०, ७४, दीन, वि०। १४-१६ सतावही, गावही—भा०, वे०,। १५ इंद्रिअसक्त।—भा०, ज०। इंद्रियसक्ति—६६, रा०, ह०, ५०, प्र०, ७४, आ०। १७ ऐसेउ-भा०, वे०। १८ वैराग्य नहिं—छु०, वै०।

पद्यार्थ—अति अनीश (असमर्थ) बचपनमें जितने दुःख पाये, वे (मुझसे) दिखाये नही जा सकते। भूख और रोगोंकी भारी बाधायें हुईं। (उस) पीड़ाको माता जानती भी नहीं। माता तेरी पीड़ाको नहीं जानती कि किस कारणसे बच्चा रो रहा है। वह वही अनेक उपाय करती है जिससे तेरी छाती और अधिक जलती है अर्थात् विशेष कष्ट होता है। बाल्यावस्था, कुमार अवस्था और किशोर अवस्थाके अपार पापोंको कौन कह सकता है? रे दयारहित कठोर हृदयवाले! रे महादुष्ट! बता तो सही, तेरे सिवा दूसरा कोई (इन दुःखो और पापोंको) कैसे सह सकता?। ६। युवावस्थामे तू स्त्रियोंके साथ उनके रंगमे रँगा (मजे उड़ाये)। उस समय तू महामोहरूपी मदिरामे मतवाला हो गया। इसीसे धर्मकी मर्यादाको छोड़ दिया (मर्यादाका उल्लंघनकर अधर्ममें रत हो गया)। पूर्वके तेरे सब दुःख तुझे भूल गए। (पूर्वके) दुःखसमूह तुझे भुला गए और (आगेके) संकटसमूहोंको समझकर तेरा हृदय (कलेजा, छाती) नहीं फटता? तूने वही-वही किया जिससे घूमफिरकर (पुनः पुनः) गर्भ-प्राप्तिरूपी भँवर और संसारचक्र हो। * जिस शरीरका परिणाम कीड़ा, राख और विष्ठा है उस शरीरके लिये तू संसार भरका शत्रु बना। परस्त्री

*'फिरि गर्भगत आवर्त्त ससृतिचक्र' के अर्थ भिन्न-भिन्न प्रकारसे लोगोने किये है।

(१) फिर गर्भगतमे फिरना अर्थात् गर्भमे आनाजाना हो और ससारचक्र (अर्थात् चरखा) हो अर्थात् चरखा कभी ऊपर जाता कभी नीचे आता है, वैसेही जन्म लेना मरना होता रहे जिसमे। (डु०, भ० स०)।

(२) संसार (रूपी) घूमता हुआ चक्रमे पड़कर पुनः गर्भवासको जायगा। (वै०)।

(३) संसाररूपी चरकपर चढकर घूमता हुआ माताके गर्भमे आवे। आवर्त = घूमना। (भ०)

(४) गर्भके भँवरमे पड़कर ससारचक्रमे चक्कर लगाना पडे। (दीन)।

(५) जिससे गर्भमे आकर संसारसमुद्रके चक्करमे घूमना पडे। (वीर)।

(६) फिर-फिर गर्भके गड्ढेमें गिरना पडे, संसारचक्रने आना पडे। (वि०,पो०)।

(७) फिर गर्भवासकी चिन्ता हो और ससाररूपी चक्रमे आना पडे। (श्री०श०)।

इस तरह १,२,३ ने 'आवर्त' का अर्थ 'घूमना' या 'फिरना', दीनजीने 'भँवर' और श्री० श० ने 'चिन्ता' किया है। कोशमे 'पानीका भँवर' मुख्य है और एक अर्थ 'चिन्ता' भी है। 'गत' को 'गर्त' का अपभ्रंश माननेपर 'गड्ढा' अर्थ अनुमानतः किया गया है या 'आवर्त' का अर्थ गड्ढा किया हो। 'भँवर' का अर्थ गढ्ढा भी होता है।—तात्पर्य सबका एकही है।

(गमन), परधन (हरण) और परद्रोहरूपी संसार नित्य नया बढ़ता ही गया।७। तेरे देखते-देखते बुढ़ापा आ गया। जिसे तूने स्वप्नमें भी नहीं बुलाया था। उसके गुण कुछ कहे नहीं जा सकते। अब उन्हें प्रत्यक्ष जगत्‌में देख ले। वे प्रत्यक्ष हैं—शरीर बुढ़ापेके अधीन जीर्ण हो गया, रोग और (उनसे उत्पन्न) शूल सता रहे हैं, शिर काँपता है, इन्द्रियोंकी शक्ति मारी गई, तेरा बोलना किसीको भाता नहीं, कुत्तेसे भी अधिक निरादर हो रहा है, खाने पीनेकी वस्तु अर्थात् भोजन और पानी नहीं पाता।—ऐसी भी दशामें (तुझे) वैराग्य नहीं होता, इस दशामें भी तृष्णाकी लहरें बढ़ाता ही जाता है।८।

टिप्पणी—९ (क) 'बालदसा जेते दुख पाये। ' इति। 'अनीस' के अर्थमें मतभेद है। किसीने इसको 'बालदशा' का, किसीने 'दुख'का और किसीने इसको वक्ताका विशेषण माना है। 'दुख'के साथ लेनेपर इसका 'अनैसा; बहुत बुरा' 'अनिष्ट' अर्थ लेना होगा। कवि और बालदशाके साथ इसका अर्थ 'असमर्थ' होगा। कविके लिये मानें तो अर्थ होगा कि मैं अत्यन्त असमर्थ हूँ, मैं उन्हें कह नहीं सकता। दिखाये नहीं जाते, क्योंकि कव विच्चेके दुःखको जान नहीं सकता।

☞ हमने 'अनीस' को 'बालदशा'का विशेषण माना है; क्योंकि इस दशामें बालक नितान्त असमर्थ रहता है। भगवान् कपिलने उस अवस्थाका उल्लेख इस प्रकार किया है कि—'जब उसे मैले-कुचैले अपवित्र पलंगपर सुला दिया जाता है और खटमल आदि स्वेदज जंतु काटने लगते हैं तो उसमें शरीरको खुजलाने अथवा हिलाने-डुलानेकी भी शक्ति नहीं होती। वह रोने लगता है, गर्भवासके ज्ञानको भूले हुए उस रोनेवाले बालककी कोमल त्वचाको डाँस, जुएँ, मच्छड़ और खटमल आदि पीड़ा पहुँचाते हैं, जैसे कीडेको कीड़े काटते हैं। लोग उसका अभिप्राय नहीं जानते, उनके द्वारा उसका पालन-पोषण होता है, असमर्थताके कारण उसे उनके अधीन रहना पड़ता है।'—श्रीमद्भागवतमें 'नेशः' शब्द है। नेशः = न ईशः = अन् ईशः = अनीशः। 'अनीश्वर' शब्द भी है जिसका अर्थ टीकाकारने 'असमर्थ' किया है।❀

❀ "शायितोऽशुचिपर्यङ्के जन्तुः स्वेदजदूषिते। नेशः कण्डूयनेऽङ्गानामासनोत्थानचेष्टने। भा० ३।३१।२६। तुदन्त्यामत्वचं दंशा मशका मत्कुणादयः। रुदन्तं विगतज्ञानं कृमयः कृमिकं यथा। २७। परच्छन्दं न विदुषा पुष्यमाणो जनेन सः। अनभिप्रेतमापन्नः प्रत्याख्यातुमनीश्वरः।२५।

प० पु० भूमिखण्डमें मातलिने भी कहा है—'बालकरूपमें इन्द्रियोंकी वृत्तियाँ पूर्णतया व्यक्त नहीं होतीं; इसलिये बालक महान्‌से महान् दुःखको सहन करता है; किन्तु इच्छा होते हुये भी न तो उसे कह सकता है और न उसका कुछ प्रतिकार ही कर पाता है; शैशवकालीन रोगसे उसको भारी कष्ट भोगना पड़ता है। भूख प्यासकी पीड़ासे उसके सारे शरीरमें दर्द होता है। बालक मोहवश मल-मूत्रको भी खानेके लिये मुँहमें डाल लेता है।' (६६।१०४-१०६)।—यह सब 'अनीश बालदशा'का भाव है।

६ (ख) 'छुधा व्याधि बाधा भय भारी। ' ' इति। असमर्थ बाल्यावस्थाके दुःखोंका कुछ प्रकार लिखते हैं। भूख अधिक लगती है, थोड़ी-थोड़ी देरमे उसे दूध चाहिए। 'भूख की पीड़ा कैसी होती है?' शुनःसुखके इस प्रश्नका उत्तर सप्तर्षियोंने इस प्रकार दिया है—"शक्ति, खड्ग, गदा, चक्र, तोमर और बाणोंसे पीड़ित किये जानेपर मनुष्यको जो वेदना होती है, वह भी भूखकी पीड़ाके सामने मात हो जाती है। दमा, खाँसी, क्षय, ज्वर और मृगी आदि रोगोंसे कष्ट पाते हुए मनुष्यको भी भूखकी पीड़ा उन सबोंकी अपेक्षा अधिक जान पड़ती है। ' ' जिस प्रकार सूर्यकी किरणों द्वारा पृथ्वीका सारा जल खीच लिया जाता है, उसी प्रकार पेटकी आगसे शरीरकी समस्त नाड़ियाँ सूख जाती हैं। भूखकी आग प्रज्वलित होनेपर मनुष्य गूँगा, बहरा, जड़, पंगु, भयंकर तथा मर्यादाहीन हो जाता है।" (प० पु० सृष्टि० १६) ।‡ शैशवमे प्रायः पसली, बालग्रह, खाँसी, सूखा और दस्त आदि रोगोंका भय रहता है।† बैजनाथजीने तालकटुक,

‡ "शक्तिखड्गगदाभिश्च चक्रतोमरसायकैः। बाधिते वेदना या तु क्षुधया साऽपि निर्जिता। श्वासकुष्ठक्षयाढीली ज्वरापस्मारशूलकैः। व्याधिभिर्जनिता साऽपि क्षुधया नाधिका भवेत्।' ' न शृणोति न चाघ्राति चक्षुषा नैव पश्यति। दह्यते क्षीयते मूढः शुष्यते क्षुधयार्दितः। न पूर्वा दक्षिणा चापि पश्चिमां नोत्तरामपि। न चाधो नैव चोर्ध्वं च क्षुधाविष्टो हि विन्दति। मूकत्वं बधिरत्वं च जडत्वमथ पङ्गुता। भैरवत्वमर्याद क्षुधाया संप्रवर्धते।"—(प० पु० सृष्टि १६।२७८-२८०,२८२,२८३,२८५):

† यथा 'ग्रहास्तमनुगच्छन्ति सारमेया इवामिषम्॥ ततः प्राप्तोत्तरे काले व्याधयश्चापि तं तथा। उपसर्पन्ति जीवन्तं बध्यमानं स्वकर्मभिः॥' (म० भा० स्त्री० ४।६-७)। विदुरजी कहते हैं कि जैसे कुत्ते मांसकी ओर झपटते हैं, उसी प्रकार बालग्रह नवजात शिशुके पीछे लगे रहते हैं। तदनन्तर ज्यो-ज्यो समय बीतता जाता है, त्यो-त्यो अपने कर्मोंसे बँधे हुए उस जीवको जीवित अवस्थामे नयी-नयी व्याधियाँ प्राप्त होने लगती हैं।

महापद्म, कुकुणक, अंजगल्ली, पारिगर्भिक, अहिपूतन, बालग्रह, ज्वर, शूल, अफरा, संग्रहणी और खाँसी नामक रोग गिनाये हैं। इत्यादि बाधायें होती हैं, जिनसे भारी भय रहता है, बच्चे मर जाया करते हैं। माता जानती नहीं कि क्या पीड़ा है, बच्चा क्यों रोता है। वह अपनी समझके अनुसार उपचार करती है। वैद्य, डाक्टर, हकीम बुलाये जाते हैं। अनुमानसे दवाई दी जाती है। रोग कुछ, दवा कुछ। दवा प्रतिकूल पड़ती है, उससे लाभके बदले कष्ट और बढ़ जाता है।

६ (ग) 'कौमार सैसव अरु किसोर अपार अघ ···' इति। शैशवमें भी जब बच्चा चलने-फिरने लगता है तब भी अज्ञानावस्थामें पाप होते हैं, जैसे कीड़ों पतिंगोंको सीक आदिसे कोचना। माण्डव्य ऋषि इस शैशवापराधसे सूलीपर चढ़ाये गए थे।

कुमार अवस्था बड़ी चंचल होती है, यथा 'लरिकाई' बीती अचेत चित चंचलता चौगुने चाय। ८३।' (बैजनाथजी लिखते हैं कि किशोर अवस्था अतिचंचल है, उसमें निर्दयता, अनय, अधर्म, हिंसा आदिसे अपार पाप होते हैं।) 'अपार' अर्थात् उन्हें गिनाकर कोई पार नहीं पा सकता, इसीसे कहा कि 'को कहि सकै', कोई भी नहीं कह सकता। दया-रहित मनुष्य ही बिना किसी स्वार्थके पराया अपकार करता है, इसीसे 'निर्दय' कहकर 'महाखल' कहा। खल 'अघ अवगुन-धन-धनी धनेसा', 'पर अघसुनइ सहसदस काना', 'सहसवदन बरनइ पर दोषा', 'उदासीन अरि-मीत हित सुनत जरहिं खल'—(१।४), 'बिनु स्वारथ पर अपकारी। ७।१२१।' होते हैं। इनसे भी अत्यंत अधिक खलता तुझमें है, यह 'महाखल' संबोधन द्वारा जनाया। खलोंके आचरण मानस ७।३९,४० में कहे हैं। स्वार्थवश पर-पीड़ा आदि नाना पापोंके करनेसे परलोक नष्ट हो गया, जिससे महान् भवभय उपस्थित हुआ। भगवान् कालरूप होकर खलोंको उसका फल देते हैं। यथा 'नर-सरीर धरि जे पर पीरा। करहिं ते सहहिं महा भव भीरा॥ करहिं मोह बस खल अघ नाना। स्वारथरत परलोक नसाना॥ कालरूप तिन्ह कहँ मैं भ्राता। ७।४१।'—अतः तुझे अपने खल-कर्मोंका फल यह भोगना पड़ा।

'आनु कहु क्यों सहि सकै' अर्थात् कोई ऐसा नहीं है, जो ऐसे दुःखोंको सह सके। भाव कि कोई भी हो, ऐसा कष्ट भोगनेपर फिर कभी वे कर्म न करेगा जिनसे फिर गर्भादिके दुःख हों, पर तू बारंबार वही कर्म करता है, जिससे अनुमान होता है कि तू उन कष्टोंको कुछ नहीं समझता।

टिप्पणी—७ (क) 'जौवन जुवति संग रँग रात्यो।···' इति। यहाँ

युवावस्थाकी अधमताका वर्णन करते हैं। 'संग रँग रात्यो' से जनाया कि जिसमें वह प्रसन्न हो, वही तू करता रहा, दिनरात उसके साथ रंगरलियोंमें बिताता रहा। मैथुनसुखके लिये क्रीड़ा-मृगकी नाईं स्त्रियोंद्वारा वैसे ही नचाया जाता रहा जैसे नट बंदरको नचाता है। यथा 'गृहेषु मैथुन्यसुखेषु योषितां क्रीडामृगः पुरुष ईश नीयते। भा० १०।५१।५२।' कामीका चित्त एक क्षण भी अपनी प्रियासे अलग नहीं होता।—'कामिहि नारि पियारि जिमि' का भाव 'रँग रात्यो' में है। स्त्रीमें रत हो जानेसे मोह अत्यन्त बढ़ जाता है, यथा 'मोह मद मात्यो रात्यो कुमति कुनारि सो। क० ७।८२।'; अतः इसीको आगे कहते हैं।

७ (ख) 'तब तू महामोह मद मात्यो' इति। जीवको किसी औरका संग करनेसे ऐसा मोह और बंधन नहीं होता जैसा स्त्री या उसके सहवासियोंका संग करनेसे होता है। यथा 'न तथास्य भवेन्मोहो बन्धश्चान्यप्रसङ्गतः। योषित्सङ्गाद्यथा पुंसो यथा तत्सङ्गिसङ्गतः। भा० ३।३१।३५।'—इसीसे 'युवतिसंग रँग रात्यो' होनेसे महामोहका होना कहा। स्त्रीसंगसे मोह उत्पन्न होकर उसकी नित्यप्रति वृद्धि होती है। मोह समस्त विकारोंका राजा है, यथा 'जीति मोह महिपाल दल'। २।२३५।' इसके आते ही समस्त विकार आ जाते हैं। काम, क्रोध, लोभ, मद, मत्सर आदि सुभट चारों ओरसे मोहके राज्यकी रक्षा करते हैं। भगवान्‌ने देवर्षि नारदसे 'मोह विपिन कहुँ नारि बसंता' कहकर उस मोहका स्वरूप दिखाया है। जप, तप, नियम, धर्म, बुद्धि, बल, शील और सत्य आदि सब एक भी नही रह जाते। काम, क्रोध, मद, ममता, मत्सर, लोभ, दुर्वासनायें और पाप नित्य बढ़ते जाते हैं।*

---

*मातलिने ययातिसे बताया है कि जवानीमे इन्द्रियोकी वृत्तियाँ कामना और रागकी प्रेरणासे इधर-उधर विषयोमे भटकती हैं। युवकको ईर्ष्या और मोहके कारण महान् दुःखका सामना करना पड़ता है। कामाग्निसे संतप्त रहनेके कारण उसे रातभर नींद नही आती। दिनमे भी अर्थोपार्जनकी चिन्तासे सुख कहाँ? स्त्री-संभोगका सुख वैसाही है जैसा कीड़ोसे पीडित कोढीको कोढके खुजलानेमे होता है।—'अन्यत्रेन्द्रियवृत्तिश्च कामरागप्रयोजनात्।...ईर्ष्या सुमहद्दुःखं मोहाद्दुःखं सुजायते।...रात्रौ न कुरुते निद्रा कामाग्निपरिखेदितः। दिवा वापि कुत. सौख्यमर्थोपार्जनचिन्तया॥ कृमिभिः पीड्यमानस्य कुष्ठिनः पामरस्य च। कण्डूयनाभितापेन यत्सुखं स्त्रीषु तद्विदु॥' (प० पु० भूमि० ६६।१०८–११०, ११२)।

'महामोह-मद मात्यो' कहकर सूचित किया कि उपर्युक्त दुर्गुण तुझमें अपनी परमोन्नति दशाको प्राप्त हो गए। जैसे शराबी मदिरा पीकर उसीके नशेमें चूर रहता है, मतवाला हो जाता है, वैसे ही महामोहसे तू मतवाला हो गया। महामोह होनेसे क्या हुआ, यह आगे कहते हैं।

७ (ग) 'तातें तजी है धर्म मरजादा।···' इति। 'तातें' अर्थात् महा-मोहमत्त होनेसे। धर्ममर्यादा छोड़ दी। यथा 'धर्म सकल सरसीरुह बृंदा। होइ हिम तिन्हहिं दहै सुखमंदा।३।४४।५।', 'मोहमद मात्यो रात्यो कुमति कुनारि सों, बिसारि वेद-लोक-लाज, आँकुरो अचेतु है। भावै सो करत, मुँह आवै सो कहत, कछु काहू की सहत नाहि, सरकस हेतु है।क० ७।८२।' महामोहरूपी मदिरापान करनेवालोंके लक्षण श्रीशिवजीने ये कहे हैं—लंपट, कपटी और कुटिल पल्ले दर्जेके होते हैं, वेद-असम्मत वाणी कहते हैं, कल्पित वचन बकते हैं, कभी विचारकर नहीं बोलते, हरिमायावश होकर जगत्‌में भ्रमण करते हैं, 'तिन्हहिं कहत कछु अघटित नाहीं' इत्यादि कहकर उन्होंने कहा है कि 'जिन्ह कृत महामोहमद पाना। तिन्हकर कहा करिअ नहि काना। १।११५।८।' अर्थात् उनकी कोई भी बात सुनने योग्य नहीं।—ये सब अवगुण 'महामोह मदमात्यो' से जना दिये। 'धर्म'—४४ (८ ग), ४६ (७ क), ६० (६ क) में देखिए। धर्मसे सुख होता है, परलोकमें धर्मही मनुष्यका धन है। ४४ (८ ग), ६० (६ क) देखिए। 'तजी धर्म मरजादा' कहकर जनाया कि ऐसा करनेसे तेरा परलोक नष्ट हुआ और तू कभी सुखी न हुआ। भगवान् कपिलदेवजीने जो कहा है कि शिश्नोदरपरायण पुरुषोंके समागमसे उसके (जीवके) सत्य, शौच, दया, मौन, बुद्धि, श्री, लज्जा, यश, क्षमा, शम, दम और ऐश्वर्य आदि समस्त सद्गुण नष्ट हो जाते हैं—'सत्यं शौचं दया मौनं बुद्धिः श्रीर्ह्रीर्यशः क्षमा। शमो दमो भगश्चेति यत्सङ्गाद्याति सङ्क्षयम्। भा० ३।३१।३३।' इन सबोंका स्त्रीसंगसे सर्वथा नष्ट हो जाना 'तजी धर्मसरजादा' कहकर जना दिया।

७ (घ) 'बिसरे तब सब प्रथम बिषादा'—'प्रथम' अर्थात् पूर्वके, जिनका वर्णन ऊपर छन्द १,३,५,६ में आ चुका है, वेही सब यहाँ अभिप्रेत हैं।

'निकाय संकट समुझि नहि फाटत हियो' इति। 'समुझि' का भाव कि उपर्युक्त दुःखों और आगे फिर वही संसारचक्रके संकटोंको जो समझता है, उसका हृदय फट जाता है, उसको अपने कर्मोंकी ग्लानि होती है, सोचनेमात्रसे इतना असह्य दुःख होता है कि फिर वह भूलकर भी उन

कर्मोंकी तरफ नहीं ताकता जिनसे ऐसे दुःख होते हैं। पर तेरा हृदय नहीं फटता, तू फिर भी 'भव सूल सोक अनेक जेहि तेहि पंथ हठि हठि चल्यो' और चल रहा है। पिछले कर्मों संकटों आदिको जानने समझनेसे बहुत ग्लानि होती है, यह ऊपर दिखा आये हैं—'बहु बिधि पुनि गलानि जिय जानी।' गर्भमें उनके स्मरणसे ग्लानि हुई, अब उसको भूल गया।

७ (ङ) 'फिरि गर्भगत आवर्त्त संसृतिचक्र जेहिं···' इति। पानीके बहावमें वह स्थान जहाँ पानीकी लहर एक केन्द्रपर चक्राकार घूमती है उसीको आवर्त्त या भँवर कहते हैं। ऐसे स्थानपर यदि नाव या मनुष्य पहुँच जाय, तो उसके डूबनेकी संभावना रहती है। बारंबार उसीमें चक्कर खाकर वे डूब जाते हैं। भाव कि इन कर्मोंसे गर्भमें प्राप्त होनेकी आवृत्ति होगी, बारंबार गर्भमें जाना पडेगा और संसारका चक्कर लगाना होगा। 'गर्भगत आवर्त' से गर्भवासके क्लेशमें पुनःपुनः डूबना कहा और संसार-चक्रसे गर्भसे निकलनेपरके क्लेश, बाल्य कौमार जरा आदिके तथा मरणके क्लेशोंकी आवृत्ति कही। ऊँची नीची योनियोंके क्लेश भी इसमें आ गए। मरनेपर नरक आदिमें जो पीड़ाएँ भोगनी पड़ती हैं वे भी 'संसारचक्र' से जना दी। जीव कितनेही गर्भमें ही नष्ट हो जाते हैं और कितने जन्म लेते ही मर जाते हैं; इस तरह उन्हें गर्भनिवाससे ही न जाने कबतक छुटकारा ही नहीं मिलता, यह भी 'आवर्त' शब्दसे सूचित कर दिया।

['चक्र' का अर्थ 'चरखा' या 'रहटा' करके यह भाव कहा गया है कि "जैसे रहटापर चढ़नेवाला बारंबार ऊँचे-नीचे आता जाता है, वैसे ही जिन-जिन कर्मोंसे जन्म लेना वा मरना वारंबार होता है···।" (डु०)]

७ (च) 'कृमि भसम बिट परिनाम तनु···' इति। शरीरकी तीन दशायें कही गई हैं। शरीरके सड़नेपर उसमेंसे कीड़े बनकर निकलते हैं, यह गाड़ देनेपर गति होती है। जलानेपर शरीर भस्म हो जाता है; यह दाहक्रिया करनेपर गति हुई। जो अंश शरीरका गृध्र, कौव्वे, चील, कुत्ते, गीदड़, आदिने खाया वह विष्टा हो जाता है। ऐसे शरीरके लिये परदार-रत, परधनरत हो परद्रोहरत होकर सबका वैरी बना। भाव यह कि इस शरीरके लिये दूसरोंसे वैर करनेसे क्या प्रयोजन सिद्ध हो सकता है? नरक ही तो मिलेगा; इसका तुझे किंचित् विचार नही होता। यथा 'कृमिविड्भस्मसंज्ञान्ते राजनाम्नोऽपि यस्य च। भूतध्रुक् तत्कृते स्वार्थं किं वेद निरयो यतः। भा० १२।२।४१।', "कृमिविड्भस्मसंज्ञाऽऽसीद्यस्येशाभिहितस्य च। भूतध्रुक् तत्कृते स्वार्थं किं वेद निरयो यतः। भा० ६।१८।२५।" अर्थात् जो शरीर कभी 'प्रभु'

कहलाते हैं वे भी अन्तमें कृमि, विष्ठा और भस्म हो जाते हैं। ऐसे निन्द्य शरीरके लिये जो पुरुष अन्य प्राणियोंसे द्रोह करता है, क्या वह अपने वास्तविक स्वार्थको जानता है ? (नहीं), उसे तो प्राणियोंसे द्रोह करनेके कारण नरकही भोगना पड़ता है। † (यह श्रीशुकदेवजीका वाक्य है)। ऋषभदेवजीने पुत्रोंसे ऐसाही कहा है, यथा 'लोकः स्वयं श्रेयसि नष्टदृष्टिर्योऽर्थान्समीहेत निकामकामः। अन्योन्यवैरः सुखलेशहेतोरनन्तदुःखं च न वेद मूढः। भा० ५।५।१६।' (अर्थात् मनुष्य अपने वास्तविक श्रेयको न जानकर नाना प्रकारकी कामनाओंसे अंधे हो लेशमात्र सुखके लिये आपसमें वैर ठानकर विषयभोगोंकी इच्छा करते हैं; किन्तु वे मूढ़ इस द्रोहके कारण प्राप्त होनेवाले नरकादि अनन्त दुःखोंका कुछ भी विचार नहीं करते)।

७ (छ) ☞ यहाँ 'जौबन जुवति संग रँग रात्यो' प्रसंगमें ही यह सब कहा जा रहा है। इस लिये शरीरकी गति यहाँ दिखलानेसे प्रसंगतः भा० ११।२६।१६-२१ में आये हुये ऐल महाराजके विचार ही इससे अभिप्रेत जान पड़ते हैं। वे ये हैं - "इस देहको किसका कहा जाय ? माता, पिता, स्त्री, स्वामी, अग्नि, कुत्तों, कौव्वों, गृध्रों, आत्मा, सुहृद या भाईबंधुओं सभीका तो स्वत्व इसपर दीखता है। ऐसे क्षणभंगुर, तुच्छ और अपवित्र कलेवरमें "अहो, इस स्त्रीका कैसा सुन्दर मुख है ! नासिकाकी कैसी उत्तम गठन है ! कैसी मन्द मनोहर मुसकान है"—ऐसी भावनाकर आसक्त होनेवालेसे बढ़कर मूर्ख और कौन होगा ? त्वचा, मांस, रुधिर, स्नायु, मेदा, मज्जा और अस्थिके बने हुए इस विष्ठा, मूत्र और पीव आदि अपवित्र पदार्थोंसे परिपूर्ण शरीरमें रमण करनेवालों और (विष्ठा, मूत्र, पूयमें रमण करनेवाले) कीड़ोंमें क्या अन्तर है ?❀

'कृमि भसम बिट परिनाम तनु' को युवती और युवतीमें रमण करनेवाले दोनोंमें लगाया जा सकता है।

७ (ज) 'परदार-परधन-द्रोह-पर...' इति। 'जगु बैरी भयो' का यह कारण बताया। 'परदारपर' से कामी, अधर्मी और महापापी, 'परधन-पर'

---

† भा० १०।५१।५१ मे भी कहा है—'पुरा रथैर्हेमपरिष्कृतैश्चरन् मतङ्गजैर्वा नरदेवसंज्ञितः। स एव कालेन दुरत्ययेन ते कलेवरो विट्कृमिभस्मसंज्ञितः॥'

❀ "पित्रोः किं स्वं नु भार्यायाः स्वामिनोऽग्नेः श्वगृध्रयोः। किमात्मनः किं सुहृदामिति यो नावसीयते। १६। तस्मिन्कलेवरेऽमेध्ये तुच्छनिष्ठे विषज्जते। अहो सुभद्रं सुनसं सुस्मितं च मुखं स्त्रियः। २०। त्वङ्मांसरुधिरस्नायुमेदोमज्जास्थिसंहतौ। विण्मूत्रपूये रमतां कृमीणां कियदन्तरम्। २१।"

से लोभी और खल और 'द्रोह-पर' से क्रोधी बताया। ये तीनों अवगुण दिखाकर इसको मनुष्यतनधारी राक्षस और घोरनरकका अधिकारी जनाया। यथा 'परद्रोही परदाररत परधन पर-अपवाद। ते नर पाँवर पापमय देह धरे मनुजाद। ७।३९।'

'परदार' आदिके क्रमका भाव कि कामपरवश होनेसे परदाराको प्रसन्न करनेके लिये उसकी इच्छाओंकी पूर्तिमें घरका धन प्रथम ही उड़ा दिया। उसके न रहनेपर परधनापहरणमें तत्पर हुआ, चोरी करने लगा, दूसरे कामी पुरुषोंसे भी वैर हुआ जो उस युवतीके प्रेमके इच्छुक हैं, जो भी बाधक दीखता है उसपर देहाभिमानके साथ-साथ क्रोध भी बढ़ता है और उनसे वैर ठन जाता है। श्रीकपिलदेवजीने भी यही कहा है—'सह देहेन मानेन वर्धमानेन मन्युना। करोति विग्रहं कामी कामिष्वन्ताय चात्मनः। भा० ३।३१।२६।'

७ (झ) 'संसार बाढ़ै नित नयो'—संसार बढ़ता है। यह प्रयोग वैसा ही है—जैसे, लोक बनना, लोक बिगड़ना, लोक बढ़ना। ऊपर जो कुछ कहा गया, यह सब 'संसार'का बढ़ना है। संसारमें प्रवृत्ति नित्य अधिक बढती जाना 'संसारका बढना' है। यही संसृतिचक्रकी भी वृद्धि करनेवाला है।

टिप्पणी—८ (क) 'देखत हीं आई बिरुधाई। ' इति। 'देखत हीं'का भाव कि जवानीकी उमंगों, उसकी रंगरलियों, युवतिरूपी विषयसुख-भोगके प्रयत्नोंमें ऐसा संलग्न रहा कि समयका बीतना जान ही न पड़ा और बुढ़ापा आ धमका। 'जो तैं सपनेहु नाहिं बोलाई'का भाव कि कोई प्राणी स्वप्नमें भी नहीं चाहता कि बुढ़ापा आवे और मैं उसके दुःख भोगूँ। फिर भला कामपरायण पुरुष उसे कब चाहेगा? वह तो देहाभिमानवश यही समझता है कि मैं कभी बुड्ढा नहीं होनेका। पर कालक्रमसे बुढ़ापा जबरदस्ती बिना बुलाये ही आ धमकता है। 'तैं नाहिं बोलाई'से जनाया कि सब युवा अवस्थाकी इच्छा करते हैं, उसे बुलाते हैं कि वह शीघ्र आ जाय। उसकी प्रतीक्षामें उन्हें ऐसा जान पड़ता है कि बड़ा दीर्घकाल बीत गया, अभी नहीं आई। किशोर अवस्थाको प्राप्त स्त्री और पुरुष दोनोंमें एक दूसरेको देखकर ऐसी प्रबल चाह होती है कि कब युवा आवे और हम मौजें उड़ावें। बुढ़ापा न चाहनेपर भी आ जाता है और यह बुलानेपर भी समयपर ही आती है।

८ (ख) 'ताके गुन कछु कहे न जाहीं।...' इति। गुण=वह भाव जो किसी वस्तुके साथ लगा हो।=धर्म। जैसे खलगुण, साधुगुण, प्रकृति-

गुण। कहे नहीं जाते, अर्थात् अगणित हैं। 'सो अब प्रगट'का भाव कि कहनेकी आवश्यकता भी नहीं, वह तो संसारभरमें (तथा अपने शरीरमें भी) प्रत्यक्ष देख ले। प्रत्यक्ष प्रमाणसे संदेह नहीं रह जाता।

[श्री० श०—"ताके गुन' व्यंग्योक्ति तो है ही, परन्तु यह बुढ़ाई अपने धर्मोंसे जीवको संसारसे वैराग्य भी प्रगट करती है कि यह ऐसे-ऐसे दुःखोंका भंडार है। अतएव इससे वैराग्य करना चाहिए; इसलिये यहाँ इसका 'गुन' शब्द बहुत विशेषता सूचक भी है।"]

८ (ग) 'तन जर्ज्जर जरा बस ब्याधि सूल सतावई। सिर कंप ' इति। 'जर्ज्जर'से जनाया कि अंग-प्रत्यङ्ग शिथिल हो गए, दाँत गिर गए, शरीरमें झुर्रियाँ पड़ गईं, शरीर नस-नाड़ियोंसे आवृत्त हो गया, समस्त हड्डियाँ दिखाई दे रही हैं, मेरुदण्ड झुक गया, इत्यादि। यथा 'जराजर्जर-देहश्च शिथिलावयवः पुमान्। विगलच्छीर्णदशनो वलिस्नायुशिरावृतः॥ प्रकटीभूतसर्वास्थिर्नतपृष्ठास्थिसंहतिः। वि० पु० ६।५।२७,२६।'

'व्याधि सूल सतावई' अर्थात् वात, पित्त, कफ तीनों बिगड़ जाते हैं जिससे श्वास, खाँसी, गठिया बाई, अजीर्ण आदि अनेक रोग दबा लेते हैं। उदरशूल, दन्तशूल, नेत्रशूल, आदि अनेक शूल त्रिशूल सरीखी पीड़ा देते हैं।

८ (घ) 'सिर कंप इंद्रियसक्ति प्रतिहत'—शिर काँपता है, इन्द्रियोंकी शक्ति मारी गई। अर्थात् श्रोत्र, नेत्र, हाथ, पैर, मन, बुद्धि आदि सभी इन्द्रियोंकी शक्ति बहुत कम रह गई, जिससे उठना, बैठना, चलना-फिरना, बोलना, सभी कठिन हो गया, स्मृतिशक्ति न रह गई, कहते-कहते भूल जाता है, एक वाक्य उच्चारण करनेमें भी महान् परिश्रम होता है। जठ-राग्नि मन्द पड़ जानेसे आहार और पुरुषार्थ दोनों बहुत कम हो गए जिससे समस्त शौचाचार नष्ट हो गया। रूप बिगड़ गया, शरीर मरणोन्मुख हो रहा है—'जरयोपात्तवैरूप्यो मरणाभिमुखो गृहे। भा० ३।३०।१४।', 'उत्पन्नजठराग्नित्वादल्पाहारोऽल्पचेष्टितः। वि० पु० ६।५।२६।'

८ (ङ) 'वचन काहु न भावई। गृहपालहू तें अति निरादर ···' इति। भाव कि इन्द्रियोंके अशक्त हो जानेसे उसे पुत्र, पौत्र, सेवक आदि दूसरे व्यक्तियोंके सहारे ही, उठना, बैठना, शौचको जाना, खाना, पीना आदि करना होता है। उनके अधीन रहना पड़ता है। इसका पुकारना भी उनको बुरा लगता है। बहू आदि कहती हैं—'इस बुड्ढेसे चुप लेटा भी नहीं जाता, क्षण-क्षणपर सबको तंग किया करता है'। यही 'वचन न भावई' है। भाव कि वह स्त्री, पुत्र, पौत्र, सेवक आदि सभीके अनादरका

पात्र हो गया, सब उससे उदासीन हो रहे हैं, कोई बात भी नहीं पूछता। 'काहु'में परिवार, सेवक, सुहृद, बंधु-बांधव सब आ गए। कोई सीधे बात भी नहीं करता।

☞'गृहपाल'का अर्थ 'घरकी रखवाली करनेवाला अर्थात् कुत्ता' है। श्रीमद्भागवतके टीकाकारोंने इसी प्रसंगके 'आस्तेऽवमत्योपन्यस्तं गृहपाल इवाहरन्। भा० ३।३०।१५।'के 'गृहपाल' का भी यही अर्थ किया है। अर्थात् ऐसी दशामें अपमानपूर्वक दिये हुए टुकडे उसे खाने पड़ते हैं, उसकी दर अब कुत्तेके समान हो गई। भा० १।१३ में भी यह शब्द ऐसे ही प्रसंगमें आया है। श्रीविदुरजी धृतराष्ट्रसे कह रहे हैं—आपका शरीर भी जर्जरित हो गया फिर भी आप पराये घरकी सेवा कर रहे हैं। ओह! जीवोंकी जीवन-आशा भी बड़ी प्रबल होती है! जिसके कारण आप भीमसेनका दिया हुआ टुकड़ा घरकी रखवाली करनेवाले (कुत्ते) के समान खा रहे हैं।—'आत्मा च जरया ग्रस्तः परगेहमुपाससे ॥२१। अहो महीयसी जन्तोर्जीविताशा यया भवान्। भीमेनावर्जितं पिण्डमादत्ते गृहपालवत्। २२।'—इस श्लोकमें तो 'गृहपाल'का अर्थ स्पष्ट ही गृहपति, घरका मालिक वा स्वामी हो ही नहीं सकता, सभी टीकाकारोंने उपर्युक्त अर्थ ही किया है।❀

'तं अति' शब्द भी जो इस छंदमें आये हैं, वे भी इसी अर्थके समर्थक और पोषक हैं। कुत्तेसे भी अत्यन्त अधिक निरादर! इसमें भाव यह है कि कुत्ता तो घरका पहरा देता है, तब भी जब घरवाले उसे दें तब वह पावे, पर उसे घरवाले देते तो हैं, क्योंकि वह रातभर पहरा देता है और माँगता कुछ नहीं, न घरवालोंको तंग करे। और बुड्ढा अशक्त और रोगी है, रात दिन सबको कष्ट देता है। फिर इस बुड्ढेसे तो अब कुटुंबका कोई स्वार्थ सिद्ध नहीं होता, अतः माँगनेपर भी कोई कुछ देता है तो अपमानपूर्वक चार बातें सुनाकर देता है। नहीं तो देताही नहीं।

८ (च) 'ऐसिहु दसां न बिराग''' इति। भाव कि जिनके लिये अपना लोक-परलोक बिगाड़ा, जिनके लिये बुरी-भली तरहसे पाप कमाये, अब उन्हींके हाथों अपना निरादर होनेपर, बूढ़े बैलकी तरह अपनी ओर उनकी बेपरवाई (उदासीनता) देखकर तो वैराग्य होना चाहिए था,

❀ वियोगीजी लिखते हैं कि 'गृहपालहूँ तें अति निरादर'के तीन अर्थ हो सकते हैं—(१) घरके मालिकसे भी अर्थात् लडके-वालोसे भी अपमान हो रहा है। (२) घरकी रखवाली करनेवाला कुत्तातक अपमान करता है। (३) कुत्तेसे भी अधिक अपमान लोग करते हैं।

पर इसे वैराग्य नहीं होता, उनका त्याग नहीं करता। तात्पर्य कि लज्जा-वान होता तो अवश्य त्याग देता, पर इसका मोह इतना बढ़ जाता है कि निर्लज्ज होकर उन्हींके साथ रहता है।*

८ (छ) 'तहँ तृष्ना तरंग बढ़ावई'—भाव कि वैराग्य तो दूर रहा, उलटे इस मरणासन्न और अपमानित दशामें गृह संबंधी अनेक मनोरथ उठते रहते हैं। जैसे कि नातीको खिला लूँ, पोतेको देख लूँ, इत्यादि! मनोरथपर मनोरथका उठना ही तृष्णाका तरंग है। भर्तृहरिजीने कहा भी है—'भोगा न भुक्ता वयमेव भुक्ताः।···तृष्णा न जीर्णा वयमेव जीर्णाः। वै० शतक ७।' धन और जीवनकी आशा बूढ़े होनेपर जीर्ण नहीं होती, नित्य नवीन बनी रहती है। यथा 'धनाशा जीविताशा च जीर्यतोऽपि न जीर्यति। चक्षुः श्रोत्रे च जीर्यते तृष्णैका तरुणायते॥ ('निरुपद्रवा।' पाठान्तर)।' (प० पु० सृ० १६।२५४)।

८ (ज) मिलान कीजिये—(१) 'भज गोविन्दं भज गोविन्दं भज गोविन्दं मूढमते।१।', 'अङ्गं गलितं पलितं मुण्डं दशनविहीनं जातं तुण्डम्। करधृतकम्पितशोभितदण्डं तदपि न मुञ्चत्याशा भण्डम्।१५।', 'यावद्वित्तोपार्जन-शक्तस्तावन्निजपरिवारो रक्तः। तदनु च जरया जर्जरदेहे वार्ता कोऽपि न पृच्छति गेहे।५।' (मोहमुद्गर)। हे मूढ़बुद्धे! भगवान्का भजन कर। शरीरके सब अंग गलित हो गये, शिरके बाल पलित हो गए। सारे दाँत गिर गए। हाथमें पकड़ा हुआ दंड काँपता हुआ कैसा फब रहा है? अरे मूर्ख! इतने पर भी आशाका त्याग नहीं करता। जबतक वित्तोपार्जनकी शक्ति रहती है, तभी तक परिवारका प्रेम है। शरीरके जर्जर हो जानेपर कोई बात भी नहीं पूछता।

(२) 'गात्रं संकुचितं गतिर्विगलिता भ्रष्टा च दन्तावलिर्दृष्टिर्नश्यति वर्धते बधिरता वक्त्रं च लालायते। वाक्यं नाद्रियते च बांधवजनो भार्या न शुश्रूषते, हा कष्टं पुरुषस्य जीर्णवयसः पुत्रोऽप्यमित्रायते। भर्तृ० वै० श० १०४।' बुड्ढे पुरुषोंका शरीर सिकुड़ जाता है, गति विगलित हो जाती है, दाँत टूट जाते हैं, बहिरापन बढ़ जाता है, मुखसे लार टपकने लगता

* भगवान् कपिलने भी यह कहा है। यथा 'एवं स्वभरणाकल्पं तत्कलत्रादयस्तथा। नाद्रियन्ते यथापूर्वं कीनाशा इव गोजरम्।१३। तत्राप्यजातनिर्वेदो···।' अर्थात् इस प्रकार अपने पालन-पोषणमें असमर्थ देखकर वे स्त्री-पुत्रादि इसका पहलेके समान आदर नहीं करते; जैसे किसान लोग बूढ़े बैलका। किन्तु फिर भी उसे वैराग्य नहीं होता। (भा० ३।३०।१३-१४)।

है, बन्धुजन आदर नहीं करते, स्त्री सेवा नहीं करती। अहो! कैसे कष्टकी बात है, इस अवस्थामें पुत्र भी अमित्र हो जाता है।

(३) 'या दुस्त्यजा दुर्मतिभिर्या न जीर्यति जीर्यतः। योऽसौ प्राणान्तिको रोगस्तां तृष्णां त्यजतः सुखम्। म० भा० शान्ति २७६।१२।' श्रीजनकजी कहते हैं—दुर्बुद्धि पुरुषोंके लिये जिसका त्याग करना कठिन है, जो शरीरके जराजीर्ण हो जानेपर भी स्वयं जीर्ण न होकर नयी-नवेली ही बनी रहती है तथा प्राणान्त कालतक रहनेवाला रोग माना गया है, उस तृष्णा को जो त्याग देता है, उसीको परम सुख मिलता है।—यह श्लोक ज्योंका त्यों १७४।५५ ब्राह्मण-सेनजित-प्रसंगमें भी है।

कहि को सकै महाभव तेरे। जनम एक के कछुक गनेरे[1]।
खानि[2] चारि संतत अवगाहीं। अजहुँ न करु बिचार मन माहीं॥

छंदु॥ अजहूँ बिचारि विकार तजि भजि[3] राम जनसुखदायकं।
भवसिंधु दुस्तर जलरथं भजि[3] चक्रधर सुरनायकं॥
बिनु हेतु करुनाकर उदार अपार माया तारनं।
कैवल्यपति जगपति रमापति प्रानपति गति[4] कारणं॥ ९॥

रघुपति भगति सुलभ सुखकारी। सो त्रयताप सोक भय हारी।
बिनु सत-संग भगति नहिं होई। ते तब मिलहिं[5] द्रवै जब सोई॥

छंदु॥ जब द्रवै[6] दीनदयाल राघव साधु संगति पाइये।
जेहि दरस परस समागमादिक पापरासि नसाइये॥
जिन्ह कें मिलें सुख[7] दुख समान अमानतादिक गुन भये।
मद मोह लोभ विषाद क्रोध सुबोध तें सहजहि गये॥१०॥

---

१ कहे रे—ह०, ७४, प्र०। गने—औरोमे। २ चारि खानि—भा०, वे०, ह०, ज०। खानि चारि—६६, रा०, ७४, मु०, छु०, वै०। ३ भजि—६६, रा०, ह०। भजु—भा०, वे०, प्र०, ७४, ५१, आ०। ४ गत—प्र०। जग—ज०। ५ मिलै—ह०, ५१, आ०। मिलहिं—६६, रा०, भा०, वे०, ७४, भ०। ६ द्रवै—६६, रा०, प्र०, ह०, ज०। द्रवहि—भा०, ७४, ज०। ७ सुख दुख—६६, रा०, मु०, दीन, भ०। दुख सुख—भा०, वे०, ७४, प्र०, ह०।

शब्दार्थ—महा भव = महान् संसार।❋ गनेरे = गिनाए। अवगाहना = पैठना, डुबकी लगाना, थहाना, छानना। जलरथ = जलवाहन, जलपर चलनेवाला रथ = नाव, जहाज़। सतसंग = संतोंका संग। सत = संत।—(यह अर्थ उत्तरार्धके 'ते' तथा छन्दसे सिद्ध होता है)। अमानता = मान-प्रतिष्ठा-अभिमान-रहित होनेका भाव। सुबोध = शुद्ध ज्ञान; आत्मज्ञान। सहजहि = बिना परिश्रम; आपही आप।

पद्यार्थ—तेरे महान् संसारको कौन कह सकता है? (मैंने) एक जन्मके (ही) कुछ (थोड़ेसे) गिनाये। जरायुज वा पिंडज, अंडज, स्वेदज और उद्भिज इन चार प्रकारके उत्पत्ति स्थानोंमें निरंतर अवगाहन कर लेनेपर अब भी तू मनमें विचार नहीं करता। अब भी विचार कर, विकारों (बुरे कर्मों) को छोड़कर अपने जनोंको सुख देनेवाले, दुस्तर (जिसका तरना कठिन है) भवसागरके (तरनेके लिये) जहाजरूप, चक्र धारण करनेवाले, देवताओंके स्वामी, विना कारणही करुणाके करनेवाले, उदार (सर्वश्रेष्ठ दाता), अपार (जिसका पार नहीं एवं विशाल) मायासे तार देनेवाले, कैवल्य (मोक्ष, अपवर्ग, निर्वाणपद) के स्वामी, जगत्के स्वामी, प्राणोंके रक्षक और सद्गतिके कारण रमापति श्रीरामजीका भजन कर।९। श्रीरघुनाथजीकी भक्ति सुलभ और सुखकी देनेवाली है। वह त्रिताप, शोक और भयकी हरनेवाली है। भक्ति विना सन्तोंके संगके नहीं होती और वे (संत) तब मिलते हैं जब वेही (रघुपति) कृपा करैं। जब दीनदयाल श्रीरघुनाथजी करुणा-कृपा करते हैं तब साधुकी संगति प्राप्त होती है, जिनके दर्शन, स्पर्श और समागम आदिसे पापसमूह नष्ट हो जाते हैं और जिनके मिलनेसे सुख-दुःखमें समानभाव तथा अमानता आदि गुण प्राप्त होते हैं। शुद्ध आत्म-ज्ञानसे मद, मोह, लोभ, विषाद और क्रोध आपसे आप चले जाते हैं।१०।

टिप्पणी—९ (क) 'को कहि सकै महा भव तेरे।...' इति। छन्द ७ में कहा था—'परदार परधन द्रोहपर संसार बाढ़ै नित नयो।'; इसके अनुसार 'महाभव' का अर्थ हुआ 'महान् संसार' जो नित्य नया प्रतिजन्म बढ़ता-बढ़ता अबतक 'महान्' हो गया, उसका वर्णन कौन कर सकता है? कोई नहीं कर सकता। मैंने जो कहे वे एक जन्मके कहे और वह भी सब

❋ पं० रामकुमारजीने 'भव' का अर्थ 'जन्म' किया है। और कुछ टीकाकारोंने 'महा भव' का अर्थ 'बड़े-बड़े जन्म', 'अनेक जन्म', 'अनेक योनियाँ' इत्यादि किया है। 'जनम एक के कछुक गनेरे' के संबंधसे 'अनेक जन्म' का भाव भी ले सकते हैं।

नहीं कह सका, थोड़ेसे ही गिना दिये।—'गनेरे' में भाव यह है कि हमने दोषोंके नाम भर गिनाये हैं, इनकी व्याख्या नहीं की, वर्णन नहीं किया।

६ (ख) 'खानि चारि संतत अवगाहीं।...' इति। देहधारियों, समस्त भूत प्राणियोंका जन्म अण्डज, उद्भिज, स्वेदज और जरायुज इन चार प्रकारका ही देखा जाता है।—'अण्डजोद्भिज्जसंस्वेदजरायुजमथापि च। चतुर्धा जन्म इत्येतद् भूतग्रामस्य लक्ष्यते। म० भा० आश्व० ४२।३३।' अण्डज वे हैं जो अंडेसे उत्पन्न होते हैं। सर्प, पक्षी, मछली, च्यूँटी तथा अन्य आकाशचारी और पेटसे चलनेवाले सब अण्डज हैं। पसीनेसे उत्पन्न होनेवाले जू आदि कीट और जन्तु स्वेदज हैं। पृथ्वीको फोड़कर उत्पन्न होनेवाले उद्भिज्ज कहे जाते हैं जैसे वृक्ष आदि। दो पैरवाले, बहुत पैरवाले एवं टेढ़े-मेढ़े चलनेवाले तथा विकृत रूपवाले प्राणी जरायुज हैं।—'अपराण्यथ भूतानि खेचराणि तथैव च॥ अण्डजानि विजानीयात् सर्वांश्चैव सरीसृपान्। स्वेदजाः कृमयः प्रोक्ता जन्तवश्च यथाक्रमम्॥' 'भित्त्वा तु पृथिवीं यानि जायन्ते कालपर्ययात्॥ उद्भिज्जानि च तान्याहुर्भूतानि द्विजसत्तमाः। द्विपादबहुपादानि तिर्यग्गतिमतीनि च॥ जरायुजानि भूतानि विकृतान्यपि सत्तमाः (श्लो० ३४-३८)। इन चार प्रकारोंमें ही चौरासी लक्ष योनियाँ हैं जिसका ब्योरा इस प्रकार है—जलचर प्राणी नौ लाख प्रकारके हैं। स्थावर योनियाँ बीस लाख प्रकारकी हैं। कृमि-कीटयोनियोंके ग्यारह लाख भेद हैं। पशु तीस लाख प्रकारके हैं। मानव (मनुसे उत्पन्न) योनियाँ भी रंग, जाति (Species) आदिके भेदसे चार लाख प्रकारकी हैं। यथा 'जलजा नवलक्षाणि स्थावरा लक्षविंशतिः। कृमयो रुद्रलक्षाणि पक्षिणो दशलक्षकाः। त्रिंशल्लक्षाणि पशवश्चतुर्लक्षाणि मानवः॥' (अज्ञात)। जीव मनुष्य तन पाकर अपने उपर्युक्त कर्मोंसे इन चारों प्रकारकी योनियोंमें भ्रमण करता रहता है। दुसह दुःख सभी योनियोंमें झेलने पड़ते हैं। सुख कहीं नहीं है। अतः 'संतत अवगाहीं, अजहुँ न करु बिचार' का भाव कि अब तो तू इतनी योनियोंमें गहरी डुबकी लगाकर सबकी थाह ले चुका, भलीभाँति दुःख भोगकर पर्याप्त अनुभव कर चुका, सबकी छानबीन कर चुका—अब तो विचार, 'क्या तुझे कहीं सुख मिला ?' चौरासी-भ्रमणके पश्चात् भगवान्की परम करुणासे यह शरीर मिल गया है, तुझे प्रभुने बुद्धि दी है, जिससे तू अपना भला विचारे। अतः विचार कर—'श्रीराम बिनु बिश्राम मूढ़ बिचारि देखु पायो कहीं।' 'अजहुँ' से यह भी जनाया कि अब भी कुछ गया-बीता नहीं है, जबतक श्वासा चल रहा है, अवसर है।

६ (ग) 'अजहूँ बिचारि विकार तजि भजि राम जनसुखदायकं।' इति। 'विचारि'—क्या विचार करे? यह कि "जगत् सब स्वार्थी है; संसारके सब नाते असत्य हैं; ये कोई अपने नहीं हैं; स्त्री, पुत्र, मित्र, अर्थ, गृह, क्षेत्र और धन आदि जो-जो भी मुझे प्रिय है, ये सब दुःखतरुके बीज हैं, इनसे वैसा सुख नहीं होता जैसा दुःख होता है'। 'ओह! मेरी सारी आयु इनके पालन-पोषणमें व्यर्थ बीत गई। ओह! अब सब मुझसे घृणा करते हैं। हा! मैं प्रभुको भूलकर इनमें आसक्त हो गया। वास्तवमें एकमात्र श्रीरामजीही अपने माता, पिता, पुत्र, सुहृद हैं, दूसरा कोई नहीं।" इत्यादि प्रकारसे विचार करनेसे वैराग्य उत्पन्न होगा। तब 'विकारों' का त्याग हो सकेगा। अतः 'बिचारि' के पश्चात् 'तजि विकार' कहा। बिकार अर्थात् विषयवासना, देह और देहसंबंधी वस्तुओंमें मोह-ममत्व, देहाभिमानसे उत्पन्न समस्त दोष। पद ७४ मे भी देखिए। वहाँ 'करि विराग तजि विकार भजि उदार रामचंद्र···' कहा; वैसेही यहाँ 'बिचारि विकार तजि भजि राम जन सुखदायकं' कहा है। 'भजि राम' कहकर फिर उनके भजनका कारण बताते हैं कि वे अपने जनको सुख देते हैं (यथा 'राजिवनयन धरें धनुसायक। भगत बिपति भंजन सुखदायक।१।१८।१०।', 'देइ सकल सुख।१०७।'), दुस्तर भवसागरको पार कर देते हैं, उसके लिये जलयान समान हैं (यथा 'घोर संसारपाथोधिपोतं।४६।'), जनके कामादि शत्रुओंका नाश करनेके लिये सदा चक्र धारण किये रहते हैं, कारणरहित करुणा-कृपा करते हैं अर्थात् सेवा-पूजा कुछ नहीं चाहते, उदार हैं अर्थात् बड़े ही सरल हैं, उदारका अर्थ सरल भी है (यथा 'दक्षिणे सरलोदारौ। अमर ३।१।८।') तथा परम श्रेष्ठ दानी हैं, जिस मायासे कोई पार नहीं पा सकता उससे भी तार देते हैं (यथा 'करि उपाय पचि मरिअ तरिअ नहि जब लगि करहु न दाया। ११६।'), मोक्षके तो स्वामी ही हैं जिसको चाहे मोक्ष दे देते हैं, जगत्के भी स्वामी हैं अर्थात् उनके जनको जगत् बाधक नहीं हो सकता, जगत्में भी उसके लौकिक-पारलौकिक दोनों सुखोंकी रक्षा करते हैं, लक्ष्मीपति हैं अतः ऐश्वर्य भी दे सकते हैं, प्राणके भी स्वामी नियामक और रक्षक हैं (यथा 'यः प्राणमन्तरो यमयति। बृह० ३।७।१६।') और सद्गतिके कारण हैं अर्थात् ये ही सद्गतिके देनेवाले हैं।—इस प्रकार जीवको जो कुछ भी चाह हो, सब कामनाओंकी पूर्त्ति इनमें दिखायी, इन्हींको परम उपास्यदेव जनाया। यथा 'बीर-महा अवराधिऐ साधें सिधि होइ। सकल काम पूरन करै जानै सब कोइ।१०८।'—इन सब विशेषणोंके भाव उदाहरण सहित पूर्व आचुके हैं।

'भवसिंधु दुस्तर···अपार माया तारनं' से जनाया कि विना इनके भजनके, विना इनकी कृपाके न तो दुस्तर भवसे छुटकारा मिलेगा और न मायासे। यथा 'बारि मथे घृत होइ बरु सिकता तें बरु तेल। बिनु हरि भजन न भव तरिअ यह सिद्धांत अपेल ॥', 'विनिश्चितं वदामि ते न अन्यथा वचांसि मे। हरिं नरा भजंति येऽति दुस्तरं तरंति ते ।७।१२२।'— अतएव 'भजि राम'।

[(श्री० श०)—"मोक्ष दो प्रकारका है—एक कैवल्यपद है और एक श्रीरामजीकी प्रीत्यात्मक प्राप्ति। इसीसे यहाँ एक बार 'कैवल्यपति' कहा है और फिर 'गति कारनं' भी कहा गया है। अतः 'गति कारनं' से भगवत्प्राप्तिका अर्थ है।]

टिप्पणी—१० (क) 'रघुपति भगति सुलभ सुखकारी।···' इति। छंद ६ में श्रीरामजीका भजन करनेका उपदेश दिया,—'भजिराम'। अब भजनके साधन बताते हैं। यहाँ 'रघुपति' शब्द देकर जनाया कि उपर्युक्त 'राम' 'चक्रवर' 'रमापति' श्रीरघुपति राम ही हैं, दूसरा नहीं। इनकी भक्तिमें योग, यज्ञ, जप, तप, व्रत, उपवास आदिका श्रम नहीं, साधनमें कोई कठिनता नहीं, केवल सरल स्वभाव और अनन्याश्रय होना चाहिए। यथा 'कहहु भगतिपथ कवन प्रयासा। जोग न मख जप तप उपवासा॥ सरल सुभाव न मन कुटिलाई। जथा लाभ संतोष सदाई॥ मोर दास कहाइ नर आसा। करइ तौ कहहु कहा बिस्वासा ।७।४६।१-३।' भक्ति सुलभ होनेके साथ सुखकारी भी है, लोक और परलोक दोनोंमें सुख देती है, अतः सुखकी चाहवालेको भक्ति करना उचित है। यथा 'जौं परलोक इहाँ सुख चहहू। सुनि मम बचन हृदय दृढ़ गहहू॥ सुलभ सुखद मारग यह भाई। भगति मोरि पुरान श्रुति गाई ।७।४५।१-२।', 'भक्ति सुतंत्र सकल सुख खानी।'

देवर्षि नारदजी भी कहते हैं– 'अन्यस्मात् सौलभ्यं भक्तौ' (भक्तिसूत्र ५८) अर्थात् अन्य सबोंकी अपेक्षा भक्ति सुलभ है। सौलभ्यका कारण भी बताते हैं कि भक्ति स्वयं प्रमाणरूप है, इसके लिये अन्य प्रमाणकी आवश्यकता नहीं।—'प्रमाणान्तरस्यानपेक्षत्वात् स्वयंप्रमाणत्वात्। सूत्र ५९।' पोद्दारजी लिखते हैं कि भक्तिकी प्राप्तिमें विद्या, धन, श्रेष्ठ कुल, वर्ण, आश्रम, वेदाध्ययन, कठोर तप, विवेक या वैराग्यकी आवश्यकता नहीं है। केवल सरल भावसे भगवान्‌की अपार कृपापर विश्वास करके उनका सतत प्रेम भावसे स्मरण करनेकी आवश्यकता है। फिर सुलभता तो प्रत्यक्ष ही दीखने लगती है। भगवत्कृपा सदा सर्वदा सबपर है। मनुष्य विश्वास नहीं करता, इसीसे वह वंचित रह जाता है। भगवान्‌ने तो गीतामें डंके-

की चोट कहा है कि 'मैं सब प्राणियोंका सुहृद हूँ, और जो मुझे सुहृद जान लेता है वह उसी क्षण शान्ति पा जाता है'—'सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति। ५।२९।' सदा सबपर भगवत्कृपा होनेपर भी हमें जो विश्वास नहीं है, बस, उस विश्वासको स्थिर कर लेना है। फिर भक्तिकी प्राप्तिके सभी साधन अपने आप सहज ही सिद्ध हो जायँगे—'तस्याहं सुलभः पार्थ। गीता ८।१४।' भक्ति किसी और साधनसे नहीं मिलती, यह भजनसे ही मिलती है।

'सो त्रयताप सोक भय हारी'—दैहिक, दैविक और भौतिक तीनों ताप तथा शोक और भय सब अविद्याकृत हैं। भक्तिसे विना परिश्रम अविद्याका ही नाश हो जाता है। यथा 'भगति करत बिनु जतन प्रयासा। संसृति-मूल अविद्या नासा।७।११९।८।' शोक और भय जो धन, गृह, सुहृदजन आदि द्वारा भी प्राप्त होता है, वह भी नहीं रह जाता। यथा 'तावद्भयं द्रविण-गेहसुहृन्निमित्तं, शोकः स्पृहा परिभवो विपुलश्च लोभः। तावन्ममेत्यसदवग्रह आर्तिमूलं, यावन्न तेऽङ्‌घ्रिमभयं प्रवृणीत लोकः। भा० ३।९।६।'—ब्रह्माजी कहते हैं—'प्रभो! जबतक पुरुष आपके अभयप्रद चरणोंका आश्रय नहीं लेते तभीतक उन्हें धन, गृह और सुहृदजनके कारण प्राप्त होनेवाला भय तथा शोक, स्पृहा, पराभव और अत्यन्त तृष्णा आदि सताते हैं तथा तभी तक उसे 'मैं और मेरापन' का दुःखजनक असत् आग्रह रहता है।' विशेष 'शोक, संदेह, भय' पर ५७ (७ ख) देखिये।

१० (ख) 'बिनु सत-संग भगति नहिं···' इति। वह भक्ति कैसे प्राप्त हो? उसका साधन बताते हैं कि सन्तोंका संग करे, सन्तोंसे भक्ति प्राप्त होगी। यथा 'सबकर फल हरिभगति सुहाई। सो बिनु संत न काहू पाई॥ अस बिचारि जोइ कर सतसंगा। रामभगति तेहि सुलभ बिहंगा।७।१२०।' बिना संतके भक्ति नहीं मिलती। यथा 'नैषां मतिस्तावदुरुक्रमाङ्‌घ्रिं स्पृशत्य-नर्थापगमो यदर्थः। महीयसां पादरजोऽभिषेकं निष्किञ्चनानां न वृणीत यावत्। भा० ७।५।३२।' (अर्थात् ये लोग जबतक अपने आपको निष्किचन महापुरुषोंकी चरणरजसे स्पर्श नहीं करते तबतक इनकी बुद्धि भगवान् उरुक्रमके चरणोंका स्पर्श नहीं कर सकती, जिससे कि संसाररूप अनर्थका सर्वथा नाश होता है); 'मुख्यतस्तु महत्कृपयैव' (ना० भक्तिसूत्र ३८) अर्थात् वह मुख्यतया महापुरुषोंकी कृपासे होती है। और संत तभी मिलते जब श्रीरामजीकी करुणा कृपा होती है। यथा 'निगमागम पुरान मत एहा। कहहिं सिद्ध मुनि नहिं संदेहा॥ संत बिसुद्ध मिलहिं परि तेही। चितवहिं राम कृपा करि जेही। राम कृपा तव दरसन भयऊ।७।६९।', 'बिनु

हरि कृपा मिलहिं नहिं संता ।५।७।४', 'लभ्यतेऽपि तत्कृपयैव । ना० भक्ति-सूत्र ४०।' भगवान्की कृपासे ही महत्पुरुषोंका संग भी मिलता है।

१० (ग) 'जब द्रवै दीनदयाल···' इति । श्रीराघव कब कृपा करते हैं यह अब बताते हैं। 'दीनदयाल' विशेषणसे जनाया कि वे दीनोंपर कृपा करते हैं। अतः दीन होकर उनकी शरण ले, तो वे दया करते हैं, सन्तसे मिला देते हैं। दीनता मनुष्यको भगवत्कृपाप्राप्तिका पात्र बना देती है। दीन होकर जब वह छटपटाने लगता है तब प्रभु अपने किसी प्रेमी संतको उसके समागममें भेज देते हैं। देवर्षि नारदजी भी कहते है—'ईश्वरस्याप्यभिमानद्वेपित्वाद् दैन्यप्रियत्वाच्च ।' (भक्तिसूत्र २७); अर्थात् ईश्वरको भी अभिमानसे द्वेषभाव है और दैन्यसे प्रियभाव है।—इस सूत्रसे स्पष्ट है कि दीनतामें अभिमान और कर्तृत्व-अहंकारका सर्वथा अभाव होता है। जबतक किसी भी प्रकारका अभिमान हृदयमें बीज या अंकुररूपसे पड़ा हुआ है, तबतक सच्ची दीनता नहीं है। सच्चे दीन हम बन जायँ तो अवश्य प्रभुके कृपाके पात्र हो जायँ। मानसमें भी कहा है—'जेहि दीन पिआरे वेद पुकारे द्रवौ सो श्रीभगवाना ।१।१८६।' (इससे भी स्पष्ट है कि दीनतासे द्रवते हैं), 'बंदौं सीतारामपद जिन्हहिं परम प्रिय खिन्न । १।१८।' ('खिन्न' वह दीन है जिसका हृदय प्रभुके लिये छटपटा रहा है)।

१० (घ) 'जेहि दरस परस समागमादिक···' इति । संतदर्शन होने-पर उनके चरणोंका स्पर्श करे अर्थात् उनको प्रणाम करे, चरणरजको शिरपर धारण करे। फिर उनसे भगवत्संबंधी सत्संग करे, अपने संशय आदि उनसे कहे, उनके उपदेश सुने।—यह सब 'दरस परस समागम'के क्रमसे सूचित किया। ऐसा करनेसे समूह पाप नष्ट हो जाते हैं, और अनेक दिव्य कल्याण गुण उत्पन्न हो जाते हैं। पाप तो दर्शनमात्रसे दूर हो जाते है, यथा 'संत दरस जिमि पातक टरई ।४।१७।६।' स्पर्शसे शुभा-शुभकर्मका त्याग हो जाता है—'त्यागहि कर्म सुभासुभदायक ।७।४१।७।', और समागमसे हरिकथामृत पान करनेको मिलता है जिससे मोह नष्ट होता है और तब श्रीरामजीमें दृढ़ अनुराग होता है। यथा 'बिनु सतसंग न हरिकथा तेहि बिनु मोह न भाग। मोह गएँ बिनु रामपद होइ न दृढ़ अनुराग। ७।६१।' मानसमें जो साधुसमाजरूपी प्रयागमें मज्जन कहा गया है, वही यहाँ समागम है। जो वहाँ काकसे पिक और बकसे मराल होना कहा है—'मज्जन फल पेखिय ततकाला। काक होहिं पिक बकउ मराला। १।३।१।',—वही यहाँ मोह नष्ट होकर दृढ़ रामानुरागी होना है। वहाँके

भानु। संतराज सो जानिए, तुलसी या सहिदानु। वै० सं० ३३।', 'सांत निरपेच्छ निर्मम निरामय अगुन शब्दब्रह्मैकपर ब्रह्मज्ञानी। ५७।' ब्रह्मज्ञानी होनेसे वे स्वयं 'त्यक्तमद-मन्यु कृत पुन्यरासी', 'सम, अभूतरिपु बिमद बिरागी। लोभामरष हरषभय त्यागी।३।३८।२।' होते हैं। और दूसरोंको भी आत्मज्ञान प्राप्त करा देते हैं, अतः उनके अविद्याजनित मद मोह आदि जाते रहते हैं। यथा 'आतम अनुभव सुख सुप्रकासा। प्रबल अविद्या कर परिवारा। मोह आदि तम मिटइ अपारा। ७।११८।२-३।'†

श्रीस्वामीरामानुजाचार्यजीने लिखा है कि क्षेत्रसे संबंध रखनेवाले मनुष्यके लिये यह बतलाया हुआ 'अमानित्व' आदि गुणसमुदाय ही आत्मज्ञानका उपयोगी है। जिससे आत्माको जाना जाय उसका नाम ज्ञान है। (गीता भाष्य १३।११)। अतः हमने 'सुबोध' का अर्थ 'आत्मज्ञान' किया है।

'लोभ बिषाद क्रोध' के क्रमका भाव कि इच्छित पदार्थकी अप्राप्ति तथा प्राप्त होनेपर उसकी हानिसे दुःख एवं क्रोध होता है। लोभ न रह गया, तब ये कब रह सकते हैं?

१३६

छन्द ११-१२

सेवत साधु द्वैत भय भागे। श्रीरघुनाथ[1]-चरण लय लागे।
देह जनित विकार सब त्यागे। तब फिरि निज स्वरूप अनुरागे।

छंद॥ अनुराग जो[2] निज रूप तें[3] जग तें[4] बिलच्छण देखिये।
संतोष सम सीतल सदा दम देहवंत न लेखिये।
निर्मम[5] निरामय एकरस तेहि हरष सोक न ब्यापई।
त्रैलोक्यपावन सो सदा जाकहुँ[6] दसा ऐसी भई॥११॥

---

† श्रीकान्तशरणजीका मत है कि यहाँ 'सुबोध' से सरसज्ञानपर्याय पराभक्तिका वर्णन है।

१ श्रीरघुनाथ—६६। श्रीरघुबीर—प्रायः औरोंमे। २, ३ जो, तें—६६, भ०। सो, जो—प्रायः औरोंमे। ४ तें—६६, रा०, ह०, ७४, ज०, मु०, दीन, वि०, वै०। में—भा०, वे०। ५ निर्मम—६६। निर्मल—औरोमें। ६ कहुँ—६६, रा०। कहँ—भा०, वे०। की—५१, ह०, ७४, आ०।

जौं[7] तेहि पंथ चलिय मन लायें[9] । तौ हरि काहे न होहिं सहायें[10] ।
जो मारग श्रुति साधु देखावै[11] । तेहि पथ चलत सबै सुख पावै ।
छंदु ॥ पावै सदा सुख हरिकृपां, संसार आसा तजि रहै ।
सपनेहुँ-नहीं-सुख[12] द्वैतदरसन, बात कोटिक को कहै ।
द्विज देव गुर हरि संत बिनु संसार पार न पाइये[13] ।
यह जानि तुलसीदास त्रासहरन रमापति गाइये[13] ॥१२॥

शब्दार्थ—द्वैत = निज-पर बुद्धि, भेदबुद्धि । लय = लौ, लगन, एकतार तैलधारवत् ध्यान वा प्रेम । देहवंत = देहवाला, देहधारी । लेखना = समझना, गणना करना, मानना । निरामय = संसाररोगोंसे रहित । लायें = लगाये हुए । द्वैतदर्शन = ज्ञानैकाकार संपूर्णदेहधारियोमें एक समान आत्मा न समझकर यह समझना कि देवाकार, मनुष्याकार आदि ही आत्मा है तथा परमात्मासे पृथक् अपनी स्थिति समझकर देहात्माभिमान और स्वस्वातन्त्र्य भ्रमसे मायिक भोगोंमें भोग्यता और अपनेमें भोक्तृत्व देखना, इत्यादि । (वे० शि०) ।

पद्यार्थ—साधुकी सेवा करनेसे द्वैतका भय भाग जाता है और श्रीरघुनाथजीके चरणोंमें लौ लग जाती है । देहसे उत्पन्न सभी विकारोंका त्याग हो जाता है । तब (इसके अनंतर) फिर आत्मस्वरूपमें अनुराग होता है । जो आत्मस्वरूपसे अनुराग हुआ, तो वह जगत्से विलक्षण (अर्थात् सांसारिक लोगोंसे भिन्न प्रकारका) देख पड़ता है । सन्तोष समता, और इन्द्रियदमनसे वह सदा शीतल रहता है, (प्राकृत)-देहवंतोंमें उसकी गणना नहीं रह जाती । * (अर्थात् देहके जो धर्म हैं, वे

७ जौं—६६, रा०, भ०, ७४, ह० (जौ) । जो—भा०, वे०, मु०, वै०, वि० । ८ चलिय—६६ । चलिअ—रा०, भ० । चलै—भा०, वे०, आ०, ५१ । ९ लायें । १० सहायें—६६, रा०, भ० । लाई, सहाई—प्रायः औरोंमे । ११ देखावै—६६ । दिखावै—रा० । दिखावै—भ०, ७४, वि०, मु० । देखावै—वै० । बतावै—भा०, वे०, ह०, दीन । १२ सुख—रा०, भ०, भा०, वे० । दुख—७४, ह०, ५१, आ० । सभवतः ६६ मे 'दुख' है । १३ पावई, गावई—५१, वै०, दीन ।

* अर्थान्तर—(१) संतोष, सम आदि जो आत्मरूपके लक्षण है, वे देहधारियोमे सदा एकरस नही रह सकते । (वै०) । (२) उसे देहवन्त न समझना चाहिए । (वीर) । (३) शरीरके धर्म उस प्राणीमे नही देख पड़ते । (द्रु०, भ०, भ० स०) । (४) वह देह रहते भी विदेह हो जाता है । सारांश कि वह परमहंसावस्थाको प्राप्त

उसकी देहमें नहीं देख पड़ते। वह प्राकृत देहधारी नहीं समझ पड़ता। भाव कि उसकी देह जड़वत् रहती है, जिसपर सुख-दुःख आदि द्वन्द्व कुछ भी नहीं व्यापते जान पड़ते, उनका कुछ भी प्रभाव नहीं देख पड़ता जैसा देहधारियोंमें देखा जाता है। देह रहते हुए भी उसकी विदेहदशा हो जाती है)। वह ममतारहित, संसार-रोगरहित और एकरस रहता है। उसे न हर्ष व्यापता है न शोक। जिसकी दशा ऐसी हो जाती है, वह सदा तीनों लोकोंको पवित्र करनेवाला हो जाता है (तब स्वयं उसके पवित्र होनेकी तो बात ही क्या) ‡ ।११। यदि उस मार्गपर मन लगाये हुए चला जाय, तो भगवान् क्यों न सहाय होंगे (अवश्य सहायता करेंगे)। वेद और साधु जो मार्ग दिखलाते हैं, उस मार्गपर चलते हुये सभी सुख पाते हैं। भगवान्की कृपासे संसारकी आशाको त्यागकर रहे (तो) हरिकृपासे सदा सुख पावे*। द्वैतदृष्टिसे स्वप्नमे भी सुख नहीं है। करोड़ों बातें कौन कहे ? (अर्थात् व्यर्थ बहुत बात कहनेका कोई प्रयोजन नहीं, सबका सार एक बात यह है)†। ब्राह्मण, देवता, गुरु, हरि और सन्तके बिना संसारका पार नहीं पाया जा सकता। यह जानकर, तुलसीदास ! भयके हरनेवाले रमापति रामचन्द्रजीका गुणगान कर। १२।

टिप्पणी—११ (क) 'सेवत साधु द्वैतभय भागे।···' इति। ऊपर विशुद्ध सन्तोंके दर्शन, स्पर्श और समागम आदिका फल कहा। अब साधुकी सेवाका फल कहते हैं। मैं-मोर, तैं-तोर आदि भेदबुद्धि, चराचरको भगवत्-रूप वा

हो जाता है। (दीनजी, वि०)। (५) वह अपनेको देहधारी नहीं मानता अर्थात् उसका देहात्मबोध चला जाता है। (पो०, श्री० श०)। (६) देहका धर्म देहमे नहीं देख पड़ता। संतोषादि गुण उसमें हैं पर वह स्वरूप देहवाला नहीं देख पड़ता, इस रीतिसे वह जीवन्मुक्त होता है। (भ० स०)।

‡ वह सदा त्रैलोक्यपावन है जिसकी दशा हरिसे अलग होनेसे ऐसी हो गई। (दु०, भ० स०)।

* अर्थान्तर—(१) भगवत्कृपासे आनंद लाभ करता है और संसारी आशाओंपर पानी फेर देता है। (वि० ह०)। कई टीकाकारोंने प्रायः ऐसा ही अर्थ अपने-अपने शब्दोंमें लिखा है। बाबू शिवप्रकाश, श्रीभगवानसहाय, तथा वीरकविजीने उपर्युक्त पद्यार्थवाला अर्थ किया है। 'दुख द्वैतदरसन' पाठका अर्थ होगा कि "उसे (फिर) स्वप्नमें भी द्वैतदर्शनवाला दुःख न होगा।" (द्वैतबुद्धि रह ही न जायगी)।

† अर्थान्तर—'ये तो करोड़ो बातें हैं, उन्हें कौन कहता रहे।' (भ०, वि०, पो०, श्री० श०)।

भगवत्मय न मानना इत्यादि द्वैत है। ज्ञान होनेपर भी, मद-मोह-लोभादिके नष्ट हनेपर भी द्वैतका भय बना रहता है। निमेषमात्रमें विज्ञानियोंके मनमें क्रोधादिका वेग हो जाता है, अहंकार आ जाता है। सारा ज्ञान नष्ट हो जाता है। शान्तिपदमें स्थित साधुकी सेवा करते रहनेसे फिर द्वैतका भय नहीं रह जाता। शान्तिपदमें स्थित संतोंके संबंधमें कहा है—"अहंकारकी अगिनिमें दहत सकल संसार। तुलसी बाचै संतजन केवल सांति अधार॥ महासांतिजल परसि कै, सांत भए जन जोइ। अहं अगिनि तें नहि दहैं, कोटि करै जो कोइ।" (वै० सं० ५३-५४)। ऐसे संतोंकी सेवासे यह फल प्राप्त होगा। द्वैत बड़ा हानिकारक है, इसीसे कविने पूर्व प्रार्थना की है कि 'द्वैतरूप तमकूप परौं नहि से किछु जतन विचारी। ११३।'—११३ (४ ग) देखिए।

भगवान्‌ने गीतामें कहा है कि तत्वदर्शीकी दण्डवत् प्रणामादिके द्वारा सेवा की जानेपर (जिज्ञासु भावसे) प्रश्न करनेपर वे आत्मविषयक ज्ञानका उपदेश करेंगे, जिससे समस्त भूतप्राणी पहले अपनी आत्मामे और फिर मुझमे देख पड़ेंगे। यथा "तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया। उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः॥ "येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि। गीता ४ ३४-३५।" इस ज्ञानसे द्वैत नष्ट होता और शान्ति प्राप्त होती है।—'न पुनर्मोहमेवं यास्यसि। श्लो० ३५।'

११ (ख) 'श्रीरघुनाथचरण लय लागे' इति। द्वैतके कारण अपार संशय शोक संसृति दुःख बने रहते हैं और इनके रहते जगजाल नहीं मिटता, तब श्रीरघुनाथजीमें मन कैसे लग सकता है? यथा 'भेद गये बिनु रघुपति अति न हरहि जगजाल। २०३।' इसीसे 'द्वैतभय भागे' कहकर तब श्रीरामजीमें लौ लगना और विकारोंका त्याग कहा। यथा 'दुइज द्वैत-मति छाँड़ि चरहि महिमंडल धीर। बिगत मोह माया मद हृदय बसत रघुबीर। २०३।' 'श्रीरघुनाथ'से शोभासंपन्न वा श्रीसहित रघुनाथजीको सूचित किया। 'लय लागे' अर्थात् एकरस उनमें सुरति लगी रहेगी। 'रमन राम इकतार' यह संतगुण आ जायगा। 'देहजनित विकार'—मोह, मद, आदि सब विकार जो देहाभिमानसे उत्पन्न होते हैं।

११ (ग) 'तब फिरि निज स्वरूप अनुरागे' इति। भाव कि इतनी क्रियाके पश्चात् तब निज स्वरूपका ज्ञान होगा। 'फिरि'का भाव कि पूर्व इसे आत्मस्वरूपका ज्ञान था, पर मायावश यह संसारी हो उसे भूल गया था, जैसा प्रारंभमें ही कह आये हैं। यथा 'मायावस स्वरूप बिसरायो'। वह

अब संतसेवासे फिर प्राप्त होकर उसमें अनुराग हुआ। 'अनुरागे'का भाव कि देह संबंधी सब रागों (ममता)को बटोरकर एकमात्र आत्मस्वरूपमें अन्तःकरणकी वृत्ति एकतार लग जाती है। 'निज सहज अनुभव रूप' छंद २, 'स्वरूप बिसरायो' छंद १—टि० १ (क) (ग), २ (घ) मे देखिए।

'तब'का भाव कि जबतक देहजनित विकार बने हैं तबतक आत्म-स्वरूप भूला रहता है। जब चित्त उधरसे हटा तब जो अनुराग उधर था वह इधर आ गया।

११ (घ) 'अनुराग जो निज रूप तें जग तें बिलच्छण ···' इति। आत्म-स्वरूपमें रमण करनेवाला पुरुष जगत्से न्यारा देख पड़ता है। वह विल-क्षणता क्या है, यह आगे कवि स्वयं कहते हैं—'संतोष सम ···सो सदा।' अर्थात् वह स्थितप्रज्ञ हो जाता है। उसका बोलना, उठना, बैठना, चलना आदि आचरण जगत्के लोगोंसे भिन्न होता है। उसके आचरणभेदका वर्णन आगे करते हैं।

'संतोष'—भाव कि वह मनसे केवल एक आत्माका अवलम्बन करके आत्मामे ही सन्तुष्ट हो जाता है, उसके अतिरिक्त अन्य समस्त मनोगत कामनाओंका पूर्णरूपसे त्याग कर देता है। गीता २।५५ का भाव इस शब्दमे है। यथा 'प्रजहाति यदा कामान् सर्वान् पार्थ मनोगतान्। आत्म-न्येवात्मना तुष्टः···।।' (अर्थात् हे पार्थ ! मनसे आत्मस्वरूपका चिन्तन करते-करते उसीमे सन्तुष्ट हुआ साधक जब अन्य समस्त मनोगत काम नाओंका सर्वथा त्याग कर देता है तब वह स्थितप्रज्ञ कहलाता है)।-'सम'को 'शम' मानें तो, सम (शम)=अन्तःकरणको वशमें रखना, अनर्थ-कारी विषयोंमें न जाने देना। और 'समता' अर्थ लें, तो 'अपनेमें, मित्रोंमें और विपक्षियोंमें भी हानि-लाभकी अपेक्षासे समबुद्धि रहना 'समता' है। इसमें गीता २।५६ के स्थितप्रज्ञका लक्षण आ जाता है, जो इस प्रकार है—'दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः। वीतरागभयक्रोधः···' अर्थात् दुःखमे उद्वेगरहित मनवाला, सुखमें स्पृहारहित तथा राग, भय और क्रोधसे रहित। 'सीतल'की परिभाषा कविने यों की है—"जौ कोइ कोप भरै मुख बैना। सनमुख हनै गिरा सर पैना। तुलसी तऊ लेस रिस नाहीं। सो सीतल कहिये जग माहीं। वै० सं० ४६।" इसमें गीता २।७० के 'शान्ति'का भाव ले सकते हैं। जिस पुरुपमें सारे भोग समा जाते हैं अर्थात् इन्द्रियोंके द्वारा शब्दादि विषयोंका सेवन किये जाने और न किये जानेमें भी जो पुरुष अपने आत्मसाक्षात्कारसे सदा तृप्त रहनेके कारण विकारको नहीं प्राप्त होता वही शान्तिको प्राप्त करता है। यथा '···कामा यं प्रविशन्ति सर्वे स

शान्तिमाप्नोति।' दम = बाह्येन्द्रियोंको अनर्थकारी विषयोंसे रोकना। गीता २।५८ का भाव इसमें है। यथा 'यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः। इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥' अर्थात् कछुआ अपने अंगोंको समेट लेता है, वैसेही यह पुरुष जब सब ओरसे अपनी इन्द्रियोंको इन्द्रियोंके विषयोंसे समेट लेता है, तब उसकी बुद्धि स्थिर होती है।

११ (ङ) 'देहवंत न लेखिये' इति। भाव कि वह स्थितप्रज्ञ हो जाता है, ब्राह्मीस्थितिको प्राप्त हो जाता है। वह रामरूप हो जाता है। यथा 'तन करि मन करि बचन करि काहू दूषत नाहि। तुलसी ऐसे संत जन रामरूप जग माहिं॥ वै० सं० २३।', 'कंचनको मृतिका करि मानत। कामिनि काष्ठ सिला पहिचानत। तुलसी भूलि गयो रस एहा। ते जन प्रगट राम को देहा। वै० सं० २८।'

११ (च) 'निर्मम निरामय एकरस तेहि हरष सोक न ब्यापई।...' इति। 'निर्मम' = ममतारहित। अर्थात् शरीर-जीवनमात्रके लिये आवश्यक पदार्थोंके संग्रहमें भी 'यह मेरा है' ऐसे भावसे रहित। ऊपर 'दम'से बाह्येन्द्रियोंका विषयोंसे रोकना कहा, परन्तु इन्द्रियदमन होनेपर भी विषय-रागकी निवृत्ति नहीं होती। अतः 'निर्मम निरामय' कहकर उस 'रस, राग वा आसक्ति'से भी रहित जनाया। भाव कि विषयोंकी अपेक्षा अत्यंत श्रेष्ठ अतिशय सुखमय आत्मस्वरूपका साक्षात्कार होनेसे विषयासक्ति भी छूट गई। निर्मम लक्षण गीताके स्थितप्रज्ञके 'यः सर्वत्रानभिस्नेहः। २।५७।' (अर्थात् जो सर्वत्र प्रिय पदार्थोंमें स्नेहसे रहित है), 'रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते। २।५९।' (अर्थात् स्थित-धी पुरुषका तो विषयराग भी परम सुखरूप आत्मस्वरूपका साक्षात् करके निवृत्त हो जाता है) और 'निर्ममो। २।७१।' इन उद्धरणोंमें हैं।

'निरामय' इति। आमय = रोग। निरामय = नीरोग। यहाँ राग द्वेष काम क्रोध आदि मानसरोगोंसे रहित जनाया। गीता २।५६ के 'वीतराग-भयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते।'का लक्षण 'निरामय'में है। 'एकरस'में गीता २।७१ 'विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निःस्पृहः। निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति।'का भाव है। (अर्थात् जो सब विषयोंको छोड़कर, उनमें निःस्पृह होकर तथा ममता और अभिमानसे रहित होकर बिचरता है, वह शान्तिको प्राप्त होता है)। इससे अहंकारशून्य जनाया। क्योंकि अहंकार रहते स्थिति एकरस नहीं रह सकती।—यह ब्राह्मीस्थितिका लक्षण है।

'तेहि हरष सोक न व्यापई' इति। यह भी स्थितप्रज्ञका लक्षण है। यथा 'यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम्। नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता। गीता २।५७' (अर्थात् जो पुरुष सर्वत्र स्नेह रहित हुआ उस-उस शुभ और अशुभको प्राप्त होकर न हर्ष करता है और न द्वेष, उसकी बुद्धि स्थिर है)।

११ (छ) 'त्रैलोक्यपावन सो सदा···' इति। 'सो' का संबंध ऊपरके 'तेहि' और आगेके 'जाकहुँ' से है। जिसकी उपर्युक्त दशा प्राप्त हो गई वह अर्थात् जो स्थितप्रज्ञता, ब्राह्मीस्थिति, शान्तिपदको प्राप्त है वह। वह तीनों लोकोंको पावन कर देता है। गंगाजी शुचिताकी अवधि और त्रैलोक्यपावनी हैं; यथा 'मकरंद जिन्हको संभु सिर सुचिता अवधि सुर बरनई। १।३२४ छं०', 'नखनिर्गता मुनिबंदिता त्रैलोक पावनि सुरसरी। ७।१३ छं०', 'जयति जय सुरसरी जगदखिल पाविनी। १८।'—ऐसी शुचिताकी सीमा और त्रैलोक्यपावनी सुरसरिको भी ऐसे संत पवित्र करते हैं। यथा 'साधवो न्यासिनः शान्ता ब्रह्मिष्ठा लोकपावनाः। हरन्त्यघं तेऽङ्गसङ्गात्तेष्वास्ते ह्यघभिद्धरिः। भा० ९।९।६।' (अर्थात् 'तीनों प्रकारकी ऐषणाओंको त्यागनेवाले, शान्त, ब्रह्मनिष्ठ लोकोंको पवित्र करनेवाले सत्पुरुष अपने अंग-संगसे अर्थात् चरणस्पर्श एवं स्नानसे आपके सब पापोंको हर लेंगे, क्योंकि उनमें सर्वपापहारी हरि विराजमान हैं।'—गंगाजीने भगीरथजीसे कहा था कि मैं पृथ्वीपर न जाऊँगी, क्योंकि वहाँके पापी लोग मुझमें अपने पापोंको धोवेंगे, तब मैं उन पापोंको कहाँ धोऊँगी? इसीका उत्तर राजर्षि भगीरथने इस श्लोकमें दिया है)। अतः 'त्रैलोक्यपावन सो सदा' कहा।

टिप्पणी—१२ (क) 'जौं तेहि पंथ चलिय मन लायें। तौ हरि···' इति। 'जौं' संदिग्ध शब्द देकर जनाया कि जीव ऐसा भूला हुआ है कि इस ओर प्रवृत्त ही नहीं होता, यदि हो जाय तो बेड़ा पार लग जाय। 'तेहि पंथ' अर्थात् जो ऊपर छन्द १०, ११ में बताया है, उस मार्गपर चले। संतका संग करे, उनका दर्शन, स्पर्श और समागम करे। इससे श्रीरामभक्तिकी प्राप्ति और स्वरूपका ज्ञान होगा। इत्यादि। 'काहे न होहि सहायें' अर्थात् वे अवश्य सहायक होंगे। सब मार्ग भगवान्‌के हैं, जो जिस मार्गसे चलकर उनकी प्रपत्ति करता है, उनको प्राप्त होना चाहता है, उसको उसी मनोवांछित प्रकारसे वे प्राप्त होते हैं। यह भगवान्‌ने स्वयं 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्। मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः। गीता ४।११।' में कहा है। ☞ इस प्रमाणसे ही कहा कि वे क्यों न

सहाय होंगे। वे तो सदा आतुर रहते हैं कि कब जीव मेरी ओर झुके, वे सदा उसे लेनेको तैयार रहते हैं। जीव उनके मार्गपर एक पद रखता है, तो वे उसकी ओर दो वा अधिक पैर रखते हैं।

हाँ, 'सहायें' होनेके लिये एक शर्त (विधि, नियम) अवश्य है—'चलिय मन लायें', मन लगाकर चले। मन दूसरी ओर न जाय। मार्ग छोड़े नहीं।

१२ (ख) 'जो मारग श्रुति साधु देखावै…।' इति। भाव कि जो मार्ग हमने बताया है, वह श्रुति-संत-सम्मत है। श्रुति भगवद्वाक्य है और साधु ही श्रुतिके यथार्थ ज्ञाता होते हैं। यथा 'शब्दब्रह्मैकपर ब्रह्मज्ञानी।५७।' अतः श्रुतिके पश्चात् साधुको कहा। संत जो मार्ग ग्रहण करते और बताते हैं वह श्रुतिसम्मत तो होता ही है, साथ ही वह उनका अनुभव भी किया हुआ होता है, अतएव वह भी प्रामाणिक है। अतः राजमार्गकी तरह उसपर जीव बेखटके विश्वासपूर्वक चले तो अवश्य सुख प्राप्त होगा।

१२ (ग) 'पावै सदा सुख हरिकृपां, संसार आसा तजि रहै।…' इति। 'सदा' सुखकी प्राप्तिमें भी शर्तें हैं—'हरिकृपां', 'संसार आसा तजि रहै', 'द्वैतदर्शन रहित हो'। तीनोंके क्रमका भाव कि बिना हरिकृपाके सदा सुख नहीं हो सकता। कृपा तभी होगी जब हरिके सामर्थ्य और रक्षामे दृढ़ विश्वास होगा, वह अनन्य होकर 'है छरभारु ताहि तुलसी जग जाको दास कहैहों' इस प्रकार दृढ़ रहे। संसारकी आशा द्वैतदृष्टिसे होती है। इसीसे 'हरिकृपा', 'आशा-त्याग' और द्वैतदर्शन क्रमसे कहे।

'संसार आसा तजि रहै'—यह उपदेश भक्तोंके लिये सर्वत्र किया गया है। यथा 'सत्य कहौं खग तोहि सुचि सेवक मम प्रान प्रिय। अस विचारि भजु मोहि परिहरि आस भरोस सब। ७।८७।', 'परिहरि सकल भरोस रामहि भजहि ते चतुर नर। ३।६।', 'मोर दास कहाइ नर आसा। करइ तौ कहहु कहा बिस्वासा। ७.४६।३।', 'तुलसिदास सब आस छाँडि करि होहि रामको चेरो। ८७।' 'संसार आशा' शब्दसे समस्त प्रकारकी आशायें सूचित कर दीं।—विशेष ८७ (४ क, ग) में देखिए।

☞आशा रहते हुए सुखकी प्राप्ति असंभव है। यथा 'जब लगि नहिं निज हृदि प्रकास अरु विषय आस मनमाहीं। तुलसिदास तब लगि जग जोनि भ्रमत सपनेहुँ सुख नाहीं। १२३।', 'अब तुलसिहि दुख देति दयानिधि दारुन आस पिसाची। १६३।', 'तुलसी अदभुत देवता आसा देवी नाम। सेये सोक समरपई बिमुख भए अभिराम। दो० २५८।', 'जे लोलुप भये दास आसके

१२ (घ) 'सपनेहुँ नहीं सुख द्वैतदर्शन···' इति। चराचर हरिरूप है, चिदचिद्विशिष्ट ब्रह्म है, राममय है—जबतक इस प्रकारकी दृष्टि नहीं होती, सुख नहीं मिल सकता। सारी सृष्टिको निज प्रभुमय देखनेपर जहाँ भी पृथ्वीभरमें रहेगा आनन्दमें मग्न रहेगा। आत्मज्ञानी पुरुष इसी प्रकार विचरते रहते हैं। इसीसे कहा है कि 'द्वइज द्वैतमति छाँड़ि चरहि महि-मंडल धीर।२०३।' और यही कारण है कि कविने पूर्व प्रार्थना की है कि 'द्वइतरूप तमकूप परौं नहि से किछु जतन विचारी।११३।'

१२ (ङ) 'बात कोटिक की कहै'—भाव यह कि बहुत विस्तार करना व्यर्थ है, सार सिद्धान्त मैंने इन चार शब्दोंमें कह दिया। मानसके पुर-जनोपदेशमें श्रीरामजीने जो कहा है—'बहुत कहउँ का कथा बढ़ाई। एहि आचरन बस्य मैं भाई।७।४६।४।', वैसे ही यहाँ कवि कहते हैं कि करोड़ों बातकी एक बात मैंने कह दी, इतनेमें सब कुछ आ गया।

['बात कोटिक की कहै'—दीनजी और वियोगीजी इसको अगले चरणके साथ लेकर अर्थ करते हैं। दीनजीने 'दुख देत दरसन' पाठ दिया है।]

१२ (च) 'द्विज देव गुर हरि संत बिनु···' इति। कई टीकाकारोंने यहाँके 'देव' का साधारण अर्थ 'देवता' ग्रहण किया है। उसके अनुसार भाव इस प्रकार होगा।—द्विज-सेवासे वे वेदधर्म बतायेंगे, जिससे मन धर्ममें लगेगा और वह देवताओंकी सेवा करेगा। तीर्थाटन, व्रत, पूजा, पाठ करेगा। उससे जीव शुद्ध हो गुरुकी शरण लेगा। इनकी कृपासे प्रभुकी शरणागति होगी। शरणागतिके क्षेमके लिये संतसंग करना होगा। (वै०)।

स्मार्त वैष्णवोंमें पंचदेवोपासना होती है। यहाँ भी पाँच नाम आये हैं। ये भी एक प्रकारके पंचदेव हैं। जैसे मानसमें भानुप्रतापके संबंधमें कहा है कि 'गुर सुर संत पितर महिदेवा। करै सदा नृप सब कै सेवा। १।१५५।४', वैसे ही यहाँ द्विज, देव, गुर, हरि और संत पाँच हैं। द्विज (महिदेव), देव (सुर), गुरु और संत चार तो वही हैं। 'पितर'की जगह यहाँ 'हरि' हैं। पितृ भगवान्के रूप कहे जाते हैं, यथा 'पितृ रूपी जनार्दनः।' श्रीशंकरजी महादेव हैं। अतः 'देव'से महादेव श्रीशंकरजीको लेते हैं। 'चातक रटत तृषा अति ओही। जिमि सुख लहै न संकर द्रोही। ४।१७।५।' में 'संकर'से 'सुर'को कहा है, वैसे ही यहाँ समझ लें। 'मानस पीयूष' १।१५५।४ में इन पाँचोंके संबंधमें बताया गया है कि भगवान् श्रीरामजीने किष्किधाकांड शरदवर्णनमें इन पाँचोंको गिनाया है।—

'चातक रटत "संकरद्रोही। ४।१७।५।' (यहाँ शंकर देव हैं), 'सरदातप निसि ससि अपहरई। संत दरस जिमि पातक टरई। ४।१७।६। देखि इंदु चकोर समुदाई। चितवहि जिमि हरिजन हरि पाई।७। मसकदंस बीते हिम त्रासा। जिमि द्विजद्रोह कियें कुल नासा।८। भूमि जीव संकुल रहे गए सरद रितु पाइ। सदगुर मिलें जाहि जिमि संसय भ्रम समुदाइ।४।१७।'

पुनः भाव कि द्विज, महादेव, गुरु और सन्त ये चारों हरि की प्राप्तिके साधन हैं। द्विज-सेवासे हरि प्रसन्न होते हैं, और त्रिदेव आदि सब देवता वशमें हो जाते हैं, यथा 'हरितोषन व्रत द्विज सेवकाई।७।१०६।', 'मन क्रम वचन कपट तजि जो कर भूसुर सेव। मोहि समेत विरंचि सिव वस ताकें सब देव।३।३३।' शंकरजी तो हरिभक्तिके कोठारी-भण्डारी ही हैं, यथा 'संकर-भजन बिना नर भगति न पावइ मोरि।७।४५।', 'संकर बिमुख भगति चह मोरी। सो नारकी मूढ़ मति थोरी।६.२।८।' गुरुजी राममंत्र देकर प्रभुके सम्मुख करते हैं, ब्रह्म-संबंध कराते हैं, हरिप्राप्तिके कंटक संशय, भ्रम, मोह, महामोह आदिका नाश करके श्रीरामपदप्रेम देते हैं। यथा 'महामोह तम पुंज जासु बचन रविकर निकर। १ मं० सो०।', 'सदगुर मिलें जाहि जिमि संसय भ्रम समुदाइ।४।१७।', 'गुरु कह्यो राम-भजन नीको मोहू लागत रामराजडगरो सो।१७३।', 'श्रीहरि-गुरु पदकमल भजहु मन तजि अभिमान। जेहि सेवत पाइय हरि सुखनिधान भगवान। २०३।' संतोंके संबंधमें भी देखिए—'सेवत साधु द्वैतभय भागे। श्रीरघु-नाथचरण लय लागे।', 'संसयसमन दमन दुख सुखनिधान हरि एक। साधुकृपा बिनु मिलहिं नहि करिय उपाय अनेक।२०३।'

पुनः, ये चारों हरिरूप माने गये हैं। शंकरजी और संत भगवद्भक्त हैं, और 'भक्त भक्ति भगवंत गुरु चतुर नाम वपु एक।' (नाभाजी)। रहे द्विज, सो उनके संबंधमें भी कहा है—'प्रभुके वचन वेद-बुध-संमत मम मूरति महिदेवमई है।१३६।'—अतः सब हरिरूप हैं, इससे इन सबोंको कहा।

१२ (छ) 'संसार पार न पाइये'—द्विज आदिके विना संसार निवृत्ति नहीं होती, इस कथनसे जनाया कि इनमेंसे प्रत्येक द्वारा जीव भवपार हो सकता है। श्रीरामजीने प्रवृत्ति मार्गवालोंके लिये जो साधन नवधा भक्ति कही है, उसमें विप्रपदप्रेमको प्रथम भक्ति कहा है। यथा 'प्रथमहि विप्र चरन अति प्रीती।३।१६।६।' इस भक्तिसे क्रमशः सुगमतासे प्रभुकी प्राप्ति हो जाती है, संत, गुरु और हरि तीनोंमें क्रमशः अनुराग होता है। यथा 'भगति कि साधन कहउँ बखानी। सुगम पंथ मोहि पावहिं प्रानी।३।१६।५।'

प्रभुकी प्राप्ति होना भवपार होना है ही। शंकरजी भी रामभक्ति देकर जीवको भवपार करते हैं, प्रमाण ऊपर आचुके हैं। काशीमें रामनाम देकर सबको मुक्ति देते ही है। कैवल्य सुख देते, संसारभय हरते तथा तारणतरण है। यथा 'ज्ञान-बैराग्य-धन-धर्म-कैवल्यसुख-सुभग सौभाग्य सिव सानुकूलं।१०।', 'मोहमूषकमार्जार संसारभयहरन तारन-तरन ...।११।' गुरुदेवके संबंधमें तो स्पष्ट कहा है कि 'गुर बिनु भवनिधि तरइ न कोई। जौं बिरंचि संकर सम होई।७।९३।५।' पंचदेवकी गणनामे 'हरि' त्रिदेवगत विष्णु हैं और स्वतंत्ररूपसे श्रीरामजी ही हरि हैं। जितने वैष्णव विग्रह, विष्णु, नारायण, कृष्ण, नृसिंह, वामन, महाविष्णु, राम आदि हैं, वे अभेद तत्व हैं। सभी भवपार करनेवाले हैं, सबके द्वारा 'रामाख्यमीशं हरिम्' सर्वावतारीकी प्राप्ति हो सकती है। विष्णुभगवान् द्वारा श्रीरामपदप्रेम-प्राप्ति होती है, इसीसे अवधवासियोंका उनसे वर माँगना कहा गया है। यथा 'रमारमनपद बंदि बहोरी। बिनवहिं अंजलि अंचल जोरी।५।... अछत राम राजा अवध मरिअ माँग सबु कोउ।२७३।' और श्रीरामजी तो 'घोरसंसारपाथोविपोतं', 'भंजनभवभयदारुणं' है ही, वे तो शरण जाते ही तार देते है। यथा 'परिहरि छल सरन गये तुलसिहुसे तरत। १३४।', 'तुलसिदास प्रभुकृपाविलोकनि गोपद ज्यों भवसिंधु तरौं।।१४१।', 'रामकृपा भव निसा सिरानी।१०५।' उनका तो विरद ही है 'अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्व्रतं मम !!' संत भवपार कर देते हैं, यथा 'भवसागर कहँ नाव सुद्ध संतनके चरन।२०३।'

१२ (ज) 'यह जानि तुलसीदास त्रासहरन रमापति गाइये' इति। 'यह जानि' अर्थात् द्विज आदि पाँचों श्रीरामजीकी भक्ति देकर भवपार करते हैं, यह जानकर। जान लिया कि सब भक्ति देते हैं, तब उस हरि-भक्तिसे ही जीव भवपार होता है, अतः जिनकी भक्ति भवभंजन है उन्हीकी भक्ति क्यों न करे ? अतएव तुलसिदासजी अपने द्वारा जीवमात्र-को उपदेश करते हैं कि 'त्रासहरन रमापति गाइये', श्रीहरिका गुणगान करो, इसीसे भवत्रास न रह जायगा।

'त्रास' क्या है यह ५० (९ ङ) में देखिए। यहाँ 'संसार पार न पाइये' के संबंधसे भव (संसार) त्रास अभिप्रेत है। भगवान् सब प्रकारके त्रासोंसे छुड़ानेवाले हैं। शेष, नारद, सनकादि सभी त्रासरूपी सागरसे पार होनेके लिये उनके अनंत गुणोंका गान किया करते हैं। यथा 'देव सेष श्रुति सारदा संभु नारद सनक गनत गुन अंत नहिं तव चरित्रं। सोइ राम ... अवधपति सर्वदा दासतुलसी त्रासनिधि बहित्रं।५०।' श्रीराम-

जीका नाम रमापति भी है। पिछले पदोंमें श्रीरमण, क्षीरसागरशयन, श्रीपति, रमापति आदि सब नाम श्रीरामजीके आये हैं। पद ५५ में 'संत संतापहर विश्वविश्रामकर राम कामारि अभिरामकारी' से प्रारंभकर उन्हींको 'उरगनायकसयन तरुन पंकजनयन छीरसागरअयन सर्ववासी' कहकर अंतमें 'सरन तुलसीदास त्रासहंता' पर पदकी समाप्ति हुई है।

'गाइये'—गुनगान नवधाभक्तिमेंसे दूसरी भक्ति (कीर्तनभक्ति) है। यथा 'श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्। अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्य-मात्मनिवेदनम्। भा० ७।५।२३।' शबरीजीसे कही हुई नवधाभक्तिमेंसे यह चौथी भक्ति है, यथा 'चौथि भगति मम गुनगन करइ कपट तजि गान। ३।३५।' श्रीलक्ष्मणजीसे कहे हुये भक्तिके साधनोंमें 'मम गुन गावत पुलक सरीरा। गदगद गिरा नयन बह नीरा।' को भी गिनाया है। गुणगानसे भवतरण होता है। यथा 'काहे न रसना रामहिं गावहि।' 'बाद बिवाद स्वाद तजि भजि हरि सरल चरित चितु लावहि। तुलसिदास भव तरइ तिहूँ पुर तू पुनीत जसु पावहि।२३७।', 'सोइ जस गाइ भगत भव तरहीं। १।१२२।१।'

नोट—इस पदके संबंधमें जो विचार दो एक साहित्यज्ञ टीकाकारोंने लिखे हैं वे यहाँ उद्धृत किये जाते हैं।

"बड़े ही जटिल दार्शनिक भावको गोस्वामीजीने जिस खूबी और सरलतासे तथा मुहावरेदार और मधुर भाषामें व्यक्त किया है वह देखते ही बनता है। यह गोस्वामीजीकी एक बड़ी भारी विशेषता है कि वे दार्श-निक सिद्धान्तोंको सरल भाषामे सरल उदाहरण देकर सहजमें समझा देते है।"—(दीनजी)।

"यह पद बड़ा ही सुंदर प्रभावपूर्ण, ज्ञान, वैराग्य और भक्तिरसप्लुत है। इसमें गोसाईंजीने अपने सिद्धान्तका भली-भाँति निरूपण और प्रति-पादन किया है। जीवकी पूर्वापर दशा, उसका उद्धार और मुक्तिका उपाय आपने जिस खूबीके साथ अंकित किया है, वह देखते ही बनता है। वैसे तो सारी विनयपत्रिका ही हृदयंगम करनेके योग्य है, पर यह पद सभीको मुखाग्र, कंठाग्र और हृदयस्थ करना चाहिए, यह मेरी विनीत प्रार्थना है।"—(वियोगीजी)।

इति पूर्वार्द्धः समाप्तः।

श्रीसीतारामचन्द्रार्पणमस्तु।

पद ४० से पद १३६ तक की क्रमशः सूची

(हिलोर ३ में)

(हिलोर ४ में)

— पूर्वार्ध समाप्त हुआ —

कुछ और भी ग्रन्थोंके नाम जिनके उद्धरण इस खण्डमें आये हैं

अर्थपञ्चक
आत्मबोध
आदि पुराण
श्री आनन्दभाष्य
काव्य प्रकाश
गौतमधर्मसूत्र
चरक संहिता
चित्तसम्बोधनम्
क्षमा षोडशी
जैमिनि मीमासा
तेजोबिन्दूपनिषद्
तैत्तिरीय सं०
नारदपाञ्चरात्रपञ्चभू स०
नारदपरिव्राजकोपनिषद्
नारद पुराण
पराशर गीता
पराशर (स्मृति)
पुरुषसूत्र
पैङ्गी ब्राह्मण
बौद्धयायन सं०
ब्रह्मतन्त्र
मण्डूकोपनिषद
मन्त्रार्थ
मैत्रायण्युपनिषत्
मोहमुद्‌गर
योगवासिष्ठ
रामगीतगोविन्द
वाग्र्यषिणि
वसिष्ठ धर्मसूत्र
विवेक चूडामणि
विष्णुधर्मोत्तर महापुराण
वीरभद्र कवि
वेदपादाद्वि. स्तोत्र
वेदान्त कामधेनु
वेदान्त सूत्र
शाङ्गधरपद्धति
शुक पुराण
शु० यजुर्वेद
सायणभाष्य
सारस्वत तन्त्र
सुदर्शन सहिता
सुश्रुत
हंसोपनिषद्
हेमकोश

❀

शुद्धिपत्र

प्रेसने वचन दिया था कि 'एकही प्रूफपर आर्डर दे दिया जाया करे। कोई करेक्शन छूटने न पायेगा। अशुद्ध छपनेपर हम दुबारा छाप देंगे।' परन्तु छपी फाइल जो मेरे पास प्रेसने भेजी उसे देखनेसे ये त्रुटियाँ देख पडी—(१) मात्राएँ कही-कही टूट गई हैं। (२) कहीं-कही शब्दके अक्षर शब्दसे अलग हो गए हैं। (३) कही-कहीं प्रूफ तो शुद्ध है, किन्तु छपते समय अथवा और किसी तरह कोई पंक्ति टूट गई होगी वह सुधारी नही गई; अतः पंक्तिकी पंक्ति अशुद्ध छपी है—जैसा कि अचानक मेरी दृष्टिमे दो एक जगह आया। ऐसी अशुद्धियाँ तो पूरी पुस्तक पढ़नेपर ही जानी जा सकेगी। यह इस समय संभव नही।

हमारे पास प्रेसने अबतक केवल पृष्ठ ६४१ से १२४८ तककी छपी फाइल और पृष्ठ ८१७ से १२४८ तकके आर्डरी प्रूफ भेजे हैं। अतः इतने पृष्ठोंका प्रूफसे मिलान करके शुद्धिपत्र बना दिया है। टूटी मात्रायें तथा साधारण अशुद्धियाँ जो पाठक पढते समय स्वयं ठीक कर सकते है उन्हे इस शुद्धिपत्रमे नही दिखाया है।

पंक्तिकी गणनामे हमने पृष्ठके ऊपरकी पंक्तिको (जिसमे पृष्ठाङ्क तथा पृष्ठके पद ए टिप्पणी आदिका संकेत रहता है) प्रथम पंक्ति माना है।

पृष्ठाङ्क	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
८५३	३२	सुनिसु-नि	सुनि-सुनि
८६४	८	मध्यम	मध्यमं
८८६	१५	विष्णुविस्मर्तव्यो	विष्णुर्विस्मर्तव्यो
८-६	३०	तत्कोऽपहर्तु	तत्कोऽपहर्त्तुं
६०७	२३	सपत्य	सपत्न्य
६१४	४	अज	अजै
६२२	१६	नतादृशा:	नैतादृशाः
६३२	६	२	४
६३५	२१	यऽहं	योऽहं
६३६	२८	स्वरूप	स्वस्वरूप
६३७	६	पथा	यथा
६४६	३१	दर्शयस्वर्ग	दर्शयस्व
६४७	२०	प्रभा	प्रभो
६४८	२८	अरात्तश्चैक	अशक्तश्चैक
६५६	३२	४	८
६६८	८	अध	अघ
६७०	१६	घमं	घर्मं
६७१	५	वालिमकि	वाल्मीकि

९७६	१५	समय	सभय
९९५	४	विभश्गर	विश्गभर
	३०	प्रल्लाद	प्रह्लाद
९९८	५	दूसरे	दूसरा
१०००	८	वार	बार
१००१	६	कृपापरवशा	कृपापरवशो
१००२	३४	मनुमत्तमम्	मनुत्तमम्
१००४	२८	विधारयेति	निधारयेति
	३२	महात्म्य	माहात्म्य
१००६	६	पतिकूल	प्रतिकूल
१००७	१	९८	९९
१००८	१	९८	९९
१००९	२१	वानया	बनाया
१०१६	२	सचिव	सचिव
१०२२	३१	शीतलवान०	शीलवान०
१०२३	९	सुभाय	सुभाउ
	२२	। कहा-	कहा
	११	होवा	होना
	२५	पर	या
	३०	प्रव्राज्यमानो	प्रव्राजयमानो
१०२४	२४	गए	नए
१०२६	३१	तत्र	तव
१०२९	१०	विदप्यो	विदरचो
	३२	२।६४-६५	२।६४।६५
१०३८	२९	सर्वत्मना	सर्वात्मना
१०३९	१४	जवन	जवन
१०४४	२४	एव भा०	भा० एव
१०५०	१	चरणं	शरणं
१०५६	९	भिविमृग्यात्	भिर्विमृग्यात्
१०५७	१५	तेऽवच्युतो	तेऽवच्युता
१०५८	२५	सहधर्मिणी	सहधर्मिणी
१०५९	२	पहुँचा	पहुँच
१०६५	२९	निर्विषयं	निर्विषयं
१०६७	२	श्रण्वत:	शृण्वत:
१०७३	२२	अर्था	अर्थात्
	२९	४ हो	४ हो
	२९	हो—रा०	हो—रा०
१०७६	१३	षियन्ह	विषयन्ह
१०७९	२१	राजराज	गजराज
१०८३	३२	यच्छोत्रे	यच्छ्रोत्रे
१०९४	३४	स कामैर्यो	सकामैर्यो

१०६५	२४	गिभिर्वापि	गिभिर्वापि
१०६६	१	१०७ (७ व)	१०७ (६ ग)
११११०	२७	फिरो	१०-फिरो
११११२	३४	आते	बचाते
११११६	१	शरश	शरणं
११३५	३३	व्यदधातेंशा०	व्यदवाच्छा
११३६	१८	तद्वीदं	तद्वेद
	२२	६।२।२	६।३।२
११४०	११	कोऊ	केऊ
	१६	स्माकमरादय.	स्माकमादय
	१७	तत्व	तत्त्व
११५६	१	चरण	शरण
११५८	१	,,	,,
११५८	४	कुछ	कछु
११७२	१६	अशोक:	विशोक:
११७३	८	रसॐ	रस ँ
	३०	मूल	मूल
११७८	१८	प्रार्थी	प्रार्थो
	२७	अनर्थं	अनर्थ
	२८	अनर्थं रर्थं	अनर्थरथ
११८०	२५	मम	मन
११९३	१	शरणं	शरणं
१२०६	७	छित्तका	चित्तका
१२०९	२	जीवक	जीवका
	३१	हाय	यह
१२११	१५	योगेन च तं विदित्वा	योगाधिगमने देवं
१२१५	२६	जीव	जीव
१२२१	३	नात्मविच्छत	नात्मविच्छ्त
१२३०	१२	नर आदि ही कसा	नरक आदि ही मिलते हैं, संसार चक्र नही छूटता ।
१२३१	२६	तं तं तमेवैति	तं तमेवैति
१२३२	२७	जीव	जीव
१२३४	२३	भाति	भाँति
१२४०	११	धूमेनाव्रियते	धूमेनाव्रियते
	अंतिम	छिपकर	छिपकर
११४५	३०	दिन्हो	दीन्हो